मूकमाटी-मीमांसा

('मूकमाटी' महाकाव्य पर समालोचनात्मक आलेखों का संग्रह)

द्वितीय खंड

मूकमाटी-मीमांसा

('मूकमाटी' महाकाव्य पर समालोचनात्मक आलेखों का संग्रह)

द्वितीय खण्ड

सम्पादक
डॉ. प्रभाकर माचवे
आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

भारतीय ज्ञानपीठ

ISBN 978-81-263-1409-6 (Set)
978-81-263-1411-9 (Vol. II)

मूकमाटी-मीमांसा (तीन खण्डों में)

('मूकमाटी' महाकाव्य पर समालोचनात्मक आलेखों का संग्रह)

Mookmati Meemansa (in 3 Vols.)

द्वितीय खण्ड

सम्पादक

डॉ. प्रभाकर माचवे

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

सम्पादन सहायक

डॉ. आर.डी. मिश्र, डॉ. शकुन्तला चौरसिया, डॉ. सरला मिश्रा

प्रबन्ध सम्पादक मंडल

सुरेश सरल (जबलपुर), सन्तोष सिंघई (दमोह)

नरेश दिवाकर (सिवनी), सुभाष 'खमरिया' (सागर)

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 40

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

लेजर टाइपसेटिंग : दिलीप जैन 'गुड्डा', बेस्ट कम्प्यूटर्स, सागर (म. प्र.)

चित्रांकन : प्रकाश माणिकसा राऊळ, अंजनगाँव सुर्जी (महाराष्ट्र)

आवरण-चित्र : संजीव शाश्वती, आवरण-सज्जा : चन्द्रकान्त शर्मा

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐंड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ

प्रथम संस्करण : 2007

द्वितीय खण्ड, मूल्य : 450 रुपये

तीनों खण्ड, मूल्य : 1100 रुपये

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition : 2007
Volume II, Price : Rs. 450
Full set, Price : Rs. 1100

उद्‌भावना

अपने स्थापनाकाल से ही ज्ञानपीठ भारतीय चिन्तनधारा के विविध आयामी पक्षों को केन्द्रित कर लिखे जा रहे समग्र समकालीन साहित्य की कालजयी रचनाओं को प्रबुद्ध पाठकों तक ले जाने की अग्रणी भूमिका निभाता आ रहा है। यह सब इसलिए कि इससे हिन्दी भाषाभाषी पाठक तो लाभान्वित होंगे ही, इसके माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं के रचनाकारों एवं सजग पाठकों के बीच तादात्म्य भी स्थापित हो सके, परस्पर वैचारिक प्रतिक्रिया और आदान-प्रदान हो सके।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि श्रमण संस्कृति के उन्नायक आचार्यश्री विद्यासागर जी ने धर्म, दर्शन और अध्यात्म के सार को आधार बनाकर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सम-सामयिक समस्याओं के निवारण की मंगल भावना से हिन्दी में 'मूकमाटी' महाकाव्य का सृजन किया था। भारतीय ज्ञानपीठ ने बड़ी तत्परता से इस गौरवग्रन्थ का प्रथम संस्करण 1988 में प्रकाशित कर इसे बृहत् पाठक समुदाय तक पहुँचाने का कार्य किया था। यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई कि सन् 2006 तक इसकी आठ आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। इसी ग्रन्थ का मराठी अनुवाद 'मूकमाती' भी ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है। इसके अँग्रेजी, बांग्ला और कन्नड़ अनुवाद भी मुद्रण की प्रक्रिया में हैं।

आतंकवाद, आरक्षण वं दलित समस्याओं के समाधान तथा दहेजप्रथा, अर्थलिप्सा जैसी सामाजिक कुरीतियों का निर्मूलन एवं व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया का निर्धारण इस रचना का मूलभूत प्रयोजन माना जा सकता है। विशेषता यह है कि इसके लेखन में तपोनिधि का सन्त-स्वभाव क्रियाशील रहा है।

यह जानकर हम सभी को सुखद आश्चर्य होगा कि इसके व्यापक प्रचार-प्रसार एवं विषयगत भावों के सहज सम्प्रेषण होने के फलस्वरूप देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत आचार्यश्री विद्यासागर जी के विपुल वाङ्मय सम्बन्धी 41 शोधकार्यों में से 'मूकमाटी' पर अब तक 4 डी.लिट्., 22 पी-एच.डी., 7 एम. फिल. के शोध-प्रबन्ध तथा 2 एम.एड. और 6 एम.ए. के लघु शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके/रहे हैं।

इस कालजयी कृति पर अब तक जिन विख्यात समीक्षकों ने कृतिकार की मान्यताओं एवं काव्य के वैशिष्ट्य का अपने वैचारिक आलोक में जिस तरह आलोडन-विलोडन किया है और इसे आधुनिक भारतीय साहित्य की, विशेषरूप से हिन्दी काव्य-साहित्य की, अपूर्व उपलब्धि माना है, उस प्रभूत सम्पदा को भी पाठक तक प्रेषित करने का हमारा कर्तव्य बन जाता है।

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार तथा साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली के पूर्व सचिव डॉ. प्रभाकर माचवे के प्रधान सम्पादकत्व में सम्पूर्ण भारत के लगभग 300 समालोचकों ने 'मूकमाटी' के विभिन्न पक्षों पर अपनी कलम चलायी थी। उनके आकस्मिक देहावसान के कारण, बाद में प्रस्तुत ग्रन्थ 'मूकमाटी-मीमांसा' के पृथक्-पृथक् तीन खंडों वाले इस समीक्षा ग्रन्थ का कुशल सम्पादन विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं मूर्धन्य विद्वान आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने किया है। भारतीय ज्ञानपीठ उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता है।

इस बृहद् ग्रन्थ के प्रबन्ध सम्पादक मंडल का धन्यवाद कि पांडुलिपि तैयार कराने से लेकर उसके प्रकाशन के लिए अपनी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सेवाएँ प्रदान कीं।

अन्त में परमपूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज के श्रीचरणों में हमारा नमन, कि उनके आशीर्वाद से ही यह कार्य सहजरूप से सम्पन्न हुआ।

हमने अपनी ओर से प्रयासभर ग्रन्थ की साज-सँभाल और उसके सुन्दर प्रकाशन में तत्परता बरती है। फिर भी इस दिशा में कोई त्रुटि या कमी रह जाती है तो सुविज्ञ पाठक उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे, ताकि अगली आवृत्ति में उसका यथासम्भव शोधन किया जा सके।

शुभं भूयात्।

—साहू अखिलेश जैन

प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

नयी दिल्ली

11 जनवरी 2007

'मूकमाटी' : शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा

आचार्य श्री विद्यासागरजी से भूतपूर्व सम्पादक डॉ. प्रभाकर माचवे की 'मूकमाटी' पर केन्द्रित बातचीत
स्थान-'त्यागी भवन', श्री दिगम्बर जैन मोठे मन्दिर के निकट, इतवारी बाजार, नागपुर, महाराष्ट्र
चैत्र शुक्ल नवमी – रामनवमी दिवस, वीर निर्वाण संवत् 2517, विक्रम संवत् 2048, रविवार, 24 मार्च 1991 ईस्वी

[संकेत – प्र. मा. – प्रभाकर माचवे, आ. वि. – आचार्य विद्यासागर]

प्र.मा.- 'मूकमाटी' शीर्षक ग्रन्थ या महाकाव्य लिखने की प्रेरणा आपको कहाँ से और कैसे हुई ? क्यों हुई ? मैंने यह इसलिए पूछा कि जैन पुराख्यानों में, कथानकों में वसुन्धरा या पृथिवी के प्रति, मिट्टी के प्रति ऐसी क्या बात थी जिसने आपको इस तरह से इतना बड़ा महाकाव्य लिखने की प्रेरणा दी ?

आ. वि.- हाँ, हमने सोचा कि काव्य और उसमें भी अध्यात्मपरक काव्य का मूल विषय सत्ता - महासत्ता हो, उसे बनाना उचित होगा। अध्यात्म की नींव इसी महासत्ता पर रखी जा सकती है, जो व्यापक होती है। इसे अन्तःप्रेरणा ही कहा जा सकता है। 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ (गाथा ८) में कहा गया है :

"सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया। भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिक्खा हवदि एक्का॥"

यानी सभी पदार्थों में सत्ता विद्यमान रहती है। वह विश्व यानी अनेक रूप है, अनन्त पर्यायात्मक है, उत्पाद-व्यय- ध्रौव्यशाली है और वह एक है तथा प्रतिपक्षधर्मयुक्त है।

प्र. मा.- यह महासत्ता क्या अणु से आरम्भ होती है ?

आ. वि.- हाँ, वह अणु में भी है और महत् में भी है। वह सब में व्याप्त है। वह गुण में भी है और पर्याय में भी है। वह गुणवत् भी है और पर्यायवत् भी है। वह अपने आप में द्रव्यवत् भी हो सकती है यानी सर्वांगीण भी हो सकती है। समष्टि या व्यष्टि से कोई मतलब नहीं - वह सर्वव्यापी है। जहाँ कहीं भी है, उस सबको सत् से जोड़ते चलना चाहिए।

प्र. मा.- जब आप 'सत्ता' को 'द्रव्य' कहते हैं तो वह क्या और कैसा होता है ?

आ. वि.-'द्रव्य' यहाँ उसको कहते हैं जो 'गुण' व 'पर्याय' का आधार होता है। [('गुणपर्ययवद् द्रव्यम्', तत्त्वार्थ-सूत्र, ५/३८)। यह द्रव्य भी सत् है ('उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०) यानी यहाँ प्रत्येक वस्तु में सत्ता विद्यमान है और वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। वस्तु उत्पाद-व्ययशाली भी है और स्थिर भी। वह नित्य भी है और अनित्य भी। देश-कालजन्य परिणमनशील धर्म 'पर्याय' है और वस्तुसत्ता में एक रस विद्यमान रहने वाला धर्म 'गुण' है।] तो 'द्रव्य' जो है, वह जीव के रूप में रह सकता है एवं अजीव के रूप में भी हो सकता है। लेकिन 'सत्' जो है वह जीव और अजीव—उभयत्र विद्यमान है। ऐसे ही एक तत्त्व को प्रतीक बनाकर हमने सोचा कि इस माध्यम से सारभूत जो है, वह सब कहा जा सकता है।

प्र. मा.- अणु से मनु तक की जो यात्रा है, मृण्मय से चिन्मय तक की जो यात्रा है—जिसको हम मेटामॉर्फोसिस / ट्रान्सफॉर्मेशन (Metamorphosis / Transformation) यानी रूपान्तरण कहते हैं, वह यात्रा किस प्रकार सम्पन्न होती है ? क्यों होती है ? ये आपके मत से क्या है ? यह कैसे हो गया ? यह जो घट है—मिट्टी का

घड़ा, इसमें आकाश कैसे आ गया ?

आ. वि. - इसमें आकाश रूप परिणमन करने की—मतलब आकाश को अवगाहित करने की और आकाश में अवगाहित होने की, दोनों तरह की क्षमता विद्यमान है। इसी को 'सत्ता' कहा जाता है। अर्थात् वह एक भी है एवं अनेक भी है; सत् भी है और असत् भी। वह सबके साथ जुड़ी हुई है—'सा प्रतिपक्षाऽपि विद्यते, सा विश्वरूपाऽपि विद्यते। सा एकाऽपि अनेकाऽपि वर्तते।'

प्र. मा.- और इसके ये नाम रूपात्मक हैं ? आकार - आयतन कैसा है ?

आ. वि.- अपने भीतर जो अनगिनत सम्भावनाएँ हैं, वे सभी सत् में विद्यमान हैं और उनके आकार को 'पर्याय' कहते हैं। वे सब प्रतीक बनाकर व्यक्त की गई हैं 'मूकमाटी' में। दूसरी बात यह भी है कि ये सब व्यापक होकर भी, पतित से पावन होने की जो यात्रा है – नीचे से उठकर उत्थान की ओर अग्रसर होने की जो हमारी आध्यात्मिक यात्रा है, इसमें सब की सब समाहित हो जाती हैं। कारण, ऐसे किसी नगण्य या तुच्छ व्यक्तित्व को हम ले लें और तुम पावन नहीं बन सकते, ऐसा सुनकर भी जो पावनता की सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयास करता है तो स्पष्ट हो जायगा कि सब में पावनता की सीढ़ियों पर चढ़ने की सम्भावनाएँ हैं। मिट्टी ऐसे ही एक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है।

प्र. मा.- तो आप जो मिट्टी और कांचन के – ये दो घड़े लाए हैं। उसमें उसके मृण्मय एवं धातुमय कांचन के बनाने से आपका कोई विशेष उद्देश्य नहीं है वरन् यह कि घटत्व दोनों में व्याप्त है, अतः घट दोनों एक हैं, यह आशय है ?

आ. वि.- नहीं, नहीं, उन दोनों में घटत्व की व्याप्ति दिखाकर उन्हें एक बताने का उद्देश्य नहीं है, वरन् उद्देश्य है—ऊँच-नीच दिखाने का।

प्र. मा.- ऊँच और नीच क्या चीज है ? यह ऊँच-नीच बनाने वाला कौन है ?

आ. वि.- यह ऊँच-नीच की भावना मनुष्यों के मस्तिष्क की उपज है। फिर तदर्थ कुछ न कुछ सम्बोधन तो देना आवश्यक है। मेरे पास और कुछ वस्तु या पदार्थ नहीं है जो इसको अवहेलित करने वाला व्यक्ति कुछ पा सके। इसीलिए इसको हमने कांचन का रूप दे दिया। कंचन और मृण्मय हमारे लिए समान हैं, यह ठीक है, परन्तु सब के लिए तो ये समान नहीं हैं। जिसके पास समानता नहीं, विषमता है, उसको भी कम से कम महानता का बोध हो जाय।

प्र. मा.- इसमें आपने 'आतंकवाद' शब्द का प्रयोग किया है। इसमें कांचन का घड़ा आतंक कराने वाला बन जाता है। इस आतंक से आपके मन में कहीं उस आतंक का भी संकेत विद्यमान है, जो आज इस देश में चल रहा है ? क्या इस आतंकवाद का भी कोई भाव आपके मन में है ?

आ. वि.- हाँ, उसका भी भाव, सम्बन्ध है।

प्र. मा. - तो आप क्या सोचते-समझते हैं ? कैसे आतंकवाद का मुकाबला कर सकते हैं ? उसका समाधान कैसे किया जा सकता है ? कैसे हो सकता है ? क्या हो सकता है ?

आ. वि.- आतंकवाद को मिटाने के लिए पहले हमें यह भी देखना होगा कि आतंकवाद का प्रादुर्भाव कैसे हुआ ?

प्र. मा.- कारण की तह में जाना होगा।

आ. वि.- वह कारण यही है कि कहीं न कहीं शोषण हुआ है, कहीं न कहीं अनादर या अवहेलना हुई है। उसके अस्तित्व को नकारा गया है। तभी इस प्रकार की घटनाएँ घटती हैं, यह भी तो हमें सोचना चाहिए।

प्र. मा.- अब देखिए, यहाँ पर जो नव बौद्ध लोग हैं, दलित लोग हैं, हरिजन लोग हैं, वे मानते हैं कि हजारों वर्षों से उन्हें दमित या दलित किया गया है, उनका अनादर हुआ है। इससे उनके मन में एक हीन ग्रन्थि पैदा हो गई है। सो अब वे वैसा ही नहीं रहना चाहते हैं। वे आरक्षण करवाते हैं कि हमारे अधिकार ज्यों के त्यों रहें और हम नव बौद्ध भी रहेंगे, साथ ही अधिकार भी लेंगे। यह कहाँ तक उचित है ?

आ. वि.- विकास का द्वार सबके लिए उद्घाटित होना चाहिए। लेकिन विकास इधर-उधर से नहीं आएगा अपितु उसी में होगा। हम उसमें निमित्त बन सकते हैं, सहयोगी हो सकते हैं। हाँ, यदि वह हमारे सहयोग का दुरुपयोग करता है तो वह ठीक नहीं माना जा सकता। वह बच्चा जिसके पास बुद्धि है, उसके लिए हम उपकरण जुटा सकते हैं। इस तरह सहयोग कर सकते हैं। यदि वह कमजोर बुद्धि का है तो विशेष प्रबन्ध कर सकते हैं। लेकिन जो विकास ही नहीं करना चाहता है और उसी अवस्था में रहकर विकसित व्यक्ति की तुलना में अपने आपको (आरक्षण की) बैसाखी पर बिठाना चाहता है, इससे तो अवरोध ही पैदा होगा। अवरोध तो होगा ही, उलटे जो मूल्यवान् पदार्थ या व्यक्ति होगा, उसका अवमूल्यन हो जाएगा। साथ ही जो मूल्यवान् नहीं है उसको भी मूल्य देना पड़ेगा। दारिद्र्य का ही स्वागत करना पड़ेगा।

प्र. मा.- आज तो देश भर में यही सब देखने में आ रहा है, दिखाई दे रहा है। प्रजातन्त्र के नाम पर अथवा सत्ता, सम्पत्ति और संस्था के नाम पर हम वो कार्य कर रहे हैं जिससे कि अवमूल्यन ही हो रहा है।

आ. वि.- आपने (दो दिन पूर्व) जो तीन बातें कहीं थीं – सत्ता, सम्पत्ति और संस्था...

प्र. मा.- तो इन पर भी विचार होना चाहिए। 'सत्ता' से राजसत्ता नहीं। इस सन्दर्भ में सत्ता, सम्पत्ति और संस्था-तीनों को मैं एक बहुत बड़ा कंचुक मानता हूँ। इनसे मनुष्य की आत्मा का बहुत बड़ा हनन होता है। यह बात मैंने पहले भी कही है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रजातन्त्र से क्या आवश्यक रूप से वह होगा, जो आप कहते हैं ? बर्नार्ड शॉ ने कहा है : "डेमोक्रेसी इज मीडियाक्रेसी"– अच्छे जो लोग हैं, गुणवान् जो लोग हैं - आप जैसे जो लोग हैं, उन सबको नीचे उतरकर उनके साथ होना होगा, होना चाहिए या सब एक-से हो जाएँगे। सारा पानी मैला होगा या कि जो मैला पानी - नीचे के जो लोग हैं, वे सचमुच के बड़े हो जाएँगे ? इस प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया में आप क्या सोचते हैं ?

आ. वि.- बुद्धि की अपेक्षा से, आर्थिक दृष्टि से और साथ ही शारीरिक आदि दृष्टि से भी उनकी जो योग्यताएँ हैं, वहाँ तक उनका मूल्यांकन होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि उनका जो मूल्य हो उसे भी नज़रअंदाज़ किया जाय। किसी का सर्वथा अवमूल्यन ठीक नहीं।

प्र. मा.- पर हो तो यही रहा है।

आ. वि.- अवमूल्यन से तो वह सब एक प्रकार से समाप्त ही हो जायगा।

प्र. मा. - आज तो वोट की राजनीति है। प्रजातन्त्र में संख्या का ही महत्त्व है, गिनती की ही महत्ता है। गिनती या संख्या में तो निरक्षर लोग ही ज्यादा हैं। मैं तो समझता हूँ कि आज का जो राज्य है वह निरक्षरों का, निरक्षरों के लिए, निरक्षरों द्वारा चलाया जाने वाला राज्य है। ये संख्या वाले और निरक्षर होते जाएँगे, बजाय इसके कि ये साक्षर हों–समस्या यह है।

आ. वि.- लेकिन साक्षर होने मात्र से क्या होता है ? साक्षर होने के उपरान्त भी यदि वे विलोम हो गए तो ? कहा गया है : "साक्षरा: विपरीताश्चेत् राक्षसा: सन्ति केवलम्" - साक्षर विलोम भी हो सकते हैं और ऐसा होने पर वे केवल 'राक्षस' ही होंगे। मतलब इस ओर भी अपने को देखना आवश्यक है। सत्ता बहुत जल्दी करवट

लेती है। सत्ता तभी सत्ता है जब वह सही-सही चल सके।

प्र. मा.- सारी शक्तियों की यही स्थिति है। पहले जो तानाशाही होती थी - चाहे वह हिटलर की हो, स्टालिन की हो या सद्दाम की हो....

आ. वि.- संयम तो बरतना चाहिए।

प्र. मा.- प्राचीन ऋषियों ने जो 'द-द-द' कहा था – वह ठीक ही था - दान, दया और दमन। दमन करना संयम ही है और संयम धारण करना आज बहुत आवश्यक है।

अच्छा, यह बताइए कि आज की पीढ़ी में, आज की शिक्षा में जो कुछ हो रहा है - जैसे आपका ग्रन्थ पढ़ा और भी महाकाव्य पढ़े, बहुत सारी पुस्तकें पढ़ीं - तो क्या इस पढ़ाई से संयम की शिक्षा प्राप्त होगी, संयम की भावना पैदा होगी और बढ़ेगी ? क्योंकि आज की पढ़ाई को देखकर और पढ़ने वालों में आचरण की गिरती स्थिति को देखकर हितचिन्तक मनीषी बेचैन हैं। उन्हें संयम की दीवाल ढहती-सी दिखाई दे रही है। मैं आप सबके मुनि समाज और अन्य संघों में गया, सभाएँ भी सुनीं। पर सर्वत्र इसकी कमी लक्षित हो रही है। लोगों में संयम का अभाव बढ़ रहा है। रामकृष्ण आश्रम भी गया। पर नए लोग इसकी ओर नहीं आ रहे हैं। कारण, यह मार्ग कठिन है। इस मार्ग को सहसा कोई नहीं अपनाता। तो क्या कोई सरल उपाय किया जा सकता है जिससे सर्वसाधारण में संयम की शिक्षा अधिक से अधिक दी जा सके ? जैसे स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा और अन्य लोगों ने भी कहा कि यह कठिन मार्ग है, इसका सरलीकरण कैसे हो ?

आ. वि.- ऐसा है कि दो मार्ग निर्दिष्ट हैं अपने यहाँ। एक रुपया है (जो पूर्ण है-उसमें सौ पाई यानी पैसे हैं) और दूसरी एक पाई है। पाई की यात्रा या मात्रा(संख्या) एक पाई से आरम्भ होकर निन्यानवे पाई तक चलती है। इन सबको हम पाई ही गिनते हैं। इसमें आप कहीं भी फिट हो सकते हैं। इसकी तुलना में जो रुपया है- उसमें सौ पाई चाहिए ही चाहिए। तो यदि सौ नहीं हो सकते तो कम से कम पाई को तो हम सुरक्षित रखें - जो हो सके वह तो करें (पूर्ण न हो सकें तो क्या अंश बनना ही छोड़ दें ?)। एक पाई में दूसरी पाई जोड़ी जा सकती है। इस तरह एक से दो, दो से तीन तो हो सकते हैं। इस क्रम से धीरे-धीरे बढ़ें तो आपकी यात्रा उस एक पूर्ण की ओर होनी ही चाहिए, बढ़नी ही चाहिए।

प्र. मा.- इसका अभिप्राय यह कि संख्या या मात्रात्मक परिवर्तन से हम गुणात्मक परिवर्तन की ओर बढ़ें ?

आ. वि.- जी हाँ ! गुणात्मक परिवर्तन की ओर धीरे-धीरे बढ़ें।

प्र. मा. - कार्ल मार्क्स का यह कहना है : "क्वान्टिटी चेन्जेज़ क्वालिटी"- संख्या से गुणात्मक परिवर्तन होता है। हो जाता है। कहना यह है कि गुणात्मक परिवर्तन होना चाहिए।

आ. वि.- गुणात्मक परिवर्तन – जैसे, दो और दो मिलकर चार हो जाते हैं और दो में एक मिला दो, फिर एक मिला दो - इस तरह दो बार धन करने से भी चार हो जाते हैं। कहने का आशय यह है जो गुणित न कर सकें, वह धन कर के यानी जोड़कर करें पर ऋण तो न कर दें (मतलब घटाएँ न, बढ़ाते ही जाँय। वह गुणन की पद्धति में न हो सके तो धन के क्रम से ही हो जाय)।

प्र. मा.- जी हाँ, यह बहुत अच्छी बात कही आपने। आज तो ऋण की ही सम्भावनाएँ ज्यादा हैं। अन्तरराष्ट्रीय विश्व बैंक का ऋण भी तो उसी का प्रतीक है, जहाँ से ऋण लेते हैं हम।

आ. वि.- आज ऋण से ही हमारे सारे कार्य हो रहे हैं।

प्र. मा.- जी हाँ ! अब मैं आपका ध्यान इस 'मूकमाटी' काव्य की ओर फिर आकृष्ट करना चाहता हूँ। आपने मुक्त

छन्द ही क्यों चुना, इस काव्य के लिए ? आपके [जैन प्रस्थान के] वे जितने पारम्परिक काव्य हैं - चाहे प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत या हिन्दी के बहुत से काव्य हों– मुक्त छन्द में इतना बड़ा काव्य बहुत कम लोगों ने लिखा है। 'कामायनी', 'उर्वशी', 'साकेत' भी छन्दोबद्ध ही हैं। हरिऔधजी के काव्य भी ऐसे ही हैं। 'रामायण' या 'रामचरितमानस' भी ऐसे ही हैं। ये सभी छन्दोबद्ध ही हैं। आपको क्या मुक्त छन्द में कोई सुविधा लगी? कारण बताएँगे ? क्या कारण है ?

आ.वि.- इसमें एक तो सूत्रबद्धता यानी सूत्र रचना जिसको बोलते हैं, उसकी सुविधा मिल जाती है जो हमें इसमें देखने को मिली। छन्द जब बनाते हैं तब उसमें सूत्रात्मकता नहीं आ पाती, भले ही गेयता आ जाती है पर सूत्रात्मकता नहीं आ पाती। सूत्र में ऐसी क्षमता रहती है कि उसके माध्यम से हम संक्षेप में बहुत कुछ अर्थ कह लेते हैं। एक सुविधा तो यह है। दूसरी, छन्द में तुकबन्दी आदि-आदि पुनरावृत्ति जैसी लगती है। इससे उसमें कुछ कृत्रिमता भी आ जाती है। हम लाख प्रयत्न करें किन्तु उसका निवारण नहीं कर पाते पर वह अवांछित व्याघात या स्थिति आ ही जाती है।

प्र. मा.- आपके छन्द में ज्यादातर द्वयक्षर-प्रास आ जाता है। तेलगु और कन्नड में भी ये देखने को मिलता है। आपने कौन-कौन से महाकाव्य पढ़े हैं या देखे हैं या किनसे प्रभावित हुए हैं, जो आपके लेखन में प्रेरणास्रोत बन सके हैं ?

आ.वि.- महाकाव्य के रूप में हिन्दी का तो मैंने कोई महाकाव्य नहीं देखा।

प्र. मा. - नहीं, अपनी भाषा में ? संस्कृत, प्राकृत में या किसी अन्य भाषा में ?

आ.वि.- नहीं, हमने श्री गुरु महाराज (आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज) के द्वारा लिखित जो महाकाव्य हैं, उनका उन्होंने ही अपने श्रीमुख से अध्यापन कराया था। उनका 'जयोदय' महाकाव्य है, 'वीरोदय', 'सुदर्शनोदय' आदि महाकाव्य हैं, इनके अतिरिक्त उनके अन्य भी जो संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थ हैं, उनसे पढ़ा करते थे। इस प्रकार संस्कृत भाषा के साथ-साथ हिन्दी भी अपने आप आ गई है।

प्र. मा.- आपने 'कामायनी' भी नहीं पढ़ी ?

आ. वि.- गुरु जी ने यह कहा था कि पहले संस्कृत सीखो, उसके साथ-साथ यह सब आ जायगा।

प्र. मा. - अँग्रेज़ी भी आप पढ़ते हैं या नहीं ?

आ. वि. - हाँ, थोड़ी-बहुत पढ़ लेता हूँ।

प्र. मा. - श्री अरविन्द का 'सावित्री' महाकाव्य भी नहीं देखा ?

आ. वि.- उसे साहित्यिक ढंग से (मूल में) नहीं पढ़ा। 'मूकमाटी' सृजन के पूर्व तो नहीं, किन्तु तत्पश्चात् अनूदित रूप में देखा है।

प्र. मा. - काफी अच्छा ग्रन्थ है। उसका अनुवाद भी हिन्दी में हुआ है। उसकी गणना बीसवीं शती के अच्छे ग्रन्थों में होती है। तो यह 'मूकमाटी' महाकाव्य स्वतः स्फूर्त पद्धति से लिखा गया है।

अच्छा, यह बताइए कि इसमें जो चार खण्ड आपने रखे हैं, इसकी भावना आपके मन में कहाँ से आई ?

आ. वि.- नहीं। मैंने पहले चार खण्ड नहीं बनाए। पहले तो धाराप्रवाह आद्योपान्त यों ही लिख गया। बाद में महसूस हुआ कि यह पाठकों के लिए असुविधाजनक हो सकता है, फलतः कोई काट-छाँट तो नहीं की, किन्तु प्रसंगों को लेकर भिन्न-भिन्न शीर्षक अवश्य रचे। अब इन को (शीर्षकों को) निकाल भी देते हैं तो भी इसकी निरन्तरता भंग नहीं होती, धारा नहीं टूटती। वह अविरुद्ध बनी रहती है। साथ ही यदि भिन्न-भिन्न

शीर्षक रख भी देते हैं तो पाठक थोड़ा विश्राम जैसा अनुभव कर लेता है।

प्र. मा.- अच्छा, अब मेरी जिज्ञासा पंच तत्त्वों के सम्बन्ध में है। आपने जल, मिट्टी, सूर्य-प्रकाश-अग्नि, वायु और आकाश—इनका प्रयोग इसमें रूपकात्मक पद्धति पर किया है या कि कोई और पद्धति पर और किसी अन्य अर्थ में किया है ? इन्हें केवल भौतिक पंच तत्त्व के रूप में न लेकर किसी पात्र का प्रतीक बनाकर ही नहीं वरन् उनका मानवीकरण किया है, कहीं- कहीं दिव्यीकरण भी किया है। अतः अब यह बताइए कि इन तत्त्वों के सम्बन्ध में जैसे मिट्टी आदि कहा तो इसके बारे में आपका मत क्या है ? अर्थात् उनके साथ जो एसोसियेशन्स (साहचर्य) बनते हैं या कहलाते हैं मनोविज्ञान में, वे क्या हैं ? आपका 'मिट्टी' से क्या मतलब है ? सचमुच ही मिट्टी अथवा कोई शरीर या मिट्टी का घड़ा ? क्या आशय है आपका ?

आ. वि.- 'मिट्टी' का अर्थ इतना ही लिया गया है कि वह एक अनगढ़ पदार्थ है।

प्र. मा.- जिसमें बहुत सारे कंकड़ भी मिले हैं।

आ. वि.- जी हाँ ! बहुत कुछ मिक्चर (मिश्रण) है, तो उनका संशोधन करके जिस प्रकार घड़े का रूप दिया जाता है उसी प्रकार अनगढ़ आत्माएँ, जो कि अनन्तकालीन हैं, उनको भी कोई विशिष्ट शिल्पी का योग मिल जाता है और वह स्वयं मिट्टी के समान उसके प्रति समर्पित होता चला जाता है तो वह भी निश्चित रूप से कुम्भ के समान मंगलमय हो जाता है या बन सकता है।

प्र. मा.- यह उसका उपादान कारण है या निमित्त ?

आ. वि.- जी हाँ ! उसका उपादान कारण तो वह स्वयं है। स्वयं मिट्टी ही लोंदे के रूप में परिवर्तित होगी। शिल्पी का (निमित्त—प्रेरक निमित्त) योग पाकर यह परिवर्तन होगा। इसको अपने यहाँ उपादान एवं निमित्त कारण बोलते हैं।

प्र. मा.- यानी कुम्भकार जब कुम्भ बनाता है तो उसका आशय यह कि कुम्भ जो है वही कुम्भकार को बना रहा है।

आ. वि.- जी हाँ ! जी हाँ !!

प्र. मा.- इसमें द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। तो इस मिट्टी के लोंदे से जो आकार उभरा है घड़े का, उसका क्या करना है ? क्या यह पहले से कुम्भकार के मन में रहता है या बनता जाता है ? उसके बाद उसका उपयोग होता है।

आ.वि.- हाँ ! कुम्भकार का इसमें उद्देश्य रहता है, क्योंकि उसके माध्यम से वह अपनी जीविका चलाता है। रहा कुम्भ, उसका मतलब यह है कि जो मिट्टी के रूप में था, वह कुम्भ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार गुरु और शिष्य का सम्बन्ध है। गुरु के माध्यम से शिष्य का उत्थान होता है। शिष्य यदि चाहेगा तो पाएगा। उसमें पात्रता आ गई है।

प्र.मा.- अब मैं सृष्टिकर्ता और सृष्टि की बात करना चाहता हूँ, जिसका बार-बार आप उल्लेख करते हैं। क्या जो सृष्टिकर्ता है वह कुम्भकार है और जो सृष्टि है कुम्भ—वह क्या है ? मैं यह जानना चाहता हूँ कि वह किस चीज से सृष्टि बनाता है ? वह अपने अन्दर से उपजाता है, सृष्टि बनाता है या कोई बाहर की चीज़ है जिससे बनाता है ? इस विषय में दार्शनिकों में बहुत ऊहापोह और वाद-विवाद रहा है। जब शंकराचार्य से पूछा गया कि आपके यहाँ सृष्टि क्यों और कैसे बनी या बनाई गई ? तो वह युक्तिसंगत उत्तर ना दे सके। कारण, वह तो निरीह है, अतः उस परम सत्ता में कोई इच्छा ही नहीं और बिना इच्छा के क्रिया कैसे होगी ? फिर वह पूर्णकाम है, अतः उसे कोई अभावात्मक प्रयोजन भी नहीं, फिर सृष्टि क्यों बनाई ? जब उनको बहुत छेड़ा गया तो उत्तर दिया—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्रह्मसूत्र,२/१/३३)—जिस प्रकार लोक में निष्प्रयोजन लीला की जाती है, क्योंकि लीला का प्रयोजन स्वयं लीला ही है, वैसे ही परमेश्वर ने की है यह

सब लीला। और छेड़ा गया तो उन्होंने कहा—'सृष्टि एक भ्रम है।' वह वास्तव में भ्रम या अज्ञान या माया की उपज है। कहने के लिए उन्होंने यह सब कह दिया। आपकी धारणा क्या है ? आपकी दृष्टि क्या है? किस चीज से सृष्टि बनाई गई है ?

आ. वि.- सृष्टि यदि रचना है, इसलिए सृष्टि अपने आप में एक कर्म है। मान लो कार्य है। तो किसी का होगा। अब किसी का है तो किसका है ? यह प्रश्न तो निश्चित उठेगा। कोई कहेगा वह कर्ता ईश्वर है, कोई कहेगा भगवान् है और कोई कहेगा महावीर है, आदि-आदि। ऐसी स्थिति में प्रत्येक सत् के भीतर जो अनगिन सम्भावनाएँ हैं, वे सब नकार दी जाएँगी। ये सारी की सारी सम्भावनाएँ उस ईश्वर पर आधारित हो जाएँगी और यदि ऐसा मान भी लें तो भी हमें सन्तुष्टि नहीं मिलेगी। असन्तुष्टि का कारण यह है कि यदि ईश्वर कर्ता है तो उसने ऐसी विषम सृष्टि क्यों बनाई ? उसमें समानता क्यों नहीं ? कोई रंक है तो कोई राजा क्यों ? इसलिए ईश्वर को कर्ता कैसे माना जाय? सृष्टि में यह व्यत्यास की प्रक्रिया बनी ही क्यों ? इससे लगता है कि यह प्रक्रिया बनी ही नहीं, किसी ने बनाई भी नहीं। जड़ और चेतन में अन्तर व्याप्त है, व्यत्यास है। चूँकि जीव कर्म करता है तो राग-द्वेष आदि भी करता है। इस प्रकार कर्मबन्ध होने के पश्चात् उसी कर्म का पुनः उदय होता है। और उसका फल वह स्वयं भोगता है। जड़ यह स्वयं नहीं करता।

प्र. मा.- मलतब उस कुम्भकार के मन में कोई मॉडल नहीं था। उसने पहले कोई घड़ा नहीं देखा था और उसने अपने मन से नया बनाया। यह नई मौलिक उद्भावना है ? कहाँ से आई ?

आ. वि.- नहीं, यह उद्भावना खरीददार की चाह के अनुरूप है, वह जो चाहता है उसके अनुरूप है।

प्र. मा.- ओह !

आ. वि.- ग्राहक को देखकर ही दुकानदार को ज्ञात होता है कि दुकान में कहाँ-कहाँ क्या रखा है ? जब ग्राहक कहता है कि उसे कुछ दे दो तो दुकानदार जिज्ञासा करता है कि उसे क्या दे दे ? उसकी दुकान में तो हजारों सामान भरे पड़े हैं, तुम्हें क्या चाहिए। यही दृष्टान्त इस सन्दर्भ में भी लागू होता है। यहाँ केवल कुम्भकार नहीं चाहता, लोंदा स्वयं बता देता है कि मुझे इस प्रकार का आकार दें।

प्र. मा.- 'कामायनी' में और कश्मीरी शैवदर्शन में बार-बार इच्छा, ज्ञान और क्रिया की बात आती है। सृष्टि के मूल में इन तीनों का सामरस्य रहता है। इच्छा तो सब में होती है पर तदनुरूप ज्ञान सब में नहीं होता। तो इच्छा और ज्ञान के बाद क्रिया का अर्थात् हेड, हार्ट और हैण्ड – दिमाग, दिल और हस्त इन तीनों का जब (समरस) सम्बन्ध होता है, तभी उनसे सृष्टि की बात सम्भव होती है। परन्तु आपने यहाँ जो बात कही है, उस सन्दर्भ में निराकार या साकार - जैसा भी कुम्भकार माना जाय, क्या उसमें इच्छा पहले से रहती है ? ज्ञान रहता है ? क्रिया करने की इच्छा रहती है? या उसमें तीनों एक साथ उद्भूत रहते हैं ? आपके मन में क्या विचार है ?

आ. वि.- माँ जो होती है, उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती।

प्र. मा.- वाह ! वाह !!—बहुत अच्छा उत्तर आपने दिया।

आ. वि.- सामने जब उसका बच्चा आता है, खाना माँगता है तो खाना खिला देती है। पेट भर जाने पर यदि वह खेलना चाहता है तो स्वयं साथ में खेलने भी लगती है।

प्र. मा.- वाह ! हमारे गुरु पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी अपने को 'माँ' लिखा करते थे। 'मुझको कहते हैं माता' उन्होंने कविता लिखी थी। सारी कविता को वे इसी तरह मानते रहे। यह मिलती-जुलती प्रक्रिया है।

आ. वि.- कवि को भी इसी तरह होना पड़ता है। यदि नहीं होता, युग के अनुरूप अपनी तस्वीर नहीं बनाता तो वह कवि ही नहीं है।

प्र. मा.- वाह ! क्या बात है।

आ. वि.- तो इसका (कवि का) कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि फिर युग कैसा लेगा उसको। मैं अपनी तरफ से दे दूँ तो युग स्वीकार नहीं करेगा। आपकी चाह के अनुरूप हम देंगे तो निश्चित रूप से वह स्वीकार्य हो जायगा।

प्र. मा.- आपकी युग की जो कल्पना है क्या वह दिक् और काल से बँधी है? कौन-सा युग ? क्या आज का युग या प्राचीन युग ? महाभारत का युग या राम का युग—क्या ?

आ. वि.- युग हम हमेशा 'वर्तमान' को ही मानते हैं।

प्र. मा.- 'वर्तमान' शब्द की क्या परिभाषा है ? इस क्षण से अगला क्षण क्या वर्तमान नहीं है ?

आ. वि.- जिसमें भूत नहीं, भविष्य नहीं।

प्र. मा. - हाँ।

आ. वि.- जहाँ इच्छा नहीं, स्मरण नहीं, उसका नाम 'वर्तमान' है—'वर्तते इति वर्तमानः'। वह ही वर्तमान है हमारा। जो वर्तमान है, वही वर्धमान है हमारा।

प्र. मा.- वाह ! वाह !! क्या बात है जो वर्तमान है, वही वर्धमान है। बुद्धि से उसका सम्बन्ध है। बहुत अच्छा। परन्तु जो भूत है उसको हम भूल भी नहीं सकते। वह (भूत) उस (वर्तमान) में मिला हुआ है। टी. एस. इलियट ने लिखा है : "The past is involved in future and future and past in the present." – ये त्रिकाल जो है, एक प्रवहमान नदी है। हमारे चेतन, अचेतन, अर्धचेतन में ये सारे क्षण-क्षण जो हैं– तो क्षणवादी दर्शन के जो बौद्ध लोग हैं, वे मानते हैं कि क्षण ही प्रधान है। जबकि हमारे शंकराचार्य या उनसे भिन्न जो अन्य हैं उसको (सत् को) कूटस्थ, अचल और ध्रुव अर्थात् उसको एक निश्चित क्षण मानते हैं। अतः काल के सम्बन्ध में आपकी क्या अवधारणा है ?

आ. वि.- काल के माध्यम से हम करते हैं, काल में करते हैं किन्तु काल के द्वारा हम नहीं करते।

प्र. मा.- मनुष्यत्व से काल कोई अलग चीज है ?

आ. वि.- काल अलग चीज होते हुए भी एक 'स्व-काल' होता है और एक 'पर-काल' होता है। एक स्व-चतुष्टय (स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) और एक पर-चतुष्टय (पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) होता है। अपनी योग्यता ही 'स्व-काल' है और पर का सहयोग जो अपेक्षित है, वह 'पर-काल' है।

प्र. मा.- इन दोनों का सम्बन्ध कैसे होता है ?

आ. वि.- इन दोनों का सम्बन्ध उसी प्रकार होता है—जैसे करंट और तार। करंट स्व-काल है। करंट स्वयं प्रकाशमान् है और जो वायर है उसके लिए पर-काल है। वायर के बिना वह (करंट) एक स्थान से दूसरे स्थान तक नहीं जा सकता। पर वह साधन (उपकरण) मात्र है। स्वयं वह प्रेषित नहीं करता मात्र मीडियम/माध्यम है। यदि हम चाहते हैं तो जितनी गति के साथ करंट दौड़ेगा वह उसकी अपनी क्षमता होगी।

प्र. मा.- तो काल करंट है और मनुष्य मीडियम ?

आ. वि.- नहीं, काल केवल वायर है और करंट जो है वह स्वयं गतिमान् पदार्थ है। जीव चेतन है। वह स्वयं यात्रा करेगा तो उसके लिए काल सहयोग करेगा। काल के द्वारा करंट (जीव) नहीं दौड़ रहा है।

प्र. मा.- तो इसकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है, ज्ञान कैसे होता है ?

आ. वि.- हमें क्या करना है, कहाँ तक चलना है—वैसे करते चले जाएँ। यह आवश्यक है। जैसे, वर्तमान को लेकर हम चलें। एक व्यक्ति तार के ऊपर चल रहा है। वह अतीत की ओर, पीठ की ओर नहीं देखता। इस प्रकार होने से भूत भी उसका गायब हो गया एवं वर्तमान की ओर भी वह देखता नहीं, लेकिन वर्तमान में ही वह चल रहा है। पैर उसके वर्तमान हैं।

प्र. मा.- भविष्य ?

आ. वि.- भविष्य आशात्मक नहीं है। पहुँचने रूप है। प्रति (हर) समय वह चल रहा है। इसलिए भविष्य उसका निश्चित रूप से उज्ज्वल है। लोग उसे देखते रहते हैं और वह पार कर जाता है।

प्र. मा.- मार्क्सवादियों का कहना है कि प्रतिक्षण जब आप एक-एक कदम चलते हैं तो आपका जो दाहिना पैर है वह बाएँ पैर का निषेध है और जब अगला पैर चलेगा तब दाएँ पैर का निषेध होगा अर्थात् निषेध का निषेध, नकार का नकार।

आ. वि.- लेकिन हम दोनों पैर से नहीं चलते हैं, एक ही पैर से चलते हैं। दूसरा पैर हमारे लिए सहयोगी रहता है, वह टिका हुआ रहता है। ये धन और ऋण हैं।

प्र. मा.- यानी धन और ऋण दो अलग-अलग करंट नहीं हैं ?

आ. वि.- अलग-अलग करंट नहीं हैं। वह दोनों की संयोजना है। करंट दोनों की संयोजना है। न केवल धन में करंट है और न केवल ऋण में।

प्र. मा.- उनका द्वन्द्व नहीं है।

आ. वि.- नहीं, सहयोग है। दोनों पैर से हम चलेंगे तो हम 'लौंग जम्प' वाले कहलाएँगे या 'हाई जम्प' वाले कहलाएँगे किन्तु 'वाकिंग' (walking) वाले नहीं कहलाएँगे।

प्र. मा.- बहुत अच्छा।

आ. वि.- एक पैर से ही चला जाता है और तब दूसरा पैर बैलेंस में रहता है।

प्र. मा.- मैक्समूलर ने रामकृष्ण परमहंस पर जर्मन में एक पुस्तक लिखी है। उसमें बहुत अच्छा लिखा है। उसमें लिखा है कि डायलेक्टिक (Dialectic) जो है या परस्पर द्वन्द्वात्मकता जो है, उसमें एक दूसरे को काटने की बात है यानी नकार का नकार। भारतीय दर्शन में यह काट-पीट नहीं है, यहाँ मात्र Dialogue है।

आ. वि.- हाँ संयोजन है, डायलेक्टिक नहीं है। जैसे खेत में बहुत-सा सस्य है। उसमें हवा बहती है, तब वह एक दूसरे में संचार करती है, एक दूसरे को काटती नहीं।

प्र. मा.- जैसे इकबाल ने कहा है : "जियो, मगर मौजों की तरह जियो।" एक लहर आती है वह दूसरी लहर को काटती नहीं वरन् एक दूसरे को आगे बढ़ाती हुई आगे चली जाती है। आपका दर्शन भी इसी तरह सोचता है।

आ. वि.- जी हाँ !

प्र. मा. - फिर भी मुझे यह स्पष्ट नहीं हुआ कि यह काल का जो आपका अवबोध है, काल की जो आपकी परिकल्पना है, उसका 'दिक्' से यानी दिशा से क्या सम्बन्ध है और उन दोनों का काव्य से क्या सम्बन्ध है ?

आ. वि.- दिशा एक प्रकार से "सही दिशा का प्रसाद ही/सही दशा का प्रासाद है।" (द्रष्टव्य, पृ. ३५२)

प्र. मा.- वाह ! वाह !! 'मूकमाटी' में है यह ?

आ. वि.- जी हाँ ! 'मूकमाटी' में है। यही दिशा है। दिक् का अर्थ दिशा नहीं, बोध है।

प्र. मा.- तो फिर आप के चिन्तन में राष्ट्र शब्द नहीं आएगा ? क्योंकि राष्ट्र शब्द दिशा से बँधा है किसी सीमा में। 'किसी दिशा में'—इसका अर्थ क्या होगा ?

आ. वि.- राष्ट्र अपने यहाँ एक प्रकार से संयोजना जो कुछ बनती है, उसका नाम है। वही है देश। 'समाज' को केन्द्र में रखकर जो विचारधारा बनती है वह है समाजवाद। समाज समूह अर्थ का वाचक है और समूह का अर्थ है—सम् यानी समीचीन रूप से ऊह अर्थात् विचार। मतलब जहाँ आचार-विचार समीचीन हों, वह है समाज। जो इस वाद में आस्था रखता है वह है समाजवादी। अन्यथा समाज तो बाद में है—हम समाजवादी (पहले) हैं।

प्र. मा.- बहुत अच्छा ! किन्तु देश-देश में आपस का जो वितण्डा या विखण्डन है, वह भी विचारणीय है इस सन्दर्भ में। यह तो एक तथ्य या सत्य है कि भारत एक देश है। उसके आज तीन खण्ड हो गए हैं – भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश। यह विभाजन—जो दिक् से जुड़ा है वहाँ है या हमारे चिन्तन या अवधारणा में है?

आ. वि.- हमारे विचारों में विघटन का नाम ही देश का विभाजन है। देश में कोई विभाजन हुआ ही नहीं। यह विचारों का विघटन है। इस विभाजन को विचारों का ही विघटन बोला जाता है।

प्र. मा.- विचारों का विघटन ! तो आपका क्या ख्याल है कि विचारों का यह विघटन समाप्त हो जायगा ? क्या सारी दुनियाँ एक हो जायगी?

आ. वि. - एक हो या न हो, एक होने की भावना या विचार हम रखेंगे तो निश्चित रूप से दूसरे में भी सम्भावना देख सकते हैं।

प्र. मा.- पहले भारत एक था। हम देख रहे हैं कि विखण्डन की क्रिया भयानक रूप से चल रही है। बढ़ रही है। देख लीजिए— असम, पंजाब, तमिलनाडु, जम्मू-कश्मीर आदि इसके उदाहरण हैं।

आ. वि.- इसमें कारण एक मात्र है कि ऊपर से हम एकता भले चाहते हों लेकिन भीतर से नहीं चाहते।

प्र. मा. - हाँ ! यह एकता का जो हम प्रचार आदि कर रहे हैं, यह सिर्फ प्रचार है।
अब, हम कविता की ओर आते हैं। काव्य दिक्-कालातीत होता है या दिशा और काल से बँधा होता है ?

आ. वि.- कविता स्वाश्रित होती है। स्वायत्त होती है। इसका दिशा-काल से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्र. मा.- स्वाश्रित (होती है कविता) ! उसका क्या दिशा-काल से कोई सम्बन्ध नहीं ?

आ. वि.- कोई नहीं।

प्र. मा. - पर उद्भूत तो होती ही दिशा में ही, दिशा-काल से ही।

आ. वि. - 'स्व' में (या 'स्व' से) उद्भूत होती है।

प्र. मा. - पर भाषा से तो बँधी है ?

आ. वि.- हाँ ! भाषा से बाँधना पड़ता है। जैसे जन्म होने के बाद आवरण या आभरण आ जाता है।

प्र. मा.- भाषा तो दिगम्बर नहीं हो सकती। भाषा के साथ तो दिशा-काल बँधा है।

आ. वि.- भाषा की परिभाषा भी एक प्रकार से दिगम्बर जैसी ही है। हम बना देते हैं तो बन जाती है, नहीं तो नहीं है। भीतर से भाव यही है कि भाव हमेशा उत्पन्न होते रहते हैं और भावों को हमेशा व्यवस्थित रखने के लिए भावों को, भाषा को अपनाना पड़ता है। वह अपनाना कहाँ तक है, यह आप ही जानें। पर हमारा राजकुमार तो राजकुमार ही है, रूपवान् है। बाद में भले ही वस्त्र रख दो तो रख दो, नहीं भी रखो तो हमारा

राजकुमार तो राजकुमार ही है।

प्र. मा.- क्या बात है ! 'स्वाश्रित' जब आपने कहा तो इसमें कविता का कोई भावक, कोई सामाजिक, कोई रसज्ञ, कोई उसका ग्रहण करने वाला भी अभिहित है या नहीं ? क्या आप यह मानकर चलते हैं कि मैंने काव्य 'स्वान्तः -सुखाय' लिख दिया। वह हवा में या शून्य में रहे, कोई न भी पढ़े तो परवाह नहीं ?

आ. वि.- रसोइया जो है न, वह पाकशास्त्र को जानता है। पाकशास्त्र जानने वाला व्यक्ति अपने 'पाक' को दूसरों तक पहुँचाने की कोशिश अवश्य करता है।

प्र. मा.- करता ही है। मतलब दूसरा है उसके मन में ?

आ. वि.- हाँ ! लेकिन दूसरा है, इसलिए मन में है, ऐसा नहीं। वह अपने में उत्पन्न करता है कि जो खाने के लिए आया, उसको पूछने नहीं जाता कि आपको क्या चाहिए या कैसे बनाऊँ। हाँ, जितना खाना है, उतना खा लो। लेकिन मैं बनाऊँगा तो अपने रस पाकज्ञान से ही बनाऊँगा।

प्र. मा.- 'स्वाश्रित' में 'पर' यह जो है उसका स्वाद लेने वाला है, स्वादक निहित है।

आ.वि.- 'स्व' के साथ वह भोजन तो कर ही रहा है, स्व के साथ दूसरों को भी लाभ हो जाय तो ठीक है, किन्तु वह गौण ही है।

प्र. मा.- क्या आप कविता को संवाद नहीं मानते ?

आ. वि.- नहीं।

प्र. मा.- केवल आत्माभिव्यक्ति मानते हैं ?

आ. वि.- नहीं। वो तो संवाद में आ ही नहीं सकता।

प्र. मा.- संवाद से मेरा मतलब है—सम्प्रेषण। यानी कोई और है जिससे मैं बात करना चाहता हूँ।

आ. वि.-'वद्' धातु से 'वाद' बना है तो फिर कविता के लिए वद् से जुड़ा ही नहीं।

प्र. मा.- हाँ ! हाँ !! वाद, विवाद, संवाद, प्रवाद आदि। तो वाद या भाषा जैसा आप कह रहे हैं, वह केवल आत्माभिव्यक्ति है यानी स्वाभाविक ही है।

आ. वि.- इसीलिए 'मूकमाटी' में लिखा है – परावाक्, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। ये चारों हैं लेकिन ये सारे के सारे योगीगम्य हैं, मात्र वैखरी ही श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बन पाती है।

प्र. मा. - काव्य का अन्त मुझे ऐसा लगा कि आपने कुछ जल्दी कर दिया। मुझे समझ में नहीं आया कि अन्त में क्या होता है इस घड़े को लेकर के मूकमाटी का।

आ. वि.- उसकी पूर्णता हो गई। उसकी यात्रा पूर्ण हो गई मौन में। वह मौन में लीन है और जब पूर्णता हो जाती है, तो अनुभूति आ जाती है। जब अनुभूति हो जाती है तब वचन को, वाक्य को विराम मिलता है।···फिर बोलना, क्या बोलना ?

प्र. मा.- यह जो आपकी धारणा है वह बहुत कुछ झेन बौद्ध धर्म के निकट है। मैं बहुत से झेन बौद्ध मठों में गया। मैंने वहाँ देखा है कि वे लोग पत्थरों को जमा कर लेते हैं और बैठे रहते हैं और सोचते हैं कि झरना है। चन्द्रमा की तरफ देखते हैं और घण्टों बैठे रहते हैं, बात नहीं करते हैं। खाली कप में पानी रहता है उसे थोड़ा-थोड़ा पीते हैं। समझते हैं कि चाय पी रहे हैं। ये जो झेन है, वह 'ध्यान' से निष्पन्न है। उनका कहना है कि जैसे हाथ पर हाथ मारें तो आवाज होती है, वैसे ही एक हाथ से भी आवाज़ आनी चाहिए। वे वर्षों केवल इसी आवाज़ को सुनते हैं हवा में। मेरे लिए यह विचित्र स्थिति है कि 'जो है, उसको हम नहीं है' तक ले जाते हैं। वाणी

को मौन तक ले जाना''' शून्य की ओर ले जाना है।

आ. वि.- नहीं। शून्य की ओर नहीं। वही वास्तव में एक सही, सत्य तक पहुँचाने की यात्रा है। शब्द बोलने में आता है और सुनने में भी आता है। बोध बोलने में नहीं आता, सुनने में नहीं आता लेकिन बोध को वाणी मिली, ऐसा कह देते हैं। तो शब्द-प्रत्यय से अर्थ-प्रत्यय यानी बोध-प्रत्यय होता है।

प्र. मा.- इसमें 'शोध' और 'बोध' आपने कहा है।

आ. वि.- इसके उपरान्त 'शोध' आता है। शोध में शब्द भी गायब हो जाता है और बोध कहता है कि बहुत पंगु हूँ मैं, क्योंकि उस फूल का नाम है बोध और पेड़ का नाम है शब्द। तो शब्द के पौधों के ऊपर बोध के फूल लगें, यह कोई नियम नहीं।

प्र. मा. - उसकी सुरभि तो है ?

आ. वि.- इसके उपरान्त बोध के पास भले ही सुरभि हो लेकिन तृप्ति का साधन फूल नहीं। शोध में सुरभि भी है और फल भी। हमारे काम में तो दोनों आते हैं। इसलिए जब तक बोध है, तब तक शोध नहीं। बोध को ही शोध में ढलना होगा यानी फूल को फल में ढलना होगा। किन्तु ध्यान रहे—फूल का रक्षण हो और फल का भक्षण हो।

प्र. मा.- वाह ! वाह !! तो यह शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा है। इस 'मूकमाटी' सम्बन्धी एक जिज्ञासा मेरे मन में और थी कि मनु और अणु—ये शब्द प्रयोग किए हैं आपने। तो अणु के स्फोट को लेकर के आज विश्व में जिस तरह की बातें हो रही हैं, उस सन्दर्भ में आपका मत क्या है ? अणु की जो शोध की जा रही है, उससे मनु को कुछ लाभ होगा ? मनु कुछ आगे बढ़ेगा ?

आ. वि.- नहीं। वह रोकी जाए, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। लेकिन अणु का प्रयोग क्यों किया जा रहा है ? अणु का प्रयोग करने वाला मनु की परम्परा को लाँघेगा तो आनन्द नहीं ले सकेगा। स्वयं आइंस्टीन ने यह कहा कि मैंने अणु का शोध किया है, यह निश्चित बात है, लेकिन प्रयोग करने के लिए नहीं कहा। प्रकृति पर हम प्रयोग करेंगे तो निश्चित रूप से हमारी हार होगी और जब तक मनुष्य का दिल और दिमाग ठिकाने है तब तक ये एटम बम, हाइड्रोजन बम आदि हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं करेंगे। लेकिन जिस दिन यह मस्तिष्क/मन विकृत हो जायगा वह हमारे लिए आत्मनाशी होगा । इसलिए प्रयोग के लिए नहीं कहा है। योग रखिए, प्रयोग नहीं।

प्र. मा.- परन्तु कवि तो यह मानता है कि वह सदा वियोग में रहता है : ''वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान। उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।'' इस दुनिया की सारी कविता अतृप्ति से ही फूटी है।

आ. वि.- बहुत अच्छा। सुनिए ! वह जो योग—संयोग व वियोग के उलझन में फँसा है, वह निश्चित रूप से, नियोग रूप से योग का आधार नहीं ले सकता और यदि योग का आधार नहीं ले सकेगा तो उसके उपयोग में विश्व क्या है, यह आ ही नहीं सकेगा।

प्र. मा. - यहाँ पर लोगों का यह कहना है कि यह तो सन्तों का मार्ग है। मुनियों का मार्ग है। यहाँ मुक्त होकर आप मौन की ओर, परम मोक्ष की ओर जाएँगे।

आ. वि.- नहीं, नहीं, नहीं।

प्र. मा. - परन्तु बेचारा कवि जो है वह दर्द में छटपटाता रहता है : ''दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।''

आ. वि.- जो यह कहा है कि दर्द, दवा और हवा – इन्हें हमें देखना आवश्यक है। जब हवा से काम नहीं चलता तब दवा काम में आती है और जब दवा से काम नहीं चलता तब दुआ काम आती है। लेकिन ये बिलकुल बाहरी जगत् की बात हो गई। जब दुआ काम नहीं आती उस समय हमें क्या करना ? कौन-सा आधार है ? किस की शरण में जाएँ और कौन-सा हमारा एक सहारा या स्तम्भ हो ? निश्चित बात तो यह है कि जब दुआ काम नहीं करती तब परम चेतना– शुद्ध आत्मतत्त्व – स्वयम्भुवा काम करती है।

प्र. मा. - तो आपने, महाकाव्य जो है, यह एकदम प्रेरणा हुई और लिख दिया''' ऐसा है ? कितना समय लगा लिखने में ?

आ. वि.- लगातार लिखते गए, लगभग पौने तीन वर्ष* लगे।

प्र. मा. - पहले से कोई ढाँचा बनाया था या फिर बनता चला गया ?

आ. वि.- ढाँचा तो कुछ नहीं बनाया। बस प्रारम्भ हो गया और बनता गया।

प्र. मा. - जैसे कुम्भ बनता चला गया।

आ. वि.- जी हाँ ! एक कथा पूर्ण करनी है अपने को। अतः वहाँ तक घट को ले जाना है। इसलिए बनाते चले जाओ। तदुपरान्त कुम्भ जो है वह जल-धारण भी करता है और जल से पार भी करा देता है। तो जल से पार भी करा दिया यानी पूर्ण यात्रा हो गई।

प्र. मा.- तो आपके इस कुम्भ में जो जीवन है, जल है – क्योंकि मैं अभी पंच तत्त्व की बात कर रहा था, मिट्टी की बात हमने बहुत कर ली- अब यह जीवन जो तत्त्व है, क्या ये भी एक अमूर्त तत्त्व है या एब्सेट्रक्ट तत्त्व है ? या पानी जिसको आप कह रहे हैं, कुम्भ के अन्दर जो नीर आता है, पानी है, सलिल है, वारि है, जो भी शब्द कहें – ये दृश्य हैं ? स्पृश्य हैं ? कैसी चीज हैं ? या केवल यह धारणा है ?

आ. वि.- जल भी एक तत्त्व है। जल को अपने यहाँ जल के ही रूप में अंगीकार किया और 'भू' को सब की भूमिका के रूप में अंगीकार किया है।

प्र. मा. - उस दिन (दो दिन पूर्व हुई बातचीत के समय) आपने धरती को 'सर्वंसहा' यानी गन्धवती, पृथिवी, भूमा कहा था तो जल को आपने एक चलायमान, गतिशील तत्त्व के रूप में अंगीकार किया और भूमि को स्थितिशील ?

---

* *'मूकमाटी' ग्रन्थ आलेखन प्रारम्भ - श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित हो रहे ग्रन्थराज 'षट्खण्डागम वाचना शिविर' (चतुर्थ) के प्रारम्भिक दिवस– बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रतनाथजी के दीक्षाकल्याणक दिवस– वैशाख कृष्ण दशमी, वीर निर्वाण संवत् २५१०, विक्रम संवत् २०४१, बुधवार, २५ अप्रैल १९८४ को।*

समापन - श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी, छतरपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित श्रीमज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक एवं त्रय गजरथ महोत्सव के दौरान केवलज्ञान कल्याणक दिवस– माघ शुक्ल त्रयोदशी, वीर निर्वाण संवत् २५१३, विक्रम संवत् २०४३, बुधवार, ११ फरवरी १९८७ को।

प्रकाशन- 'मूकमाटी' (महाकाव्य) - आचार्य विद्यासागर, भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३, पहला संस्करण-१९८८, पृष्ठ-२४+४८८, मूल्य-५० रुपए, सातवाँ संस्करण-२००४, मूल्य-१४० रुपए।

आ. वि.- हाँ ! स्थितिशील, धारणशील, पालनशील, क्षमाशील और तारणशील है। धरणी– "जो धारण करती है यानी ध···र···णी- णी···र···ध।" अथवा "तीर पर जो धरने वाली है वह ध···र···ती-ती···र ···ध।"(द्रष्टव्य, पृ.४५२-४५३)

प्र. मा. - वाह ! वाह !! तो इन दो तत्त्वों में, जल और मिट्टी में, आपने 'अग्नि तत्त्व' को किस तरह इस्तेमाल किया ?

आ. वि - अग्नि को जलाने के रूप में भी लोग अंगीकार कर लेते हैं। लेकिन जलाने वाली सारी चीज़ें हमारे लिए बाधक हैं, ऐसा नहीं है। स्वयं ही घड़ा कहता है कि मुझे जला दो, क्योंकि तुम्हारे द्वारा मैं जब तक नहीं जलूँगा, तब तक मेरी यात्रा पूर्ण नहीं होगी। और ऐसा मत सोचो कि तुम मुझे 'जला' रही हो। नहीं, वास्तव में तुम मुझे 'जिला' रही हो। मेरे भीतर जो दोष हैं, उन दोषों को जला रही हो। उन दोषों को जलाए बिना मेरी जीवन यात्रा सम्भव नहीं। मेरी जीवन यात्रा का विकास तुम्हारे जलाने के ऊपर ही है। अतः तुम निःसंकोच होकर जला दो, मैं जलने के लिए तैयार हूँ। तो अग्नि को इस रूप में अंगीकर कर लिया ।

प्र. मा. - न्याय या वैशेषिक आदि दर्शनों में घड़े के निर्माण के समय यह माना जाता है कि अग्नि में एक-एक कण जलता चला जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि इकट्ठा बन जाता है। आपका क्या कहना है ?

आ. वि.- कोई भी कार्य जो होता है तब यदि हम 'निष्पन्न दशा' को लेकर चलते हैं तो 'पीछे का' गौण हो जाता है। लेकिन 'पीछे को' गौण के साथ हम यदि निराकृत कर दें तो हमारे हाथ कुछ नहीं लगता।

प्र. मा.- थोड़ा स्पष्ट कीजिए इसे।

आ. वि.- जैसे किसी ने एम. ए. किया। तो सोलह (११+३+२) कक्षाएँ उत्तीर्ण करने के उपरान्त उसके पास गुरुत्व आया। किसी एक विषय के ऊपर अधिकार आ गया। यह निश्चित बात है। लेकिन यदि प्रथम कक्षा, द्वितीय कक्षा आदि-आदि पास नहीं करता तो सोलहवीं कक्षा कोई वस्तु तो हमारे सामने नहीं रहती। प्रथम कक्षा, दूसरी कक्षा आदि का सारा ज्ञान संयोजित होकर ही तो एम. ए. कहलाता है।

प्र. मा.- तो ये स्टेप-बाई-स्टेप होता है ? घड़े का निर्माण भी स्टेप-बाई-स्टेप हुआ ? एकदम नहीं ?

आ. वि.- एकदम नहीं होता।

प्र. मा. - एक दम अग्नि के प्रवेश से नहीं बन जाता, ऐसा नहीं होता। मेरी एक जिज्ञासा यह थी कि यह घड़ा जो निर्मित हुआ, उसमें पानी के अंश और आकाश की क्या स्थिति है ?

आ. वि.- आकाश की स्थिति यह है कि उसने पानी को अवगाहित करने का अवकाश दे दिया। दूसरा यह कि घटाकाश, पटाकाश का जब व्यवहार किया जाता है तो उसका आशय यह नहीं होता कि वह सब आकाश का नाम है, अपितु वह घटगत आकाश है, पटगत आकाश है। जिस स्थान पर घड़े ने अपने को स्थापित किया है, उस स्थान पर स्थित घट में जो आकाश है, वह घटाकाश है। उसे घटाकाश मान लिया गया– अन्यथा, वहाँ आकाश की कोई बात नहीं।

प्र. मा.- यहाँ आपने स्पेश (Space) या दिक् जो है या खम् - इस तत्त्व को मान लिया । अभी आपने कहा था कि...

आ. वि - हाँ, माना है। दिक्-कालातीत नहीं है। घट की स्थिति जो है।

प्र. मा. - यहाँ आपने कहा था कि घट की यात्रा दिक्-कालातीत नहीं है, अमूर्त नहीं है ?

आ. वि.- जी हाँ ! काल को बताने के लिए घट कारण तो है। और इसकी प्रक्रिया में काल सहयोग भी दे रहा है। इसकी व्यवस्था भी हमने बताई । लेकिन काल को ही सब कुछ मान लें या स्थान को ही सब कुछ मान लें तो घट

का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।

प्र. मा. - 'कामायनी' गत शैव दर्शन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया– ये तीन शब्द मैंने पहले कहे थे। इन तीनों को आप क्या एक समझते हैं ? एक साथ मानकर चल रहे हैं ?

आ. वि.- प्रत्येक क्रिया में कोई सहयोग आवश्यक होता है। वह तो अपने आप चलता ही रहता है। हम बोल रहे हैं तो इस समय वचन-वर्गणाएँ आ ही रही हैं, मन के माध्यम से विचार भी चल रहा है।

प्र. मा.- परन्तु, अकेले मनुष्य या सामूहिक मनुष्यों के विकास में पहले इच्छा रहती है, फिर ज्ञान आता है और फिर क्रिया बहुत बाद में होती है, ऐसा प्राणीशास्त्र विज्ञान कहता है। इसमें अवस्था भेद से–छोटेपन से बड़ेपन में या कि एक आदिवासी समाज में और एक अत्यन्त सम्पन्न आज का जो यान्त्रिक समाज है, इसके बीच में जो कुछ परिवर्तन होता है, उसके सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

आ. वि.- इस सम्बन्ध में तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रारम्भ में आदिवासी होकर ही आदिनाथ भगवान् का उपासक बनता है और फिर आदिनाथ बन जाता है। लेकिन अन्य दशाओं का वह एकदम गौणीकरण कर देता है। प्रत्येक आदमी जब पहला क़दम रखता है, उस समय वह बालक ही माना जायगा।

प्र. मा.- यानी प्रत्येक व्यक्ति पुनः बालक बन सकता है ?

आ. वि.- बालक ही है वह। जिस दिशा में वह चलना चाहता है, एक चरण रखता है तब वह बालक ही रहता है। बालक से ही पालक बनता है।

प्र. मा.- तो क्या यह सम्भव है कि किसी वृक्ष के लिए वह फिर से वहीं पहुँच जाय जहाँ से प्रारम्भ किया ? प्रत्येक वृक्ष फिर बीज बनेगा ? क्या खिला हुआ फूल फिर कली बन जायगा ?

आ. वि.- नहीं ! इसे यूँ कहना चाहिए कि यदि अभी बनने की प्रक्रिया ही नहीं हुई है तो उसको हम चलना नहीं मानेंगे।

प्र. मा.- केवल इच्छा है ?

आ. वि.- हाँ ! केवल इच्छा है। अभी ज्ञान और क्रिया नहीं आ पाई। क्रिया हो रही है लेकिन समीचीन क्रिया होनी चाहिए। तभी इच्छा पूर्ण हो पाएगी। मात्र इच्छा ही ज्यों-कि-त्यों बनी रहती है तो क्रिया फलीभूत नहीं होती–"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः" (कल्याणमन्दिर-स्तोत्र/३८) यानी भाव से शून्य-क्रिया फलीभूत नहीं हो पाती।

प्र. मा.- ये सारा आपने आत्मनिष्ठ विवेचन किया। मैं थोड़ी वस्तुनिष्ठता की बात चाहता हूँ। आपके दृष्टिकोण में कोई जड़ या बाहर की पृथ्वी या भौतिक जगत् नहीं है ? या है ? या केवल आभास है मन में या केवल विवर्त है ?

आ. वि.- ऐसा है – वैसे यदि देखा जाय तो आभास भी है और वैसे...

प्र. मा.- क्या केवल कल्पना है महाराज ? दुनिया जो है – 'माई वर्ल्ड इज माई विल' – ऐसा हावर ने कहा है। 'क्या केवल एक मिथ्या है', जैसा शंकराचार्य कहते हैं ?

आ. वि.- एकान्त रूप से मिथ्या ही कहें, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि मिथ्या को कहने के लिए जो शब्द प्रयोग किए जाएँगे तो फिर वो भी मिथ्या ही हो जाएँगे। जैसे शंकराचार्य ने कहा कि यह संसार जो है, वह मिथ्या है। तो यह संसार मिथ्या कहने वाले जो वचन हैं, वे भी मिथ्या हैं। ऐसा तो नहीं है कि इन वचनों के माध्यम से हमें कुछ भी नहीं मिला है। वह केवल बुद्धि है, उच्चरित शब्दार्थ की समझ तो है ही। यदि यह एकान्ततः मान लिया जाय कि यह सारा का सारा संसार झूठ है, तब जो शब्द सुना जा रहा है, वह भी झूठ है। इसलिए

जब यह शब्द निकला और उसने बोध कराया तब एकान्ततः झूठ कैसे मान लिया जायगा ? कुछ तो वह है।

प्र. मा. - ठीक है। शंकराचार्य के विषय में एक कहानी है। वे कहीं जा रहे थे कि उनके पीछे एक दौड़ता हुआ हाथी लग गया। यह देखकर शंकराचार्य जान बचाने के लिए भागने लगे। इसी समय उनके द्वारा शिक्षित और दीक्षित व्यक्ति आया और देखा कि शंकराचार्य भाग रहे हैं। उसने कहा कि स्वामिन् ! आपके अनुसार जब सारा संसार झूठा है, तब क्या यह हाथी सच्चा है, जो आप इस से डर के भाग रहे हैं ? शंकराचार्य ने कहा कि उनका भागना भी कहाँ सच्चा है, वह भी मिथ्या है। मतलब यह कि मिथ्या की अवधारणा नितान्त सूक्ष्म है। विदेशी अर्थात् पश्चिमी दार्शनिकों ने मिथ्या का अर्थ अभाव नहीं माना है।

आ. वि.- मिथ्या का अर्थ अभाव नहीं है।

प्र. मा. - हाँ ! मैं यहीं आ रहा हूँ ।

आ.वि.- हाँ ! मिथ्या का अर्थ एक प्रकार से विलोम होना है।

प्र. मा.- तो क्या आप इसको आंशिक मिथ्या या आंशिक सत्य मानते हैं?

आ. वि.- नहीं। इसको हम यह कहेंगे कि जैसे एक तो अभाव है और दूसरा विभाव। तो जल का अभाव अत्यन्ताभाव नहीं है। हिम, जल का विभावीकरण है। और विभाव के द्वारा हमेशा कष्ट होता है। इसको मिथ्यात्व बोलते हैं।

प्र. मा. - तो जल का हिम जो है, वह निषेध नहीं है ?

आ. वि.- नहीं। अभाव नहीं है, विभाव है। विभाव रूप हिम को पुनः तरल बना दो। जल को तरल माना है स्वभावतः। जब जल रहेगा तब तरल रहेगा, बहाव रहेगा। लेकिन, जब तरल के स्थान पर सघन हो जाएगा तब वह विभाव हो जाएगा और विभाव होने के कारण न नाव उसमें डूबेगी और न तैरेगी, किन्तु अटक जाएगी।

प्र. मा.- समय काफी हो रहा है। मैं अन्तिम प्रश्न पूछना चाह रहा हूँ—क्या आप और कोई महाकाव्य लिख रहे हैं या लिखेंगे ? हमारी उम्मीद है, हम चाहते हैं कि इससे भी बड़ी चीज़ आप लिखें।

आ. वि.- माँग तो आ रही है, लेकिन उस माँग की...

प्र. मा.- इच्छा आपके मन में जागे, फिर ज्ञान हो और फिर क्रिया हो। जो आपका काव्य('मूकमाटी') है वह हिन्दी के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है, हम ये मानते हैं। ऐसी कोई चीज़ पहले नहीं लिखी गई और ये कई दृष्टियों से अभूतपूर्व रचना है। मैंने तो कई महाकाव्य पढ़े हैं। कई भाषाओं में पढ़े हैं। मैंने इसकी तुलना अन्य कई महाकाव्यों से कराना चाही है—'गिलगिमेश' पहला महाकाव्य है जो पश्चिम में माना जाता है कि ईंटों के अन्दर लिखा प्रलय के बारे में कुछ मिलता है। और मिल्टन के 'पैराडाईज़ लॉस्ट' और डान्टे की 'डिवाइन कामेडी'—इन सब से तुलना करते हुए हम चलते हैं, विश्व के महाकाव्यों के इतिहास में हम देख रहे हैं कि यह अलग चीज़ है। अरविन्द की 'सावित्री' कुछ-कुछ इसके करीब की रचना है, फिर 'कामायनी' है, परन्तु ये उससे भी भिन्न है। ये आपने बहुत बड़ा महत्त्व का ग्रन्थ लिखा है, इतना ही मैं कहना चाहता हूँ। मैं तो लिखूँगा ही जो कुछ लिखना है।

हम ये चाहते हैं कि इसका अधिकाधिक लोगों में प्रचार-प्रसार हो। इसके द्वारा लोगों को काव्य का एक नया आयाम खुल जाता है। अभी तक काव्य के सम्बन्ध में जो हमारी धारणा थी उसमें एक नया कल्पना-लोक, आलोक उद्घाटित हुआ है। कल्पना का क्या योग मानते हैं आप काव्य में ?

आ. वि.- अनुभूति को जीवित रखने के लिए कोई साँचा तो बनाना चाहिए। मैं कल्पना के पक्ष में बहुत कम हूँ।

प्र. मा. - अच्छा, ये आपकी दी हुई कल्पना है, जो महाकाव्य है, वह अकल्पनीय कल्पना है ?

आ. वि.- ये कल्पनातीत है, क्योंकि घटित नहीं हो रही है और कल्पना कर लें तो इस अपेक्षा से जो घटित है, जिस रूप में है, उसको हम शब्द रूप दे दें तो बहुत अच्छा रहेगा ।

प्र. मा.- हमारे अचेतन मन की खान के अन्दर जो छुपी हुई स्वर्ण राशि है, उसे मिट्टी के अन्धकार में से निकाल कर के कल्पना तक उसको परिशोधित कर जब उसका बोधन-शोधन होता है तब जाकर उसकी एक मुद्रिका बनती है। शब्दों के जड़ाव के अन्दर तब जाकर लोगों के काम की होती है। रस प्रक्रिया जैसी है यह। जैसे कि भोजन के लिए पाकशास्त्र में भी जो मूल चीज़ है, उसका वैसा ही सेवन नहीं करते, ये सारा परिष्करण है।

आ. वि.- जहाँ तक बन सके वहाँ तक मैं सोचता हूँ इन रसों में ही विशेष संयोजना या खोज ना करके जो रसास्वादी व्यक्ति हैं, उनकी रसास्वादन में थोड़ी रुचि ज्यादा बढ़ जाए तो अपने आप ही इसका नाम ज्यादा हो जाएगा। इसमें हम बहुत कुछ भरना चाहते हैं, लेकिन सामने वाला व्यक्ति ग्रहण नहीं कर पाता। इसलिए जहाँ तक बन सके वह बन्धन टूट जाए। अन्यथा, शृंगार लाओ, विरह लाओ - यानी वो लाओ, ये लाओ। इससे पूरा का पूरा वो ही इतिहास, पुनः जमघट हो जाता है।

प्र. मा.- आप केवल शान्त रस में विश्वास करते हैं ?

आ. वि.- जी हाँ ! इसमें कहा भी है : "सब रसों का अन्त होना ही-/शान्त-रस है" (पृ.१६०)। कहा है: "शान्ताद् भावाः प्रवर्तन्ते।"

(अन्य के द्वारा एक प्रश्न)

प्र. मा. - आप पूछ रही हैं– कुम्भकार ईश्वर है या गुरु है ? वो गुरु मान कर चल रही हैं। आप क्या मानते हैं ?

आ. वि.- ईश्वर अपने यहाँ (जैन दर्शन में) दो प्रकार के होते हैं – एक सकल परमात्मा और एक निकल परमात्मा। सकल परमात्मा – शरीर सहित, जो अरहन्त परमेष्ठी हैं। दूसरे शरीर रहित होने से निकल परमात्मा हैं। वो हमारे परम गुरु हैं। और ये जो ज्ञानसागर महाराज हैं वो हमारे गुरु हैं।

प्र. मा.- हमारे यहाँ तो गुरु को ही "गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः" कहा है। ये तीनों जो हैं, वे गुरु में आ गए हैं तो सृष्टि उत्पत्ति-स्थिति एवं लय– इन सबका गुरु के अन्दर समावेश है। हमारे यहाँ गुरु की धारणा बहुत व्यापक है। तो गुरु और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं हमारे यहाँ विचारों में ?

आ. वि.- इतना ही अन्तर है कि गुरु जो हैं : "गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काकै लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपनै...आगे..., -गोविन्द दियो 'बताय' नहीं, बल्कि गोविन्द दियो 'बनाय' कहते हैं।"

प्र. मा. - वाह ! वाह !! 'बताय' के बदले में 'बनाय' कर दिया।

(एक अन्य के द्वारा प्रश्न)

प्र. मा.- आप पूछ रहे हैं कि जब आप कर्नाटक से आए थे, तब इतनी हिन्दी नहीं आती थी। फिर हिन्दी पर इतना अधिकार कैसे प्राप्त किया ?

आ. वि.- अधिकार तो नहीं था, इसे स्वीकार किया है। हमने केवल सुना है। गुरुजी ने केवल सुनाया था। वो कुछ-कुछ मारवाड़ी बोलते थे।

प्र. मा.- मैं सोचता हूँ सारा श्रेय संस्कृत-प्राकृत को देना चाहिए, जिन भाषाओं ने इस सब को आधार दिया।

आ. वि.- गुरुजी के मुख से हमने संस्कृत पढ़ी, लेकिन बोल-चाल का माध्यम हिन्दी भाषा रही ।

प्र. मा.- इसमें कहीं-कहीं ग्रामीण शब्दों के प्रयोग भी आ जाते हैं, जैसे 'जघन' शब्द (पृ.२२७) आपने लिखा है। इसका हिन्दी में अर्थ अच्छा नहीं होता। आपने कन्नड़ अर्थ में शायद लिखा है ? दर्शन को इस तरह काव्य रूप में प्रस्तुत करना अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि मैं मानता हूँ, क्योंकि जितने भी दर्शन के बारे में महाकाव्य हैं, वे बहुत कुछ क्लिष्ट हो जाते हैं जबकी ये ('मूकमाटी') क्लिष्ट नहीं है। इसका प्रभाव जो है-प्रसाद गुण बहुत बड़ा है। यह बराबर प्रवहमान् चलता जाता है, क्योंकि इसके पीछे आपकी जो चेतना है वह निरन्तर आपको आगे ठेलती हुई चली जाती है। आप बहुत स्पष्ट हैं। आपका जो उद्देश्य है, आपके कुम्भ का जो भाव है वह बहुत स्पष्ट है। बहुत-बहुत धन्यवाद। हम बहुत उपकृत हुए। आपके काव्य को पढ़कर के बहुत लाभान्वित हुए। ये जिज्ञासाएँ तो यूँ ही थीं, हमारी मूर्खता या हमारी सीमा का-- जानने के लिए। लेकिन लोगों तक पहुँचने में इसे समय लगेगा। जब अन्तरिक्ष में लोग गए तो उनका भार कम हो गया--लोगों को जैसे आसमान में तैरना पड़ा। इसको ('मूकमाटी') पढ़ते समय ऐसा ही आभास होता है। जैसे हम कहीं स्पेश में जा रहे हों। ज़मीन पर एकदम पैर नहीं टिकते। उन जैसी ही हमारी उपलब्धि है। और कुछ पूछना है किसी को ? इसमें 'प्रास' बहुत आते हैं। शब्दों की क्रीड़ा, अनुरमण, उसका जो है अवलोइन'''तो क्या ये सब सहज रूप से हुआ या आप कहीं-कहीं जान-बूझ कर ले आए हैं ?

आ. वि.- अर्थाभिव्यक्ति अच्छी हो तो उसके लिए कोई विशेष मेहनत नहीं करनी पड़ती।

प्र. मा.- शब्दाधिकार बहुत हैं इसमें। शब्द और अर्थ को आप कैसे मानते हैं ? शब्द पहले आता है आपके मन में या अर्थ पहले आता है ?

आ. वि.- हम तो भाव से ज्ञान की ओर, मतलब बोध से शब्द की ओर बढ़ते हैं। हमारी कविता की यात्रा हमेशा भीतर से बाहर की ओर होती है।

प्र. मा. - तो शब्द कहाँ हैं– बाहर हैं, भीतर हैं या बीच में हैं ?

आ. वि.- भाव भीतर हैं और उन्हें शब्द के आलम्बन के लिए बाहर आना पड़ता है।

प्र. मा. - कभी आपको ऐसा नहीं लगा कि किसी शब्द के लिए आपको रुकना पड़ा हो ?

आ. वि.- नहीं, नहीं। अपने भाव के साथ जब शब्द जुड़ता है तब बहुत भारी हो जाता है। तब अपने चिन्तन के लिए कोई क्षति नहीं पहुँचती और शब्द अपने आप मिलते चले जाते हैं। इस की ('मूकमाटी') एक विशेषता कि हमने रात में कभी भी नहीं लिखा, चिन्तन के उपरान्त दिन में ही लिखा।

प्र. मा.- इतना बड़ा जो 'अभिधान राजेन्द्र कोश' उन्होंने बनाया, वो भी रात को स्याही को सुखाकर रख देते थे। दिन-दिन में स्मृति से लिखते थे। यह 'मूकमाटी' भी बहुत अद्भुत काव्य है, क्योंकि और किसी जैन मुनि ने ऐसा महाकाव्य लिखा हो, ध्यान में नहीं आता। इस तरह के अमूर्त विषय पर किसी ने कार्य किया हो, ऐसा भी ध्यान में नहीं आता। यह बहुत आधुनिक है मेरे मत से, क्योंकि ये विज्ञान के लिए भी प्रेरित करता है। आज विज्ञान की जो खिड़कियाँ खुल रहीं हैं, विभिन्न विद्वान् लिख रहे हैं–'डान्स ऑफ शिवा' आदि विदेशों में जो लोग हैं वो इसी तरफ आ रहे हैं, इसी भारतीय मनीषा का जो चरम बिन्दु है। सारे भौतिकवादी चिन्तन, सारे द्वन्द्वात्मक चिन्तन सीमित हो गए हैं, वे भी धीरे-धीरे वहीं पर आ रहे हैं उसी बिन्दु पर। उसकी ओर ही संकेत करता है ये ग्रन्थ। इसीलिये मैं इसको 'फ्यूचर पोयट्री' यानी भविष्यवादी काव्य, जैसा कि अरविन्द ने कहा है, इसे बहुत अच्छा दिशादर्शक मानता हूँ। अन्य कवियों के लिए भी ये बहुत प्रेरणादायक ग्रन्थ है।

□

पातनिकी

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

(क) प्रस्तुत कृति पर आमन्त्रित समीक्षाएँ और उनकी समीक्षा

आलोच्य संकलन में अनेकविध समीक्षाएँ हैं। लेखक या समीक्षक कश्मीर से केरल और गुजरात से गुवाहाटी तक के हैं, इसीलिए ये समीक्षाएँ अपने में विविधता लिए हुई हैं। विविधता आकारगत भी है और आन्तरिक कथ्य या विवेच्यगत भी। कतिपय समीक्षाएँ बृहदाकार हैं और कतिपय सम्मत्यात्मक पत्र क़िस्म की। एकाध समीक्षक तो ऐसे भी हैं जिन्होंने कई (चार) अध्याय की पुस्तक ही लिख दी है और एक विद्वान् से भूमिका भी लिखवा ली है। सोचा इसी में छप जायगी। सम्पादन के क्रम में ऐसे प्रयासों को अन्यथा आकार देकर उसे पृथक् कृति होने के भ्रम से बचा लिया गया है। ऐसे विद्वानों के भी निबन्ध हैं जिन्होंने स्वतन्त्र पुस्तक छपवा ली है पर उसी पुस्तक से कुछ लेकर ग्रन्थोपयोगी स्वतन्त्र आकार दे दिया है।

अधिकांश लेखों में आलोच्य कृति की कथावस्तु का सारांश प्रस्तुत कर अपनी प्रतिक्रिया कतिपय मुद्दों पर दे दी गई है। कुछ समीक्षाएँ श्रद्धातिरेक से आपाद-मस्तक-सिक्त हैं तो कतिपय ऐसी भी हैं जिनमें अधिक श्रम दोषोद्घाटन-परक ही हुआ है, यह अवश्य है कि ऐसी समीक्षाएँ कम हैं। परिचयोल्लेखपूर्वक गम्भीर प्रतिक्रिया प्रस्तुत करने वाले निबन्धों की संख्या उपस्थापकों की प्रातिभक्षमता के अनुरूप अनुपात में अधिक है। एकाध स्तवपरक पद्यबद्ध प्रशस्ति भी है। संकलन के आरम्भ में दिवंगत भूतपूर्व सम्पादक डॉ. प्रभाकर माचवे की वार्ता है आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज से, जिसमें प्रेरणास्रोत से लेकर प्रक्रिया और कथ्य के अनेक मुद्दों पर विमर्श है। अपने अन्तरंग में एकाध निबन्ध महाराजश्री का भावप्रवण जीवनवृत्त प्रस्तुत करता है तो वैसे ही एकाध उनका कर्तृत्व भी निरूपित करता है। संकलन की समग्रता के ख्याल से ये समस्त प्रयास महत्त्व के हैं। मैं चाहता था कि उपस्थापक आलोच्य ग्रन्थ की कथावस्तु का अनपेक्षित विवरण और आवर्तन न करके उसको बुद्धिगत ही रखें और जमकर उसके विभिन्न पक्षों, मुद्दों और बिन्दुओं पर अपनी वैचारिक प्रतिक्रिया अधिक दें, ताकि पाठक की ग्रन्थ विषयक समझ विकसित हो। बृहदाकार निबन्धों में कई एक अपना ज़्यादा झुकाव उसके सैद्धान्तिक और दार्शनिक पक्षों पर और कई एक काव्योचित पक्ष पर दिखाते हैं। कुछ महिला लेखिकाओं के निबन्ध अवश्य ऐसे मिले हैं जो केवल नारी महिमा पर ग्रन्थकार की दृष्टि का पल्लवन प्रस्तुत करते हैं। कितने निबन्ध ऐसे भी हैं जो भाषा-शैली और छन्दोविधान के विवेचन पर ही अपने को केन्द्रित करते हैं। ऐसे प्रयास अधिकांश निबन्धों में कथावस्तु की आवृत्ति को देखते हुए अधिक संगत लगते हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं में निबद्ध महाकाव्यों की तुलना में आलोच्यग्रन्थ का वैशिष्ट्य निर्दिष्ट करने वाले लेखों की संख्या कम है—यद्यपि भूतपूर्व सम्पादक डॉ. माचवे का यह संकल्प था। समीक्षा संकलन के लोभ में कुछ लेख बहुत ही सामान्य और भरती के आ गए हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब बड़ी लेखनी अपने स्वरूप की रक्षा नहीं करती और प्रत्याशित से अनुरूप प्रतिक्रिया नहीं मिलती। प्रसन्नता की बात है कि इधर कुछ ऐसे प्रयास अवश्य हुए हैं जिससे और भी गम्भीर लेखनी सक्रिय हों और समीक्षक कुछ अनछुए पहलुओं पर गम्भीरतापूर्वक प्रकाश डाल सकें। प्रयास ही है, सफलता तो सम्मानास्पद समीक्षकों की अनुरूप निष्ठा पर निर्भर करती है। आचार्यश्री की प्रातिभक्षमता की जिस दमखम के साथ एकाध सज्जन ने त्रुटियाँ दिखाई हैं, उसी दमख़म के साथ औरों ने उनकी उपलब्धियाँ भी बताई हैं। मुझे इसमें कोई अनौचित्य नहीं लगता कि समीक्षक जो भी कहे वह वस्तुनिष्ठ पद्धति पर साधार कहे। अतः ऐसे निष्ठावान् समीक्षक की मैं प्रशंसा करता हूँ परन्तु केवल

त्रुटियाँ-त्रुटियाँ और खामियाँ-खामियाँ ही दिखाना तथा उपलब्धियों की ओर से आँख बन्द कर लेना सर्वथा अनुचित है। दोषज्ञ होना पण्डित का लक्षण है पर मात्र उतने को ही अपनी सीमा बना लेना उसकी संकुचित और ओछी मनोवृत्ति का प्रकाशन है। फिर गुणज्ञ और गुणग्राही होना मूर्ख का लक्षण नहीं है, वह साक्षर का नहीं, सरस का लक्षण है। 'काव्यप्रकाश'कार ने काव्यलक्षण में जब "अदोषौ···" का समावेश किया, आचार्य हेमचन्द्र ने जब उसका प्रवेश किया तब टीकाकारों ने ऊर्ध्वबाहु घोषणा की कि ऐसा लक्षण या तो 'निर्विषय' होगा या 'प्रविरलविषय'। अभिप्राय यह कि दोषों का होना तो निसर्गप्राप्त है, सर्जक की उपलब्धि उसके पौरुष और प्रतिभा का प्रमाण है। विद्वान् को चाहिए कि वह दोषों के साथ उसकी उपलब्धियों की ओर भी अपनी दृष्टि को फेरे और उसका भी उल्लेख करे। ऐसा करने का लाभ यह होगा कि इस सन्तुलित प्ररोचना से जिज्ञासु पाठक समीक्षित ग्रन्थ के पठन-पाठन, मनन, परिशीलन में प्रवृत्त होता है, अन्यथा उसे अरुचि हो जाती है और वह प्रवृत्त की जगह निवृत्त हो जाता है। परिणामतः सर्जना निष्फल चली जाती है। कविता-कामिनी के पास रसिक सहृदय भी जाता है और प्रेत (समीक्षक) भी। एक दुलारता, पुचकारता, अपने अनुकूल बनाता हुआ उसका आस्वाद लेता है और दूसरा प्रेतकल्प तार्किक समीक्षक कृति के भीतर घुसकर उसका प्राण ही ले लेता है। कहा गया है :

"काव्यं कवीनामुपलालयन् हि भुङ्क्ते रसज्ञो युवतीं युवेव।
तामेव भुङ्क्ते ननु तार्किकोऽपि प्राणान् हरन् भूत इव प्रविष्टः॥"

कुछ एक मित्रों ने ऐसे कार्य में प्रवृत्त होने को चापलूसी या भौतिक स्वार्थ की पूर्ति का माध्यम समझा है। समझ तो समझदार के संस्कारों से रंजित होती है, अतः उसकी टिप्पणी जितना स्वयम् उस पर लागू होती है, सामने वाले पर नहीं। अस्तु, ऐसे अप्रिय प्रसंगों को ज्यादा जगह देनी भी नहीं चाहिए। तुलसीदास के शब्दों में ऐसे लोग प्रथम वन्द्य हैं ताकि उनके कारण सत्कार्य से निवृत्ति न हो।

अनेक प्रबुद्ध सज्जनों और मनीषियों ने अपनी समीक्षाएँ इस बृहत् सारस्वत यज्ञ में आहुति के रूप में प्रदान नहीं कीं कि इससे उनका व्यक्तिवैशिष्ट्य समष्टि में तिरोहित हो जायगा और उनके अहम् को उसका प्राप्य प्राप्त नहीं होगा। वे यह क्यों नहीं समझते कि वे जहाँ भी रहेंगे अपना भास्वर व्यक्तित्व अलग से ही प्रकाशित करते रहेंगे, उनकी पंक्ति अलग ही दूर से लक्षित होगी। इससे उनका अहंकार भी विघटित होता और समाज की दृष्टि में उनका स्वरूप और महान् हो जाता। किसी के सम्मान से सम्मानकर्ता का अहम् छोटा होता है, हैवान नष्ट होता है, पर उसका इन्सान समाज की दृष्टि में ऊँचा उठ जाता है। सन्तों की यह प्रणाली कि अपनी ओर से विनत रहो, समाज की ओर से सहज ही समुन्नत हो जाओगे, कितनी सात्त्विक है। गजानन माधव मुक्तिबोध का 'ब्रह्म राक्षस' इस सत्य को समझ कर भी अनदेखा कर देता है।

हाँ, तो कहा यह जा रहा था कि आलोच्य कृति की समीक्षा प्रक्रान्त है, अतः सर्वप्रथम यह देखना है कि आलोच्य कृति की प्रकृति क्या है, वह वाङ्मय की किस विधा के अन्तर्गत आ सकती है ? यह शास्त्र है या काव्य या शास्त्रकाव्य। अनेक समीक्षकों की आपाततः धारणा यह मालूम हुई है कि यह काव्य ही नहीं है, प्रबन्ध काव्य या महाकाव्य होना तो दूर की बात है।

(ख) आलोच्य कृति की प्रकृति

आलोच्य कृति पर आपाततः दृष्टिपात करने पर जैन प्रस्थान की मान्यताओं और सिद्धान्तों की विभिन्न प्रतीकों के सहारे उन्हें रूक्ष उपस्थापन ही दृष्टिगोचर होता है। उन्हें लगता है कि काव्य रसात्मक वाक्य है, संवेदना या

सर्जनात्मक अनुभूति का कलात्मक उद्रेखण है, जीवनानुभूति का कवित्वमय प्रकाशन है, भावनाओं का गुणालंकारमण्डित भाषा में प्रभावी उपस्थापन है, पृथिवी और स्वर्ग का मधुमय मिलन है तथा और भी कुछ लोकोत्तर है। उन्हें इस रचना में ऐसा कुछ दिखाई नहीं पड़ता। उनका पक्ष यह है कि काव्य के मूलभूत काव्योपादन संवेदना का घटक दृष्टि या विचार गन्ध की तरह काव्य में व्याप्त अवश्य हो, पर तह में निहित हो। यह पक्ष निस्सन्देह युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

(ग) बहिरंग साक्ष्य

'मूकमाटी' के 'मानस तरंग' (पृ. XXIV) में उपस्थापक स्वयं कह रहा है : "ऐसे ही कुछ मूल-भूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है, जिसमें लौकिक अलंकार अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं; अलंकार अब अलं का अनुभव कर रहा है; जिसमें शब्द को अर्थ मिला है और अर्थ को परमार्थ; जिसमें नूतन-शोध-प्रणाली को आलोचन के मिष, लोचन दिये हैं;...जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है'''और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।'' इस उद्धरण की प्रशस्तिपरक उक्तियों को हटा दिया जाय, केवल तथ्यपरक उक्तियों को दृष्टिगत किया जाय तो मानना पड़ेगा कि इस कृति की रचना जिनशासन के कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु हुई है। इसका लक्ष्य है – युग को संस्कार देना और वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित रखना। अश्वघोष (सौन्दरनन्द, १८/६३) के शब्दों में, ''इत्येषा व्युपशान्तये न रतये।''

(घ) अन्तरंग साक्ष्य

यह तो रहा बहिरंग साक्ष्य, यद्यपि इस प्रकार के निर्णय पर अन्तरंग अनुशीलन से ही पहुँचा गया है। इस निर्णय से हट कर कृति के विषय पर सीधे दृष्टिपात किया जाय तो उससे भी उक्त निष्कर्ष की ही पुष्टि होती है। किसी भी ग्रन्थ का तात्पर्य स्पष्ट करना हो तो निम्नलिखित दृष्टियों से मन्थन करना पड़ता है– (क) उपक्रम (ख) उपसंहार (ग) अभ्यास (घ) अपूर्वतापरक फल (ङ) अर्थवाद तथा (च) उपपत्ति। आलोच्य ग्रन्थ का 'उपक्रम' होता है प्रातःकालीन परिवेश में सरिता तट की माटी का माँ धरती के संवाद के साथ, जिसमें नित्य 'सुखमुक्त' और 'दुःखयुक्त' पर-संसर्गजन्य वैभाविक स्वरूप पर ग्लानि के आँसू बहाए जा रहे हैं और 'स्व-भाव' की उपलब्धि का मार्ग अभूतपूर्व तड़प और वेदना के साथ जिज्ञास्य है। 'उपसंहार' में वृहत् सत्ता माँ धरती का 'प्रतिसत्ता' अर्थात् उपादानभूत सरिता तट की माटी की मूर्त सम्भावना 'घट' और घट की सम्भावना 'सृजनशील जीवन का वर्गातीत अपवर्ग' की उपलब्धि पर सन्तोष है। आलोच्य ग्रन्थ में घट की – जीवात्मा के प्रतीक घट की अपवर्ग निमित्तक महायात्रा का प्रचुरता से सावष्टम्भ वर्णन ही तो 'अभ्यास' है और इस महायात्रा का गन्तव्य 'अपवर्ग' 'अपूर्व फल की उपलब्धि' है। स्थान-स्थान पर इस उपलब्धि की प्रशस्ति 'अर्थवाद' है और यही सर्वश्रेष्ठ है, की सिद्धि में दिए गए तर्क ही 'उपपत्ति' हैं। इन सब तात्पर्य निर्णायक कारणों से अन्तरंग परीक्षण भी सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य श्रेयःप्राप्ति में उपयोगी जैन प्रस्थान-सम्मत-मान्यताओं का रोचक उपस्थापन ही है।

(ङ) पारम्परिक साक्ष्य

जैन काव्य की परम्परा पर अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास'- भाग ६ में श्री गुलाबचन्द चौधरी भी कहते हैं : ''जैन काव्यों का दृष्टिकोण धार्मिक था। जैन धर्म के आचार और विचारों को रमणीय

पद्धति से एवं रोचक शैली से प्रस्तुत कर धार्मिक चेतना और भक्तिभावना को जाग्रत करना उनका मुख्य उद्देश्य था। उसके लिए उन्होंने धर्मकथानुयोग और प्रथमानुयोग का सहारा लिया। जन सामान्य को सुगम रीति से धार्मिक नियम समझाने के लिए कथात्मक साहित्य से बढ़ कर अधिक प्रभावशाली साधन दूसरा नहीं है।'' अभिप्राय यह कि परम्परा अर्थात् जैन काव्य परम्परा का साक्ष्य भी यही कहता है कि इस प्रस्थान के प्रति समर्पित जैन मुनियों का लक्ष्य 'व्युत्पत्ति' के आधान पर अधिक है, 'प्रीति' माध्यम है। ब्राह्मणधारा के शैव आचार्य अभिनव गुप्त ने काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुए 'आनन्दवादियों' (प्रीतिवादियों) और 'व्युत्पत्तिवादियों' के पक्षधरों से उभरते हुए अन्तर्विरोध का समन्वय करते हुए 'अभिनव भारती' और 'लोचन' में बताया है कि वस्तुतः परिणतप्रज्ञ या परिणतकवि का मूल प्रयोजन तो 'प्रीति' या 'रस' निष्पादन ही है। यह बात भिन्न है कि तदर्थ नियोजित विभावादि सामग्री में 'औचित्य' का सम्यक् निर्वाह होना चाहिए। यह औचित्य इसकी परा उपनिषद् है और औचित्य हमारी सम्प्रदायानुमोदित मान्यताएँ ही हैं, जिनसे ग्राहक लोक में अपेक्षित 'व्युत्पत्ति' अनायास आहित हो जाती हैं। ब्राह्मणधारा और उसमें भी शैवागमसम्मत-धारा वासनाशोधन की पक्षधर है। वह उसमें भी अमृत का अनुसन्धान करती है, उसके माध्यम से भी श्रेयस्कर गन्तव्य पर पहुँचती है, जबकि श्रमण धारा, विशेष कर जैन प्रस्थान वासना का दमन या क्षयोपशम करती है। अतः वह उसे उस साध्य स्थान पर रख ही नहीं सकती, उसे पार्श्ववर्ती ही बनाकर उपयोग कर सकती है। फलतः यहाँ 'प्रीति' और 'व्युत्पत्ति' में व्युत्पत्ति पर ज़यादा और प्रत्यक्ष बल रहता है, प्रीतिकर सामग्री साधन होती है। यहाँ 'कान्तासम्मित-उपदेश' का स्वर मुखर होता है।

आलोच्य ग्रन्थ का स्वर प्रभावोत्पादन से अधिक प्रबोधोत्पादन है। घट की आत्मकथा के साथ चलने वाला व्युत्पित्सु अन्ततः यह प्रबोध प्राप्त करता है कि निमित्त की शरण जाकर सम्भावनामय उपादान समर्पण के माध्यम से अपनी सम्भावनाओं को उपलब्धि का आकार दे। इसके साथ-साथ उसका बाधक काषाय शान्त होगा, 'पर' के प्रति निर्वेद होगा, शान्त की निष्पत्ति होगी। इस प्रकार प्रीतिकर शान्त रस सहायता करेगा। शास्त्र की अपेक्षा इस और इस तरह के प्रबन्ध काव्य लक्ष्य तक पहुँचाने में सौन्दर्य प्रदान करेंगे।

इस अन्तरंग एवं बहिरंग साक्ष्य और परम्परा के आधार पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति 'शुद्ध कविता' की अपेक्षा 'शास्त्र काव्य' है। शुद्ध कविता में सामग्री की योजना में प्रीतिकर प्रभाव उत्पन्न करना मुख्य लक्ष्य होता है, मान्यताओं की सुगन्ध व्यंजना से मिलती है। शास्त्रकाव्य में मान्यताएँ संवाद-विधान में उपदेश का स्वर अधिक पकड़ती हैं और अभिधा में होती हैं। आलोच्य रचना में संवादों की प्रचुरता है, भाव व्यंजना और वर्णनात्मक प्रसंगों की अपेक्षाकृत कमी है। इसकी पुष्टि आगे विशद विवेचन से की जायगी। इस विवेचन का तात्पर्य किसी धारा की आपेक्षिक श्रेष्ठता या अ-श्रेष्ठता से नहीं है, यह तो अपनी-अपनी धारा है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि जैन काव्य परम्परा में प्रेमाख्यानक नहीं हैं या कि उसमें भाव व्यंजना और वर्णनमय रचनाएँ नहीं हैं, नहीं; हैं और खूब हैं। यहाँ जैन मुनियों की काव्य परम्परा की बात प्रकान्त है। फलतः इस निष्कर्ष को उसी क्रम में होना चाहिए। क्षमता अलग बात है और क्षमता का उपयोग अलग बात है। आचार्य श्री विद्यासागरजी के प्रस्तुत प्रबन्ध काव्य का आरम्भ ही देखें – वर्णन है, काव्योचित कोमल और शृंगारिक भंगिमा है, भाव का आवेग है, पर मानसिक संरचना इस क्षमता को पूरे उभार पर नहीं लाती। 'स्व-भाव' की प्राप्ति में अपेक्षित मान्यताओं को संवादात्मक पद्धति पर रोचक कथा के सहारे उभारने की ओर उनकी प्रतिभा का संरम्भ लक्षित होता है। ऐसा करके जहाँ एक ओर इन्होंने अपनी परम्परा का साथ दिया है, वहीं चरित काव्य, पुराण काव्य या कथा काव्य की पद्धतियाँ अस्वीकार कर अपना अक्षुण्ण मार्ग भी निर्मित किया है। इन्होंने 'कामायनी'कार की भाँति रूपक या प्रतीक काव्य की पद्धति अपनाई है। उसकी अपेक्षा इसका वैशिष्ट्य संवादों के प्रचुर विधान में है। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत काव्य 'संवाद प्रचुर प्रतीक पद्धति का शास्त्रकाव्य' है। इस निष्कर्ष के आलोक

में उन लोगों का आक्षेप भी निरस्त हो जाता है जो रचना को मात्र संवेदना का ही मूर्त रूप मानते हैं और चेतन पात्रों में उसकी परिणति देखते हैं।

'मूकमाटी' में प्रस्फुटित कवित्व का पूर्ववृत्त : कवित्व की विकास यात्रा

(क) प्रस्तुत कृति की प्रेरणा का प्रश्न

भूतपूर्व सम्पादक डॉ. माचवे ने महाराजश्री से अपने वार्तालाप में यह जिज्ञासा की है कि महाराजश्री को इस तरह का, इस पद्धति का, काव्य लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली ? मेरा ख्याल है कि इसका उत्तर महाराजश्री के तपोरत स्वभाव में है, पर-भाव में नहीं। इसके लिए उनका तपोरत स्वभाव और उसके अनुरूप पूर्व निर्मित रचनाओं का गहन मन्थन करना चाहिए। इससे उनके काव्य विकास के सोपान भी लक्षित होंगे और साथ ही प्रस्तुत जिज्ञासा का समाधान भी निकल आएगा।

(ख) काव्य कारण का उपार्जन

साक्षात् वाग्देवता ही अपनी परिस्फूर्ति का माध्यम किसी को बनाएँ, यह बात भिन्न है, पर सामान्यतः निसर्गजात प्रतिभासम्पन्न साधक रचनाकार को भी अपनी प्रतिभा को अभ्यास और व्युत्पत्ति के शाण पर चढ़ाना ही पड़ता है। उसका भी साधना काल होता है। महाराजश्री ने '६८ में मुनिदीक्षा ग्रहण की और सद्गुरु श्री ज्ञानसागरजी महाराज के चरणों में साधनालीन हो गए। अध्यात्म साधना के साथ-साथ सारस्वत साधना भी चलती रही। साधक रातों-रात कवि नहीं बन जाता, उसके लिए भी 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' की आवश्यकता पड़ती है। 'व्युत्पत्ति' राजशेखर के शब्दों में 'उचितानुचित विवेक', मम्मट के शब्दों में 'लोक शास्त्र, काव्य आदि के अवेक्षण से होने वाली निपुणता' अथवा सामान्य साधना के लिए अपेक्षित सद्गुरु में अ-बोधपूर्वक श्रद्धा और विश्वास, आन्तरिक आकर्षण 'अर्जित बोध' का ही नामान्तर है। महाराजश्री ने व्युत्पत्ति भी प्राप्त की और गुरु-चरणों में बैठकर 'अभ्यास' भी किया, काव्यज्ञ से मम्मट के शब्दों में शिक्षा भी ली, सीख भी ली।

महाराजश्री ने मुनिदीक्षा के बाद से ही रचना का श्रीगणेश या शुभारम्भ कर दिया। गुरु शास्त्रोदधि का घन है, अतः अध्यात्म के क्षेत्र में प्रस्थान सद्गुरु के प्रति श्रद्धा से ही सम्भव है। श्रद्धा में भी सम्यक्त्व का आधान हो जाय, तो सोने में सुहागा की कहावत भी चरितार्थ हो जाय। सन्त सद्गुरु की पहचान से ही विश्वास और विश्वास से ही श्रद्धा होती है। अध्यात्म जगत् के पथिक के ये ही श्रद्धा और विश्वास पाथेय हैं। अध्यात्म राज्य का यह चमत्कार ही है कि अ-बोध साधक को विश्वास हो जाता है। सामान्यतः किसी बात पर विश्वास उसका रहस्य जान लेने पर ही होता है, पर संस्कारवान् को अ-बोधपूर्वक ही विश्वास चेतना के व्यापक और अज्ञात स्तर पर ही हो जाता है। कालिदास ने कहा है :

"तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम् ।"

चेतना का कोई ऐसा स्तर भी है जो अ-बोधपूर्वक [Unconcious state of mind] देशकाल से व्यवहित सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। सच्चा मुमुक्षु वही है जिसमें सच्ची मुमुक्षा हो और सच्ची मुमुक्षा वहीं होती है जहाँ चेतना में नैर्मल्य हो। निर्मल चेतना के स्तर ऐसे साधक में काम करते हैं। फलतः वह उस अन्तरात्मा की आवाज से परिचालित होकर अ-बोधपूर्वक सन्त सद्गुरु को पहचान लेता है, विश्वास कर लेता है एवं श्रद्धागोचर कर लेता है। उसे यह अकारण कौंध जाता है कि ज्ञान के लिए कहाँ जाना चाहिए। साधना जगत् के मर्मज्ञ अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है कि साधक को 'गुरोः गुर्वन्तरं व्रजेत्' यानी एक गुरु से दूसरे गुरु के पास, जो पहले की अपेक्षा श्रेष्ठ है, जाना ही चाहिए। प्रसंगान्तर होता जा रहा है, मुझे कहना यह कि सद्गुरु श्री ज्ञानसागरजी के सत् निर्देशन में परा और अपरा—उभयविध विधाओं में कवि-रचनाकार मुनि श्री विद्यासागर स्नात होते चले गए और अन्ततः निष्णात हो गए।

(ग) कवित्व का प्रथम पुष्प : 'गुरु-स्तव'

महाराजश्री मुनि दीक्षा के बाद अन्तस् में स्फुरित भावराशि को भाषा में बाँधने लगे, लिपिबद्ध करने लगे। साधक का अपना प्रस्थान मार्ग होता है, उसके प्रति उसे निष्ठावान् होना होता है। निष्ठा के सुदृढ़ीकरण के लिए अन्य प्रस्थानोचित चिन्तन का खण्डन भी करना पड़ता है। यह खण्डन, खण्डन के लिए नहीं, प्रत्युत् अपने प्रस्थान के प्रति अपनी श्रद्धा के सुदृढ़ीकरण के लिए होता है। महाराजश्री की 'मूकमाटी' का 'मानस-तरंग' इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है, जहाँ उन्होंने अपने प्रस्थान के अनुरूप न पड़ने वाले 'ईश्वर' का खण्डन किया है और स्रष्टा के रूप में अनावश्यक बताया है। प्रस्थान मार्ग में चलने पर अनुभूतियाँ उभरती हैं, जिससे साधक गहराई से जुड़ा होता है। इसमें सारा श्रेय सद्गुरु का होता है। साधक का उपाय उसी के निर्देश से चरितार्थ होता है, अतः एक तरफ श्रद्धा में सम्यक्त्व का आधान होता है और दूसरी ओर ज्ञान और चारित्र में सम्यक्त्व का उदय होता है। इस दौरान जो अनुभूतियाँ होती हैं, एक सन्त उसे काव्यबद्ध करता ही है, यह उसकी विवशता है। अपने आनन्द को वह काव्य के माध्यम से लोक को बाँटता है। इसमें उसे आनन्द मिलता है। इसीलिए सन्त लिखता है–'स्वान्तःसुखाय', पर उसका स्वान्तः स्व-पर की संकीर्ण भावना का अतिक्रमण कर चुका होता है। अतः उसका स्वान्तःसुख सबका सुख बन जाता है। तो मैं कह यह रहा था कि साधना के दौरान सबसे पहले जिसके प्रति श्रद्धा का उदय होता है, अपने वाक्पुष्प वह उसी को चढ़ाता है। महाराजश्री ने भी यही किया। इनकी पहली मुद्रित/उपलब्ध रचना गुरु वन्दना ही है। १९७१ में लिखित इस गुरुवन्दनामय काव्य की संज्ञा दी गई –'आचार्यश्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज के पावन चरणारविन्द में हार्दिक श्रद्धांजलि।' साधक अपनी साधना को लोक में उजागर करते हुए लोकमान्यता की हवा से डरते हैं। एक सन्तप्रवर ने कहा है : "लोकमान्यता अनल-सम कर तप कानन दाहु" – लोक प्रशंसा वह आग है जो तप के उद्यान को भस्म कर डालती है। महाराजश्री भी कहते हैं:

"लोकैषण की चाह ना, सुर-सुख की ना प्यास।
विद्यासागर बस बनूँ, करूँ स्व-पद में वास॥" (सुनीति-शतक)

इसलिए महाराजश्री उसे प्रकाश में नहीं लाते थे, पर उनके भक्त श्रावकों ने वैसा नहीं होने दिया, प्रकाश में ला ही दिया। फिर तो श्रावकगण के साथ महाराजश्री ने भी उस गुरु वन्दना के मधुरगान में सहयोग प्रदान किया। स्तोत्र-काव्य का यह शुभारम्भ बढ़ता ही गया। महाराजश्री की श्रद्धासिक्त प्रतिभा आचार्य श्री वीरसागरजी (१९७१), आचार्य श्री शिवसागरजी (१९७१) एवं आचार्य श्री ज्ञानसागरजी (१९७३) पर भी उमड़ कर कविता के रूप में बरस पड़ी। यह क्रम बढ़ता ही गया और नित्यप्रति नूतन भावभूमियों पर उनकी प्रतिभादेवी चढ़ती गई। इस प्रवाह में भावना भी थी और उसमें सुगन्ध की तरह व्याप्त जीवन दर्शन तथा चिन्तन प्रसूत मान्यताएँ भी।

(घ) संस्कृत भाषाबद्ध शतकों की सृष्टि

आलोच्य रचना 'मूकमाटी' से पूर्व उनकी दर्जनों रचनाएँ आ चुकी हैं – गद्यबद्ध प्रवचन भी और पद्यबद्ध प्रकीर्ण तथा प्रबन्धात्मक भी। महाराजश्री अनेक भाषाविद् हैं – संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड तथा मराठी जैसी देशभाषाएँ तो वे जानते ही हैं, विदेशी आंग्लभाषा के भी अच्छे जानकार हैं। आपकी रचनाएँ प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, बंगला, कन्नड और अंग्रेजी में ही प्रायः हैं। 'मूकमाटी' (१९८८)* हिन्दी भाषा में निबद्ध है। उस तक की प्रातिभ यात्रा

** आलेखन प्रारम्भ – श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित ग्रन्थराज 'षट्खण्डागम वाचना शिविर' (चतुर्थ) के प्रारम्भिक दिवस, बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के दीक्षा कल्याणक दिवस– वैशाख कृष्ण दशमी, वीर निर्वाण संवत् २५१०, विक्रम संवत् २०४१, बुधवार, २५ अप्रैल, १९८४।*

समापन- श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी, छतरपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक एवं त्रय गजरथ महोत्सव के दौरान केवलज्ञान कल्याणक दिवस– माघ शुक्ल त्रयोदशी, वीर निर्वाण संवत् २५१३, विक्रम संवत् २०४३, बुधवार, ११ फरवरी, १९८७ को हुआ।

पूर्ववर्ती अनेक रचनाओं से गुज़रने के बाद हुई है। संस्कृत भाषा में निबद्ध प्राय: उत्कृष्ट रचनाएँ 'श्रमण-शतकम्' (१९७४), 'भावना-शतकम्' (१९७५), 'निरञ्जन-शतकम्' (१९७७), 'परीषहजय शतकम्' (१९८२), 'सुनीति शतकम्' (१९८३) एवं इन्हीं पाँचों शतकों का उसी कालावधि में हिन्दी पद्यानुवाद तथा 'शारदास्तुतिरियम्' (१९७१)–'पंचशती' संज्ञक कृति में संकलित हैं। इन सबका विषय धार्मिक और आध्यात्मिक है, परन्तु अभिव्यक्ति शैली काव्योचित है। अर्थालंकारों से काव्योचित रमणीयता आती है, पर शब्दालंकारों से वह रमणीयता नहीं आती। इतना अवश्य है कि शब्दालंकार–विशेषकर यमक, अनुप्रास तथा मुरज बन्धादि चित्र–का सन्निवेश प्रयोक्ता और ग्रहीता दोनों के लिए दुरूह है। महाराजश्री ने इस चुनौती का निर्वाह किया है। अर्थगत रमणीयता की दृष्टि से इसे अधम काव्य की संज्ञा अवश्य दी गई है, परन्तु इसमें रचना करने वाला जानता है कि उसका निर्वाह कितना श्रमसाध्य है। इन शतकों में 'सुनीति-शतकम्' की भाषा प्रांजल है पर शेष शतकों की दुरूह। शब्दक्रीड़ा की यह प्रवृत्ति इतिहास में प्रत्येक महाकवि में विद्यमान है – चाहे वह वाल्मीकि हों या कालिदास। माघ और भारवि की तो बात ही भिन्न है। परवर्ती रचनाओं में तो पाण्डित्य प्रदर्शन एक प्रवृत्ति ही बन गई। महाराजश्री की इन रचनाओं का समाकलन स्तोत्रकाव्यों की शतक परम्परा में किया जा सकता है। वैसे इन रचनाओं में स्तोत्र का ही स्वर नहीं है, विभिन्न और भी संज्ञानुरूप धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नीतिपरक विषय भी हैं।

(ङ) हिन्दी में कवित्व का उन्मेष और विकास

हिन्दी में रचनाओं का निर्माण अस्सी ईस्वी के दशक में आरम्भ होता है। आरम्भ होने के बाद फिर कभी विच्छिन्न नहीं हुआ, विपरीत इसके कि समृद्ध ही होता गया। इस क्रम में 'नर्मदा का नरम कंकर' सम्भवत: पहला काव्य संकलन है। यों तो हिन्दी में रचनाएँ पहले से ही प्रकीर्णक रूप में होती आ रही थीं, पर संकलन के रूप में यह पहला प्रयास है। इसके बाद के अधिकांश संकलन '८४ में या उसके बाद प्रकाश में आए हैं। इन संकलनों से गुज़र जाने के बाद 'मूक-माटी' के आविर्भाव के अनेक सूत्र-संकेत मिल जाते हैं। ऐसे संकलनों में उक्त संकलन के अतिरिक्त 'तोता क्यों रोता?', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' तथा 'चेतना के गहराव में' - का विशेष महत्त्व है। विशेष महत्त्व इसलिए है कि एक तो ये सभी मुक्तछन्द में निबद्ध हैं अर्थात् इन रचनाओं में महाराजश्री का हाथ मुक्तछन्द में मँज चुका है। दूसरे, इन रचनाओं से इस सवाल का जवाब भी मिल जाता है कि आलोच्य महाकाव्य का विषय 'माटी' जैसी उपेक्षित वस्तु को क्यों बनाया गया? यों तो हिन्दी काव्य परम्परा में 'माटी' का यशोगान और उसके साथ 'कुम्भकार' का सम्बन्ध पहले से ही मिलता है। उदाहरण के लिए कविवर हरिवंशराय बच्चन की ही निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

"हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को/और न अब हैरान करो।"

(च) 'मूकमाटी' की भूमिका में उपयोगी कण

महाराजश्री की रचनाओं में भी इसके संकेत विद्यमान हैं। नर्मदा के नरम कंकर पर ही उनकी दृष्टि क्यों गई? कारण क्या है? असल में लगता है कि वह चूँकि स्वयम् बनने की प्रक्रिया में हैं, चलते जा रहे हैं : ब्रह्मचारी से क्षुल्लक, ऐलक, मुनि और आचार्य बनने के क्रम में हैं, भले ही ये ब्रह्मचारी से सीधे ही मुनि पद और बाद में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए हैं। अत: उनका ध्यान सम्भावनाओं से मण्डित सामान्य पदार्थ की ओर ही ज़्यादा जाता है। नर्मदा के कंकर बनने के क्रम में कितना संघर्ष झेलते हैं, इस संघर्ष को झेलकर उसमें शालिग्राम का सुघर रूप उभरता है, जो पूज्य बन जाता है। मिट्टी में क्या कुछ बनने की सम्भावना नहीं है? शर्त इतनी ही है कि सधा हुआ शिल्पी मिल जाय। क्रमागत महाकाव्य शलाकापुरुषों का यशोगान करते हैं, धीरोदात्त नायक-नायिकाओं का यशोगान करते हैं।

'नर्मदा का नरम कंकर' से साक्ष्य

महाराजश्री के काव्य संकलन 'नर्मदा का नरम कंकर' के 'नरम कंकर' की स्थिति देखें। वह क्यों कुछ कहने की प्रेरणा देता है ? 'प्रकाशकीय' में बाबूलाल पाटोदी की सम्भावना से मैं सहमत हूँ। वह भी यही उत्तर देते हैं : "ऐसा मुनि-कवि जिसकी राहें काँटों की हैं, कंकरीली हैं, पाषाणी हैं, जिसे अहर्निश भीतर-बाहर चलना-ही-चलना है, रचना कर रहा हो"– वह और किसे प्रतीक बनाएगा ? वह कहता है :

"युगों-युगों से/जीवन विनाशक सामग्री से/संघर्ष करता हुआ
अपने में निहित/विकास की पूर्ण क्षमता सँजोये/अनन्त गुणों का
संरक्षण करता हुआ/आया हूँ/किन्तु आज तक/अशुद्धता का विकास/ह्रास
शुद्धता का विकास/प्रकाश/केवल अनुमान का/विषय रहा विश्वास
विचार साकार कहाँ हुए ?/बस ! अब निवेदन है/कि/या तो इस कंकर को
फोड़-फोड़ कर/पल भर में/कण-कण कर/शून्य में/उछाल···
समाप्त कर दो/अन्यथा/इसे/सुन्दर सुडौल/शंकर का रूप प्रदान कर
अविलम्ब/इसमें/अनन्त गुणों की/प्राण प्रतिष्ठा/कर दो
हृदय में अपूर्व निष्ठा लिए/यह किन्नर/अकिंचन किंकर
नर्मदा का नरम कंकर/चरणों में/उपस्थित हुआ है
हे विश्व व्याधि के प्रलयंकर/तीर्थंकर !/शंकर !"

रचनाकार साधक है। साधना काल में उस पर बीत रही है, वह बाधाओं से गुज़र रहा है, परीषहों और उपसर्गों से संघर्ष कर रहा है, पर वह हताश नहीं है। कारण, उसे सम्भावनाओं पर विश्वास है, अपने प्रस्थान के प्रति गहरी निष्ठा है, विश्वव्याधि के प्रलयंकर, शंकर तीर्थंकर के चरणों में उपस्थित है। तड़प दिखाई पड़ रही है, जो कहता है :

"पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें,
धरती में धसौं कि अकासहिं चीरौं।"

वह बीच में लटकना नहीं चाहता। कंकर जैसा प्रतीक साधक या तो घनघोर तपस्या के आँधी-तूफान में इसे निःशेष ही कर देगा या इसे सुन्दर, सुडौल बनाकर दम लेगा। अध्यात्म के पथिकों में प्रज्वलित यही तड़प, अभीप्सा और बेचैनी उसका सात्त्विक पाथेय है। स्पष्ट ही उक्त रचना में साधक तपस्वी अपने को अनन्त सम्भावनाओं से संवलित 'कंकर-पत्थर' ही मानता है। साधना बेला में अटूट विश्वास के साथ प्रस्थित मुनि की प्रातिभ चेतना में - स्वभाव में - ऐसे ही प्रतीक उभरेंगे। जिसका उत्तर स्वभाव में निहित हो, उसका उत्तर 'विभाव' में क्यों ढूँढ़ा जाय ? इसलिए वार्तालाप के प्रसंग में डॉ. माचवे द्वारा उठाया गया सवाल कि आचार्यश्री ने 'माटी' का प्रतीक क्यों लिया, यहाँ समाहित हो जाता है। इस रचना के आलोक में इस सवाल का भी समाधान निहित है कि प्रस्तुत आलोच्य कृति मुक्त छन्द में क्यों लिखी गई ? इस उपर्युक्त उद्धृत रचना में जिस आवेग का विस्फोट है वह 'मुक्त छन्द' में ही व्यक्त हो सकता है, इसमें जिस स्नायविक तनाव से उन्मुक्ति का एहसास होता है, वह मुक्त छन्द में ही व्यक्त हो सकता है। जब आवेग नया है तो वह अपनी अभिव्यक्ति का रास्ता भी नया ही बनाएगा। लयबद्धता होनी चाहिए, छन्द के क्रमागत ढाँचे अपर्याप्त पड़ जायँ तो पड़ना ही चाहिए।

'डूबो मत, लगाओ डुबकी' का साक्ष्य

इस सन्दर्भ में 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' (१९८४ में प्रकाशित संग्रह की 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' कविता) का भी अनायास स्मरण हो आता है। यह अत्यन्त भावावेगमयी दार्शनिक रचना है। जिसमें रचयिता का स्वभाव बोलता है, उसकी ऐसी ही परिणति होती है। रचनाकार कहता है :

"यह बात सत्य है/कि/डुबकी वही लगा सकता/जो तैरना जानता है
जो नहीं जानता/वह डूब सकता है/डूबता ही है।
डूबना और डुबकी लगाने में/उतना ही अन्तर है
जितना/मृत्यु और जीवन में।"

डुबकी लगाता है गोताखोर, गहरे में गहरी वस्तु की उपलब्धि के लिए, पर यदि वह तैरना नहीं जानता तो लक्ष्य प्राप्ति के साथ ऊपर आ नहीं सकता। तैरने के लिए जैसे आरम्भ में तुम्बी जैसी किसी वस्तु का अवलम्ब आवश्यक है। ध्यान भी डुबकी है, पर निरवलम्ब। निरवलम्ब समाधि सावलम्ब समाधि के अभ्यास से ही पाई जा सकती है। अतः सावलम्ब ध्यान आवश्यक है। तैरना जानना आवश्यक है डुबकी लगाने के लिए, अन्यथा साधक डूब जायगा। डुबकी लक्ष्य प्राप्ति के बाद ऊपर उठ जाने के लिए लगाई जाती है। डूबता वह है जिस पर आवरण का लबादा चढ़ा हुआ है। तिरता वह है, उभर उठता वह है जो आवरण का नाश कर हलका हो जाता है। ध्यान इसी हलके होने का साधन है। यह रचना भी अभ्यासी के अभ्यासरत स्वभाव और अनुभव से फूटी है, इसीलिए उसमें प्रसाद, प्रवाह, आवेग और प्रांजलता है। डुबकी लगाने वाले के लिए तैरना जानना पड़ता है पर डुबकी लगाते समय तैरना और तैरने का अभ्यास हो जाने के बाद सहारे के लिए गृहीत तुम्बी का त्याग भी आवश्यक है, अन्यथा डुबकी के लिए अपेक्षित एकतानता प्रतिहत हो जायगी। साधक के लिए लक्ष्य प्राप्ति के निमित्त निर्विकल्पक का और निर्विकल्पक के लिए सविकल्पक का सहारा लेना पड़ता है, पर इन सहारों को उत्तरोत्तर छोड़ना भी पड़ता है। कारण, अन्ततः ये भी बाधक ही रहते हैं। अभिप्राय यह कि साधना बेला की अनुभूति की ये रचनाएँ स्व-भाव का स्वाभाविक समुच्छलन हैं। ये रचनाएँ अभ्यास साध्य या सायास नहीं हैं।

'तोता क्यों रोता?' का साक्ष्य

आचार्यश्री प्रतीक की ही भाषा में बोलते हैं। कहा जाता है कि 'नई कविता' बिम्बों में बोलती है, पर रहस्यवादी रहस्यदर्शी प्रतीकों में बोलता है। प्रतीक भाषा की सर्वोच्च शक्ति है, उसमें संकेत और व्यंजना की असीम क्षमता है। आलंकारिक भाषा से बड़ी है वर्ण्य की स्वभावमयी बिम्बात्मक भाषा और उससे भी बड़ी है वर्ण्य-दृश्य की तह में निहित अदृश्य को सम्प्रेषित करने वाली प्रतीक भाषा। आचार्यश्री इसी भाषा में बोलते हैं। देखिए 'तोता क्यों रोता?'('हिन्दी दिवस' – १४ सितम्बर '८४ को प्रकाशित संग्रह) में सब कुछ प्रतीक ही तो है। दाता का प्रतीक वृक्ष, ग्रहीता का प्रतीक अतिथि की पात्रता, इनका-उनका हड़प कर दान देने का दम्भ भरने वाले अकर्मण्य का प्रतीक तोता और फल को बन्धन से मुक्ति दिलाने में सहायक सपूत का प्रतीक पवन। पात्र के प्रति निरभिमान समर्पण भी बन्धनमुक्ति का एक उपक्रम ही है। तोता अकर्मण्य का प्रतीक है, अतः दान का मर्म समझ कर वह ग्लानि से भर उठता है, रोता है। उसे भी वृक्ष की तरह तपोरत होकर सफल होना है ताकि सत्पात्र के प्रति निःस्वार्थ आत्मविसर्जन कर बन्धन से मुक्त हो सके।

'चेतना के गहराव में' का साक्ष्य

प्रतीकमयी भाषा का प्रयोग वही कर सकता है जो 'चेतना के गहराव' में उतरकर अनुभव के रत्न कमा चुका

है। महाराजश्री ठीक कहते हैं कि 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'। इसके आगे का सत्य यह है कि 'जहाँ न पहुँचे कवि, वहाँ पहुँचे स्वानुभवी'। यह स्व-अनुभव 'चेतना के गहराव' से आता है। बाहर का अनुभव आलंकारिक और बिम्बात्मक भाषा में उभर सकता है, पर 'चेतना के गहराव' का अनुभव प्रतीक भाषा में ही उभरता है, उभर सकता है। प्रतीक भाषा के साथ-साथ शब्दों से क्रीड़ा करने की प्रवृत्ति भी इन्हीं रचनाओं से फूटती लक्षित होती है। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति भी शब्दक्रीड़ा करते हैं, इसके लिए उनकी रचनाएँ देखी जा सकती हैं। देखिए, 'चेतना के गहराव में' (१९८८ में प्रकाशित संग्रह की 'तुम कैसे पागल हो' नामक कविता) से यह शब्द क्रीड़ा किस प्रकार अपना मार्ग ढूँढ़ती है :

"रेत रेतिल से नहीं/रे ! तिल से/तेल निकल सकता है
निकलता ही है विधिवत् निकालने से/...ये सब नीतियाँ
सबको ज्ञात हैं/किन्तु हित क्या है ?/अहित क्या है ?
हित किस में निहित है कहाँ ज्ञात है ?/किसे ज्ञात है ?
मानो ज्ञात भी हो तुम्हें/शाब्दिक मात्र !/अन्यथा
अहित पन्थ के पथिक/कैसे बने हो तुम/निज को तज
जड़ का मन्थन करते हो/तुम कैसे पागल हो/तुम कैसे 'पाग' लहो ?"

अभ्यासरत जीवन ही रचना का उत्स

उपर्युक्त उद्धृत रचना को देखें। शब्द क्रीड़ामयी रेखांकित पंक्तियों को देखें। कह सकता है कोई कि यह शब्द क्रीड़ा सायास है ! यहाँ अक्रीड़ पंक्ति से सक्रीड़ पंक्ति स्वतः स्फूर्त है। 'मूकमाटी' की कथावस्तु, उसकी प्रतीक भाषा और उसमें लक्षित शब्द क्रीड़ा का इतिहास एक क्रम से स्वयं आता गया है। 'मूकमाटी' की प्रकृति के परमाणु इन पूर्ववर्ती रचनाओं में विद्यमान हैं। इसकी आलोचना के लिए पूर्ववर्ती रचनाओं का मनन-मन्थन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। इसलिए यह पूछने की आवश्यकता नहीं है कि प्रकान्त विषयवस्तु की प्रेरणा का बीज कहाँ निहित है? साधक के अभ्यासी जीवन में ही उसका उत्स है।

रचना आत्माभिव्यक्ति ही नहीं, सम्प्रेषण भी है

वार्तालाप में डॉ. माचवे ने एक दूसरा सवाल भी खड़ा किया गया है कि आचार्यश्री कविता को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं या सम्प्रेषण ? पर इसका उत्तर लेने या देने से पूर्व पहली जिज्ञासा पर थोड़ा और विचार कर लेना चाहिए। 'मूकमाटी' का विकास उनके तपोरत उस स्वभाव से हुआ है जहाँ वे संघर्षशील हैं, मूल्यों और मान्यताओं को जीते हुए अपमूल्यों के गुरुत्वाकर्षण से जूझ रहे हैं, तभी 'नर्मदा का नरम कंकर' निकला। उसी संघर्ष का स्वर है 'डूबो मत, लगाओ डुबकी'। पौद्गलिक कर्मों का लबादा ओढ़े रहोगे तो वज़नदारी डुबो देगी, इसे फेंक कर हलके बनो और तदर्थ डूबकर तिर जाओ, डूबकर मान्यताओं और मूल्यों को जिओ। 'चेतना के गहराव में' उतरो। इस संग्रह में भी 'तोता क्यों रोता ?' कविता का रहना 'मूकमाटी' के विकास की पूर्ववर्ती भाव शृंखला की करामात है। महाराजश्री जिसका प्रवचन करते हैं, उसे जीते हैं और जिसे जीते हैं, अनुभव करते हैं, उसे लिखते हैं। इसीलिए वह असरकारी होता है। उसमें आवेग के ज्वार-भाटे होते हैं, इसीलिए वे रूढ़ छन्दों के ढाँचे को अपर्याप्त पाकर तोड़ देते हैं और मुक्त छन्द पकड़ते हैं।

'तोता क्यों रोता ?' का 'मूकमाटी' के सन्दर्भ में महत्त्व

'तोता क्यों रोता ?' एक दीर्घ प्रगीत या लम्बी रचना है। इसमें 'मूकमाटी' का पूर्वरूप लक्षित होता है। इसमें

भी प्रतीक या रूपक पद्धति पर कथा है और कथा के भीतर कथा है, जिनके सहारे जिन-सिद्धान्तों का आख्यान है। विशेष स्मरणीय यह है कि ये सिद्धान्त अपनी प्रकृति में साम्प्रदायिक होकर भी सार्वभौम प्रकृति के हैं, इसीलिए वह साम्प्रदायिक रचना नहीं, काव्य है। इसमें भी प्रकृति के परिवेश में तपी धरती पर नग्न-पाद आम्रपादप खड़ा है, दाता के रूप में, पात्र की प्रतीक्षा है। उद्यमी पथिक आता है, पर दाता में दाता होने का अहम् उभरता है जो अयाचक पथिक को खटकता है। वह भी मान-सम्मान के साथ दान चाहता है। मोक्षमार्ग में दोनों की वृत्ति बाधक है। इस संवाद – मौन संवाद – को वहाँ बैठा हुआ निस्संग तोता सुनता है, जो न उपार्जित फल का दाता है और न याचक। दान का फल पाना चाहता है, पर श्रमपूर्वक उपार्जन किए बिना। निस्संग भाव से जब वह अपनी इस वृत्ति का मानस साक्षात्कार करता है तो अपने अकर्मण्य जीवन पर ग्लानि से भर उठता है और चाहता है कि वह भी श्रमी बने, तपस्वी बने एवं फलोपार्जन करे। इस बीच फल में निरहंकार आत्मदान का भाव जगता है। वृक्षपुत्र सुपुत्र पवन की सहायता चाहता है। उसे भी पिता की वृत्ति पर खेद होता है। फल वृन्त-बन्धन से मुक्त होने की कामना में पवन की सहायता प्राप्त करता है और ससम्मान तपस्वी पथिक के पात्र का आह्वान करता है, फिर जो मुक्ति फल को चाहिए, वह मिल जाती है। एक प्रगीत में यह अन्योक्ति सूक्ति मुक्तिका की भाँति ढली हुई है। कितना काव्योचित काव्यरूप है! अनुभूति के जल में स्नात होने से इसमें प्रभावी प्रबोध-उत्पादन की क्षमता है। 'मूकमाटी' ऐसे ही प्रगीत मुक्तकों की पीठिका पर आकार पाती है। रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में प्रकृति के ऐसे रमणीय व्यापारों से मार्मिक तथ्य निकालने वालों की प्रतिभा की प्रशंसा की है। उन्होंने जैसे 'कामायनी' को प्रगीतों का समुच्चय कहा है, उसी प्रकार 'मूकमाटी' को भी संवाद-मुक्तकों का समुच्चय कहा जा सकता है - इस व्यतिरेक के साथ कि उन संवाद-मुक्तकों में घट की आत्मकथा आद्यन्त सूत्र की भाँति अनुस्यूत है। इस प्रकार डॉ. माचवे की प्रथम जिज्ञासा सहज ही समाहित हो जाती है।

सम्प्रेषणवादी का पक्ष—आत्माभिव्यक्तिवादी का पक्ष

सम्प्रति, दूसरी जिज्ञासा देखी जाय। रचना आत्माभिव्यक्ति है या सम्प्रेषण? रचना का सम्बन्ध चेतना की अज्ञात गहराइयों से जोड़ने वाला मनोवेत्ता तो यही मानता है कि रचना 'हो' जाती है, 'की' नहीं जाती। वह आत्माभिव्यक्ति है, एक विस्फोट है, जो चेतना के अज्ञात स्तर से होता है। ज्ञानचेतना के स्तर का अहंकारमूलक कर्तृत्व या तो प्रसुप्त रहता है अथवा समर्पित होकर माध्यम बन जाता है और जो कुछ होना है, होता रहता है। दूसरा पक्ष मानता है कि चेतना का उत्स समाज है। वह समाज में सत्ता का आसादन करती है और जिस 'भाषा' का सहारा पकड़ती है, वह समाज की ही देन है। अतः सम्प्रेषण भी रचयिता के स्वभाव में है। उसका 'स्व' इतना विकसित और व्यापक है कि उसमें समस्त 'पर' समाहित हैं। रचयिता का व्यक्तिहृदय लोकहृदय होता है, उसकी निजी अनुभूति में सर्वसामान्य की हिस्सेदारी होती है। इसीलिए कहता है वह 'स्वान्तः सुखाय', पर निमग्न होता है सारा लोक। संस्कार पाता है सारा पाठक समाज।

अनेकान्तवादी समन्वयी दृष्टि

रचयिता के हृदय का भार तभी उतरता है जब वह औरों में संवाद पाता है। मतलब प्रयोजन की दृष्टि से 'प्रीति' और 'व्युत्पत्ति' की भाँति 'आत्माभिव्यक्ति' और सम्प्रेषण में भी आत्यन्तिक विरोध नहीं है। आत्माभिव्यक्ति सामाजिक क्रिया है और सामाजिक में ही चरितार्थ होती है। अतः आत्माभिव्यक्ति कहीं मूल में ही सम्प्रेषण है, सम्बोध्य के लिए है। लोक उसके लक्ष्य में अज्ञातभाव से ही सही, अवश्य विद्यमान है। महाराजश्री लोक-मंगल की भावना से तो परिचालित हैं ही, उन सिद्धान्तों को जिया है उन्होंने, अतः अनुभूति परिचालित भी हैं।

"प्रखर चिन्तकों दार्शनिकों/तत्त्व-विदों से भी ऐसी/अनुभूति-परक पंक्तियाँ
प्रायः नहीं मिलतीं···जो/आज अग्नि से सुनने मिलीं।" (पृ. २८७)

स्वानुभूति का प्रकाशन यों ही अच्छा लगता है – लोक मंगल हो, इस कारण और अच्छा लगता है। वह सम्प्रेषण के विषय में 'मूकमाटी' में कहते हैं :

"विचारों के ऐक्य से/आचारों के साम्य से/सम्प्रेषण में/निखार आता है,
वरना/विकार आता है !/बिना बिखराव/उपयोग की धारा का
दृढ़-तटों से संयत,/सरकन-शीला सरिता-सी/लक्ष्य की ओर बढ़ना ही
सम्प्रेषण का सही स्वरूप है/हाँ ! हाँ !! इस विषय में/विशेष बात यह है कि
सम्प्रेष्य के प्रति/कभी भूलकर भी/अधिकार का भाव आना
सम्प्रेषण का दुरुपयोग है,/वह फलीभूत भी नहीं होता !/और,
सहकार का भाव आना/सदुपयोग है, सार्थक है।
सम्प्रेषण वह खाद है/जिससे, कि/सद्भावों की पौध
पुष्ट-सम्पुष्ट होती है।" (पृ. २२-२३)

इन पंक्तियों के आलोक में लगता है कि महाराजश्री का सम्प्रेषण की ओर झुकाव है। लोकमंगलकामी में यह होना ही चाहिए। शास्त्रकाव्य में सम्प्रेषण की भावना बलवती होती ही है। परन्तु सम्प्रेषण का जो स्वरूप उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त है, वह स्तरीय है। उसमें निखार के लिए विचारों का समन्वय और आचारगत साम्य चाहिए। लक्ष्य की ओर एकतानता ही उसका सही स्वरूप है। यह वह खाद है जिससे सद्भावों की पौध पुष्ट-सम्पुष्ट होती है। साथ ही यह कि सम्प्रेष्य पर हावी होने से सम्प्रेषण का स्वरूप बिगड़ता है, फलतःउसे भोग रूप में सहकारी ही होना चाहिए।

'मूकमाटी'- काव्यत्व और काव्यरूप

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में स्पष्ट है कि प्रस्तुत रचना लोक-मंगल की भावना से लिखी गई है। इसमें उन मूल्यों का संवादों द्वारा उपस्थापन है जो मानव को 'विभाव' से 'स्व-भाव'-साक्षात्कार की दिशा में ले जाते हैं। महाराजश्री ने इन मूल्यों को जिया है। अतः उन्हें सम्प्रेषण ही नहीं, स्वानुभूति का रस भी 'स्वान्तः सुखाय' परिचालित करता है। इस पद्धति से सम्प्रेषण के बीज उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में लक्षित होते हैं। उसी का यह प्रबन्ध की धरा पर सहज विकास है। इसमें आत्माभिव्यक्ति भी है और सम्प्रेषण भी, स्वानुभूति का उल्लास भी परिचालक है और लोक-मंगल की कामना भी।

महाकाव्यों में मूल्यगान की परम्परा

ऊपर यह मान्यता रखी गई है कि प्रस्तुत रचना शुद्ध कविता नहीं, शास्त्रकाव्य है। सहृदय आचार्यों की धारणा है कि वस्तुतः काव्य संवेदना का समुच्छलन है। आदिकाव्य रामायण की रचना प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्तपादाचार्य ने काव्य को सर्जनात्मक अनुभूति का ही रूपान्तरण माना है, शास्त्रीय मान्यताओं का रोचक उपस्थापन मात्र नहीं; गो कि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य की रचना के उपयुक्त नायक की तलाश में नारद के सामने जो मानदण्ड रखे थे, वे मानव मूल्यों के ही थे। उन मूल्यों से मण्डित नायक के जीवन के कलात्मक उद्रेखण के व्याज से महर्षि उन मूल्यों का ही गान करना चाहता है। महाभारत के भी आदि, अन्त और मध्य में भगवान् वासुदेव ही विद्यमान हैं।

महाकाव्य की दो धाराएँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, समस्या काव्यसामग्री के संयोजन में दिए गए बलाबल का है। कोई रसात्मक प्रभाव को केन्द्र में रख कर उसके अनुरूप समुचित सामग्री का संयोजन करेगा जबकि दूसरा मूल्यों के रोचक ढंग से

उपस्थापन में रुचि प्रदर्शित करेगा। अनुभूति और मूल्य योजना दोनों ही धाराओं में है। प्रथम धारा में स्थायी का चेतन आश्रय में विधान होगा और हृदय जगत् के भावों की ऊँचाइयाँ, गहराइयाँ, विविधता और व्यापकता प्रभावी होंगी, मूल्य चर्चा आनुषंगिक और दूसरी धारा में यह सब अभिव्यक्ति पद्धति में आ जायगा, कथ्य का स्वर उपदेशपरक होगा। यहाँ साधनारत मुनि अपने जीवन क्रम से प्रेरित होकर 'सम्भावनाओं' को 'उपलब्धि' की मंज़िल की यात्रा करा रहा है जबकि पहली धारा में उपलब्धि बनी महान् आत्माओं की रसमय जीवनगाथा प्रस्तुत की जाती है। सम्भावनाएँ उपलब्धि बनती हैं। मूल्यों के प्रति आस्थावान् होकर उन्हें जीने से लक्ष्य की प्राप्ति होती है। सम्भावना प्रतिसत्ता में विद्यमान है। इसके लिए प्रतीक का माध्यम ग्रहण करना काव्योचित सरणि है। प्रस्तुत या प्रधान चेतन मानव ही है, पर व्यंजना से उसकी कथा और भी प्रभावी तथा काव्योचित है।

'मूकमाटी' का कवि—युग का कवि

सरिता-तट की मूकमाटी असीम सम्भावनाओं से संवलित है, भले ही वह पद दलित, उपेक्षित और नगण्य लगती हो। इसमें प्रस्तुत नगण्य मानव ही है, जो अपनी ऊर्ध्वगामी अपरिमेय सम्भावनाओं में गणनीय है। अतः इसके काव्यत्व पर अँगुली उठाना असहृदयता होगी। दूसरे आज का तकादा भी अवाम को उठाने का है। पहले मंच पर ग्लैमर (उदात्त) अभिनीत होता था, आज मंच पर सामान्य ज़िंदगी अभिनीत होती है। पहले उपलब्धि का यशोगान होता था, आज सम्भावनाओं का संघर्ष गाया जाता है। साधना और संघर्ष जितना सम्भावना को उपलब्धि बनने में सहज और प्रेरणाप्रद है, उतना उलटे रास्ते चलकर नहीं। चरित काव्यों और पुराण काव्यों में भी संघर्ष है, पर दोनों का युग-भेद है। एक संघर्षशील तपोरत मुनि अपने युग के साथ चल रहा है और सम्भावनामयी विराट् सत्ता के बेटे या बेटी की कथा कह रहा है। उसके काव्य का विषय विराट् सत्ता ही है। प्रस्तुत वही है, यह तो अप्रस्तुत है।

काव्य स्वरूप विषयक दो धाराएँ

जो लोग विविधविध परिस्थितियों के बीच चेतन मानव को आश्रय बनाकर भावनाओं का आवर्जक रूप, उसके ज्वार-भाटों के काव्यगत कलागत उद्रेखण के पक्षधर हैं, उनका भी एक पक्ष है, पर उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि आलोच्य कृति का रचयिता एक जैन सन्त है, आध्यात्मिक यात्रा का कृतार्थ पथिक है। उसकी काव्य सम्बन्धी अवधारणा कुछ और है, यह नहीं कि वह इससे असहमत है। परम्परा में पीछे की ओर चलें, स्पष्ट ही काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ मिलेंगी— एक साहित्यरसिक आचार्य कुन्तक की और दूसरी अध्यात्मरसिक गोस्वामी तुलसीदास की। कुन्तक कहते हैं- वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है और वक्रोक्ति 'प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणी विचित्र अभिधा' है, वक्रभणिति है, परन्तु इस वक्रता का परम रहस्य प्रतिभा नाम की तीसरी आँख से दृष्ट वर्ण्यवस्तु का 'स्वभाव' निरूपण ही है। सर्जनात्मक अनुभूति की चारुता को सम्प्रेषित करने वाला सटीक शब्द ही काव्य है। गोस्वामीजी का पक्ष है :

"भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ, राम नाम बिनु सोह न सोऊ।"

अर्थात् सुकवि कृत 'विचित्र या वक्रभणिति' ही क्यों न हो, पर काव्य के लिए जिस तरह की 'चारुता' का होना आवश्यक है वह आध्यात्मिक चेतना के संस्पर्श के बिना सम्भव नहीं है। काव्योचित चारुता का स्रोत आध्यात्मिक चेतना है। हाँ, वह अनुभूति के स्तर की हो, मात्र बौद्धिक स्तर की नहीं। रचयिता ने उसे जिया हो, तभी उसके शब्दबद्ध समुच्छलन में पाठक को रस आएगा, उसका आनन्दवर्धन होगा, ज्ञानवर्द्धन तो होगा ही। रचयिता बड़े आत्मविश्वास के साथ कहता है :

"इस पर भी यदि/तुम्हें/श्रमण-साधना के विषय में/और

अक्षय सुख-सम्बन्ध में/विश्वास नहीं हो रहा हो/तो···फिर अब
अन्तिम कुछ कहता हूँ/कि,/क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से
मैं जहाँ पर हूँ/वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी
सही-सही पहचान/क्योंकि/ऊपर से नीचे देखने से/चक्कर आता है
और/नीचे से ऊपर का अनुमान/लगभग गलत निकलता है।
इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंज़िल पर!" (पृ. ४८७-४८८)

रचयिता की साहित्य विषयक अवधारणा

गोस्वामी तुलसीदास, जो नाभादास के शब्दों में 'कलिकुलजीवनिस्तारहित वाल्मीकि के ही, आदि कवि के ही, अवतार हैं'–की परम्परा में मुनि विद्यासागर की भी साहित्य स्वरूप विषयक अवधारणा को दृष्टिगत करें। उनका पक्ष है – साहित्य सहित का भाव है और 'सहित' में 'हित' निहित है :

"अर्थ यह हुआ कि/जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

रचयिता 'स्वभाव-सुख' को सुख कहता है। वही जीवन्त और शाश्वत साहित्य में व्याप्त सुगन्ध है जिससे रहित होने पर सुकवि कृत भणिति 'विचित्र' होकर भी सारहीन शब्द-झुण्ड है।

रचयिता जिस शान्त रस को रसराज मानता है, उसे शब्दबद्ध कर रहा है, पर 'शान्त' की पार्यन्तिक अनुभूति वाग्बद्ध नहीं हो सकती। उसकी संघर्षमय साधनावस्था ही शब्दबद्ध हो सकती है। 'दशरूपक' और उसके टीकाकार धनिक धनंजय कहते हैं :

"न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥" ४/४६॥

शान्त रस आत्मस्वरूपावस्थिति है, अतः स्वरूपतः वह अनिर्वचनीय है, अतः उसके उपाय का ही वर्णन और आस्वाद हो सकता है।

प्रस्तुत कृति शान्त रस की संवेदना का रूपान्तरण है

आलोच्य ग्रन्थ में शान्त रस स्वरूप 'स्वभाव-सुख' की मंज़िल तक पहुँचने के लिए संघर्षशील, तपोरत सम्भावना-मयी माटी, जो घट का उपादान है, की ही तो आत्मकथा कही गई है। घट का उपादान माटी महासत्ता माँ धरती का ही अंश है। इसीलिए रचयिता स्थान-स्थान पर धरती के व्याज से उस महासत्ता का स्तवन करता है और गगन से भी अधिक उस माता धरती की महत्ता का ख्यापन करता है। यही विराट् मातृ सत्ता ही इस काव्य का वर्ण्य है। जिस प्रकार रामायण में 'राम', महाभारत में 'वासुदेव' और रामचरितमानस के आदि, मध्य तथा अवसान में 'राम' का ही यशोगान है, उसी प्रकार यहाँ भी मातृ सत्ता विराट् चेतना - विराट् सत्ता - व्यापक सत्ता ('धरती' से व्यंजित प्रस्तुत) का यशोगान है। इस प्रकार यह प्रतीक काव्य है, घटोपादान माटी उसी का अंश है। यह घट ईश्वरत्व पर्यवसायिनी सम्भावना वाले

साधक जीव का प्रतीक है। इसीलिए व्यास ने 'नरत्वं दुर्लभं लोके' कहा है।

कवित्व के उच्छलन का स्रोत–प्रतीक पद्धति

शान्त का स्थायी भाव शम या निर्वेद है जो 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' है। वाच्य रूप में घट से व्यंजित प्रतीयमान तपोरत साधक ही उस शम नामक स्थायी भाव का आश्रय है। कंकर अजीव, कर्ममय पौद्गलिक परमाणुसंघात के प्रतीक हैं, जिनसे सम्पृक्त होकर जीव 'स्वभाव' को विस्मृत किए हुए है और विभावाभिमानी बनकर दुःख भोग रहा है। माँ धरती का होनहार पुत्र घट अपनी माँ से जो 'श्रुत' सुनता है, आस्था की नासा से उसकी पूरी सुगन्धि लेता है, और तब खुला हुआ गन्तव्य का रास्ता ही उसका शास्ता बन जाता है, घट की पात्रता अपनी अदम्य अभीप्सा से आचार्य कुम्भकार को खींच लाती है, जो निमित्त बन जाता है उपादान की सम्भावनाओं को उपलब्धि बनाने में। तीसरे और चौथे खण्डों में वर्णित संघर्ष पर दृढ़ आस्था और विश्वास विजय पाती है। घट तो जीवन मुक्त होता ही है, आचार्य के प्रति आत्मदान करता हुआ, उससे जुड़ा हुआ सेठ परिवार भी दुःख सरिता का सन्तरण कर जाता है। सभी अरिहन्त का साक्षात्कार कर लेते हैं। यह सब समस्त तृष्णा या कषायक्षय के बिना– घाति कर्मक्षय के बिना सम्भव नहीं है। यही समस्त तृष्णाक्षयसुखात्मा शम की शान्त में निष्पत्ति है। 'काव्यप्रकाश'कार कहता है :

"स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।" (२/५)

अर्थात् व्यवहार और शास्त्र में शब्द वाचक और लाक्षणिक होते हैं, परन्तु 'अत्र' अर्थात् काव्य में 'व्यंजक' होते हैं। इस प्रकार व्यंजक या प्रतीक को माध्यम बनाकर वर्ण्य का उपगूहन कवित्व का प्रबल स्रोत है। भारतीय परम्परा में रहस्य के उपस्थापन की यही पद्धति है। कवित्व के इतने बड़े स्रोत के जागरूक होते हुए भी जिन्हें यहाँ कवित्व लक्षित नहीं होता, उनके विषय में क्या कहा जाय ?

"नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति।"

'लोचन'कार काव्य को 'ललितोचितसन्निवेशचारु' कहता है और पण्डितराज जगन्नाथ 'समुचिताललितसन्निवेशचारु' कहते हैं। वही शब्दार्थसन्निवेश ललित और उचित है, फलतः 'चारु' है, काव्य है, जो रसानुरोधी है। लालित्य का आधान रसानुरोध से ही होता है और उसी के अनुरोध से औचित्य का निर्धारण भी होता है। यह लालित्य काव्य की जिस भावक भाषा में होती है उसमें रस भावकता का आधान गुण और अलंकार मण्डन से होता है। शान्त रस होने से माधुर्य गुण तो है ही, अलंकार की बात हम आगे करेंगे। अलंकारों में एक अलंकार है-'निरुक्ति' जो व्युत्पत्ति मूलक चमत्कार का मुखापेक्षी है। यह अलंकार तो रचयिता की पहचान बन गया है। इस प्रकार आलोच्य कृति की भाषा शास्त्रभाषा नहीं है, वह अभिधात्मक नहीं है। कहीं क्वचित्, विशेषकर जब कोई पात्र मान्यताओं का वर्णन कर रहा हो, तो वहाँ की भाषा अभिधात्मक हो सकती है, पर कृति को उसकी अखण्डता में देखना चाहिए न कि काटकर एकदेश में। साहित्यदर्पण-कार ने कहा है कि महाकाव्य की आस्वादधारा में नीरस प्रसंग भी सरस हो उठते हैं।

शम की पुष्टि

कहा जा सकता है कि जिस शान्त को संवेदना मानकर प्रस्तुत कृति को उसका रूपान्तर कहा जा रहा है, उसका स्थायी भाव 'शम' चेतन में ही सम्भव है। घट चेतन कहाँ है ? अतः शम की स्थिति न होने से शान्त की संवेदना अचेतन पात्र में कैसे रखी जा सकती है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि घट अप्रस्तुत है। प्रस्तुत तो साधक जीवात्मा ही है, जो शान्त की स्थिति में पहुँचने के लिए शम या निर्वेद का अन्तस् में अवस्थान करता है। आरम्भ में ही वह माँ धरती

से अपनी व्यथा-कथा प्रस्तुत करता है। उसमें विषय के प्रति विराग भाव ही तो है। स्वरूपायत्ति लक्षण शान्त की स्थिति में जाने की अदम्य अभीप्सा का इज़हार करता है सम्भावना के रूप में 'माटी' में निहित घट। माटी कहती है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

कृति के अन्त में वही माँ सत्ता 'शान्त' रस में प्रतिष्ठित घट साधक को सम्बोधित करती हुई कहती है :

"···सो/सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।"(पृ. ४८३)

निष्कर्ष यह कि आलोच्य कृति में कवित्व के विभिन्न स्रोत विद्यमान हैं। यह अवश्य है कि यह सन्तों का काव्य है जहाँ मूल्यगान की चेतना उदग्र रहती है, आध्यात्मिक चेतना की सुगन्ध आद्यन्त व्याप्त रहती है, वही 'हित' है, उससे युक्त अर्थात् 'सहित' का ही भाव यहाँ साहित्य की अपेक्षित शर्त है। रसराज से भिन्न शान्तेतर रस की पार्यान्तिक अनुभूति सम्भव है। अतः जिस प्रकार विभावादि समग्र अंगों की योजना प्रीत्युत्पादक ढंग से वहाँ सम्भव है, वैसा शान्त रस को अंगी बनाकर नहीं। यहाँ उपाय का ही वर्णन सम्भव है, जैसा कि धनञ्जय ने 'दशरूपक' में कहा है। दूसरे शैली-विज्ञान कहता है कि अ-काव्यभाषा से काव्यभाषा के व्यावर्तक चार लक्षण हैं :

१. विचलन (Deviation) (विपथन भी) २. सादृश्य (Analogy)

३. चयन (Selected Word) (उपयुक्त शब्द) ४. समान्तरता (Foregrounding)

शैली विज्ञान का साक्ष्य

'मूकमाटी' की भाषा में 'घट' को जीवात्मा का प्रतीक बनाकर आद्यन्त एक कथा प्रस्तुति 'विचलन' का ही उदाहरण है। परम्परा में ऐसा कहीं नहीं मिलता, विशेषकर जैन मुनियों की प्रबन्ध काव्य परम्परा में। नई उपलब्धि के लिए पुराने को तोड़ना भी रचना की एक विशिष्ट उपलब्धि है। प्रकीर्णक रूप में भाषा पर विचार करते हुए आगे इस या इन बिन्दुओं पर अधिक कहा जायगा।

सादृश्यमूलक अलंकारों का स्वतःस्फूर्त विनियोग

प्राचीन शब्दावली में यह 'समुचितललितसन्निवेशचारु' काव्यभाषा से मण्डित होने के कारण इसे 'काव्य' कहने में मुझे कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। जिस रोचक और रमणीय भाषा में अनुभव की अभिव्यक्ति यहाँ है, है वैसी भाषा में किसी शास्त्र की संरचना ? कहीं-कहीं तो ऐसे 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' अलंकारों का प्रवाह उफन पड़ा है कि 'कादम्बरी' की महाश्वेता के विलाप की भाषा याद आ जाती है। इस सन्दर्भ में अन्तिम खण्ड का वह प्रसंग देखा जा सकता है, जिसमें "घर की ओर जा रहा सेठ···"(पृ.३५० से ३५२ तक) की दशा का विवरण देने के लिए अप्रस्तुतों की माला उफन पड़ी है। तीसरे खण्ड के संवाद को पढ़ें तो उसके पीछे निहित भाव-प्रवाह का आवेग भावमग्न कर देता है। दृश्यकाव्य की अपेक्षा महाकाव्य की संरचना शिथिल होती है। उसमें प्रसंगवश समागत सन्दर्भ अनपेक्षित विस्तार पा जाते हैं। अनुपात में स्वल्प शब्द क्रीड़ा या संख्या क्रीड़ा से समग्र प्रबन्ध अधम कोटि का या प्रहेलिकाप्राय हो जायगा ? मुझे ऐसा नहीं लगता। 'लगना' है भी आत्मनिष्ठ प्रतिक्रिया। सबका 'लगना' अलग-अलग होता है। हाँ, 'लगना' से 'होना' अवश्य भिन्न है।

काव्यरूप का विचार—महाकाव्य

कवित्व या काव्य की प्रकृति की दृष्टि से देख लेने के बाद सम्प्रति 'महाकाव्य' के निकष पर इसकी परीक्षा की

जानी चाहिए। अनेक समीक्षकों ने इसे जैसे-तैसे 'काव्य' तो मान लिया है, परन्तु 'महाकाव्य' नहीं माना है। निश्चय ही उन समीक्षकों के मानस पर जो मानदण्ड अंकित हैं, वे पारम्परिक महाकाव्यों से निर्गत साँचे या लक्षण हैं। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' को लेकर भी ऐसी ही कशमकश चली थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो उसके प्रबन्धत्व पर ही कड़ा प्रहार किया है और उसे प्रगीतों का समुच्चय घोषित कर दिया है। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उसे 'एकार्थ काव्य' कहा है, परन्तु डॉ. नगेन्द्र ने उसमें निहित 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' को देखकर, विभिन्न घटकों में निहित औदात्त्य को देखकर उसे छायावादी पद्धति का महाकाव्य कहा है। प्रचलित मंचों पर अपने नाटकों को अनभिनेय घोषित करने वालों से प्रसादजी ने कहा था कि नाटक के लिए मंच बनाया जाना चाहिए, न कि मंचों के बने-बनाए ढाँचों के अनुरूप नाटक बनाए जाने चाहिए। यदि पूर्व प्रचलित साँचों में ही सर्जना सिमट कर रह जाय तो उसकी प्रगति किस प्रकार सम्भव है ? अतः समुचित यही है कि पारम्परिक साँचे को तोड़ कर युगीन संवेदना से परिचालित रचना में यदि 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' है, तो तदनुरूप नया साँचा भी बनाया जाना चाहिए। 'मूकमाटी' के महाकाव्यत्व की परीक्षा स्वयं उससे निर्गत मानदण्ड पर किया जाना समुचित होगा। यह कहना कि इस प्रकार अराजकता फैलेगी, लोग नए-नए साँचों के अनुरूप महाकाव्य लिखने लगेंगे, तो पहली बात यह है कि ऐसा हो भी तो सही। 'मूकमाटी' की भाँति नए मानदण्डों वाली रचनाएँ महाप्राण रचयिता ही कर सकते हैं, आम आदमी से सम्भव नहीं है, फलतः अराजकता का सवाल ही नहीं उठता। ऐसे प्रयास सम्भावनामयी रचना के विविध आयाम अनावृत करते हैं।

पारम्परिक साँचा—महाकाव्य के अनिवार्य घटक 'महत्त्व' और 'काव्यत्व'

कह सकता है कोई कि इसमें 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' नहीं है? क्या इस काव्य का लक्ष्य जो 'अपवर्ग' है, उससे भी महत्तर लक्ष्य हो सकता है ? काव्यत्व की बात ऊपर की ही गई है। 'तुस्यतु दुर्जनन्याय' से पहले पारम्परिक साँचे को ही लें। पारम्परिक साँचे के लिए निम्नलिखित उपकरण अपेक्षित हैं :

१. इसमें जीवन का सर्वांगीण चित्रण होना चाहिए।
२. इसमें एक या अनेक नायक हों। वे प्रख्यात राजवंशी हों और धीरोदात्त हों।
३. इसमें मंगलाचरण हो।
४. आठ या उससे अधिक सर्ग हों।
५. दिवा, रात्रि, पर्वत आदि का वर्णन हो।
६. सर्ग में एक ही छन्द हो, पर अन्त में छन्द परिवर्तन हो।
७. सभी सन्धियाँ हों, फलतः प्रख्यात या लोक प्रसिद्ध कथा हो।
८. वीर, शृंगार अथवा शान्त में से एक रस हो, जो अंगी हो।
९. सज्जन-असज्जन की स्तुति और निन्दा हो।

इन लक्षणों में स्पष्ट ही दो वर्ग हैं— बहिरंग और अन्तरंग। बहिरंग में— (क) मंगलाचरण (ख) सर्ग की संख्या का नियम (ग) छन्द सम्बन्धी नियम का समावेश किया जा सकता है। 'कामायनी' या 'प्रिय प्रवास' में मंगलाचरण नहीं है। जिन-जिन महाकाव्यों में वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण कहा जाता है, उसमें कोई ठोस प्रमाण नहीं है। सर्ग की संख्या 'रामचरितमानस' पर ही लागू नहीं होती। छन्दों का अन्त में बदलना भी ऐसा ही बहिरंग लक्षण है। अन्तरंग लक्षणों में नवम को छोड़कर शेष आ सकते हैं।

महाकाव्य का लक्षण

'साहित्यदर्पण'कार कहता है :

"सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।
...क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम् ।
...सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोग्यं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥"

इस उद्धरण से निर्गत आवश्यक-अनावश्यक घटकों का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। लक्षण लक्ष्य से निकाले जाते हैं, इसीलिए काव्यशास्त्र 'काव्यानुशासन' भी कहा जाता है। यह शासन या शास्त्र काव्यानुधावी होता है। शास्त्र 'शंसन', 'शासन' और 'अनुशासन' - तीनों के कारण भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में परिभाषित होता है।

सम्प्रति आलोच्य कृति पर पारम्परिक साँचे के घटकों का संचार करना चाहिए।

आलोच्य कृति की संक्षिप्त कथावस्तु

पारम्परिक साँचे के अनुसार कथावस्तु में आधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथाएँ होती हैं। प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है – पताका और प्रकरी। पहली दूर तक चलती है और दूसरी अल्पदेशव्यापी होती है। इसमें आधिकारिक कथा उस मूकमाटी की है जिसमें घट रूप में परिणत होने की सम्भावना है।

अधिकार का अर्थ है–फलस्वाम्य - मुख्य फल। यह मुख्य फल जिसे प्राप्त हो, वह अधिकारी कहा जाता है और इससे सम्बद्ध कथा आधिकारिक है। यहाँ मुख्य फल है 'अपवर्ग,' जिसे घट प्राप्त करता है। इस प्रयोजन की प्राप्ति में नेतृत्व या प्रयास उसी का है, अतः उसे ही अधिकारी माना जाना चाहिए। इसकी कथा आद्यन्त चलती है। प्रत्येक खण्ड में उसकी कथा प्रमुख है। यह बात अलग है कि अवान्तर प्रसंग प्रचुरता से आते हैं जिससे मूल कथा का प्रवाह बाधित होता है। कथा के प्रवाह में सहज ही प्रसंगान्तर का फूट पड़ना एक बात है और सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के उपस्थापन के लोभ से प्रसंगान्तर बढ़ाते चलना दूसरी बात है। यहाँ दूसरी प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है।

ग्रन्थ के चार खण्डों में कथावस्तु विभाजित है :

[क] संकर नहीं : वर्ण-लाभ।

[ख] शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।

[ग] पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।

[घ] अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।

काव्य जब अपनी समग्रता में रूपक, अन्योक्ति अथवा अन्यापदेश का बाना धारण करके आता है, तब अनेक प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। 'कामायनी' को भी इन समस्याओं से जूझना पड़ा है और उसका काव्यत्व व्याहत हुआ है। सबसे पहली समस्या यह आती है कि अप्रस्तुत आख्यान की प्रस्तुत वृत्त पर आद्यन्त संगति कैसे बिठाई जाय? कथावस्तु की परिकल्पना में रचयिता ने अपना प्रस्थान पृथक् कर लिया है, परन्तु मान्यताएँ कैसे पृथक् कर सकता है?

प्राचीन युग में 'उपलब्धियों' पर महाकाव्य लिखे जाते थे। कारण यह था कि तब व्यक्ति 'उपलब्धि' बनकर हमारे सामने विद्यमान थे। आधुनिक युग के बुद्धिवाद ने हमें संशयग्रस्त करके 'अज्ञ' और 'अश्रद्धालु' बना दिया है। औसतन हमारा अधिकांश अ-निष्ठा प्रस्थान का अनुवर्ती बन गया है। आम आदमी की चेतना पूरी तरह किसी से नहीं जुड़ पा रही है। इसलिए यह युग बौनों का युग कहा जा रहा है। ऐसे समय में चिन्तक का ध्यान 'उपलब्धि' से हट कर 'सम्भावना' पर केन्द्रित होता जा रहा है जो प्रतिपदार्थ और व्यक्ति में विद्यमान है। 'सम्भावना' जब 'उपलब्धि' बनने की दिशा में अग्रसर होती है तब उसे मूल्यों और मान्यताओं को जीना पड़ता है और ऐसे में अपमूल्यों से संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में वही विजयी बन सकता है जो दृढ़निष्ठा वाला होता है। रचयिता ने इसीलिए परम्परा से हटकर अपने काव्य का नायक उस मूकमाटी को बनाया है, जो पद दलिता है, जिसमें ऊर्ध्वगामी सम्भावनाओं से भरे हुए घट को अनुरूप निमित्त पाकर उभरने की सम्भावना है अथवा जिसमें घटात्मक परिणाम की सम्भावना है।

प्रस्थान पार्थक्य के कारण उत्पन्न समस्याएँ

प्रस्थान पार्थक्य के साथ अपनी बात कहने के लिए रचयिता को अन्यापदेश की पद्धति पकड़नी पड़ी। जैनेतर महाकाव्यों में उन मूल्यों और मान्यताओं से मण्डित नायकों की कथा कही गई है जिनसे व्यवहार या लोक और समाज का सन्धारण होता है किन्तु प्रथमानुयोग के अन्तर्गत पारम्परिक जैन रचनाकारों ने इससे आगे बढ़कर पारमार्थिक लक्ष्य की उपलब्धि में अभिरत शलाका पुरुषों का चरित्र चित्रित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने अपनी परम्परा से सम्पृक्त रहकर भी युगीन संवेदना के प्रभाव में महाकाव्य लेखन की पद्धति बदल दी है और इससे कई कठिनाइयाँ भी उभरी हैं। एक ओर प्राचीन और पारम्परिक साँचे के संस्कारी समीक्षक झल्ला उठे हैं और दूसरी ओर सहानुभूतिशील समीक्षकों को भी अप्रस्तुत और प्रस्तुत के आद्यन्त संगति में कठिनाई उठ खड़ी हुई है। उदाहरणार्थ, पहले खण्ड में ही देखें—उपादान कारण स्वरूप 'माटी' में विजातीय कंकर का सांकर्य जलधारण करने योग्य घटात्मक सत्पात्र के निर्माण में बाधक है। अतः 'वर्णलाभ' करने के निमित्त 'सांकर्य' का हटाया जाना आवश्यक है। इसलिए निमित्त बनकर कुम्भकार शिल्पी को यह कार्य करना ही है। इस अन्यापदेशिक आख्यान में 'अजीवगत' दोष का अप्रस्तुत 'कंकर' है और 'जीव' का 'घट', जो अभी 'माटी' में सम्भावना बना हुआ है, आकारतः अव्यक्त है। कुम्भकार सद्गुरु का प्रतीक या अप्रस्तुत है, जो सत्पात्र के रूप में 'घट' का निर्माण करता है। परन्तु समापन के सन्दर्भ में वह कुम्भकार अपने को ऋषि-सन्तों का जघन्य सेवक मानता है तथा कुछ ही दूरी पर पादप के नीचे पाषाण-फलक पर आसीन नीराग साधु को इंगित करता है। आपाततः सन्देह होता है कि यदि घट बद्धजीव का आरम्भ में प्रतीक है तो 'धरती' और 'माटी' किसके प्रतीक हैं? वे किस प्रस्तुत की व्यंजना कर रहे हैं? वास्तव में यह शंका निर्मूल है। माटी तो धरती जैसी महासत्ता का अंश ही है और 'घट' उसका पर्याय है, भिन्न नहीं। वह तो माटी में ही सम्भावित की निमित्त-सापेक्ष दशा विशेष है, भिन्न नहीं। ग्रन्थ का 'माटी' और 'कुम्भकार' से शुभारम्भ जैन दर्शन की 'उपादान' और 'निमित्त' जैसे उस सिद्धान्त को आत्मगत करके चलना है, जिसमें संसार के कर्ता जैसे पृथक् ईश्वर की परिकल्पना का निषेध है। कथाधारा वर्णन और संवाद के सहारे आगे बढ़ती है। माटी की अभीप्सा में इतना वज़न है कि शिल्पी, जो सद्गुरु का प्रतीक है, स्वयं चला आता है। वह करुणासागर है। साधक की तड़प उसे खींच लाती है। निर्माता शिल्पी कुदाली चलाकर, माटी को गधे पर लादकर उपाश्रम में लाता है, जहाँ माटी छानी जाती है एवं कंकर अलग किए जाते हैं। तदनन्तर कूप से बालटी में पानी बाहर लाया जाता है। बालटी जिस रस्सी में बँधी है, उसमें ग्रन्थि है, जो प्रयत्नपूर्वक खोल ली जाती है। इससे पानी भरी बालटी सुकरता से ऊपर आ जाती है। प्रथम खण्ड की कथा इतनी ही है।

समाधान

यहाँ आशंका पुनः शिर उठाती है कि जीव विजातीय अजीव पौद्गलिक कर्म से आवृत होने के कारण अनादिकाल

से संकीर्ण स्वरूप है। शिल्पी इस सांकर्य से घट को अलग कर देता है। फलतः वह असंकीर्ण होकर शुद्ध वर्णलाभ कर लेता है। इस तरह जब वह शुद्ध वर्णलाभ कर लेता है, तब लक्ष्य प्राप्ति हो जाती है और जब लक्ष्य प्राप्ति हो गई तब कथा सूत्र को समाप्त हो जाना चाहिए। आगे की कथा क्यों बढ़ाई जाय? इसका समाधान यह है कि अभी आंशिक मल ही समाप्त हुआ है। कंकर संयोगज विकार का ही प्रतीक है। आंशिक मल या कषाय अभी भी शेष है जिसे तप की अग्नि में और जलाना है और जलने-जलाने का यह क्रम लम्बा चलता है तब कहीं 'घट' शुद्ध स्व-भाव में प्रतिष्ठित होता है। अतः कथासूत्र को आन्तरालिक संघर्ष के प्रतीक रूप में और बढ़ाना ही है।

इस प्रसंग में 'संकर' और 'वर्ण' शब्दों की तह में एक और अर्थ की झलक मिल सकती है। 'संकर' दोष क्रमागत 'वर्ण-व्यवस्था' में 'वर्ण' से परस्पर भिन्न माता और पिता से उत्पन्न सन्तति में भी होता है, जो उसी जन्म में नहीं हट सकता। इसके लिए जन्मान्तर आवश्यक है। अतः इस आशय से ग्रस्त संकीर्ण वर्णवादी को आपत्ति हो सकती है कि उसी जन्म में शिल्पी ने माटी का सांकर्य कैसे हटा दिया ? परन्तु रचयिता की निम्नलिखित पंक्तियों के साक्ष्य पर स्पष्ट है कि उसने 'वर्ण' शब्द का प्रयोग 'शील' के अर्थ में किया है :

"इस प्रसंग से/वर्ण का आशय/न रंग से है
न ही अंग से/वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

साथ ही 'संकर' शब्द पर (अजीव) संसर्ग-जन्य विकार के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः सन्त – सद्गुरु के संसर्ग से उसका निरसन सम्भव है। इन्हीं अर्थों में प्रस्तुत काव्यगत प्रयुक्त 'वर्ण' और 'संकर' को लेना चाहिए, न कि संकीर्ण और निहित स्वार्थी दृष्टि से अन्य आरोपित अर्थ।

शेष कथावस्तु

द्वितीय खण्ड में शोधित मृत्तिका का जल से, छाने हुए जल से, सेचन होता है। रौंदी जाकर माटी लोंदे का आकार ग्रहण करती है। लोंदा चक्र पर चढ़ाया जाता है और घट का आकार ग्रहण करता है। इसके बाद वह तपन में सुखाया जाता है। इस ताप या तप से कुछ विकार और भस्म होते हैं। तपस्या का क्रम तृतीय खण्ड में और उग्र होता है। यहाँ पुण्य का पालन और पाप का प्रक्षालन होता है। कुम्भकार हट जाता है। प्राकृतिक उपसर्गों की बदली, बादल के प्रतीकों से घट की आस्था की गहन परीक्षा की जाती है। आस्था के दृढ़ होने से घट डिगता नहीं। फलतः प्रकृति की कुछ शक्तियाँ बाधक बनती हैं तो कुछ सहायक भी बन जाती हैं। इस तरह उसकी परीक्षा होती है। शिल्पी इस परीक्षा सागर के सन्तरण से प्रसन्न होकर पुनः समीप आ जाता है और उसे छाया देता है। ये सभी विघ्न परीषह और उपसर्ग के अप्रस्तुत विधान हैं। तपस्या की पराकाष्ठा , जिससे माँ धरती का भी दिल दहल उठता है, चतुर्थ खण्ड में आती है। नियम-संयम के सम्मुख यम भी घुटने टेक देता है। नभश्चर और सुरासुर भी हार जाते हैं। तपन से प्रतप्त घट और परिपक्व हो गया है, पर अभी विकार और शेष हैं। अवा की आग उसके काष्ठापन्न तप का प्रतीक है जो सारे विकारों को सुखा डालता है। कषाय निःशेष हो जाता है। यह तप ही विकार दाह में कारण है। कारण को अव्यवहित पूर्व, प्रतिबन्धकरहित और सामग्रय सम्पन्न होना चाहिए, तभी कार्य होता है। तपस्या इन सभी अप्रस्तुतों से समग्र होती है। अब वह पूर्ण पक्व है। उसमें अब (जलधारण की) पात्रता सही अर्थों में आती है। सद्गुरु के चरणों में समर्पण का पूर्ण भाव आ जाता है। 'स्व-भाव' में प्रतिष्ठित हो जाता है और तब उसमें वह अनन्त बल आ जाता है जब अपने उपासक को भी अपने से जोड़ कर भवसरिता पार करा देता है। कहा जा सकता है :

□ *"तैरते-तैरते पा लिया हो/अपार भव-सागर का पार !"* (पृ. २९८)

□ *"यूँ ! कुम्भ ने भावना भायी/सो, 'भावना भव-नाशिनी' !" (पृ. ३०२)*

यहाँ प्रतिपाद्य के समाप्त होने से ग्रन्थ को समाप्त हो जाना चाहिए, आगे क्यों ? मैं समझता हूँ कि परिपूर्णता के चार चरण हैं- अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण। आगे की कथा प्रचारण– लोक कल्याण है। सम्भव है इसलिए कथा आगे बढ़ाई गई है। अध्यात्म की यह यात्रा वृत्ताकार है। जहाँ से प्रस्थान हुआ था, वहीं वह पहुँचता है, पर परिवेश या भाव वह नहीं है। पहले वह बद्धावस्था में था, अब मुक्तावस्था में है। अब कषाय के न होने से भोग बन्ध का निमित्त नहीं बन रहा है। अब वह मिथ्यादृष्टि नहीं, सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि का भोग नई वासना पैदा नहीं करता। विपरीत इसके वह पूर्व कर्म को शान्त करता है और नूतन पैदा नहीं होने देता। मतलब यह कि सम्यग्दृष्टि का कर्मभोग निर्जरा ही नहीं, संवर का भी कारण बनता है। यह साधक की कर्मभोग से कर्मयोग तक की वृत्तात्मक यात्रा है, पर पहला कर्मभोग मिथ्यादृष्टि का था और दूसरा कर्मभोग सम्यग्दृष्टि का है। बालटी की मछली की यात्रा भी तो ऐसी ही वृत्ताकार यात्रा है। कूप से बालटी द्वारा बाहर आकर पुनः उसी बालटी से उसी कूप जल तक। अन्तर यही है न कि पूर्व भावना और परवर्ती भावना में अन्तर है।

कथावस्तु के दो भेद–आधिकारिक और प्रासंगिक

सम्प्रति, कथावस्तु की अन्य महाकाव्योचित विशेषताओं की ओर भी दृष्टिपात करना है। आधिकारिक कथा का संक्षेप ऊपर दिया जा चुका है। सम्प्रति, प्रासंगिक कथाओं की समीक्षा प्रसंग प्राप्त है। प्रासंगिक कथाओं में 'पताका' का लक्षण चौथे खण्ड में सेठ-प्रसंग पर घटित होता है और पुंखानुपुंख रूप से घटित होने वाली घटनाओं को 'प्रकरी' के अन्तर्गत ही लिया जा सकता है, जैसे कि प्रथम खण्ड की मछली की कथा है। 'प्रासंगिक कथा' का लक्षण 'दशरूपक'कार धनंजय द्वारा इस प्रकार दिया गया है :

"प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।" (१/१३, पृ.४)

प्रासंगिक कथा वह होती है जो प्रवाह में आई हो मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए, परन्तु प्रसंगतः उसका प्रयोजन सम्पन्न हो गया हो। आलोच्य ग्रन्थ में आधिकारिक कथा घट की है। उसी प्रसंग से मछली का भी प्रसंग आ गया है और मुक्ति रूप अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो गया है। सेठ की कथा लम्बी चलती है, अतः उसे पताका कथा कहा जा सकता है। 'दशरूपक'कार ने कहा है :

"सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥" (१/१३, पृ.४)

चौथे खण्ड में अवा से बाहर कुम्भ के आते ही सेठ को स्वप्न आता है कि उसने अपने ही प्रांगण में हाथों में माटी का कुम्भ लिए महासन्त का स्वागत किया है। स्वप्न को धन्यवाद देता हुआ सेठ सेवक को कुम्भकार के पास कुम्भ लाने के लिए भेज देता है। इस प्रकार आधिकारिक कथा से प्रसंगतः सेठ जुड़ जाता है और इस खण्ड के अन्त तक दोनों कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। सेठ से कुम्भ को और कुम्भ से सेठ को सार्थकता प्राप्त होती है। कुम्भ का मूल प्रयोजन सेठ से सधता है। अतः उसकी स्थिति स्पष्टतः ही 'परार्थ' है, पर साथ ही प्रसंगतः उसका स्वार्थ भी सिद्ध हो जाता है। कुम्भ उसे भी अपने साथ भव सरिता का सन्तरण करा देता है। एक मुक्त दूसरे को भी मुक्त करा देता है। 'मानस' की आधिकारिक राम कथा में जो स्थान पताका नायक सुग्रीव का है, वही यहाँ सेठ का है।

आलोच्य कृति में प्रासंगिक कथाएँ

प्रथम खण्ड में 'मछली प्रसंग' और तृतीय खण्ड में 'मुक्तावृष्टि प्रसंग' स्वल्पदेशव्यापिनी घटनाएँ हैं। फलतः

इन्हें प्रकरी के अन्तर्गत लिया जा सकता है। यह अवश्य विचारणीय है कि ये दोनों प्रसंग प्रसंगत: प्राप्त तो हैं, पर इनसे आधिकारिक कथा का क्या उपकार हुआ है ? प्रासंगिक कथाओं में तीन शर्तों का निर्वाह होना चाहिए– प्रसंगत: सहज विकास, दूसरे 'परार्थ' और तीसरे 'स्वार्थसिद्धि'। यहाँ प्रसंगत: दोनों घटनाएँ घटती हैं। पहली शर्त स्पष्ट है। जहाँ तक 'परार्थता' अर्थात् नायक घट के प्रयोजन सिद्धि में सहकार का सम्बन्ध है, 'मछली प्रसंग' की घटना पर उतना लागू नहीं होता। एक तो कूप में मछलियों का झुण्ड कदाचित् ही कहीं होता हो, दूसरे अपवाद स्वरूप कहीं हो भी तो इस मछली प्रसंग का घट नायक की आधिकारिक कथा से कोई सीधा उपकारक सम्बन्ध नहीं जुड़ता। एक तो तब तक उपादान माटी का वह पर्याय ही स्व-सत्ता-आसादन नहीं कर सकता है, प्रक्रिया अवश्य चल रही है। मछली का अपना परमार्थ अवश्य सिद्ध हो जाता है। कल्पना की जाय कि यदि यह प्रसंग न भी होता तो घट नायक का मूल या अवान्तर प्रयोजन कहाँ विघटित होता अथवा उससे क्या सहकार मिलता ? ऐसी कथा जिसका आधिकारिक कथा पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं होता, असम्बद्ध ही मानी जायगी। अन्वय-व्यतिरेक से भी उसकी हेतुता सिद्ध नहीं होती। प्रबन्ध में इ असम्बद्धता खटकती है। लगता है कि एक सैद्धान्तिक मान्यता का उपस्थापन करने के लोभ में यह प्रसंग खिचड़ी की तरह आधिकारिक कथा में ऊपर से थोप दिया गया है। माटी से जो घट पर्याय रूप में उभरता है उसमें जल तो निमित्त है, पर मछली का योगदान क्या है ? इस प्रकार मछली न तो घट के उभरने में और न ही उसके द्वारा सम्पाद्य मुख्य-गौण प्रयोजनों में अपना कोई योगदान करती है। दूसरा प्रसंग है – मुक्तावृष्टि का। तृतीय खण्ड की यह प्रासंगिक कथा तपोनिष्ठ कुम्भ का परीक्षा प्रसंग है। जड़धी जलधि कुम्भकार की अनुपस्थिति में कुम्भ का अस्तित्व मिटाने के लिए बदलियों को भेजता है, पर प्रभाकर अपने प्रवचन से उनका हृदय परिवर्तन कर देता है। वे पति के प्रतिकूल वचन का तिरस्कार कर जगत्पति प्रभाकर की बात मान लेती हैं और उसे नष्ट करने की जगह उस पर-पक्ष की मुक्ता वर्षा से पूजा करती हुई लौट जाती हैं। बात फैलते-फैलते राजपरिवार तक जाती है। मण्डली अनुपस्थित कुम्भकार के प्रांगण में वृष्ट मुक्ताराशि को बलात् लूटती है। मणियाँ जहरीला प्रभाव पैदा करती हैं और अवसर देखकर कुम्भ व्यंग्य करता है। उपस्थित कुम्भकार–करुणालय कुम्भकार परिस्थिति को सूँघ कर समझ लेता है और तत्काल एक तरफ कुम्भ को उसके बड़बोलेपन पर फटकारता है तथा दूसरी ओर प्रजापति को सम्मान देता है, साथ ही बोरियों में मुक्ता भर कर उसके खजाने को समृद्ध कर देता है। यहाँ जल उपादान है, पर उसके मुक्ता रूप में पर्याय बनने का निमित्त क्या है ? निमित्त है पृथिवी कक्ष में उसका आना। यह चमत्कारी घटना है, कुम्भकार की दिव्य महिमा है। इस घटना से आधिकारिक कथा का यद्यपि उतना घनिष्ठ सम्बन्ध तो नहीं, पर मछली-प्रसंग की तुलना में तो है ही। कुम्भकार कुम्भ को उसके बड़बोलेपन का एहसास कराकर उसे मर्यादा में लाता है और साथ ही अपनी उदारता से उसमें अपने प्रति सद्भाव भी पैदा करता है। ये सभी बातें साक्षात्-असाक्षात् आधिकारिक कथा और मुख्य प्रयोजन से जुड़ जाती हैं। लेकिन इसमें मुक्ता अपना कौन सा स्वार्थ या परमार्थ सिद्ध करता है ? प्रासंगिक कथा की यह भी तो एक शर्त है। प्रासंगिक जब आधिकारिक से जुड़ता है तो इस जोड़ में दोनों का स्वार्थ साधन होता है। मुक्ता प्रसंग जैसे-तैसे परार्थसिद्धि से तो जुड़ता है पर आत्मसिद्धि क्या है ? हाँ, मुक्ता में कहीं मुक्ति की आलंकारिक गन्ध मान ली जाय, तो बात दूसरी है अथवा प्रजापति का भाण्डार समृद्ध करने में ही उसकी सार्थकता है।

कथावस्तु में पंचसन्धियाँ

कथावस्तु में अगली बात जो देखने की होती है वह है उसका पंचसन्धि समन्वित होना। सन्धियाँ पाँच हैं– मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श या अवमर्श और निर्वहण। प्रत्येक सन्धि या खण्ड में एक 'अवस्था' और एक 'अर्थ प्रकृति' होती है। अवस्थाएँ भी पाँच हैं और अर्थ प्रकृतियाँ भी पाँच। आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम – ये

पाँच अवस्थाएँ हैं। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य – ये पाँच अर्थ प्रकृतियाँ हैं। अवस्था और अर्थ प्रकृतियों का संचार करने से पूर्व पहले यह देखना आवश्यक है कि कथावस्तु के ये जोड़ सन्तुलित हैं या नहीं ? वैसे इस सन्दर्भ में यह बात पहले कही जा चुकी है कि कथावस्तु का जितना चुस्त-दुरुस्त विधान दृश्यकाव्य में होता है उतना श्रव्य के भेद महाकाव्य में नहीं होता। उसकी कथावस्तु की योजना अपेक्षाकृत शिथिल होती है। अत: आलोच्य कृति में भी सन्धि योजना शिथिल है। कथावस्तु में उसके विकास की सन्तुलित अवस्थाएँ होनी चाहिए। होता यह है कि कथावस्तु तो घटनाओं और व्यापारों की शृंखला है, जो नायक द्वारा सम्पाद्य होती है। इन व्यापारों का एक लक्ष्य होता है, वह चतुर्वर्ग में से अन्यतम या एकाधिक होता है। प्रस्तुत कृति में स्पष्ट ही 'स्व-भाव' में स्थिति या मोक्षलाभ जैसा चौथा पुरुषार्थ ही परम प्रयोजन है। 'माटी' ग्रन्थारम्भ में ही संकल्प लेती है और माँ धरती से प्रार्थना करती है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

और अन्त में :

"सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

संकल्प उसकी पार्यन्तिक परिणति के मध्य सारा व्यापार चलता है। इस व्यापार में 'आरम्भ' अवस्था आती है। यहाँ मात्र औत्सुक्य होता है। औत्सुक्य है - कालाक्षमत्व। प्रयोजन की प्राप्ति के प्रति त्वरा का भाव। 'काया की च्युति कब होगी', के द्वारा वही कालिक व्यवधान की असहिष्णुता व्यक्त होती है। 'दशरूपक'कार कहता है :

"औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ॥" (१/२०)

तदनन्तर फलाभाव नायक को अतित्वरापूर्वक व्यापारशील, प्रयत्नशील बना देता है। 'माटी' का पर्याय घट शिल्पी की कृपा से सत्तासादन में जुट जाता है और तीसरे क्या चौथे खण्ड के आरम्भ तक उसे पूर्ण रूप से जलधारण रूप अर्हता की प्राप्ति के लायक बनने में चला जाता है। ऊपर से लगता है कि नायक अपने परिपक्व और परिणत रूप में चौथे खण्ड में आता है, जो समापन खण्ड है। मतलब प्रयत्नावस्था ही यहाँ तक आती है, पर अन्यापदेशी पद्धति पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होता है कि जीव द्वारा तप:साधना पूर्वक बनने की प्रक्रिया का शुभारम्भ पहले ही खण्ड से आरम्भ हो जाता है, प्रयत्न का विन्यास वहीं हो जाता है। दूसरे खण्ड से 'प्रयत्न' के साथ, उपाय के साथ अपायों का भी आना आरम्भ हो जाता है। अपाय का वेग उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। जल और अनल के हृदयवेधी आँधी-तूफान, जो उपसर्ग और परीषहों के प्रतीक हैं, अपनी काष्ठापन्न स्थिति में आते हैं और साधक का प्रतीक कुम्भ उसमें दृढ़तापूर्वक अटल है और परिणत तथा परिपक्व हो जाता है। लगता है कि अब गला-तब गला, किन्तु पुरुषार्थी को किसी न किसी का अवलम्ब मिल जाता है। अपायों की आँधी में बीज 'गर्भस्थ' हो-होकर 'विमर्श' करता हुआ संकल्पित के 'निर्वहण' के तट पर आ लगता है। उपाय और अपाय का यह लम्बा संघर्ष प्राय: अन्त तक चलता रहता है और 'विमर्श' तथा 'निर्वहण' के लिए आनुपातिक दृष्टि से जो आयाम मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाता। इसे असन्तुलन कहें अथवा शान्त पर्यवसायी आध्यात्मिक यात्रा की गुरुता कहें, जहाँ उपेयदशा की अपेक्षा उपायों का ही वर्णन होता है।

संवाद योजना

यद्यपि ऊपर दिए गए महाकाव्य के पारम्परिक साँचे में स्पष्ट रूप से 'संवाद' जैसे घटक का उल्लेख नहीं है, तथापि यहाँ इस शीर्षक से विचार करने के पीछे दो कारण हैं–एक तो यह कि प्रस्तुत कृति संवाद-प्रचुर है और दूसरे यह

कि महाकाव्य में संवाद होते ही हैं। कारण, इन संवादों से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं – पहला यह कि उससे कथा का विकास होता है और दूसरा यह कि उससे वक्ता या पात्र का चरित्रगत वैशिष्ट्य उद्घाटित होता है। कुम्भकार और वीतराग साधु को छोड़कर अन्य पात्र या तो मानवीकृत हैं अथवा मानव के प्रतीक हैं। सामान्यतः 'संवाद' दृश्यकाव्य की विशेषता माने जाते हैं, पर श्रव्यकाव्य में भी इनका अस्तित्व होता है। अन्तर यह होता है कि दृश्यकाव्य में पात्र-नाम-निर्देश अलग रहता है और संवाद अलग। श्रव्यकाव्य में छन्दोबद्ध काव्य प्रवाह के भीतर ही पात्र नाम का अनुप्रवेश रहता है। दूसरा अन्तर यह होता है कि दृश्यकाव्य जिस सर्जनात्मक अनुभूति का रूपान्तर होता है 'रंग-चेतना' उसका अविभाज्य अंग होती है। श्रव्यकाव्य जिस सर्जनात्मक अनुभूति का रूपान्तर होता है उसमें रंग-चेतना नहीं होती। यहाँ हम श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत 'संवाद योजना' पर विचार कर रहे हैं।

आलोच्य काव्य की विशेषता यह है कि इसमें घटना व्यापार जितना है उससे कहीं अधिक संवाद योजना है और उसका कारण 'मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन' की चेतना है। सिद्धान्त घटनाओं और व्यापारों की तह में रहकर व्यंजित होते तो वह पद्धति अधिक काव्योचित होती, अपेक्षाकृत दो पात्रों के बीच अभिधा स्तरीय कथोपकथन के। पर शास्त्रकाव्य में तो यह वैशिष्ट्य होगा। रचयिता का प्रातिभ संरम्भ बार-बार इस उद्घाटन की ओर आता जायगा।

संवादों की विशिष्टता

संवादों की विशिष्टता और उपयोगिता के निकष स्वरूप निम्नलिखित बिन्दुओं को दृष्टिगत किया जाना उचित है :

१. वह कथा धारा के विकास में कहाँ तक सहायक है ?
२. वह अपने सम्प्रेष्य भाव और विचार में कितना सटीक और सक्षम है ?
३. उससे वक्ता के चरित्र का वैशिष्ट्य कैसा उभरता है ?
४. सैद्धान्तिक मान्यताओं के उद्घाटन में कितनी दूर तक खींचा गया है ? इस प्रवृत्ति से काव्यत्व बाधित और कथाधारा व्यवहित तो नहीं होती ?

आलोच्य कृति में सेठ विषयक पताका कथा से पूर्व कथावस्तु बहुत स्वल्प है और उसकी गति काफी धीमी है। इन साढ़े तीन खण्डों में माटी से कंकर को अलग करना, जल का छाना जाना, जल और मिट्टी का मिलाव, रौंद कर लोंदा बनाना और चक्र पर चढ़ा कर कुम्भाकार परिणाम पैदा करना, तपन के ताप से जलीय अंश का सुखाना, फिर भी अवशिष्ट मल और दोषों का अग्नि द्वारा दाहन और तब उसकी परिपक्व परिणति–इतनी ही कथावस्तु या आधिकारिक कथावस्तु है। अवशिष्ट भाग में कथा की गति तेजी पकड़ती है। एकालाप, संवाद और लेखनी के स्वर ज्यादा मुखर हैं। यह सही है कि सपाट घटना-व्यापार के प्रचुर उपस्थापन में जितनी शक्ति लगती है उससे कहीं अधिक उद्भावन क्षमता और उर्वर कल्पना की अपेक्षा इनमें है। जहाँ कुछ नहीं है वहाँ भी अपेक्षा से ज़्यादा निकाल लिया गया है। संवादों की संख्या सौ तक पहुँच गई है और अब तक के काव्य में जिस तरह के वक्ता-श्रोता कभी नहीं आ पाए, वैसे वक्ता-श्रोताओं की बाढ़ है। वक्ता श्रोता का तौता कम पड़ता देख लेखनी स्वयं बोलने लगती है। इससे काव्यत्व बाधित हो या न हो, कथाधारा अवश्य व्यवहित हो जाती है। उदाहरणार्थ, द्वितीय खण्ड में पृ. ११३ में आरब्ध रौंदन क्रिया तीस पृष्ठों तक प्रसंगान्तर से व्यवहित होकर पुनः पृ.१६० में याद आती है। वैसे ऐसा नहीं है कि संवाद कथाधारा के विकास में योग न देते हों,देते हैं; अवश्य देते हैं। आलोच्य कृति की कथा का शुभारम्भ ही, आरम्भिक वर्णन छोड़ दें तो, संवाद से ही होता है–सरिता-तट की माटी और माता धरती के संवाद से। दोनों के बीच संवाद का क्रम चलता रहता है और यह चलता है काफी दूर तक। कहाँ तक कहा जाय, ये सारे खण्ड संवादों से भरे पड़े हैं।

भाव और विचार के सक्षम संवाहक संवाद

संवादों में कहीं भावोद्गार हैं, कहीं वैचारिक अभिव्यक्ति है और कहीं घटना-सूत्र का संकेत। सरिता तट की माटी का आरम्भिक उद्गार कितनी करुणा लिए हुए है? कितनी दयनीयता है उसमें कि माता का हृदय पसीज जाता है और वह उसी स्तर से उद्बोधन देती है। माटी मुँह नहीं खोलती, हृदय खोलती है, इसीलिए उसका मर्मभेदी प्रभाव पड़ता है। यह बहिरात्मा का नहीं, अन्तरात्मा का उद्गार है। किसी भी स्थिति का जितनी ही गहराई से एहसास होता है कविता उतनी ही प्रभावकारी और बलवती होती है। माटी को वैभाविक बन्धजन्य वेदना का जिस गहराई से एहसास है, उसके वर्ण-वर्ण और उनसे घटित पद तथा वाक्य बोलते हैं। प्रायः कहा जाता है कि भाव की व्यंजक सामग्री का नियोजन होना चाहिए, न कि उसके वाचक शब्द का। इससे तो 'स्वशब्द-वाच्यत्व' दोष आ जाता है - देखें :

"यातनायें पीड़ायें ये !/कितनी तरह की वेदनायें/कितनी और···आगे
कब तक···पता नहीं/इनका छोर है या नहीं !" (पृ. ४)

परन्तु जब वेदना अन्त - इयत्ताहीन हो तब अनुभविता बहुत लम्बा व्यंजक वक्तव्य नहीं दे सकता, अन्यथा कालिदास का कण्व शकुन्तला की भावी विदाई का गहराई से एहसास करता हुए अभिव्यक्ति के शिखर पर 'वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः' कहकर मौन का पथ न पकड़ता। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शोक' का लक्षण देते हुए कहा है-"पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः" – अर्थात् वैक्लव्य नामक चित्तवृत्ति ही शोक है। इष्ट के नाश, इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण का आविर्भाव होता है, व्यंजना होती है। पण्डितराज कहते हैं कि पुत्र प्रभृति इष्टजनों के वियोग अथवा मरण आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता ही शोक है। माटी भी इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति से विकलता का गहराई से अनुभव करती है, अतः उसे शोकसंविग्न कहा जा रहा है। उसमें शोक ही नहीं है, निर्वेद भी है। निर्वेद 'नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा' विषय-वैराग्य का ही दूसरा नाम है। उसकी वेदना की तह में वैराग्य भी मुखर है। निष्कर्ष यह कि जब वक्ता का अन्तस् भावों की निरवधि परम्परा से भर उठता है तब कालिदास की तरह उसी भाव को स्वशब्द वाच्य करके ही राहत पाता है, कहाँ तक उसका व्यंजन करें? माटी व्यवहार के प्रति सुप्त है और आत्मा के विषय में जागरूक है। श्रीमद् देवनन्दी-पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधितन्त्र' में ठीक ही कहा है :

"व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे" ॥७८॥

इस प्रकार विभिन्न मानस भावों की संवादों द्वारा सशक्त व्यंजना की गई है। सन्त के संसर्ग में आकर आतंकवादी हृदय तक बदल जाता है और कहता है :

"समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है,/यहाँ सुख है, पर वैषयिक
और वह भी क्षणिक !" (पृ. ४८५)

इसमें भी नित्यानित्यविवेकजन्मा वैराग्य का भाव मुखर है। संवादों में भावजगत् भी लहराता है और विवेक तथा तत्प्रसूत मान्यताएँ तों मुखर हुई ही हैं। सन्त सद्गुरु अपनी प्रकृति और सम्बोध्य मुमुक्षु को दृष्टिगत कर निर्णीत मान्यता व्यक्त करते हैं :

"दूसरी बात यह है कि/बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

शान्त रस में निमग्न सन्त के इस तरह के संवाद मान्यताओं से आमूल-चूल बिखरे पड़े हैं। कहीं से भी उठाकर देखा जा सकता है।

संवादों द्वारा चरित्रगत वैशिष्ट्य का उद्घाटन

अगली बात जो संवादों के विषय में द्रष्टव्य है वह यह कि इन संवादों से वक्ता पात्र की चरित्रगत विशिष्टताएँ किस सीमा तक मुखर हैं ? इसमें सागर, स्वर्ण कलश और आतंकवाद के खलनायक भी बोलते हैं और धरती, सद्गुरु शिल्पी तथा वीतराग साधु भी बोलते हैं, कवि की लेखनी भी बोलती है। एक शब्द में कहूँ तो क्या नहीं बोलता है—सुनने और ग्रहण करने की शक्तियाँ जागरूक हों तो सभी कुछ न कुछ कहते हैं। बहिरात्मा को अपने अनुकूल और अन्तरात्मा को अपने अनुकूल विश्ववीणा से निर्गत ध्वनि श्रुतिगोचर होती है। अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषता के कारण जैसा सुनते और ग्रहण करते हैं वैसा ही बोलते भी हैं। सागर, स्वर्ण कलश और आतंकवाद के संवादों में उनकी रौद्रवृत्ति, निर्ममता, अत्याचार परायणता, निःसीम क्रूरता—सभी विशिष्टताएँ उभर आती हैं। कहीं से भी इनके उद्धरण लिए जा सकते हैं। विपरीत इसके मुमुक्षु घट और परिग्रहमुक्त सद्गुरु के भी अहिंसापरक शान्तिदायक वचन सुनने को मिलते हैं। कुम्भकार के प्रांगण में बादल से गिरे मुक्ता को लोभवश बटोरने वाले राजा और राजमण्डली को मुमुक्षु घट का व्यंग्यपूर्ण वचन और अनुद्वेजक तथा मर्यादोचित शिल्पी के वचन—दोनों की प्रकृतिगत विशेषताओं को व्यंजित करते हैं। एक बनने की प्रक्रिया में है, अतः अन्याय का प्रतिकार व्यंग्य वचन से करता है जबकि दूसरा अपनी परम शान्त वृत्ति के छींटे डाल कर दोनों को पथ दिखाता है। उदाहरणों से निबन्ध का कलेवर तुन्दिल हो जायगा, अतः विरत रहना ही उचित है। जिज्ञासु पाठक मूल में ही उन पंक्तियों को देखें। संवाद भींगे भावों की अभिव्यंजना है, शास्त्रसम्मत मान्यताओं के प्रकाशक तो हैं ही। संवाद ही नहीं प्रभाकर के लम्बे-लम्बे 'प्रवचन' भी हैं।

वर्णनतत्त्व

महाकाव्य के पारम्परिक साँचे में अगला तत्त्व 'वर्णन' है। 'वर्णन' और 'संवाद' महाकाव्य में व्याप्त भावधारा या संवेदना को उभारने में सहायक होते हैं। इसमें केवल संवाद, एकालाप, स्वगत और प्रवचन ही नहीं हैं, जिनसे मात्र सैद्धान्तिक मान्यताएँ रखी गई हों। ऐसा तब होता जब वह केवल 'शास्त्र' लिखते। रचयिता को इस बात या संकल्प का ध्यान है कि वह काव्य या प्रबन्ध काव्य दे रहा है, फलतः विचार की आँच में परिपक्व भावना, सन्तुलित कल्पना और विवेक परिचालित वर्णनतत्त्व का भी उसने ध्यान रखा है और अच्छा रखा है।

वर्णनाएँ

कृति के चारों खण्डों में रमणीय वर्णनाएँ हैं। प्रकृति वर्णन में प्रातः, सायं, रात्रि का, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म का, सागर, प्रभाकर, सुधाकर का, धरती, नारी, साधक और सन्त का, तपःप्रक्रिया और स्वप्न का, पात्र (सेठ) मुद्रा और माटी का तो मनोहर, चित्तावर्जक तथा ललित वर्णन है ही, सत् और असत् के पक्षधर और विपक्षियों का लोमहर्षक तथा भयावह संघर्ष भी वर्णित है। निष्कर्ष यह कि ये वर्णन काव्य को भावोद्दीपन की पीठिका प्रदान करते हैं जिससे काव्य की मूलभूत उपादान संवेदना रूपान्तरित होती है। एक रचयिता को यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि काव्य संवेदना का रूपान्तरण होता है। वर्णन भी सपाट वर्णन नहीं है, भावना और कल्पना की रंगीनी लिए हुए इन्द्रधनुषी है। रचयिता जिसका जैसा भावदीप्त रूप प्रस्तुत करना चाहता है, वैसा वर्णन करता है—मृदु और कोमल भी, भयावह और कर्कश भी, चित्ताकर्षक और रमणीय भी और क्षोभकर और उद्वेजक भी, साथ ही आलम्बन चेतन का भी और

उद्दीपन अचेतन का भी। जीवन और संसार के कलात्मक उद्रेखण में दोनों का ही प्रसंग आता है।

प्रातःकाल और सरिता वर्णन

ग्रन्थारम्भ में प्रातःकाल और सरिता के ही वर्णन को लें। भावना और कल्पना की रंगीनी काव्योचित आकर्षण पैदा करती है। रचयिता कलाकार भी है और सन्त भी है। उसे इस बात का ध्यान है कि सांसारिक उद्वेग, व्यथा, वेदना और वैराग्य की माटीगत भावना के उद्दीपक रूप में प्रकृति सहायिका होकर पीठिका प्रस्तुत करे। ऊपर-नीचे चतुर्दिक् नीरवता छाई हुई है, ऐसे में साधक का मन शान्त रहता है। माया का ब्राह्म प्रहर है। उषा अपनी तरुणिमा में है। भानु और प्राची का दृश्य बिम्बविधान अनुभवैकगम्य है। यह कथन समासोक्ति के आलंकारिक आवरण में है। प्रस्तुत तन्द्रिल भानु की अरुणिम परिवेश में उदयोन्मुखता है और अप्रस्तुत माँ की मार्दव-निर्भर-गोद में लाल चादर ओढ़े जागरणोन्मुख तन्द्रिल शिशु की अँगड़ाई। इसी प्रकार प्रस्तुत है अरुणिम प्राची पर अप्रस्तुत है सिन्दूर-निर्भर-सीमन्त वाली गदराई सिंदूरी आभा की खुले माथ वाली तरुणी। इन अप्रस्तुत योजनाओं से लिपटी प्रकृति कितनी मनोरम है ! उधर निमीलनोन्मुख कुमुदिनी और सामने आता प्रभाकर और अप्रस्तुत रूप में उस बिम्ब की कल्पना करें जहाँ निर्लज्ज परपुरुष के कर-स्पर्श के भय से अपने में सिमटती कुलीना स्त्री परिदृश्य से ओझल होते हुए पति के प्रति उभरी हुई सराग-मुद्रा और अंग पर छिटके राजस पराग को ढँक रही हो। कमलिनी भी अर्धोन्मीलित है, जहाँ अप्रस्तुत यह कि वह कुमुदिनी परपुरुष की दर्शनीया प्रभा को भी नहीं देखना चाहती। इस पर अर्थान्तरन्यास यह कि ईर्ष्या पर कौन विजयी बन सका है, वह भी जीव के स्त्री पर्याय में ? यह तो अनहोनी है। यहाँ तिल-तुण्डलवत् दोनों अलंकरों की 'संसृष्टि' है, न कि सन्देह संकर, अंगांगिभाव संकर अथवा एकव्यंजकानुप्रवेश संकर। रात्रि का यह आलंकारिक लिबास कितना मनोहर है। यह सन्धि बेला है ! तारापति चन्द्र का अनुगमन तारिकाएँ कर रही हैं, उन्हें शंका है कि परपुरुष दिवाकर कहीं देख न ले। प्रातःकालीन मलयानिल मचल उठा है, गन्धवह गन्ध बिखेर रहा है। आत्मचेता माटी कुछ रहस्य, कुछ एकान्त व्यथा अपनी माँ से कहना चाहती है और परिवेश उसे अनुकूल लग रहा है :

"पर की नासा तक / इस गोपनीय वार्ता की गन्ध / ··· जा नहीं सकती !"(पृ.३)

बगल में सरिता प्रवाहित है, पर वह अपनी धुन में गुनगुनाती अपने पति सागर की ओर गतिशील है। इस समय न निशाकर है न निशा, न दिवाकर है न दिवा और दिशाएँ भी अन्धी हैं। रहस्यवार्ता और एकान्त व्यथा के निवेदन के निमित्त इससे अधिक उपयुक्त परिवेश क्या हो सकता है ? अप्रस्तुत में प्राची की शृंगारिक मुद्रा का ऐसे में भाना थोड़ा अवश्य खटकता है, पर रचनाकार रचनाकार भी होता है, सन्त तो है ही।

प्रकृति और सरिता का पुनः वर्णन

माटी की उद्दिष्ट महायात्रा के आरम्भिक क्षण में किया गया प्रकृति और सरिता का वर्णन कुछ ऐसा है जैसे वे सभी माटी का स्वागत कर रहे हों। प्रभात अपनी बहिन रात्रि को माटी के अभ्युदय से प्रसन्न होकर हर्षातिरेक से उपहार के रूप में कोमल कोपलों की हलकी आभा घुली हरिताभ की साड़ी देता है और इसे पहन कर जाती हुई वह अपने भाई प्रभात को सम्मानित करती है। इधर सरिता तट की ओर आती उन रजताभ लहरियों से, जो फूलों की अनगिन मालाओं का उपहास कर रही हों, माटी का चरण चूमती है। हँसमुख कलशी में फेन के व्याज से मानो दधि लेकर सरिता तट खड़ा है। तृण बिन्दुओं के व्याज से धरती के हृदय में माटी के लिए मानो करुणा उमड़ रही है और उसके अंग-अंग अपूर्व हर्ष-निर्भर-पुलक से नाच उठे हों। चारों तरफ उल्लास और प्रकाश है, रोष प्रशान्त है, दोष का ह्रास और गुणों के कोष का उदय है। यात्रा का सूत्रपात है न ! इसलिए प्रकृति भी चारों ओर प्रसन्न और पुलकित-सी नज़र आ रही है।

शिल्पी स्वरूप वर्णन

माटी में जिस घट का परिणाम होता है, शिल्पन होना है, तदर्थ सन्त सद्गुरु मूर्तिमान् शान्तरस आता दृष्टिगोचर हो रहा है। रचयिता उसका नितान्त सन्तोचित रूप प्रस्तुत करता है। 'शिशुपालवध' में माघ कवि ने जिस प्रकार नारद का वर्णन किया है ठीक उसी रौ में प्रस्तुत रचयिता भी शिल्पी कुम्भकार का शनैः-शनैः अपनी आकृति में स्फुट-स्फुटतर उभरता हुआ समीप-समीपतर आता नज़र आ रहा है। उसमें अनन्य भाव और चाव भरे हुए हैं। उसके विशाल भाल पर, जो भाग्य का भण्डार है, कभी तनाव नज़र नहीं आता। उसमें कोई विकल्प नहीं है, विपरीत इसके दृढ़ संकल्प है। अर्थहीन जल्पना ज़रा भी नहीं रुचती उसे। वह एक कुशल शिल्पी है जो माटी में, माटी के कण-कण में निहित तमाम सम्भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है। वह अर्थ का अपव्यय तो क्या व्यय भी नहीं करता। यह शिल्प शिल्पी को अर्थ के बिना अर्थवान् बना देता है। इसने अपनी संस्कृति में कभी विकृति नहीं आने दी। इसके शिल्प में अब तक कोई दाग नहीं लगा। इसका नाम है – कुम्भकार, जो नितान्त सार्थक है, कारण, यह 'कुं'- धरती का 'भ'- भाग्य-विधाता है। कर्तव्यबुद्धि से सत्कार्य के प्रति जुड़े हुए इस शिल्पी में अज्ञान प्रसूत कर्तृत्वबोध का अहंकार नहीं है। वह शिल्प आरम्भ करता है। आगे रचयिता इस शिल्पन का इतिवृत्तात्मक वर्णन करता है।

शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म वर्णन

आलोच्य कृति के द्वितीय खण्ड में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म के भी वर्णन आए हैं। प्रसंग शिल्पन का चल रहा है जहाँ शिशिर से आरम्भ कर ग्रीष्म तक का वर्णन है। शिशिर के प्रतिकूल ठण्डक का परिवेश शिल्पी की निर्माणोपयोगी एकतानता को भंग नहीं करता, न ही शिल्पी शिशिर की ठण्डक का प्रतिरोध करता है। वस्तुतः दोनों की प्रकृति ठण्डी है, अतः संवाद है। शिशिर और तपन के बीच हेमन्त और वसन्त दब गए हैं - हेमन्त तो बिल्कुल ही, वसन्त का नाम भर है। ग्रीष्म या तपन की भयावहता और भीषणता का 'समुचितललितसन्निवेशनचारु' काव्यभाषा में प्रभावी वर्णन रेखांकनीय है। एक उदाहरण लें :

> *"कभी कराल काला राहू/प्रभा-पुंज भानु को भी/पूरा निगलता हुआ दिखा,*
> *कभी-कभार भानु भी वह/अनल उगलता हुआ दिखा।/जिस उगलन में*
> *पेड़-पौधे पर्वत-पाषाण/पूरा निखिल पाताल तल तक*
> *पिघलता गलता हुआ दिखा।" (पृ. १८२)*

इस तरह लम्बा वर्णन प्रसंगोचित ढंग से चलता है। इस दृश्य में ग्रीष्म का प्रचण्ड रूप मूर्त हो गया है। यदि यहाँ की संघटना सामासिक तथा वर्ण संयुक्त और महाप्राण होते तो प्रभाव और बढ़ जाता, ओजस्वी वर्ण्य की प्रकृति के अनुरूप होता।

अन्तिम दो खण्डों के वर्णन प्रसंग

तृतीय और चतुर्थ खण्डों में वर्णनों की प्रचुरता है। वहाँ प्रसंगगत सूर्य, सागर और सुधाकर, बदली, घन, पवन के साथ धरती और नारी की महिमा प्रसंगोचित रूप में वर्णित है। इसी प्रकार चतुर्थ खण्ड में भी घट की तपस्या, अतिथि का सात्त्विक स्वरूप तथा सेठ की गमन मुद्रा का अत्यन्त जीवन्त और प्रभावी वर्णन है। आलोच्य कृति के इन अन्तिम दो खण्डों में रचयिता की प्रतिभा का संरम्भ घट की तपस्या और तपोयात्रा का संघर्ष वर्णित है, जहाँ सत् और असत् पक्षधर प्रतीकों का प्रभावी और तुमुल युद्ध है। अन्ततः असत् पक्ष पर सत् की विजय दिखाई गई है, असत् के पक्षधरों का भी हृदय परिवर्तित हुआ है और आतंकवादी का हृदय भी विभाव से स्वभाव की ओर मुड़ना चाहता है। निष्कर्ष यह कि रचयिता वर्णनों से कृति में प्रतिपाद्य अंगी शान्त रस का प्रभाव मूर्त करने में भरपूर सहयोग प्रदान करता है। इस वर्णन से पाठक को यह शिक्षा मिलती है कि 'रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्' – सन्त और सिद्ध घट की तरह व्यवहार

करना चाहिए न कि असाधु और असन्त स्वर्ण कलश और आतंकवादियों की तरह। इस संघर्ष वर्णन से दूसरी शिक्षा यह भी मिलती है कि नियति के बावजूद पुरुषार्थी साधक के दृढ़ संकल्प और पौरुष को देखकर दिव्य शक्तियाँ भी सहायक हो जाती हैं। कहा ही गया है : "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः" – देवता भी सहायता का हाथ पुरुषार्थी की ओर तभी बढ़ाते हैं जब वे देखते हैं कि पुरुषार्थी साधक पुरुषार्थ करते-करते श्रान्त हो उठा है, पर अपने संकल्प और कर्तव्य लक्ष्य-प्राप्य पर अडिग है।

पात्र-नायक और चरित्र : पारम्परिक साँचे में धीरोदात्त नायक

महाकाव्य के लिए पारम्परिक साँचे में अगला तत्त्व जो अपेक्षित है वह है एक या अनेक लोक प्रसिद्ध, इतिहास प्रसिद्ध या पुराण प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक। यह बात आरम्भ में कही जा चुकी है कि शायर - सिंह और सपूत लीक छोड़कर चलते हैं, पर पारम्परिक विरासत और सांस्कृतिक रिक्थ का निर्वाह करते हैं। नायक पौराणिक या ऐतिहासिक हो या न हो, महासत्ता अंशी धरती के अंश माटी का वह पर्याय अवश्य है, अन्तरात्मा जीव का प्रतिनिधि (घट) है। यह घट अनन्त सम्भावनाओं और अपरिमेय गुणों का आगार है। यह 'धीर शान्त' नायक है।

धीरोदात्त की सम्भावना

जब अंगी शान्त है तब उसका आश्रय शमप्रधान ही होगा, धीर शान्त ही होगा, न कि क्षत्रिय कुलोद्भूत प्रख्यात वंश का धीरोदात्त। यह तब होता जब अंगी वीर या शृंगार जैसा रस होता। वीर में लौकिक विजिगीषा होती है, शृंगारी में लौकिक राग। अथवा धीर शान्त की जगह 'धीरोदात्त' भी कहें तो क्या आपत्ति है ? 'नागानन्द' नाटक का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त ही तो है। यह सही है कि 'औदात्त्य' सर्वोत्कृष्ट वृत्ति का ही दूसरा नाम है जो विजिगीषुता के चलते ही सम्भव है। परमार्थ का साधक सन्त तो शमप्रधान होने से उससे उदासीन और 'निर्जिगीषु' ही प्रतीत होता है। यह तथ्य आलोच्य कृति से स्पष्ट है। वह आतंकवादियों से संघर्ष नहीं कर रहा है अपितु सेठ परिवार को यही परामर्श दे रहा है कि ये असत् पक्ष के प्रतिनिधि आतंकवादी षड्यन्त्र से उपद्रव करना चाहते हैं, अतः इनके घेरे से निकल भागना चाहिए। देखिए :

"कुम्भ ने कहा सेठ से कि/"तुरन्त परिवार सहित
यहाँ से निकलना है,/विलम्ब घातक हो सकता है" ।" (पृ. ४२२)

असत् पक्ष के मूर्तिमान् विघ्न का प्रतीक स्वर्ण कलश ललकारता है :

"एक को भी नहीं छोड़ूँ,/तुम्हारे ऊपर दया की वर्षा
सम्भव नहीं अब,/प्रलय-काल का दर्शन/तुम्हें करना है अभी।" (पृ. ४२१)

उत्तरपक्ष : सपूर्वपक्ष–धीरोदात्त का

इसका संकेत झारी ने माटी के कुम्भ को दिया और कुम्भ ने परिवार को मौन संकेत दिया। सब भाग निकले। क्या यह 'औदात्त्य' है, विजिगीषुता है ? और नहीं है तो 'घट' नायक 'धीरोदात्त' कैसे ? यह तो शमप्रधान होने से परम -कारुणिक और वीतराग है, इसलिए धीरशान्त ही प्रतीत होता है। इन सबका समाधान यह है कि यद्यपि औदात्त्य सर्वोत्कृष्ट होकर रहने की वृत्ति का ही दूसरा नाम है, और वह विजिगीषुता है, तो वह भी नायक घट में विद्यमान है। विजिगीषु वह भी है जो शौर्य, त्याग, दया, दान, उपकार आदि सात्त्विक गुणों से दूसरों से आगे बढ़ जाता है। विजिगीषु केवल वही नहीं है जो परापकार पूर्वक परकीय अर्थग्रहण आदि में प्रवृत्त होता है। औदात्त्य की इस अवधारणा से तो मार्गदूषक भी धीरोदात्त हो जायगा। राम आदि को भी भूमिलाभ या राज्यलाभ हुआ है परन्तु उनका मुख्य लक्ष्य है – लोक

- मंगल। इस निमित्त वह रावण जैसे दुष्ट का निग्रह करते हैं। उन्हें भूमिलाभ या राज्यलाभ या पत्नीलाभ तो आनुषंगिक प्राप्ति है।

धीरशान्त का सैद्धान्तिक पक्ष

घट जिस सन्त अन्तरात्मा या परमात्मा का अब प्रतीक बन चुका है, वह तो अपना सब कुछ दाँव पर लगा कर समर्पणशील सेठ परिवार की रक्षा अर्थात् लोक मंगल में परायण है। इस प्रकार तो वह सम्पूर्ण विश्व का ही अतिक्रमण कर रहा है। वह अन्तरात्मा या परमात्मा बन जाने पर विषय सुख में पराङ्मुख है। समस्त दुःखों के हेतुभूत वैषयिक सुख सम्बन्धी समस्त प्रकार की तृष्णा में निरभिलाष है, अतः उसने तो सभी को जीत लिया है। इससे बड़ा औदात्त्य क्या होगा ? इस पर से भी कहा जा सकता है कि आलोच्य कृति में शान्त अंगी है, जिसका स्थायी भाव 'शम' है और 'शम' 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' है। परसंसर्गज विकारों के क्षय से आत्मभाव में प्रतिष्ठित घट स्वभाव सुख-लाभ कर रहा है, अतः हर तरह से इसे 'शान्त' ही माना जाना चाहिए, तो इससे भी क्षति क्या है ? वास्तव में महाकाव्य का धीरोदात्त कम से कम शान्तरस प्रधान कृति में धीरशान्त का भी उपलक्षण है। यह नाट्य कृति नहीं है, यह श्रव्यकाव्य है। यहाँ जब 'शान्त' रस का होना पारम्परिक साँचे में विहित है तब उसके स्थायी भाव 'शम' का आश्रय 'धीरशान्त' का नायक होना भी मौन विधान ही है। निष्कर्ष यह कि यहाँ प्रतीक घट ही नायक है और वह धीर शान्त ही है। सम्पूर्ण कृति ही इसमें साक्षी है, तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करने की अलग से कोई आवश्यकता नहीं है। वह इतना दृढ़ निश्चय है कि विघ्न और बाधाओं से आक्रान्त सेठ परिवार के उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है जिसमें नदी सन्तरण न कर वापस हो जाने की बात कही जा रही है। उसकी श्रद्धा, विश्वास, ज्ञान और चारित्र सभी मिलकर मुक्ति का मार्ग खोलते हैं। वह संघर्ष परायण, दृढ़ाध्यवसायी, अतिगम्भीर, महासत्त्व, अविकत्थन तथा दृढ़व्रत है। कृतिकार ने चतुर्थ खण्ड में वर्णित संघर्ष के दौरान उसकी चरित्रगत तमाम विशेषताओं का मुक्तकण्ठ अनावरण किया है। उसके दृढ़व्रत और अनुरूप व्यवसाय को देखकर विश्व की सभी अनुकूल तो अनुकूल, प्रतिकूल शक्तियाँ भी समर्पित हो जाती हैं। इस पर भी विनयी इतना कि वह कुम्भकार की ओर, कुम्भकार वीतराग साधु की ओर इंगित करते हैं कि इस सारी सफलता का श्रेय उन्हें है। उनका अभय और वरद हस्त उठा हुआ है।

नायक-नायिका की अन्यथा कल्पना

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ कुम्भकार में 'पुंस्त्व' और 'माटी' 'स्त्रीत्व' है और गर्भस्थ घट को बाहर निकालने का श्रेय कुम्भकार को है, अतः कुम्भकार को नायक तथा माटी को नायिका माना जाना चाहिए। यह पक्ष सुचिन्तित नहीं है। एक तो घट माटी से पृथक् नहीं, उसी का पर्याय है। कृतिकार को अभीष्ट भी यही है। दूसरे नायक वह होता है जो फलभोक्ता हो। मोक्षरूपी चतुर्थ पुरुषार्थ लक्ष्य है, फल है। इसे तपोनिष्ठ घट प्राप्त करता है, उपसर्गों और परीषहों का सामना उसे करना पड़ता है, इसलिए वही नायक है। कहा गया है : "फलभोक्ता तु नायकः।" दूसरे वह स्वयं फल भोक्ता बनकर नहीं रह जाता, सेठ परिवार को भी भव सरिता से पार उतार देता है। स्वयं तो अधीति, बोध और शोध करता ही है उसका लोक में, जिसका प्रतीक सेठ परिवार है, प्रचारण भी करता है। इस प्रकार स्वभाव स्थित घट चतुष्पाद प्रतिष्ठित है। मानव की सम्भावना जिन चार पादों पर स्थित होकर उपलब्धि बनती है, वे हैं—वे पूर्वोक्त— अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण। जैन प्रस्थान का आदर्श यही है। केवली से तीर्थंकर इसी माने में उच्चतर हैं कि एक आत्मकल्याण कर चुके हैं और दूसरे आत्मकल्याण करते हुए लोककल्याण भी करते हैं। सेवाभाव शुद्ध भावना है। निष्कर्ष यह कि कृति का नायक आचरण सम्पन्न प्रचारणरत सन्त का प्रतीक घट ही है। मार्ग से होकर मंज़िल तक पहुँचा हुआ घट ही है जो महामौन में डूबते हुए सन्त और माहौल को निहारता हुआ स्वयं पूर्णकाम और आत्मविश्रान्त है।

अंगीरस निरूपण अर्थात् भाव-योजना

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि आलोच्य कृति में अंगीरस शान्त है। पारम्परिक साँचे के लक्षण में भी अंगीरस के रूप में 'शान्त' का विधान है। इसका स्थायी भाव 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' शम है। यह लक्षण अभिनव गुप्त का है। पण्डितराज का कहना है :"नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः"—तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्त रस का स्थायी भाव है— (नाट्यशास्त्र-अभिनव भारती) अर्थात् आत्मस्वरूप सुख नित्य, निरतिशय और स्वात्मस्वरूप है जबकि विषय-आत्मेतर-सुख अनित्य, सातिशय और पर-सापेक्ष है। इस प्रकार के दृढ़ विचार से उत्पन्न विषयविराग ही निर्वेद है और यह शान्त का स्थायीभाव है। वितृष्णीभावरूप चितवृत्ति विशेष ही निर्वेद है। निर्वेद संचारी भी है और स्थायी भी। पहला क्षणिक है और दूसरा स्थिर – "वासनारूपाणाममीषां मुहर्मुहरभिव्यक्तिरेव स्थिरपदार्थत्वात्" (रसगंगाधर, प्र.आ.) क्षणिक निर्वेद गृहकलह आदि से उत्पन्न होता है पर दूसरा विचार करते-करते स्थिर प्रकृति का पैदा होता है। पहला लक्षण विध्यात्मक है और दूसरा निषेधात्मक। पहले में 'तृष्णाक्षयसुखात्मा' माना गया है, दूसरे में 'वितृष्णीभाव' ही कहा गया है। एक विवाद यह भी है कि यदि स्थायी भाव चित्तवृत्ति विशेषरूप ही है और शान्त उसी का पुष्टरूप है तो वह निखालिस आत्मस्वरूपापत्ति स्वरूप नहीं होगा, जैसा कि धनिक ने 'दशरूपक' की टीका में कहा है। श्रुति भी उसे नेति-नेति के अन्यापोह रूप से ही कहती है। इस तरह के शान्त का आस्वाद तो मुक्त पुरुष ही मोक्षावस्था में कर सकते हैं, न कि सहृदयमात्र। इसलिए दूसरे लोगों का पक्ष है कि वहाँ तक पहुँचाने वाले उपाय का आस्वाद ही शान्त रस कहा जाय। यह उपाय अभावात्मक नहीं है, रस सुख स्वरूप है, अतः उसका स्वरूप 'सुखात्मा' ही होना चाहिए, विध्यात्मक होना चाहिए। काव्यास्वाद के रूप का शान्त और मोक्षावस्था के शान्त में उपाय और उपेय का अन्तर मानकर चलना चाहिए। इस पर यह भी समस्या उठ खड़ी होती है कि जैसे और रसों का स्थायी भाव इदानीन्तन और तदानीन्तन वासना के रूप में सहृदयों के हृदय में पहले से ही विद्यमान (जीवनानुभव क्रम में) रहते हैं, क्या उसी प्रकार वितृष्णीभाव भी रहता है ? समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा शम भी रहता है ? हाँ, सांसारिक विषयों की विरसता वर्णित हो तो सहृदय पाठक की चित्तवृत्ति बनती है। अस्तु।

प्रस्तुत काव्य में नित्यानित्यविचारजन्मा विषयवैराग्य घट में है। उसी से वह स्वरूप-सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न आरम्भ करता है और समस्त काव्य में उसका उपाय-तप-वर्णित है, जो मोक्षदशा में उपेय पर्यवसायी है। पार्यन्तिक दशा की अनुभूति मुक्त को होगी, आन्तरालिक दशा की सहृदय को। यहाँ आलम्बन है अनित्य विषयसुख।

जैन प्रस्थान में जगत् अनित्य नहीं है, अतः वेदान्तियों की भाँति वह आलम्बन नहीं हो सकता। शास्त्रश्रवण, तपोवन, तापस दर्शन आदि उद्दीपन हैं। विषय सुख में अरुचि, शत्रु-मित्र में उदासीनता, निश्चेष्टता, नासाग्रदृष्टि आदि अनुभाव हैं। ग्लानि, क्षय, मोह, विषाद, चिन्ता, उत्सुकता, दीनता और जड़ता आदि व्यभिचारी भाव हैं। 'अभिनव-भारती'कार का पक्ष है कि जब तीनों पुरुषार्थों के अनुरूप चित्तवृत्ति होती है तब महाभारतादि में अंगीरूप से प्रतिष्ठित शान्त के अनुरूप मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थोपयोगी चित्तवृत्ति भी होती है, होनी चाहिए। उनकी दृष्टि में 'शम' और 'वैराग्य' में भेद है। तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद या प्रत्येक स्थायी, या समुदित स्थायी शान्त का स्थायी नहीं है विपरीत इसके तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार को ही शान्तरस का स्थायीभाव माना जाना चाहिए। वैराग्य और संसार से पलायन आदि उस शान्त रस के विभाव हैं। मोक्षशास्त्र का विचार आदि उसके अनुभाव हैं। निर्वेद, धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। भक्ति और श्रद्धा भी इसी के अंग हैं। अभिनव गुप्त ने शान्त रस का विरोध करने वालों के पक्ष में अनेक युक्तियाँ दी हैं और फिर उनका खण्डन कर उसका सांगोपांग विवेचन किया है।

अभिनव गुप्त ने 'लोचन' और 'अभिनव भारती' में शान्त रस पर जमकर विचार किया है। विवाद न केवल

'शान्त' रस के (काव्य) नाट्यगत अस्तित्व पर है अपितु उसके स्थायी भाव पर भी है। उनका कहना है कि धर्म, अर्थ और काम की तरह मोक्ष भी एक पुरुषार्थ है जिसकी उपलब्धि के उपायों पर शास्त्रों में पर्याप्त चर्चा है। जिस प्रकार काम आदि तीन पुरुषार्थों के अनुरूप रति आदि चित्तवृत्तियाँ होती हैं और अनुरूप पोषक सामग्री से परिपुष्ट होकर संवादी सहृदय में आस्वाद्य होती हैं, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के अनुरूप भी चित्तवृत्ति बनती है। यही चित्तवृत्ति रस्यमान होकर शान्त रस के रूप में निष्पन्न होती है। सवाल यह है कि इस चित्तवृत्ति का स्वरूप क्या है ? चित्तवृत्ति का स्वरूप होना इसलिए आवश्यक है कि 'भाव' (चित्तवृत्ति) वही होता है। भाव ही सामग्री पुष्ट होकर रस बनता है। अनेक प्रकार के पक्ष-विपक्ष रखते हुए अन्ततः उन्होंने माना है कि तत्त्वज्ञान ही, जो आत्मस्वरूप है, शमता है। सहृदयरसिक की दो स्थितियाँ हैं - 'समाधि' की और 'व्युत्थान' की। समाधि में ही 'शान्त' का अनुभव रहता है, आत्मा का अनुभव होता है, व्युत्थान में नहीं, परन्तु समाधि में चित्तवृत्ति का निरोध रहता है। पातंजल योगसूत्र के साक्ष्य पर उनका पक्ष है कि समाधि से उठकर व्युत्थान दशा में भी (समाधि दशा के अनुभव से जनित) संस्कार वश कुछ देर तक प्रशान्तवाहिता बनी रहती है। व्युत्थान में चित्त की प्रशान्तवाही वृत्ति सम्भव है। यही शान्त रस का अनुभव सम्भव है। इस तत्त्वज्ञानात्मक स्थायी के लौकिक-अलौकिक समस्त चित्तवृत्तियाँ व्यभिचारी हैं। तत्त्वज्ञान का अनुभव ही उसका अनुभाव है। ईश्वरानुग्रह प्रभृति विभाव हैं। जैन प्रस्थान में ईश्वर (ईश्वरकर्तृत्व की) की सत्ता नहीं है, अतः, जैसा कि ऊपर कहा गया है, आत्मेतर सुख की अनित्य भावना ही विभाव है।

इसी अभिनव गुप्त ने 'लोचन' में तृष्णाक्षयसुखरूप 'शम' को 'शान्त' कहा है, तब जब वह अनुरूप सामग्री से पुष्ट होता है। विषय मात्र की अभिलाषा की सार्वत्रिक निवृत्ति ही शम या निर्वेद है। विषय मात्र से छुटकारा पाने की इच्छा (चित्तवृत्ति) सात्त्विक स्वभाव के सहृदयों में तो होती ही है। यह भी एक प्रकार की निर्वेदात्मक चित्तवृत्ति या मनोदशा ही है। जो लोग सब प्रकार की चित्तवृत्तियों के प्रशम को शान्त का स्थायी भाव बताते हैं उनका पक्ष सुविचारित नहीं है। कारण, स्थायी भाव को भावरूप होने के लिए चित्तवृत्ति रूप होना आवश्यक है। चित्तवृत्तियाँ ही भाव कही जाती हैं। कुछ लोग भरत के "स्वं स्वं निमित्तमासाद्य..." इत्यादि को प्रमाण मानते हुए उस 'सामान्य चित्तवृत्ति' को शान्त का स्थायी भाव मानते हैं जिसमें किसी प्रकार का अवान्तर विशेष उत्पन्न न हुआ हो। इस पक्ष में सामान्य ही सही, कही तो गई है – चित्तवृत्ति ही। यह सही है कि 'शान्त' रस की पार्यन्तिक परिणति निश्चेष्टता में है, और अभिनय चेष्टा है। फलतः अनभिनेय कह कर उसका नाट्य में निषेध किया जाय तो यह बात सभी रसों पर लागू होगी। पार्यन्तिक परिणति में सभी अवर्णनीय हैं। पार्यन्तिक परिणति से पूर्व भूमि में (शान्त रस का अनुभव करने वाले जनक आदि पात्रों में) चेष्टा का होना दृष्टिगत है। इन लोगों में विक्षेप के न होने से चित्त का सदृश परिणाम देखा गया है। यह सदृश परिणाम ही प्रशान्तवाही स्थिति है, शान्त का अनुभव है। इस व्युत्थानकाल में शान्त रस (के आस्वादयिता) की चेष्टाएँ देखी जाती हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इस रस का अनुभव वीतराग को ही होगा, सर्वसामान्य सहृदय को नहीं होगा। इसका खण्डन केवल इसलिए कर दिया जाय कि यह रस सर्वसामान्य के अनुभव में नहीं आता। जब किसी के अनुभव में आता है, तब उसका अस्तित्व कैसे नकार दिया जाय। वीर आदि रसों में इसका अन्तर्भाव भी सम्भव नहीं है। कारण है, उनमें अहंकार का सद्भाव जबकि शम में उसका प्रशम होता है। भट्टतौत प्रणीत 'काव्यकौतुक' के विवरण में अभिनव ने इस पर और भी प्रकाश डाला है।

'मूकमाटी' के चौथे खण्ड के अन्त में समर्पित आतंकवादी को भी आत्मसुख रूप शान्त के प्रति सन्देह है। सेठ परिवार के साथ आत्मोद्धार प्राप्त घट को देखकर धरती प्रसन्न होकर कहती है :

"सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

धरती की भावना सुनकर कुम्भ सहित सबने कृतज्ञता की दृष्टि से कुम्भकार की ओर देखा और निरभिमान प्रशान्त कुम्भकार ने कुछ ही दूर पर पादप के नीचे पाषाण फलक पर आसीन वीतराग साधु की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। गुरुदेव ने प्रसन्न मन से अभय का हाथ उठाते हुए कहा :

"शाश्वत सुख का लाभ हो।" (पृ. ४८४)

यही शाश्वत स्वभाव सुख का लाभ शान्त रस का लाभ है। परन्तु आतंकवादी कहता है कि संसार के क्षणिक सुख का तो उसे अनुभव है परन्तु 'अक्षय सुख' पर उसे विश्वास नहीं हो रहा है। यदि वीतराग गुरुदेव अविनश्वर सुख पाने के बाद उसे उन्हें भी दिखा सकें, अपना अनुभव बता सकें, तो वह भी उसके प्रति आश्वस्त हो सके और अनुरूप साधना में उतरे। दल की धारणा सुनकर सन्त कहते हैं कि बन्धनरूप तन, मन और वचन का आमूल मिट जाना ही मोक्ष नामक चरम पुरुषार्थ है। इसी की शुद्ध दशा में अविनश्वर सुख होता है। इस पर भी यदि उसे विश्वास न हो तो आचरण करके विश्वास पूर्वक वह उस जगह पहुँचे जहाँ वीतराग स्थित है, तभी उसे सन्त के वचन पर विश्वास होगा और वह अविनश्वर सुख भोगेगा। तभी विश्वास को अनुभूति मिलेगी, पर मार्ग में नहीं, मंज़िल पर। शान्त रस की अनुभूति वस्तुतः मुक्त को ही होती है, वीतराग को ही होती है, समाधि में भी और व्युत्थान में भी।

मुक्तिकामी जीव के प्रतीक घट में विषय-संसर्ग से उत्पन्न वैभाविक सुख के प्रति निर्वेद है, वैराग्य है। यही अनित्य भावना 'विभाव' है। घट कहता है, माटी का पर्याय घट :

- *"सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !" (पृ. ४)*
- *"इस पर्याय की/इति कब होगी?/इस काया की/च्युति कब होगी ? बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)*

कुम्भ–मुक्तजीव का प्रतीक–में शान्त का 'अनुभाव' जगह-जगह वर्णित हुआ है। गहन साधना और तप से उसका कषाय शान्त हो गया है, समस्त तृष्णा का क्षय हो चुका है, शम या तत्त्वज्ञान हो गया है एवं सभी प्रकार के उपसर्ग और परीषहों को वह पार कर चुका है। सेठ के यहाँ से भेजा हुआ सेवक जब उसके मुक्तभाव या परिपक्वावस्था की परीक्षा करता है, तब उसमें से 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि' की ध्वनि सुनाई पड़ती है, अर्थात् उसके रोम-रोम से यह ध्वनि निकल रही है कि समस्त प्रकार के दुःख आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं। यह शान्त रस और मुक्त वीतराग का अनुभव ही तो है। सेठ के समुद्धार का सारा प्रयास 'शान्त' का प्रचारण ही तो है, उसका कार्य ही है। इन सब चेष्टाओं से उसमें शान्त या मोक्ष की प्रतिष्ठा प्रमाणित होती है।

रहे व्यभिचारी भाव, सो उनके विषय में भी देखना चाहिए। 'इस पर्याय की इति कब होगी'- इस पंक्ति में प्रयुक्त 'कब' पद से 'कालाक्षमत्व' रूप 'औत्सुक्य' नामक व्यभिचारी भाव की व्यंजना है। आलोच्य ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अनेक संचारियों की व्यंजना हुई है। अभीष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति का नाम 'हर्ष' है। इसकी व्यंजना उन पंक्तियों से है जिनमें इष्ट शिल्पी का अपनी तरफ आना वर्णित हुआ है :

"अपनी ओर ही/बढ़ते बढ़ते/आ रहे वह
श्रमिक-चरण···/और/फूली नहीं समाती।" (पृ. २५)

'हर्ष' की व्यंजना अनेकत्र है, वहाँ भी जहाँ घट अनेक परीक्षाओं से गुज़रता हुआ मंज़िल पा लेता है अथवा वहाँ भी जहाँ वह उपासक सपरिवार सेठ को पार लगा देता है। संस्कारजन्य ज्ञान 'स्मृति' है :

"छने जल से कुम्भ को भर कर/आगे बढ़ा कि/वही पुराना स्थान
जहाँ माटी लेने आया है/शिल्पी कुम्भकार वह !
परिवार-सहित कुम्भ ने/कुम्भकार का अभिवादन किया।" (पृ. ४८१)

पुरुष को पराभव महसूस हो और चेहरा विवर्ण या अधोमुख हो जाय तो जो मनोदशा होती है, उसे 'व्रीडा' कहते हैं। कुम्भकार के प्रांगण में मेघ-मुक्ता की ओर लपकती मण्डली और राजा को देख कुम्भ व्यंग्य कसता है, पर कुम्भकार उसके बड़बोलेपन पर प्रताड़ित करता है। तब कुम्भ को अपने किए पर 'व्रीडा' होती है :

"कुम्भकार ने कुम्भ की ओर/बंकिम दृष्टिपात किया !
आत्म-वेदी, पर मर्म-भेदी/काल-मधुर, पर आज कटुक
कुम्भ के कथन को विराम मिले/···किसी भाँति,/और
राजा के प्रति सदाशय व्यक्त हो अपना/इसी आशय से।" (पृ. २१८)

'धृति' वह मनोदशा है जिससे लोभ, शोक, भय आदि से प्रसूत क्षोभ का निवारण हो जाता है। इसमें विवेक, शास्त्र ज्ञान आदि विभाव होते हैं व चापल्य आदि का उपशम अनुभाव। घट की महायात्रा में ऐसे अनेक क्षण आते हैं जब वह उपसर्ग और परीषहों को धृतिपूर्वक सहन करता है। तपन, सागर की ओर से प्रेषित बदली, बादल तथा अन्तिम खण्ड में आतंकवादियों का आक्रमण—ऐसी अनेक भयावह घटनाएँ हैं जिनमें धृतिपूर्वक घट यात्रा तय करता है। स्वयं भी विवेक-प्रसूत धृति धारण करता है और सपरिवार सेठ को भी साहस तथा धृति प्रदान करता है।

"ऊपर घटती इस घटना का अवलोकन/खुली आँखों से कुम्भ-समूह भी कर रहा।
पर,/कुम्भ के मुख पर/भीति की लहर-वैषम्य नहीं है।" (पृ. २५१)

'मति' का तो आगर है यह घट। मति वह मनोदशा है जो अर्थ का निर्धारण करती है और इस निर्धारण के पीछे शास्त्रीय विचार काम करते हैं। शंकाहीनता तथा संशय का उच्छेद आदि अनुभाव होता है। कठिन समय में शीघ्र निर्णय मति से होता है। इस प्रकार शान्त रस के पोषक – उपायावस्था के पोषक - साधनों का सम्यक् उपयोग हुआ है। व्यभिचारी भावों की पुष्कल अभिव्यंजना हुई है।

महाकाव्य के पारम्परिक साँचे में यह भी कहा गया है कि यहाँ एक अंगी रस तो होना ही चाहिए, अंग रूप में अन्य रसों का भी प्रयोग हो सकता है। अंग रूप में व्यंजित रस अपरिपुष्ट होते हैं। फलतः उन्हें औपचारिक रूप में ही रस कहा जाता है। अतिरिक्त अंग रूप रसों के स्थायीभाव व्यभिचारी भाव ही होते हैं।

आलोच्य कृति के दूसरे खण्ड में, जहाँ माटी का रौंदा जाना आरम्भ हुआ है—वहाँ, प्रसंगवश प्रायः नवों रसों की बात आई है। इन रसों की सत्ता तदनुरूप विभाव और अनुभावों की योजना से मूर्त हुई है। पर जैसा कि उपदेशपरक और विचारपरक इस कृति की प्रकृति रही है, ऐसे प्रसंग भी प्रकृति से प्रभावित हुए हैं। आश्रय और आलम्बन प्रायः यहाँ भी अचेतन हैं। फलतः अंगीभूत संवेदना का जिस तरह अंग बनकर इन्हें आना चाहिए, वैसे नहीं आ पाए हैं।

वीर रस

शिल्पी के आजानु पद से माटी लिपटी हुई है और लिपटन की इस क्रिया में महासत्ता माटी की बाहुओं से 'वीर रस' फूट रहा है और कह रहा है शिल्पी से कि वह अपनी विजय कामना की पूर्ति के लिए प्याला भर-भर कर पी ले। परन्तु शिल्पी का वीर्य उसको फटकारता है और सीख देता है कि विजय आग से नहीं पानी से शान्त रस की महायात्रा में

पाया जाता है। अहंकार आग है और विनम्रता पानी। आग पानी पर अपना असर दिखा सकती है पर पानी तो तब भी उसकी सत्ता समाप्त कर सकता है। वीर में अहम्भाव होता है, भले ही धीरोदात्त में वह विनयच्छन्न हो, शान्त में उसका अस्तित्व निःशेष हो जाता है। कुम्भकार शान्त रस का पक्षधर है। वह मानता है कि उसका कहीं भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इस प्रसंग में वीर रस की व्यंजना तो व्याज है। वस्तुतः शान्त के प्रतिपक्षी रूप में उसका नकार ही उपदिष्ट है।

हास्य रस

वीर रस की अनुपयोगिता पर शिल्पी का वक्तव्य सुन कर माटी की महासत्ता के अधरों से हास्य फूट पड़ा और उपहासास्पद बने वीर रस की महत्ता पर कुछ कह चला। शिल्पी ने हास्य का भी उपहास किया और उसकी भी अनुपयोगिता यह कह कर जताई कि खेद-भाव के विनाश हेतु भले ही हास्य उपयोगी हो, पर शान्त में उपयोगी वेद-भाव के विकास हेतु हास्य का त्याग ही अनिवार्य है। कारण, अन्ततः वह भी कषाय ही है। फिर हँसोड़ में कार्याकार्य का विवेक कहाँ होता है और शम के लिए नित्यानित्य के विवेक की परम आवश्यकता होती है।

रौद्र रस

शान्त के पक्षधर शिल्पी पर हास्य ने अपना प्रभाव जमते न देख कर रौद्र का स्मरण किया। अनुभाव वर्णना द्वारा रौद्र का प्राकट्य हुआ, महासत्ता माटी के भीतर से। शिल्पी ने उसे भी फटकारा और सौम्य मुद्रा में निर्भीक होकर बोला। एक है रुद्रता, जो विकृति है और दूसरी ओर भद्रता है, जो प्रकृति है। पहली समिट है और दूसरी अमिट। इस वक्तव्य से रौद्र रस अपनी भयावहता में और भयावह आकार ग्रहण करता है, जिससे शिल्पी में 'भीति' उदित हो, पर शिल्पी मतिमान् है। उसकी मति भीति का सामना करने को उद्यत है—एक सभय है, दूसरा अभय है। बीच में है उभयवती मति। मति अभया हो जाती है। यह शिल्पी पुरुष का प्रभूत प्रभाव है। शान्त के आगे उसका भी वश नहीं चला।

अद्भुत रस

यह एक असाधारण, फलतः अद्भुत घटना थी। ऐसी अद्भुत कि विस्मय को भी विस्मय हो आया। उसकी पलकें अपलक रह गईं और वाणी मूक हो गई।

शृंगार रस

विस्मय का भी शान्त पर कुछ प्रभाव चलते न देख शृंगार के मुख का आब उतरने लगा। शिल्पी को उन विषयान्ध शृंगारिकों पर तरस आया। कारण, वे विषय के अन्धकार में निमग्न हैं। शिल्पी की दृष्टि से रस तो शान्त ही है, शेष में परसंसर्गज विकार हैं। उनमें वैभाविक रस है जो वस्तुतः अरस है। शान्त रस के उपासक को रूप की नहीं, अरूप की प्यास रहती है, इसीलिए जड़ शृंगारों से उसे क्या प्रयोजन ? उसका संगीत संगातीत है और प्रीति अंगातीत। इस प्रकार शृंगार का भी निषेध्य रूप से वर्णन हुआ।

बीभत्स रस

स्वर की नश्वरता और सारहीनता सुनकर प्रकृति की नासा प्रवाहित होने लगी, बीभत्स के विभावों का जमघट लग गया। जिन अंगों को देखकर राग होता है, उन पर बीभत्स वैराग्य पैदा कर मानों वह भी शृंगार को नकार देता है। इस प्रकार बीभत्स शृंगार से हटाकर चेतना को शान्त रस की ओर उन्मुख कर देता है।

करुण रस

प्रकृति और लेखनी ही नहीं, स्वयं करुणा भी अपने बाल-स्वरूप कण-कण में उफनती संघर्ष परायण और ध्वंसावसायी भावों की स्थिति देखकर फफक उठती है। शिल्पी इस अति को देखकर स्तब्ध रह जाता है और कहता है औरों की तुलना में करुणा हेय नहीं, उपादेय है पर उसकी भी सीमा है। उसकी सही स्थिति समझनी है। दिशाबोधिनी

करुणा करने वाला और उसका पात्र बनने वाला, दोनों का मन घुलता है, दोनों कुछ अपूर्व अनुभव करते हैं:

"पर इसे/सही सुख नहीं कह सकते हम।" (पृ. १५४)

यह करुणा दु:ख का आत्यन्तिक क्षय नहीं कर सकती। इसलिए 'करुणा' में दु:ख का आत्यन्तिक क्षय करने वाले शान्त का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। करुणा प्रभावित और प्रवाहित होती है। शान्त न प्रभावित होता है और न प्रवाहित। वह स्थिर है। रचयिता का ध्यान वर्णन करते समय प्रबोध पर अधिक रहता है। तभी रस का प्रसंग आने पर भी कहता है :

"विषय को और विशद करना चाहूँगा।" (पृ. १५६)

वात्सल्य रस

करुणा अलग भाव है और वात्सल्य अलग। इसमें गुरुजन आश्रय होते हैं और शिशु आलम्बन। महासत्ता माँ आश्रय है यहाँ। करुणा की भाँति यहाँ भी द्वैत होता है - आश्रय-आलम्बन का। अद्वैत मौन रहता है। यह भी क्षणभंगुर भाव है। अत: स्थायी और अविनश्वर शान्त का उसमें भी अन्तर्भाव सम्भव नहीं। वात्सल्य और करुणा ये दोनों ही लौकिक भाव हैं। सब रसों का अन्त होना ही शान्त रस है।

ऊपर रसों का अभिव्यंजन कम और वर्णन ही अधिक है, जिसमें रचयिता उनके संवेदनात्मक पक्ष को गौण रखकर शान्त को रसराज बताता हुआ वैचारिक पक्ष पर बल देता है। जिस प्रकार शास्त्रग्रन्थों में रस-सामग्री का वर्णन होता है, यहाँ बहुत कुछ वैसा ही है। कहीं-कहीं संवेदनात्मकता की भी छौंक है पर मूलत: झुकाव इस प्रतिपाद्य पर है कि शान्त अन्य रसों में अनन्तर्भुक्त तथा उनका उपमर्दी है। वह आत्मास्वाद रूप होने से और परसंसर्गज भावों से अलग है। घट, जिस साधक जीवात्मा का प्रतीक है उसमें शान्त रस और मोक्ष पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा ही रचयिता का लक्ष्य है। आश्रय में आरम्भ से ही नित्यानित्यविवेकजन्मा शम की प्रतिष्ठा है, वैभाविक सुख में वैराग्य है। एतदर्थ अपेक्षित सभी शास्त्रोक्त उपायों का सहारा लेता है, गुरु का मार्गनिर्देश पाता है। सभी प्रकार के कषाय अथवा विकारों का नाश करता है। यह बात पहले विस्तार से कही जा चुकी है कि शान्त की पार्यन्तिक स्थिति को वर्णन या व्यंजना में भी उतारना सम्भव नहीं, वह अनुभवैकगम्य है। उसकी उपायावस्था का ही वर्णन सम्भव है और वह हुआ है। और रसों की वासना सहृदय सामाजिक मात्र में है पर शान्त की या उसके स्थायी भाव (शम) की मुक्त में ही सम्भव है। इसके रसयिता परिगणित ही हैं। ऐसे प्रसंगों में समाधिस्थ हो जाते होंगे और फिर व्युत्थान में कुछ समय तक चित्त की प्रशान्तवाहिता रहती ही है।

वैचारिक पक्ष

'मानस तरंग' में रचयिता कहता है : "ऐसे ही कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है।" यही वैराग्य या निर्वेद नामक स्थायी भाव प्रकृत ग्रन्थ का अंगी रस है, यह बात पहले कही जा चुकी है। प्रयोजन की दृष्टि से मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ ही इसका प्रतिपाद्य है। शास्त्र की दृष्टि से मोक्ष और काव्य की दृष्टि से शान्त रस इसका प्रतिपाद्य है, इसीलिए यह कृति शास्त्रकाव्य है।

जैन प्रस्थान के इस शास्त्रकाव्य में काव्य के मूल उपादान संवेदना के घटक 'विचार' पक्ष का जहाँ तक सम्बन्ध है, रचयिता की मूल विचारधारा अपने प्रस्थान की होनी स्वाभाविक है। गन्तव्य (मोक्ष) के प्रति इस प्रस्थान में 'सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र' समुदित रूप से 'मोक्ष' का 'मार्ग' है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष निष्पन्न नहीं होगा। पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर का उन्मेष होता है। 'दर्शन' 'ज्ञान' में कारण है और 'दर्शन' सहित 'ज्ञान'

'चारित्र' में। फिर तीनों सम्मिलित रूप से मोक्ष में साधन हैं, उपाय हैं। इसी के साथ यह भी जानना चाहिए कि यदि 'मुक्त' पुरुष में 'चारित्र' है तो 'ज्ञान' आवश्यक है और 'ज्ञान' है तो 'दर्शन' की सत्ता अनिवार्य है। मतलब 'आस्था' के साथ 'ज्ञान'-पूर्वक किया गया 'आचरण' ही अभीष्ट फल पैदा करता है। ज्ञानहीन की क्रिया और क्रियाहीन का ज्ञान व्यर्थ है और ये दोनों व्यर्थ हैं—आस्थाहीन के।

मोक्षमार्गी 'घट' जब 'मोक्ष' के लिए कथा के आरम्भ में ही अपनी गहरी अभीप्सा या संकल्प सच्चे दिल अथवा मुक्त हृदय से व्यक्त करता है तब अनुरूप प्रतिध्वनि महासत्ता धरती से निकलती है। वह सबसे पहले 'आस्था' अर्थात् 'सम्यग् दर्शन' की ही बात करती है। वह कहती है—'प्रति सत्ता में अपरिमेय सम्भावनाएँ होती हैं जो अनुरूप निमित्त पाकर चरितार्थ होती हैं।' 'सबसे पहले रहस्य में पड़ी इस गन्ध का अनुपान 'आस्था की नासा' से करना होगा' (पृ.७-८); 'आस्था से वास्ता होने पर रास्ता स्वयं शास्ता होकर सम्बोधित करता हुआ साधक को साथी बन साथ देता है' (पृ. ९); 'साधना की अँगुलियाँ जब आस्था के तारों पर चलती हैं तभी सार्थक जीवन में स्वरातीत सरगम झरती है' (पृ. ९)। गम्भीर साधना की ज्वाला से जब घट की आत्मा का समग्र विकार क्षीण हो जाता है और सेठ का सेवक उस परिपक्व घट की परीक्षा करता है तब उसमें से 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि' यानी 'सारे गम पद नहीं' का स्वर सुनाई पड़ता है, अर्थात् आत्मा का स्वभाव समस्त दुःखों से मुक्त है। वह नित्य निरतिशय आनन्द स्वरूप है, यह स्पष्ट हो जाता है। उसके समस्त बन्ध हेतु— मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग- क्षीण हो चुके हैं। उसमें 'सम्यक् ज्ञान' का उदय हो चुका है। वह साधना के सभी गुणस्थानों पर आरूढ़ हो चुका है। जब तक साधक स्व-भाव में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता तब तक आत्यन्तिक मुक्ति सम्भव नहीं है। जब साधनात्मक मन्थन से नवनीत दधि से बाहर आ गया, तब फिर उससे मिलकर सांकर्य की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। चतुर्थ खण्ड में घट के सभी आवरक कर्मों का क्षय हो चुका है, अतः वह सम्यक् ज्ञानी है। वह प्रमाण तथा नयों द्वारा सभी तत्त्वों— जीव, अजीव (धर्म, अधर्म, काल, आकाश) आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष- का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसके ज्ञान में संशय, विपर्यास तथा अनध्यवसाय नहीं होता। तत्त्वतः चारित्र आत्मा का स्वरूप ही है। अतः उसकी अभिव्यक्ति दर्शन और ज्ञानगत सम्यक्त्व से होती है। पंच महाव्रत इसी स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए हैं। सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए साधक को जिस नैतिक उन्नति के अनुसार आगे बढ़ना पड़ता है, वे ही मोक्षमार्ग के सोपान चतुर्दश गुणस्थान हैं। आलोच्य कृति के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खण्डों की समस्त साधना की व्याख्या इनके आलोक में की जा सकती है। सम्यग् ज्ञानी से आचरण या चारित्र वैसे ही फूटता है जैसे पुष्प से गन्ध। मुक्त घट शरणागत सेठ परिवार की मुक्ति में स्वयं प्रवृत्त होता है। 'मोक्षशास्त्र' में कहा गया है कि कषाय, पाप और व्यसन आदि संसार के कारणों से विरक्त होना तथा देव पूजा, दान आदि शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होना सम्यक् चारित्र है।

कुम्भ कहता है :

> *" 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में*
> *जानना ही सही ज्ञान है,/और/'स्व' में रमण करना*
> *सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ. ३७५)*

आगे वह अपनी प्रकृति का परिचय देता हुआ झारी से कहता है :

> *"किसी रंग-रोगन का मुझ पर प्रभाव नहीं,/सदा-सर्वथा एक-सी दशा है मेरी*
> *इसी का नाम तो समता है।" (पृ. ३७८)*

जैन प्रस्थान में तीर्थंकरत्व ही सेवा का आदर्श है। केवलज्ञान की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थान में और सिद्धिलाभ चौदहवें गुणस्थान को पार करने पर होता है। सामान्यतः केवलज्ञान पाकर भी उसे सभी प्राणियों में देने का कार्य नहीं होता, पर यह तीर्थंकर में अवश्य ही होता है, जो एक प्रकार से सेवा भाव है। ब्राह्मण धर्म का सद्गुरु, बुद्ध धर्म का सम्बुद्ध और जैन प्रस्थान का तीर्थंकर भी सेवा या निष्काम कर्म का परम आदर्श है। जब तक जीव का ग्रन्थिविच्छेद नहीं होता तब तक शुद्धिलाभ नहीं होता। शुद्धिलाभ की पूर्णता तीर्थंकरत्व में ही है। जिस जीव में ग्रन्थिविच्छेद होते ही विश्ववेदना का अनुभव होने लगे, फलतः उसकी निवृत्ति में संलग्न हो जाय, वही जीव तीर्थंकर हो पाता है और वही सेवा का उच्च आदर्श प्राप्त कर सकता है। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद सिद्ध घट अपने प्रति समर्पित (सेठ परिवार) के उद्धार में संलग्न हो जाता है। इसी सेवाभाव और चारित्र में कृति परिसमाप्त होती है। कृति की परिसमाप्ति में सन्त की धारणा है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है।" (पृ. ४८६)

साधक के संकल्प की यह निष्पन्नता है।

साधक घट की सम्यक् श्रद्धा कैसी है—निसर्गज अथवा अधिगमज ? अनन्त सम्भावनाओं का उपादान तो वह है, पर निमित्त कौन है ? मोक्ष, इस बन्धन से कैसे प्राप्त हो—यह बेचैनी तो घट में सहज है, परन्तु तदर्थ अपेक्षित मोक्षमार्ग का निर्देश कौन करे ? सम्यग्दर्शन कैसे और कहाँ से आए ? इस कृति में अपनी ही अंशी धरती के उपदेश से आस्था या श्रद्धा की नासा घट को मिलती है, अतः अधिगमज ही कहा जा सकता है।

ब्राह्मण प्रस्थान में उपादानगत सम्भावनओं को मूर्त होने के लिए पारमेश्वर अनुग्रह की आवश्यकता नहीं है। कारण, वहाँ अतिरिक्त ईश्वर की कल्पना ही नहीं है। संसार अनादि है। उसके निर्माण के लिए ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। 'मानस तरंग' में इसकी सम्यक् उपस्थापना की गई है। यहाँ केवल उपादान है और उसमें निहित सम्भवानाओं को मूर्त होने में निमित्त कारण भी हैं, जिनमें से कुछ उदासीन होते हैं और कुछ प्रेरक। उनका प्रतिबन्ध राहित्य तो अपेक्षित है ही, सामग्रध भी अपेक्षित है। आलोच्य कृति में अपने प्रस्थान की अनेक दार्शनिक और पारिभाषिक पदावलियाँ प्रयुक्त हुई हैं, उन सब पर विचार इस संक्षिप्त भूमिका में सम्भव नहीं है। ग्रन्थकार की तो प्रतिज्ञा ही है कि यहाँ काव्योचित और रोचक पद्धति पर सैद्धान्तिक मान्यताएँ निरूपित की जायँ, फलतः वे संवादों से भरी पड़ी हैं।

आचार्यश्री ने भारतीय ही नहीं, प्रायः विश्व के सभी दर्शनों में बहुचर्चित 'नियति' और 'पुरुषार्थ' का द्वन्द्व भी उठाया है और अपनी चिर परिचित निरुक्ति पद्धति का भी सहारा लिया है। 'नियति' और 'पुरुषार्थ' की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ सम्भव हैं। चतुर्थ खण्ड में सेठ अतिथि सद्गुरु से प्रार्थना करता है :

"कैसे बढ़ूँ मैं···अब···आगे !/क्या पूरा का पूरा आशावादी बनूँ ?
या सब कुछ नियति पर छोड़ दूँ ?/छोड़ दूँ पुरुषार्थ को ?
हे परम-पुरुष ! बताओ क्या करूँ ?/...कर्ता स्वतन्त्र होता है—
यह सिद्धान्त सदोष है क्या ?" (पृ.३४७-३४८)

सद्गुरु उत्तर देते हैं :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन — स्थिरता है

अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है,
और/'पुरुष' यानी आत्मा – परमात्मा है
'अर्थ' यानी प्राप्तव्य – प्रयोजन है/आत्मा को छोड़कर
सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है।'' (पृ. ३४९)

यह आचार्यश्री की प्रौढ़ोक्ति है। रेखांकित पंक्तियाँ उनकी दृष्टि से नियति और पुरुषार्थ का स्वरूप स्पष्ट करती हैं। इसे प्रकृत प्रस्थान के वैचारिक आलोक में सविस्तार देखना चाहिए।

जैन दर्शन में नियति और पुरुषार्थ

अमृतचन्द्र सूरि ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में अनादि बन्ध का वर्णन करते हुए कहा :

''जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि''॥१३॥

जीव द्वारा किए गए राग-द्वेष-मोह आदि परिणामों के निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वतः ही कर्म रूप से परिणत हो जाते हैं। आत्मा अपने चिदात्मक भावों से स्वयं परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो उसमें निमित्त मात्र है। जीव और पुद्गल एक दूसरे के परिणमन में परस्पर निमित्त होते हैं। पूर्व कर्म से रागद्वेष और रागद्वेष से पुद्गल कर्मबन्ध की धारा बीज वृक्ष की सन्तति की तरह अनादिकाल से चल रही है।

पूर्वकर्म के उदय से राग-द्वेष की वासना और राग-द्वेष की वासना से नूतन कर्मबन्ध का चक्र कैसे उच्छिन्न हो, यही मूल रोग है। वस्तुतः पूर्वकर्म के उदय से होनेवाला कर्मफलभूत राग-द्वेष-वासना आदि का भोगना कर्मबन्धक नहीं होता, किन्तु भोगकाल में जो नूतन राग-द्वेष रूप अध्यवसान भाव होते रहे हैं, वे बन्धक होते हैं। ऐसा होता है मिथ्यादृष्टि को न कि सम्यग्दृष्टि को। सम्यग्दृष्टि का भोग नई वासना पैदा नहीं करता। वह पूर्व कर्म को शान्त करता है और नूतन पैदा नहीं होने देता। मलतब सम्यग्दृष्टि का कर्मभोग निर्जरा ही नहीं, संवर का भी कारण बनता है।

आत्मा का स्वरूप उपयोग है। आत्मा की चैतन्य शक्ति को 'उपयोग' कहते हैं। यह चितिशक्ति बाह्य-आभ्यन्तर कारणों से यथासम्भव ज्ञानाकार पर्याय को और दर्शनाकार पर्याय को धारण करती है। जिस समय चैतन्य शक्ति ज्ञेय को जानती है उस समय साकार होकर 'ज्ञान' कहलाती है तथा जिस समय मात्र चैतन्याकार रहकर निराकार रहती है तब 'दर्शन' कहलाती है। दर्शन और ज्ञान, क्रम से होने वाली पर्यायें हैं। निरावरण दशा में चैतन्य अपने शुद्ध चैतन्य रूप में लीन रहता है। इस अनिर्वचनीय स्वरूपमात्र प्रतिष्ठित आत्ममात्र दशा को ही 'निर्वाण' कहते हैं। निर्वाण अर्थात् वासनाओं का निर्वाण। आत्मदृष्टि ही बन्ध का उच्छेद करती है। बुद्ध को आत्मा से चिढ़ है। वह उस आत्मसम्बन्धी नित्य दृष्टि को ही सर्व अनर्थमूल मानते हैं। वास्तव में सर्व अनर्थमूल आत्मस्वरूप का अन्यथावबोध है।

धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्य कालाणु का सदृश परिणमन ही होता है पर रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुण वाले पुद्गल परमाणुओं का शुद्ध परिणमन तो होता ही है, स्कन्धात्मक अशुद्ध परिणमन भी होता है। स्थूल शरीर और कर्ममय सूक्ष्म शरीर से बद्ध जीव का विभावात्मक या विकारी परिणमन होता है, पर स्वरूप बोध हो जाने पर शरीरों के उच्छिन्न होने से शुद्ध चिन्मात्र रह जाता है। फिर उसे अन्यत्र अहंकार या ममकार नहीं होता। धर्मकीर्ति का यह वक्तव्य

ठीक नहीं है :

"आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥" प्र.वा.- १।१२१ ॥

आत्मा तीन प्रकार के हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीरादि परपदार्थ में आत्मबुद्धि है तो बहिरात्मा, सम्यग्दृष्टि की पर-पदार्थ से आत्मबुद्धि हट गई है सो अन्तरात्मा और वही क्रमशः परमात्मा हो जाता है।

जीव और अजीव का योग ही बन्ध है और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग–ये पाँच उसके कारण हैं। असम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। अविरति- व्रताचरण का अभाव, विशिष्ट रति का अभाव है। प्रमाद असावधानी है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय हैं। काय-वचन एवं मन का कर्म यानी कार्य ही योग है। बन्धन-मुक्ति ही मोक्ष है, जो इन कारणों के हटाने से सम्भव है। मोक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र–तीनों के होने से होता है, चारित्र शून्य मात्र सम्यग्ज्ञान या मात्र सम्यग्दर्शन से नहीं। वैदिकधारा मात्र ज्ञान से ही मुक्ति मानती है।

स्वरूपप्रच्यव मिथ्या दृष्टि से होता है, अतः सर्वविध पतन का मूल कारण वही है। इसलिए सम्यक् दृष्टि होना आवश्यक है। यह हो कैसे ? द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके परिणाम अनिवार्य होकर भी अनियत हैं। परिणमन निमित्त के सद्भाव पर निर्भर करता है। जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का ही खेल यह जगत् है। दोनों परस्पर के परिणमन में निमित्त हैं और दोनों की अपनी शक्तियाँ नियत हैं। इन्हें कोई कम-ज्यादा नहीं कर सकता। वहाँ हमारा पुरुषार्थ काम नहीं दे सकता। हमारा पुरुषार्थ सम्भावना को उपलब्धि का आकार देने में है, कोयले के हीरापर्याय के विकास में है। कोयले में यह सम्भावना है। जब कर्मबन्ध और तदनुरूप निमित्तवश प्रत्येक जीव का प्रतिसमय कार्यक्रम निश्चित है अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नहीं, स्वकर्तृत्व भी नहीं है, तब पुरुषार्थ क्या अर्थ रखता है ? स्वातन्त्र्य कहाँ है पुरुषार्थ का? नियतिवाद में पुरुषार्थ कहाँ है ? उपादान में जैसी योग्यता होगी और निमित्त जैसा मिलेगा, वैसा होगा। इस नीरन्ध्र-लौहचक्र में स्वातन्त्र्य कहाँ ? पुरुषार्थ कहाँ ? पाप-पुण्य कहाँ ?

परिणमन नियत है, पर जिस हेतु से नियत है, उसे हेतु बनने में तीन कारण हैं–एक तो वह कार्य से अव्यवहित 'पूर्वक्षण में विद्यमान' हो, दूसरे 'अप्रतिबद्ध' हो, तीसरे 'अविकल' हो। रागादि कषाय का, जिन का उपादान आत्मा है, निमित्त पुद्गल हैं, अतएव रागादि कषाय या वासना पौद्गलिक कहे जाते हैं। अध्यात्म उभयविध कारण से कार्य होता है, यह मानता है, पर यह उपादान का सुधार चाहता है, उसकी दृष्टि इसी पर रहती है। अतः वह प्रतिसमय अपने मूलस्वरूप की याद दिलाता रहता है कि तेरा स्वरूप तो शुद्ध है, ये रागादि कुभाव परनिमित्त से उत्पन्न होते हैं, अतः पर निमित्तों को छोड़। इसी में अनन्त पुरुषार्थ है, न कि नियतिवाद की निष्क्रियता में। कार्य मात्र के लिए उपादान और निमित्त–दोनों कारण हैं। दोनों की समग्रता ही द्रव्यगत निजस्वभाव है। यह सही है कि अध्यात्मनिष्ठ पुरुष के लिए बाह्य निमित्त गौण हैं। मोक्ष के लिए दोनों आवश्यक हैं। स्वामी समन्तभद्र ने 'स्वयम्भू-स्तोत्रम्' में कहा है :

"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।
नैवाऽन्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्" ॥६०॥

जीव के भावों के निमित्त से पुद्गलों का कर्मरूप पर्याय होता है और पुद्गलों के कर्मरूप पर्याय से जीव रागादि रूप से परिणमन करता है। उपादानदृष्टि से आत्मा अपने भावों का कर्ता है। पुद्गल के ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मात्मक परिणमन का कर्ता नहीं है। अहंकार या ममकार घातक है। उपादान आत्मा के गुण-विकास में हमारा स्वातन्त्र्य है, पर वे गुण यदि आत्मा में न होते तो क्या मैं पैदा कर लेता ? या अनुरूप निमित्त न मिलता तो उपादान में भी सम्भावित गुणों

का विकास हो पाता ? पुरुषार्थ में इस प्रकार निश्चय नय से स्वातन्त्र्य है, पर इसका अहंकार नहीं होना चाहिए। साथ ही उपादान योग्यता के ही सब कुछ होने से अध्यात्म का अकर्तृत्व भी है। निश्चय नय वस्तु की परनिरपेक्ष स्वभूत दशा का वर्णन करता है जबकि व्यवहार नय परसापेक्ष अवस्थाओं का। निश्चय नय से आत्मा अकर्ता है, व्यवहार नय से कर्ता।

"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः" (कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्, ३८)- भावशून्य क्रियाएँ सफल नहीं होतीं। यह भाव है–निश्चय दृष्टि। निश्चय नय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूप को कहता है। उसकी दृष्टि परम वीतरागता पर रहती है। वे ही क्रियाएँ मोक्ष में सार्थक हैं जो परम वीतरागता की साधिका और पोषिका हैं।

इस प्रकार नियति और पुरुष के स्वातन्त्र्य से पुरुषार्थ–दोनों का सहभाव निरूपित किया जाता है और उसकी ग्रन्थि सुलझाई जाती है।

आलोच्य कृति में दर्शनोचित चिरन्तन चिन्तन के तो विभिन्न पक्ष चर्चित हैं ही, जिन पर स्वतन्त्र ग्रन्थाकार लेखन सम्भव है, उनके साथ समकालीन समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है। उनकी भी संक्षिप्त चर्चा प्रासंगिक होगी। ऐसे प्रसंग अधिकांशतः चतुर्थ खण्ड में हैं। उदाहरणार्थ :

(क) माटी और धरती की महिमा
(ख) अवाम का महत्त्व
(ग) नारी महिमा और उनकी वर्तमान स्थिति
(घ) परिग्रहवृत्ति और तज्जन्य शोषण का ताण्डव
(ङ) आतंकवाद और मानवता
(च) स्टार वार का संकेत
(छ) बरनाला प्रभृति अन्य प्रासंगिक और सामयिक संकेत

रचयिता अपने समय की समस्याओं से कैसे तटस्थ रह सकता है ? उसका ध्यान उपलब्धियों पर तो है, पर उससे ज़्यादा वह सम्भावनाओं को काव्य का विषय बनाता है, गगन की अपेक्षा धरती का यशोगान करता है, कर की अपेक्षा पाँव का महत्त्व निरूपण ज़्यादा करता है। सम्भावना किस तरह संघर्ष करती हुई उपलब्धि बनती है, इसको गाथाबद्ध करता है। उसका नायक स्वर्ण का घट नहीं, माटी का घट बनता है। आज का युग माना कि बौनों का है, आज हमारा विश्वमंच महान् विभूतियों के प्रकाश से कम, हैवानों के अन्धकार से ज़्यादा घिरा है। परिग्रही और स्वार्थान्धवृत्ति समाज में शोषण और विश्वमंच पर आतंकवाद और स्टार वार की विभीषिकाएँ पैदा कर रही है। नारी और गरीब त्रस्त हैं। स्वर्ण का वर्चस्व है। उसके पास भौतिक हैवानियत भरी ताकत है। वह इन्सान पर अपना रक्तिम पंजा जमाए हुए है। पाणिग्रहण के बाद प्राणग्रहण हो रहा है। रचयिता इन सभी समस्याओं का समाधान आत्मवादी प्रस्थान में देखता है। पदार्थवादी वैज्ञानिक चिन्तन 'भौतिकता' को ही काम्य बनाता है जो अपनी विनश्वरता और सीमाओं में अपर्याप्त पढ़कर दुर्निवार और हैवानियत भरे संघर्ष को आमन्त्रित करता है। यदि हमें इन सब समस्याओं पर विजय पानी है तो चेतनावाद की शरण में जाना ही होगा। वहाँ ऐसी सम्पत्ति है जो अविनश्वर है, पर-निरपेक्ष है, नित्य और निरतिशय है तथा अविनश्वर और सारवान् है। इसीलिए ग्रन्थ समाप्त करता हुआ रचयिता सन्त के स्वर में कहता है :

"इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !" (पृ. ४८८)

इस प्रकार कृति का वैचारिक पक्ष न केवल आमुष्मिक अपितु ऐहिक पक्ष से भी समृद्ध है।

प्रस्तुत कृति का भाषापक्षीय विवेचन

भाषा यदि सम्प्रेषण का माध्यम है तो कवि की कल्पना के लिए ऐसा विश्व में कुछ भी नहीं है जो कुछ न कुछ उसे सम्प्रेषित न करता हो। अत: व्यापक अर्थ में भाषा का स्वरूप अपरिमेय और अपरिभाष्य है। 'मूकमाटी' की भाषा ऐसी न होती हुई भी ऐसी ही है। उसमें क्या नहीं बोलता। न बोलना भी बोलता है, मौन भी मुखर है। प्रस्तुत प्रसंग में भाषा का यह स्वरूप अनुपयोगी है। इस सन्दर्भ में भाषा–कवि की भाषा, कवि कर्म की भाषा, काव्य की भाषा वागर्थमयी है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है :

"आखर अरथ कविहिं बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहिं नट नाचा॥"

ध्वनिप्रस्थान परमाचार्य आनन्दवर्धन ने भी महाकवि की पहचान बताते हुए कहा है :

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥" ध्व.प्र.उ./८

अर्थात् महाकवि की अपनी पहचान 'कुछ और' ही अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति के अनुरूप सामर्थ्य सम्पन्न और ही शब्द के प्रयोग में है। ये शब्दार्थ यत्नपूर्वक पुनः पुनः अनुसन्धान या भावन की अपेक्षा करते हैं। भारतीय आचार्यों ने व्यवहारोपयोगी और शास्त्रीय या व्यवस्थित चिन्तन में उपयोगी 'सामान्य भाषा' से 'काव्यभाषा' का व्यतिरेक निरूपित करते हुए कहा है कि सामान्यभाषा का प्रयोजन या तो व्यवहार चलाना होता है या ज्ञान की परिधि का विस्तार। काव्यभाषा में ये बातें गौण होती हैं। उसका सम्प्रेष्य 'कुछ और' ही होता है, जिसे प्रयोजनातीत प्रयोजन कहा गया है– कांट के शब्दों में Purposeless Purpose. इसे शब्दान्तर से अ-व्यक्तिगत आस्वाद कह सकते हैं, अ-लौकिक सौन्दर्य संवेदन कह सकते हैं सहृदयग्राहक की दृष्टि से। सर्जक उसी मनोदशा का सम्प्रेषण अनुरूप वाग्भंगिमा से करता है। भारतीय परम्परा विधेयात्मक पद्धति पर उसे अपनी प्रकृति में सामाजिक और शिव मानती है। समाजानुमोदित सामग्री को सुन्दर ढंग से सम्प्रेषित करने के लिए (समाजानुमोदित मनोदशा में) सर्जक जिस भाषा को अपनी अनुरूपता में पकड़ता है, वही काव्यभाषा है। आनन्दवर्धन इसे 'ललितोचितसन्निवेशचारु' कहते हैं और पण्डितराज 'समुचितललितसन्निवेशचारु'। अभिनव गुप्त 'ललित' की व्याख्या करते हुए उसे 'गुण और अलंकार' परक मानते हैं। गुण-अलंकारमण्डित काव्यभाषा आस्वाद के भावन में समर्थ होती है, इसीलिए वह उचित है। पण्डितराज का आशय स्पष्ट करते हुए नागेश भट्ट कहते हैं कि यदि सन्निवेश– शब्दसन्निवेश सम्प्रेष्य आस्वाद के अनुरूप है तो वह समुचित है और समुचित है तो ही 'ललित' है। मतलब भारतीय साहित्यिक परम्परा में दोष रहित भाषा ही काव्यभाषा बनती है जब गुण और अलंकार से मण्डित हो। कुन्तक सामान्य भाषा को काव्यभाषा बनने के लिए आवश्यक मानते हैं कि वह कवि की प्रतिभा से प्रसूत वक्रता या बाँकपन से मण्डित हो। यह बाँकपन व्यवहार और शास्त्र की पिटी-पिटाई लीक से हटकर प्रयुक्त की गई काव्यभाषा में होता है। कुन्तक सम्प्रेष्य 'चारुता' या 'सौन्दर्य' को प्रतिभा-प्रसूत मानता है। वह कहता है :

"यत् किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।"

काव्य में सम्प्रेष्य 'चारुता' प्रतिभा या कविव्यापार से ही उत्पन्न है। इसी चारुता से मण्डित होकर शब्दार्थ 'कुछ

और हो' जान पड़ते हैं। वे काव्योचित शब्दार्थ या काव्य की भाषा माने जाते हैं। इसीलिए 'प्रतिभा' का स्वरूप निरूपित करते हुए कहा गया है कि वह 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमप्रज्ञा' ही है। प्रश्न यह है कि वस्तु में प्रतीत यह अपूर्वता वस्तु की निजी विशेषता है या उत्पादित ? आनन्दवर्धन और कुन्तक– दोनों ही अपने-अपने ढंग से इसका उत्तर देते हैं। आनन्दवर्द्धन का पक्ष है कि काव्य भी एक प्रस्थान है, जीवन के चरम प्रयोजन के लाभ का और यह लाभ है 'निजचित्स्वरूपविश्रान्ति' या 'स्वरूपबोध'। कवि इनकी दृष्टि से दो प्रकार के हैं–परिणत प्रज्ञ और प्राथमिक या आभ्यासिक। प्राथमिक या आभ्यासिक कवि की तो नहीं परन्तु परिणत प्रज्ञ कवि का व्यापार, कवि कर्म तदनुरूप 'विभावादि संयोजनात्मा' होता है। उनकी दृष्टि में यही कवि का मुख्य कर्म है। सर्जक काव्य निर्माणवेला में इसी आस्वादमय स्वरूपबोध की लोकोत्तर भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। इस काव्यानुभूति के आवेश में निष्णात शब्दार्थ जब जैविकी प्रक्रिया से व्यक्त होते हैं तो कुछ और या अपूर्व जान पड़ते हैं। इस प्रातिभ आवेश में निसर्गजात फूट पड़ने वाले काव्यप्रवाह के अन्तर्गत अलंकार के निमित्त अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता। वह 'अपृथग्यत्नलनिर्वर्त्य' होता है। रहा गुण, वह तो उस आस्वाद की निसर्ग सिद्ध विशेषता है। इस प्रकार प्रातिभ आवेश में स्वतः समुच्छ्वसित काव्यभाषा 'गुणालंकारमण्डित' होकर ही निकलती है। उसका बाद में सायास मण्डन नहीं होता। उसके 'वाचक' और 'वाच्य' भी कुछ और होते हैं। अरस्तू इसे Strange Word कहते हैं। अजनबी या अपूर्व का अर्थ यह नहीं है कि वे अपरिचित या सर्वथा अपरिचित होते हैं आनन्दवर्धन कहते हैं : "सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः"–वसन्त में जैसे रहते वे ही द्रुम हैं, पर नई आभा से मण्डित होकर नए से लगते हैं, इसी प्रकार इस काव्यभाषा की भी स्थिति है। वह परिचित होकर भी अपरिचित है, अतः 'कुछ और' या 'अपूर्व' है। शब्द और अर्थ का अभेद होने से यह अपूर्वता उभयनिष्ठ है। वह कहते हैं : "वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद् रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते।" शास्त्र और व्यवहार की बात छोड़िए, काव्य में जो (वाचक और) वाच्यार्थ प्रतीत होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य जैसा यानी प्रत्यक्षायमाण लगता है, अपनी समस्त व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ। व्यवहार और शास्त्र में मात्र अर्थ ग्रहण होता है पर काव्य में बिम्बार्थ ग्रहण होता है, बिम्ब रूप में, संश्लिष्ट रूप में अर्थ का ग्रहण होता है। इसे अर्थ संश्लेष कह सकते हैं। इसी में कवि की सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रकाश होता है। कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन चारुता या अपूर्वता केवल भाषा के व्यंजक और व्यंग्यमय शब्दार्थ में ही मानते हैं, पर यहाँ तो उस अपूर्वता की सत्ता वाच्यार्थ में भी बताई जा रही है, सो कैसे ? व्यंजना स्वरूपबोधमय आस्वाद की प्रक्रिया है। पण्डितराज के शब्दों में वह स्वरूप पर पड़े हुए आवरण का भंग है। उन्होंने कहा है : "व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्"-व्यक्ति या व्यंजना निरावरण चित् का ही नामान्तर है जो विज्ञानवादी बौद्धों की भाँति स्वरूपभूत आनन्द या आस्वाद का प्रकाशक होता है। 'प्रकाश'कार ने कहा है : "स्वाकार इव"–विज्ञान अपने ही आकार का प्रकाशक होता है। वस्तुतः कवि की प्रतिभा कोई नियम नहीं जानती, वह किसी नियम या सिद्धान्त से नहीं बँधती, तब इस नियम से कैसे बँध जायगी कि काव्योचित चारुता का सम्बन्ध व्यंजक शब्द या व्यंग्य अर्थ से ही है। यही तो प्रतिभा का स्वातन्त्र्य है कि वह चारुता का उद्रेक कहीं भी कर सकती है, वाच्यार्थ हो या व्यंग्यार्थ।

महिमभट्ट ने भी प्रतिभा या कवि व्यापार का स्वरूप निरूपित करते हुए माना है कि वह कविरूपी शिव की तीसरी आँख है जिससे वह व्यवहित-अव्यवहित, विप्रकृष्ट-अविप्रकृष्ट यानी देशकालगत और देशकालातीत समस्त विश्व के पदार्थजात का साक्षात्कार करती है। उनका कहना है कि पदार्थ का स्वरूप दो प्रकार का होता है– सामान्य और विशिष्ट। सामान्य स्वरूप परोक्ष प्रमाण से प्राप्त होता है और विशिष्ट रूप एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से। यही प्रत्यक्षग्राह्य विशिष्ट रूप ही सत्कवियों की प्रतिभाप्रसूत वाणी का विषय बनता है। कारण, प्रतिभा नाम की जो उसकी तीसरी आँख है, उससे वह पदार्थजात की असाधारणता, विशिष्टता, कुछ और का ग्रहण करती है। क्रोचे ने भी कहा

है ज्ञान का इण्ट्यूटिव रूप 'व्यक्ति' या 'विशिष्ट' को और लाजिकल रूप 'सामान्य' को अपना विषय बनाता है। प्रतिभा द्वारा दृष्ट पदार्थ का यह असाधारण रूप, अपूर्व रूप, सुन्दर रूप पदार्थ का स्वाभाविक धर्म है, उत्पादित या आरोपित नहीं है।

कुन्तक भी इसी तथ्य को अपने ढंग से रेखांकित करते हैं। उनका भी मानना है कि प्रतिभा ही कवि व्यापार है और वही वक्रता है। काव्यभाषा की, सामान्य भाषा की अपेक्षा जो वैशिष्ट्य है, वह इसी प्रतिभा की प्रसूति है।

इन पारम्परिक भारतीय आचार्यों के उपर्युक्त विवेचन से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह कि चारुता या पदार्थगत सुभग तत्त्व पदार्थ के स्पन्दमय स्वभाव में है। उसे सक्षम सर्जक प्रतिभा से कुरेदकर उभार देता है, वैयक्तिक विशेषताओं से मण्डित (अर्थ मात्र नहीं) संश्लिष्ट अर्थ या बिम्बार्थ का उपस्थापन करता है। हाँ, यदि प्रतिभा की नैसर्गिक आँख सर्जक में नहीं है तो वह उपस्थाप्य अर्थ में रमणीयता का आधान करता है, ऊपर से डालता है। ये सर्जक प्राथमिक या आभ्यासिक हैं। वक्रोक्तिजीवितकार ने इन दोनों प्रकार के कविकर्मों को दृष्टिगत कर कहा है :

"लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते-
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा कविः।
वन्दे द्वावपि तावुभौ···।"

अर्थात् प्रतिभा सम्पन्न कवि वस्तुमात्र में अव्यक्त रूप से निहित सूक्ष्म सुभगतत्त्व को अपनी वाणी से उभारकर सहृदय ग्राहक को दृष्टिगोचर करा देता है, पर जिसमें यह आँख नहीं है, वह भी प्रयत्नपूर्वक वर्ण्यवस्तु को मनोहर बना देता है। दोनों ही प्रकार के कवि वन्दनीय हैं।

जो आधुनिक आलोचक भारतीय आचार्यों के काव्यार्थ– संश्लिष्ट अर्थ या बिम्बार्थ के विवेचन को नहीं जानते और जो नहीं जानते कि उनके मत से अलंकार और गुण 'अपृथग्यत्नलनिर्वर्त्य' और 'स्वभावधर्म' हैं, वे कुछ भी कहते हैं और कह सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ. जगदीश गुप्त आदि तक यह कहते सुने जाते हैं कि पारम्परिक आचार्यों ने बिम्बार्थ की चर्चा नहीं की है। इन नवचिन्तकों को पारम्परिक काव्यशास्त्र की गम्भीरता और व्यापकता का मनोयोगपूर्वक अनुशीलन करना चाहिए। इस बिन्दु पर आगे और विचार किया जायगा।

सम्प्रति, लगे हाथ शैली वैज्ञानिकों का भी काव्य-भाषा के सम्बन्ध में क्या अभिमत है, यह देख लेना चाहिए। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि वह काव्यभाषा के स्वरूप-विश्लेषण के सन्दर्भ में कितना आगे बढ़ता है ? बढ़ता है या नहीं बढ़ता है ?

इधर नए भाषाविदों ने 'आलोचना की नई भूमिका' अदा करने वाले 'शैलीविज्ञान' की चर्चा की है। 'शैली-विज्ञान' Stylistics का रूपान्तर है। 'विज्ञान' के साथ 'रीति' का जोड़ना जितना संगत है, 'शैली' का नहीं। कारण, भारतीय काव्यशास्त्र की 'रीति' की आन्तरिक प्रकृति वस्तुनिष्ठ है और 'विज्ञान' की भी। विपरीत इसके 'शैली' में आत्मनिष्ठता की प्रतिष्ठा है। भारतीय आचार्यों ने 'मार्ग' या 'रीति' को स्वभाव (दण्डी और कुन्तक) से जोड़कर 'स्वभाव' को भी 'वस्तुनिष्ठ' कर दिया है, कम से कम इस सन्दर्भ में। स्टाइलिस्टिक्स भी मानता है कि काव्यभाषा सामान्य भाषा पर ही समाधृत है, इसीलिए परिचित है फिर भी अपनी सर्जनात्मक प्रकृति के कारण 'अपरिचित' सी लगती है। सामान्य भाषा रूढ़ अर्थ के बोध द्वारा व्यवहार चलाती है या व्यवस्थित या शास्त्रीय होकर हमारे बोध की परिधि का विस्तार करती है। काव्यभाषा सर्जक या रचनाकार के अ-व्यक्तिगत स्तर पर स्वानुभूत सत्य का आकर्षक ढंग से सम्प्रेषण करती है। उसका सम्प्रेष्य संवेद्य सौन्दर्य या सुन्दर अनुभूति है। इसका ग्रहण 'प्रतिभा' सहकृत शब्द से होता

है। ग्राहक या सर्जक की 'प्रतिभा' का सहकार यदि शब्द को न मिले तो सर्जक सम्प्रेषित नहीं हो सकता। भारतीय चिन्तन में 'प्रतिभा' का स्वरूप तरह-तरह से परिभाषित किया गया है। कुछ लोग उसे चित्त का ही निर्मल रूप मानते हैं और कुछ चित् रूप ही बताते हैं। सामान्य भाषा एककेन्द्रिक होती है और काव्यभाषा बहुकेन्द्रिक। प्रतिभा के सम्पर्क से शब्द रणन ही नहीं अनुरणन करने लगता है और अनुरणन करती हुई अर्थ की परतें या छायाएँ एक बृहत्तर संश्लिष्ट अर्थचित्र निर्मित करती हैं। प्रतिभा अपने स्वरूप में अपरिमेय है, अतः शब्द द्वारा सम्प्रेषित होने वाले अर्थ अपनी सम्भावनाओं में पूर्णतः गृहीत ही हो जायँ, यह सम्भव नहीं।

'गहि न जाइ अस अद्भुत बानी'

स्टाइलिस्टों का विचार है कि सामान्य भाषा से काव्यभाषा 'चयन', 'विचलन', 'सादृश्य' और 'विरलता' जैसे प्रयोगों से अपना लक्ष्य प्राप्त करती है। मुकारोस्की कहता है : "Poetic language is characterized by a constant tension between automatization and forgrounding." अर्थात् काव्यभाषा का लक्षण ही है यन्त्रबद्धता और पेशबंदी के बीच निरन्तर तनाव बना रहना। इस पेशबंदी के उपर्युक्त चार स्रोत चर्चित हुए हैं। उसने कहा है कि पेशबन्दी भाषा के उपादान तत्त्वों का सर्जनात्मक उद्देश्य से परिचालित आवर्तन है। उक्त स्रोत परस्पर विकल्प नहीं अपितु पूरक हैं। प्रतिभा प्रयोक्ता या सर्जक का सामर्थ्य है। यही सामर्थ्य भाषा को वह सामर्थ्य प्रदान करता है जिससे वह अपना लक्ष्य वेध कर पाता है। भाषा का सामर्थ्य उसकी शक्ति है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शब्द-शक्तियों को आलोचना का कभी न चुकने और चूकने वाला अस्त्र कहा है। इस शब्दशक्ति पर जितना गहन विवेचन भारतीय आचार्यों ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए मैं यह मानता हूँ कि पौरस्त्य चिन्तक अपरिमेय सम्भावनाओं के सामान्य प्रतिमान दे गए हैं। नया प्रस्थान उसका विशेषीकरण और बोधगम्य विवरण है। 'चयन' पर्यायवाची शब्दों में से किसी एक का चयन है। कारण, उसमें रूढ़ अर्थ से अतिरिक्त अर्थ देने की क्षमता है। यह अतिरिक्त अर्थ सन्दर्भगम्य सम्प्रेष्य को संवाद की भूमि पर पहुँचा देता है। विचलन या विपथन मानक भाषा के नियमों का सोद्देश्य अतिक्रमण है, अतिरिक्त अर्थ प्राप्त करने के लिए। यही बात 'समान्तरता' या 'सादृश्य' और 'विरलता' के लिए कही जा सकती है। काव्य की सर्जनात्मक भाषा 'अतिरिक्त अर्थ' चाहती और देती है। ध्वनि सिद्धान्त इस अतिरिक्त अर्थ पर ही बल देता है। ध्वनिकार कहता है :

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"(१/४)

सर्जकों की भाषा में यह अतिरिक्त अर्थ प्रतीयमान अर्थ है और वह रूढ़ अर्थ से भिन्न है। ठीक उसी प्रकार जैसे सर्व-सामान्य की दृष्टि में आनेवाले अंगों से तदाश्रित अतिरिक्त लावण्य। काव्यभाषा का यह सैद्धान्तिक पक्ष है। इस निकष पर प्रस्तुत कृति की भाषा का व्याकरणसम्मत तथा काव्यसम्मत परीक्षण भी करना चाहिए। इस पक्ष से बात करते समय कुछ सीमाओं और विवशताओं को दृष्टिगत न रखा जाय तो कृतिकार के साथ समुचित न्याय नहीं होगा। उन सीमाओं में से एक यह है कि रचयिता मूलतः कन्नड़भाषी है और संस्कृत के माध्यम से हिन्दी की ओर आया है। तीसरी बात यह कि जिस प्रकार की अनुभूति की इन्द्रधनुषी आभा से भाषा में काव्योचित बाँकपन फूटता है, वीतरागता के कारण उस पर आँच आई है। ऐसा नहीं है कि उसमें उस इन्द्रधनुषी आभा से भाषा को मण्डित करने की क्षमता नहीं है, पर वह उधर से विरक्त है। क्षमता का आकलन करना ही हो तो उनके प्रकृति वर्णन के प्रसंगों को लिया जा सकता है। लौकिक जीवन की अनुभूतियों के ज्वार-भाटे यहाँ हैं नहीं और अलौकिक शान्त की पार्यन्तिक दशा अवर्णनीय है। फलतः विवशतापूर्वक उपाय पक्षपरक संघर्ष का चित्रण या वर्णन मात्रा में अधिक है। शास्त्रकाव्य होने के कारण संवादों

की भाषा में सैद्धान्तिक मान्यताओं को उकेरने पर प्रातिभ संरम्भ ज़्यादा है। अतः ये सीमाएँ भाषागत काव्योचित आभा के पूर्ण प्रस्फुटन में आड़े आती हैं। कतिपय प्रयोग व्याकरण की दृष्टि में संस्कार च्युत हो सकते हैं, जैसा कि आलोचकों ने लक्षित किया है। रचयिता की एक और प्रवृत्ति है और वह है निर्वचन की। चमत्कार पर्यवसायी होने पर यह कुवलयानन्दकारसम्मत निरुक्ति अलंकार भी बन जाता है, पर वैसा न होने पर वह मात्र प्रौढ़ि प्रदर्शन है। विशेषकर संख्यापरक संयोजन का चमत्कार अकाव्योचित कुतूहल में पर्यवसित होता है। ये कुछ सीमाएँ आलोच्य कृति की भाषा की हो सकती हैं, पर उसकी कुछ उपलब्धियाँ भी हैं जिन्हें नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

रचयिता की भाषा सम्बन्धी सीमाओं का उल्लेख सामान्यतः ऊपर किया जा चुका है, अतः उसके विस्तार में मैं नहीं जाना चाहता। यहाँ भाषा सम्बन्धी उनकी उपलब्धियों की चर्चा की जायगी।

कृति की भाषा तत्सम बहुल परिष्कृत हिन्दी है। इसमें शास्त्रविशेष की पारिभाषिक शब्दावली भी है और इसका कारण सैद्धान्तिक मान्यताओं का उपस्थापन है। निश्चय ही इस कारण सामान्य पाठक - जो इस दर्शन और उसकी पारिभाषिक शब्दावली से अपरिचित है - कठिनाई का अनुभव करेगा और केवल काव्यभाषा का रसिक थोड़ा बिचकेगा।

इतना तो स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति में कई प्रकार के स्थल हैं – (१) भावसिक्त तथा सौन्दर्यबोध मण्डित प्रकृति के वर्णनात्मक स्थल (२) भावसिक्त स्थल (३) वैचारिक मान्यताओं से गर्भित स्थल (४) सामान्य वर्णनपरक इतिवृत्तवाही स्थल तथा अन्यविध। सर्वाधिक काव्योचित भाषा प्रथम प्रकार के वर्णनात्मक स्थलों की है जिसका उल्लेख पहले भी किया गया है।

प्रकृति वर्णन के प्रसंग पूर्वार्ध में ही हैं– प्रातःवर्णन, शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतु वर्णन, सरिता वर्णन आदि। उत्तरार्ध में भी स्थिति विशेष के वर्णन उपलब्ध हैं। इन स्थलों की भाषा रंगीन है। इनमें रचयिता कभी-कभी सन्तजनोचित लक्ष्मण रेखा को लाँघ भी जाता है। यहाँ कल्पना भी है और शब्द-सामर्थ्य भी; ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता और उपचार-वक्रता भी; विचलन, सादृश्य, चयन और समान्तरता भी; आलंकारिक रुझान, बिम्ब और प्रतीक भी। अभिप्राय यह कि भाषा को काव्योचित बनाने के सभी सौन्दर्य स्रोत। इससे रचयिता की क्षमता का भी पता चलता है। अभिप्राय यह कि उसमें काव्यभाषा की गुणात्मक क्षमता है, मात्रात्मक प्राचुर्य न हो, यह बात भिन्न है।

आरम्भ से ही चलें। कृति का प्रारम्भ प्रातःकाल के रमणीय वर्णन और सरिता-वर्णन तथा दार्शनिक संवाद से है–माँ धरती और बेटी सरिता तट की मूकमाटी। इसमें कई खण्ड चित्र हैं, सबको जोड़कर प्रातःकाल का मनोरम चित्र उभरता है। निशा का अवसान है, उषा अपनी अरुणिमा में प्रतिष्ठित है। निरभ्र अनन्त में नीलिमा व्याप्त है और नीचे नीरवता छाई हुई है। इस विराट् चित्र के बाद कल्पना उमड़ पड़ी है और अप्रस्तुत बिम्ब-विधान की शृंखला बँध गई है। प्रथम अप्रस्तुत बिम्ब-विधान में प्रस्तुत इतना ही है कि अरुणाभ प्रभाकर मण्डल प्राची में उदित है। इस पर कल्पना में जो अप्रस्तुत का बिम्ब बना है, वह है एक ऐसे शिशु का, जो तन्द्रित अवस्था में अपने मुखमण्डल पर माँ का अरुणवर्णी आँचल डाले हुए अँगड़ाइयाँ ले रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना हो रही है, अतः समासोक्ति अलंकार है। भानु का मानवीकरण तो है ही। इसी वर्णन में एक दूसरा बिम्ब है। वर्णन वही प्रातः-कालीन अरुणाभ प्राची दिशा का है। बिम्ब अप्रस्तुत जो कवि की कल्पना में उभरता है वह है एक ऐसी नायिका का जिसने अपने सिर से पल्ला हटा लिया है और खुला हुआ सीमन्त सिंदूरी धूल से रंजित है। उसकी यह रंगीन राग की आभा बरबस सहृदय की आँखों को अपनी ओर खींच लेती है। रचयिता को यह मुद्रा भा गई है। यहाँ वीतराग सन्त के भीतर का अनासक्त सौन्दर्यदर्शी रचयिता मुखर हो उठा है। इसी प्रकार जहाँ एक ओर प्रभाकर की किरणों से संस्पृष्ट निमील-नोन्मुख कुमुदिनी पर यह कल्पना है मानो कुलीन पत्नी पर-पुरुष के हाथों के स्पर्श से बचने के निमित्त आत्मगोपन कर

रही है और पंखुरियों की ओट में अपनी सराग मुद्रा को छिपा रही है, वहीं दूसरी ओर अधखुली कमलिनी भी परपुरुष चाँद की चाँदनी तक का स्पर्श करना अनुचित समझती है, इसीलिए अपनी आँखें बन्द कर रही है। कवि इस निमीलन में कारण बता रहा है कि ईर्ष्या जो न करा दे, और वह भी स्त्री-पर्याय में तो उसकी सक्रियता और बढ़ जाती है। इस समग्र उक्ति से जो सौन्दर्य उभरता है उसमें समासोक्ति और अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि कार्य कर रही है। यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन भी है। एक अगला बिम्ब लें। चन्द्रमा अस्त हो रहा है, तारिकाएँ आसमान से एक-एक करके हट रही हैं। इस पर कवि की कल्पना यह है कि जब तारापति हट रहा है तो छाया की भाँति अनुगमन करने वाली उसकी पत्नियाँ भी पीछे-पीछे इस भय से भागी चली जा रही हैं कि कहीं परपुरुष प्रभाकर अपने फैलते हुए हाथों से उन्हें छू न ले। इस उक्ति को एक कोण से देखें तो तारिकाओं के सहज लुप्त होने में अकारण की कारण रूप से परिकल्पना है, फलतः हेतूत्प्रेक्षा है तो दूसरी ओर से उसमें एक बिम्ब की परिकल्पना भी है। मानवीकरण तो है ही। इस प्रकार यहाँ भी एकाधिक अलंकारों की संसृष्टि कही जा सकती है।

वर्णनात्मक स्थलों के काव्य सौन्दर्य की चर्चा पिछले पृष्ठों में भी की जा चुकी है। अतः उन स्थलों के काव्योचित सौन्दर्य स्रोतों की बानगी लेने के बाद सम्प्रति 'भावासिक्त प्रसंगों' को लिया जाय और देखा जाय कि उनमें आन्तरिक भावधारा की अभिव्यंजना कितनी शक्त और क्षम हो चुकी है। अनुभूति के गहरे एहसास में स्नातभाषा की दीप्ति देखनी हो तो घट की अन्तर्व्यथा की माँ के समक्ष की जाने वाली अभिव्यक्ति को देखें। उसके वर्ण-वर्ण वेदनासिक्त हैं। इसमें 'वैराग्य' या निर्वेद की तो व्यापक अभिव्यक्ति है ही, जिसमें नित्यानित्यत्व का 'विवेक' भी गर्भस्थ है। इस कर्मबन्ध से उत्पन्न दुःखराशि से मुक्त होने का 'औत्सुक्य' भी व्यंजित है। अभिप्राय यह कि अनेक संचारी भाव स्थायी निर्वेद की क्रोड में उन्मज्जन-निमज्जन करते हुए भाषा को दीप्ति प्रदान करते हैं। द्वितीय खण्ड में जहाँ प्रसंगात् विभिन्न रसों की व्यंजना का प्रसंग आया है, वहाँ भी रसोचित पदशय्या और अनुरूप विभाव-अनुभाव का संयोजन भाषा के समुचित संयोजन में पर्याप्त प्रभावी बन पड़ा है। भयानक और बीभत्स के बोलते चित्र देखे जा सकते हैं :

"इतना बड़ा गुफा-सम/महासत्ता का महाभयानक/मुख खुला है
जिसकी दाढ़-जबाड़ में/सिंदूरी आँखों वाला भय/बार-बार घूर रहा है बाहर,
जिसके मुख से अध-निकली लोहित रसना/लटक रही है
और/जिससे टपक रही है लार/लाल-लाल लहू की बूँदें-सी।" (पृ. १३६)

इसी प्रकार मूर्तिमान् बीभत्स का चित्र देखें :

"नासा बहने लगी प्रकृति की।/कुछ गाढ़ा, कुछ पतला
कुछ हरा, पीला मिला—/मल निकला, देखते ही हो घृणा!" (पृ. १४७)

ऐसी काव्योचित चित्रभाषा इन प्रसंगों में विद्यमान है।

कहीं-कहीं स्थिति-विशेष का चित्र भावविह्वल होकर ऐसा सहज और आलंकारिक उद्भावनाओं से उफन पड़ा है कि रचयिता की कल्पना-शक्ति की दाद देनी पड़ती है। प्रसंग है चौथे खण्ड का। सेठ समागत समादृत सत्पात्र गुरु के समक्ष अपनी व्याकुलता भरी जिज्ञासाएँ रखता है और उनकी ओर से समाधान मिलता जाता है, इस तरह :

"सेठ की शंकायें उत्तर पातीं/फिर भी···" (पृ. ३४९)

जिस मुद्रा में सेठ घर की ओर जा रहा है, उसका वर्णन उपमाओं के 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' अविरल प्रवाह में पढ़ते बनता है।

कृति के पृ. ३४९ से पृ. ३५२ तक के अंश पठनीय हैं। एक अंश देखें:

"जल के अभाव में लाघव/गर्जन-गौरव-शून्य
वर्षा के बाद मौन/कान्तिहीन-बादलों की भाँति
छोटा-सा उदासीन मुख ले/घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३४९)

प्रसंगों की उद्भावना शक्ति काफी उर्वर है, यह कहना अनावश्यक है।

चौथा सन्दर्भ संवादों से भरी 'विचार प्रवण भाषा' का है। यह सही है कि सैद्धान्तिक मान्यताएँ संवादों से भरी पड़ी हैं। उनकी योजना ही इसीलिए है तथापि वे पारिभाषिक शब्दावली से इतनी बोझिल नहीं हैं कि एक सामान्य प्रबुद्ध सहृदयक पाठक की पकड़ से बाहर रह जायें। संकल्पानुसार जहाँ-तहाँ अपने प्रस्थान के विचार-गर्भ पारिभाषिक पद और वाक्य तक यहाँ-वहाँ आ गए हैं, जिन्हें काव्यशास्त्री 'अप्रतीतत्व' दोष से ग्रस्त मानते हैं। एक बात है कि रचयिता स्वयं जानता है कि वह जिनको केन्द्र में रखकर व्युत्पत्ति का आधान करने के निमित्त लिख रहा है वे सामान्य पाठक भी हो सकते हैं। अतः जब वह ऐसी कोई बात रखता है तब एक बार कह लेने के बाद भी शब्दान्तर से उसे और स्पष्ट करता चलता है। यह सही है कि काव्य शास्त्र नहीं है, पर काव्य विचारशून्य होता है, ऐसा भी नहीं है। विचारों की रेशमी डोर जितनी मजबूत होगी, भाव के पैग उतने ही लम्बे जा सकते हैं। एक उदाहरण लें :

"इस पर अतिथि सोचता है कि/उपदेश के योग्य यह
न ही स्थान है, न समय/तथापि/भीतरी करुणा उमड़ पड़ी
सीप से मोती की भाँति/पात्र के मुख से कुछ शब्द निकलते हैं :
'बाहर यह/जो कुछ भी दिख रहा है/सो···मैं···नहीं···हूँ
और वह/मेरा भी नहीं है'···।" (पृ.३४४-३४५)

यह एक दार्शनिक वक्तव्य है, सो सुबोध भी है और दुर्बोध भी। मतलब यह कि विचारगर्भ स्थलों की भाषा शास्त्र की दुर्बोध और व्याख्यागम्य भाषा नहीं है। भाषा जब अनुभूति से फूटती है और अनुवाद की नहीं होती, तब सुबोध होती है।

भाषा का पाँचवाँ सन्दर्भ 'घटनाओं के धारावाहिक वर्णनात्मक प्रसंगों' का है। चौथे खण्ड का उत्तरार्ध इसकी प्रयोगस्थली है। यद्यपि विचार-गर्भ संवादों की योजना से शून्य वह भी नहीं है। ये वर्णन इतिवृत्तात्मक पद्धति पर अभिधा की भाषा में हैं पर काव्यात्मक बनाने का प्रयास वहाँ भी रहता है, देखें :

"उद्दण्डता दूर करने हेतु/दण्ड-संहिता होती है/माना,
दण्डों में अन्तिम दण्ड/प्राणदण्ड होता है।" (पृ. ४३०-४३१)

ऐसी आनुप्रासिक योजना पाठक को खींचती है। घटना वर्णन की भाषा का प्रसंग है, अतः एक उदाहरण :

"तत्काल विदित हुआ विषधरों को/विप्लव का मूल कारण।
परिवार निर्दोष पाया गया/जो/इष्ट के स्मरण में लगा हुआ है,
गजदल सरोष पाया गया/जो/शिष्ट के रक्षण में लगा हुआ है।" (पृ. ४३०)

अन्त्यानुप्रास युक्त अभिधामयी सपाट भाषा है। अलंकार प्रयोग, ध्वनि और वक्रता-गर्भ भाषा के तमाम उदाहरण रखे जा सकते हैं, पर भूमिका की एक लक्ष्मण रेखा है, उसके बाहर भी नहीं जाना है। साथ ही सम्पादित संकलन में इस विषय पर विस्तृत निबन्ध मिलेगे। अतः लेखनी विरत हो रही है।

भाषा पर विचार करने के सन्दर्भ में रचयिता की एक विशिष्ट प्रवृत्ति का उल्लेख करना आवश्यक है। समीक्षकों की दृष्टि इस तरफ गई है और इस पर महाकाव्योचित गम्भीरता के साथ खिलवाड़ की बात कही गई है, विशेषकर जहाँ ९ संख्या को लेकर गुणाभाग का प्रदर्शन हुआ है। द्वितीय खण्ड में कुम्भकार स्वनिर्मित घट पर कुछ संकेतक रेखाएँ, अंक और चित्र बनाता है। उन्हीं में यह कि घट के कर्णस्थान पर आभरण की भाँति प्रतीत होने वाले ९९ तथा ९ के अंक अंकित हैं। संख्याओं का यह अंकन तत्त्वोद्घाटक है जिसका विवरण रचयिता ने मूल में दिया है। बेहतर होता यदि यह गुणाभाग काव्य के भीतर से हटाकर पाद-टिप्पणी में अलग से रख दिया गया होता।

रचनाकार संस्कृत से हिन्दी की ओर आया है। 'पंचशती'-गत शतकों में उसने एकाक्षरी कोश का चमत्कार प्रदर्शित किया है। वही वृत्ति सन्दर्भवश यहाँ भी जहाँ-तहाँ उद्ग्रीव हो गई है। यह प्रवृत्ति ग्रन्थ की भाषा में आद्यन्त प्रयुक्त देखी जा सकती है। अवसरोचित अर्थ प्रायः व्युत्पत्तिपूर्वक निकाले गए हैं। पर कहीं-कहीं उसकी प्रौढ़ोक्ति भी है। 'सा-रे-ग-म-प-द-नि' में 'ध' की जगह बलात् 'द' रख दिया गया है ताकि अवसरोचित अर्थ संगति लगाई जा सके। 'कुम्भकार', 'नियति', 'पुरुषार्थ', 'दुहिता', 'अबला', 'नारी', 'महिला', 'कला' एवं 'गदहा' आदि यदि एक तरह के उदाहरण हैं तो 'दया-याद', 'चरण····चर न' तथा 'न रच', 'धरणी-नीरध', 'ही···रा···रा···ही', 'रा·· ख·· ख·· रा', 'आदमी···आ-दमी' इत्यादि दूसरी तरह के हैं। 'श' - 'स' - 'ष' की व्याख्या एक तीसरी वृत्ति के उदाहरण हैं। कुवलयानन्दकार ने एक 'निरुक्ति' नामक अलंकार की चर्चा की है जो चमत्कारी निर्वचन पर समाधृत है। योगशक्ति से नामों की, जो भिन्न अर्थ में प्रचलित हैं, अर्थान्तर निकाला जाता है। यह सही है कि महाकाव्य की गम्भीरवृत्ति से यह चमत्कारी और कुतूहलतर्पक वृत्ति मेल नहीं खाती, तथापि महाकवियों की परम्परा में भी इसके दर्शन होते हैं। यह या ऐसे प्रयासों के पीछे निहित उपर्युक्त वृत्ति के ही कारण इन प्रयोगों को अधमकाव्य के अन्तर्गत कहा गया है। आनन्दवर्धन ने तो इन्हें आकार साम्य से औपचारिक रूप में ही काव्य माना है।

इन संकलित लेखों में दो-तीन पुस्तकाकार निबन्ध भी समाविष्ट हैं। 'मूकमाटी' सहित आचार्यश्री के विपुल वाङ्मय पर तीन दर्जन से अधिक शोधस्तरीय कार्य भी हो चुके हैं। इन बृहत्काय तथा लघुकाय निबन्ध और प्रबन्धों में 'मूकमाटी' से सम्बद्ध अनेक बिन्दुओं और पक्षों पर एक सीमा में प्रकाश डाला गया है जिन्हें परिशिष्ट में दिया गया है। यद्यपि दार्शनिक और काव्यपक्षीय बहुविध पक्षों पर उक्त प्रयासों से प्रकाश मिलता है तथापि महाकवि की रचनाओं में सम्भावनाओं की परतें निःशेष नहीं होतीं। आनन्दवर्धन ने महाकवि की पहचान बताते हुए कहा है :

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥" ध्व.प्र.उ./८

महाकवि के शब्दार्थ यत्नपूर्वक पुनः-पुनः अनुसन्धेय होते हैं, उनके अर्थ के अनन्त आकाश में प्रातिभ पक्ष की शक्ति के अनुसार पाठक का पक्षी निरावधि उड़ सकता है। इसलिए कहना यह है कि जिन बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जा चुका है और जितना जो कुछ शोधकों ने अपने शोधग्रन्थ में संकलित किया है, उनके अतिरिक्त और भी अनेक पक्ष सम्भावनाओं से संवलित हैं, उन पर भी आगे कार्य होना चाहिए। उदाहरणार्थ :

१. 'मूकमाटी' का शब्द सामर्थ्य – अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि
२. 'मूकमाटी' की प्रातिभ विच्छित्ति और भंगिमाएँ
३. काव्यशास्त्रीय विभिन्न सम्प्रदाय और 'मूकमाटी' का वस्तु और रूप पक्ष
४. 'मूकमाटी' और वर्तमान के जीवन्त सन्दर्भ—रचनाकार का युगबोध
५. 'मूकमाटी' में व्याप्त रचनाकार का व्यावहारिक और व्यवहारातीत चेतना-वितान
६. 'मूकमाटी' में पूँजीवाद, आतंकवाद तथा अन्य विघटक प्रवृत्तियों का संकेत और उनकी निषेध्यता

७. 'मूकमाटी' में लोकमंगल और आत्ममंगल के विविध संकेत, साधन और समाधान
८. विविध भारतीय दर्शनों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' में निर्दिष्ट दर्शन की आपेक्षिक और तुलनात्मक विशेषता का निरूपण
९. 'मूकमाटी' में क्रमागत भंगिमाएँ और नवाविष्कृत चमत्कारिक भंगिमाएँ
१०. 'मूकमाटी' में पात्रों की मनोदशाओं का मनोविज्ञान के आलोक में विवेचन
११. शान्त रस की पक्ष-प्रतिपक्ष पूर्वक स्थापना और 'मूकमाटी' में उसकी निष्पत्ति की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन
१२. हिन्दीतर विभिन्न भारतीय भाषाओं में निबद्ध महाकाव्यों के साथ 'मूकमाटी' के तुलनात्मक वैशिष्ट्य का आकलन
१३. पाश्चात्य प्रतिष्ठित महाकाव्यों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' का वैशिष्ट्य निर्धारण

इस प्रकार अभी भी और सम्भावित बिन्दु विचारार्थ लिए जा सकते हैं और खोज के नए-नए द्वार उद्घाटित किए जा सकते हैं।

यह प्रबन्ध काव्य अपनी संयोजना में सर्वांग अभिनव प्रयोग का साहस लेकर सहृदयों की सभा में उपस्थित हुआ है, अतः उस पर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ आई हैं और आती रहेंगी। प्रसाद की 'कामायनी' पर इसी प्रकार निरन्तर पक्ष-प्रतिपक्ष बनते रहे पर आज वह एक छायावादी महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित हो ही गई है। काल के निर्मम निकष पर यह भी कसा जायगा, यदि अपनी प्राणवत्ता इसमें होगी तो निस्सन्देह महाकाव्यों की परम्परा में इसे भी जगह मिलेगी या यह स्वयं अपनी जगह बना लेगा। नए प्रयास को जमे हुए लोगों के बीच अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में समय लगता ही है। इस सन्दर्भ में कविकुलगुरु कालिदास की उक्ति याद आती है :

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥"

सन्त वे ही हैं, सहृदय समीक्षक वे ही हैं जो बँधी-बँधाई लीक नहीं पीटते और स्वयं विवेकपूर्वक परीक्षा करके निर्णय लेते हैं कि कृति कहाँ तक ग्राह्य या अग्राह्य है। अन्ततः निर्णय ऐसे ही लोग देंगे, इस विश्वास के साथ यह लेखनी यहीं विराम लेती है।

पुनश्च, प्रस्तुत कृति इस रूप में सुसम्पादित होकर कभी भी न आ पाती, यदि मुनिवर्य श्री अभयसागरजी की अनन्य निष्ठा, अटूट श्रम और दुर्लभ धैर्य का कांचन किंवा पारस संस्पर्श न मिलता। जिस त्रुटि परिहार, परिष्कार और समुचित सुधार की बाट जोहते वर्षों बीत गए और उस चुनौती को उठाने वाला कोई नहीं दिखा, उस समय मुनिश्री ने स्वयं इस गुरुतर भार को उठाने का अदम्य संकल्प लिया। प्रसिद्ध श्लोक है :

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः, प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारभ्य उत्तमजना न परित्यजन्ति॥"

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—श्रेयः सम्पादन में विघ्न आते ही हैं। ऊर्ध्वगमन में अधःकर्षक शक्तियाँ सक्रिय होती ही हैं। यह जानकर निम्नकोटि के लोग विघ्नभीत होकर शुभकार्य का आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम कोटि के साधक आरम्भ तो कर देते हैं परन्तु विघ्नों से प्रतिहत होकर मध्य में ही विरत हो जाते हैं। वे साधक उच्चकोटि के हैं जो बार-बार विघ्नविहत होने पर भी आरब्ध को छोड़ते नहीं हैं, प्रत्युत उसे अभीष्ट गन्तव्य बिन्दु तक ले जाकर ही रुकते हैं। मुनिवर्य श्री अभयसागरजी ऐसे ही उत्तमकोटि के साधकों में परिगणित किए जाएँगे। इतने अनुयायियों और अनुधावियों

के बीच वही एक सिद्धसाधक दीप्तप्रभ नक्षत्र की भाँति सक्रिय हो उठे जिन्होंने चिरप्रतीक्षित चुनौती को ग्रहण कर वर्तनीशोधन तथा समस्त पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण कर आरब्ध को सम्पन्नता प्रदान की। उनके भक्ति-निर्भर अथक प्रयास और समर्पण भावना से अवशिष्ट कार्य सम्पन्न हुआ। इसलिए सम्पादक के नाते मैं उन्हें नमन करता हूँ।

तीन खण्डों वाले इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्यभार पहले विद्वद्वर डॉ. प्रभाकर माचवे, नई दिल्ली को दिया गया था और उन्होंने बड़ी आस्था और निष्ठा के साथ अपना उत्तरदायित्व निबाहा, पर अकाल में कालकवलित हो जाने के कारण कार्य बीच में ही रुक गया। तदनन्तर आरब्ध के निर्वाह का दायित्व इन पंक्तियों के लेखक को मिला। और श्री सुरेश सरल, जबलपुर के द्वारा स्थापित व्यवस्था में स्थगित कार्य पुनः प्रारम्भ हुआ। दुबारा सन्तोषप्रद व्यवस्था में यह कार्य किया गया।

प्रासाद के निर्माण में घटकों की विभिन्न स्तरीय तथा विभिन्न स्थानीय घटना होती है। कुछ घटक शिखर पर होते हैं, कुछ अन्तराल में और कुछ नींव में पड़े रहते हैं जिसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं जा पाता। इस कार्य में कुछ सारस्वत उपासकों का भी योगदान सहायक के रूप में है उनमें डॉ. रमेशदत्त मिश्र, पूर्व प्राचार्य, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, सागर का उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने अपने साथ डॉ. शकुन्तला चौरसिया, सहायक प्राध्यापिका, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय-सागर, डॉ. सरला मिश्रा, सहायक प्राध्यापिका, शासकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, सागर एवं डॉ. राजमति दिवाकर, सहायक प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर को रखा था और उन्होंने एक सीमा में कुछ किया भी। जो कुछ और जितना किया, एतदर्थ उन लोगों को साधुवाद। अन्त-अन्त में प्रेमशंकर रघुवंशी, हरदा ने भी अपनी सेवाएँ दीं, तदर्थ उनको भी धन्यवाद देना उचित प्रतीत होता है।

प्रासाद के प्रबन्धन में प्रबन्ध सम्पादक मण्डलगत सर्वश्री सुरेश सरल, पूर्व मानद जनसम्पर्क अधिकारी, आचार्य श्री विद्यासागर शोध संस्थान, जबलपुर; सन्तोष सिंघई, अध्यक्ष, श्री दिगम्बर जैन अतिशय सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि, कुण्डलपुर, दमोह, मध्यप्रदेश; नरेश दिवाकर (डी. एन.) विधायक, सिवनी; सुभाष जैन (खमरिया वाले) सुमत मेडीकल स्टोर्स, सागर ने अकूत योगदान किया है। श्री सरलजी ने लेखों का पत्राचार द्वारा संग्रहण कराया। श्री सुभाषजी का सहयोग अप्रतिम और श्लाघ्य है। वो संघोचित आतिथ्य में अपना उत्तरदायित्व निरन्तर जागरूकता से करते रहे हैं। अतः इनके कारण चाहे सागर हो या नेमावर या बिलासपुर, सर्वत्र मेरी सुव्यवस्था सम्पादित की गई, फलतः मैं अपना उत्तरदायित्व ठीक-ठीक अपनी सीमाओं में निभा सका। श्री सन्तोष सिंघई की भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सेवाएँ मिलती रहीं। साथ ही भाग्योदय तीर्थ, सागर; दयोदय तीर्थ, जबलपुर के कार्यकर्ताओं आदि का भी यथोचित सहयोग मिला है। अतः इन सभी को भी मैं अपना साधुवाद देना उचित समझता हूँ।

आचार्यश्री द्वारा स्थापित संघ के प्रति निष्ठावान, समर्पणशील और त्यागमूर्ति जिन श्रावकों का इस पुनीत संकल्प के कार्यान्वयन में स्मरणीय सहयोग रहा है, वे हैं : श्री पंकज जी प्रभात शाह, सुपुत्र श्रीमती चिन्तामणी जी धर्मपत्नी स्व. सवाई लाल जी मुम्बई एवं श्री सुन्दरलाल जी मूलचन्दजी, श्री कमल कुमार पवन कुमार अग्रवाल जी एवं श्री संजय कुमार संजीव कुमार जी मेक्स, श्री क्षेमचन्द जी इन्दौर। सम्पादक और प्रबन्ध सम्पादकों की ओर से इन्हें हार्दिक साधुवाद।

इस पाण्डुलिपि के प्रकाशन में भारतीय ज्ञानपीठ के पूर्व प्रबन्ध-न्यासी स्व. साहू रमेशचन्द्र जी के सात्त्विक संकल्प और उसके कार्यान्वयन में योगदान देनेवाले उनके आत्मज वर्तमान प्रबन्ध-न्यासी श्री अखिलेश जैन को सम्पादक की ओर से कृतज्ञता ज्ञापन उचित है। इस सन्दर्भ में एक वाक्य स्मरण आता है – 'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः'।

सम्पादक तथा मुनिवर्य श्री अभयसागर जी के इस पुनीत कार्य निर्वहण में जो योगदान है – वह तो है ही, पर इसकी सांगोपांगता में ज्ञानपीठ के मुख्य प्रकाशन अधिकारी डॉ. गुलाबचन्द्र जैन ने जागरूकता दिखाई है, तदर्थ हार्दिक

साधुवाद के वे भी सत्पात्र हैं।

इस प्रकार प्रकृत कार्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, साक्षात्-परम्परया जिसने भी, जो कुछ साहाय्य प्रदान किया है वे सभी साधुवाद के पात्र हैं। विशेषकर कम्प्यूटर में टंकण का पूरा कार्य सम्पन्न करने वाले *श्री दिलीप जैन 'गुड्डा', बेस्ट कम्प्यूटर्स, सागर* का बहुत-बहुत धन्यवाद, जिसके बिना सब किया, न किया ही रह जाता।

अन्ततः आचार्य श्री विद्यासागरजी के चरणों में प्रणति निवेदित करता हूँ जिनकी कृपा और जिनके वरदहस्त की छाया यदि न मिलती तो यह सब कभी भी सम्भव न हो पाता। सारे प्रासाद निर्माण में इन्हीं की कृपा सुगन्ध की तरह अदृष्टिगोचर होती हुई भी व्याप्त है। उनकी कृपा का आख्यान शब्दातीत है। वह केवल गुड़ की मिठास की भाँति अनिर्वचनीय है। शुभ कार्य में विघ्न आते ही हैं, पर आचार्यश्री का अमोघ आशीर्वचन तथा मुनि श्री अभयसागरजी की संकल्प दृढ़ता से सारे विघ्न निश्शेष हो गए। और वर्तमान स्थिति इसी सबकी वासन्तिक परिणति है। अतः उन्हें पुनः-पुनः नमन करता हुआ अपनी लेखनी को विराम प्रदान करता हूँ।

राममूर्ति त्रिपाठी

□



पृष्ठ ५८
इसी कार्य हेतु--
--- सुलसाते-सुखसाते

मूकमाटी-मीमांसा

द्वितीय खण्ड

विषयानुक्रम

	उद्भावना	साहू अखिलेश जैन	v
	'मूकमाटी' : शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा (वार्तालाप)	डॉ. प्रभाकर माचवे	vii
	पातनिकी (सम्पादकीय)	आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी	xxv

अनुक्रम

1.	'मूकमाटी' : साधनामार्ग का काव्यमय आध्यात्मिक दस्तावेज़	डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री	1
2.	'मूकमाटी' : एक विवेचन	प्रो. कल्याण मल लोढ़ा	2
3.	गहन प्रश्नों का सरल उत्तर : 'मूकमाटी'	भगवती प्रसाद बेरी	5
4.	'मूकमाटी' महाकाव्य : शृंगार रस की नितान्त मौलिक व्याख्या	सम्पादक : विश्वमित्र	5
5.	एक विरागी का लोक राग : 'मूकमाटी'	डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय	6
6.	'मूकमाटी' : अध्यात्मबोध काव्य	डॉ. विष्णु दत्त राकेश	11
7.	'मूकमाटी' : रूपक द्वारा गहन अध्यात्म का इंगन	प्रो. (डॉ.) जगदीश चन्द्र जैन	18
8.	'मूकमाटी' महाकाव्य : नयी कविता का एक सशक्त हस्ताक्षर	डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर'	19
9.	'मूकमाटी' : 'कामायनी' के बाद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्योपलब्धि	डॉ. कान्ति कुमार जैन	38
10.	'मूकमाटी' का महाकाव्यत्व	प्रा. माणिक लाल बोरा	42
11.	'मूकमाटी' : हिन्दी कविता की अभिनव विधा की परिचायक रचना	डॉ. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'	59
12.	हिन्दी का महनीय भाषाकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. धीरंजन सूरिदेव	60
13.	'मूकमाटी' की दार्शनिक पीठिका	डॉ. कोमल चन्द्र जैन	65
14.	'मूकमाटी' : एक प्रासंगिक आधुनिक महाकाव्य	डॉ. पुष्पा बंसल	67
15.	'मूकमाटी' : चिन्तन एवं अनुचिन्तन	डॉ. घनश्याम व्यास	76
16.	अहिन्दीभाषी के हिन्दी प्रेम की निदर्शक कृति : 'मूकमाटी'	प्रो. (डॉ.) सागरमल जैन	89
17.	'मूकमाटी' : एक महाकाव्य	डॉ. धर्मचन्द्र जैन	90
18.	'मूकमाटी' : अकिंचन से मंगल घट बनने की मुक्ति यात्रा	प्रो. (डॉ.) उमा शुक्ल	103
19.	मानवीय प्रज्ञा को उद्दीप्त करने वाला महाकाव्य : 'मूकमाटी'	प्रो. (डॉ.) महेन्द्र नाथ दुबे	107
20.	'मूकमाटी' में आचार्य श्री विद्यासागर का रस विषयक मन्तव्य	डॉ. रमेश चन्द जैन	115

21.	'मूकमाटी' महाकाव्य : एक विनम्र प्रतिभाव	वीरेन्द्र कुमार जैन	118
22.	'मूकमाटी' : तेरा अभिनन्दन	कविराज विद्या नारायण शास्त्री	119
23.	संवेदनाओं का महाकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. सुदर्शन मजीठिया	120
24.	'मूकमाटी' : एक शाश्वत काव्य	प्रो. (डॉ.) वृषभ प्रसाद जैन	125
25.	धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म का सारतत्त्व : 'मूकमाटी'	डॉ. महेन्द्र नाथ राय	131
26.	मानवता का महाकाव्य और संस्कृति का विश्वकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. लक्ष्मी कान्त पाण्डेय	132
27.	'मूकमाटी' : क्षणभंगुरता से गहन संवाद	डॉ. नेमीचन्द जैन	136
28.	'मूकमाटी' : एक मूल्यांकन	प्रो. श्रीनारायण मिश्र	138
29.	'मूकमाटी' : भारतीय ज्ञान के विवेकपूर्ण पक्ष का उद्घाटन	डॉ. इन्दु प्रकाश पाण्डेय	139
30.	'मूकमाटी' की शब्द-साधना	प्रो. (डॉ.) गणेश प्रसाद	140
31.	'मूकमाटी' : एक सन्त की काव्य यात्रा	प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन	144
32.	'मूकमाटी' : समझ और आचरण की कविता	प्रो. बी. वै. ललिताम्बा	147
33.	'मूकमाटी' : आधुनिक हिन्दी साहित्य का 'वि'लक्षण महाकाव्य	डॉ. विजय द्विवेदी	154
34.	'मूकमाटी' : मानव मूल्य परखने का महाकाव्य	डॉ. माधव राव रेगुलपाटी	163
35.	'मूकमाटी' महाकाव्य : शुद्ध चैतन्य की खोज	डॉ. राजमति दिवाकर	169
36.	'मूकमाटी' : सन्त-कवि का मुखर काव्य	प्रो. (डॉ.) देवव्रत जोशी	173
37.	'मूकमाटी' : काव्य जगत् में एक नया कीर्तिमान	पण्डित प्रकाश 'हितैषी' शास्त्री	174
38.	'मूकमाटी' महाकाव्य की दार्शनिकता	डॉ. अजित शुकदेव	175
39.	'मूकमाटी' : लघुता की महत्ता का महाकाव्य	प्रो. (डॉ.) प्रमोद कुमार सिंह	181
40.	'मूकमाटी' : एक नया प्रस्थान बिन्दु	डॉ. जयकुमार जलज	185
41.	'मूकमाटी' : एक पर्यालोचन	डॉ. रमण लाल पाठक	186
42.	आत्म साधना की मंगल यात्रा : 'मूकमाटी' महाकाव्य	डॉ. विमला चतुर्वेदी	188
43.	'मूकमाटी' : एक विहंगावलोकन	प्रो. अजीत कुमार वर्मा	192
44.	'मूकमाटी' : एक सांस्कृतिक महाकाव्य	डॉ. (पं.) दयाचन्द्र जैन साहित्याचार्य	198
45.	'मूकमाटी' का रचना-सौष्ठव एवं उसमें प्रतिपादित लोक दर्शन - दृष्टान्त बोध	डॉ. यज्ञ प्रसाद तिवारी	201
46.	आधुनिक सन्दर्भ में 'मूकमाटी' की विवेचना	डॉ. जी. शान्ता कुमारी	212
47.	'मूकमाटी' में प्रकृति चित्रण	सुरेश सरल	224
48.	महाकाव्य 'मूकमाटी' : एक सार्थक सर्जनात्मक प्रयास	शेख अब्दुल वहाब	230
49.	आध्यात्मिक चेतना का ऊर्ध्वीकरण : 'मूकमाटी'	डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन	236
50.	'मूकमाटी' की मुखरता	डॉ. (श्रीमती) आशालता मलैया	237
51.	भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की गौरव गाथा : 'मूकमाटी' महाकाव्य	डॉ. सीएच. रामुलु	252
52.	'मूकमाटी' की गागर का सागर अथाह है !	डॉ. सुकमाल जैन	263
53.	नई कविता का प्रथम महाकाव्य : 'मूकमाटी'	प्रो. जीवितराम का. सेतपाल	269
54.	आधुनिक हिन्दी कविता की शैली में लिखी गीता : 'मूकमाटी'	डॉ. राजमल बोरा	275
55.	'मूकमाटी' में युग-स्पन्दन	राजेन्द्र पटोरिया	278
56.	'मूकमाटी' : एक कलात्मक महाकाव्य	डॉ. रामस्वरूप खरे	283

57.	'मूकमाटी' : आत्मा के संगीत की कविता	डॉ. तेजपाल चौधरी	297
58.	'मूकमाटी' : काव्य-अध्यात्म का संश्लेष	डॉ. सत्यदेव मिश्र	302
59.	दक्षिण भारतीय कलमकार की हिन्दी साधना की फलश्रुति : 'मूकमाटी'	कैलाश मड़बैया	309
60.	'मूकमाटी' : शब्दार्थ तो देखो	डॉ. रामस्वरूप आर्य	321
61.	दार्शनिक पृष्ठभूमि पर सृजित अद्वितीय महाकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. रामचरित्र सिंह	325
62.	मुक्ति की आकांक्षा और मूक वेदना का महाकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. मनुजी श्रीवास्तव	329
63.	हिन्दी के महाकाव्य और 'मूकमाटी'	पं. दरबारी लाल जैन शास्त्री	332
64.	माता का जय-गान हो सदा !	डॉ. सुशीला गुप्ता	339
65.	'मूकमाटी' : दार्शनिक अवधारणा	डॉ. शमीर सिंह	343
66.	'मूकमाटी' : आध्यात्मिक चिन्तन का अपूर्व भण्डार	डॉ. कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'	351
67.	'मूकमाटी' महाकाव्य की भाषा	डॉ. शम्भुशरण शुक्ल	364
68.	'मूकमाटी' : एक विहंगम दृष्टि	डॉ. (श्रीमती) नीरा जैन	368
69.	लोक मंगल की समाधि अवस्था : 'मूकमाटी'	डॉ. सुरेश गौतम	376
70.	'मूकमाटी' : दार्शनिक चेतना का चारुतम निदर्शन	डॉ. रामनरेश	378
71.	महाकाव्य परम्परा की अमर कृति 'मूकमाटी' में राष्ट्रीय एकता के स्वर	डॉ. बारेलाल जैन	379
72.	'मूकमाटी' : एक विमर्शात्मक अध्ययन	प्रो. हबीबुन्नीसा	390
73.	'मूकमाटी' : आत्मा का उद्धार करने वाली आध्यात्मिक कृति	सौभाग मल जैन	396
74.	सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाला महाग्रन्थ : 'मूकमाटी'	डॉ. गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैंया'	398
75.	'मूकमाटी' : मनोरम महाकाव्य	डॉ. गंगा सहाय प्रेमी	407
76.	'मूकमाटी' : हिन्दी प्रबन्ध साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि	डॉ. देवेन्द्र दीपक	412
77.	हिन्दी का आधुनिक काव्य : 'मूकमाटी'	महेन्द्र कुमार 'मानव'	414
78.	भारत भारती के भण्डार की अद्वितीय कृति : 'मूकमाटी'	डॉ. राजकुमार तिवारी 'सुमित्र'	415
79.	'मूकमाटी' : विश्व साहित्य की अप्रतिम उपलब्धि	लालचन्द्र जैन 'राकेश'	419
80.	'मूकमाटी' के रहस्यों को लिपिबद्ध करना लघुकाय नौका से समुद्र पार करना	डॉ. नरेन्द्र शर्मा	425
81.	'मूकमाटी' : हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक उपलब्धि	डॉ. शकुन्तला सिंह	430
82.	'मूकमाटी' : जीवन-शाला की खुली किताब	डॉ. (श्रीमती) नीलम जैन	433
83.	सिद्ध सर्जक की मुखर साधना : 'मूकमाटी'	डॉ. दादूराम शर्मा	435
84.	माटी की सौन्दर्य-यात्रा का काव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. चन्द्रगुप्त 'मयंक'	437
85.	'मूकमाटी' की सांस्कृतिक चेतना	डॉ. सन्ध्या टिकेकर	441
86.	जीवन के शाश्वत सत्य को मुखर करती 'मूकमाटी'	कृष्ण कुमार चौबे	443
87.	'मूकमाटी' : माटी के माध्यम से जीवन दर्शन	राजेन्द्र नमावत	453
88.	'मूकमाटी' महाकाव्य की साहित्य-शोध की दिशाएँ	डॉ. जगदीशपाल सिंह	455
89.	'मूकमाटी' और उसके सर्जक आचार्य श्री विद्यासागरजी	मोहन शशि	460
90.	'मूकमाटी' : आधुनिक साहित्य को नया मोड़ देने वाला काव्य	पं. भरत चक्रवर्ती जैन शास्त्री	465
91	MOOKMATI : An Eminent Epic for Seeker of Truth	Manak Chandra Chhabra	467
92.	A Critique on MOOKMATI	Prof. Uttam Chand Jain 'Premi'	469

93.	'मूकमाटी' : साधनाची अनुभूति	लालचन्द्र हरिश्चन्द्र जैन	475
94.	'मूकमाटी' : आधुनिक हिन्दी काव्य जगत् की अनूठी कृति	लादूलाल जैन	477

परिशिष्ट : प्रथम

95.	आचार्य श्री विद्यासागर : व्यक्तित्व, जीवन-दर्शन और रचना संसार	आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी	483

परिशिष्ट : द्वितीय

96.	आचार्य श्री विद्यासागर : व्यक्तित्व, सृजन और शोध सन्दर्भ		523

परिशिष्ट : तृतीय

97.	लेखकों के पते		550

□□



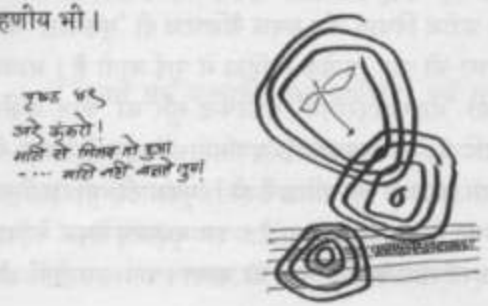
'मूकमाटी' : साधनामार्ग का काव्यमय आध्यात्मिक दस्तावेज़

डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री

आचार्य विद्यासागरजी का महाकाव्य 'मूकमाटी' इस बात का साक्षी है कि भारत में इस अनास्था और धुँधलके भरी शताब्दी में भी अभी तक जैन मुनियों की साधना परम्परा अक्षत है। मुनि पुण्यविजय, जिनविजय, देशभूषणजी हाराज, आचार्य तुलसी और मुनि नथमलजी आदि के पवित्र जीवन और उनके श्रेष्ठ अवदानों को देखकर लगता है कि चार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वामी, पुष्पदन्त और हेमचन्द्र की विरासत सँभालने वाले मुनियों का अकाल अभी क नहीं हुआ है। आचार्य विद्यासागरजी भी उसी शृंखला की एक स्वर्णिम कड़ी हैं। इस युग में जब अच्छे-अच्छे लेखक ग्राही अस्तित्ववाद को वक्ष से लगाए, स्फुलिंग-सी छोटी-छोटी रचनाओं की ओर झुक रहे हैं तब लगभग ५०० पृष्ठों विशालकाय महाकाव्य की रचना करना बहुत बड़े साहस का काम है – और फिर उस काव्य का, जो पुरानी हित्यिक परम्पराओं से बहुत ऊपर उठकर परम शान्ति का द्वार खोलता है और सारी एषणाओं से अलग जाकर केवली-र्ग्रन्थता की ओर प्रगति के लिए प्रेरित करता है। सामान्य साहित्य जहाँ थककर विश्राम ले लेता है, वहाँ से मुनि द्यासागरजी की काव्ययात्रा प्रारम्भ होती है। इसका रस लेने के लिए पाठक को उच्च भाव-भूमि पर आसन लगाकर ठना आवश्यक है।

'मूकमाटी' दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुसार साधनामार्ग का काव्यमय आध्यात्मिक दस्तावेज़ है जिसमें टी से छोटी मानसिक विकृतियों और उनसे जुड़े जटिल प्रश्नों का सरल, साफ़-सुथरी भाषा में व्यावहारिक समाधान स्तुत किया गया है। कुल मिलाकर यह धार्मिक प्रवचनों का ही संग्रह ग्रन्थ कहा जा सकता है, जिसमें विचारों की चाई है, दार्शनिकता है, ईश्वरत्व की साधना के सरल, श्रेष्ठ सोपान हैं। फिर भी इसमें काव्यत्व खोजना निरर्थक गा। यह चिन्तनमय खण्डों का संग्रह है। काव्य के लिए अपेक्षित लय, स्वर, कल्पना, सादृश्य प्रस्तुति, कथन की क्रता और व्यंजना की तलाश इसमें नहीं करनी चाहिए और एक मात्र शान्त को छोड़कर अन्य कोई रस ढूँढना भी व्यर्थ गा। भाषा और शैली के प्रासादिक होते हुए भी आचार्यजी ने स्थान-स्थान पर शब्दों के साथ जो खिलवाड़ किया है, र जिसे भूमिका लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने शोभा के रूप में बार-बार उद्धृत किया है, वह पुस्तक की गरिमा को ढ़ाता नहीं केवल हल्का उपहास ही प्रस्तुत करता है। वह अर्धशिक्षित भक्तों के बीच तो ग्राह्य हो सकता है, प्रबुद्ध ठकों की दृष्टि में वह बहुत बचकाना है। इसी प्रकार पुस्तक की भूमिका में स्वयं लेखक ने ईश्वर और आस्तिकता को कर वैदिक परम्परा के चिन्तकों पर जो तर्जनी उठाई है वह न केवल अप्रासंगिक अपितु अनुचित भी है।

फिर भी जीवन को उदात्त बनाने की मूलभूत दृष्टि और लोक के प्रति कारुण्य भावना को लेकर आचार्यप्रवर असीम धैर्यपूर्वक आत्मिक मलों के प्रक्षालन के लिए जो यह गंगाजल प्रस्तुत किया है, उसके लिए मैं उन्हें प्रणाम करता । पुस्तक पठनीय है और संग्रहणीय भी।



□

'मूकमाटी' : एक विवेचन

प्रो. कल्याण मल लोढ़ा

आचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' अपनी सर्जना में सामान्य काव्यश्रेणी में परिगणित नहीं की जा सकती, उसे खण्ड काव्य, महाकाव्य अथवा महत् काव्य की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता। उसका वैशिष्ट्य उसकी अन्तर्भुक्त दार्शनिक और आध्यात्मिक गम्भीरता और गहराई में सन्निहित है। वह एक परमोच्च कोटि का रूपक है, जिसमें आचार्यप्रवर ने साधना को जैन धर्मानुसार रूपायित किया है। इसका कवि केवल शब्दचेता अथवा अर्थचेता नहीं है, वह है आत्मचेता साधक, जिसने शब्द को अर्थ, और अर्थ को परमार्थ देकर आत्मा की पंच कोशात्मक ऊर्ध्व गति का आलेखन किया है। उसने प्रारम्भ में ('मानस तरंग') यह स्पष्ट कर दिया है कि 'सामान्यतः जो है, उसका अभाव नहीं हो सकता, और जो है ही नहीं, उसका उत्पाद भी सम्भव नहीं।' 'श्रीमद् भगवद् गीता' भी यही कहती है :

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥" (२/१६)

कृति का उद्देश्य स्पष्ट क ो हुए आचार्य कहते हैं : "ऐसे ही कुछ मूल-भूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है, जिसमें लौकिक अलंकार अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं; अलंकार अब अलं का अनुभव कर रहा है।" इस महत् प्रयोजन से रचित यह काव्य शब्द और अर्थ से परिपूर्ण होकर, अपनी अपूर्व क्षमता और सार्थकता से कलाकृति बन जाता है और उसका प्रणेता ऋषि अर्थात् मन्त्रद्रष्टा।

प्रतीक विधान की अपनी विशिष्टता होती है। 'प्रकृष्टं तीकते इति प्रतीकम्' अर्थात् अर्थ ज्ञान या अर्थ प्राप्ति कराने वाले शब्दों को प्रतीक कहते हैं। अपनी विशेष लाक्षणिकता के कारण प्रकृष्ट अर्थ की व्यंजना प्रतीक करता है। प्रतीक पद्धति स्वेच्छा से प्रयुक्त अथवा परम्परागत संकेत से (अन्य) वस्तु या तात्पर्य उद्घाटित करती है। वह किसी विचार या गुण का अपने सम्बन्ध सूत्रों के कारण प्रतिविधान, दृष्टान्तीकरण या स्मरण कराता है। इसी से इसे 'प्रतिबिम्ब' के अर्थ में लिया गया है। इस प्रतीक विधान की चार कोटियाँ होती हैं– सादृश्य, साधर्म्य, शाब्दिक साम्य और प्रभाव साम्य। प्रतीक शैली के दो विधान होते हैं– अर्थगत व शोतगत। रूपक काव्य की विशेषता है– 'रूपारो पात्तु रूपकम्।' इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत की अभेदता रहती है– 'रूपयति तद्रूपतां नयति – उपमानोपमेये सादृश्यातिशयोद्योतनद्वारा एकतां नयतीति रूपकम्।' काव्य में रूपकात्मकता का सफल निर्वाह कवि की सिद्ध सर्जनाशक्ति का प्रमाण है। इसमें कवि भावनाओं और वस्तुओं का मानवीकरण करता है। इसकी योजना प्रतीकात्मक होती है और वर्ण्य वस्तु का सांकेतिक रूप में प्रयोग होता है। प्रतीक विधान और रूपक वैशिष्ट्य ही 'मूकमाटी' की रचना-पद्धति है।

रूपक काव्यों की परम्परा भी प्रायः प्रत्येक साहित्य में पाई जाती है। अश्वघोष के नाटक, कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय', यशःपाल रचित 'मोहराजपराजय', वादिचन्द्र सूरि का 'ज्ञान-सूर्योदय', जैन साहित्य में 'मधुबिन्दु दृष्टान्त', 'वसुदेव हिण्डी', 'समरादित्य', 'कुवलयमाला', 'उपमिति-भवप्रपंच', 'मयण-पराजय' (हरिदेव) आदि प्रसिद्ध रूपक काव्य हैं। संस्कृत का 'प्रबोध चन्द्रोदय' तो प्रसिद्ध है ही। 'मूकमाटी' भी एक ऐसा ही महत्त्वपूर्ण रूपक काव्य है, जिसमें माटी को कुम्भकार मंगल घट में अवतरित करता है। इस अध्यात्म रूपक के चार खण्ड हैं–'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' ; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' ; 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी

राख।' इन चार खण्डों की विशद भूमि पर विवेचना करते हुए कवि ने जैन दार्शनिक पद्धति का निरूपण कर आत्मोद्धार में अन्त किया है। आत्मदर्शन इस उपक्रम में तप है, तपना है, साधना है। साहित्य बोध, संगीत, रस निष्पत्ति और सूत्राश्रित कथनों का सार्थक उपयोग मुनिश्री ने किया है। यही नहीं, इसमें भौतिकवादी स्वर्ण कलश का आतंक है, गुरु की देशना है, नगर सेठ श्रावक की कथा है, जिसके माध्यम से जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की विवेचना कर, सम्पूर्ण कृति को उच्चतर मानवीय बोध, बृहत् सामाजिक दायित्व, सांस्कृतिक निष्ठा और उत्कृष्ट मूल्यवत्ता से आदर्श संहति दी है। आचार्यश्री की शैली की विशेषता उनका शब्द-विन्यास है, जिसमें उन्होंने नए-नए अर्थों को व्यंजित किया है। इसी में अलंकरण प्रक्रिया भी सन्निहित है। कुछेक शब्द इस प्रकार हैं– नियति, नारी, कला, पायस, आकाश आदि। यत्र-तत्र जैन सूत्रों का प्रयोग कथाप्रवाह की अन्तर्भूमि को सम्पुष्ट करता हुआ पाठक को उसकी साधना-पद्धति से परिचित कराता है। आचार्यश्री का यह ग्रन्थ जैन साधना-पद्धति का निरूपण करता है। वस्तुतः जीवनोत्कर्ष की यह यात्रा, कर्म से मुक्ति की यात्रा है– सिद्ध पद की। माटी जीव है, कुम्भकार गुरु, सेठ श्रावक आदि। इसी कारण जैन दर्शन के अनेक शब्दों का यत्र-तत्र खुलकर प्रयोग हुआ है, यथा– 'दयाविसुद्धो धम्मो, कायोत्सर्ग, खम्मामि खमंतु मे, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' आदि। इस काव्य का प्रारम्भ प्रकृति के अनिन्द्य सौन्दर्य से होता है। अनेक ऋतुओं के प्रभावी वर्णन से सहज आकर्षण और सुषमाभिमण्डित छटा की व्याप्ति काव्य के रूप विधान को और आकर्षक बना देती है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा जिसमें बिम्ब-विधान का अद्भुत कलात्मक प्रयोग है :

"आज इन्द्र का पुरुषार्थ/सीमा छू रहा है,/दाहिने हाथ से धनुष की डोर को
दाहिने कान तक पूरा खींचकर/निरन्तर छोड़े जा रहे
तीखे सूचीमुखी बाणों से/छिदे जा रहे, भिदे जा रहे,
विद्रूप-विदीर्ण हो रहे हैं/बादल-दलों के बदन सब।" (पृ. २४६)

मुनि कवि ने 'मूकमाटी' को साधन ग्रन्थ का रूप दिया है, जिससे वह जीवन की परम व्याप्ति और ज्ञप्ति का सन्दर्भ ग्रन्थ बन गया है। महान् काव्य अपने रूप विधान में दर्शन ग्रन्थ हुआ करते हैं, और इसी प्रकार दर्शन ग्रन्थ महत् काव्य भी। बाइबल, उपनिषद्, सौन्दर्यलहरी, रामचरितमानस, कामायनी, डिवाइन कामेडी, पैराडाइज़ लॉस्ट एण्ड पैराडाइज़ रिगेण्ड इसके प्रमाण हैं। काव्य की उच्चतम संहति दर्शन में होती है और दर्शन की काव्य में। 'मूकमाटी' में दोनों का सम्यक् निर्वाह हुआ है पर इस वैशिष्ट्य के साथ कि दोनों में समायोग है– न तो दर्शन काव्य पर हावी है और न काव्य दर्शन पर। कवि ने वाक् की चारों प्रकृतियों का– परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी– का वर्णन करते समय काव्य की प्रवहमानता खण्डित नहीं होने दी। अनेक प्रसंगों में कवि की जन्मजात प्रज्ञा मधुमती भूमिका पर अधिष्ठित है और उसका आत्मदर्शन मन्त्रविद् होने के कारण देश-कालातीत होकर इस कथन को चरितार्थ करती है कि 'कवयः क्रान्तदर्शिनः।'

"कवते सर्वं जानाति, सर्वं वर्णयति, सर्वं सर्वतो गच्छति वा।"

'मूकमाटी' की एक बड़ी उपलब्धि उसमें शब्द और अर्थ में न्यून-अतिरिक्तता नहीं है– दोनों के संघट्टन का सफलता से निर्वहण हुआ है। अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य है। 'तर्क दीपिका' में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को 'शक्ति' कहा है–'अर्थस्मृत्यनुकूलपदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः।' आचार्यों ने संकेत अथवा शक्ति को पहचानने के उपकरणों की विवेचना की है। इसमें रचनाकार की मानसिक प्रक्रिया ही मुख्य है, वही अर्थ ग्रहण कराती है। यह भी

कहा जाता है कि शब्दों का पौर्वापर्य बुद्धि का विषय है। बुद्धि ही शब्द विन्यास करती है। महाकाव्यों के लिए तो यही सत्य है। कहा भी है :

"बुद्धौ कृत्वा सर्वचेष्टाः कर्ताधीरस्तत्त्वनीतिः।
शब्दे नार्थान्वाच्यान्दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पौवापर्यम् ॥"

अर्थबोध की प्रक्रिया में विचार और वस्तु का अपरिहार्य सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध ही काव्य को गति सम्पन्न कर पाठक के लिए प्रेषणीय बनाता है। 'मूकमाटी' की यह असन्दिग्ध विशेषता है कि शब्द और अर्थ का संयोजन वैचारिक भूमि पर होते हुए भी उनमें एक ऐसी संश्लिष्टता है, जो पाठक की भावभूमि को आत्मसंवेदन से प्रभावित करती है। जैसे :

"कभी-कभी फूल भी/अधिक कठोर होते हैं/···शूल से भी।" (पृ. ९९)

यह विरोधाभास है, पर उसके अतिरिक्त भाव शबलता और प्रवणता का उदाहरण अन्यत्र भी है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।" (पृ. २६७)

इसी प्रकार :

"सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)

आचार्य विद्यासागर स्वयं सफल साधक हैं। उनका व्यक्तित्व श्रमण धर्म का साक्षात् मूर्त रूप है। गहन, गम्भीर, व्यापक वैदुष्य ने उनके साधक और श्रमणत्व को और अधिक महान् प्रज्ञावान् बना दिया है। इस काव्य का उद्देश्य है रूपकत्व और प्रतीकार्थ से आत्मा को कर्म विपाक से संवर और निर्जरा द्वारा शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित कर उसके सनातन रूप को प्रतिपादित करना। कवि अपने प्रयोजन में पूर्णतः सफल है। आत्म प्ररोहण से उसने इस महान् काव्य की रचना की है—स्रष्टा और द्रष्टा दोनों दृष्टियों से।

□



पृ. ५७
तन और मन को
तप की आग में
तपा-तपा कर.....
उदार समुद्धी.

गहन प्रश्नों का सरल उत्तर : 'मूकमाटी'

भगवती प्रसाद बेरी

आचार्य श्री विद्यासागरजी की रचना 'मूकमाटी' पढ़ी। अलंकारों से सुसज्जित यह काव्य मानव समाज के गहन प्रश्नों का उत्तर ऐसी सरलता से देता है कि नैतिकता का पाठ सजीव हो उठता है। इसकी शैली अनुपम है। एक मर्तबा नहीं बार-बार पढ़ने से यह दिल और दिमाग पर अपनी छाप गहरी करेगी। शायद पाठक कुछ सुधरे ! माटी मूक नहीं, वाचाल है मुनिश्री के कर-कमलों में। □

'मूकमाटी' महाकाव्य : शृंगार रस की नितान्त मौलिक व्याख्या

सम्पादक : विश्वमित्र

प्रस्तुत पुस्तक 'मूकमाटी' एक महाकाव्य है जिसे सन्त कवि ने चार खण्डों में विभाजित किया है। पहला खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' माटी की उस प्रारम्भिक दशा के परिशोधन की प्रक्रिया को व्यक्त करता है जहाँ वह पिण्ड रूप में कंकर कणों से मिली-जुली अवस्था में है।

दूसरा खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में साहित्य बोध को अनेक प्रभागों में अंकित किया है। यहाँ नव रसों को परिभाषित किया गया है। संगीत का अन्तरंग प्रतिपादित है। शृंगार रस की नितान्त मौलिक व्याख्या है। ऋतुओं के वर्णन में कविता अपनी चरम सीमा पर है। साथ ही पद-पद पर तत्त्व दर्शन उभरता रहता है। भाव यह है कि उच्चारण मात्र 'शब्द' है, शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझना 'बोध' है और इस बोध को अनुभूति में, आचरण में उतारना 'शोध' है।

कवि ने तीसरे खण्ड का नाम 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' रखा है। इस खण्ड में बतलाया है कि मन, वचन, काय की निर्मलता से, शुभ कार्यों के सम्पादन से, लोक कल्याण की कामना से पुण्य उपार्जित होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ से पाप का उदय होता है। इस खण्ड में कुम्भकार ने माटी की विकास कथा के माध्यम से, पुण्य कर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का चित्रण किया है। मेघ से मेघ मुक्ता का अवतार यानी मुक्ता की वर्षा होती है। मुक्ता पर राजा का अधिकार। पाप की सृष्टि। परन्तु, कुम्भकार द्वारा मुक्ताओं का राजा को अर्पण। धरती की कीर्ति से सागर में क्षोभ, बड़वानल, तीन घन बादलों का उमड़न, राहु द्वारा सूर्यग्रहण, इन्द्र द्वारा मेघों पर वज्र-प्रहार, ओलों की वर्षा फिर प्रलयंकर दृश्य आदि भी हैं।

अन्तिम चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कुम्भकार ने माटी को घट का रूप दे दिया है। अवा में तप कर माटी पक जाती है और कुम्भ बन जाती है। इसी को लेकर श्रद्धालु नगर सेठ गुरु का पाद प्रक्षालन करता है एवं गुरु की तृषा तृप्त होती है। स्वर्ण कलश के अपमान से संघर्ष भी उपस्थित होता है। परन्तु बात समझ में आते ही सब ठीक हो जाता है। इस महाकाव्य में आधुनिक जीवन में विज्ञान से उपजी कतिपय नई अवधारणाएँ भी हैं, जो 'स्टार वार' तक पहुँची हैं।

[सम्पादक-'विश्वमित्र'(हिन्दी दैनिक), कोलकाता-पश्चिम बंगाल, ७ अक्टूबर, १९९१]

□

एक विरागी का लोक राग : 'मूकमाटी'

डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय

किसी साधक-सिद्ध के काव्य का रसास्वादन करना या न कर सकना एक बात है और उस पर आलोचनात्मक टिप्पणी देना दूसरी बात, क्योंकि उस भूमि पर पहुँचे बिना या उसे पहचाने बिना तो यह लौकिक औपचारिकता भर होगी। इसीलिए मैं आचार्य विद्यासागरजी के बृहत् काव्य 'मूकमाटी' को छूने से डरता रहा और अगर अब साहस जुटा भी पाया हूँ तो इसलिए कि इस काव्य में ऐसा भी कुछ है जो हमारे आसपास घटित हो रहा है और उस पर एक साधु-व्यक्तित्व की विरल दृष्टि पड़ी है। फिर भी इसे एक सामान्य पाठकीय प्रतिक्रिया ही माना जाए।

आचार्य विद्यासागरजी के तपःपूत व्यक्तित्व की एक लम्बे अर्से से ख्याति सुनता रहा हूँ। जो उनके सम्पर्क में रहे या जिन्हें उन्होंने अपनी दृष्टि से छुआ है, उनका अभिभूत होना भी अनकहे बहुत कुछ कह जाता है। सन्त के लिए वर्जित काव्य क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया है तो निश्चय ही कोई ऐसी अनुभूति रही होगी, जिसे लोक तक, दर्शन या उपदेश की भाषा में नहीं पहुँचाया जा सकता था। मध्यकाल के सन्त कवियों ने भी अपने को लोक तक इसी माध्यम से पहुँचाया था। इसमें सम्भवतः आत्माभिव्यक्ति की अपेक्षा लोकसंग्रह की ही प्रधानता रही होगी।

यह आधुनिक जैन मुनि द्वारा विरचित काव्य है। अपभ्रंश में तो जैन काव्यों की एक समृद्ध परम्परा रही ही है। 'पउम चरिउ', 'महापुराण', 'हरिवंश पुराण', 'णायकुमार चरिउ', 'करकण्डु चरिउ', 'परमप्पयासु' जैसे अमर काव्य अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य की धरोहर हैं। 'मूकमाटी' को उसी परम्परा की आधुनिक कड़ी कहना चाहिए। अन्तर यह है कि वे काव्य, चरित्र या कथा के रोचक मार्ग से चलते हुए एक निश्चित आध्यात्मिक या दार्शनिक लक्ष्य पर पहुँचते हैं यानी अन्त में वे प्रतीक कथा में बदलते हैं, परन्तु 'मूकमाटी' प्रतीक से ही प्रारम्भ होने वाला काव्य है। मिट्टी या भूमि धरती माँ का प्रतीक है उसके भीतर जो कथा या पात्र हैं वे भी प्रतीक के रूप में ही ढले हुए लगते हैं। न तो माँ हाड़-मांस की है और न बेटी या अन्य पात्र कथात्मक परिवेश के प्रचलित पात्र। इसका सीधा अर्थ है कि प्रतीक में ही मानवीय भावों का समावेश। इस रचना के आस्वादन की प्राथमिक और बुनियादी शर्त है और एक पाठक के लिए अधिक जटिल मार्ग है। प्रतीक एक घनीभूत अर्थ है - अपनी सीमा में विराट् संकेतों की ओर ले जाता हुआ। दूसरी ओर 'मूकमाटी' का रचनाकार भी एक घनत्वमय या घनीभूत साधक है। वह प्रतीक के सहारे अपने को खोलता है और हम उनके सहारे सन्त के कवि मत तक पहुँचते हैं। कितना ? यह अलग बात है। साधक के लिए दर्शन तो हस्तामलकवत् ही है इसलिए वह उसे सूत्र, सूक्ति, मन्त्र या सिद्धान्त के रूप में कहता है, कहीं शब्द में दर्शन को, सत्ता को केन्द्रित कर देता है, जबकि ये दोनों बातें सामान्य काव्यास्वाद को बाधित करती हैं। जैसे :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन-स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है।" (पृ. ३४९)

यह सूत्रात्मकता वैचारिक या दार्शनिक बोध को जगाती है, क्योंकि यह शब्द के आन्तरार्थ की ऐसी व्याख्या है जो मनुष्य को एक विशिष्ट परिज्ञान कराती है। इसी तरह कवि की सन्धनित अभिव्यक्ति पाठक के भीतर तात्त्विक चेतना को जगाती है :

"तामसता काय-रता है/वही सही मायने में/भीतरी कायरता है!" (पृ. ९४)

तामसता कैसे भीतरी कायरता बनती है यह 'काय-रता' के उस दर्शन की ओर ले जाती है जिसकी परिणति कायरता में होती है। यानी यह एक तत्त्वबोध है।

'मूकमाटी' में ऐसे अनेक अंश हैं जो सूत्रमत्ता, सूक्तिपरकता लिए हुए हैं और मेरी समझ से यह तत्त्व मार्ग के अधिक निकट पड़ती है, क्योंकि यहाँ एक सिद्ध की साधना-सत्ता ही शब्द-सत्ता के माध्यम से अपने को व्यक्त कर रही है। व्यक्तित्व का कविता पर कैसा असर होता है, यह भी यहाँ देखने लायक है, क्योंकि हम सन्त की सारभूत वाणी को, आस्वादन की काव्य प्रक्रिया से अधिक, प्रभामण्डल के प्रभाव में स्वीकार करते हैं।

लेकिन यदि यही होता तो इस कृति पर लौकिक काव्य दृष्टि से विचार करना कठिन था, क्योंकि सिद्धान्त, विचार या मूल्य की प्रतीति के लिए हमारे पास दूसरे माध्यम हैं। वे साकार मानव चरित्र के जरिए स्थानान्तरित नहीं होते। परन्तु 'मूकमाटी' का कवि, साधना और सिद्धान्त जगत् में ही नहीं रहता, जीवन स्थितियों, उसकी संगतियों - विसंगतियों आदि पर भी उसकी सजग दृष्टि है। वह दार्शनिक विधि-निषेधों को भी लोक जीवन के समकाल में गूँथता चलता है। सम्भवतः इस तरह वह अपने दर्शन की परीक्षा भी युगभूमि पर करता है और युग में घटित को अपनी सैद्धान्तिक, वैचारिक या दार्शनिक दृष्टि भी देता है। यह बात मनुष्य के जीवन बोध को आश्वस्त करती है। उदाहरण के लिए शान्ति और अहिंसा को वह आतंकवाद के विपरीत ध्रुव पर सन्धानता है—यह सन्धान एक ओर कवित्वमय हो उठता है तो दूसरी ओर दर्शन के लिए प्रयोजनीय भी :

"जब तक जीवित है आतंकवाद
शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह।" (पृ. ४४१)

इस समकालीन 'डर' के भीतर कविता का जन्म कैसे होता है, इस ओर इशारा करता है। आतंकवाद लोगों का जीना मुहाल कर देता है। उनका जी धक् रह जाता है, साँस रुक जाती है। व्यापक सन्दर्भ में आतंकवाद से पूरी पृथ्वी की शान्ति की साँस रुक जाती है। वह अशान्त हो उठती है—इसे हम अपने भीतर आतंकवादी दहशत के रूप में महसूस करते हुए उसका विश्वव्यापी रूप देख सकते हैं। यह कथन हमें धरती की मूल प्राण-चेतना 'शान्ति' के लिए एक आन्तरिक व्याकुलता के स्तर पर उद्वेलित करता है। इस तरह ये पंक्तियाँ हमारे मूल संवेदन को छूकर उसे विराट् भी बनाती हैं और यह काव्यास्वाद की एक शर्त भी है। दर्शन, विचार के स्तर पर मनुष्य को विराट् बनाता है तो कविता आस्वाद के स्तर पर। इस काव्य का यह स्पृहणीय पक्ष है कि इसमें समकालीन राजनीति, बहुदलीयवाद, पूँजीवादी शोषण, अकर्मण्यता, विकृति आदि अनेक पक्षों को छुआ गया है। ऐसे प्रसंग दिखते हैं कि दर्शन को केवल आत्मसाधना का नहीं, जगत् साधनों का माध्यम भी बनाया गया है। कवि किस शैली में जनता का आह्वान करता है, उसे तमाम तरह के भ्रष्टाचारों के विरुद्ध खड़े होने को पुकारता है और उसमें छिपी अपार सम्भावनाओं को जगाते हुए जैन दर्शन के 'अनेकान्त' को कैसी अन्तरंगता में पहुँचाता है – यह देखना यहाँ दिलचस्प भी होगा और जरूरी भी। क्योंकि जिस व्यक्ति के भीतर दर्शन समाया हो और बाहरी संसार का कोलाहल भी उसे चिन्तित करे तो वह इन दो छोरों को कविता में कैसे समेटे ?

"प्रति-सत्ता में होती हैं/अनगिन सम्भावनायें।" (पृ. ७)

'प्रति सत्ता' और 'अनगिन' एक ओर दर्शन से और दूसरी ओर जीवन से जुड़ते हैं। जीवन से जुड़कर वे जन-जागरण का माध्यम बनते हैं और दर्शन से जुड़कर मन-जागरण का।

अपभ्रंश के जैन काव्यों की एक विशेषता रही है – अपार करुणा। यह करुणा वहीं सार्थक हो सकती है जहाँ इसकी आवश्यकता है। इसलिए दु:खी, पीड़ित, शोषित, दलित ही इस करुणा के केन्द्र में होते हैं। एक प्राचीन जैन कवि ने अपने समय को देखकर यहाँ तक लिखा था कि "चन्दन के मोल ईंधन बिक रहा है, रोटी के खातिर लोग अपनी बेटी-बेटे बेच रहे हैं"– करुणा की ऐसी आर्द्रवाणी, 'मूकमाटी' में भी देखी जा सकती है, जहाँ 'प्रकृति माँ की आँखों में, रोती हुई करुणा' है। यह करुणा क्यों रोती है इसलिए कि संसार में कलह है, धरती के बेटे एक दूसरे को मारने-मिटाने में लगे हैं।

यह भी एक विचित्र बात है कि जैन धर्म आमतौर पर व्यापारियों और धनिकों का धर्म है, परन्तु जैन धर्म के आचार्य सब से ज्यादा धन और धनिकों पर, उनकी एषणाओं पर ही प्रहार करते हैं। इससे प्रकट होता है कि वे निर्भय होकर इस समाज को वह दृष्टि देते हैं जो उसके और मानवता के लिए आवश्यक है।

स्वर्ण कलश को माटी के कलश की माटी लताड़ते हुए कहती है कि तुम 'परतन्त्र जीवन की आधारशिला हो,' 'पूँजीवाद के अभेद्य दुर्ग हो,' 'अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला हो।' शायद ये तीन पंक्तियाँ 'अर्थ' की समस्त सीमाओं, परिणतियों और प्रदूषणों पर तीखी टिप्पणी हैं। कवि यहाँ तक कहता है :

"परमार्थ तुलता नहीं कभी/अर्थ की तुला में/अर्थ को तुला बनाना
अर्थशास्त्र का अर्थ ही नहीं जानना है/और/सभी अनर्थों के गर्त में
युग को ढकेलना है/अर्थशास्त्री को क्या ज्ञात है यह अर्थ ?" (पृ. १४२)

आज जब अर्थ की तुला पर व्यक्ति ही नहीं, देश के देश तुल रहे हैं, आर्थिक उदारीकरण के विश्व-व्यापार में–तब ऐसे अर्थशास्त्र का अर्थ शायद जीवन्मुक्त सन्त से ही जानना होगा जो अर्थ के बन्धन को, उसकी सीमाओं और उससे उत्पन्न विभीषिकाओं के प्रति सचेत करता है।

हमारे संसार में जहाँ परजीवियों के ठाठ हैं, श्रमिक को नीची जगह है, वहाँ कवि का यह कथन श्रम की सार्थकता को ही नहीं महत्ता और मूल्य को भी प्रकट करता है :

"परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है !" (पृ. २१२)

अन्तिम पंक्ति भले कविता को कमज़ोर करती हो, परन्तु 'पचाना' यहाँ शारीरिक स्तर पर ही नहीं है। 'नवनीत' की कोमलता की ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए। पत्थर नहीं, नवनीत का गोला खाया जा रहा है। कहा यह गया है कि ऐसी सुकुमारता भी नहीं पचेगी अगर परिश्रम न होगा। परिश्रम के बिना सारे सुख-विलास अकारथ और अपाच्य हो जाएँगे। यानी जो अर्जित किया गया है वह निरर्थक हो जाएगा – यहाँ तक कि विपरीत भी।

पर-कामिनी के प्रति आसक्ति, भय, असत्य, हिंसा आदि पर तो सन्तवाणी ने सदैव प्रहार किया है। वह यहाँ भी है, परन्तु 'मूकमाटी' का कवि न्याय प्रक्रिया की लालफीताशाही पर भी हमला कर रहा है :

"आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय-सा लगता है।" (पृ. २७२)

विलम्ब न्याय की समूची सत्ता को ही व्यर्थ बना रहा है।

जैसा मैंने कहा है कि सूत्रपरकता, सूक्ति और उपदेश काव्य मार्ग की बाधा हैं और वे इस काव्य को अनुभूति

के स्तर पर कम, और विचार के स्तर पर अधिक ग्राह्य बनाते हैं क्योंकि इसका सृजक अपनी अनुभूति के स्थानान्तरण को प्रक्रिया में कम और परिणति में अधिक ढालता है। जबकि प्रक्रिया में उतरने पर वह कविता के अधिक निकट पहुँच पाता है। उदाहरण के लिए 'कुम्भक प्राणायाम' को वह 'कुम्भक प्राणायाम' या किसी पर्यायवाची शब्द के माध्यम से पहुँचाता तो यह चीज़ किसी व्यावहारिक साधक तक ही पहुँच पाती और तब भी वह प्रायः जानकारी या ज्ञान के स्तर पर। परन्तु यहाँ इसे प्रक्रिया में देखिए :

"लो ! कुम्भक प्राणायाम/अपने आप घटित हुआ।/होठों को चबाती-सी मुद्रा,
दोनों बाहुओं में/नसों का जाल वह/तनाव पकड़ रहा है,
त्वचा में उभार-सा आया है/पर,/गाँठ खुल नहीं रही है/अँगूठों का बल
घट गया है।/दोनों तर्जनी/लगभग शून्य होने को हैं,/और नाखून
खूनदार हो उठे हैं/पर गाँठ खुल नहीं रही है।" (पृ. ५९)

आप चाहे जिस स्थिति में हों, इन पंक्तियों को पढ़ते समय क्या मानसिक रूप से 'कुम्भक' नहीं कर रहे होते हैं ? स्वानुभव को सम्प्रेषित करने की यह कितनी महत्त्वपूर्ण काव्य-प्रक्रिया है। इसे यहाँ देख सकते हैं और यह भी कि कवि जब किसी विशिष्ट अनुभूति से स्वयं गुज़रा हो तो उसकी अभिव्यक्ति में कैसी जीवन्तता आ जाती है। देखकर अनुभव करना और अनुभव करते हुए देखना, एक संवेदनशील व्यक्ति के भीतर सर्वथा भिन्न न होते हुए भी रचनात्मक स्तर पर कुछ न कुछ भिन्न ज़रूर होता है। "समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे"(पृ. ४६१)– यह फटकार खरी भी लगती है और सच भी, क्योंकि व्यवहार और आचरण में उतारे बिना वे कोरे शब्द हैं, उनका कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है। परन्तु यह बात भीतर तक वैसी अनुभव नहीं होती जैसी यह व्याकुलता :

"कितनी तपन है यह !/बाहर और भीतर/ज्वालामुखी हवायें ये!
जल-सी गई मेरी/काया चाहती है/स्पर्श में बदलाहट,
घाम नहीं अब,/···धाम मिले !" (पृ. १४०)

अनुभूति से शब्द में केन्द्रित हो जाने के कारण 'घाम' की जगह 'धाम' या आगे 'झाग' की जगह 'पाग' और 'राग' की जगह 'पराग' होने से इनमें भी केवल शब्द-क्रीड़ा नहीं रही, एक हद तक काव्यात्मकता आ गई है।

कविता के दो उदाहरण देकर यह लेख समाप्त करूँगा। एक समय की विकरालता का बिम्ब है और दूसरा पृथ्वी की उदार स्निग्धता का :

"भीतर से बाहर, बाहर से भीतर/एक साथ, सात-सात हाथ के
सात-सात हाथी आ-जा सकते/इतना बड़ा गुफा-सम
महासत्ता का महाभयानक/मुख खुला है/जिसकी दाढ़-जबाड़ में
सिन्दूरी आँखों वाला भय/बार-बार घूर रहा है बाहर,
जिसके मुख से अध-निकली लोहित रसना/लटक रही है/और
जिससे टपक रही है लार/लाल-लाल लहू की बूँदें-सी।" (पृ. १३६)

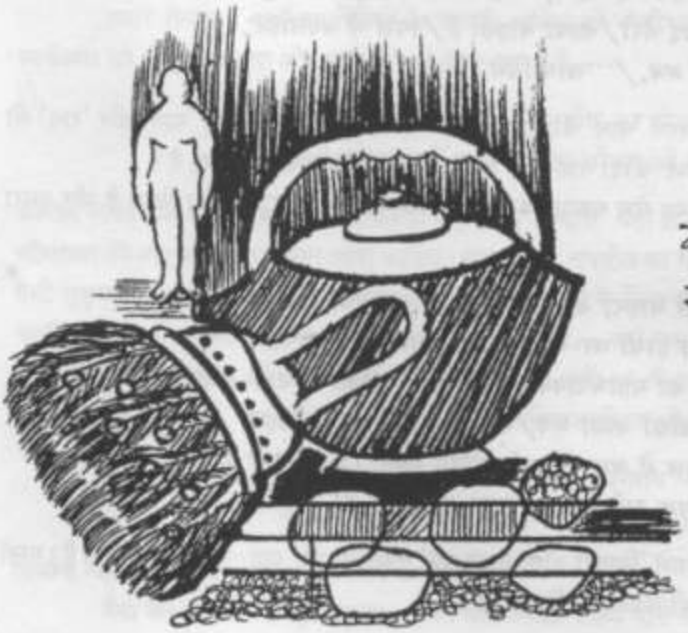
यहाँ रौद्ररूप को आकृत किया गया है जिसमें 'सिन्दूरी आँखों वाला भय' महासत्ता की 'दाढ़-जबाड़ में' समाया है। मानों आकृति के बाद उस परिणति की ओर भी संकेत कर दिया गया है।

इसके विपरीत पृथ्वी का यह मातृत्व जिसमें केवल राग ही नहीं, चेतना भी है, गम्भीर उत्कर्ष भी है, सौन्दर्य की रक्ताभ भी है और एक विराग की अनासक्ति भी। बताइए पृथ्वी में क्या नहीं है यानी माँ में क्या नहीं है ?–

"जिस की आँखें/और सरल–/और तरल हो आ रही हैं,/जिनमें
हृदयवती चेतना का/दर्शन हो रहा है,/जिसके/सल-छलों से शून्य
विशाल भाल पर/गुरु-गम्भीरता का/उत्कर्षण हो रहा है,
जिसके/दोनों गालों पर/गुलाब की आभा ले/हर्ष के संवर्धन से
दृग-बिन्दुओं का अविरल/वर्षण हो रहा है,/विरह-रिक्तता, अभाव–
अलगाव-भाव का भी/शनैः शनैः/अपकर्षण हो रहा है।" (पृ. ६)

इन थोड़े से उद्धरणों से प्रतीत हो सकता है– आचार्य विद्यासागरजी के भीतर का काव्यस्रोत, परिवर्तन की व्याकुलता, जीवन-मूल्यों की स्थापना और उन्हें जन-जन तक पहुँचाने की उत्कटता। उनके भीतर आग है और नीर की शीतलता भी, दृष्टि भी है और दृश्य भी, अनुभूति भी है और संवेदना भी। दार्शनिक चेतना, दैनन्दिन व्याख्यान और उपदेश की बाध्यता, सूक्तिता और भाषा तथा कविता के सम्प्रेषण की सीमाओं का भी मैंने जिक्र किया है। इसके बावजूद यह रचना दर्शन, जीवन और काव्य का एक सम्मिलित अवदान है, क्योंकि यह जिस दिशा से आया है, जिस साधक की ओर से आया है, जिस प्रयोजन से आया है और जितनी उत्कटता से आया है वह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

❑



पृ. ३४३
कायोत्सर्ग का विसर्जन...
संयमोपकरण दिया
मयूर-पंखों का, जो
मृदुल कोमल लघु मंजुल है।

'मूकमाटी' : अध्यात्मबोध काव्य

डॉ. विष्णु दत्त राकेश

आधुनिक हिन्दी काव्यधारा में दो अध्यात्मबोध काव्यों ने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है– एक पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त का 'सत्यकाम' है और दूसरा मुनिवर्य आचार्य विद्यासागर का 'मूकमाटी'। यह नवें दशक की उल्लेखनीय रचना है। भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन जिन दो वैदिक और श्रमणधाराओं से विकसित हुआ है, उसके परिपार्श्व में ही क्रमशः 'सत्यकाम' और 'मूकमाटी' का सृजन हुआ है। 'सत्यकाम' में वैदिक-औपनिषदिक चिन्तन अन्तर्हित है तो 'मूकमाटी' में श्रमण-चिन्तन और मुनि-तत्त्वमीमांसा प्रतिबिम्बित हुई है। दोनों कवि आत्मबोध और जीवनबोध में कोई पार्थक्य स्वीकार करने को तैयार नहीं। परम सत्य सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनों रूपों में प्राप्त होता है। 'सत्यकाम' में पन्त जी का कथन है :

"आत्मबोध के लिए अपेक्षित है जीवन का
अनुभव भी साथ ही ! निखिल जीवन आत्मा से
आलिंगित, परिवृत है, उसके बाहर कुछ भी
नहीं,—त्याज्य हम समझें जिसको ! ब्रह्मज्ञान का
अर्थ समग्र ज्ञान होता है, केवल छूँछा
वह निरपेक्ष प्रकाश भर नहीं,– पूर्ण सत्य है !
जग में जो कुछ भी जड़ चेतन-व्याप्त ब्रह्म से !
परम सत्य अव्यक्त, परात्पर—जो लोकोत्तर
सृष्टि चक्र में अभिव्यक्त होता अनन्त तक !
वही सृजन रत रह सकता जो आत्ममुक्त है !" (पृ. २५-२६)

आचार्य विद्यासागरजी ऊर्ध्वमुखी अवस्था के दर्शन के लिए अधोमुखता की निन्दा नहीं, अपेक्षा करते हैं। घाटी और शिखर दो अनिवार्य स्थितियाँ हैं। घाटी से शिखर के दर्शन होते हैं और शिखर से घाटी के। फिर क्या उत्थान है और क्या पतन ?

"पर्वत की तलहटी से भी/हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का
दर्शन होता है,/परन्तु/चरणों का प्रयोग किये बिना
शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है !" (पृ.१०)

साधना में मंज़िल का महत्त्व है, मार्ग कुछ भी हो सकता है। मार्ग और मंज़िल, सत् और असत्, सुख और दुःख, ग्राह्य या त्याज्य सभी सापेक्ष हैं। उनका कोई एक परिदृश्य अपूर्ण हो सकता है पर समग्र रूप में जीवनबोध आत्म-सत्य के स्पर्श के कारण आत्मरूप ही है। इस भावदशा में पहुँचकर साधक के लिए कुछ भी ग्राह्य या कुछ भी त्याज्य नहीं होता :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/...विश्वास को अनुभूति मिलेगी

अवश्य मिलेगी / मगर / मार्ग में नहीं, मंज़िल पर !" (पृ. ४८६-४८८)

'मूकमाटी' का सृजन उदात्त चेतना के निर्माण के प्रयोजन से हुआ है। आधुनिक भोगवादी सभ्यता के पंजे में जकड़ी हुई मानवता का त्राण आदि कवि का लक्ष्य है। महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखी जाने के कारण कवि की यह रचना महान् है। उद्देश्यनिष्ठता के कारण ही यह महाकाव्य है, भले ही परम्परित महाकाव्यों के ढाँचे में इसे उपन्यस्त करने में कठिनाइयाँ हों। आत्म-साधना का साहित्य समूची सन्तधारा और भक्तिधारा में उपलब्ध होता है पर श्रमणधारा के मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन के लिए आधुनिक भाषा, भंगिमा और रागात्मक तेवर से संवलित यह पहली कृति है जो मिट्टी, कुम्भ और कुम्भकार के व्याज से एक ओर ईश्वर के सृष्टिकर्ता होने के सिद्धान्त का खण्डन करती है तो दूसरी ओर प्रकृति, जीव और ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश डालती है। कवि का यह भी कहना है कि विजितमना योगी आत्म-साधना द्वारा स्वयं में निहित ईश्वरीयशक्ति का उद्घाटन कर अविनश्वर सुख प्राप्त कर सकता है। संसारी ईश्वर बन सकता है पर ईश्वरत्व पाकर वह संसारी नहीं हो सकता :

"दुग्ध का विकास होता है / फिर अन्त में / घृत का विलास होता है,
किन्तु / घृत का दुग्ध के रूप में / लौट आना सम्भव है क्या ?" (पृ. ४८७)

उपनिषद् भी निगूढ़ आत्मशक्ति के ध्यान, योग द्वारा दर्शन और जागरण की बात करते हैं। 'श्वेताश्वतर' इसका प्रमाण है। अतः मानव की अनन्त सम्भावनाओं को देखते हुए मानवीयशक्ति की प्रतिष्ठा की बात करना परम्परा सम्मत है और इसी कारण 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरम्' की धारणा बलवती होती है। कवि ने काव्य-सृजन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए 'मानस तरंग' (पृ. XXIV) में लिखा है : "जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है···और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।" तात्पर्य यह कि जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर ही इस काव्य का निर्माण हुआ है। माटी, कुम्भ और कुम्भकार के प्रतीकों के माध्यम से राग-वैराग्य, हर्ष-विषाद, भोग-त्याग, पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष, अव्यक्त-व्यक्त, प्रेय-श्रेय तथा मंगल-अमंगल का ऐसा उदात्त काव्यात्मक निरूपण हिन्दी के पूर्ववर्ती अन्यापदेश काव्यों में विरल ही मिलेगा। कवि अपने काव्य का लक्ष्य ऐसे 'महामानव' की प्रतिष्ठा को बनाता है जो घट या जीव को सहारा देकर आत्मा के अनन्त अनुभव सिन्धु में तैरने के लिए छोड़ देता है :

"जो मोह से मुक्त हो जीते हैं / राग-रोष से रीते हैं
जनम-मरण-जरा-जीर्णता / जिन्हें छू नहीं सकते अब...
सप्त-भयों से मुक्त, अभय-निधान वे, / निद्रा-तन्द्रा जिन्हें घेरती नहीं,
...शोक से शून्य, सदा अशोक हैं...
जिनके पास संग है न संघ / जो एकाकी हैं।" (पृ. ३२६-३२७)

'नियमसार' (गाथा १७७) में भी कहा गया है :

"जाइ-जर-मरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥"

'एकाकी' रहने की भावना साधक के लिए अनिवार्य है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'द्वादशानुप्रेक्षा' (गाथा २०) में कहा भी है कि संयमी पुरुष सदैव यह भावना रखता है कि वह एकाकी है, सभी प्रकार के सम्बन्धों और बन्धनों से मुक्त, तटस्थ, ममत्व रहित और शुद्ध है। यह शुद्ध एकत्व की अनुभूति ही साधक के उत्थान के लिए अनिवार्य है :

"एक्को हं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो॥"

'श्रीमद् भागवत' के एकादश स्कन्ध के अवधूतोपाख्यान में भी दत्तात्रेयजी कुमारी के आख्यान के माध्यम से योगी के एकाकी भ्रमण का उपदेश करते हैं :

"एक एव चरेत् तस्मात् कुमार्या इव कंकणः।" (९/१०)

अतः दोनों परम्पराओं की अवधूतचर्या में कहीं विरोध दिखाई ही नहीं पड़ता।

मृण्मय को चिन्मय बना देना जीवन और साहित्य का लक्ष्य है। कवि ने कहा है :

"हित से जो युक्त-समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,
अर्थ यह हुआ कि/जिसके अवलोकन से/सुख का समुद्भव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

जीवन का लक्ष्य भी पतन से ऊपर उठकर उत्थान की ओर जाना, जड़ता से गतिशीलता की ओर जाना, बन्धनों से मुक्ति की ओर जाना तथा संग से असंग की ओर जाना है :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।" (पृ. १९३)

वस्तुतः चारित्र, ज्ञान, तप और क्षमा संसार रूपी सागर में तिरती हुई साधक रूपी सीपियों को ऊर्ध्वमुखी बनाते हैं। हर जलकण अनुभूति जैसा होता है, अतः अनुभूति रूपी जलकण विविध रूपों में मोतियों की तरह साधकों के हृदय में छिपे रहते हैं। सीपी भरकर तल में चली जाती है, सिद्धि पाकर साधक भी 'स्व' में खो जाते हैं। उन अनुभूतियों रूपी मोतियों को शब्दों के गोताखोर ढूँढ़ लाते हैं और जब शब्द व्यक्त हो जाते हैं तो पाठकों के लिए मानों लुट जाते हैं। साहित्य और जीवन-साधना की यही प्रक्रिया है :

"मुक्तमुखी हो, ऊर्ध्वमुखी हो/सागर की असीम छाती पर
अनगिनत शुक्तियाँ तैरती रहती हैं/जल-कणों की प्रतीक्षा में।
एक-दो बूँदें मुख में गिरते ही/तत्काल बन्द-मुखी बना कर
सागर उन्हें डुबोता है,/...वहाँ पर कोई गोताखोर पहुँचता हो
सम्पदा पुनः धरा पर लाने हेतु/वह स्वयं ही लुट जाता है।" (पृ. १९३-९४)

'मूकमाटी' साधनागत द्वन्द्व और अन्तरायों के साथ जीवसाधना की जय-यात्रा का भी चित्रण करती है। मिट्टी की खुदान, छिलन, जलन, आघात सब साधनागत सहिष्णुता को द्योतित करते हैं। यह कठोर साधना इसलिए है कि उससे मंगल घट का निर्माण होना है।

"लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।" (पृ. ५१)

कवि इस तथ्य से पूर्णतया अवगत है कि विश्वशान्ति भोग में नहीं, त्याग में निहित है; हिंसा में नहीं, अहिंसा में विद्यमान है; उसे परिग्रह या संचय से नहीं, अपरिग्रह से प्राप्त किया जा सकता है। मार्क्स और फ्रायड जिसे पेट और काम की भूख कहते हैं वही जीवन का अथ और इति नहीं है। भोग और समाधि सहज रूप से एक साथ नहीं रह सकते। दैहिक शैथिल्य या तनावमुक्ति का नाम समाधि नहीं है। यह दर्शन की एक धारा तो हो सकती है पर अध्यात्म नहीं। कवि आधुनिकता का चित्रण करता हुआ युगबोध को प्रस्तुत करता है पर उसकी तत्त्वनिरूपिणी दृष्टि यहाँ भी पूर्णतया सजग दिखाई पड़ती है :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं –
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;
और एक/योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।
कुछ ही क्षणों में/दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।
फिर क्या कहना!/एक शव के समान/निरा पड़ा है,
और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)

साधक को रागमुक्त होना चाहिए। चारित्र्य और शील ही उसकी सम्पत्ति है पर क्या वह रागात्मक परिवेश में रहकर भी ऐसा बन सकता है ? कवि का उत्तर सकारात्मक है। भोगी फूल के समान है, लता से जुड़कर भी सूख जाता है, झर जाता है और योगी शूल के समान है, फूलों के संग रहकर भी निर्लिप्त रहता है :

"ललित-लतायें ये···/हमसे आ लिपटती हैं/खुलकर आलिंगित होती हैं
तथापि/हम शूलों की शील-छवि/विगलित-विचलित नहीं होती,
नोकदार हमारे मुख पर आकर/अपने राग-पराग डालती हैं/तथापि
रागी नहीं बना पाती हमें/हम पर/दाग नहीं लगा पातीं वह।" (पृ. १००)

वस्तुतः चारित्र में दृढ़ और मन में दृढ़ सम्यक् दर्शन की भावना लेकर आत्मा का ध्यान करनेवाला साधक जगत् में रह कर भी मुक्त हो जाता है। 'मोक्ष पाहुड़' (गाथा ४९) में कहा भी गया है :

"होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भाविय मईओ।"

'चरणं हवइ सधम्मो'– अर्थात् चरित्र रक्षा ही धर्म है। अब हिन्दी में अस्तित्ववादी प्रभाव के कारण उन्मुक्त यौन-चेतना और भोगपरक जो भी साहित्य लिखा गया है या अलबेर कामू तथा ज्याँ पॉल सार्त्र जो कुछ लिख रहे हैं, वह भोगपरक निरीश्वरवादी अलगाव और सन्त्रासप्रिय देह की भूखभरी पीढ़ी के सैलाब से भरी रचनाएँ हैं। आधुनिक कथा साहित्य में नैतिकता के आयाम ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते। कविता की भी यही स्थिति है। कुँवर नारायण लिखते हैं :

"आमाशय, यौनाशय, गर्भाशय, जिसकी जिंदगी का यही आशय,
यही इतना भोग्य, कितना सुखी है वह, भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य।"

'मूकमाटी' के कवि ने इस कुहासे में एक किरण को फिर प्रखरता दी है और वह प्रखरता उपसर्ग या त्याग की विधि से फूटी है। संसर्ग, समर्पण और अहम् या व्यक्तिबोध का उत्सर्जन ही सृजनशील जीवन की सफलता है :

"जो स्वार्थित विसर्ग किया/सो/सृजनशील जीवन का/अन्तिम सर्ग हुआ।
...तुमने स्वयं को/जो/निसर्ग किया,/सो/सृजनशील जीवन का
वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

सहज और अकृत्रिम रूप में मनुष्य जन्म लेता है फिर वह विधि-निषेधों में बँधता सभ्यताओं को जन्म देता है। भूगोल, अर्थशास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र और उपयोगिता शास्त्र की सीमाओं में बँधता और जूझता है पर जब सब कुछ छोड़ कर वह पुनः सहज और अकृत्रिम जीवन जीने के लिए प्रकृति की गोद में मुनि-चर्या स्वीकार करता है तो निसर्ग सिद्ध होता है। इसी जीवन-दर्शन से जिसमें कहीं दिखावा, प्रदर्शन, हीनता या उच्चता की ग्रन्थि नहीं, विश्व-मानव को सुख और शान्ति मिल सकती है। स्पष्ट है, कवि ने उपनिषदों के ज्ञानवाद और प्रकृतिवाद को मुनिधर्म से जोड़ कर संन्यास को नई अर्थवत्ता दी है। 'ही' और 'भी' के माध्यम से कवि ने दोनों वृत्तियों के संघर्ष को वाणी दी है। भोगवादी कहता है, वही सब कुछ है, अध्यात्मवादी कहता है, वह भी कुछ है। 'ही ' बद्ध दृष्टि है और 'भी' स्याद्वाद के कारण मुक्त दृष्टि है :

" 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को
'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है,/'ही' पश्चिमी-सभ्यता है
'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।" (पृ. १७३)

जैन आचार्यों के अनुसार गृहस्थ में दान भाव और त्यागपूर्वक भोग भाव द्वारा जीवन को उन्नत बनाया जा सकता है। इन्द्र को मिथिलानरेश निमि ने उपदेश देते हुए कहा था–"मैं सुख पूर्वक रहता हूँ, क्योंकि मैं किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता। इसलिए सम्पूर्ण मिथिला के जल जाने पर भी मेरा कुछ जलने वाला नहीं, क्योंकि अक्षय ज्ञान रूपी वित्त सदैव मेरे पास रहेगा।"

"सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण॥" (उत्तराध्ययन, ९/१४)

'ईशावास्योपनिषद' त्यागपूर्वक भोग को ही महत्त्व देता है। श्रमणेतर वैदिक परम्परा में शुकदेव और जनक के संवाद के रूप में भी यही धारणा व्यक्त हुई है। जनक कहते हैं :

"अनन्तवत्तु मे वित्तं न मे दह्यति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किञ्चन।"

इसीलिए कवि माटी को साधक का सर्वमान्य आदर्श बताते हुए कहता है :

"माटी स्वयं भीगती है दया से/और/औरों को भी भिगोती है।" (पृ. ३६५)

'मूकमाटी' चार खण्डों में विभाजित काव्य है। प्रथम खण्ड का शीर्षक 'संकर नहीं : वर्णलाभ' है, यहाँ 'अहिंसा' के व्यापक स्वरूप का चित्रण हुआ है। द्वितीय खण्ड का शीर्षक 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं', 'सत्य' के स्वरूप का चित्रण करता है। तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' नाम से है जिसमें अस्तेय और ब्रह्मचर्य का निरूपण हुआ है तथा चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक के रूप में निर्मित है, जिसमें अपरिग्रह का चित्रण हुआ है। यहाँ साधना की पूर्णता लक्षित होती है, क्योंकि यहाँ मंगल कलश या सिद्ध साधक का पूर्ण उत्सर्ग अभिव्यंजित हुआ है। भोग से त्याग की सुखद किन्तु कठोर यात्रा का पर्यवसान इस खण्ड में उपलब्ध है। इस प्रकार क्रमशः देह तथा आत्मशोधन, तत्त्वदर्शन या निदान, पुण्य कर्म सम्पादन तथा तपे-पके साधक की मुक्ति का चित्रण चारों खण्डों में मिलता है। कुम्भ की यात्रा का लक्ष्य था :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है।
...इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुम से
मुझ में जल-धारण करने की शक्ति है
जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।" (पृ. २७७)

और परिपक्व कुम्भ की परिणति है :

" 'स्व' को 'स्व' के रूप में/'पर' को पर के रूप में/जानना ही सही ज्ञान है,
और/'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ. ३७५)

मिट्टी को व्यापक अर्थों में गृहीत करने के लिए कवि के पास वैदिक और श्रमण परम्परा की सुदीर्घ और पुष्ट विचारधारा है। वेद का ऋषि मिट्टी को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे पृथ्वी ! तू प्राणियों के निवास योग्य बनी है, तू कंटक विहीन हो अर्थात् आततायी और लुटेरे तेरे निवासियों को न सताएँ। तू बीज, फल, पुष्प, औषधि तथा अन्न-धन से सबको सुखी बना। तू क्षमाशीला है, सबको मैत्री, क्षमा और दया की सीख दे जिससे वह तेरे समान प्रशस्त या सुपथ बन सकें :

"स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः।" (यजुर्वेद - ३५.२१)

'श्रीमद्भागवत' में भी मिट्टी को क्षमाशीलता, मैत्री और समभाव का प्रतीक बताया गया है, उससे उद्भूत पर्वत आदि भी परोपकार ही करते हैं। अतः साधु पुरुष को चाहिए कि उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनके परोपकार की शिक्षा ग्रहण करे :

"भूतैराक्रम्यमाणोऽपि, धीरो दैववशानुगैः,
तद् विद्वान् न चलेन्मार्गदिन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्।
शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः;
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्॥" (११/७/३७-३८)

श्रमणपरम्परा के ग्रन्थों में 'दस भक्ति' के अन्तर्गत 'आचार्य भक्ति' (प्राकृत/५) में कहा गया है :

"उत्तमखमाए पुढवी।"

अर्थात् उत्तम क्षमा में पृथ्वी के समान आदर्श होना चाहिए। 'दसवेआलियं' (१०/१३) में भी आया है कि पृथ्वी के समान क्षमाशील, निदान या फल की कामना से मुक्त तथा नृत्यगानादि भोगविलासों में उत्सुकता या रुचि न रखने वाला ही मुनि है :

"पुढविसमे मुणी हवेज्जा,
अनियाणे अकोउहल्ले य जे, स भिक्खू।"

'सूत्रकृतांग' में 'पुढवी जीवाण' कहकर जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के साथ पृथ्वी को भी अहिंसा योग्य माना गया है। इनका प्रदूषण ही महावीरजी की दृष्टि में हिंसा थी। अतः पृथ्वी को अप्रदूषित भावना, क्षमाशीलता, दया, समभाव, भूतहित तथा अनासक्ति का प्रतीक माना जा सकता है। वैदिक और श्रमणपरम्परा में पृथ्वी और उपलक्षित मृत्तिका इसी विचार की द्योतक है। आचार्य विद्यासागरजी ने मिट्टी को इसी विचार वृत्त से कविता के लिए चुना और समग्र भारतीय चिन्तन का प्रतीक बनाकर प्रस्तुत किया। मृत्तिका को उन्होंने सार्वभौम साधना और शुभाकांक्षा के रूप में सामने रखा। जीवन सम्बन्धों और भावनाओं का वैविध्य 'मिट्टी' के सहारे दिखाना सरल काम न था। दर्शन विशेष की अवधारणाओं को आधुनिक परिदृश्य के अनुकूल प्रस्तुत करना भी सहज न था। आतंकवाद और दमन में विश्वास रखने वालों को क्षमाभाव की शिक्षा देकर हृदयपरिवर्तन के लिए प्रेरित कर देना सर्वात्मवादी, सर्वोदयी और अनेकान्तवादी विचारकों की भावना का द्योतक तो है ही, युगीन समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की दिशा में कवि की तत्परता भी है। अतः युग और युगीन व्यवस्था के ताज़े सन्दर्भों की ओर इशारा करना भी कवि का लक्ष्य रहा है। पन्तजी ने 'छान्दोग्य' के अनुसार जिस प्रकार 'सत्यकाम' में अग्नि, वृषभ, मद्गु आदि के माध्यम से दर्शन बोध कराया है, आचार्य विद्यासागरजी ने शूल, लता, कंकर, मृत्तिका, बबूल, अवा, कुम्भ, मच्छर, झारी तथा स्वर्ण कलश के प्रतीकों द्वारा विविधतापूर्ण सामाजिक व्यवस्थाओं, धारणाओं तथा प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। इतने सूक्ष्म धरातल पर काव्य और दर्शन का अनोखा संगम प्रस्तुत कर देना ही 'मूकमाटी' के महाकाव्यत्व का प्रमाण है।

यह बात मैं विशेष रूप से कहना चाहता हूँ कि वैराग्य की भित्ति पर रागात्मक मनोदशाओं के चित्र उकेरने में कवि ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। दर्शन के तत्त्वों का विवेचन व्यंजनागर्भित होने के कारण इसका काव्यत्व विशृंखलित नहीं हुआ। काव्योन्मुख दर्शन इस रचना की धुरी है, दर्शन का पैवंद रचना के कलेवर पर नहीं टँका। कवि का शब्दों और उनकी निरुक्तियों पर असाधारण अधिकार है। वह सामान्य से सामान्य शब्द को लेकर भी अदेखे, अप्रत्याशित और अचीन्हे अर्थ उद्घाटित कर देता है। कुम्भकार और गदहा जैसे सामान्य और तुच्छ शब्दों को भी वह नवीन अर्थवत्ता के साथ प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक परिदृश्यों के चित्रण में उसने क्षीरधर्मी दृष्टि का भी परिचय दिया है। बिम्बात्मक भाषा के कारण काव्य का शिल्प महनीय हो उठा है, एक दृश्य देखें :

"पर्वतों के पद लड़खड़ाये/और/पर्वतों की पगड़ियाँ/धरा पर गिर पड़ीं,
वृक्षों में परस्पर संघर्ष छिड़ा/कस-कसाहट आहट/स्पर्श्य का ही नहीं,
अस्पर्श्य का भी स्पर्शन होने लगा/कई वृक्ष शीर्षासन सीखने लगे,
बाँस दण्डवत् करने लगे/धरा की छाती से चिपकने लगे।" (पृ. ४३८)

'मूकमाटी' आधुनिक जीवन का निदान शास्त्र है, काव्यत्व से ओतप्रोत बोधशास्त्र है। इसीलिए मैं इसे 'बोधकाव्य' कहने का पक्षधर हूँ। उदात्त विषय, उदात्त भावबोध, उदात्त भाषा तथा उदात्त शिल्प से युक्त होने के कारण यदि इसे कोई महाकाव्य कहना चाहे तो कह सकता है पर इसके सभी प्रतीक पात्र क्योंकि उपदेश करते हुए चलते हैं, अतः इसे 'अध्यात्मबोध काव्य' कहा जाना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। आधुनिक विडम्बना को भोगता हुआ मनुष्य यदि इन पंक्तियों को जीवन में उतार ले तो उसका कल्याण हो सकता है। अभिन्नता और अद्वैतता ही 'मूकमाटी' का मुखर सन्देश है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक ही अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर
बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

❑

'मूकमाटी' : रूपक द्वारा गहन अध्यात्म का इंगन

प्रो. (डॉ.) जगदीश चन्द्र जैन

आचार्यश्री विद्यासागर की कृति का स्वागत है। कठोर तपश्चरण के साथ-साथ साहित्यिक प्रवृत्तियों के हेतु समय निकाल पाना श्रेयस्कर समझा जाएगा। यह आदर्श की बात है। पुरातन काल में हमारे सम्मान्य सन्त-महन्तों एवं मनीषी आचार्यों ने जो हमारी संस्कृति को समृद्ध बनाया है, एतदर्थ हम उनके सदा ऋणी रहेंगे।

माटी जैसी नगण्य एवं अकिंचन समझी जाने वाली वस्तु को अपनी काव्य प्रतिभा का विषय बनाकर उसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित करना असाधारण सूझबूझ का द्योतक है। एक कुशल शिल्पी की कला के संयोग से एक निरीह वस्तु मंगल घट के रूप में जीवन की सार्थकता को प्राप्त कर लेती है, यह गम्भीर आलोचना का विषय है। मूकमाटी के रूपक द्वारा गहन अध्यात्म की ओर इंगित किया गया है। काश, पतन के गर्त की ओर अग्रसर होता हुआ हमारा समाज, मानव मूल्यों को पुनः गतिशीलता प्रदान करने के हेतु, इस अमूल्य कृति का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने में सक्रिय रूप से प्रवृत्त हो सके, इसी एक मात्र कामना के साथ।



❑

'मूकमाटी' महाकाव्य : नयी कविता का एक सशक्त हस्ताक्षर

डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

'मूकमाटी' एक दार्शनिक महाकाव्य है जो आधुनिक सन्दर्भ में भी बेजोड़, शाश्वत मूल्यों को प्रस्थापित करता है। आज के उद्वेलित समाज में प्रस्फुटित विचारों के नए अंकुरों में विज्ञान अपनी पैठ जमा रहा है और भारतीयता के परिवेश में जीवन-मूल्यों को परखने के लिए हमारी देहली पर दस्तक दे रहा है। आज की नई पीढ़ी में एक सवाल उभर रहा है कि क्या आध्यात्मिकता आधुनिकता के वैचारिक धरातल पर अपने आप को युगीन और कालबाह्य सिद्ध कर सकेगी ? या यों कहें कि क्या आध्यात्मिकता की उपेक्षा हमारे जीवन की यथार्थता को समझने के लिए घातक सिद्ध नहीं होगी ? यदि इस प्रश्न को उत्तरित करने में हमारा मन विधेयात्मकता की ओर झुकता है तो फिर प्रश्न उठेगा कि वह कौन-सा रूप हो सकता है जो हमें जीवन-मूल्यों की अर्थवत्ता को तर्कसंगत और बुद्धिसंगत बना दे और सहजता पूर्वक प्रतिभासित करा दे कि जीवन की इयत्ता भौतिकतावादी मनोवृत्ति में नहीं बल्कि उससे प्रतिमुक्त त्याग के परिवेश में पनपी वीतरागी सद्वृत्ति में है। 'मूकमाटी' महाकाव्य इसी सद्वृत्ति को अंकुरित और प्रतिष्ठित करने वाले दर्शन को अपने अनुपम अभिव्यंजना-शिल्प के माध्यम से प्रस्तुत करता है और साहित्य-जगत् में कालजयी सिद्ध होने के लिए दावेदार बन जाता है।

'मूकमाटी' : आधुनिक हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में

आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावाद से लेकर साठोत्तरी कविता तक कोई भी ऐसा काव्य या महाकाव्य दृष्टिपथ में नहीं आया जिसकी तुलना आचार्यश्री विद्यासागर के 'मूकमाटी' महाकाव्य से की जा सके। इसीलिए हमने इसे 'महाकृति' कहा है। छायावादी युग में प्रसाद ने 'कामायनी', 'आँसू' जैसे विरह प्रसूत आनन्दवादी भावात्मक काव्यों की रचना की। पन्त ने 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'वीणा', 'उत्तरा,' 'लोकायतन' आदि कृतियों में जीवन और जगत् के प्रति नई दृष्टि दी। निराला का अध्यात्म -चिन्तन और लोक-सृजन 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोज स्मृति', 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता' आदि रचनाओं में प्रतिबिम्बित हुआ। महादेवी ने अपनी समूची काव्य-रचनाओं में विरह वेदना की अनुभूति की आत्यन्तिकता, मादकता और माधुर्य को अभिव्यक्त किया है। परन्तु इन सभी काव्यों में कहीं भी विरागता और शुद्ध आध्यात्मिकता के दर्शन नहीं होते। यह बात सही है कि छायावादी रहस्यवादी काव्य-चेतना के अन्तर्गत अभिव्यक्ति के सर्वथा नए आयाम सामने आए, व्यक्तिगत चेतना युगनद्ध हुई, कलात्मक बोध का विस्तार हुआ, चित्रात्मक परम्परा का सृजन हुआ, प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया गया, प्रेम-व्यापार भरे जीवन का दस्तावेज़ प्रगट किया गया, वासना का इज़हार हुआ परन्तु जीवन की यथार्थता और चेतना की विशुद्ध चिरन्तनता का कोई रूप वहाँ उपलब्ध नहीं होता। 'मूकमाटी' जिस पवित्र भावभूमि पर सृजित हुई है, वह उपर्युक्त किसी भी काव्यविधा में दिखाई नहीं देती। आचार्यश्री विद्यासागरजी ने, लगता है समसामयिक साहित्य की उपर्युक्त प्रवृत्तियों के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए उन्हें साहित्य के यथार्थ से बाहर रखा और कहा कि यदि समसामयिक साहित्य, साहित्य के यथार्थ अर्थ से समन्वित हो तो ही वह सर्वोत्तम कहा जा सकता है, अन्यथा 'सार-शून्य शब्द-झुण्ड' ही होगा :

"सर्वोत्तम होगा सम-सामयिक !/शिल्पी के शिल्पक-साँचे में
साहित्य शब्द ढलता-सा !/हित से जो युक्त – समन्वित होता है
वह सहित माना है/और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,
अर्थ यह हुआ कि/जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो

सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. ११०-१११)

आधुनिक युग तर्कशीलता का युग है, विचार स्वातन्त्र्य का युग है, राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण का युग है। इसमें यथार्थोन्मुख आदर्शवाद का विकास हुआ, औद्योगिक क्रान्ति हुई, व्यक्तिवाद और स्वच्छन्दतावाद का जन्म हुआ, रोमांटिक क्रियाकलाप बढ़े और आर्थिक विषमता पनपी। इसमें वर्तमान युग और समसामयिक की भूमिका के रूप में रिनेसाँ संस्कृति तथा पूँजीवादी समाज-व्यवस्थाओं का द्वन्द्वात्मक योग हुआ और आधुनिक शोध-बोध में सक्रियता आई। फलतः धर्मनिरपेक्षता, सार्वभौमिकता, सामाजिक सुधारवाद, सर्वोदयवाद, वर्णव्यवस्था विरोध, समाजवाद जैसी विचारधाराएँ लोकप्रिय होने लगीं। विज्ञानवाद पर भी बल दिया जाने लगा। धर्म की पारम्परिकता पर फलतः प्रश्नचिह्न खड़ा हो गया। 'मूकमाटी' ऐसे ही प्रश्नचिह्नों को समाधानित करने की दृष्टि से रचा गया महाकाव्य प्रतीत होता है।

रचना की पृष्ठभूमि और उद्देश्य

प्रत्येक रचना की पृष्ठभूमि में कोई न कोई परिस्थिति काम करती है। उसके भावों और विचारों का कोई सन्दर्भ विशेष होता है। रचना में गत्यात्मकता, प्रगाढ़ता, अनुभूतिपरकता, संवेदनशीलता, सूक्ष्मता जैसे तत्त्व भावों और विचारों में सम्पृक्ति के बिना उन्मेषित नहीं हो पाते, शब्द और अर्थ का साक्षात् योग नहीं हो पाता, नई नई उद्भावनाएँ नहीं आ पातीं और साधारणीकरण की प्रक्रिया जुट नहीं पाती। 'मूकमाटी' के अध्ययन से ऐसी धारणा बलवती होती जाती है कि उसकी रचना के पीछे कोई घटना विशेष है जिसने कवि को उद्वेलित कर दिया है। ऐसे ही उद्वेलन का परिणाम है 'मूकमाटी,' जिसमें निमित्त-उपादान की सुन्दर मीमांसा की गई है। संवेदनशील कवि ने प्रस्तुत महाकाव्य में न निमित्त पर बल दिया है और न उपादान को प्रमुखता दी है, बल्कि उन्होंने आगमिक आधार पर उसका सापेक्षिक कथन किया है जो एक ओर दार्शनिक बोध का विस्तार करता है तो दूसरी ओर व्यावहारिक क्षेत्र में उतरकर वस्तु-स्थिति को समझने का संकेत करता है। निमित्त-उपादान का मूल्यांकन ऐकान्तिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। यही 'मूकमाटी' का कथ्य है और यही उसका तथ्य है जो अवान्तर घटनाओं में अनुस्यूत है।

'मूकमाटी' यद्यपि महाकाव्य है, पर उसका उद्देश्य एक विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त को स्पष्ट करना रहा है। वह दर्शन परम सत्त्व की प्रतिष्ठा है, उपलब्ध ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया है। काव्य भावात्मक होता है और दर्शन बौद्धिक। दर्शन की अनुभूति के लिए वासनाहीन होना पड़ता है पर काव्य की अनुभूति के लिए वासना एक अनिवार्य शर्त है। शुद्ध दार्शनिकों ने 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' कहकर इसी तथ्य को प्रस्तुत किया है। यद्यपि दोनों का सम्बन्ध जीवन की व्याख्या करना है पर उसका साधन भिन्न-भिन्न है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने दर्शन और जीवन के इस सम्बन्ध को अनुभूति का विषय नहीं बनाया जबकि भारतीय दार्शनिकों ने अनुभूति को ही परम मूल्य के रूप में स्वीकारा है। इसलिए वे कवि भी हुए और दार्शनिक भी। दार्शनिकों ने काव्य-सृजन भी किया। आचार्यश्री दार्शनिक भी हैं और कवि भी हैं। विशेषता यह है कि 'मूकमाटी' काव्य होते हुए भी उसमें वासना का स्पर्श भी दिखाई नहीं देता। विरागता का रंग आदि से अन्त तक चढ़ा हुआ है। फिर भी काव्यात्मकता में कोई कमी नहीं आई बल्कि उसमें नए मानों-प्रतिमानों के कारण प्रभावात्मकता और भी बढ़ गई है। अतः वह लीक से हटकर एक अलग ही विधा का निर्मापक बन गया है।

भारतीय दर्शनशास्त्र नीतिशास्त्र से जुड़ा हुआ है। दर्शन के साथ नीति तत्त्व अथवा आचरण तत्त्व की व्याख्या भी यहाँ युगपत् होती रहती है। काव्य शुभ और अशुभ की भी व्याख्या करता है। कलावादी भले ही नैतिक तत्त्व को काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी स्वीकार न करें पर दूसरे लोग उसका मूल्यांकन मानवीय आचरण की व्याख्या के आधार पर किया

करते हैं। इन तत्त्वों का समन्वय वस्तुतः काव्य में एक अन्य प्रकार की ही रसात्मकता को उत्पन्न कर देता है। सर्वोदयवाद और समाजवाद की दिशा साहित्य के सही अर्थ को स्पष्ट करती है। आचार्यश्री ने साहित्यिक भाव-बोध का प्रश्न उठाते हुए पश्चिमी सभ्यता और भारतीय सभ्यता के बीच महत्त्वपूर्ण एक विभेदक रेखा खींची है (पृ. १०२-१०३) और शोध-बोध की बात करते हुए (पृ. १०७) साहित्य के मार्मिक अर्थ को स्पष्ट किया है (पृ. १११)। तदनुसार हित से समन्वित होना साहित्य की आत्मा है। 'मूकमाटी' की भी यही आधार-भूमि है। अतः वह दार्शनिक महाकाव्य है, दर्शन और अध्यात्म का समन्वित रूप है, सांस्कृतिक परम्परा की जीवन्त महाकृति है। इस महाकृति में महाकवि ने जैनदर्शन को सृजनात्मक स्वर देने का प्रयत्न किया है। उनकी सृजन-प्रक्रिया बाह्य यथार्थ की आभ्यन्तरीकरण-प्रक्रिया है, जो स्वानुभव पर आधारित है। उन्होंने युग-जीवन के वैषम्य को देखा-समझा-परखा है, नैतिक संकट की उन्हें अनुभूति हुई है। इसलिए 'मूकमाटी' जैसे दार्शनिक महाकाव्य का सृजन हो सका है।

ऐसी दार्शनिक महाकृति की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा करना सरल नहीं होता। एक ही काव्य में सिद्धान्त और काव्य, दोनों का सम्पुट होना एक विशिष्ट प्रतिभा का प्रदर्शन है जो 'मूकमाटी' में मुखर हुआ है। सिद्धान्त यथार्थ और वस्तुवादी व्याख्या करता है, अनुगम विधि का उपयोग करता है जिसमें वस्तुओं के अध्ययन के आधार पर सिद्धान्त बनाए जाते हैं और व्यवहार प्रयोग की बात करता हुआ निगमन विधि को अपनाता है। यहाँ दोनों विधियों का प्रयोग हुआ है। समाजशास्त्र, मनोवैज्ञानिक आदि सिद्धान्तों की भी मीमांसा इस महाकृति में यथास्थान की गई है और अन्त में निमित्त और उपादान का मूल्यांकन किया गया है। महाकवि का यह एक क्रान्तिकारी प्रयोग है, बिलकुल अभिनव प्रयोग जिसने साहित्य और काव्य के क्षेत्र में शृंगार के स्थान पर विरागता की प्राण-प्रतिष्ठा की और जीवन की व्यापकता को स्पष्ट किया। यह प्रयोग एक विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टि का प्रयोग है, सिद्धान्त और जीवन-निष्ठा का प्रयोग है, व्यक्तित्व की भावना का प्रयोग है। इस विरल प्रयोग में समीक्षक का तादात्म्य सम्बन्ध होना काव्य के प्रति न्याय करने के लिए अत्यावश्यक है।

यह काव्य सामाजिक चेतना पर आधारित है, वह भी नकारात्मक नहीं, सकारात्मक है। यथोचित परिवेश और वातावरण को प्रस्तुत करते हुए कवि ने यह अवधारणा दी है कि व्यक्ति को अपनी उपादान शक्ति पर विश्वास करना चाहिए और निमित्त का आश्रय लेकर उसे उन्मेषित करना चाहिए। आध्यात्मिक क्षेत्र में आकर स्व और पर का भेदविज्ञान प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य बन जाता है। इसलिए नियति और पुरुषार्थ का पारम्परिक अर्थ भी कवि की दृष्टि में बदल गया :

> *" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन – स्थिरता है*
> *अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है,/और*
> *'पुरुष' यानी आत्मा–परमात्मा है/'अर्थ' यानी प्राप्तव्य–प्रयोजन है*
> *आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही*
> *सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)*

नियति और पुरुषार्थ की यह चेतना व्यक्ति को जीवन का मूल्य समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है, आत्मिक साक्षात्कार है, निस्पृहता का उद्भावन है और सामाजिक चेतना की सक्रियता है। आज की विसंगतियों से मुक्त होने के लिए कल्याण के इच्छुक मुमुक्षुओं के लिए यह एक निर्विवाद सुन्दर पथ है जो मानवता की असीम भाव-भूमि का संस्पर्श करता हुआ अविरल गति से नए-नए क्षितिजों को उद्घाटित करता चला जाता है।

राष्ट्रीय चेतना के अन्तःस्वर

एक बात और है, साहित्यकार सांसारिकता से कितना भी असम्पृक्त क्यों न हो, वह राष्ट्रीय चेतना से अपने को अछूता नहीं रख सकता। राष्ट्र के विकास में उसका प्रदेय साहित्यिक परिवेश में उपेक्षित नहीं माना जा सकता। कवियों पर राष्ट्र के विकास का उत्तरदायित्व रहा है, जो उन्होंने बखूबी निभाया है। मानवीय संवेदनाओं के स्पन्दनों की धड़कन से जो संगीत-स्वर उद्भूत हुए उन्होंने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की कोशिकाओं को झंकृत किया और अखण्डता, एकनिष्ठता और सदाचरण की ओर कदम बढ़ाने के लिए प्रेरित किया। संकीर्णता के दायरे से हटकर सार्वजनीन और सर्वांगीण दृष्टि से मानवीय चेतना को परिष्कृत करने का उत्तरदायित्व साहित्यकार की मर्मज्ञता और सृजनशीलता का परिचायक है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परिभाषा से आबद्ध उसकी विचारधारा विश्व-मानवता का पाठ पढ़ाती है, राष्ट्रीयता को प्रस्फुटित करती है, अहंवाद को विसर्जित करती है और विश्वशान्ति के स्वप्न को साकार करने का नया आयाम देती है। अन्तरराष्ट्रीय सद्भाव, परस्पर सहयोग, सह-अस्तित्व और सद्वृत्तियों के जागरण करने में उसका योगदान एक अहं भूमिका लिए रहता है। 'मूकमाटी' का यह अवदान एक ओर आध्यात्मिक संस्कार को जाग्रत करने के लिए सशक्त साधन है तो दूसरी ओर क्षमता और सामर्थ्य को सही दिशा-दान के लिए एक विनम्र आन्दोलन है। ''जागो फिर एक बार'' जैसे जागरण गीतों की एकलयता में 'मूकमाटी' का ''मेरा संगी संगीत है, समरस नारंगी-शीत है'' (पृ. १४५) का युगबोध नया स्वर जोड़ देता है जो आत्म-परिष्कार की दृष्टि से और यथार्थबोध की ओर सजगता लाने की कामना से निश्चित ही महान् प्रदेय माना जा सकता है।

'मूकमाटी' के रचयिता की दृष्टि में पंजाब का मसला और उसका प्रचण्ड आतंकवाद एक चिन्ता का विषय रहा है। इसलिए वह कह उठता है पूरे स्वर से कि आतंकवाद के रहते धरती शान्ति का श्वास नहीं ले सकती। इसलिए उसे पूरी शक्ति से समाप्त करना होगा। अब विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं। यह तो अस्तित्व का प्रश्न है। यहाँ अस्तित्व एक का ही रहेगा, तभी समृद्धि होगी :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,
ये कान अब/आतंक का नाम सुन नहीं सकते,
यह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि/उसका रहे या इसका
यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा,/अब विलम्ब का स्वागत मत करो
नदी को पार करना ही है/...भय-विस्मय-संकोच को
आश्रय मत दो अब!" (पृ. ४४१-४४२)

आतंकवाद को समाप्त करने में कवि की दृष्टि सही समाजवाद की प्रस्थापना की ओर जाती है जिसमें धनतन्त्र की जगह जनतन्त्र की आराधना हो और निर्धनों में धन का समुचित वितरण हो (पृ. ४६१, ४६८)। उन्होंने पंजाब के तत्कालीन मुख्यमन्त्री प्रकाश सिंह बादल के स्थान पर सुरजीत सिंह बरनाला को मुख्यमन्त्री बनाए जाने पर अपनी जो प्रक्रिया व्यक्त की है, वह द्रष्टव्य है :

"बादल दल छँट गये हैं/काजल-पल कट गये हैं
वरना, लाली क्यों फूटी है/सुदूर''प्राची में!" (पृ. ४४०)

हम भारतीय स्वतन्त्र हैं और स्वतन्त्रताप्रिय हैं। हम न स्वयं परतन्त्र होना चाहते हैं और न दूसरों को परतन्त्र

करना चाहते हैं बल्कि परतन्त्र देशों को स्वतन्त्र करने में हम यथाशक्य मदद करते हैं। हमारे भारत की यही विदेश नीति रही है, इसका संकेत आचार्यश्री ने कुम्भ के मुख से कुछ पंक्तियाँ कहलाकर किया है :

"यहाँ/बन्धन रुचता किसे ?/मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता
तभी···तो···/किसी के भी बन्धन में/बँधना नहीं चाहता मैं,
न ही किसी को/बाँधना चाहता हूँ।/जानते हम,/बाँधना भी तो बन्धन है !
तथापि/स्वच्छन्दता से स्वयं/बचना चाहता हूँ/बचता हूँ यथा-शक्य/और
बचना चाहे हो, न हो/बचाना चाहता हूँ औरों को/बचाता हूँ यथा-शक्य।
यहाँ/बन्धन रुचता किसे?/मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता।" (पृ. ४४२-४४३)

स्वतन्त्र देश में राजनीतिक दलों का होना तो आवश्यक होता है पर उनकी दलगत कुत्सित नीति राष्ट्र के लिए हानिकारक होती है, राष्ट्र-विघातक होती है। दल-बहुलता वस्तुतः शान्ति को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली और स्वार्थ केन्द्रित होती है :

"दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना !/जितने विचार, उतने प्रचार
उतनी चाल-ढाल/हाला घुली जल-ता/क्लान्ति की जननी है ना !
तभी तो/अतिवृष्टि का, अनावृष्टि का/और
अकाल-वर्षा का समर्थन हो रहा यहाँ पर !/तुच्छ स्वार्थसिद्धि के लिए
कुछ व्यर्थ की प्रसिद्धि के लिए/सब कुछ अनर्थ घट सकता है !" (पृ. १९७)

स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए सही समाजवाद और सही सर्वोदयवाद का अवलम्बन आधारशिला मानी जा सकती है जिस पर प्रशस्त आचार-विचार मढ़े हों और जनकल्याण की बात खुदी हो। जहाँ न दम्भ हो, न राजसता, न स्वार्थ हो न मात्र नारेबाजी, न पत्थरों की मार हो न विलासिता हो। वहाँ हो अध्यात्मवाद से सिंचित पुरुषार्थवृत्ति और सदाशयता से भरी परोपकारिता (पृ. ४६१)।

कवि मात्र राष्ट्रीय चेतना से ही ओतप्रोत नहीं है। उसे अन्तरराष्ट्रीय स्थिति का भी पूरा आभास है। लगता है, 'मूकमाटी' लिखते समय (१९८४-८७ ई.) पंजाब का आतंकवाद और पाकिस्तान द्वारा उसका संचालन कवि के मानस को उद्वेलित कर देता है। इसीलिए तो वह कह उठता है वहाँ के तत्कालीन राष्ट्राध्यक्ष जनरल जिया उल हक से, कि उसे सदाशय और समष्टि की बात सोचनी चाहिए। मिटने-मिटाने की बात उसके मुँह से शोभा नहीं देती :

"परस्पर कलह हुआ तुम लोगों में/बहुत हुआ, वह गलत हुआ।
मिटाने-मिटने को क्यों तुले हो/इतने सयाने हो !/जुटे हो प्रलय कराने
विष से घुले हो तुम !/...सदय बनो!/अदय पर दया करो
अभय बनो !/सभय पर किया करो अभय की/अमृत-मय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो !
जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ !" (पृ. १४९)

राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय स्थिति पर चिन्तन करते हुए कवि ने अनेकान्तवाद को ऐसे अमोघ अस्त्र के रूप में यहाँ प्रस्थापित किया है जो पारस्परिक मन-मुटाव को दूर कर सौहार्दभाव को जन्म देता है और चतुर्मुखी विकास के गलियारे तय करता है। इसके लिए 'ही' और 'भी' की संस्कृति के अन्तर को समझकर 'भी' को आत्मसात् करना होगा। तभी

लोकतन्त्र का नींड़ सुरक्षित रह सकेगा (पृ. १७३)।

कव्य और तव्य

'मूकमाटी' का दर्शन सृजनशील दर्शन है। उसकी सृजनशीलता में उपादान और निमित्त कारण समन्वित रूप से उत्तरदायी हैं। यह उत्तरदायित्व विषयवस्तु के रूप में चार भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में मिट्टी का संसर्ग कुम्हार से होता है। द्वितीय भाग में अहं का विसर्जन और समर्पण है। तृतीय भाग समर्पित के सामने आगत विविध परीक्षाओं से सम्बद्ध है तथा चतुर्थ भाग वर्गातीत अपवर्ग की प्राप्ति पर आधारित है। इस प्रकार समूचा महाकाव्य दर्शन से ओतप्रोत है। ये चारों भाग क्रमशः चतुष्पुरुषार्थ तथा चतुराश्रम-व्यवस्था के प्रतीक माने जा सकते हैं। कवि ने इनमें जीवन की अनेक परछाइयों को नज़दीक से देखा है और उनकी बहुरंगी प्रतिकृतियों को अनुभूति की पाँखों में सँजोया है।

'मूकमाटी' की प्रस्तुत विषयवस्तु और उसकी अभिव्यंजना की स्थिति में सुन्दर तारतम्य दिखाई देता है। विषय बिलकुल नया है और उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही नई है। कहीं भी कृत्रिम सृजनशीलता दिखाई नहीं देती। आधुनिक कविता में विषयों का आधिक्य और वस्तुगत वैविध्य अधिक है जिससे उसमें वह गम्भीरता नहीं आ पाती जो एकनिष्ठ काव्य में सम्भव है। प्रकृति-चित्रण में परम्परा के साथ नवीनता का समावेश मिलता है पर कवियों ने उसका उपयोग अपनी शृंगारिक भावनाओं के परिपोषण में ही अधिक किया है जबकि 'मूकमाटी' में प्रकृति का प्रयोग पूरे सौन्दर्यबोध के साथ आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति में ही किया गया है। रामनरेश त्रिपाठी ने 'स्वप्न' काव्य में कश्मीर यात्रा के दौरान देखे गए सौन्दर्य को अंकित किया है पर 'मूकमाटी' का कवि 'स्वप्न' की कितनी सुन्दर आध्यात्मिक व्याख्या करता है, उसे पृ. २९४-२९५ पर अवलोकित किया जा सकता है।

छायावादी कवियों की रोमांटिक मनोवृत्ति ने उन्हें पलायन की ओर प्रवृत्त किया परन्तु 'मूकमाटी' का कवि अथ से इति तक उस आत्मसंघर्ष की बात करता है जो उसे वीतरागता की दिशा में आगे ले जाए। नारी के शृंगारिक चित्रण का तो प्रश्न ही नहीं है बल्कि उसके सारे पर्यायार्थक शब्दों को नया आयाम दिया गया है (पृ.२०२-२०८), जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसी तरह रहस्यात्मकता की अभिव्यक्ति छायावादी कवियों के समान प्रकृति पर सचेतनता के आरोप एवं प्रियतम प्रेमिका के रूपकों के माध्यम से नहीं हुई बल्कि उसके प्रति तटस्थतावादी दृष्टिकोण से हुई है। समकालीन काव्य में 'मूकमाटी' की ये विशेषताएँ दुर्लभ हैं।

दार्शनिक अनुचिन्तन

जैसा हम कह चुके हैं, 'मूकमाटी' एक दार्शनिक महाकाव्य है। उसका उद्देश्य ही उपादान-निमित्त सिद्धान्त की वास्तविकता को उद्घाटित करना रहा है। आचार्यश्री ने अपनी इसी कृति के 'मानस-तरंग' में निमित्त कारणों के प्रति अनास्था रखने वालों से जो प्रश्न पूछे हैं उन प्रश्नों का समाधान निषेधात्मकता द्वारा ही दिया जा सकता है। निमित्त की इस अनिवार्यता को देखकर ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानना भी वस्तु-तत्त्व की स्वतन्त्र योग्यता को नकारना है और ईश्वर-पद की पूज्यता पर प्रश्नचिह्न लगाना है'' ('मानस-तरंग', पृ. XXII)। उसी के अन्त में उन्होंने जो कुछ माना है, उसके आधार पर समीक्षक दृष्टि से 'मूकमाटी' महाकाव्य में निम्नलिखित विशेषताएँ देखी जा सकती हैं, जिनमें महाकवि का दर्शन प्रतिबिम्बित होता है :

(१) वीतराग श्रमण संस्कृति की अभिव्यक्ति
(२) दार्शनिक सिद्धान्तों की अनुकृति
(३) उपादान-निमित्त कारणों की मीमांसक प्रतिकृति

(४) शब्द को नए अर्थ और अर्थ को परमार्थ देने वाली भावकृति
(५) आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने वाली अनूठी कृति
(६) कुरीतियों को निर्मूल करने वाली विशिष्ट कृति
(७) भोग से योग की ओर मोड़ देने वाली प्रेरक कृति
(८) शुद्ध सात्त्विक आचरण को प्रस्थापित करने वाली महाकृति
(९) हिन्दी का अप्रतिम दार्शनिक महाकाव्य
(१०) नयी कविता का सशक्त हस्ताक्षर
(११) वीतराग साधु की सामाजिक सार्थकता : एक आवश्यकता
(१२) वर्ण-लाभ : सत्पुरुषार्थ की छाया में
(१३) शुद्ध चेतना की स्वातन्त्र्य चेतना-प्राप्ति का प्रेरक सूत्र
(१४) नारी की शक्ति का प्रतिष्ठापक महाकाव्य
(१५) समाजवाद का दिशादर्शक महाकाव्य
(१६) श्रम का प्रतिष्ठापक महाकाव्य
(१७) संयम और साधना का दिग्दर्शक महाकाव्य
(१८) प्रकृति का अनुरंजक और साहित्य का विधायक महाकाव्य
(१९) समता, शमता और परमार्थता का साधक महाकाव्य
(२०) आतंकवाद का शामक एवं अनेकान्तवाद का प्रतिष्ठापक महाकाव्य
(२१) शान्त रस और अहिंसा की चरम साधना का प्रस्थापक महाकाव्य
(२२) यथार्थ श्रमण साधना का अभिव्यंजक महाकाव्य
(२३) स्वयं के परिपक्व आचरण से आस्था की अनुभूति का आस्वादक महाकाव्य
(२४) प्रतीकों की नयी शृंखला का आस्वादक महाकाव्य
(२५) धर्म की यथार्थता और महानता का प्रतिष्ठापक महाकाव्य

इस महाकाव्य की ये कतिपय विशेषताएँ हैं जिनका आस्वादन सरस पाठक प्रति पंक्ति में ले सकते हैं और पा सकते हैं नया दिशाबोध, जो उन्हें काव्यसृजन की आध्यात्मिकता में सराबोर कर देता है। निमित्त-उपादान की चर्चा का तात्पर्य यहाँ यह है कि पदार्थ अपना मूल स्वभाव कभी नहीं छोड़ता। इसलिए हर द्रव्य– पदार्थ स्वयं ही अपना स्वामी है। उसे कोई बन्दी नहीं बना सकता। फिर भी ग्रहण-संग्रहण का भाव रहता है, जो संसरण का कारण होता है (पृ.१८५)। 'मूकमाटी' में इस तथ्य का गम्भीर विश्लेषण हुआ है।

'मूकमाटी' के कवि ने अनेकान्तवाद को अपने जीवन में उतारा है और असन्तोष की आग को अपनी विरागता से शान्त किया है। उनमें कितनी तपन है सद्धाम पाने के लिए और उसका भीतरी आयाम कितना विस्तृत हो गया है। इस दिशा में वीतरागता का पराग पाने के लिए, इसे देखिए "कितनी तपन है यह" पंक्तियों में (पृ. १४०-१४१)। "मेरा संगी संगीत है" (पृ. १४४-१४७) में सप्तभंगियों का विश्लेषण, कुम्भ पर लिखे ६३ और ३६ अंकों की मीमांसा (पृ. १६८-१६९), 'ही' और 'भी' की विभेदक रेखा (पृ. १७२-१७३), आध्यात्मिक दार्शनिकता की कड़ी में "हमारी उपास्य देवता अहिंसा है" (पृ. ६४), सल्लेखना (पृ. ८७), कामवृत्ति कायरता है (पृ. ९४), काया का स्वभाव (पृ. ११२), नारी दर्शन (पृ. २०१-२०८), साधु रूप (पृ. ३००-३०१), सम्यक् तप (पृ. ३९१), रत्नत्रय (पृ. ९, १३, १२१, २३५, ८५, ४८३, ३८१, ४६२), नवधा भक्ति (पृ. ३१३-३४०), श्रमण का स्वरूप (पृ. ८, ३५४, २६५,

४४८), मनोऽनुशासन (पृ. १०९, १९८, ९७), रस विधान (पृ.१३०-१६०), नारी के प्रति उदात्त भावना (पृ. १०, १०५) आदि।

इन सारे प्रसंगों में माटी से मंगल घट तक की यात्रा में जितने भी जड़ या चेतन तत्त्व निमित्त कारण हैं वे सभी यहाँ पात्र बनकर आए हैं। यहाँ तक कि बालटी, मछली, काँटा, कंकर, कुदाली, गधा, चाक, पानी, दण्ड, रंग, बादल, सागर, नाव, ओला, फूल, पवन, अवा, अग्नि, धुआँ, स्वर्णकलश, मशाल, दीपक, गज, सर्प, सिंह आदि को भी पात्र बनाया है। इनकी पात्रता पर हमारा प्रश्नचिह्न खड़ा करना निरर्थक होगा क्योंकि ये सभी उपादान की शक्ति को उद्घाटित करने या उसके विश्लेषण करने के लिए किसी न किसी रूप में सहयोगी सिद्ध होते हैं। यही काव्य की दार्शनिकता है।

अभिव्यंजना शिल्प

अभिव्यंजना शिल्प कवि की अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति की क्षमता का द्योतक है। यह क्षमता अथवा प्रतिभा उसके काव्य में प्रयुक्त भाषा, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार, ध्वनि, छन्द आदि योजना को देखकर आँकी जा सकती है। विषय-वस्तु को भी इसमें सम्मिलित किया जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार और अलंकार्य (शब्द और अर्थ) के बीच में अभेद की स्वीकृति इसी तत्त्व का समर्थन करती है। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी लगभग इसी विचार का अनुगमन करता है। शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध आदि विषय को लेकर भारतीय और पाश्चात्य, दोनों काव्यधाराओं के मर्मज्ञों के बीच काफी मीमांसा हुई है। उस विवाद में न पड़कर यहाँ हम मात्र इतना कहना चाहते हैं कि कवि की अनुभूति काव्य के अभिव्यंजना शिल्प को बेहद प्रभावित करती है। यदि वह किसी वासना से पीड़ित है तो उसके प्रतीक, उपमान, छन्द आदि उस वासना को निश्चित ही अभिव्यक्त करेंगे, भाषा ऊलजलूल होगी और यदि वह पवित्र आध्यात्मिकता की अनुभूति से सराबोर है तो उसके काव्य का हर शब्द उसी अनुभूति को उड़ेलता हुआ नजर आएगा।

'मूकमाटी' पारम्परिक छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद या नयी कविता जैसी किसी ऐसी विधा से सम्बद्ध नहीं है जिसमें घनघोर सांसारिकता और अतृप्त वासना की कायरता जड़ी हुई हो। वह तो ऐसे कवि की महाकृति है जो वीतरागता के पथ पर काफी दूर तक चल पड़ा है और उसके पवित्र आचरण की सुगन्ध से आकर्षित होकर एक बहुत बड़ा समुदाय अनुगामी बन गया है। इसलिए प्रस्तुत महाकाव्य में न खण्डित व्यक्तित्व दिखाई देगा और न कहीं बोधशून्यता लक्षित होगी। उसके सारे प्रतीक, उपमान, बिम्ब, प्रतिबिम्ब एक नए शिल्प को लेकर पवित्रता का वातावरण खड़ा कर देते हैं जिसमें पाठक अपने को स्थापित कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। कवि की शक्तिशाली परम अनुभूति उसके काव्य को लीक से हटकर दीपस्तम्भ के रूप में प्रस्थापित कर देती है जिसकी तुलना के लिए आधुनिक काव्य जगत् बिलकुल शून्य-सा दिखाई देता है। फिर भी यहाँ हम उसके अभिव्यंजना शिल्प पर विचार करते समय कुछ तुलनात्मक तथ्यों की ओर संकेत करने का प्रयत्न अवश्य करेंगे।

महाकाव्यत्व

'मूकमाटी' में पारम्परिक महाकाव्य के लक्षणों को खोजना असामयिक होगा। हाँ, उसमें सामान्य लक्षण अवश्य देखे जा सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विभिन्न महाकाव्यों की समीक्षा करने के बाद महाकाव्य के केवल चार तत्त्वों को अधिक महत्त्व दिया है– (१) इतिवृत्त, (२) वस्तु-व्यापार वर्णन, (३) भाव व्यंजना, (४) संवाद। विस्तार की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि महाकाव्य के तीन आन्तरिक स्थायी तत्त्व हैं –(१) अन्वित महान् घटना, (२) महान् उद्देश्य, तथा (३) प्रभावान्विति या रसात्मकता। बाह्य लक्षणों में कथात्मकता, सर्गबद्धता, जीवन के

विविध आयामों का चित्रण, शैली की गम्भीरता जैसे तत्त्वों का आकलन किया जा सकता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य की परिभाषा को तराशा है और आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी उस पर काफी चिन्तन किया है।

महाकाव्य की इन सारी परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में यदि हम 'मूकमाटी' की महाकाव्यात्मकता को परखना चाहें तो हम उसे एक अनुपम महाकाव्य की कोटि में सरलतापूर्वक बैठा सकते हैं। वैसे यह रूपक काव्य/महाकाव्य है इसलिए ऐतिहासिक वृत्तान्त का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, माटी अपने आप में एक पवित्र नायिका है, मानवीकरण यदि कर लिया जाए। उसी तरह कुम्भकार को नायक माना जा सकता है। वे दोनों अथ से लेकर इति तक प्रभावक पात्र के रूप में बने रहते हैं। एक माटी जैसा पददलित पात्र किस प्रकार स्वयं के पुरुषार्थ या उपादान शक्ति से दूसरे का सहारा या निमित्त पाकर निम्नतम अवस्था से अध्यात्म की उच्चतम अवस्था तक पहुँच सकता है, इसका सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत महाकाव्य का विषय है, जो पीछे महाकाव्य के चारों खण्डों में द्रष्टव्य है। महाकाव्य की परिभाषा हम जो भी बनाएँ पर इतना निश्चित है कि उसकी चरित्र कल्पना मानवतावादी दृष्टि से ओतप्रोत हो, अभिव्यंजना शैली गम्भीर हो और शिल्प उन्नत सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित हो। 'मूकमाटी' का उद्देश्य विशुद्ध प्रयत्नों पर स्वयं की शक्ति और दूसरे का यथावश्यक सहयोग पाकर आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त करना रहा है। माटी जिस तरह मंगल कलश तक की स्थिति में कुम्भकार के सहयोग से पहुँच जाती है उसी तरह रत्नत्रय का परिपालन कर कोई भी व्यक्ति अपवर्ग की स्थिति में आ सकता है। यही इस महाकाव्य का कथ्य है।

वस्तु-व्यापार वर्णन की दृष्टि से 'मूकमाटी' एक सफल महाकाव्य है। इसकी हर कथा की पृष्ठभूमि में गम्भीर दर्शन छिपा है। उदाहरणार्थ सरिता माँ पदार्थ की शाश्वत सत्ता को अभिव्यक्त करती है। माटी क्षमा और सहिष्णुता का प्रतीक है, गधा भारशीलता का, कंकर वर्ण-संकर का, बालटी अथाह ज्ञानसागर से कुछ बिन्दु निकालने का साधन रूप प्रतीक है। मछली मिथ्यादृष्टि से ग्रस्त व्यक्ति का, काँटा आपत्ति का, सिंह और श्वान जीवन-पद्धति का, कछुआ और खरगोश साधना विधि का और मच्छर-मत्कुण धनी-मानी के प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से ही कथा सूत्र जुड़ सके हैं और जीवन के नए तथ्य उजागर हुए हैं।

संवाद की दृष्टि से भी महाकाव्य उत्कृष्ट कोटि का है। समूचा महाकाव्य संवादों से भरा पड़ा है। सरिता और मिट्टी, काँटा और फूल, रसों का पारस्परिक कथन, मिट्टी और शिल्पी, प्रभाकर और बदली, पुष्प और पवन, शिल्पी और बबूल, कुम्भ और कुम्भकार, श्रीफल और पत्र, स्वर्ण और माटी कलश आदि सभी पात्रों के बीच संवाद और कथोपकथन आद्योपान्त चलते रहते हैं। ये सारे संवाद बड़े मार्मिक और प्रभावक हैं। कथासूत्र का ध्यान रखने पर उनमें अप्रासंगिकता नहीं झलकती। इतना ही नहीं, वे कथा-प्रवाह में सहयोगी बनकर भी सामने आते हैं।

शब्द-सौन्दर्य

आचार्यश्री शब्द-साधना के तो अनन्य कलाकार हैं। सारा काव्य अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों से भरा पड़ा है। यदि इनको गिनाया जाए तो एक लम्बी लिस्ट हो जाएगी। शब्दों की तोड़-फोड़कर उनसे विविधार्थ निकालने में उन्हें अधिक आनन्द आता है। जैसे– अवसान–अब शान (पृ. १), गुमराह–गम आह (पृ. १२), कुम्भकार (पृ. २८), याद–दया (पृ. ३८), गदहा–गद-हा (पृ. ४०-४१), राही–हीरा (पृ. ५७), राख--खरा (पृ.५७), आदमी–आ+दमी (पृ. ६४), कृपाण–कृपा+न (पृ. ७३), कामना–काम+ना (पृ. ७७), शव–शिव (पृ. ८४), शीतलता–शीत-लता (पृ. ८५), लाभ–भला (पृ. ८७), कम बल–कम्बल (पृ. ९२), शीत-शीला–शीत-झीला (पृ. ९३), काय+रता–कायरता (पृ. ९४), नमन–न+मन, नम-न, (पृ. ९७), राजसत्ता–राजसता (पृ. १०४), मानवत्ता–मानवता (पृ. ११४), पाँव नता–पावनता (पृ. ११४), धोखा दिया–धो, खा दिया

(पृ. १२२), किसलय–किस-लय (पृ. १४१), कसर–असर-सर (पृ. १५१), मर हम–मरहम (पृ. १७४), मैं दो गला–मैं दोगला (पृ. १७५), उरु उदर– गुरु-दरारदार (पृ. १७७), नदी–दीन (पृ. १७८), रसना–रस ना-नासर (पृ. १८०-१८१), जलधि–जड़धी (पृ. १९९), नारी–न अरि, न आरी (पृ. २०२), अबला–अब+ला (पृ. २०३), कुमारी–कु+मा+री (पृ. २०४), स्त्री– स्+त्री (पृ. २०५), सुता–सु+ता (पृ. २०५), दुहिता–दो+हिता (पृ. २०५), अंगना–अंग+ना (पृ. २०७), स्वप्न–स्व+प्+न (पृ. २९५),पर को–परखो (पृ. ३०३), नर तन–वर तन (पृ. ३३२), पायस ना–पाय सना (पृ. ३६४), श,स,ष (पृ. ३९७), वैखरी–वै-खरी, वै-खली-वैरी (पृ.४०२-४०४), उरग–उर-ग(पृ.४३३), अपराधी–अपरा-धी (पृ. ४७४-४७७), पराभव–परा-भव (पृ. ३७१-३७२), कलशी–कल+सी (पृ.४१७), मदद–मद+द (पृ. ४५९) आदि। इन सारे शब्दों की व्याख्या में दर्शन और अध्यात्म का स्वर मुखरित हुआ है। उदाहरण के तौर पर 'उरग' की व्याख्या देखिए (पृ. ४३३)।

यह शब्दगत व्याख्या शब्दालंकार की पृष्ठभूमि में दर्शन के विविध अंगों को स्पष्ट करती दिखाई देती है। इसे हम सभंग-पदश्लेष और सभंगपदश्लेष वक्रोक्ति के आधार पर समझ सकते हैं जहाँ कवि ने श्लिष्ट शब्दों के अनेक टुकड़े कर अनेक अर्थों का विधान किया है जिसे हम उपर्युक्त अवसान, गदहा, आदमी आदि शब्दों में देख सकते हैं। इसी तरह वहाँ वर्ण विपर्यय अथवा विलोम के माध्यम से शब्दों के पीछे छिपा दर्शन भी समझा जा सकता है। स्व दया–याद (पृ. ३८), राही–हीरा (पृ. ५७) आदि।

प्राकृतिक चित्रण

कवि शब्दों का कुशल खिलाड़ी तो है ही पर उसकी कल्पना-शक्ति भी बेजोड़ है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा जैसे कल्पनाप्रधान अलंकार और अनुप्रास, यमक जैसे शब्दालंकारों की छटा ने काव्य में कवित्व की सुन्दर स्थापना की है। ये अलंकार मात्र शब्द-साधना तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि उनके पीछे एक स्वस्थ दर्शन प्रस्फुटित होता दिखाई देता है। काव्य का प्रारम्भिक भाग देखिए जिसमें प्रातःकाल का वर्णन अनुपम कल्पना प्रसूत है :

"भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है
माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।
प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है
और/सिंदूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा –/ भाई है, भाई···!
लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को–/सराग-मुद्रा को–
पाँखुरियों की ओट देती है।" (पृ.१-२)

माटी और कंकर का लम्बा संवाद है जिसमें जीवन का दर्शन प्रतिफलित हुआ है और राह, राही, हीरा, राख, खरा आदि शब्दों की मीमांसा भी कल्पनामण्डित पर सार्थकता लिए हुए है :

"तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर/जला-जला कर
राख करना होगा/यतना घोर करना होगा/तभी कहीं चेतन - आत्मा
खरा उतरेगा।/खरा शब्द भी स्वयं/विलोम रूप से कह रहा है–
राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ?/रा···ख···ख···रा···
आशीष के हाथ उठाती-सी/माटी की मुद्रा/उदार समुद्रा।" (पृ. ५७)

इसी प्रकार एक और प्राकृतिक वर्णन देखिए जहाँ कवि की मनोहारी कल्पना सार्थक शब्दों में झलकी है। उसे तरुवर छत्ता ताने दिखाई देते हैं और हरी-भरी धरती पर दरी बिछाई लगती है, फल-फूल मुस्काते और लतिकाएँ निमन्त्रित करती-सी लगती हैं। मानवीकरण का यह अच्छा उदाहरण है :

"उत्तुंग-तम गगन चूमते/तरह-तरह के तरुवर/छत्ता ताने खड़े हैं,
श्रम-हारिणी धरती है/हरी-भरी लसती है/धरती पर छाया ने दरी बिछाई है।
फूलों-फलों पत्रों से लदे/लघु-गुरु गुल्म-गुच्छ/श्रान्त-श्थल पथिकों को
मुस्कान-दान करते-से।/आपाद-कण्ठ पादपों से लिपटी
ललित-लतिकायें वह/लगती हैं आगतों को बुलाती-लुभाती-सी,
और/अविरल चलते पथिकों को/विश्राम लेने को कह रही हैं।" (पृ. ४१३)

रसिक कवियों ने वसन्तादि ऋतुओं का वर्णन कामोद्दीपन की पृष्ठभूमि में किया है परन्तु आचार्यश्री ने अपनी आध्यात्मिकता का आरोपण प्रकृति के हर तत्त्वों के साथ पूरे मनोभाव से किया है। महाकाव्य का कोई भी कोना कवि की आध्यात्मिक दृष्टि से खाली नहीं रह पाया। उस दृष्टि में फिर भोग यहीं पड़े रहते हैं, और योगी आगे चला जाता है। वासना की गन्ध न उसके तन में है, न वसन में; वरन् माया से प्रभावित मन में है। इसलिए कवि देखता है :

"वसन्त का भौतिक तन पड़ा है/निरा हो निष्क्रिय, निरावरण,
गन्ध-शून्य शुष्क पुष्प-सा।/मुख उसका थोड़ा-सा खुला है,
मुख से बाहर निकली है रसना/थोड़ी-सी उलटी-पलटी,
कुछ कह रही-सी लगती है—/भौतिक जीवन में रस ना!
और/र···स···ना, ना···स···र/यानी वसन्त के पास सर नहीं था
बुद्धि नहीं थी हिताहित परखने की,/यही कारण है कि
वसन्त-सम जीवन पर/सन्तों का नाऽसर पड़ता है।" (पृ. १८०-१८१)

साधु रूप का विश्लेषण करते समय कवि को न जाने कितनी उपमाएँ ध्यान में आती गईं। उन सभी उपमाओं से उसने साधु के विशुद्ध स्वरूप को प्रस्तुत कर दिया है। प्रभातकालीन भानु (ज्ञान) की आभा से उसमें नयी उमंग, नयी तरंग, नयी ऊषा, नयी शरण, नयी खुशी, नयी गरीयसी आयी है। क्या-क्या नया रूप मिला है देखिए उसे। उसमें आपको नया सिंचन, नए चरण, नया राग, नए भाव, नया मंगल, नया जंगल, नया योग, नया करण आदि सब कुछ नया परिवर्तन लिए हुए साधु दिखाई देगा (पृ. २६३-२६४)। ऐसा ही साधु पाप-प्रपंच से मुक्त, पदयात्री, पाणिपात्री होता है। अपने प्रति वज्र-सम कठोर पर दूसरे के प्रति नवनीत जैसा मृदु होता है, यथा :

"पाप-प्रपंच से मुक्त, पूरी तरह/पवन-सम निःसंग/परतन्त्र-भीरु,
दर्पण-सम दर्प से परीत/हरा-भरा फूला-फला/पादप-सम विनीत।
नदी-प्रवाह-सम लक्ष्य की ओर/अरुक, अथक···गतिमान।" (पृ. ३००)

भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से 'मूकमाटी' एक अभिनव विधा है। रूपक से भरे सारे पात्र अपनी-अपनी बात बड़ी खूबी से कहते चले जाते हैं और कथा आगे बढ़ती जाती है। कवि मानवता की स्वतन्त्रता का पोषक है, वह स्वतन्त्रता जिसमें आत्मज्ञान का दीपक जलता है और पर-पदार्थों की परतन्त्रता समाप्त हो जाती है, मानव-हृदय

सुसंस्कृत और परिष्कृत हो जाता है। जहाँ यह परिवर्तन नहीं हो पाता वहाँ व्यक्तिवाद, प्रतिस्पर्धा, अर्थसंग्रह, उपनिवेशवाद, कलह, आतंकवाद आदि वस्तुवादी मूल्य मानवीय मूल्यों को आच्छादित कर देते हैं। इन सारे तत्त्वों का सुन्दर विश्लेषण आचार्यश्री ने अपने इस अनोखे दार्शनिक काव्य में किया है।

आतंकवाद और धनतन्त्र

आतंकवाद और धनतन्त्र जब सिर पर बोलने लगते हैं तब गणतन्त्र का उपहास होना शुरू हो जाता है। वहाँ निरपराधी पिट जाते हैं और अपराधी बच जाते हैं (पृ. २७१)। आतंकवाद हिंसा, अधर्म और लूटपाट पर जीता है। वह निष्करुण और क्रूर होता है। जब तक वह रहेगा, धरती शान्तिपूर्वक रह नहीं सकती। कवि की दृष्टि में यह आतंक भले ही राग-द्वेष का रहा हो पर भौतिकता के साये में वह आज के आतंकवाद से कम नहीं है। इसलिए सन्त कवि उसे दूर कर संसार रूपी नदी को पार करने का दृढ़ संकल्प किए बैठे हैं। सन्त कवि आतंकवाद को समाप्त करने का मार्ग बताता है समाजवाद की स्थापना। समाजवाद वह नहीं है जिसमें नारों के अलावा कुछ न हो बल्कि समाजवाद वह है जिसमें प्रशस्त आचार-विचार हो। धन-संग्रह नहीं, जन-संग्रह हो और धनहीनों में उसका समुचित वितरण हो, अन्यथा उनमें चोरी करने का भाव जागेगा और आतंकवाद का विस्तार होगा। चोरों की अपेक्षा चोरों को पैदा करने वाले अधिक पापी होते हैं। आज के आतंकवाद पर यह एक मार्मिक टिप्पणी है :

- *"कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार-प्रसार से दूर*
  प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
  समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।" (पृ. ४६१)
- *"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !/और/लोभ के वशीभूत हो*
  अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा,
  धनहीनों में/चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।" (पृ. ४६७-४६८)

आज आतंकवाद की जैसी स्थिति है वैसी ही आजकल उन तथाकथित भगवानों की है जो स्वयं तो पथ पर चलना नहीं चाहते पर औरों को चलाना चाहते हैं। ऐसे चालाक चालकों की संख्या अनगिनत है। सन्त कवि को उनकी इस आचरण-प्रक्रिया पर आश्चर्य और दुःख है (पृ.१५२)। धनिक भी लगभग उसी श्रेणी में आ जाते हैं। उनके पास रहने से कुछ मिलता नहीं है, मिल भी जाता है तो वह काकतालीय न्याय है :

"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,/उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,/काकतालीय न्याय से/कुछ मिल भी जाय
वह मिलन लवण-मिश्रित होता है/पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।" (पृ.३८५)

ममतामयी माँ

सन्त कवि बड़े सहृदय और नेक प्रकृति के हैं। उन्हें माँ के प्रति अपार ममता और सम्मान है। धरती उनके लिए सब कुछ है। काव्य का प्रारम्भिक भाग धरती माँ से ही प्रारम्भ होता है। कवि को उस धरती माँ में हृदयवती चेतना का दर्शन हो रहा है। उसके निश्छल विशाल भाल पर आत्मीयता और गम्भीरता दिखाई दे रही है (पृ. ६)। तभी तो वह सन्तान की सुषुप्त शक्ति को जाग्रत करने पर ही अपनी सार्थकता मानती है (पृ. १४८)। शायद इसलिए समूचे नारी वर्ग

से उन्हें हमदर्दी है, आदर है। इसीलिए परम्परागत नारी के पर्यायार्थक शब्दों का आलोचनात्मक अर्थ न कर उनकी प्रशंसात्मक व्याख्या की है (पृ. २०१-२०९)। कवि की यह भी अवधारणा है कि पुरुष में जो भी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ होती हैं उनका अभिव्यक्तीकरण नारी पर ही आधारित है। नारी के बिना पुरुष अधूरा है। उसमें वासना नहीं, सुवास है। पुरुष उसकी पवित्रता को दूषित करता है, फिर भी वह पावस बरसाती है, उसका पथ प्रशस्त करती है (पृ. ३९२-३९४)।

रूपक तत्त्व और प्रतीक-विधान

माटी जैसी उपेक्षित जड़ वस्तु का आधार लेकर कवि ने रूपक के माध्यम से यह उद्घाटित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में ऊपर उठने की क्षमता है। उसमें उपादान शक्ति है, बस, उसे किसी निमित्त की आवश्यकता है जो उसे ऊपर उठाने में कारण बन सके। हाँ, पूरी इस जीवन प्रक्रिया में, साध्य और साधन में, यथार्थ पवित्रता होनी चाहिए। पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति में बाधाएँ आ सकती हैं पर उनके समक्ष किसी को घुटने नहीं टेकना चाहिए। कवि को आश्चर्य है कि आज के मानव पर इसका असर क्यों नहीं हो रहा है। व्यक्ति चारित्र से दूर क्यों होता चला जा रहा है ? (पृ. १५१-१५२)। माटी से कुम्भ और मंगल कलश तक की यात्रा 'मूकमाटी' महाकाव्य का वर्ण्य विषय है। उपादान और निमित्त के दर्शन को स्पष्ट करना ही इस काव्य का लक्ष्य रहा है। इससे ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, सुख-दुःखदाता आदि मानने वाली विचारधारा का खण्डन स्वयमेव हो जाता है। इसी के साथ ही सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और शैक्षणिक जगत् में व्याप्त कुरीतियों को निर्मूल करना ही इसका अभिधेय रहा है। कवि ने स्वयं सशक्त शब्दों में यही सब यथाकार और तथाकार बन जाने की आकांक्षा में अभिव्यक्त किया है :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।
और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित···अजित !" (पृ. २४५)

काव्य की भाषा संस्कृतनिष्ठ और विषयानुसार प्रयुक्त हुई है। कवि की मातृभाषा हिन्दी नहीं, कन्नड होने पर भी उसका इतनी मनमोहक भाषा में काव्य का सृजन एक विशिष्ट अभिनन्दनीय प्रयास है। निर्मुक्त छन्द में रचित होने पर भी उसकी रसात्मकता में कमी नहीं आई। कवि की धारणा है कि शान्त रस के बिना काव्य वैसे ही लगता है जैसे शीतल चन्द्रिका से विरहित रात होती है या बिन्दी से विरहित अबला होती है (पृ. ३५१)। समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जाए तो प्रस्तुत महाकाव्य का प्रधान रस शान्त ही है। आध्यात्मिकता और दार्शनिकता इसकी मूल आत्मा/भावना है। इसीलिए कवि ने स्वयं इसे मौलिक और अलौकिक काव्य कहकर सम्बोधित किया है :

"मृदुता का मोहक स्पर्शन/यह एक ऐसा/मौलिक और अलौकिक
अमूर्त-दर्शक काव्य का/श्राव्य का सृजन हुआ,/इसका सृजक कौन है वह,
कहाँ है,/क्यों मौन है वह ?/लाघव भाव वाला नरपुंगव,
नरपों का चरण हुआ !" (पृ. ४३६)

डॉ. पुष्पलता जैन ('मूकमाटी' : अधुनातम आध्यात्मिक रूपक काव्य, तीर्थंकर, दिसम्बर, १९९०) का यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है : "मौलिकता के आलोक में कि हिन्दी साहित्य में छायावादी कवि प्रसाद की 'कामायनी' (१९३५ ई.), युगचारण दिनकर की 'उर्वशी' (१९६१ ई.) तथा लोकमंगल के वंशीवादक सुमित्रानन्दन

पन्त का 'लोकायतन' (१९६४ ई.)—ये तीनों काव्य अध्यात्म-प्रबन्धत्रयी के रूप में प्रस्थापित हुए हैं। चेतना के स्व-पर उन्नायक आचार्य विद्यासागरजी ने इसके बाद अपनी अनूठी आध्यात्मिक कृति 'मूकमाटी' (१९८८ ई.)की रचना कर उक्त प्रस्थानत्रयी की मणिमाला में एक और अपरिमित ज्योतिर्मयी मणि को गुम्फित कर दिया है। इस सुन्दर आकलन को हिन्दी साहित्य अपनी धरोहर के रूप में सदैव एक दीपस्तम्भ मानता रहेगा।"

श्रीमती जैन ने इसे रूपक काव्य कहा है। मैं इसमें दार्शनिक विशेषण और जोड़ देना चाहूँगा। अमूर्त भावों और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में जब भाषा विराम लेने लगती है तब कवि रूपक और प्रतीक का आश्रय लेता है। साधारणतः रूपक और प्रतीक में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। पर बारीकी से देखने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है कि रूपक में उपमान-उपमेय की अभिन्नता तथा तद्रूपता रहती है पर प्रतीक में उपमान-उपमेय (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) की सत्ता नहीं रहती। वहाँ तो उपमान में उपमेय अन्तर्भूत होकर उपमान ही प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करता है। इसके बावजूद इतनी गहराई में जाए बिना इतना तो कहा ही जा सकता है कि माटी एक प्रतीक बनकर कवि की दृष्टि में सदैव बनी रही है जो इस तथ्य को उद्घाटित करती है कि यदि अनुकूल निमित्त मिल जाएँ तो व्यक्ति अपने चरम आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

आचार्यश्री ने मृदु माटी के कथा-रूपक द्वारा प्रतीकीकरण कर जिस शाश्वत सत्य को अभिव्यंजित किया है वह अनुभूतिपरक है और एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना से आपूर है। उसमें उन्होंने मानवीकरण का आरोपण कर तादात्म्य स्थापित कर दिया है और जड़ तथा चेतन को अध्यात्म तत्त्व के सूत्र में बाँध दिया है। अनुभूति की प्रांजलता ने काव्य को इतना साकार कर दिया है कि साधारणीकरण की पुनीत सरिता में अवगाहन किए बिना कोई सहृदय पाठक रह नहीं सकता। भावात्मक और साधनात्मक तत्त्वों के सुन्दर समन्वय ने काव्य को और भी गौरवान्वित कर दिया है। लोकोत्तर अनुभूति भी उसमें प्रतिबिम्बित होती हुई दिखाई देती है।

जब प्रतीक की बात आती है तब यह भी ध्यातव्य है कि 'मूकमाटी' के प्रतीक एकदम निराले हैं। जायसी के अधिकांश प्रतीक—सूर, साकी, सुरा आदि शुद्ध इस्लामी हैं ; मीरा और सूर के प्रतीक प्रेम भक्ति से सम्बद्ध हैं— चकई, मीन, पतंग आदि प्रेम की व्यंजना करते हैं; बिहारी, मतिराम, केशव, सेनापति आदि रीतिकालीन कवियों ने चम्पक, मालती,चन्दन, अशोक, कमल आदि वृक्षों और पौधों में कलात्मकता का ही रूप देखा है; प्रसाद, पन्त जैसे आधुनिक कवियों के प्रतीकों ने रचनात्मकता को और आगे बढ़ाया है पर आचार्यश्री विद्यासागरजी के मछली, बालटी, रस्सी आदि प्रतीकों में जो पैनी और गम्भीर दृष्टि भरी है जीवन-दर्शन के सूत्रों के साथ, वह अन्यत्र दिखाई नहीं देती। औपनिषदिक प्रतीकों में बिम्बग्रहण की प्रवृत्ति अवश्य देखी जाती है पर जिस विस्तृत भावभूमि का स्पर्श 'मूकमाटी' के प्रतीकों में होता है वह वहाँ भी अनुपलब्ध है।

ये प्रतीक व्यक्ति के आत्मनिर्माण की भावना को ऊपर उठाने में मदद करते हैं। चिदानन्दानुभूति की पृष्ठभूमि में कल्पनाओं में भी स्व-पर चेतना का जागरण सूत्र भरा हुआ है यहाँ। सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की पृष्ठभूमि में इस काव्य के ज्ञानवाद ने प्रगतिवाद की भावभूमि को एक नया ही आध्यात्मिक दर्शन दिया है जो जीवन-निर्माण की दिशा में अधिक मूल्यपरक बन जाता है। दार्शनिक विचारणा के उन्मेष को संस्कृतनिष्ठ भाषाशैली ने और भी आकर्षित बना दिया है।

काव्य में सरसता और सार्वजनीनता लाने के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। इसमें समान गुण-धर्म वाली अनेक वस्तुओं के बोध के लिए एक वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है। 'अमूर्त' के मूर्त वर्णन में भी इसका प्रयोग होता है। वह एक भावना प्रधान तत्त्व है। हर देश, साहित्य और संस्कृति में विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग विविध भावों को अभिव्यंजित करने की दृष्टि से होता आ रहा है। स्वस्तिक और ओंकार शुभ और कल्याण के प्रतीक हैं जिनका प्रयोग

भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक काल में भी मिलता है। ये प्रतीक सृष्टि के हर वर्ग से धर्म, वस्तु अथवा व्यक्ति के स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए लिये गए हैं। छायावादी कवियों ने अधिकांश प्रतीक प्रकृति से ग्रहण किए हैं। उदाहरणतः, पुष्प सुख का और शूल दुःख का प्रतीक है तो तम निराशा और प्रकाश ज्ञान को स्पष्ट करते हैं। इसी तरह निर्झर, वीणा, किरण, इन्द्रधनुष, चाँदनी, बादल आदि क्रमशः आनन्द, हृदय, आशा, कामना, सुख, विषाद आदि के प्रतीक हैं।

वस्तुतः 'मूकमाटी' एक प्रतीक काव्य है जहाँ माटी के माध्यम से व्यक्ति की उपादान शक्ति को अभिव्यंजित किया गया है। माटी ही कुम्भकार आदि के सहयोग से मंगल कलश तक की सर्वोच्च अवस्था में पहुँचती है। पूर्वोक्त सरिता, माँ, कंकर आदि सभी पात्र किसी न किसी भाव के प्रतीक हैं। काव्य का प्रारम्भ हुआ है सरिता तट की माटी रूप माँ के प्रति माटी की अभ्यर्थना से। माँ का महत्त्व समूची स्त्री जाति का महत्त्व है, प्रकृति शिवत्व और सौन्दर्य का प्रतीक है, कूप और सागर संसार के प्रतीक हैं, चक्र जन्म-मरण को व्यक्त करते हैं, धर्म दशलक्षणमय हैं, अवा परीक्षा का प्रतीक है, पुष्प यह व्यंजित करता है कि जिस प्रकार वह कीचड़ से उत्पन्न होने पर भी जल से ऊपर रहता है उसी प्रकार आदर्श जीवन वही है जिसमें निःस्पृहता हो। स्वप्न की भी यहाँ अपने ढंग से व्याख्या हुई है। सूर्य व चन्द्र, ज्ञान और आशा के प्रतीक हैं, वृक्ष जीवन का प्रतीक है। अरहन्त भगवान् सम्पूर्ण मनोरथों से और केवलज्ञान से पूर्ण हैं अतः पूर्णकलश मंगल का प्रतीक है। वरुण, वायु और सूर्य को भी सम्मिलित रूप में मंगल कलश में प्रस्थापित माना जाता है। आतंकवाद जैसे तत्त्व उपसर्ग के प्रतीक हैं। इन सब प्रतीकों के माध्यम से 'मूकमाटी' में जीवन के समग्र स्वरूप को अभिव्यंजित किया गया है।

कवि ने वस्तुतः बिम्बों प्रतीकों के माध्यम से पाठक की ज्ञान-पिपासा को और भी कुरेद दिया है, समरसता को जन्म दिया है और जीवन के परम सत्य को सामने खोलकर रख दिया है। उन प्रतीकों में वास्तविकता झाँकती है, शब्द नए-नए मायने पा लेता है, इतिहासबोध गतिशील हो जाता है और सृजनशील व्यक्तित्व की निर्माण-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। 'मूकमाटी' के अध्ययन से कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि जैसे आचार्यश्री सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता के माध्यम से व्यक्ति को आत्मालोचन की ओर प्रेरित कर रहे हों। आतंकवाद कहीं जीवन के स्वच्छन्द विलास और वैभव की कहानी तो नहीं कह रहा है? समाजवाद की परिभाषा में जीवन के असमानता और समताविहीन पृष्ठ तो अंकित नहीं हैं? तथ्य तो यह है कि आधुनिक जीवन की विषमताओं से भरे समाज को आध्यात्मिकता, लोकसेवा और विश्वबन्धुत्व की ओर उन्मुख करना इन प्रतीकों के प्रयोग के पीछे कवि का लक्ष्य रहा है।

निराला से भी आगे बढ़कर कवि ने शब्द-विन्यास को एक नई अर्थवत्ता दी है जिससे उसकी चित्रात्मकता प्रदान करने वाली प्रतिभा का पता चलता है। अज्ञेय की सचेतन शब्द-शिल्पिता से भी कवि की शब्द-शिल्पिता अधिक जानदार है। 'तारसप्तक' के कवियों में दर्शन शब्द के पीछे चलता है जबकि 'मूकमाटी' के कवि में दर्शन शब्द के आगे अपने को प्रस्थापित करता है। समूची कृति में कहीं भी निराशावादिता हावी नहीं हो सकी। कवि की आस्था और आशा जीवन के बदले हुए सुन्दर पड़ाव की ओर दृष्टि जमाए हुए है जहाँ विद्रोही संकल्पनाएँ अन्तिम साँस लेने लगती हैं, कुण्ठाएँ अस्तित्वहीन बन जाती हैं और आध्यात्मिकता सजग हो जाती है। कवि चूँकि समष्टि-सत्य का द्रष्टा है, वह व्यक्ति को त्रासदी से निकालकर नई सम्भावना के क्षितिज पर खड़ा कर देता है। व्यक्ति की प्रकृति पर उसे गहरी आत्मीयता है, द्वन्द्व भरी चेतना को परखने की दृष्टि है, जीवन मूल्यों को ऊष्मा प्रदान करने की क्षमता है, आध्यात्मिक शिखर पर प्रतिष्ठित होने/करने की योग्यता/पात्रता है। इसलिए उसका काव्य नैतिक जागरण का काव्य है, प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की वर्जना करने वाला काव्य है, आत्मचेतना को जाग्रत करने वाला काव्य है तथा जीवन के प्रति अटूट-आस्था-दर्शन भरा काव्य है।

कवि के 'साहित्य' में सम्पूर्ण जीवन की चेतना और ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। 'मूकमाटी' अपने सारे

क्रियाकलापों में उस चेतना को समेटे हुए है। वहाँ संवेदनात्मकता प्रतिबिम्बित होती है, सौन्दर्यानुभूति का संस्पर्शन होता है और सामने खड़ी हो जाती हैं जीवन की वे वास्तविकताएँ, जो समन्वित और संशोधित मार्जन की अपेक्षा करती हैं। वहाँ आत्मसंघर्ष का विवेचन व विश्लेषण है, कलात्मक सौन्दर्य का परिपाक है, गहरी सामाजिक दृष्टि की अर्थवत्ता से संयोजन है। इसलिए काव्य-सृजन में और उसके प्रतीकों व बिम्बों में मौलिकता, प्रामाणिकता और गहन संवेदना भरी हुई है। इसे हम एक सम्यग्दृष्टि सम्पन्न श्रमण की जटिल जीवन्त प्रक्रिया का जीवन दस्तावेज़ भी कह सकते हैं, जहाँ जीवन, जगत् और काव्य की समन्वित त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है और साधारणीकरण का जीता-जागता रस छलक रहा है।

'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने जैन दर्शन को सृजनात्मक स्वर देने का सफल प्रयत्न किया है। उनकी सृजन-प्रक्रिया बाह्य यथार्थ की आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया है जो स्वानुभव और स्वानुभूतिजन्य चिन्तन पर आधारित है। कवि ने युग-जीवन के वैषम्य को देखा-समझा-परखा है, नैतिक संकट की उसे ज़बर्दस्त अनुभूति हुई है। इसलिए उसकी सृजनशील प्रतिभा से 'मूकमाटी' जैसा प्रतीकात्मक, रूपक, दार्शनिक महाकाव्य का सृजन हो सका है।

बिम्ब-विधान

काव्य-बिम्ब एक प्रकार से शब्द-चित्र हैं जो भावुकता, बौद्धिकता अथवा ऐन्द्रियता से सम्बद्ध होते हैं। उनसे अनुभूति में तीव्रता आती है और काव्य प्रभावशाली बन जाता है। 'मूकमाटी' के प्रारम्भ में ही प्रकृति चित्रण में अचेतन पर चेतन क्रियाओं का आरोपण कर बिम्बों का निर्माण बड़े प्रभावक ढंग से हुआ है। प्राकृतिक पदार्थ ही बिम्ब-विधान की सामग्री का मुख्य स्रोत है जिसका उपयोग कवि ने बखूबी किया है। भानु, धूल, आभा, उषा, कुमुदिनी, सरिता, धरती, भूमण्डल, ओला वृष्टि, पर्वत आदि द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य को अच्छा विस्तार मिला है। मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत, अमूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त प्रस्तुत, अमूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत तथा मूर्तामूर्त रूप अप्रस्तुतों का विधान होने से बिम्बात्मकता और अधिक प्रभावक बन जाती है। संज्ञा और क्रिया में विशेषण लगाकर और विशेषण-विपर्यय पद्धति को आधार लेकर भी बिम्ब-विधान किया गया है।

प्रतीक-विधान बिम्ब-विधान के काफी निकट दिखाई देता है, पर सूक्ष्मता से विचार करने पर उनके बीच भेद स्पष्ट हो जाता है। प्रतीक में उपमा मूलक अलंकारों (उपमा, रूपक, अन्योक्ति आदि) से समानता है अवश्य पर अन्तर यह है कि प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु का महत्त्व उपमा मूलक अलंकारों में अक्षुण्ण रहता है जबकि प्रतीक में अप्रस्तुत या प्रतीयमान अर्थ ही मुख्य हो जाता है। बिम्ब अभिधात्मक हो सकते हैं पर प्रतीक नहीं। प्रतीक में बिम्ब की अपेक्षा अभिव्यंजना शक्ति अधिक सशक्त होती है। 'मूकमाटी' के प्रतीक भी गहरी अभिव्यंजना व्यक्त करते हैं। माटी, कुम्भकार, बालटी, मछली आदि सभी पात्र प्रतीक के रूप में कोई न कोई विशेष सन्देश देते हैं। छायावादी, प्रगतिवादी आदि कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों की तुलना के लिए 'मूकमाटी' में कोई विशेष प्रतीक नहीं हैं, क्योंकि उनका कथ्य बिलकुल भिन्न है। कबीर को भी माटी से अधिक स्नेह रहा है। उन्होंने माटी और कुम्हार के बीच एक संवाद स्थापित किया है जो 'मूकमाटी' की पृष्ठभूमि में स्मरणीय है :

"माटी कहे कुम्हार से, तू क्यों रूँधे मोय।
इक दिन ऐसा आयेगा, मैं रूँधूँगी तोय॥"

अलंकार-विधान

अलंकारों का सहज प्रयोग काव्य के कथ्य और सम्प्रेष्य को सरल बना देता है। अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति आदि

शब्दालंकार चमत्कार मूलक होते हैं। इनमें अनुप्रास भाषा को मधुर और संगीतमय बना देता है और यमक शब्दचित्र को प्रस्तुत करता है। 'मूकमाटी' में ये दोनों अलंकार भरे पड़े हैं। प्रसाद, पन्त, निराला से भी अधिक इनका प्रयोग 'मूकमाटी' के कवि ने किया है। जहाँ तक अर्थालंकारों के प्रयोग की बात है, उसमें अप्रस्तुत योजना अधिक लोकप्रिय रही है। यह औपम्यमूलकता प्रारम्भ में तो परम्परागत उपमानों के साथ चलती रही पर द्विवेदी युग के बाद नए-नए उपमानों ने जन्म लिया और साठोत्तरी कविता तक आते-आते तो उनमें बाढ़-सी लग गई। 'मूकमाटी' में भी यद्यपि परम्परागत या शास्त्रबद्ध उपमानों का प्रयोग नहीं हुआ है पर जो उपमान आए हैं उनमें वीतरागता ही नज़र आती है। उदाहरणत: रीतिकालीन कवि का बादल 'काजल के पहाड़' या हाथियों जैसे दिखाई देते हैं तो छायावादी कवि को वे जलाशय में खिले हुए कमल, चौकड़ी भरते मृग, मदोन्मत्त वासव सेना, स्वर्ण हंस, बन्दर आदि जैसे लगते हैं। 'मूकमाटी' के कवि को उसमें ये सब नहीं दिखाई देता। उसे तो बदली बस साध्वी-सी लगती है और प्रभाकर की प्रभा उससे प्रभावित होती दिखती है तो प्रभाकर का प्रवचन प्रारम्भ हो जाता है (पृ. १९९-२००)। मानवीकरण के ऐसे प्रयोग 'मूकमाटी' में बहुत प्रभावक सिद्ध हुए हैं। अन्य अर्थालंकारों के प्रयोग भी सार्थकता लिए हुए हैं। शान्त रस ने उन्हें और भी सार्थक बना दिया है।

अलंकार-विधान की पृष्ठभूमि में कल्पना की गम्भीरता और अभिव्यक्ति की प्रांजलता ने काव्य को और भी रमणीय और रसात्मक बना दिया है। काव्य का प्रारम्भ ही उपमा और उत्प्रेक्षा से होता है। तृतीय खण्ड तक पहुँचते-पहुँचते उनमें और सघनता आ जाती है (पृ. १९१-१९२)। कवि की कल्पना है कि सागर का संकेत पाकर तीन बदलियाँ गागर भरकर सूर्य को प्रभावित करने निकल पड़ी हैं (पृ. १९९-२००)। राहु से ग्रस्त सूर्य कवि को कभी सिन्धु में बिन्दु-सा लगता है तो कभी माँ की गहन गोद में शिशु-सा, कभी वह दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृहस्थ-सा लगता है तो कभी तिलक विरहित ललना-ललाट-सा। इस सन्दर्भ में कवि ने अनेक कल्पनाएँ की हैं (पृ. २३८-२३९)।

इस प्रकार कवि की ढेर सारी कल्पनाएँ 'मूकमाटी' में देखी जा सकती हैं। सागर में विष का विशाल भण्डार क्यों मिलता है ? धरती सर्वसहा क्यों होती है ? मेघमाला से मुक्ताओं की वर्षा क्यों होती है ? सागर में बड़वानल क्यों उत्पन्न होता है ? प्रभाकर दिनभर क्यों भटकता है ? राहु-ग्रस्त सूर्य कैसा लगता है ? आदि प्रश्नों का समाधान सुन्दर कल्पनात्मक ढंग से किया है। श्लेषादि अलंकारों के विषय में हम पीछे कह ही चुके हैं।

अलंकार के साथ रसविधान भी सम्बद्ध है। कवि मिट्टी से आजानु सने शिल्पी के वर्णन के प्रसंग में उसे विविध रूप से देखता है और उसी दृष्टि में वह वीर, हास्य, रौद्र, भयानक, शृंगार, बीभत्स, करुणा, वात्सल्य और शान्त रस के स्वरूपों पर बड़ी गम्भीरता से विचार करता है (पृ. १३०-१४९)। उसकी विचारधारा के अनुसार करुणा और वात्सल्य रसों का अन्तर्भाव शान्त रस में हो जाना चाहिए (पृ. १४९-१६०)। इसे हम विस्तार भय से स्पष्ट नहीं कर रहे हैं।

छन्द-विधान

कविता की वाचकता छन्द के बिना नहीं हो पाती। द्विवेदी युग तक संस्कृत के वर्णिक और मात्रिक छन्दों का प्रयोग होता रहा पर धीरे-धीरे प्रसाद, पन्त, निराला आदि छायावादी कवियों तक आते-आते उनके प्रयोग में कमी होती गई। छायावादोत्तर काल में दिनकर को छोड़कर प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण कवियों ने परम्परागत छन्दों पर आधारित नए छन्दों या मुक्त छन्द में अपनी काव्य-रचना की है। बाद में मात्रिक छन्दों ने गीतों में परिणत होकर नाना रूप धारण किए और नए-नए छन्दों का विकास हुआ। अन्तर्वर्ती अनुप्रास और अन्त्यानुप्रास का प्रयोग भवानीप्रसाद मिश्र और श्रीकान्त वर्मा आदि जैसे कवियों ने प्रारम्भ किया। मुक्त छन्द कवित्त की वर्णसंख्या को अस्वीकार नहीं करता पर बलाघात के अनुसार छन्द बनाए रखता है। गिरिजा कुमार माथुर ने मुक्त छन्द का पूरा विधान रचा है। मुद्रण-कला के

प्रभाव ने कविता के छन्द पर और भी प्रभाव छोड़ा और बलाघात ने भी। 'मूकमाटी' में ये सारे प्रयोग देखे जा सकते हैं।

'मूकमाटी' मूलतः मुक्तक छन्द में रचित महाकाव्य है जिसमें भाव, विषय और प्रसंग के अनुकूल तुकान्त, अतुकान्त, दोहा तथा अन्य पारम्परिक छन्दों को समाहित किया गया है। उदाहरण के तौर पर –(१) *दोहा*– 'पंकज से नहीं पंक से' (पृ. ५०-५१, ३२५), (२) *वसन्ततिलका*– 'देते हुए श्रय...' (पृ. १८५), (३) *सम मात्रिक छन्द*- 'चेतन की इस...' (पृ. १६), (४) *करिमकरभुजा*– 'वही गात है' (पृ. ४५६), (५) *विषम मात्रिक छन्द* (पृ. १०२, २००) आदि। इन छन्दों में संगीत अपने पूरे लय और ताल के साथ चलता रहता है और सहजानन्द का सरस प्रवाह प्रवाहित होता रहता है।

भाषा-शैली

अभिव्यंजना शिल्प के इन सारे तत्त्वों को तुलनात्मक दृष्टि से 'मूकमाटी' में निहारें तो हम पाएँगे कि 'मूकमाटी' का अभिव्यंजना शिल्प अपनी अलग ही पहचान बनाए हुए है। कवि की मातृभाषा कन्नड है पर शुद्ध खड़ी बोली के प्रयोग में वह पूर्ण निष्णात है। पाठक को कहीं भी ऐसा भान नहीं हो पाता कि वह अहिन्दी भाषी का काव्यपाठ कर रहा है। म.प्र. के बुन्देलखण्ड अंचल में काफी समय बिताने के कारण कतिपय देशी शब्द अवश्य देखे जा सकते हैं पर 'करडी' जैसे सम्भवतः कन्नड शब्दों के साथ वे और भी अधिक अभिव्यंजक बन जाते हैं। भाषा पर तत्सम शब्दों का प्रभाव उसे व्यवस्थित और परिष्कृत बना देता है। अन्त्यानुप्रासों के आग्रह से भी कोमलता और प्रवाह/क्षमता में कोई बाधा नहीं आती, शैली में निखार और प्रसाद गुण बना रहता है, बोलचाल के मुहावरे और कहावतें– 'आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव/तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव! (पृ. १३३); दाल नहीं गलना (पृ. १३४); आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का/कूवत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का (पृ. १३५); माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा (पृ. ३९९); पूत का लक्षण पालने में (पृ. १४, ४८२); बायें हिरण/दायें जाय– 'लंका जीत/राम घर आय (पृ. २५); मुँह में राम/बगल में छुरी' (पृ. ७२)– आदि भाषा को परिमार्जित कर देती हैं, शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्ति उसे और भी सूक्ष्म बना देती है, भाषा की चित्रमयता और ध्वन्यात्मकता कवि की संवेदना को सरलतापूर्वक अभिव्यक्त करती दिखाई देती है। अनुप्रास के सातत्य ने संगीतात्मकता को सुरक्षित रखा है, भाषा के साथ सर्वत्र अर्थ की चमत्कारिकता तथा सार्थकता जुड़ी हुई है, जीवनानुभूति की तलस्पर्शिता, सम्प्रेषणता और साधारणीकरण जैसी कोई समस्या यहाँ नहीं है। पारिभाषिक शब्दावली और सूत्रों में समाहित अर्थ को सामान्य जन की भाषा में समझाने के लिए कवि प्रयत्नशील भी दिखाई देता है तथा विषय के अनुसार शब्दों का चयन हमारा विशेष ध्यान आकर्षित करता है। अहिंसा और सदाचरण की पृष्ठभूमि में शान्त रस के स्थायीभाव निर्वेद ने माटी की अदम्य शक्ति को भी प्रभावक ढंग से अभिव्यंजित किया है।

इस प्रकार आधुनिक काव्य शृंखला में 'मूकमाटी' महाकाव्य हर दृष्टि से अनुपम मणिमाला के मौक्तिक रूप में गुँथा हुआ है। उसका अभिव्यंजना शिल्प एक बेजोड़ कड़ी है जिसका दर्शन श्रमण संस्कृति पर आधारित है। निमित्त और उपादान की व्याख्या की पृष्ठभूमि में रचित यह महाकाव्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर है। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा आदि कवियों के काव्यसंग्रहों और 'तार सप्तक' जैसे काव्य-संग्रहों को जिस प्रकार भूमिका की आवश्यकता पड़ती रही, उसी प्रकार 'मूकमाटी' को भी उसके रचयिता की ओर से 'मानस तरंग' लिखकर अपने कथ्य को स्पष्ट करना पड़ा। दर्शन के साथ ही रत्नत्रय की व्यावहारिक उपयोगिता को दिखाकर कवि ने प्रस्तुत महाकाव्य को व्यक्ति के जीवन के साथ घनीभूत रूप में जोड़ दिया है। यही उसकी प्रासंगिकता है और यही उसकी मौलिकता है (पृ.४३६)।

समीक्षा से विराम लेने के पूर्व यह कहना भी आवश्यक हो जाता है कि समकालीन कविता के क्षेत्र में भी 'मूकमाटी' ने अपने को रेखांकित किया है और आचार्यश्री एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप काव्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गए हैं। उनके प्रमुख काव्य-संग्रह 'नर्मदा का नरम कंकर', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी', 'तोता क्यों रोता ?' अष्टम-नवम दशक में ही प्रकाश में आए हैं। परन्तु विडम्बना यह रही है कि वे एक वर्ग विशेष तक ही सीमित रहे हैं, अन्यथा विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के 'समकालीन कविता की भूमिका में', जगदीश चतुर्वेदी के 'आज की हिन्दी कविता' तथा प्रताप सहगल-दर्शन सेठी के 'नवें दशक की कविता यात्रा' जैसे काव्य-संग्रहों में उनकी अभिव्यक्ति को स्थान अवश्य मिलता। फिर भी एक ओर छायावादी प्रसाद की 'कामायनी' (१९३५), दिनकर की 'उर्वशी' (१९६१), तथा पन्त के 'लोकायतन' (१९६४) के बाद 'मूकमाटी' (१९८८) को उस काव्य-शृंखला में जोड़कर अब हम 'अध्यात्म प्रबन्ध चतुष्टय' को प्रस्थापित कर सकते हैं तो दूसरी ओर नवें दशक के दौरान प्रकाशित हुए काव्य परिदृश्य में उसे कविता के विकास में नए आयाम के रूप में देखा जा सकता है। अभी हाल में प्रकाशित 'समकालीन हिन्दी कविताएँ' (सं.रामदरश मिश्रा/श्याम सुशील), 'नवें दशक के प्रगतिशील कवि' (सं. याद. के. सुगन्ध) तथा 'त्रयी-३' (सं. जगदीश गुप्त) संकलनों में आज का यथार्थ सामाजिक चित्र प्रस्तुत हुआ है। इनमें यदि 'मूकमाटी' में खिंचे कुछ परिदृश्य भी सम्मिलित कर दिए गए होते तो वह निस्सन्देह समकालीन कविता का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बन जाता। यह जानते हुए भी कि 'मूकमाटी' काव्य समकालीन कविता की परिपाटी से बिलकुल हटकर लिखा गया है। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि 'मूकमाटी' के कवि ने कविता को एक विशिष्ट मुहावरा दिया है जिसमें प्रतीक में छिपा आतंकवादी परिवेश और जीवनानुभवों की वास्तविकता की टकराहट बड़े प्रभावक ढंग से अभिव्यक्त हुई है। इस अभिव्यक्ति में शिल्प का स्पर्श पाकर कविता चरितार्थ होती दिखाई दे रही है। सामाजिक दायित्व और मानवीय मूल्यों के मुद्दों पर कवि की वेदना और मर्मान्तिक टिप्पणियाँ भी जीवन के हाशियों पर अमिट रेखाएँ बन गई हैं, जिन पर सुभग जीवन की सफलता के चित्र अंकित हैं। सामाजिक परिस्थितियों से प्रतिबद्ध कवि की चिन्ता भी वहीं प्रतिबिम्बित होती दिखाई देती है। उनका कथ्य समकालीन कवियों से भी कहीं अधिक बेजोड़, विविधता पूर्ण, सदाचारमय और बहुआयामी है जिसमें उन्होंने दर्शन और अध्यात्म को समवेत रूप में उतारा है और व्यक्ति के जीवन को कलात्मक ढंग से सँवारा है। 'मूकमाटी' महाकाव्य का यही प्रदेय है जो अपने क्षेत्र में दीपस्तम्भ जैसा सदैव पथदर्शक बना रहेगा।

इस प्रकार 'मूकमाटी' महाकाव्य आधुनिक काव्याकाश में एक ऐसा देदीप्यमान नक्षत्र है जो आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक नया मान और नया परिवेश लेकर प्रस्तुत हुआ है। वह हताशा, पराजय और कुण्ठा की बजाय एक सजग पुरुषार्थ को प्रतिबिम्बित करता है, आध्यात्मिक सृजनात्मकता की व्याख्या करता है, उपादान और निमित्त शक्तियों की दर्शन दुरूहता को स्पष्ट करता है, आदर्शवादी समाज की संरचना की दृष्टि देता है, सदाचरण की प्रतिरक्षा करता है और देता है वह जीवन दृष्टि जो व्यक्ति या साधक को अपवर्ग की श्रेणी में बैठा देता है। आधुनिकता की परम्परा से बिलकुल हटकर 'मूकमाटी' महाकाव्य ने सामुदायिक चेतना की पृष्ठभूमि में आत्मिक, आध्यात्मिक अभ्युत्थान को जिस रूप में उन्मेषित किया है वह दरअसल बेजोड़ है। इसलिए 'मूकमाटी' नयी कविता का सशक्त हस्ताक्षर है। उसमें आधुनिक जीवन-बोध की सचेतनता है, नए प्रतीकों, बिम्बों और यथोचित शब्दावली के माध्यम से मनोवेगों का विश्लेषण है, युगीन काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग होने पर भी युगीन सन्दर्भ से सम्पृक्त होने के कारण रूढ़िमुक्तता-सी दिखाई देती है। □



'मूकमाटी' : 'कामायनी' के बाद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्योपलब्धि

डॉ. कान्ति कुमार जैन

हिन्दी में एकार्थ काव्य की विवक्षा सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित नहीं है। अपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा व्यक्ति के जन्म से लेकर कैवल्य प्राप्ति तक की कथा का आख्यान करने वाले 'नागकुमार चरित' और 'यशोधर चरित' एकार्थ काव्य के श्रेष्ठ निदर्शन माने जाते हैं। मध्यकालीन काव्य के इतिहास में जिसे समासोक्ति कहा गया, किंचित् अर्थान्तरण के साथ उसे ही आधुनिक भावबोध की आवश्यकतानुसार एकार्थ काव्य की संज्ञा से अभिहित किया गया है। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य की महत्तम कृति 'कामायनी' को जब अनेक समीक्षकों ने महाकाव्य के लक्षणों की शास्त्रीयता से विरहित देखा तो उसे उन्होंने रुद्रट के अर्थ में महाकाव्य मानने में संकोच किया किन्तु यह भी सच है कि अपनी 'कोमलता में बल खाती हुई' इस रचना को नए युग का पहिला महाकाव्य कहकर उसे छायावाद की महत्तम कृति का शिखर सम्मान देना छायावाद के समीक्षकों को अपना दायित्व जान पड़ा। इन दोनों स्थितियों का समन्वय करने वाले कुछ ऐसे परम्परावादी समीक्षक भी थे जो शास्त्रीयता से पराङ्मुख भी नहीं होना चाहते थे और 'कामायनी' की अवमानना का आरोप भी वहन करने को प्रस्तुत नहीं थे। परम्परा और आधुनिकता के समन्वय के इस उपक्रम में डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे आलोचकों को एकार्थ काव्य की नई विधा गढ़नी पड़ी और अपने नामराशि आचार्य साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की एकार्थ विषयक स्थापनाओं की नई व्याख्या करने को उद्यत होना पड़ा। उनकी दृष्टि में एकार्थ काव्य की विधा में लिखित रचनाएँ महाकाव्य के औदात्त्य से तो मण्डित होती हैं किन्तु कथा की विरलता के कारण महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों से सम्पन्न नहीं होतीं। एकार्थ काव्य में समसामयिक जीवन की गहन आधारभूत समस्याओं का नितान्त प्रासंगिक समाधान होता है और वह अपने महत् जीवन-दर्शन के कारण यदि एक ओर दर्शन की सीमारेखा का संस्पर्श करता है तो दूसरी ओर अपने उत्कृष्ट काव्य-संवेदना के कारण किसी भी महाकाव्य का प्रतिवेशी होता है। कवि की कारयित्री प्रतिभा का ऐसे काव्यों में प्रभूत साक्ष्य मिलता है, उसकी विचार शक्ति स्थापित जीवन मूल्यों को नितान्त नए प्रसंगों में पुनर्व्याख्यायित करती है, शिल्प का ऐसा जीवन्त उदाहरण वह अपने ऐसे काव्य में प्रस्तुत करता है जो उसके व्यक्तित्व का ऐकान्तिक प्रतिफलन होता है और भाषा का ऐसा संयोजन करने में वह सफल होता है जो भाषा या विभाषा की क्षमताओं का विस्तार करने वाला होता है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन्हीं आधारों पर 'कामायनी' को आधुनिक युग में हिन्दी का प्रथम एकार्थ काव्य कहा था। जायसी के 'पदमावत' के उपरान्त यह परम्परा अपनी संश्लिष्टता, अपनी कलात्मकता, अपने व्यापक जीवन सरोकारों के कारण सरस्वती के समान अन्तःसलिला ही बनी रही। 'कामायनी'कार ने उसे पुनः प्रत्यक्ष करने का प्रयास किया किन्तु छायावाद के उपरान्त फिर किसी काव्य में ऐसी भास्वर जीवनानुभूति एवं कलामयता के दर्शन नहीं हुए।

'मूकमाटी' के रूप में एकार्थ काव्य की इस विरल किन्तु श्रेष्ठ परम्परा का विकास हिन्दी काव्य की एक महत्तम उपलब्धि है। 'कामायनी' यदि स्वतन्त्रतापूर्व भारत की सांस्कृतिक चिन्ताओं का अद्वितीय प्रयास है तो 'मूकमाटी' स्वतन्त्रता परवर्ती भारतीय जीवन के आत्म-मन्थन का विराट् काव्यात्मक उपक्रम। दोनों का उद्गम भारतीय दर्शन में है, दोनों का लक्ष्य आधुनिक जीवन की विषमताओं का समाधान है। दर्शन अथवा शिल्प के स्तर पर दोनों ही किसी इतर प्रभाव को स्वीकार नहीं करते। भारतीय अस्मिता के समग्र उद्घाटन के लिए शैव जीवन-दर्शन एवं जैन जीवन-दर्शन पर आधारित 'कामायनी' और 'मूकमाटी' बीसवीं शताब्दी के हिन्दी काव्य की महान् उपलब्धियाँ हैं। जयशंकर प्रसाद ने समरसता के आधार पर आधुनिक जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया तो आचार्य

विद्यासागरजी ने जैन दर्शन को भौतिकता से सन्तप्त मानवता के कल्याण का एकमात्र मार्ग बताया है।

'मूकमाटी' की अनन्य विशिष्टता– जिसकी ओर सभी का ध्यान जाता है–है, उसकी प्रासंगिकता। सामान्यतया यह धारणा व्यक्त की जाती है कि जैन मुनि निस्पृह और विरक्त होते हैं और समाज की समस्याओं से उनकी कोई सम्पृक्ति नहीं होती। आचार्यश्री विद्यासागर के इस महाकाव्य में इस धारणा का पंक्ति-पंक्ति में निषेध है। वे जिस समाज में रहते हैं और समय के जिस दौर से गुज़र रहे हैं, उसकी समस्याओं के प्रति वे कितने सजग हैं, इसका प्रमाण हमें 'मूकमाटी' के अनेक प्रसंगों में उपलब्ध होता है। आतंकवाद की नृशंस भयावहता ने हमारे राष्ट्र को जितना आशंकित और त्रस्त कर रखा है, कवि उसकी जड़ों तक ही नहीं जाता, उसके समाधान के प्रति भी सचेष्ट है। आतंकवाद के कारणों की व्याख्या करते हुए कवि का कथन है :

> *"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,*
> *आतंकवाद का अवतार होता है।/अति-पोषण या अति-शोषण का भी*
> *यही परिणाम होता है,/तब/जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,*
> *बदले का भाव···प्रतिशोध!" (पृ. ४१८)*

कवि राजनीति में नित नए-नए रूपों में और नए-नए कारणों से प्रकट होने वाले असन्तुष्ट दलों की ओर भी दृष्टिपात करता है। असन्तुष्ट दलों का अस्तित्व हमारे देश की राजनीति में आज एक व्यापक और चिन्तनीय सचाई है :

> *"बड़ी समस्या आ खड़ी हुई, कि/अपने में ही एक और*
> *असन्तुष्ट-दल का निर्माण हुआ है।/लिये-निर्णय को नकारा है उसने*
> *अन्याय-असभ्यता कहा है इसे,/अपने सहयोग-समर्थन को*
> *स्वीकृति नहीं दी है।" (पृ. ४१९)*

देश के हित के लिए बहुप्रचलित समाजवाद पर भी कवि व्यंग्य करने से नहीं चूकता :

> *"आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?*
> *सबसे आगे मैं/समाज बाद में!" (पृ. ४६१)*

समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता से भी कवि विचलित है। वह धन की तुलना में जन को महत्त्व देता है और चोरी जैसे अ-सामाजिक कृत्य का मूल कारण धन के असन्तुलित वितरण में देखता है :

> *"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो!/और/लोभ के वशीभूत हो*
> *अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा,/धनहीनों में*
> *चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।/चोरी मत करो, चोरी मत करो*
> *यह कहना केवल/धर्म का नाटक है/उपरिल सभ्यता···उपचार!*
> *चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ.४६७-४६८)*

'मूकमाटी' का कवि विदेह होकर भी संसार से विरक्त नहीं है। वह जीवन के उदात्त मूल्यों के प्रति समर्पित है। वह समाज में एक समतापूर्ण समाज की स्थापना के लिए कृत-संकल्प है। मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द क्या होता है, कवि उससे संवेदित है और अर्थ, आतंक, अन्याय और असहिष्णुता से सन्तप्त सामान्यजन के पक्ष में खड़ा

होकर उनके नैतिक युद्ध में एक विचार-योद्धा की भाँति सम्मिलित है। एक निर्विकार इन्द्रियजित्, वासनामुक्त व्यक्ति की जनपक्षधरता का यह काव्यात्मक निदर्शन अत्यन्त उदात्त और आस्थाप्रद है।

नारी के प्रति कवि के मन में बहुत सम्मान का भाव है। वह मध्यकालीन सन्तों की तरह नारी को 'अघ की खान' नहीं मानता। ईसाई धारणा के अनुसार वह स्त्री को 'पाप का मूल' मानने के पक्ष में नहीं है। वह स्त्रियों के विभिन्न अभिधानों की सम्यक् व्याख्या करता है और उसके भीरु, नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, माता, अंगना आदि प्रत्ययों का बड़ा ही रोचक काव्यत्वमय और संवेदना सम्पन्न निरूपण करता है। एक शान्त निरुद्विग्न वाणी में, स्त्री पक्ष के अधिवक्ता के रूप में इस चिरशोषिता, उपेक्षिता, अवमानिता के प्रति अभिव्यक्त कवि की यह वाणी कितनी प्रबुद्ध, कितनी आधुनिक और कितनी नैष्ठिक है !

"स्वीकार करती हूँ कि/मैं अंगना हूँ/परन्तु,/मात्र अंग ना हूँ···
और भी कुछ हूँ मैं···!/अंग के अन्दर भी कुछ/झाँकने का प्रयास करो,
अंग के सिवा भी कुछ/माँगने का प्रयास करो।" (पृ. २०७)

श्रम के प्रति कवि की अनन्य निष्ठा उसे एक नई काव्य सार्थकता प्रदान करती है। लगता है कवि यहाँ गाँधी और मार्क्स का समन्वय कर रहा है और नितान्त नए स्वर में विश्व की श्रमजीवी विराट् मानवता के समर्थन में ऊर्ध्वबाहु उद्घोष कर रहा है :

"परिश्रम करो/पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही,
परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है।" (पृ.२११-२१२)

उपभोक्ता संस्कृति के विरोध में कवि का यह स्वर आज के दिग्भ्रमित विश्व को सच्ची राह का संकेत करने वाला आशामय स्वर है।

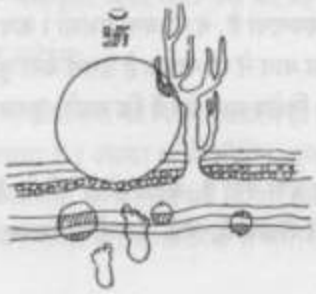
'मूकमाटी' की कथा अत्यन्त विरल है। पात्र भी वास्तविक नहीं, अध्यवसित हैं। मिट्टी जैसे तत्त्व को कथा का मुख्य आधार बनाकर कवि ने संस्कृति के उन उदात्त, जीवनपोषी तत्त्वों का प्रत्यक्षीकरण किया है जो आज के भौतिकता-आहत और अवमूल्यन-त्रस्त मानव-जीवन के लिए एक मात्र संजीवन है। माटी, कुम्भकार, शिल्पी, जल, मछली, राजा, बिजली, बालटी, कुआँ, काँटे, फूल, लेखनी कवि के हाथों में पड़कर बिलकुल नया अर्थ देने लगते हैं और लगता है कि कवि की उद्भावना के बिना हम उनके वास्तविक मर्म को जान ही नहीं पाते। आचार्य अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण के प्रसंग में जिस घट-दीपक-न्याय की बात कही है, लगता है, आचार्य कवि विद्यासागरजी ने हमारी संवेदना को आच्छन्न करने वाले राग-द्वेषयुक्त घटावरण को दूर कर हमें वस्तुओं, मूल्यों और मनोभावों के वास्तविक व्यक्तित्व से परिचित करा दिया है। 'मूकमाटी' साधारणीकरण की प्रक्रिया को एक नितान्त अभिनव अर्थ में उदाहृत करता है। 'मूकमाटी' एक ऐसे सन्त कवि का काव्य है जिसके रसास्वादन के लिए हमें परम्परागत काव्यशास्त्र की नई व्याख्या करनी होगी।

भाषा पर 'मूकमाटी' के कवि का असाधारण अधिकार है। वह उसके संकेतों पर न जाने कितनी भंगिमाएँ,

कितनी मुद्राएँ, कितनी छवियाँ धारण करती हैं। अपने मन्तव्य को प्रकट करने की कवि की सबसे प्रिय मुद्रा है शब्दों को विपर्यस्त कर नितान्त नई व्यंजना का संचार। यह केवल शब्द- कौतुक ही नहीं है वरन् दीर्घ साधना से जीवन लब्ध मूल्यों को सामान्यजन तक सम्प्रेषित करने की उत्कट इच्छा का परिणाम भी है। कवि के जीवनानुभवों, आध्यात्मिक उपलब्धियों तथा सामान्य जीवन की कदर्यताओं से संघर्षरत एक सामान्य व्यक्ति के जीवन प्रसंगों और निश्चेष्ट जीवन मूल्यों में जितना अधिक अन्तराल होगा, कवि को अपने कथ्य के समुचित सम्प्रेषण में उतनी ही कठिनता का अनुभव होगा पर समर्थ कवि इस कठिनता से न तो आतंकित होता है और न ही विचलित। कबीर ने अपने उच्च जीवनानुभवों को उलटबाँसी के माध्यम से इस प्रकार सम्प्रेषित किया कि समाज के तथाकथित निम्नातिनिम्न वर्ग को भी वे जीवनानुभव साधारणीकृत हो सके। आचार्य मुनि विद्यासागर की आध्यात्मिक जीवनानुभूतियों में सामान्यजन की प्रतिभागिता सम्भव नहीं है पर कवि विद्यासागर समाज-सम्पृक्त अपने गहन और जीवन्त स्पन्दनों को शब्दों के शीर्षासन द्वारा इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि उनका एक प्रामाणिक और जीवनदायी रूप हमें सहज ही हृदयंगम हो जाता है। लाभ को भला, राख को खरा और राही को हीरा कहना शब्दों का शीर्षासन नहीं तो और क्या है ? 'शंकर्स वीकली' के सम्पादक व्यंग्यकार शंकर ने पं. जवाहर लाल नेहरू के सर्वाधिक प्रिय आसन 'शीर्षासन' पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि उलटी दुनिया को सीधा देखने का एक मात्र उपाय है कि स्वयं उलटे होकर उसे देखना। कवि विद्यासागरजी भी उलटी दुनिया को और उसके विकृत जीवन मूल्यों को सीधा करने के लिए शब्दों के शीर्षासन से काम लेते हैं।

खड़ी बोली हिन्दी के काव्य भाषा के रूप में कितने संस्करण हो सकते हैं -- यह जानना साहित्य के अध्येता के लिए जितना रोचक है, उतना उपयोगी भी। खड़ी बोली का एक रूप 'हरिऔध'जी के 'चुभते चौपदे' का है तो एक 'निराला' की 'राम की शक्तिपूजा' का। 'बच्चन' की 'मधुशाला' की हिन्दी उसका नितान्त नया तेवर है। 'मुक्तिबोध' की 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' एक अनगढ़, रूक्ष, हाँफती हुई भाषा का उदाहरण है तो 'अज्ञेय' की 'दीप अकेला' एक शान्त, अभिजात, मन्थर भाषा, मुद्रा प्रकट करता है, 'रघुवीर सहाय' की 'दयावती का कुनबा' अखबारी भाषा के काव्यात्मक कल्पान्तरण का उदाहरण है। आचार्य कवि विद्यासागर अपनी कविताओं में खड़ी बोली का ऐसा मॉडल प्रस्तुत करते हैं जो न तो खड़ी बोली की प्रकृति का उल्लंघन करता है और न ही उसे आरोपित काव्याच्छाद प्रदान करता है। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक आते-आते हिन्दी खड़ी बोली का जो स्वरूप है, वह कवि विद्यासागरजी को स्वायत्त है। भाषा की प्रकृति का उच्छेद अथवा उसका उल्लंघन भी एक प्रकार की हिंसा ही है। कवि श्री विद्यासागरजी इस हिंसा से स्वयं को नितान्त असम्पृक्त रखते हैं। हिन्दी काव्य भाषा को उसकी सम्पूर्ण स्वायत्तता एवं समग्र स्वास्थ्य में प्रयुक्त कर आचार्य-कवि ने नए क्षितिजों का उद्घाटन किया है।

आधुनिक हिन्दी काव्य के विस्तृत एवं सम्पन्न परिदृश्य में आचार्य कवि विद्यासागरजी की 'मूकमाटी' 'कामायनी' के बाद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, प्रासंगिक एवं उदात्त काव्योपलब्धि है -- इसमें सन्देह नहीं। ❑



'मूकमाटी' का महाकाव्यत्व

प्रा. माणिक लाल बोरा

पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा रचित 'मूकमाटी' रचना के मुखपृष्ठ पर ही शीर्षक के नीचे 'महाकाव्य' लिखा होने से रचना के काव्य भेद का निर्देश किया गया। इस शब्द को लेकर आलोचक-वृन्द में मतान्तर की सम्भावना स्पष्ट दीख पड़ती है। रचना के 'प्रस्तवन'कार श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन ने इस रचना को, महाकाव्य कहें या खण्डकाव्य या मात्र काव्य ? – यह आशंका भरा प्रश्न खड़ा किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट लिखा है कि परम्परागत महाकाव्य के चौखटे में जड़ना सम्भव नहीं है। रचना का विस्तृत विस्तार तथा प्रारम्भिक प्राकृतिक परिदृश्य का जिक्र कर सिर्फ इतना ही उल्लेख किया है कि 'यह महाकाव्य की सीमाओं को छूता है।' अन्तिम पंक्तियों में उन्होंने इसे 'आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र' कहा है, महाकाव्य नहीं। अतः इस रचना को क्या कहें, यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। मेरे मन में भी एक और प्रश्न उठता है कि यदि यह रचना आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र है, तो फिर यह 'आधुनिक काव्यशास्त्र का अभिनव महाकाव्य' क्यों नहीं हो सकती ? मेरे मन में इस रचना के महाकाव्यत्व के बारे में कोई आशंका नहीं है। इस लेख में मैंने इस रचना के महाकाव्यत्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

परम्परागत महाकाव्य का स्वरूप और 'मूकमाटी'

संस्कृत भाषा के महान् पण्डित एवं आचार्यों ने पूर्वकालीन तथा समकालीन कवियों की काव्य रचनाओं का निरीक्षण-परीक्षण करके काव्यशास्त्र की जो रचना की है, उसमें काव्य-भेदों के विवेचन में महाकाव्य के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। महाकाव्य की रचना के लिए विशिष्ट नियमों की चौखट का निर्माण कर उसका स्वरूप निर्धारित कर दिया है। महाकाव्य के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन करके उसे विशिष्ट मर्यादा में जकड़ दिया है।

काव्यशास्त्र के नियमों, लक्षणों के अनुसार महाकाव्य की कथा लोकप्रसिद्ध, लोकविश्रुत हो और उसका नायक उच्च कुलोत्पन्न तथा राजवंश से सम्बन्धित धीरोदात्त महापुरुष हो। कथा में नायक के सम्पूर्ण जीवन का लेखा-जोखा हो। आधिकारिकी कथा के साथ ही अनेक प्रासंगिक कथाएँ, जो मुख्य कथा को अग्रसर करती हों, आवश्यक मानी गई हैं। कथा में सहायक तथा निरोधक अनेक पात्र, चरित्र हों, जो नायक के जीवन-चरित्र को उजागर कर उसकी लोकोत्तरता पर प्रकाश डालने में सहायक हों। रचनाक्रम की दृष्टि से भी नियम निर्धारित किए गए हैं। महाकाव्य के प्रारम्भ में क्रमशः मंगलाचरण, देवी-देवताओं की वन्दना-स्तुति, गुरुजनों की वन्दना एवं आशीर्वाद की प्रार्थना, सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा इत्यादि का होना आवश्यक बताया गया है। महत्त्वपूर्ण नियम भी बताया गया है कि महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग हों।

महाकाव्य के उपर्युक्त जो महत्त्वपूर्ण लक्षण बताए गए हैं, उनमें से एक भी लक्षण 'मूकमाटी' काव्य में है ही नहीं। न मंगलाचरण है, न देवी-देवताओं की स्तुति; न गुरुवन्दना है, न सज्जन-प्रशंसा। कथा है तो एक अति सामान्य, पद-दलित, नगण्य माटी की। इसी माटी को अगर नायिका मान लें तो नायक है उससे बना कुम्भ। कुम्भकार या शिल्पी निमित्त मात्र गौण पात्र है, उसे नायक नहीं माना जाएगा। विशेष बात यह है कि माटी, कुम्भ या कुम्भकार को नायक-नायिका मानना लौकिक अर्थ में घटित नहीं होता।

आधिकारिक/मुख्य कथा का विस्तार भी बहुत बड़ा नहीं है, बहुत छोटी परिधि है उसकी। कुम्भकार माटी खोदकर घर ले जाता है, छानकर तथा पानी डालकर उसे रौंदता है, चक्र पर लोंदा रखकर कुम्भ बनाता है, अवा में

तपाकर सेठजी के सेवक को दे देता है। पूज्य मुनिराज के आहार-ग्रहण के समय वही कुम्भ उपयोग में आता है। संकट की सूचना पाकर कुम्भ सेठजी के परिवार सहित वन का आश्रय लेता है और संकटों का सामना कर फिर उसी स्थान पर आता है जहाँ कुम्भकार माटी लेने आया है। बस हो गयी कथा। प्रासंगिक कथाएँ भी इनी-गिनी हैं। विशेष उल्लेखनीय है मूक वस्तुओं का वार्तालाप, निर्जीव पदार्थों का सजीवीकरण। हाँ, महाकाव्य-सा निसर्ग-वर्णन, ऋतु-वर्णन तथा सभी रसों का वर्णन कृति में अवश्य है, परन्तु वह भी अपनी भव्यता के साथ नहीं। सम्पूर्ण रचना भी सिर्फ़ चार खण्डों में विभाजित है।

संक्षेप में यह कि परम्परागत महाकाव्य के नियमों और लक्षणों की कसौटी पर ही यदि 'मूकमाटी' रचना को कस कर परखा जाए तो एक परीक्षार्थी की तरह स्पष्ट कहना होगा कि 'मूकमाटी' महाकाव्य नहीं है।

मौलिक प्रश्न यह है कि क्या 'मूकमाटी' के महाकाव्यत्व को सिद्ध करने के लिए परम्परागत महाकाव्य के लक्षणों की चौखट का ही सहारा लेना होगा ? विशेष बात यह है कि ये लक्षण भी अति प्राचीन समय के बने हुए हैं। इसका आशय यह नहीं कि प्राचीन होने से उन्हें कालबाह्य मानकर छोड़ दिया जाए, परन्तु यह भी नहीं कि केवल प्राचीन होने से उन्हें ही स्वीकार किया जाए। अतः नवीन मूल्यों, पद्धतियों, दृष्टियों और आवश्यकताओं के अनुसार काव्य के नवीन लक्षणों एवं विशेषताओं को अपना लेना प्राचीन का अवमान हरगिज़ नहीं है। हर समय की अपनी माँग होती है, जिसे पूर्ण करना प्राचीन का अवमान नहीं, नूतन का स्वागत है।

यह रचना किसी गृहस्थ कवि की नहीं वरन् गृहस्थ जीवन का त्याग कर, दीक्षा ग्रहण कर आत्मोद्धार के कठिन, जटिल, कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलने वाले कर्मठ साधु की रचना है। सामान्य कवि की रचना और सन्त-साधु की रचना में मौलिक अन्तर होता है। सन्त सर्वप्रथम भक्त होता है, साधना मार्ग पर चलने वाला साधक होता है और बाद में कवि। अपनी साधना ही उसका मुख्य लक्ष्य होता है, कवि-कर्म नहीं । अपने सन्त कर्तव्य के माध्यम से ही उसके अन्दर का कवि मुखरित होता है। काव्य के प्रांगण में कवि स्वर-संचार कर सकता है परन्तु सन्त की अपनी मर्यादाएँ होती हैं। कवि के लिए जो भोग्य होता है, सन्त के लिए वही त्याज्य। उदाहरणस्वरूप सभी कवियों ने शृंगार को रस-राज कहा है परन्तु इस रचना में आचार्य-कवि ने शृंगार की अवहेलना कर शान्त रस को प्रधानता दी है। उनकी दृष्टि में शारीरिक शृंगार नहीं वरन् आत्मिक शृंगार अर्थात् आत्मशान्ति ही मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। कर्तव्य की वेदी पर बैठे आचार्य-कवि ने अपने विषय और उद्देश्य को ही प्राधान्य देकर महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों के निर्वहण में अपना बहुमूल्य समय एवं शक्ति व्यय करना उचित नहीं समझा। अतः इस रचना के महाकाव्यत्व का मूल्यांकन परंपरागत लक्षणों की कसौटी पर नहीं वरन् अन्य आधुनिक लक्षणों एवं विशेषताओं की कसौटी पर करना होगा। 'मूकमाटी' का विषय, उसके निवेदन के पीछे आचार्य-कवि का आन्तरिक उद्देश्य, आचार्यश्री की सामाजिक दृष्टि तथा मानवी जीवन के कल्याण की उनकी तीव्र भावना आदि काव्य के भाव पक्ष के साथ ही उनका शब्द-संग्रह, काव्य कलात्मकता, शैली एवं शब्द-चमत्कृति आदि कला पक्ष का भी विचार करना होगा।

'मूकमाटी' का विषय और उद्देश्य

दरअसल, सन्तकवियों की रचना का विषय अध्यात्म ही होता है। सन्त अपनी साधना द्वारा अनुभूत आध्यात्मिक सत्य को उद्घाटित करना चाहता है। उसका लक्ष्य भौतिक सुख नहीं, आत्मिक सुख होता है। अध्यात्म के रास्ते पर चलने की इच्छा रखने वाले अज्ञजनों के अन्तःकरण में धर्म की ज्योति जलाकर उन्हें जीवन की सार्थकता का मार्ग दिखाना ही सन्त का प्रमुख कार्य होता है। रागातिरेक से संसार के भौतिक सुखों से चिपके हुए जीवों में वैराग्य भाव

प्रज्वलित करना, पुरुष की सुषुप्त चैतन्य शक्ति को जागृत करना ही सन्त अपना कर्तव्य समझते हैं। इस काव्य के रचयिता आचार्य विद्यासागरजी मानते हैं कि शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्पन्न जीवन ही धर्म है। कुरीतियों का निर्मूलन कर युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित कर उसे भोग से योग की ओर मोड़कर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखने के सात्त्विक उद्देश्य से ही इस रचना का निर्माण हुआ है (देखिए-'मानस तरंग,' पृ. XXIV)।

उद्देश्य की पूर्ति के लिए माटी और कुम्भ की यह कथा तो केवल रूपक/प्रतीक मात्र है। आचार्यश्री को यहाँ कोई कथा नहीं कहनी है। उन्हें तो अनेक भवों में, असंख्य पर्यायों में, जन्म-जरा-मरण के चक्र में भटकती हुई अनन्त दुःखों से घायल एवं व्यथित बनी आत्मा को उद्धार का मार्ग बताना है। जीवन के लक्ष्य से भटकी हुई आत्मा को आध्यात्मिक साधना का विश्लेषण करके मुक्ति का मार्ग दिखाना ही आचार्यश्री का प्रमुख उद्देश्य है।

रचना के प्रारम्भ में ही महाकाव्य-सदृश प्रातःकालीन प्रकृति-दृश्य का जो सजीव वर्णन किया गया है, उसे पढ़ कर उनकी वर्णन शैली की क्षमता तथा उत्तुंग प्रतिभा के दर्शन होते हैं। परन्तु प्रकृति-वर्णन में वे अधिक रमे नहीं। वे झट अपने विषय-विवेचन पर आ गए हैं। सरिता-तट की माटी अपने पतित जीवन को कोसती हुई आन्तरिक व्यथा व्यक्त करती है। यह माटी अनन्त पर्यायों में भटकती तथा सांसारिक दुःखों से व्यक्ति बनी आत्मा का प्रतीक है, जो इस चक्र से छुटकारा पाने के लिए लालायित हो उठी है। माटी के मुख से अत्यन्त आर्तता पूर्वक करुण भावों से लबालब भरा हुआ यह प्रश्न आत्मा ही पूछती है कि इस पर्याय की इति कब होगी ? संसार में भ्रमण करने वाली हर आत्मा का यह सनातन-शाश्वत प्रश्न रहा है कि जीवन का उद्धार होगा या नहीं ? होगा तो कब और कैसे ? इन्हीं प्रश्नों से हतोत्साह बनी आत्मा पद, पथ और पाथेय की माँग करती है। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में लिखा गया है 'मूकमाटी' काव्य। साधना-पक्ष की तमाम बारीकियों का अनेक उदाहरणों सहित विश्लेषण-विवेचन करके साधक को मुक्ति के मार्ग पर चलने को प्रेरित करना ही रचना का मुख्य उद्देश्य है। आचार्यजी लिखते हैं– साधना के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है 'आस्था':

- *"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर*
  रास्ता स्वयं शास्ता होकर/सम्बोधित करता साधक को
  साथी बन साथ देता है।" (पृ. ९)
- *"आस्था के बिना आचरण में/आनन्द आता नहीं, आ सकता नहीं।*
  फिर/आस्थावाली सक्रियता ही/निष्ठा कहलाती है,
  ...निष्ठा की फलवती/प्रतिष्ठा प्राणप्रतिष्ठा कहलाती है,...
  प्रतिष्ठा बहती - बहती/स्थिर हो जाती है जहाँ
  वही तो समीचीना संस्था कहलाती है।" (पृ. १२०)

इस प्रकार आस्था ही क्रम-क्रम से बढ़कर सच्चिदानन्द संस्था की अव्यय अवस्था पाती है। अतः आस्थापूर्वक मन से साधक बिना किसी आलस्य के साधना में निरन्तर प्रयत्नशील रहे।

प्रारम्भ में कठिनाइयाँ अवश्य आती हैं, परन्तु बाद में वे ही पथ की सहचरी बनकर सफलता प्रदान करती हैं। साधना का मार्ग अत्यन्त कठिन होता है, जिस पर चलते हुए बड़े-बड़े साधक भी घुटने टेक देते हैं। कठिनाइयों से डरकर अनेक साधक साधना को अधूरा छोड़कर भाग जाते हैं। भागनेवालों से आचार्यजी कहते हैं :

"परीषह-उपसर्ग के बिना कभी/स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी/त्रैकालिक सत्य है यह !" (पृ. २६६)

साधना का मार्ग यानी आग की नदी है, जिसे बिना नौका के ही अपने बाहुओं के बल पर तैरते हुए पार करना होता है, तभी तीर मिलता है। इसीलिए बिना सम्भ्रम में पड़े दृढ़संकल्प के साथ आगे बढ़ने से भय भाग जाता है। अभय की स्थिति ही विजय का प्रारम्भ है।

साधक के लिए तप अत्यन्त आवश्यक है। बिना तप किए आन्तरिक ताप नष्ट नहीं होता, अज्ञान का नाश और ज्ञान की लब्धि नहीं होती।

"तन और/मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर
जला-जला कर राख करना होगा/यतना घोर करना होगा
तभी कहीं चेतन-आत्मा/खरा उतरेगा !" (पृ. ५७)

बिना तपे-जले विशुद्ध परस का अनुभव सम्भव नहीं है। इस प्रकार साधना-मार्ग की कठिनाइयों से साधक को अवगत कर उसका हौसला बढ़ाने का प्रयत्न भी आचार्यजी करते हैं। माटी से कुम्भ तभी बनता है जब माटी में मिले हुए विरोधी तत्त्व अर्थात् कंकड़ वगैरह उससे अलग कर दिए जाएँ। इसीलिए तो माटी को छाना जाता है। यही अवस्था साधना के पूर्व आत्मा को भी करनी पड़ती है। जब तक आत्मा के साथ विरोधी तत्त्व चिपके हुए रहते हैं, तब तक उसे मोक्ष के दर्शन सम्भव नहीं होंगे। इसीलिए आचार्य-कविजी ने वर्ण-शुद्धि पर विशेष ज़ोर दिया है। वे कहते हैं–'जीवन में उन्नत अवस्था की प्राप्ति के लिए वर्ण-शुद्धि आवश्यक है। वर्ण का अर्थ रंग-रूप, या आकार-प्रकार नहीं, वरन् चाल-चलन, ढंग, स्वभाव आदि आत्मिक गुण हैं। आत्मा में लगे कषाय-कलंकों के वर्ण-संकर दोष को नष्ट करने का मतलब है इन आत्म-विरोधी कषायों को निकाल फेंकना। यही वर्ण-शुद्धि है।' यहाँ आचार्यजी ने वर्ण का सम्बन्ध जन्म या जाति से नहीं अपितु व्यक्ति के कर्म से जोड़ दिया है, आत्मा के गुणों से जोड़ दिया है। 'वर्ण-संकर दोष आत्मोन्नति में बाधक ही नहीं, आत्मा को अवनति की ओर ले जाता है।' इस विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया है। 'गाय का क्षीर (दूध) और आक का क्षीर ऊपर से विमल-धवल ही दिखाई देते हैं, दोनों का वर्ण (रंग) एक ही है, परन्तु जब वे परस्पर मिल जाते हैं तब गाय का क्षीर फट जाता है।' आक का वर्ण (गुण) गाय के वर्ण में विकृति पैदा कर देता है। क्रोध, काम, लोभ, राग, द्वेष इत्यादि कषायों को आत्मा से अलग करना ही आत्मा की वर्ण-शुद्धि है।

'साधना के लिए अनुकूलता की प्रतीक्षा करना भी व्यर्थ है। प्रतीक्षा करने से राग-भाव की वृद्धि होती है। वैसे ही प्रतिकूलता का प्रतिकार भी न करें क्योंकि उससे द्वेष-भाव पुष्ट होता है।' सार यह है कि साधना-मार्ग में अनुकूलता हो या प्रतिकूलता, दोनों को सम-भाव से ग्रहण करना होगा। उसके लिए संयम की बड़ी आवश्यकता है। राग-द्वेष विरहित एवं संयत अन्तःकरण से संयम की राह पर चलना होगा।

"राही बनना ही तो/हीरा बनना है।" (पृ. ५७)

साधना-मार्ग में सबसे आवश्यक है माया से छुटकारा पाना। जब तक साधक का मन काया की ओर झुका रहता है तब तक जीव माया के फन्दे में कसा रहता है। जब माया की उपेक्षा होती है, माया की ओर दुर्लक्ष्य होता है तब सन्मति की प्राप्ति होती है। माया के कारण ही गति, मति, स्थिति विकृत हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप आत्मा के मौलिक स्वरूप एवं स्वभाव का ज्ञान नहीं होता। मन को शरीर की ओर से हटा लेना, शारीरिक रोगों से मन को अलिप्त रखना ही माया के चंगुल से आत्मा को बचाना है।

आत्मा से जब सभी कषायें हट जाती हैं, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विकार उत्पन्न करनेवाले भाव नष्ट हो जाते हैं, तभी पुण्य-निधि का प्रतिनिधि भाव अर्थात् 'ज्ञान' का जागरण होता है। इस 'बोध-भाव' के आगमन से अनुभूति का प्रतिनिधि शोध-भाव प्रकाशित होता है। यही है आत्मा की शुद्ध अवस्था। इस अवस्था में बाधक है 'मोह'। आत्मा की शुद्ध अवस्था के लिए मोह का दूर होना आवश्यक है। मोह ही माया को आमन्त्रित करता है। अपने को छोड़ कर अर्थात् 'स्व' के अतिरिक्त पर-पदार्थ से प्रभावित होना मोह है। सांसारिक जीवन में ऐसे असंख्य बाह्य पदार्थ हैं जिनसे साधक का मन प्रभावित/विचलित होने की सम्भावना होती है। इसीलिए आचार्यश्री ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना दी है कि 'पर-पदार्थ से प्रभावित नहीं होना है। इसके विपरीत सबको छोड़कर अपने में अर्थात् 'स्व' में भावित होना ही मोक्ष है, वही शुद्धात्मा की स्थिति है।'

'रूप' का प्यासा बनना ही वासना है, जो आत्मा को कलंकित करती है। साधना के क्षेत्र में 'अरूप' का प्यासा बनकर ही क़दम बढ़ाना है। वासना की उपासना छोड़कर, रूप की ललक और परस की आस छोड़कर भौतिक शृंगार विषय से दूर रहना आवश्यक है। 'रूप' की प्यास का मतलब है 'काम' की उपासना। साधना के क्षेत्र में 'काम' की नहीं, 'राम' की लगन लगनी चाहिए। अर्थ की ओर नहीं, परमार्थ की ओर लगन बढ़नी चाहिए। परमार्थ अतुलनीय है, उसे अर्थ की तुला में तौलना हास्यास्पद है।

आध्यात्मिक जीवन की सफलता तभी सम्भव है जब चंचल मन शान्त हो जाए। साधना क्षेत्र में यह चंचल मन ही गड़बड़ी पैदा कर देता है, सब कुछ बिगाड़ देता है। मन की चंचल वृत्ति के कारण भावों में उथल-पुथल थम जाती है, जिनसे इन्द्रिय रूपी घोड़े बेतहाशा दौड़ने लगते हैं। अतः मन को संयम की बागडोर से काबू में रखना होगा, तभी भावों की उथल-पुथल थम सकती है। भाव-सागर तरंगहीन-समतल तभी हो सकेगा जब हृदेश में अन्य सभी रसों का अन्त होकर शान्त रस की प्रधानता होगी। आचार्यश्री ने शान्त रस को रस-राज तथा रस-पाक की उच्च वेदी पर स्थापित किया है। व्यावहारिक भोगात्मक जीवन में शृंगार रस को रस-राज माना गया है, परन्तु आध्यात्मिक जीवन में शान्त रस की प्राप्ति कर लेना ही साधक का कर्तव्य माना गया है। शान्त रस की उपलब्धि ही आध्यात्मिक यात्रा की मंज़िल है। सब रसों का अन्त होना ही शान्त रस है। अन्य सभी रस भोगात्मक हैं जो जीवन को अस्थिर-अशान्त बना देते हैं। मनुष्य अपने जीवन में शान्ति चाहता है, अतः शान्त रस को प्राप्त करने के लिए सभी रसों का अन्त करने की साधना करनी होगी।

"परिधि की ओर देखने से/चेतन का पतन होता है/और
परम-केन्द्र की ओर देखने से/चेतन का जतन होता है।" (पृ. १६२)

इन पंक्तियों के द्वारा आचार्य-कविजी ने साधना के लक्ष्य की ओर संकेत किया है। साधक की दृष्टि बाह्य की ओर नहीं वरन् केन्द्र की ओर अर्थात् संसार के भोगों की ओर नहीं, आत्म-तत्त्व की ओर होनी चाहिए। बाह्य दृष्टि चेतन को चंचल बनाकर पतन के गर्त में ढकेल देती है और आत्मकेन्द्रित दृष्टि चेतन को शान्त-स्थिर बनाकर उसका जतन करती है। निरन्तर घूमने वाले संसार-चक्र पर स्थित मानवी जीवन जब परिधि की ओर यानी बाह्य की ओर देखता है तब उसका चेतन भ्रमण करने लगता है, परिणामतः जीवन यूँ ही बिना कुछ लाभ के विफल हो जाता है। जब साधक की आत्मा केन्द्र में रमण करती है तभी सुख की अनुभूति होती है। प्रत्येक जीवन संसार-चक्र पर आरोहित है। जो जीवन बिना भ्रम में पड़े इस घुमावदार रास्ते से बेहिचक निकल पड़ता है, जो जीवन के चक्कर के डर से गतिमान् होने से हिचकता है, वह शिखर पर पहुँच ही नहीं पाएगा। जीवन के रहस्य को समझने के लिए पुरुषार्थ करना आवश्यक है, क्योंकि जीवन के रहस्य का घूँघट पुरुषार्थ द्वारा ही खुल सकता है।

साधक अपने जीवन में तभी सफल होगा जब उसकी गति का साथ उसकी मति भी दे देगी और मति भी वह जो मान-अहंकार से विमुख होती है। परन्तु गति के साथ यदि अहंकार की प्रमुख कारण रति साथ देगी तो विनाश अवश्यम्भावी है। अत: साधक को चाहिए कि वह रति से बचे और अहंकार रहित मति को जीवन की गति में लगा दे, तभी विकास सम्भव है।

साधना के क्षेत्र में ध्यान का अत्यन्त महत्त्व है। ध्यान किसे कहते हैं ? अपने आप को खोना ही ध्यान है। अपने आप को खोने के भी दो मार्ग हैं—एक भोग का और दूसरा त्याग का। प्रथम, भोग-मार्ग से जाने वाला साधक विकल्प से मुक्त होकर शव के समान पड़ा रहता है तो दूसरे योग-मार्ग से जाने वाला साधक शिव के समान खरा उतरता है। ध्यान-क्रिया दाहक होती है अवश्य, परन्तु उसी ध्यान-दाह से वैषयिक संग नष्ट होते हैं और आत्मा पर लगा जंग भी जलकर भस्म होता है। ध्यान-दाह के प्रवाह में अवगाहन करके भी आह तक नहीं निकलनी चाहिए। विश्व का तामस भी भर जाए तो भी निश्चिन्त रहना चाहिए, क्योंकि कालान्तर में 'ता···म···स' ही 'स···म···ता' प्रदान करता है। अवा में अग्नि-परीक्षा देकर ही कुम्भ मज़बूत बनता है। उसी प्रकार ध्यान-दाह में तपकर ही साधक मुक्ति का हक़दार बनता है।

"अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक/किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,
न ही भविष्य में मिलेगी।" (पृ. २७५)

आध्यात्मिक साधना का मुख्य उद्देश्य विषयों और कषायों का वमन करना अर्थात् उन्हें बाहर फेंक देना है। वमन की क्रिया अरुचि से ही होती है। जब तक विषयों और कषायों के प्रति मन में रुचि है, तब तक इनका वमन होना असम्भव है। अत: साधक का प्रयत्न कषायों के प्रति मन में अरुचि पैदा करना है। जब ये विषय और कषाय, जो आत्मा को मैले बनाते हैं, निकल जाएँगे तभी साधक को मुक्ति का रसास्वाद प्राप्त होगा। जो व्यक्ति रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ है उसे वस्तु के सही स्वाद का आनन्द नहीं मिलता। ठीक उसी प्रकार जब तक विषयों-कषायों के प्रति मन में रुचि भरी है तब तक शान्त रस का स्वाद आत्मा को मिलना कठिन है। कषायों के प्रति अरुचि तभी पैदा होगी जब व्यक्ति जीने की इच्छा से ही नहीं वरन् मृत्यु की भीति से भी ऊपर उठेगा। जिस रसना ने मृत्यु का भय भी अपने में नहीं रखा अर्थात् जो मृत्युंजय हो गयी है, वही रसना रस का आस्वादन ले सकती है। जो विषयों का रसिक है, भोगों-उपभोगों का दास है, इन्द्रियों का चाकर है, तन और मन का गुलाम है, वही पर-पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है। यही महा-पाप है। विषयों की दासता तब मिटती है जब 'स्व' को 'स्व' के रूप में और 'पर' को 'पर' के रूप में जान लिया जाए। यही सही ज्ञान है।

"बाहर यह/जो कुछ दिख रहा है/सो···मैं···नहीं···हूँ
और वह/मेरा भी नहीं है।" (पृ. ३४५)

यह स्थिति ही सच्चे ज्ञान की स्थिति है। 'स्व' का यह ज्ञान बाहर की आँखों से देखने से नहीं मिलता। बाह्य आँखें 'मैं' को देख ही नहीं सकतीं। अत: साधक अपनी आन्तरिक आँखों से 'मैं' को देखने-समझने का प्रयत्न करे। एक बार 'मैं' को समझ लिया कि बाह्य विषयों-कषायों के प्रति अरुचि पैदा होगी जो साधक को शान्त रस का आस्वाद लेने में सहायक होगी।

जो साधक आत्म-सत्ता की ओर बढ़ता रहता है उसमें समता-भाव जागृत होता जाता है। उसके लिए भौतिक

वस्तुओं का मूल्य समान होता है अर्थात् सोने की मिट्टी और गिट्टी में उसे कोई अन्तर महसूस नहीं होता। उसके लिए दोनों का मूल्य समान है। इस प्रकार समता भाव की जागृति ही अन्तिम सत्य है, यही मौलिक तत्त्व है। साधक जब तक शरीर की ओर देखता है, शरीर को ही पुष्ट एवं द्युति-दीप्त बनाना चाहता है, तब तक उसे विदेह-पद की यानी मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। साधक का ध्येय शरीर को नहीं आत्मा को पुष्ट बनाना है। आत्म-सत्ता की सही-सही पहचान, आत्मा का सही-सही ज्ञान ही मोक्ष है।

साधना में दृढ़ता की बड़ी आवश्यकता है, मन का मज़बूत होना भी आवश्यक है। आचार्यश्री लिखते हैं– 'साधक का स्वभाव काँटे की तरह दृढ़-कठोर होना चाहिए। सुकुमार फूलों के संग रहकर उनके मुलायम स्पर्श को पाकर भी काँटा दृढ़ रहता है। उसकी उपासना को चोट पहुँचने पर भी वह अपनी कठोरता को नहीं छोड़ता। सुकुमार लतिकाएँ काँटों को आलिंगन देकर उनको अपनी साधना से च्युत करने का प्रयत्न करती हैं, परन्तु काँटों का 'शील' भंग नहीं होता, वे रागी (अनुरागी) नहीं बनते, उन पर स्खलन का कोई दाग नहीं लगता। अतः 'राग' नहीं, 'वैराग्य' भाव को ही अपनाना होगा, जिससे भव-पार हुआ जा सकता है। आसक्ति (राग) साधक में 'मद' भर कर उसका 'दम' तो लेती है, और वैराग्य उसमें 'दम' (शक्ति) भरकर उसे 'निर्मद' (निरहंकारी) बना देता है' (पृ. ९९-१०२)।

साधना के मार्ग पर चलने वाले आचार्यश्री ने उसकी कठिनता एवं दुर्गमता को ठीक-ठीक अनुभव किया है। साधना पथ की कठिनता को दूर करने की अनुभूति भी उन्होंने पाई है। इसीलिए तो उन्होंने इस मार्ग की ओर जाने वाले साधकों को अत्यन्त आत्मीयतापूर्वक सभी बातें समझाने की भरसक कोशिश की है।

'मूकमाटी' यह माटी या कुम्भ की नहीं, साधक के साधना-जीवन की कहानी है, जो साधु-दीक्षा से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक फैली हुई है। साधक के सम्पूर्ण जीवन का लेखा-जोखा है इसमें। मोक्ष-प्राप्ति की 'आस' से व्याकुल सार्थक परम्परागत महाकाव्य के धीरोदात्त नायक से कम श्रेष्ठ नहीं है। कठोर साधना के द्वारा आत्म-विरोधी तत्त्वों से लड़ने वाला साधक भी महाकाव्य का नायक बन सकता है। कितनी संघर्षमय है उसकी साधना की यह कहानी! साधना-मार्ग की तमाम बारीकियों का विस्तृत विवेचन करनेवाला यह काव्य इसीलिए 'महाकाव्य' है।

श्रावक-जीवन के आदर्श

'मूकमाटी' मुख्यतः आध्यात्मिक साधना का मार्ग प्रशस्त करने वाली रचना है। साधु-दीक्षा ग्रहण करने के बाद ही साधना शुरू होती है। अतः 'मूकमाटी' का अधिकांश विवेचन सन्त-साधुओं के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। जैन धर्म के चतुर्विध संघ में श्रावक-श्राविकाओं की संख्या सबसे अधिक है। उनका जीवन भी धर्म के मार्ग पर अग्रसर हो, उनके जीवन में भी धर्म की जागृति हो, उनका आचरण भी शुद्ध-सात्त्विक बने, इसी उद्देश्य से आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' के विवेचन में श्रावक जीवन के बहुमूल्य आदर्श जगह-जगह बताए हैं। एक प्रकार से साधना मार्ग की ही यह पूर्व तैयारी है। जीवन के ये आदर्श श्रावकों एवं श्राविकाओं के लिए भी अत्यन्त उपयुक्त हैं।

'अहिंसा' जैन धर्म का परमश्रेष्ठ, मूलभूत तत्त्व है, जिसकी नींव पर ही जैन धर्म का तत्त्वज्ञान खड़ा हुआ है। अपने को जैन कहलाने वाले हर व्यक्ति का जीवन अहिंसामय ही होना चाहिए। इसलिए इस मौलिक तत्त्व की ओर आचार्यश्री ने पाठकों का ध्यान खींचा है। 'मूकमाटी' की अनेक पंक्तियाँ अहिंसा-धर्म का उद्घोष करती हैं। कूप से पानी निकालने का ही प्रसंग देखिए, जहाँ आचार्यजी ने अहिंसा पालन की ओर सबका ध्यान खींचा है। कूप में बालटी छोड़ते वक्त खूब सावधानी से, धीमी गति से काम लेने की उन्होंने हिदायत दी है। पानी में स्थित असंख्य जीवों की हिंसा न हो, इसकी ओर ध्यान दिलाया है। केवल पानी निकालने का ही प्रसंग नहीं वरन् हमारे सभी व्यवहारों और आचारों में हम सदैव इस बात का स्मरण रखें कि हमारी कृति से किसी जीव को पीड़ा न पहुँचे, जीव की हत्या न हो। कार्य की

असावधानी से जीव-हिंसा की सम्भावना है, जो अजानते क्यों न हो, परन्तु कर्म-बन्ध का कारण बन जाती है। समस्त प्राणी-जगत् के प्रति दया भाव रखना ही सही धर्म है। कहा भी है—'धम्मो दयाविसुद्धो' (पृ. ७०) एवं 'दया धर्म का मूल है' (पृ. ७३)।

किसी भी कार्य का प्रारम्भ 'ओंकार' के, महामन्त्र 'नवकार' के स्मरण से किया जाए। प्रत्यक्ष में शरीर भले ही काम करता हुआ दिखाई दे, परन्तु अप्रत्यक्षतः उसके साथ हमारा मन भी कार्य करता रहता है। अतः ओंकार स्मरण से भाव-शुद्धि होती है जिससे कार्य करते वक्त हिंसा-अहिंसा का ध्यान रखने में हम सहज सावधान हो जाते हैं।

व्यावहारिक जीवन में अनेक प्रकार के व्यवधान आते ही रहते हैं। अनेक बार मनुष्य इन व्यवधानों-व्यत्ययों से गड़बड़ा जाता है। इस हड़बड़ी में मनुष्य का काम करने का हौसला परास्त हो जाता है। कार्य अधूरा रह जाने की भी सम्भावना रहती है। परिणामतः कार्य के पूर्णत्व के समाधान से मनुष्य वंचित रह जाता है। आचार्यश्री ने सूचित किया है—'प्रत्येक व्यवधान का समाधान होकर सामना करना अन्तिम समाधान को पाना है।' कार्य में आने वाले विघ्नों से डरना क्या ? विघ्नों का सामना करने से ही कार्य-सिद्धि सम्भव है।

मानव के पास दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं— एक तन की तथा दूसरी मन की। 'तन की शक्ति कण भर की होती है, मर्यादित होती है, परन्तु मन की शक्ति मन भर की होती है, अमर्यादित होती है,' अतः अपनी मानसिक शक्ति को पहचानना होगा। मानसिक शक्ति के बल पर ही संसार में बड़े-बड़े काम सम्पन्न हुए हैं। मानव के इस मन की छाँव में ही, मन के आश्रय में ही मान बढ़ता है, अहंकार पलता है। इसलिए न-मन होना आवश्यक है, जिससे मनुष्य नम्र बनता है, नमन करता है। नम्र मानव में बदले की—प्रतिशोध की भावना नहीं रहती। प्रतिशोध का भाव दल-दल के समान होता है, जिसमें हाथी भी फँस जाता है। बदले का भाव अग्नि की तरह होता है, जो तन को तो जलाता ही है, परन्तु भव-भव तक चेतन को भी जलाता है। बदले का भाव राहु के समान है, जिसके गाल में चेतन-रूप तेजस्वी सूर्य भी अपना अस्तित्व खो देता है। बदले या प्रतिशोध की भावना मानव को हिंसक बनाती है, अतः मनुष्य को इससे सदैव बचना चाहिए। बदले की भावना मनुष्य की मानसिक शक्ति को दुर्बल बना देती है। संसारी-गृहस्थ-श्रावक को ऐसा कोई विरोधी भाव अपने मन में प्रविष्ट नहीं करना है, जिससे मन की शक्ति घट जाए।

मन के गुलाम बनने से भी मन की शक्ति का ह्रास होता है। मन का गुलाम व्यक्ति तन के भोगों में व्यस्त रहता है। ऐसे व्यक्ति की जो कामवृत्ति है, तामसता और काय-रता है, वही सही मायने में भीतरी कायरता है। यह भीतरी अर्थात् मन की कायरता ही मनुष्य को भोग-लिप्त बना देती है। इसीलिए मनुष्य को अकाय में रत हो जाना चाहिए। यह कठिन अवश्य है परन्तु प्रयत्न-साध्य है। काया की ओर दौड़ने वाले मन को संयम की बागडोर से काबू में लाने का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा भोग-लिप्त काया मन को पूर्णतः दुर्बल बना देगी।

किसी के प्रति जाने-अनजाने भूल हुई हो, अपराध हुआ हो तो मानव को चाहिए वह उसकी क्षमा-याचना करे। कारण, क्षमा वह भाव है जो सामने वाले को सौम्य बना देता है। क्षमा वह पुट है जो क्रोध की अग्नि को शान्त कर देता है, जिससे प्रतिशोध का भाव नष्ट हो जाता है। जैन धर्म में क्षमावली/क्षमावाणी का विशेष महत्त्व है। पर्युषण महापर्व की क्रियाओं में अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ क्रिया 'खम्मामि सव्व-जीवाणं' की होती है। सम्पूर्ण संसार से मैत्री का नाता जोड़ने तथा किसी भी जीव के साथ वैर-भाव न रखने की उच्च क्षमता क्षमा-भाव में निहित है। 'क्षमा' माँगने वाले के अन्तः के सभी कलुष को धो डालती है और जिससे क्षमा माँगी जाती है, उसे भी पूर्णतः अपनत्व के नाते से जोड़ देने की क्षमता रखती है। क्षमा माँगना साधारण कृत्य नहीं है। और दूसरे को क्षमा करना तो मानवता की उत्तुंग वेदी है। श्रावकों में परस्पर प्रेम, सद्भाव, भाईचारा, मित्रता एवं अपनत्व का भाव जगाने वाली 'क्षमा' मानव को जीवन के

परमोच्च शिखर पर पहुँचा देती है। व्यावहारिक जगत् में तो क्षमा-भाव की अनेक बार आवश्यकता पड़ती रहती है। जिसने क्षमा करने और क्षमा माँगने के भाव को अपनाया हो, उसका सामाजिक जीवन भी अत्यन्त सुलभता से व्यतीत होता है।

मनुष्य के सभी अवयवों में जीभ ही एक ऐसा अवयव है जो खाने और बोलने—दोनों क्रियाओं में काम करती है। अतः उस पर काबू पाना, उसको जीतना अत्यन्त आवश्यक है। खाते वक्त जीभ— रसना को संयमित न रखने से खाया हुआ अमृत भी विष बन जाता है, अनारोग्य का कारण बन जाता है। ठीक उसी तरह बोलने में भी साधारण-सी गलती हो जाने पर बना हुआ काम भी बिगड़ जाता है। कई बार मनुष्य आवेश में आकर अंटसंट बोल देता है, परिणामतः वह औरों की नज़र से गिर जाता है। ऐसा व्यक्ति सम्मान का पात्र भी नहीं बन सकता। इसीलिए आचार्यश्री ने अत्यन्त उपयुक्त ऐसी सीख श्रावकों को दी है कि 'जो व्यक्ति जीभ को जीतता है, उसके सारे दुःख दूर हो जाते हैं और उसका जीवन सुखमय बीतता है।"

शरीर भोग्य होने के कारण उसे शासन—नियन्त्रण में ही रखना चाहिए। शरीर को किसी का शासक नहीं होने देना है। शरीर पर पुरुष का ही शासन हो। पुरुष गुणों का पुंज होने से तथा वह संवेदक—भोक्ता होने के कारण उसी की सम्पूर्ण सत्ता शरीर पर होनी चाहिए। शरीर स्वयं कुछ नहीं करता, वह जो कुछ करता है मन के आदेश पर ही करता रहता है। अतः शरीर पर शासन का मतलब है मन पर शासन होना। जिसने मन की, चेतन की पहचान कर ली, वह मन की शक्ति के बल पर शरीर को अपने शासन में रख सकता है। काया का सम्मान करने वाला व्यक्ति भोग के पंक में फँस जाता है। इसीलिए आचार्य-कवि ने कहा है : "चेतन की तुम/पहचान करो···!/···काया का मत/सम्मान करो···!" (पृ. १२८-२९)।

आज संसार में चारों ओर वैमनस्य की आग फैली हुई है। मानव ही मानव के खून का प्यासा बन गया है। ऐसी अमानवीय अवस्था में मानव-जीवन सुख की साँस नहीं ले सकता। मानव-जीवन सुखी-सम्पन्न बने, इसलिए आचार्य-कवि ने अत्यन्त मूल्यवान् सूचना देकर मानव को सजग कर दिया है। वे कहते हैं—'मानव अपने जीवन को रण नहीं बनावे अर्थात् बक-झक में, कलह-क्लेश में वह न पड़े। मानव सदय बनकर, सदाशय दृष्टि से वह संसार पर अमृतमय वृष्टि करे। मानव को केवल 'स्व' का ही अंकन नहीं करना है वरन् 'पर' का भी मूल्यांकन करना है। दूसरों का भी उसे ध्यान रखना है' (पृ. १४९)। मनुष्य जब दूसरों का भी ध्यान रखकर उसका सही मूल्यांकन करने लग जाएगा तब अपने आप 'स्व' का अभिमान गल जाएगा। तब संघर्ष का मूल ही निर्मूल हो जाएगा।

सामाजिक जीवन में करुणा-भाव अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु कहावत है 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। आचार्यश्री ने करुणा का ज़िक्र करते हुए सुन्दर उदाहरण से यही समझाया है कि—'करुणा की अति भी अच्छी नहीं। खाद के बिना फसल नहीं लहलहाती, परन्तु सिर्फ खाद में ही बीज बोए जाएँ तो वे जल जाएँगे। माटी में खाद-पानी अनुपात से डाल कर ऊपर ही ऊपर बीज बिखेर देने पर भी वे अंकुरित नहीं होंगे, जब तक कि माटी का हाथ उन पर नहीं होगा। परन्तु माटी का यह भार भी बीजों पर अधिक पड़ जाए तो बीजों का दम घुट जाएगा' (पृ. १५३-१५४)। करुणा के बारे में भी यही सत्य है। दूर खड़े रहकर करुण भाव का आलाप करना, मात्र प्रदर्शन है। उससे करुणा के पात्र को कोई लाभ नहीं मिलेगा। अति सक्रिय करुणा से करुणा-पात्र दब जाएगा। इसलिए मर्यादित करुणा का प्रयोग ही ठीक रहेगा जो करुणा-पात्र के सम्मान को बनाए रख सकेगा।

पारिवारिक जीवन एवं सामाजिक जीवन में 'सहनशीलता' गुण की नितान्त आवश्यकता है। सहनशीलता के कारण संघर्ष के अनेक बीज सहज ही नष्ट हो जाएँगे। आचार्यश्री ने इस गुण को अपनाने की सीख देते हुए सागर और

धरती के स्वभाव का उदाहरण दिया है। अतिवृष्टि के कारण धरती का वैभव सागर में बह जाता है, इसीलिए सागर 'रत्नाकर' कहलाता है। धरती का वैभव लूट कर ही सागर ने यह सम्बोधन पाया है। दूसरों की सम्पदा लूट कर संग्रह करना मोह-मूर्च्छा है, जिससे नीच नरक-गति प्राप्त होती है। मनुष्य को लूट कर नहीं वरन् परिश्रम करके ही आवश्यक सम्पदा प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस लूट पर धरती कोई प्रतिकार नहीं करती, क्योंकि वह सर्व-सहा है। 'सहनशील होना ही सर्वस्व को पाना है' (पृ. १९०)।

दिल में दया का भाव होना मानवता की पहचान है। दया को धर्म का मूल माना है। एक शायर ने कहा है 'अगर तेरे पास दया नहीं है तो समझ ले तेरे पास दिल ही नहीं है। दिल और दया का अटूट सम्बन्ध है। आचार्यश्री ने सीप और जल के मार्मिक उदाहरण द्वारा दयाभाव की महत्ता स्पष्ट कर दी है। सीप की सहायता से ही जल अपनी जड़ता को छोड़ कर मुक्ता-फल का रूप धारण करता है। जल पतन के गर्त से बचकर उत्तुंग स्थान पर जाता है। जल के इस उद्धार का कारण सीप का दया-भाव ही है। सीप ने दया दिखाकर ही जल-बिन्दु को मोती बनने में सहायता दी। इसी प्रकार मानव-जीवन में किसी प्राणी का उद्धार करना दया-धर्म है। यही मानव-जीवन का महान् कर्म है।

मानव का वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन सुचारु रूप से चलता रहे, इसलिए मानव को अपनी मर्यादा में रहना होगा। सामाजिक सम्बन्धों के जो तौर-तरीके, आचरण-व्यवहार, परस्पर लेन-देन आदि के कुछ नियम होते हैं, उन्हें मर्यादा—लक्ष्मण रेखा कहा जाता है। हर व्यक्ति को इस लक्ष्मण-रेखा के बीच में रहकर ही सामाजिक व्यवहार करने होंगे। आचार्यजी इस विषय में हिदायत देते हुए कहते हैं कि अपनी मर्यादा का—लक्ष्मण रेखा का कभी उल्लंघन न करो : "लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता/राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही !" (पृ. २१७)

आज समाज में धन-संग्रह की होड़-सी लगी है। हम सब धन जुटाने में ही अपनी सारी शक्ति का व्यय कर रहे हैं। यह संग्रह-वृत्ति संग्रहणी रोग की तरह मानवों को सता रही है। अर्थ-लोलुपता के फेर में पड़कर मानव अपनी सारी मर्यादाओं को लाँघता जा रहा है। इसी प्रवृत्ति को देखकर आचार्य-कवि कहते हैं – 'अर्थ-लोलुपता का त्याग करो। कारण, जो अर्थ की चाह में फँसा, वह उसके दाह से दग्ध हो जाएगा। जो अर्थ को ही प्राण और त्राण समझकर उसमें मुग्ध होगा, तब समझना होगा कि उसे अर्थ-नीति का ज्ञान ही नहीं हुआ।' जैन श्रावकों के लिए जिन पाँच अणुव्रतों के पालन का धर्मादेश है उसमें 'अपरिग्रह' का अपना विशेष महत्त्व है। इसीलिए आचार्यजी ने अर्थ-लोलुपता की निन्दा की है।

साधु को आहार देते समय दाता—श्रावक को किस तरह बरताव करना चाहिए, इसकी सीख देते हुए आचार्यश्री लिखते हैं—'साधु को आहार देते समय दाता श्रावक को अत्यन्त सावधानी एवं विवेक से काम लेना चाहिए। आहार ग्रहण करने के लिए पात्र से प्रार्थना करें परन्तु उसका अतिरेक न करें। दासता दिखाएँ परन्तु उदासीनता न दिखाएँ। परिहास रहित मन्द मुस्कान हो, उत्साह-उमंग हो परन्तु उतावली न करें। विनय से काम लें परन्तु उसमें दीनता की गन्ध न हो। मधुर स्वर से पात्र—साधु का स्वागत करें। पात्र के ठहर जाने पर श्रावक अत्यन्त श्रद्धा-भाव पूर्वक परिवार सहित उनकी परिक्रमा कर वन्दना करें' (पृ. ३१९-३२१)। इसी प्रकार के भावों और आचरण से आहार-दान करना श्रावक का कर्म है।

अधिक विस्तार में न पड़कर आचार्यश्री ने जो श्रावक-धर्म बताया है, उसे संक्षेप में कहना ही उचित होगा—

१. दूसरे को अपनाना, उसे अपनत्व प्रदान करना, अपने से भी उसे अधिक समझना यही सभ्यता है। यही प्राणी मात्र का धर्म है।

२. भोग ही रोग का कारण है। नीरोगता के लिए भोग त्याज्य है। आत्म-कल्याण के लिए भी भोग वर्ज्य है।

३. सूर्यास्त का समय योग का होता है, क्योंकि उस समय सुषुम्ना नाड़ी का उदय होता है। योग के समय भोग करना शोक का कारण है।

४. एकाग्र मन से मन्त्र का प्रयोग करने से हाथोंहाथ फल भी सामने आता है।

५. 'पर' से 'स्व' की तुलना करना पराभव का कारण है, दीनता का प्रतीक है। जीवन में सन्तोष प्राप्ति के लिए अहंकार को छोड़ना होगा। अहंकार तभी छूटता है जब 'पर' और 'स्व' में स्पर्धा नहीं होगी। कुम्भ पर अंकित शब्द—'मैं दो गला' द्वारा आचार्यश्री 'मैं' यानी अहंकार को 'दो गला'—समाप्त कर देने की सीख देते हैं।

६. गुरुजनों को प्रवचन सुनाना दुःखदायक है, महा अज्ञान है। छोटों को चाहिए कि वे गुरुजनों से गुण-ग्रहण करें, वही शिव-पथ है। यदि प्रसंग पड़े तो लघुजनों को गुरुजन से मिष्ट वचन युत प्रवचन सुनना, जो दुःख-दाह को मिटाता है।

७. स्वप्न पर विश्वास रखना हानिकारक है, क्योंकि वे प्रायः निष्फल होते हैं। स्वप्न स्वयं निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकते तो वे औरों को क्या सहयोग देंगे। स्वप्न-दशा में जागृति के सूत्र छूट जाते हैं जिससे आत्म-साक्षात्कार सम्भव नहीं होता।

८. निर्बलजनों को सताने से नहीं, बल-सम्बल देकर बचाने से ही बलवानों का बल सार्थक होता है।

९. किसी व्यक्ति की पहचान उसके शरीर से नहीं होती। उसके हृदय को छूकर ही उसकी मृदुता-कठोरता का पता लग सकता है। (सामाजिक जीवन में यह एक अत्यन्त उपयुक्त सीख है।)

१०. भगवान् की पूजा के समय पूर्ण भक्ति-भाव होना चाहिए। किसी सांसारिक प्रलोभन की इच्छा नहीं होनी चाहिए। इच्छा केवल एक मात्र हो—'बन्ध से मुक्ति'।

११. मन्त्र न ही अच्छा होता है, न ही बुरा। अच्छा-बुरा अपना मन होता है। स्थिर मन ही महा-मन्त्र है, अस्थिर मन पाप-तन्त्र है। स्थिर मन ही सुख की सीढ़ी है और अस्थिर मन दुःख की।

१२. पुत्र को जन्म देकर उसे दुनिया के सामने प्रस्तुत करने मात्र से माता का सतीत्व सार्थक नहीं होता। पुत्र की सुषुप्त शक्ति को सत्-संस्कारों से सचेत और सशक्त—साकार करना ही उसका कर्तव्य होता है।

कहाँ तक गिनें इन रत्नों को! जीवन को सुखी-सम्पन्न बनाने वाले ऐसे असंख्य पद इस रचना में भरे पड़े हैं। सूक्तियों और सूचनाओं का यह 'रत्नाकर' है जिसके अवगाहन से मानव-जीवन प्रसन्न हो जाएगा। आचार्यश्री की सामाजिक दृष्टि कितनी पैनी है, इसका अंदाज़ इनसे लगाया जा सकता है। ऐसे महासागर को इसीलिए तो 'महाकाव्य' कहने में कोई आशंका नहीं होनी चाहिए।

सामाजिक स्थिति का वास्तववादी चित्रण

'मूकमाटी' महाकाव्य में आचार्यश्री ने वर्तमान सामाजिक स्थिति का भी वास्तववादी यथार्थ चित्र खींचा है। समाज की गतिविधियों पर मार्मिक टीका-टिप्पणी कर उसके सही रूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अगणित मानकों से भरा हुआ यह समाज कितना मानवताहीन बन गया है, इसका हू-बहू चित्र यहाँ देखने को मिलता है। ऊपर से आधुनिकता का बाना पहना हुआ यह समाज अन्दर से कितना खोखला-पोला है, बुद्धिवाद का नारा लगाते हुए बुद्धि के बल पर चलने वाला यह कितना भाव-शून्य एवं हृदय-हीन बना हुआ है, इसका सही-सही चित्र यहाँ खींचा है। वर्तमान आतंकवाद के क्रूर-पाशवी कारनामों का भी यहाँ दर्शन होता है। समाज की अधोगति पर आचार्यजी ने करारा आघात करते हुए उसके स्वस्थ-प्रगत-उन्नत स्वरूप के निर्माण के कुछ उपाय भी बताए हैं। इस रचना का यह तीसरा विषय भी

अत्यन्त चिन्तनशील है। देखिए इस चित्र के कतिपय रंग :

"अन्त समय में/अपनी ही जाति काम आती है/शेष सब दर्शक रहते हैं
दार्शनिक बनकर !/और/विजाति का क्या विश्वास/आज श्वास-श्वास पर
विश्वास का श्वास घुटता-सा/देखा जा रहा है··· प्रत्यक्ष !"(पृ. ७२)

आचार्यश्री के इस कथन में कितनी सच्चाई है, इसका अनुभव हम प्रत्यक्ष कर ही रहे हैं। जातीयता को नष्ट करने के नारे काफ़ी लगाए जाते हैं, परन्तु वह नष्ट होने के बजाय दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। जाति-जाति में परस्पर सौहार्दता की भावना कहीं दिखाई नहीं देती। विजाति का कोई भरोसा नहीं रहा। जहाँ-तहाँ अविश्वास ही भरा हुआ है। विश्वास का दम घुटता जा रहा है। ऐसी हालत में अन्त समय में जाति के लोग ही सहायता के लिए दौड़े आएँगे न कि विजाति के, यह कटु सत्य है।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' के ढोल भी खूब पीटे जा रहे हैं। 'हम सब भाई-भाई हैं' से वातावरण गूँज उठा है, परन्तु प्रत्यक्ष में स्थिति विपरीत है। यहाँ 'एक कुटुम्ब – एक परिवार' की ऐक्य-भावना ही नष्ट हो गयी है। आज स्वार्थ का बोलबाला है। यहाँ भाई ही भाई का दुश्मन बनकर उसे समाप्त करने पर उतारू हो गया है। कविजी लिखते हैं :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है/वसु यानी धन-द्रव्य
धा यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का ।" (पृ. ८२)

धन को ही जीवन में प्राधान्य देने से मानव अपनी मानवता को ही भूल गया है। धन-लिप्सा के कारण 'मानवता से दानवत्ता चली गई है।' यह प्रश्न आचार्यश्री को पूछना पड़ा है। वे लिखते हैं :

"क्या इस समय मानवता/पूर्णतः मरी है ?/क्या यहाँ पर दानवता
आ उभरी है···?/लग रहा है कि/मानवता से दानवत्ता
कहीं चली गयी है ?/···'वसुधैव कुटुम्बकम्'/इस व्यक्तित्व का दर्शन–
स्वाद-महसूस/इन आँखों को/सुलभ नहीं रहा अब···!" (पृ. ८१-८२)

उपर्युक्त पंक्तियों में हम देख सकते हैं कि धन-लोलुपता ने मानव को दानव बनाया है। उसकी दान-वृत्ति ही नष्ट हो गयी है। एकात्मता की भावना के दर्शन कहीं नहीं होते। इस उद्गार के पीछे आचार्यश्री की आन्तरिक छटपटाहट की पीड़ा के दर्शन होते हैं।

आज का विश्व शिक्षित है, शास्त्र को पढ़ता है, देखता है। ईश्वर पर विश्वास भी रखता है। परन्तु ईश्वर का जो असर इस पर होता है वह सिर्फ 'सर' (मस्तिष्क) तक ही होता है, अन्तः (हृदय) में नहीं उतरता। इसी कारण आज का विश्व बुद्धिवादी बन गया है जो सिर्फ बुद्धि की सोचता है, हृदय की नहीं; दिमाग़ की सोचता है, दिल की नहीं। परिणामतः दया, करुणा, प्रेम, आत्मीयता आदि गुण नष्ट होते जा रहे हैं और उनके स्थान पर स्वार्थ, लिप्सा, मोह, आसक्ति आदि दुर्गुण आ बैठे हैं।

आज का मानव चरण के नहीं, सर (बुद्धि) के बल पर दौड़ता है। आज भी भगवान् आदिनाथजी (ऋषभदेवजी) द्वारा प्रदर्शित पथ का अभाव नहीं है। आज का मानव उस पथ की चर्चा भी खूब करता है, उसके बखान करता है,

उसके गीत भी गाता है, परन्तु उस पथ पर वह खुद चलता नहीं है। आज का मनुष्य धर्म-तत्त्वों की चर्चा खूब करता है, उनकी उपादेयता भी सिद्ध करता है, परन्तु उन्हें अपने जीवन में नहीं उतारता, उन पर अमल नहीं करता। आज उस पथ को दिखाने वालों को पथ ही नहीं दिख रहा है। कारण, पथ-प्रदर्शक खुद उस पर नहीं चलते, वे सिर्फ दूसरों को उस पर चलाना चाहते हैं। धार्मिक विषयों पर व्याख्यान करने वाले निष्क्रिय वक्ताओं के सही स्वरूप का यह है पर्दा-फाश। कितना सही चित्र है यह (पृ. १५१-१५२)।

६३ और ३६ की संख्याओं को लेकर आचार्यश्री ने सामाजिक उद्बोधन के साथ ३६३ संख्या का गम्भीर अर्थ प्रस्तुत कर अपनी आन्तरिक व्यथा उद्घाटित की है। ३६ का अंक पारस्परिक कलह-संघर्ष को व्यक्त करता है। इसके आगे एक और तीन जुड़ जाने पर ३६३ मतों का उद्भव होता है, जिससे समाज में परस्पर विद्रोह छिड़ जाता है। लोग एक-दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं। आचार्यश्री की आन्तरिक व्यथा-वेदना यही है कि ऐसे विद्रोहियों की संख्या आज के समाज में बढ़ गयी है। समाज में पारस्परिक संगठन नहीं, अपनत्व-आत्मीयता नहीं, भाई-चारा नहीं – यही है आज के समाज का विदारक चित्र। इस स्थिति को देखकर कवि-हृदय छटपटा उठा है और प्रश्न पूछता है :

"अब शिष्टता कहाँ है वह ?/अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र।" (पृ. २१२)

'ही' और 'भी' इन दो बीजाक्षरों को लेकर आचार्यश्री ने आज के समाज की पोल खोल दी है। वे कहते हैं– ' 'ही' पश्चिमी सभ्यता है,'भी' भारतीय संस्कृति-भाग्यविधाता है। 'ही' रावण है, 'भी' राम है। 'ही' के आसपास भीड़ भले जमा हो, परन्तु 'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है। 'भी' से मानव की स्वच्छन्दता, मदान्धता मिटती है। सद्विचार और सदाचार के बीज 'भी' में होते हैं, 'ही' में नहीं।' कथन के अन्त में कविजी प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि 'जगत् में 'ही' मिट जाए और 'भी' की प्रतिष्ठा हो'(पृ. १७२-१७३)। 'ही' और 'भी' हमारी भाषा के ये दो शब्द हैं जिनका प्रयोग हम बोलचाल में करते रहते हैं। 'ही' शब्द में स्वार्थ, घमण्ड, अक्खड़ आदि सब दुर्गुण भरे हैं और 'भी' में अपनत्व, मेलजोल आदि गुण हैं। 'मैं ही हूँ' इस कथन में केवल अपने ही होने का अहंकार है और 'मैं भी हूँ' इस कथन में सब के साथ होने का प्यार-भरा भाव निहित है। आज के विश्व में 'ही' की प्रधानता है, 'भी' दब-सा गया है। अतएव मनुष्य 'ही' का प्रयोग करना छोड़ दे अर्थात् अपने स्वार्थ, अहंकार को छोड़ दे और 'भी' का प्रयोग करे, सबके साथ मिलजुल कर रहने का संकल्प करे। समाज में परस्पर प्रेम, मेलजोल हो–यही आचार्यश्री की भावना है। वे कहते हैं :

" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।" (पृ. १७२)

जैन धर्म के अनेकान्तवाद-स्याद्वाद को अत्यन्त समर्थ उदाहरण से समझा दिया है। आज विश्व को 'ही' का नहीं, 'भी' का प्रयोग करना है।

आज के विश्व में वैषयिकता अधिक बढ़ गयी है। यह कलि-काल का प्रभाव है। वैषयिकता की तृप्ति के लिए संसार ने वैश्यवृत्ति स्वीकार कर ली है। धन को जुटाना और भोग को भोगना ही विश्व ने सीखा है। परन्तु यह वैश्यवृत्ति नहीं है, वेश्यावृत्ति है यह तो। आचार्यश्री लिखते हैं :

"कलि-काल की वैषयिक छाँव में/प्रायः यही सीखा है इस विश्व ने
वैश्यवृत्ति के परिवेश में/वेश्यावृत्ति की वैयावृत्य···!" (पृ. २१७)

आज की राजनीति में न्याय नहीं रहा है। धन-लोलुप न्याय-दाता भी भ्रष्टाचारी हो गए हैं। धनवान् लोग धन के बल पर अपराधी होकर भी छूट जाते हैं और साधारण-जन पिटे जाते हैं, जो वास्तव में निरपराध होते हैं। न्याय-दान की भ्रष्ट नीति के सिलसिले में आचार्यश्री लिखते हैं :

"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,
और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)

आज न्याय के क्षेत्र में भी मनमानी हो गयी। गणतन्त्र व्यवस्था नाम-मात्र की रह गयी है। कितनी खरी-खरी बात कही है कवि ने !

आज आतंकवादियों के झूठे-नृशंस कारनामे हम अखबार में रोज़ पढ़ते हैं। यह आतंकवाद कहाँ से आया ? क्यों आया है ? अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में आचार्यश्री ने आतंकवाद का सही स्वरूप स्पष्ट किया है :

"मान को टीस पहुँचने से ही/आतंकवाद का अवतार होता है।
अति-पोषण या अति-शोषण का भी/यही परिणाम होता है।" (पृ. ४१८)

'आतंकवाद मानव को पागल बना देता है। तब उसमें शोध की नहीं, प्रतिशोध की भावना बलवती होती है, जो दूसरों के लिए ही नहीं अपने लिए भी घातक होती है। बदले की भावना से भरपूर भरा व्यक्ति अपना स्वतन्त्र दल खड़ा कर आक्रमण की तैयारी करता है। आतंकवादियों में भी असन्तुष्ट दल पैदा होता है जो आक्रमण को अन्याय-असभ्यता कहकर विरोध करता है। यह दल मानने लगता है कि यह तो न्याय की वेदी पर अन्याय का ताण्डव है। यह दल आक्रमणकारियों को समझदारी की बातें सुनाने लगता है, परन्तु अहंकारियों के गले से समझदारी की बातें नहीं उतरतीं, प्रत्युत उनका क्रोध, क्षोभ रावण की तरह अति क्रुद्ध हो जाता है। उबलते तेल के कढाव में शीतल जल की चार-पाँच बूँदों का भला क्या असर होगा !' अत्यन्त नपे-तुले शब्दों में आचार्यश्री ने आतंकवाद का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। धन एवं सत्ता के पिपासुओं ने ही आतंकवाद को जन्म दिया है। कहीं इन आततायियों को धन देकर उकसाया गया तो कहीं गरीबों का अत्यन्त शोषण कर उन्हें आतंकवादी बनाया गया।

अपराधी को प्राण-दण्ड देना चाहिए या नहीं, इस विषय पर वैचारिकों में मत-मतान्तर चलते ही रहते हैं। विश्व भर के देशों में इस पर काफ़ी बहस होती रही है। कहीं प्राण-दण्ड को नृशंस-कृत्य माना गया है तो कहीं साधारण से गुनाह के लिए अपराधी को प्राण-दण्ड दिया जाता है। आचार्यश्री ने इस विषय को लेकर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है—'प्राण-दण्ड से औरों को तो शिक्षा मिलती है, परन्तु जिसको दण्ड दिया जाता है उसे उन्नति का अवसर ही नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि क्रूर अपराधी को क्रूरता से दण्डित करना भी एक अपराध है, न्याय-मार्ग से च्युत होना है।' कठिन विषय पर भी संक्षिप्त शब्दों में अपने असरकारी-मार्मिक विचार प्रस्तुत करने की आचार्यश्री की शैली बेजोड़ है।

पद-दलितों के उद्धार की बातें आज देश में चल रही हैं। उद्धार के नाम पर अनेक योजनाएँ भी कार्यान्वित की गयी हैं। नीच को उच्च बनाने के अनेक उपाय सुझाए जा रहे हैं। फिर भी स्थिति में विशेष सुधार नज़र नहीं आता। इस पर कारगर उपाय सुझाते हुए आचार्यश्री लिखते हैं—'केवल शारीरिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक सहयोग देने से नीच उच्च नहीं बन सकता। उसके लिए सात्त्विक संस्कार का होना आवश्यक है।' आज दुःख इसी बात का है कि नीच तो क्या उच्च को भी सात्त्विक संस्कारों से संस्कारित नहीं किया जाता। अखबारों में आए दिन जो खबरें हम पढ़ते हैं उससे

साबित होता है कि आज समाज में 'संस्कृति' नामक चीज़ ही नहीं रही है।

भारतीय संस्कृति में पाणिग्रहण संस्कार को धार्मिक संस्कृति का संरक्षक एवं उन्नायक माना है, परन्तु लोभी-पापी मानव इस पवित्र संस्कार को प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं। दहेज तथा अन्य कारणों के बहाने आज समाज में अनेक बहुओं को मौत के घाट उतारा जा रहा है। कहीं उन्हें जिन्दा जलाया जाता है और कहीं कुएँ में ढकेल दिया जाता है। विवाह संस्कार इन बहुओं के लिए संरक्षक नहीं वरन् भक्षक बन गया है। अनेक जन्मों का यह पावन सम्बन्ध अब लेन-देन का व्यावसायिक रूप ग्रहण करता जा रहा है। समाज की इस विदारक स्थिति से कवि को खेद होता है।

अपने को मनु की सन्तान समझनेवाला महामना मानव, मानव के ही साथ क्रूर बरताव कर रहा है। सेवकों से कसकर काम लिया जाता है परन्तु उन्हें उचित वेतन भी नहीं दिया जाता। पैसे देने का नाम सुनते ही इनके हाथों में पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं और जो कुछ भी देते हैं वह दुर्भावना के साथ देते हैं, जो पाने वाले को पचता नहीं। इस निन्द्य व्यवहार को देखकर आचार्यजी कहते हैं—'सूखा प्रलोभन मत दो। स्वार्थित जीवन जियो। कपटता-विश्वासघात को तिलांजली दो। शालीनता से बरताव करो। उदार अन्तःकरण से दूसरों का दुःख हरण करो।'

आज समाज में धर्म का क्षेत्र भी पवित्र-पावन-शुद्ध नहीं रहा है। धर्म के नाम पर अनेक लड़ाइयों के वर्णन से इतिहास भरा पड़ा है। अलग-अलग धर्म तो परस्पर लड़ते ही हैं, परन्तु एक ही भगवान् की जय-जयकार करने वाले धर्म भी आपसी फूट एवं साम्प्रदायिकता के कारण आपस में लड़ रहे हैं। 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' यह केवल कवि-उक्ति ही रह गई है। आचार्यश्री ने इस विषय पर दो ही पंक्तियों में विचार प्रकट करते हुए लिखा है :

"धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर !" (पृ. ७३)

इस प्रकार आचार्यश्री ने इस रचना में समाज के विविध अंगों पर अपने विचार अत्यन्त प्रखरता से प्रस्तुत किए हैं। समाज का सर्वांगीण निरीक्षण कर, दोषों को निकाल फेंकने और समाज उन्नत बने, इस भावना से उन्होंने समाज को सचेत-जागृत किया है। यहाँ तो केवल कुछ ही विषयों की चर्चा की है, परन्तु 'मूकमाटी' में आचार्यजी ने अनेक विषयों पर लिखा है। समूचे समाज का अन्तः एवं बाह्य विशाल चित्र प्रस्तुत किया है। इसीलिए तो इस रचना को 'महाकाव्य' कहने में कोई एतराज नहीं होना चाहिए।

'मूकमाटी' की शैलीगत विशेषताएँ

पात्र

इस रचना में शिल्पी (कुम्भकार) और सेठजी ये ही दो मानव पात्र हैं, बाकी सभी पात्र मूक वस्तुएँ मात्र हैं। निर्जीव पात्रों की संख्या भी काफ़ी है। कवि ने वस्तुओं की उपयोगिताओं के अनुरूप ही उनके स्वभाव की कल्पना कर उन्हें सजीव-सा बना दिया है। मूक वस्तुओं की काया में प्रवेश कर उनकी वेदना, क्षोभ, आनन्द आदि भावों को स्वर दिया है, जिससे उनकी निर्जीवता तिरोहित होकर वे जीवन्त पात्र बन गए हैं। इन निर्जीव पात्रों के वार्तालाप के माध्यम से आचार्यजी ने मानवीय स्वभाव, गुण-दोष, प्रवृत्तियों आदि का विश्लेषण किया है। इन्हीं पात्रों के माध्यम से जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है। पर-काया प्रवेश अत्यन्त दुस्तर कर्म है जो प्रतिभासम्पन्न कवि ही कर सकता है, जिसकी निरीक्षण-शक्ति अत्यन्त गम्भीर होती है।

वार्तालाप

नाटकीय ढंग का वार्तालाप इस रचना की सबसे श्रेष्ठ विशेषता है। वार्तालाप अत्यन्त चुटीला, मार्मिक एवं

हृदयग्राही बन पड़ा है। अपने विचारों एवं भावों की अधिकांश अभिव्यक्ति कविजी ने पात्रों के परस्पर वार्तालाप द्वारा ही की है। 'आध्यात्मिक साधना-मार्ग' जैसा कठिन विषय भी पात्रों की चटपटी वाक्चातुरी के कारण मनोरंजक के साथ ही हृदयस्पर्शी भी हो गया है। वार्तालाप इतना प्रभावी और प्रवाही बना है कि पाठक उसके बहाव में बहता ही जाता है। अध्यात्म, जीवन-दर्शन जैसा गम्भीर विषय भी रोचक एवं तलस्पर्शी हो गया है। आचार्यजी ने कहीं भी दार्शनिक की पीठिका पर आरूढ़ हो कर उपदेशात्मकता का सहारा नहीं लिया है, जिससे सम्पूर्ण रचना में एक भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ पाठक ऊब जाएँ। किसी रचना को पढ़ते समय, 'आगे क्या है' – यह जान लेने की तीव्र उत्सुकता पाठकों में बराबर बनी रहे, यह उस रचना की सफलता का द्योतक है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में पाठकों को प्रारम्भ से अन्त तक खींच लेने की क्षमता शत-प्रतिशत सिद्ध हुई है और इसका अधिकांश श्रेय वार्तालाप-संवाद को ही है। वार्तालाप के कारण ही सम्पूर्ण रचना का कथ्य मानों प्रत्यक्ष रंगमंच पर खेला जा रहा है, जिसे पाठक सिर्फ़ पढ़ता ही नहीं वरन् आँखों से देखता भी है।

भाषा-शैली

'मूकमाटी' महाकाव्य में ग़ज़ब की शब्द-चमत्कृति है। चमत्कार का कमाल हो गया है। शब्दों का सर्वसामान्य कोशगत-अर्थ तो है ही, परन्तु उसके अन्दर छिपे हुए नए-नए अर्थों को उद्घाटित कर आचार्य-कविजी ने उन्हें व्याकरण-सम्मत मान्यता भी प्राप्त करा दी है। सर्वसाधारण बोलचाल की भाषा के शब्दों को नए भावों से सार्थ बना कर उनसे पारमार्थिक भाव व्यंजित किए हैं। शब्दों के भावों को नवीन उद्भावनाओं के साथ प्रस्तुत करके चमत्कृति के साथ ही साथ उनमें से मार्मिक एवं तर्क-संगत अर्थ निकाला है। आचार्यश्री का शब्द-संग्रह मानों अपने ढंग का एक नया ही शब्दकोश है जिससे नवीन अर्थों की उद्भावना हुई है। शब्दों की रचना में 'लय' का प्राधान्य होने से मुक्त छन्दात्मक रचना भी 'गेय'-सी हो गई है। पाठक 'लय' की इसी धुन से मुग्ध होकर लगातार पढ़ता ही जाता है। अनेक स्थल तो ऐसे बन पड़े हैं कि उन्हें बार-बार दुहराने पर पाठक मजबूर हो जाता है। अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए आचार्यश्री को कहीं भी शब्द-योजना का विचार नहीं करना पड़ा है वरन् शब्द ही मानों हाथ जोड़ कर सधे हुए सैनिक की तरह चुपचाप उनके भावों का अनुसरण करते रहे हैं। शब्दों के पीछे भाव नहीं, भावों के पीछे शब्द दौड़ते हुए आते हैं और अपनी जगह ले लेते हैं। लोक-जीवन के असंख्य मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों की इतनी भरमार है कि यह रचना मानों मुहावरा-कोश या सूक्ति-सागर बन गया है। भाषा पर इतना ज़बरदस्त प्रभाव और भाषा-शैली का ऐसा अनोखा ठाठ अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है।

नारी के प्रति दृष्टिकोण

आचार्यश्री ने एक ओर 'स्त्री के चुंगल में फँसे दुस्सह दुःख से कभी दूर नहीं होते' लिख कर साधना -क्षेत्र में नारी को बाधक मान कर भी दूसरी ओर उसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्त्री के लिए नारी, अबला, महिला, दुहिता आदि अनेक शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं। कविजी ने इन शब्दों के नवीन भावार्थ देकर स्त्री समाज की उदारता, सहन-शीलता, कर्तव्यपरायणता, सहिष्णुता, शालीनता आदि गुणों का बखान कर उसे यथोचित सम्मान का स्थान प्रदान किया है। पुरुष की प्रकृति (नारी) के साथ प्रेमपूर्ण बरताव करने की सीख भी दी है।

अनूठी कल्पनाएँ

काव्य में भाव तत्त्व और विचार तत्त्व के साथ ही साथ कल्पना तत्त्व की भी प्रधानता होती है। इसे ही कवि का कल्पना-विलास कहते हैं। कल्पना तत्त्व के द्वारा ही कवि का चिन्तन, मनन, निरीक्षण आदि कितना सूक्ष्म और गहन-गम्भीर है, इसका पता चल जाता है। कल्पना शक्ति के बल पर ही कवि अनेक कल्पना-विश्वों का निर्माण

करता है, जो उसके भाव विश्व की अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। इसीलिए तो कहा जाता है : 'जो न देखे रवि, वह देखे कवि'। 'मूकमाटी' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आचार्य-कवि का कल्पना-जगत् कितना विशाल, गहरा और उत्तुंग है। कल्पना-विलास के कुछ दृश्य देखिए :

१. अतिवृष्टि से धरती की सम्पदा सागर में बह जाती है। इसलिए सागर 'रत्नाकर' हो गया है और धरती 'धरा' ही रह गई। दूसरों की सम्पदा लूटना बुद्धिहीनता है, इसलिए तो 'जलधि' 'जड़-धी' अर्थात् बुद्धिहीन हो गया है।

२. सूर्य की प्रखरता से सागर का जल सूख जाता है। यह सूर्य की न्यायपरकता है। सूखा जल जलद (बादल) के रूप में सूर्य की ओर जाता है, मानो उसे घूस देता है।

३. वर्षा के कारण वसुधा की 'सुधा' सागर में एकत्रित होकर जलद के द्वारा चन्द्रमा की ओर प्रेषित होती है, इसीलिए वह 'सुधाकर' हो गया है। बेचारे सागर को सिर्फ क्षार ही मिलता है। चन्द्रमा को इस बात की लज्जा आती है, तभी तो वह कलंकित हो गया और दिन में नहीं, रात्रि में लुक-छिप कर आता है। उसे देख कर सागर क्षुब्ध होकर उमड़ पड़ता है।

प्रकृति में निरन्तर चलनेवाली इस स्वाभाविक क्रिया का कितना अनूठा अर्थ निकाला है। इस अनूठे अर्थ द्वारा आचार्यश्री ने मानवीय जीवन की वास्तविकता को उद्घाटित किया है :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं
अर्थ की लिप्सा ने/बड़ों-बड़ों को निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

४. सीप यह धरती का ही अंश है। धरती माँ इस अंश को प्रशिक्षित कर सागर में भेज देती है। यही सीप जल को मुक्ता-फल के रूप में परिवर्तित कर मानों उसे नया वैभव सम्पन्न जीवन देती है। पतन के गर्त से उठाकर जल को गौरवपूर्ण उत्तुंग स्थान पर बिठा देती है।

निसर्ग की इस स्वाभाविक क्रिया को आचार्यश्री ने 'सही दया धर्म' और 'जीवन का कर्म' कहा है। साथ ही मानव को 'दया धर्म का मूल है' इस कर्तव्य का भान कराया है।

५. सागर के जल पर अनेक शुक्तियाँ—सीपें जल कणों की प्रतीक्षा में तैरती रहती हैं। जैसे ही उनमें दो-एक बूँदें गिरती हैं, वे बन्द हो जाती हैं। कालान्तर में उनमें मोती तैयार होते हैं। सागर उन शुक्तियों को बन्द होते ही अपने अन्दर डुबा देता है, अन्दर ही छुपा देता है और उनकी रक्षा के लिए सर्पों, मगरमच्छों और विषधर-अजगरों की बड़ी फ़ौज नियुक्त कर देता है। धरती के इस उपकार के बदले में कृतघ्न सागर का जल, जल उठता है, जो बादल के रूप में अतिवृष्टि कर धरती पर दल-दल पैदा कर देता है। धनवान् बना सागर स्वार्थसिद्धि एवं प्रसिद्धि के लिए कितना अनर्थ ढाता है। आचार्यजी यहाँ धन लिप्सा की वृत्ति को धिक्कार करते हैं।

६. कुम्भ खरीदते वक्त उसे कंकर से बजा-बजा कर परखने की एक स्वाभाविक पद्धति है। आचार्यजी इस क्रिया से भी अनोखा अर्थ निकालते हैं। वे कहते हैं कि कुम्भ से 'सा···रे···ग···म···प···ध···नि'—ये सात स्वर निकलते हैं। इन स्वरों का अनूठी कल्पना द्वारा अर्थ भी वे लगाते हैं :

"सा···रे···ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख/प···ध यानी !
पद — स्वभाव/और/नि यानी नहीं,

दुःख आत्मा का स्वभाव—धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह।" (पृ. ३०५)

७. रास्ते से चलते समय इधर-उधर दृष्टि दौड़ाते चलना फूहड़पन है। संयत साधु विनीत दृष्टि से चलते हैं। साधुओं के विनीत दृष्टि होकर चलने पर भी आचार्यजी ने अनूठी कल्पना की है कि जब आँखें आती हैं तो दुःख देती हैं, अब आँखें जाती हैं तो दुःख देती हैं, जब आँखें लगती हैं तो दुःख देती हैं। ये आँखें दुःख की खान हैं, सुख की नाशक हैं, अतः साधुजन इन पर विश्वास नहीं करते और नीचे झुककर चलते हैं।

'मूकमाटी' का महाकाव्यत्व

चार सौ अठासी पृष्ठों के प्रदीर्घ विस्तार में फैला हुआ महाकाव्य होने से 'मूकमाटी' को महाकाव्य कहा जा सकता है, परन्तु केवल विशाल काया ही इसके महाकाव्य होने की कसौटी नहीं है। 'मूकमाटी' में काव्यशास्त्र प्रणीत भाव, विचार, कल्पना एवं शैली – इन तत्त्वों का आत्यन्तिक विस्तार एवं ऊँचाई होने से भी यह महाकाव्य की कोटि में आ जाता है।

'मूकमाटी' आध्यात्मिक विचारों एवं अनूठी कल्पनाओं का महानगर है। मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से साधना के पथ पर चलनेवाले मुमुक्षु के जीवन का अथ से इति तक का सम्पूर्ण लेखा-जोखा इसमें है। साधना मार्ग को प्रकाशित करने वाला यह 'दीप-स्तम्भ' है। जैन धर्म के सभी आगमों का सार इसमें समाया हुआ है।

'मूकमाटी' का शैली तत्त्व भी अत्यन्त मनोहारी, मार्मिक एवं मनोरंजक है। रोचकता, मार्मिकता, गतिशीलता, नाट्यमयता आदि गुण-रत्नों से भरा यह 'रत्नाकर' है। पाठक के मन को प्रसन्न, प्रफुल्लित एवं आनन्दमय सूक्तियों का यह 'सुधाकर' है।

गृहस्थाश्रमी के जीवन को प्रभावित कर उन्हें मानवता के मार्ग पर चलने की हृदयस्पर्शी चेतना देनेवाली सूक्तियों का यह 'भण्डार' है। उन्हें आदर्श आचरण की पद्धति सिखानेवाला यह 'जीवन दर्शन' है।

'मूकमाटी' को काव्यशास्त्र के परम्परागत नियमों एवं लक्षणों के चौखटे में ही देखने के आग्रही भले ही इसके महाकाव्य शब्द को देख कर नाक-भौं सिकोड़ते रहें, परन्तु इसमें कोई शंका नहीं कि 'मूकमाटी' भव्य शान लिए अपने ढंग का और अपने अलग ठाठ का 'महाकाव्य' है। □

'मूकमाटी' : हिन्दी कविता की अभिनव विधा की परिचायक रचना

डॉ. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

मुनिवर विद्यासागरजी की कृति 'मूकमाटी' मैंने देखी। मुनिजी ने नवीन शैली का हिन्दी में चमत्कारी आविष्कार किया है जो यमक-बहुल है। इसमें हिन्दी कविता की अभिनव विधा का परिचय मिलता है। इस धारा में अभी कार्य की अपेक्षा है, अतः श्रावकों पर यह कर्तव्य-भार आता है कि वे इस को रचना द्वारा आगे बढ़ाएँ। मैं मुनिवर के प्रति नमन करता हुआ प्रशस्ति से विरत होता हूँ और आशा करता हूँ कि ऐसी रचनाएँ दे कर वे बुद्धिजीवी जनों का कल्याण करते रहेंगे। □

हिन्दी का महनीय भाषाकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

जैन श्रमणाचार्यों द्वारा काव्यरचना किए जाने की परिपाटी का अपना उल्लेखनीय वैशिष्ट्य रहा है। इस दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की काव्य-परम्परा ने स्वतन्त्र मूल्य आयत्त किया है। ब्राह्मणों के संस्कृत काव्यों का श्रमणों के प्राकृत-अपभ्रंश काव्यों के परिवेश में समानान्तर अध्ययन तो बहुत कम ही हुआ है। पुनः परवर्ती काल में हिन्दी की एक प्रमुख उपभाषा राजस्थानी में जैनकाव्यों की रचना परम्परा की अपनी निजता, विविधता और विपुलता रही है। खड़ी बोली हिन्दी में यह परम्परा इधर आकर प्रायोविरमित-सी हो गई थी। किन्तु, अतिशय आह्लाद का विषय है कि महाश्रमण आचार्य विद्यासागरजी ने जैन महाकाव्य 'मूकमाटी' की रचना द्वारा खड़ी बोली हिन्दी के महाकाव्य की रचना-परम्परा की समृद्धि में सर्वथा नवीन निक्षेप किया है। दूसरे शब्दों में कहें, तो यह महाकाव्य हिन्दी के काव्य साहित्य की अपूर्व उपलब्धि है तथा भारतीय साहित्य वाङ्मय के लिए तो यह एक अभिनव और अद्वितीय सारस्वत उपायन है।

जैनाचार्यों की प्राचीन काव्यकथाएँ प्रायः कामकथा से धर्मकथा या शृंगार से शान्त की ओर प्रस्थान करके पूर्णविराम लेती हैं। किन्तु, आचार्यश्री के इस महाकाव्य की कथा कुछ और ही है। यह एक शास्त्रदीक्षित आचार्य कवि का मनन और मीमांसा की मार्मिकता एवं काव्यरूपक की सुधा-स्निग्ध सुरभि से ओतप्रोत अनेकान्तवादी शास्त्रीय प्रबन्धकाव्य है। इस महाकाव्य के मनीषी प्रस्तवन-लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने ठीक ही कहा है कि 'मूकमाटी' केवल कविकर्म नहीं है, अपितु यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है।

आचार्यश्री का यह संगीत भी संगातीत है। उन्होंने स्वयं लिखा है :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है
और/प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है।" (पृ. १४४-१४५)

इसलिए, जो पाठक नितान्त अंगसंगी काव्य पढ़ने के आदी हैं, उन्हें यह महाकाव्य रसवश तो नहीं कर सकेगा, पर जो चिन्तनशील अध्यात्मचेता हैं, वे अवश्य ही एक विशिष्ट आत्यन्तिक सुख की अनुभूति से अभिभूत होंगे।

अतुकान्त और अछन्दोबद्ध यह काव्य चार खण्डों में निबद्ध है जो पारम्परिक काव्यशास्त्रीय परिभाषा की परिधि में महाकाव्य सिद्ध नहीं होता, किन्तु अपनी गुणात्मक महत्ता की दृष्टि से 'महाकाव्य' की संज्ञा पा सकता है। मूलतः यह काव्य जैनधर्म-दर्शन का आख्यान काव्य है, इसलिए सहज ही निवृत्तिमार्ग की मर्यादा में आबद्ध है। नायक-नायिका की नन्दतिकता से रहित इसकी छोटी-सी कथावस्तु विचारों की गहनता में या कि जीवन-दर्शन की व्याख्या-विवेचना में नीर-क्षीर की तरह एकमेक हो गई है। नितान्त विचारप्रधान इस प्रबन्धकाव्य में नायक-नायिका का निर्धारण सहज नहीं है। तत्सम्बन्धी ऊहापोह भी निर्विवाद नहीं होगा।

खण्ड एक का परिचय वाक्य है– 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; खण्ड दो की अवतरणिका है- 'शब्द सो बोध नहीं: बोध सो शोध नहीं'; खण्ड तीन का विषय प्रतीक है–'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और खण्ड चार की विषय परिचायिका पंक्ति है–'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'। अवश्य ही, इन प्रतीकात्मक पंक्तियों से कथावस्तु स्पष्ट न रहकर व्याख्या-सापेक्ष हो गई है। मूल कथावस्तु कुछ इस प्रकार है :

खण्ड एक: सरिता तट की माटी मातृकल्पा धरती से अपने जीवन की सार्थकता का उपाय पूछती है और धरती माटी के समक्ष जीवन-दर्शन का विस्तृत शास्त्र उपस्थित कर देती है। तभी, कला-कुशल शिल्पी कुम्भकार का चेहरा सामने उभरता है। कुम्भकार ओंकार को नमन कर क्रूर-कठोर कुदाली से माटी को खोदता है। माटी को खोद लेने के बाद कुम्भकार उसे बोरी में भर कर गधे की पीठ पर लाद ले चलता है। खुरदुरी बोरी की रगड़ से गधे की पीठ छिल

जाती है। किन्तु, बोरी से छन-छन कर बाहर आती माटी छिलन के छेदों में जाकर मरहम का काम करती है। शिल्पी माटी को उपाश्रम के परिसर में ले जाकर रखता है। फिर वह बारीक तारवाली चालनी में माटी को छानता है, कंकरों को हटाकर माटी का संशोधन करता है। इस प्रकार, कंकर का संकर या सम्मिश्रण हट जाने से माटी शुद्ध होकर वर्णलाभ करती है। इस शुद्धता पर बल देते हुए आचार्य-कवि फलितार्थ में कहते हैं :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४९)

तदनन्तर, रस्सी-बालटी के सहारे कुएँ से जल निकाला जाता है और जल मिलाकर माटी को फुलाया जाता है। इसी क्रम में बालटी में एक मछली आ जाती है और वह उछलकर माटी पर गिर जाती है। माटी और मछली के बीच आध्यात्मिक संवाद होता है। पुनः शिल्पी मछली को बालटी में डालकर कूप में सुरक्षित पहुँचा देता है।

खण्ड दो : शिल्पी जल से फूली हुई कुंकुम-सदृश माटी को पैरों से रौंदता है। फिर उस माटी को लोंदा बनाकर उसे घूमते चक्र पर रखता है और उसे कुम्भ का रूप देकर चक्र से धरती पर उतार लेता है। घट तैयार हो जाने पर उसकी बनावट में जो कुछ त्रुटियाँ शेष रह जाती हैं, उन्हें हाथ की हलकी-हलकी चोट से दुरुस्त करता है और जब घड़ा थोड़ा सूख जाता है, तब उस पर वह विभिन्न संख्याओं और चित्र-विचित्र पशु-पक्षियों की आकृतियों को अंकित करता है। फिर, कुम्भ को धूप में अच्छी तरह सुखाता है। इसी क्रम में आचार्यश्री ने आज की दोगला (=दो-गला)-संस्कृति, यानी कथनी और करनी में भेद को समाप्त करने का आदेश दिया है और इसी से इस खण्ड की अवतरणिका– 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' को सार्थक या अन्वितार्थ किया गया है।

खण्ड तीन : कुम्भकार किसी कारणवश प्रवास में जाता है। कुम्भकार की अनुपस्थिति में जलधि को कुम्भ समूह नष्ट करने की दुष्टता सूझती है। वह बदलियों द्वारा कुम्भकार के प्रांगण में वर्षा करा देता है। किन्तु, जल की वर्षा के स्थान पर मोतियों की वर्षा होती है। राजा अपनी मण्डली के साथ आता है और मोतियों को चुनकर उन्हें बोरियों में भरने का आदेश देता है। तभी किसी मन्त्रशक्ति से राजा और उसकी मण्डली के हाथ-पाँव-मुख कीलित हो जाते हैं। और इस प्रकार, उसकी अनायास धन प्राप्त कर लेने की कामना पूरी नहीं होती।

कुम्भकार जब घर वापस आता है, तब वह इस घटना से दुःखी होता है और ओंकार के उच्चारणपूर्वक शीतल जल को हाथ में लेकर मन्त्रित करता है और मूर्च्छित राजा तथा उसके मन्त्रिमण्डल पर छिड़क देता है। सभी स्वस्थ हो जाते हैं। कुम्भकार अपनी अनुपस्थिति में हुए कष्ट के लिए राजा से क्षमा-प्रार्थना करता है और अपने हाथों मोतियों को बोरियों में भरकर राजा को अर्पित कर देता है। राजा अपनी मण्डली के साथ सत्य धर्म की जय-जयकार करता है।

जलधि का षड्यन्त्र विफल हो जाता है और बदलियाँ लजाकर लौट जाती हैं। यद्यपि इसके अतिरिक्त और भी अनेक उपसर्ग कुम्भ समूह को सहने पड़े। कुम्भ की इस कथा का फलितार्थ यह है कि संघर्ष और तपःसाध्य पुण्य का पालन, पाप का प्रक्षालन कर देता है।

खण्ड चार : कुम्भ को पकाने के लिए अवा तैयार किया जाता है। अवा के निचले हिस्से में बड़ी-बड़ी, टेढ़ी-मेढ़ी गाँठवाली बबूल की लकड़ियाँ सजाई जाती हैं। उनके साथ लाल-पीली छालवाली नीम की लकड़ियाँ बिछाई जाती हैं। बीच-बीच में शीघ्र आग पकड़ने के लिए देवदारु की लकड़ियाँ रखी जाती हैं और धीमी-धीमी जलनेवाली इमली की लकड़ियाँ अवा के किनारे चारों ओर खड़ी की जाती हैं और फिर अवा के बीचोंबीच कुम्भसमूह व्यवस्थित किया जाता है। इस प्रकार, आचार्यश्री ने अवा के निर्माण का विशदता से वर्णन चिन्तन के अनुषंग में किया है। छोटी-से-छोटी बातों पर गहन दार्शनिक चिन्तन आचार्यश्री की अपनी रचनागत विशेषता है।

कुम्भ अग्नि परीक्षा में खरे उतरते हैं और वे मुक्तात्मा की तरह प्रसन्न हो जाते हैं। अब उनका मंगल घट के रूप में देवों और अतिथियों की पूजा में प्रयोग-उपयोग होने लगता है। इस खण्ड का फलितार्थ यह है कि मानव कुम्भ की

तरह संघर्षों में तपकर ही उपयोगी सिद्ध होता है। यही उसकी अग्नि-परीक्षा है। इस अग्नि-परीक्षा में बनने वाली राख भी चाँदी की तरह शुभ्र और मूल्यवान् हो जाती है।

मूलतः काव्य की कथावस्तु या घटनाक्रम यहीं पूर्णता प्राप्त कर लेता है, परन्तु कविर्मनीषी आचार्यश्री ने कुम्भ की उपयोगिता, कथा को एक और मोड़ दिया है। इस क्रम में एक महाधनी सेठ की कल्पना की गई है। वह आहार दान का पुण्य अर्जित करता है। इसके बाद सेठ को वैराग्य हो आता है। इसी क्रम में सुवर्ण आदि धातुओं से निर्मित कलशों की अपेक्षा मिट्टी के घड़े को अधिक मूल्य दिया गया है। स्वर्णकलश की विनाशकारी मशाल से और मृत्कुम्भ की प्रकाशप्रद दीपक से तुलना की गई है।

सेठ रुग्ण हो जाता है और माटी के उपचार से वह फिर स्वस्थ हो जाता है। यहाँ मिट्टी के पात्र में बने भोजन की महत्ता के साथ ही, माटी के कुम्भ के विभिन्न चमत्कारों को भी दरसाया गया है। मृत्कुम्भ की महत्ता से स्वर्णकलश चिढ़ जाता है और वह उसके विनाश के लिए षड्यन्त्र रचता है। स्वर्णलोलुप आतंकवादियों का एक दल खड़ा हो जाता है। इस आतंकवाद से डरकर सेठ परिवार समेत भाग खड़ा होता है और अपनी कमर से कुम्भ बाँधकर नदी में कूद पड़ता है। नदी पार करने के बाद उसे धरती का सहारा मिलता है। इस प्रकार, आतंकवाद का अन्त और अनन्तवाद का श्रीगणेश होता है।

काव्य के अन्त में परिवार सहित कुम्भ शिल्पी कुम्भकार का अभिवादन करता है :

- *"कुम्भ के मुख से निकल रही हैं/मंगल-कामना की पंक्तियाँ।" (पृ. ४७८)*
- *"परिवार-सहित कुम्भ ने/कुम्भकार का अभिवादन किया।" (पृ. ४८१)*

इदमित्थम्, इस प्रबन्धकाव्य की संज्ञा 'मूकमाटी' की अपेक्षा 'कुम्भकथा' अधिक मौजूँ लगता है। कुम्भकार ने माटी के जीवन को सँवार कर उसे उपादेय बनाया, उसका मंगल घट के रूप में संस्कार किया, इसलिए इन दोनों में नायक-नायिका का आरोप असंगत नहीं है।

'मूकमाटी' काव्य कहीं-कहीं प्रतीक काव्य की सीमा का स्पर्श करता प्रतीत होता है, जिसकी कथावस्तु के कतिपय प्रसंग 'कामायनी' की कथावस्तु से अनुभावित लगते हैं। इस सन्दर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से 'मूकमाटी' का प्रारम्भिक प्राकृतिक परिदृश्य द्रष्टव्य है :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १)

'कामायनी' के प्रारम्भिक प्राकृतिक परिदृश्य की पंक्तियाँ हैं :

"नीचे जल था, ऊपर हिम था,/एक तरल था एक सघन।"

इसके अतिरिक्त, प्रसादजी ने दार्शनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में जिस प्रकार श्रद्धा, इड़ा आदि प्रतीक पात्रों की अवतारणा की है, उसी प्रकार आचार्य विद्यासागरजी ने भी धरती, माटी आदि प्रतीक पात्रों का मानवीकरण किया है।

आचार्य विद्यासागर विलक्षण काव्यकार होने के साथ ही विचक्षण शब्दकार भी हैं। उनकी शब्दशास्त्रीय प्रतिभा निरुक्तिकार यास्क की परम्परा का स्मरण दिलाती है। वर्ण-विपर्यय और सभंग-अभंग श्लेष द्वारा शब्दों की चमत्कारपूर्ण अर्थयोजना में आचार्यश्री की द्वितीयता नहीं है। जैसे :

अभंग : *"जो वीर नहीं हैं, अबीर हैं/उन पर क्या, उनकी तस्वीर पर भी*
अबीर छिटकाया नहीं जाता!" (पृ. १३२)

सभंग : ◘ *"अगर बाती को अगरबाती का/योग नहीं मिलता तो···।" (पृ.१३४)*
◘ *"यही मेरी कामना है/कि/आगामी छोरहीन काल में*
बस इस घट में/काम ना रहे !" (पृ. ७७)

इसी सन्दर्भ में धी-रता=धीरता, काय-रता=कायरता आदि प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं।

वर्ण-विपर्यय : ◘ *"राही बनना ही तो/हीरा बनना है।*
···रा···ही···ही···रा···।" (पृ. ५७)

◘ *"राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा।" (पृ. ५७)*

◘ *"ध···र···ती ती···र···ध/यानी,/जो तीर को धारण करती है।"(पृ.४५२)*

इसी प्रसंग में आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत 'दुहिता' शब्द की महर्षि यास्क की निरुक्ति ('दूरेहिता दुहिता; गवां दोग्धेर्वा') से सर्वथा भिन्न निरुक्ति मननीय है :

"दो हित जिसमें निहित हों/वह 'दुहिता' कहलाती है
अपना हित स्वयं ही कर लेती है,/पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे/वह दुहिता कहलाती है।
उभय-कुल मंगल-वर्धिनी/उभय-लोक-सुख-सर्जिनी
स्व-पर-हित सम्पादिका/कहीं रहकर किसी तरह भी
हित का दोहन करती रहती/सो···दुहिता कहलाती है।"(पृ. २०५-२०६)

इसी परिप्रेक्ष्य में 'कुम्भकार', 'नारी', 'अबला', 'अंगना', 'महिला', 'स्त्री', 'मातृ', 'वैखरी', 'कुमारी', 'सुता' आदि शब्दों की अपूर्व निरुक्ति द्रष्टव्य है। इस क्रम में 'वदतो व्याघात' भी परिलक्षित होता है। आचार्यश्री ने 'नारी' और 'स्त्री' की निरुक्ति में बताया है :

◘ *"इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें*
मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।
यही कारण है कि/इनका सार्थक नाम है 'नारी'
यानी—/'न अरि' नारी···/अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ. २०२)
◘ *"'स्' यानी समशील संयम,/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं/धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में*
पुरुष को कुशल-संयत बनाती है/सो···स्त्री कहलाती है।"(पृ.२०५)

किन्तु सागर के मुख से ठीक इसके विपरीत कहलवाया गया है, जिससे नारी चरित्र का हनन होता है :

"स्वस्त्री हो या परस्त्री,/स्त्री-जाति का स्वभाव है,/कि
किसी पक्ष से चिपकी नहीं रहती वह।
अन्यथा,/मातृभूमि मातृ-पक्ष को/त्याग-पत्र देना खेल है क्या ?
...इसीलिए भूलकर भी/कुल-परम्परा संस्कृति का सूत्रधार
स्त्री को नहीं बनाना चाहिए।/और/गोपनीय कार्य के विषय में
विचार-विमर्श-भूमिका/नहीं बताना चाहिए।" (पृ. २२४)

इसी प्रकार, एक जगह 'अव्याप्ति' भी आ गई है। आचार्यश्री ने सिंह के स्वभाव के बारे में लिखा है :

"किन्तु, सुनो !/भूख, मिटाने हेतु/सिंह विष्ठा का सेवन नहीं करता
न ही अपने/सद्यःजात शिशु का भक्षण···!" (पृ. १७१-१७२)

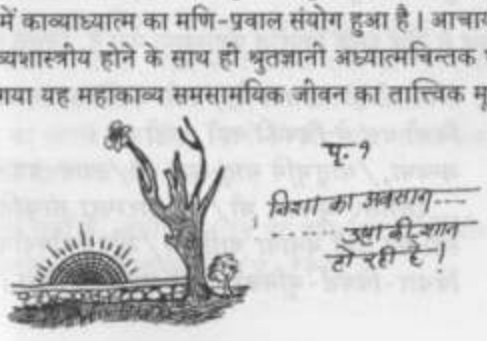
किन्तु, आर्यशूर की 'जातकमाला' के 'व्याघ्रीजातक' में क्षुधापीड़ित व्याघ्री या सिंहनी को अपने नवजात शिशुओं का भक्षण करने को आकुल दिखाया गया है। भगवान् बुद्ध या बोधिसत्त्व अगर अपना शरीर अर्पित नहीं करते तो वह नवजात शिशुओं को खा ही जाती। इस प्रकार, बहुश्रुत आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत सिंह स्वभाव सार्वभौम सत्य नहीं बन पाया है।

आचार्यश्री की यह काव्यकृति कोश का अनुसरण नहीं करती वरन् कोशकारों के लिए नई शब्दावली प्रस्तुत करती है। इस सन्दर्भ में 'चार्मिक वतन' (पृ. १६);'हास-दमंग'(पृ. २१); 'सावणता'(पृ. ८१); 'सदोदिता' (पृ. १०२); 'अस्तिमा'(पृ. १८४);'दधि-धवला'(पृ. १९९); 'अदेसख'(पृ.२२३), 'अरुक'(पृ. २३९);'पलायु'(पृ. २४८); 'तृपा'(पृ. २६३); 'दूरज'(२६५);'आविर्माण'(पृ. ३२०); 'नसियाजी'(पृ. ३४६); 'गौड़'(पृ. ३६१); 'मत्स्य-मुक्ता'(४६३) आदि शब्द ध्यातव्य हैं। इनमें कुछ शब्दों के अर्थ की विशदता के लिए पादटिप्पणी अपेक्षित रह गई है।

शब्द और अर्थ, भाव और भाषा, साथ ही मुहावरों और लोकोक्तियों, उपमाओं और रूपकों आदि शिल्पगत रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से आचार्यश्री की चिन्तन-पद्धति सर्वथा स्वतन्त्र है। आचार्यश्री की हृदयस्पर्शी पदशय्या एवं वचोभंगी की अभिव्यक्तिगत विचित्रता और विदग्धता से संवलित, सूक्तिसिक्त एवं बिम्बोद्भावक भाषा सचमुच बहुवर्णी है। कुल मिलाकर, 'मूकमाटी' हिन्दी का महनीय भाषाकाव्य है।

आचार्यश्री धुरिकीर्तनीय भारतीय चिन्तकों एवं मोक्षमार्ग के उन्नायकों में अन्यतम हैं, यह 'मूकमाटी' में परिलक्षित होने वाली उनकी रचनागत मनीषा और विचारगत आन्वीक्षिकी से स्पष्ट है। उन्होंने अपनी इस काव्यकृति में सामाजिक दायित्वबोध, लोकजीवन, धर्म-दर्शन, आचार-विचार, मन्त्र-तन्त्र, आतंकवाद, दहेज समस्या, कलि की महिमा, स्वर्णनिन्दा, आयुर्वेदोक्त रोगोपचार, अंकों और चित्रों का चमत्कार, अन्तरिक्षीय उपद्रव, मिथकीय चेतना, संगीतिक सप्तग्राम-विवेचना आदि विविध आयामों को उपस्थापित करके इसे प्रासंगिक बनाया है, जिससे यह काव्यग्रन्थ भारतीय संस्कृति का बृहदाख्यान बन गया है। इसमें माटी, धरती, कंकर, कण्टक, कुम्भ, सागर, कूप, नदी, बादल आदि प्राकृतिक उपादानों का पात्रीकरण और फिर उनका मानवीकरण करके उनके संवादों से कथावस्तु या घटनाचक्र को विस्तार देने की कला में आचार्यश्री ने अतिशय निपुण कथाकोविद की भूमिका का निर्वाह किया है। सचमुच,वह अतुल और विस्मयकारी शब्द भाण्डार के अधिस्वामी हैं।

आधुनिक-अत्याधुनिक सभी प्रकार की चिन्ताओं और समस्याओं के अध्ययन से मुखरित, परमत-निरसन और स्वमत-निरूपण की शास्त्रार्थ-शैली से शब्दित यह काव्यकृति आधुनिक समाज-व्यवस्था का विश्लेषण भी है और समाधान भी। निश्चय ही इस कृति में काव्याध्यात्म का मणि-प्रवाल संयोग हुआ है। आचार्यश्री विद्यासागरजी अद्भुत शब्दशक्ति से सम्पन्न पारगामी काव्यशास्त्रीय होने के साथ ही श्रुतज्ञानी अध्यात्मचिन्तक भी हैं। इसलिए, लोक और परलोक को दृष्टि में रखकर लिखा गया यह महाकाव्य समसामयिक जीवन का तात्त्विक मूल्यांकन है। □



'मूकमाटी' की दार्शनिक पीठिका

डॉ. कोमल चन्द्र जैन

आचार्य विद्यासागरजी महाराज द्वारा विरचित 'मूकमाटी' आधुनिक युग के हिन्दी साहित्य को एक अनुपम देन है। यह कृति काव्य है अथवा एक दार्शनिक ग्रन्थ—यह एक विचारणीय प्रश्न है। 'काव्य की आत्मा रस है' तथा 'रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः' को ध्यान में रखकर यदि 'मूकमाटी' का अध्ययन किया जाय तो निश्चित रूप से इसे एक उत्तम काव्य कहना समुचित होगा। कारण, 'मूकमाटी' पाठक को अनवरत रूप से शान्त रस की अनुभूति कराता है। यदि 'उक्ति वैचित्र्य' को ही काव्य का जीवन कहा जाय, तब भी 'मूकमाटी' को काव्य मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होगी।

'मूकमाटी' के सम्पूर्ण कथानक में जैन दर्शन के मूल सिद्धान्तों की झलक दिखाई देती है। अतः इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि 'मूकमाटी' का आधार जैन दर्शन में मान्य विभिन्न सिद्धान्त ही हैं। इसमें गुणस्थान, सप्त तत्त्व आदि का अप्रकट रूप से विवेचन है तो सत्, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। शब्द की नित्यता, प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध में सांख्य सिद्धान्त का खण्डन भी उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त जैन मुनि के आहार के सम्बन्ध में भी विवेचन किया गया है जिसे पढ़कर सामान्य जन भी मुनि की आहार की विधि एवं उसके महत्त्व को समझ सकता है।

जैन दर्शन में गुणस्थानों के माध्यम से आत्मा के उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों को व्यक्त किया गया है। यद्यपि विशुद्ध परिणामों की प्राप्ति तक आत्मा को अनेक अवस्थाओं से गुज़रना होता है, किन्तु सुविधा की दृष्टि से चौदह प्रमुख अवस्थाओं का चित्रण चौदह गुणस्थानों के माध्यम से किया गया है। इनमें से पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है और अन्तिम अयोगकेवली। इन दोनों में एक निकृष्टतम अवस्था है तो दूसरी विशुद्धतम। इन दोनों चरम अवस्थाओं के मध्य में अवस्थित दशाएँ तृतीय कोटि की अवस्थाएँ हैं। प्रथम प्रकार की अवस्था में चारित्र शक्ति का सम्पूर्ण ह्रास तथा द्वितीय अवस्था में चारित्र का सम्पूर्ण विकास होता है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ—इन चार कषायों की प्रगाढ़ता से आत्मा की निकृष्टतम अवस्था होती है जब कि इन्हीं कषायों की समाप्ति के उपरान्त उत्कृष्ट विशुद्धि की प्राप्ति होती है। 'मूकमाटी' में प्रथम अवस्था के रूप में माटी के उस रूप का चित्रण है जो पद-दलित है, तिरस्कृत है और अनेक यातनाओं एवं पीड़ाओं से युक्त है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)

इसी प्रकार द्वितीय अवस्था के रूप में मंगल कलश का चित्रण है :

"न ही कुम्भ की यातना/न ही कुम्भ की याचना/मात्र...वह...वहाँ तब !
कहाँ है प्यास से पीड़ित-प्राण ?/वह शोक कहाँ/वह रुदन कहाँ।" (पृ. २९५)

ज्यों-ज्यों कषायों में मन्दता आती जाती है, त्यों-त्यों परिणामों में विशुद्धि की मात्रा बढ़ती जाती है। इस तथ्य को 'मूकमाटी' में जलत्व से व्यक्त किया गया है। जलत्व ही माटी की मुक्ति में या मंगल कलश बनने में बाधक है और जब माटी का जलत्व समाप्त हो जाता है, तब उसका स्वरूप विशुद्ध हो जाता है :

"कुम्भ में जलीय अंश शेष है अभी/निश्शेष करना है उसे...
बिना तप के जलत्व का, अज्ञान का,/विलय हो नहीं सकता।" (पृ. १७६)

माटी की मंगल कलश के रूप में बदलने की पूरी कथा में संवर एवं निर्जरा की झलक मिलती है। सर्वप्रथम माटी को पृथ्वी से निकाला जाता है जिसके पृथ्वी में रहने के कारण होने वाले विजातीय कंकर-पत्थर के सम्पर्क का अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् माटी में विद्यमान कंकरों को अलग किया जाता है और कुम्भ का रूप देकर माटी को अग्नि में तपाया जाता है। तब आती है माटी में जलधारण करने की क्षमता। इस सम्पूर्ण प्रसंग से जैन दर्शन के निर्जरा तत्त्व का ही विवेचन किया गया है।

जैन दर्शन के अनुसार सत् वह है जिसमें उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य हो। यहाँ उत्पाद एवं व्यय परिवर्तन के सूचक हैं जब कि ध्रौव्य नित्यता की सूचना देता है। इससे यह ध्वनित होता है कि वस्तु के विनाश एवं उत्पाद में व्यय एवं उत्पत्ति के रहते हुए भी वस्तु न तो सर्वथा नष्ट होती है और न ही सर्वथा नवीन उत्पन्न होती है। विनाश और उत्पाद के बीच एक प्रकार की स्थिरता रहती है जो न तो नष्ट होती है और न ही उत्पन्न। इसी सिद्धान्त को 'मूकमाटी' में इस प्रकार कहा गया है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और/है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में अनेक गुण एवं अनेक पर्यायें होती हैं। इन अनन्त गुण-पर्यायों में से व्यवहार में प्रायः किसी एक विशेष गुणधर्म के उल्लेख की आवश्यकता होती है। अतएव व्यक्ति को किसी पदार्थ के किसी गुण का कथन इस प्रकार करना चाहिए जिससे उस वस्तु में विद्यमान अन्य गुणों का अपलाप न हो। इसी कथ्य को 'मूकमाटी' में अत्यन्त सहज भाव से इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,/तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो!
और,/'भी' का कहना है कि/हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ!
'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शकल को ही पकड़ता है/'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है।"
(पृ. १७२-१७३)

जैन संस्कृति में मुनि के आहार का विशेष महत्त्व है। आहार के प्रति मुनि को क्या भाव रखना चाहिए – इसे अत्यन्त सुस्पष्ट ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

"बस, इसी भाँति,/दाता दान देता जाता/पात्र उसे लेता जाता,
उदर-पूर्ति करना है ना!/इसी का नाम है गर्त-पूर्ण-वृत्ति
समता-धर्मी श्रमण की!" (पृ. ३३२-३३३)

इसी प्रकार श्रमण की अन्य वृत्तियों—गोचरी वृत्ति, अग्निशामक वृत्ति, भ्रामरी वृत्ति आदि का भी सुस्पष्ट चित्रण 'मूकमाटी' में उपलब्ध होता है।

सारांश यह है कि 'मूकमाटी' में माटी की कथा के माध्यम से आचार्य विद्यासागरजी ने जैन दर्शन को जन-मानस में उतारने का सशक्त प्रयास किया है। यदि कोई व्यक्ति 'मूकमाटी' का गहन अध्ययन कर जैन दर्शन का अध्ययन करे तो वह व्यक्ति जैन दर्शन के सार को सहजता से हृदयंगम कर सकेगा।



'मूकमाटी' : एक प्रासंगिक आधुनिक महाकाव्य

डॉ. पुष्पा बंसल

कविता एक राष्ट्र की हृत्स्पन्दन होती है और महाकाव्य राष्ट्र के चिन्तन, मनन, दर्शन, अध्यात्म की परम्पराओं का कवि-कलाकार के हृत्स्पन्दन में विलय। कवि-हृदय तो कम्पित, विचलित, उद्वेलित, आलोड़ित होता ही है, अन्तर होता है उक्त आलोड़न के कारणभूत तत्त्व का। जब वह आलोड़न-विलोड़न किन्हीं व्यक्तिगत, तात्कालिक कारणों व विभेदों को लेकर होता है तो वह व्यक्तिगत कविता के रूप में ढलता है, परन्तु जब कवि-हृदय का उद्वेलन निजेतर कारणों से होता है, जब उस हृदय सागर में आलोड़न-विलोड़न उपस्थित करने का कारण राष्ट्र की, समष्टि की, युगधर्म की चेतना होता है, तब जो प्रबन्धात्मक सृष्टि होती है वह महाकाव्य कहलाता है। महाकाव्य स्रष्टा कवि की प्रतिभा का प्रतिबिम्ब और राष्ट्र के गौरव के उद्गायक होते हैं।

'मूकमाटी' जैनाचार्यश्री विद्यासागरजी द्वारा प्रणीत हिन्दी का नव्यतम महाकाव्य है जो केवल आकार-प्रकार एवं पृष्ठ संख्या से ही नहीं, अपितु अपनी आत्मा, प्रवृत्ति, चिन्तन व सन्देश से भी इस पद का अधिकारी है।

अहिंसा, क्षमा, अपरिग्रह, तपस्या, सत्य एवं शुद्धता के दार्शनिक विश्वासों की पीठिका पर दृढ़तापूर्वक आसीन जैन मुनिवर के कलाकार मानस में भयंकर हिन्दोल होता है—संसार के स्वरूप को लेकर। केवल स्वरूप नहीं —स्थिति, प्रकृति, आचार-व्यवहार को लेकर। मानव का उद्गम, विकास, जीवनचर्या, मनोविज्ञान, विभिन्न व्यवहार व विभिन्न व्यापार, इन सबके कारण, इन सबके परिणाम व प्रभाव और इन सबकी चपेट में आया हुआ मानव, यही नहीं इन सबके परिणामस्वरूप मानव-जीवन में उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख, क्लेश, आपदाएँ, आशंकाएँ तथा इन के निवारण का तन्त्र। यह सम्पूर्ण चक्र महाकवि के मानसपटल पर अपना प्रभाव डालता है, उन के चिन्तन को उद्वेलित करता है, उनके संवेदन को घूर्णित करता है और उनकी अपनी जैन-दर्शन की धौत-विवेक-दृष्टि उसे एक स्पष्ट, भास्वर आकार देकर एक कथानक में ढाल देती है।

सरिता तट की माटी अपने जीवन की अनुपयोगिता व निरर्थकता से उदासीन, चिन्तित हो अपना दुःख माँ धरती को कहती है। जीवन की सार्थकता का उपाय पूछ कर निरुत्साह की स्थिति को बदल डालने की प्रार्थना करती है। धरती का उत्तर है— तपस्या, साधना, शुद्धि, परिपक्वता, अग्नि-परीक्षा और समाजोपयोगिता का लक्ष्य। मात्र यही एक उपाय है जीवन की निरर्थकता को सार्थकता में परिवर्तित करने का। माटी जैसा क्षुद्र, अनादृत, पदमर्दित, पद दलित पदार्थ कैसे जीवन सार्थकता का लाभ कर सकता है ? कर सकता है, तपपूर्वक-रूपित होकर, आकार में ढल कर, उपयोगी उपकरण बन कर। कुम्भ-शिल्पी कुम्भकार के हाथों में शिष्यवत् स्वयं को सौंपकर। माटी ने यही किया। कुम्भकार आया, माटी को खोदा, छाना, बोरियों में बन्द किया, गदहे पर लादा, उपाश्रम — कार्यशाला में ले गया, चालनी से छान कर, कंकर हटाकर वर्ण-संकरता दूर की, पानी मिलाकर उसे फुलाया, दोनों पैरों से रौंद-रौंदकर मुलायम कर डाला और फिर चाक पर चढ़ाकर दण्डे की सहायता से उसे कुम्भ के आकार में ढाल लिया। इस सारी प्रक्रिया में न केवल माटी का कण-कण शुद्ध हो गया, सब विषम तत्त्व उससे पृथक् हो गए, प्रत्युत कूटने, छानने, रौंदने आदि की प्रक्रिया में उसका अंग-अंग मर्दित हो गया, उसकी शक्ल ही परिवर्तित हो गई। यही साधना का अन्त नहीं है, यह तो केवल प्रथम चरण की प्राप्ति है। अभी तो कुम्भ कच्चा है, उसमें जलीय अंश शेष हैं वे, जो विषम अंश हैं। उन्हें सूखना है और फिर सूखे, कच्चे कुम्भ को अवा की आग में पक कर पक्का बनना है। धूप में सूखते कच्चे कुम्भ को सम्पूर्ण प्राकृतिक आपदाओं और विरोधों का सामना करना पड़ता है। समुद्र, आकाश, मेघ, वज्र, बिजली, ओले आदि सब कुछ का सामना। राहु द्वारा सूर्य को निगल लेने के कारण उत्पन्न सूर्यग्रहण की विभीषिका का सहन और प्रबल वात-

झंझावात के प्रकोप का वहन। शुद्धता व नैतिकता के बल पर जीवन में सार्थकता लाभ करने के महदुद्देश्य से निकल पड़े कच्चे कुम्भ का मानों समस्त प्रकृति-तत्त्व ही बैरी हो उठा – रत्नाकर पयोधि, उन्मुक्त आकाश, मेघ तथा वायु सभी तत्त्व। परन्तु अथ की इति भी होती है और वह हुई।

कुम्भकार ने देखा कुम्भ सूख गया है। उसने सभी प्राकृतिक लीलाओं को सहन कर के अपनी सामर्थ्य सिद्ध कर दी है। अब उसने कुम्भ को अवा में पकने के लिए रखा। बबूल, शीशम आदि की सूखी लकड़ियों से भरे अवा में उन कच्चे सूखे कुम्भों को रखकर अवा का मुख राख-मिट्टी से भरकर उसमें अग्नि प्रज्वलित कर दी गई। धुटन, फिर धुआँ और फिर चटपटाती अग्नि। अग्नि का भी अपना एक स्वाद, एक स्पर्श, एक गन्ध और एक ध्वनि है, यह अनुभव अग्नि के बीच बैठे, अवा में पकते उस कुम्भ को हुआ। साधना और निष्ठापूर्वक उस अग्नि का भक्षण, अग्नि तपन की अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण हो कर कुम्भ एक परिपक्व, सुचिक्कण, सुडौल, सुन्दर, उपयोगी कुम्भ हो कर बाहर निकला। इस कुम्भ का रूप सुदर्शन, वर्ण कृष्ण श्याम, उसकी ग्रीवा पर हैं ९ और ९९ शुभ संख्याएँ उकेरित, सम्पूर्ण गात सुन्दर चित्रों से मण्डित व अंग-अंग संगीत की ध्वनियों से आपूरित। स्थान-स्थान पर कंकर से बजाने पर 'सा रे ग म प ध नि' आदि संगीत-सरगम के स्वर तथा 'धा-धिन्' आदि मृदंग के घोष उसमें से टनटनाते थे। यहाँ कुम्भ का व्यक्तित्व-निर्माण पूरा हुआ, उसके शिल्पी कुम्भकार का कार्य पूर्ण हुआ, उसकी कला की सफलता सिद्ध हुई। पर अभी कुम्भ की सार्थकता, उपयोगिता की परीक्षा शेष है। वह भी शीघ्र ही सम्पन्न हो जाती है। नगर के सेठ को स्वप्न में भिक्षार्थी महासन्त को आहार देने का आदेश प्राप्त होता है। तदनुसार वह तैयारियाँ करने में जुट जाता है। मिट्टी का कुम्भ मँगवाता है और उस का सेवक इस परिपक्व सुन्दर, सुसज्जित कुम्भ को सेठ की सेवा के लिए ले आता है। कुम्भकार ने इसका कोई विक्रय मूल्य नहीं लिया, क्योंकि यह साधु-सेवा के निमित्त जा रहा था।

नगर भर के गृहस्थों के प्रांगण में मुनि के आहार की तैयारियाँ हैं। मुनिवर आँगन से आँगन लाँघते चले आए। उनकी अंजलि आहार-स्वीकृति के लिए खुली, सेठ के घर में जल से परिपूर्ण माटी कुम्भ के सम्मुख। स्वर्ण कलश, रजत कलश, पीतल के पात्र, स्फटिक की झारियाँ आदि सब उपकरण दुग्ध, क्षीर रस, अनार रस आदि विभिन्न आहारों से भरे हुए, दाताओं के हाथों में पात्र अर्थात् आहार लेने के इच्छुक मुनि की प्रतीक्षा में। माटी का कुम्भ भी जल से परिपूर्ण उसी सेवा में उद्यत। कुम्भ में भरे प्रासुक जल से मुनि ने आहार स्वीकार किया। सपरिवार सेठ ने विधिपूर्वक मुनि को आहार कराया। तत्पश्चात् मुनि ने उपदेश दिया और सपरिवार सेठ उन्हें उनके विश्राम-स्थल तक पहुँचा कर आया। सेठ ने सपरिवार पन्द्रह दिवस के लिए धातु के पात्रों के स्थान पर मात्र माटी के बर्तनों में खाने-पीने का व्रत लिया। धातु पात्रों ने इसमें अपमान-बोध किया। उस भाव के अन्तर्गत माटी कुम्भ को, सेठ को, मुनिवर को बुरा-भला कहा। उन पर अहंकारी, असमाजवादी, असमदर्शी आदि होने के आरोप लगाए। सेठ के व सेठ की सम्पदा के विरुद्ध विद्रोह तूल पकड़ता गया। मच्छर एवं मत्कुण जैसे परोपजीवी जीवों ने भी सेठ पर कृपण, धनसंग्रही, अनुदार होने का दोष लगाया और उन सबके सरदार, सर्वाधिक आहत, अपमानित स्वर्ण कलश ने सेठ को पाठ पढ़ाने के लिए व समुचित रूप से दण्डित करने के लिए आतंकवादी दल को गुप्त निमन्त्रण दे दिया। समाज के द्वारा अवमानित, अनादृत होने की भावना-दुर्भावना के शिकार युवक आतंकवादी, सभी के सभी सुदृढ़ डीलडौल व घनी मूँछों के स्वामी व प्राण लेने-देने पर हरदम उतारू युवकों का दल वहाँ आ पहुँचा। परन्तु उस दल के आमन्त्रकों में परस्पर फूट पड़ चुकी थी, किन्हीं बिन्दुओं पर गहरा मतभेद था और विरोधी मतधारिणी स्फटिक की झारी ने चुपचाप यह सूचना कुम्भ को दे दी। विवेकी, सुविचारी, कर्मठ कुम्भ ने अविलम्ब सेठ को सपरिवार घर त्यागने का परामर्श दिया। परामर्श मान लिया गया। कुम्भ के मार्ग-निर्देशन में उस परिवार ने घर छोड़ दिया। लगातार यात्रा करते-करते वन में पहुँच कर सुरक्षित स्थान जान कर वहाँ डेरा जमाया। तभी मृगराज द्वारा आतंकित हाथियों का एक समूह सेठ परिवार के पास आया। उनकी सात्त्विकता को

पहचान कर गजमुक्ताएँ उन्हें भेंट की। तभी आतंकवादियों का दल वहाँ पहुँच गया आक्रमण करने, पर गजदल ने पूरे सेठ परिवार को सुरक्षा हेतु अपने घेरे में ले लिया। आक्रामक समूह का कुछ वश नहीं चल रहा था। तभी गजों की ऊँची-ऊँची चिंघाड़ों से समस्त वन काँप उठा और नाग उनकी सहायता के निमित्त वहाँ पहुँच गए। सेठ परिवार की निर्दोषता और न्यायसम्मतता को देख कर उन्होंने सेठ के प्रति नागमणियाँ अर्पित कीं और आतंकवादी दल से जा भिड़े। सारा दल भाग खड़ा हुआ और जंगल में छिप गया। छिप-छिपकर सेठ परिवार की लीला देखता रहा। फिर विवश दल ने क्रोध में भर, कर में काले डोरे से बँधे सात नीबुओं को मन्त्रपूरित कर आकाश की ओर उछाल दिया। परिणामस्वरूप आँधी-झंझावात आ गए। क्रमशः आँधी रुकी तो सेठ परिवार ने स्वयं को सरिता तट पर खड़े पाया।

सरिता में पूर-वेग था। नई वर्षा की लाल मिट्टी घुल जाने से पानी का रंग भी लाल हो गया था। वेग बहुत था। पार जाना अनिवार्य था। साधन कोई पास नहीं था। तभी पथप्रदर्शक कुम्भ ने रस्सी अपने गले में बाँधकर पानी में प्रवेश किया और सेठ परिवार को उसका सिरा अपनी कटि में बाँधकर उसके पीछे जल में प्रवेश करने को कहा। ऐसा ही किया गया। दल धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया। मार्ग में भयंकर जलचर बाधाएँ पैदा करते गए, भय दिलाते रहे। सामने गहरा भँवर आ गया। आतंकवादी दल भी नौका में बैठकर उनका पीछा कर रहा था। ऐसे में एक मगरमच्छ ने मन्त्रपूरित मुक्ता कुम्भ को दी, जिसके प्रभाव से जल में मार्ग मिल जाता है। आतंकवादी दल का निशाना वह कुम्भ ही था, जिसे वे कंकर मारकर फोड़ देना चाहते थे, जो कि सेठ परिवार को नदी से पार कराने का प्रयत्न कर रहा था। सेठ उस कुम्भ को पानी के भीतर अपने पेट के नीचे छिपाए हुए था। नीचे भयंकर जल, ऊपर भयंकर वर्षा, चारों ओर आतंकवादी शत्रु। पर मगरमच्छ द्वारा दत्त मुक्ता से जल में मार्ग मिला। परन्तु आपदाएँ समाप्त नहीं हुईं। शत्रुओं ने बहुत बड़ा जाल फेंका, जिसमें वह परिवार मत्स्यों के समान फँस जाए। पर तभी तेज हवाएँ चलीं, जिन्होंने जाल को ऊपर ही ऊपर उड़ा दिया। और शत्रुओं की नौका उलटने को हो आई। नौका पर लिखा था 'आतंकवाद की जय'। डूबने को विवश आतंकवादी अब सेठ से सहायता की प्रार्थना करने लगे, क्षमा-याचना करने लगे। सेठ तो क्षमा का आगर था ही, उसने मुक्त हृदय से उनको क्षमादान दिया और शरण देने का वादा किया। फिर वे सभी आक्रमणकारी डूबती नौका में से पानी में छलाँग लगा गए और सेठ परिवार द्वारा सँभाल लिए गए, नौका उलट गई, वे सब बच गए और तट पर जा पहुँचे। सरिता के तट पर उस समय वही कुम्भकार माटी खोदने में व्यस्त। कुम्भ ने उसे प्रणामपूर्वक अपनी सफलता की कथा सुनाई। शिल्पी कुम्भकार ने पास ही विराजित साधु को नमस्कार करने को कहा। साधु ने शाश्वत सुख का आशीर्वाद दिया। आतंकवादी दल ने स्थायी सुख प्राप्ति का रहस्य जानना चाहा तो उन्होंने आचरण की शुद्धता का संकेत किया। आचरण की शुद्धता ही मोक्ष का रहस्य है, यही प्रच्छन्न सन्देश देकर साधुजी फिर मौन होकर तपस्या में लीन हो गए।

'मूकमाटी' महाकाव्य का यह विशाल कथाफलक एक साथ ही सांसारिक एवं संसारातीत है। विशाल प्रकृति के प्रांगण में दोनों जगत् निवास कर रहे हैं—चेतन एवं जड़। चेतन में मनुष्य एवं पशु दोनों जगत् और फिर जड़ जगत् पंचभूत—जल, वायु, आकाश, अग्नि और पृथ्वी। स्वर्ण, रजत, पीतल, स्फटिक आदि धातुएँ, मुक्ता, माणिक्य, नीलम आदि बहुमूल्य पदार्थ के पात्र, दुग्ध, इक्षु रस, अनार रस, पायस, तक्र आदि पेय, सरिता, सागर, मेघ, इन्द्रचाप, वर्षा, उपल, आँधी, झंझावात, सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक तत्त्व, सूर्योदय, सूर्यास्त, निशा, सूर्यग्रहण आदि प्राकृतिक घटनाएँ तथा अन्य भी जागतिक उपकरण इस महाकाव्य के कथाक्रम के निर्माता हैं। मनुष्य जगत् एवं प्रकृति जगत् में अद्भुत समभाव है। वे परस्पर बातचीत करते हैं, व्यवहार करते हैं और क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। मनुष्येतर जगत् जड़ हो या चेतन, सभी मानवीकृत रूप में मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्यवहार करते हैं। सबकी आधारभूत माटी, जो मूक माटी के रूप में महाकाव्य का प्रधान पात्र ही नहीं अपितु मुख्य विषय है, निर्जीव मूक माटी में एक इच्छा है—सार्थक होने की

सप्रयोजन होने की, उपयोगी होने की और उसकी यह अन्तर्भूत इच्छा उसे जिज्ञासु बनाती है, जिज्ञासु से शिष्य, शिष्य से साधक, व्रती तपस्वी, समर्पित साधक और फिर परीक्षार्थी। घोर से घोर परीक्षाओं में लिप्त परीक्षार्थी। वह अग्नि में पकी, तपी कुम्भ की माटी इस इच्छा तत्त्व की जागृति के पश्चात् जड़, अज्ञानी, मूर्ख, पददलित न रहकर, मनस्वी, विवेकी, कर्मठ, उत्तरदायी, सजग, जागरूक एवं पथप्रदर्शक बन जाती है। परिपक्व इतनी कि मुनिवर स्वर्ण कलश और स्फटिक झारी को छोड़ कर उसमें रखे रस से ही आहार ग्रहण करते हैं; सचेत व ज्ञानी इतनी कि बड़े-बड़े वैद्याचार्यों के असफल होने पर अपने सहज ज्ञान के बल पर रुग्ण सेठ का रोग निवारण कर देती है; सजग इतनी कि महल में चुपचाप चलने वाली दुरभिसन्धि का पता लगा कर सेठ व उसके समस्त परिवार को विपत्ति के मुख में से निकाल ले जाती है और सेवक धर्म पालन में तत्पर ऐसी कि अपने स्वामी सेठ के परिवार की रक्षा के लिए नगर, वन, नदी सब जगह आगे-आगे कूद पड़ती है। यह पददलित, भूपतिता जड़ माटी का ही कायाकल्प है जो उसमें घनी साधना के कारण उपस्थित हुआ है। घनी साधना में प्रवृत्त होने के लिए इच्छा तत्त्व, सफल व सार्थक होने के लिए इच्छा तत्त्व के उदय की आवश्यकता है। भाव यह है कि जिस में सार्थकता की इच्छा का उदय नहीं है, वह जड़ता का त्याग नहीं कर सकता। विकास व उन्नयनीकरण का मूलाधार है इच्छा – उन्नयन की इच्छा। इच्छा तत्त्व सर्वोपरि है – सब से महत्त्वपूर्ण है, अनिवार्य है। इच्छा जब पुष्ट होकर व्याकुलता में बदल जाती है और फिर व्यग्रता में, विह्वलता में, तब साधना का समय आता है। साधना क्लिष्ट होती है, कष्टप्रद होती है, दाहक होती है। साधना साधक को रौंदती है, पीसती है, पीटती है, कूटती है, गलाती है, सुखाती है, मनमाने आकार में ढालती है और फिर अवा में पकाती है, साधक अपनी मूलभूत इच्छा सार्थक, उपयोगी होने की इच्छा के कारण इस समस्त कष्ट में से गुज़रता है और अन्तिम रूप से सफल हो कर निकलता है। साधना की अग्नि में न केवल अपरिपक्वता नष्ट होती है अपितु दूषितता, वर्णसंकरता, अपावनता, कषाय आदि सब नष्ट हो जाते हैं तथा सुभगता, सौन्दर्य, तेज, उपयोगिता का आगम हो जाता है और उत्पन्न हो जाती है क्षमता, धारण करने की क्षमता, जल जैसे तरल पदार्थ को धारण करने की क्षमता। इस क्षमता से युक्त, परिपक्व, विवेकशील, स्वस्थ जीवन-दर्शन का स्वामी ऐसा साधक समाज के लिए एक वरदान बन जाता है।

समाज उसे मुक्त मन से स्वीकार ही कर लेता हो, ऐसा नहीं है। समाज की संरचना में कुछ मूलभूत खोट है। समूह का जीवन मान-अपमान, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, स्वार्थ के भावों से अभिशप्त है। श्रेष्ठतर, महत्तर सिद्ध होने की कामना, दूसरे को अपने से हीनतर सिद्ध करने की व्याकुलता तथा अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार न करके उनके लिए दूसरों को अपराधी सिद्ध कर देने की कामना, समाज की संरचना में निहित है और यही मानसिकता समाज के सारे विकारों के लिए उत्तरदायी है। आचरण की शुद्धता असम्भवप्राय हो जाती है क्योंकि तत्सम्बन्धी मानसिकता का अभाव है। समाज की इस मूलभूत दुर्बलता व विकृति का निराकरण असम्भव तो नहीं, परन्तु कठिन अवश्य है। कृच्छ्र साधना, अहं का विसर्जन, मान-अपमान का त्याग, मन-वचन-काया से शुद्धता की साधना और इन सबके साथ-साथ हृदय में करुणा, दया व क्षमा का विकास– बस यही मन्त्र है और यही तन्त्र। साधना का मार्ग अत्यन्त कठिन है, परन्तु मंज़िल की प्राप्ति उतनी ही सुन्दर, काम्य व मूल्यवान् है। संसार भर की पूजा, अर्चा, श्रद्धा, समादर का सहज अधिकार प्राप्त हो उठता है। सार्थक मानवोचित अहं, स्वार्थ, मान खो कर परा मानवीय शान्ति, स्थिरता, दुःखाभाव, निर्वेद प्राप्त कर लेता है और मानव के स्थान पर मुनि हो जाता है।

'मूकमाटी' महाकाव्य में नायक-नायिका तथा प्रधान-गौण पात्रों का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इस की पात्र-योजना अद्भुत है। इसके पात्र प्रतीक पात्र नहीं हैं। वे सब अपने-अपने व्यक्तित्वों के स्वामी हैं, किसी इतर व्यक्तित्व के स्थानापन्न अथवा संकेतक अथवा चिह्न नहीं हैं। जीवन तत्त्व से भरपूर सभी पात्र जगत् के विभिन्न लोकों, वर्गों, जातियों से लिए गए हैं और सभी में अपनी-अपनी जीवन्तता है, अपना-अपना भावलोक है, अपना-अपना

विवेक है व अपनी-अपनी आचरण संहिता है। यहाँ धरती धारणकर्त्री है। अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी प्रतिकार नहीं करने का संकल्प लिया है धरती ने। सागर पर-सम्पदा हरणकर्ता, निम्न कोटि का कर्मकर्त्ता जड़-धी जलधि है और 'विष का विशाल भण्डार' है। धरती—मौरूपिणी धरती निर्विघ्न जीने हेतु सदा, सर्वदा सबके उद्धार की ही बात सोचती है। बाँस, नाग, शूकर, मेघ, सीपी आदि सबके सब माँ धरिणी की आज्ञा का पालन करके भाँति-भाँति के मोती बनाते हैं और धरती का यश बढ़ाते हैं। चन्द्रमा इसे सहन नहीं कर पाता। धरती को अपमानित, अपवादित करने हेतु जल तत्त्व को बढ़ा कर धरती पर दलदल पैदा करता है। सागर का संकेत पा कर क्षीण कटि बदलियाँ आकाश-पटल पर विहार करने निकल पड़ती हैं। तीन बदलियों में एक शुभ्रवसना साध्वी-सी, दूसरी पलाश की हँसी-सी साड़ी पहने पद्मिनी की शोभा सकुचाती-सी और तीसरी सुवर्ण-वर्ण की साड़ी पहने है। तीनों बदलियाँ सागर के आदेश पर आकाश में आकर, सूर्य को छिपा कर, वर्षा बरसा कर सूखे कुम्भ का नाश करना चाहती थीं, परन्तु आकाश में प्रभाकर के द्वारा उन्हें न्यायोचित, नारि योग्य करुणा, पोषण, वात्सल्य आदि का उपदेश दिए जाने पर वे बदल गईं। अपनी भूल की क्षमा माँग कर वे वापस जाने लगीं और तभी पृथ्वी कणों का जलकणों से मेल हुआ और मेघ-मुक्ताओं का आविर्भाव हुआ, फलतः मेघ-मुक्ताओं की वर्षा हुई। इस से पृथ्वी की महिमा-वृद्धि होती देख कर सागर क्षुब्ध होता है, कुपित होता है, बदली की निन्दा करता है। वह कहता है—'भूल कर भी कुल-परम्परा-संस्कृति का सूत्रधार स्त्री को नहीं बनाना चाहिए और गोपनीय कार्य के विषय में विचार-विमर्श-भूमिका नहीं बतानी चाहिए।' इसी प्रकार घनघोर घन आकाश में उमड़ते हैं, इन्द्रधनुष उन्हें मिटाता है, सागर और अधिक जल प्रेषित करता है, और घन बनते हैं। इन्द्र आवेश में आकर अमोघ वज्र फेंकता है, बादल आहत होते हैं, आह भरते हैं, उनकी चीख-पुकार सुनकर बिजली काँपने लगती है और फिर सागर के नूतन आदेश पर बादल उपलवर्षा करते हैं। कुछ देर बाद बादल रीत जाते हैं। मधुर गुलाब का पौधा अपने मित्र पवन को बुलाता है, अपने फूल हिला-हिला कर पवन का स्वागत करता है और पवन आकाश में जाकर बादलों को उड़ा ले जाता है। इसी प्रकार सभी पात्र अपने-अपने व्यक्तित्वों से मण्डित अपनी-अपनी क्रियाओं में संलग्न हैं। यह इन पात्रों का मानवीकरण नहीं है अपितु इनका सजीवीकरण है। प्रत्येक पात्र सजीव हैं, व्यक्तित्वयुक्त हैं और अपनी चर्या में लीन हैं। एक मनस्तत्त्व है जो सबके अन्दर विद्यमान है, एक गतिशीलता है जो सबमें व्याप्त है और एक जीवन्तता है जो सबमें अनुस्यूत है। कलश से लेकर झारी तक, स्वर्ण से लेकर माटी तक, पृथ्वी से लेकर आकाश व सागर तक सभी में यह जीवन्तता व व्यक्तित्व उपलब्ध है। मानव पात्र तो दो-एक ही हैं—शिल्पी कुम्भकार और सेठ या आतंकवादी समूह। मुनिवर को भी मानव पात्रों में गिन लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त शेष सब मानवेतर पात्र ही हैं—जड़ व जंगम दोनों प्रकार के पात्र, पर अपने व्यक्तित्व व जीवन्तता में परम सजीव, परम प्राणवन्त।

सम्पूर्ण कथ्य को चार खण्डों में विभाजित कर के शिल्पित किया गया है। महाकाव्य में कथा क्रम की संरचना, कथा का प्रबन्धन विशेष महत्त्व रखता है। 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' के आधार पर महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। 'मूकमाटी' सर्गबद्ध नहीं है, अध्यायों-परिच्छेदों में भी विभक्त नहीं है। चार खण्डों में विभाजित हो कर रची गई कथाकृति है। खण्डों की योजना कथा-क्रम को नहीं, कथाकार की दृष्टि को उद्घाटित करती है। 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' तथा 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक के चार खण्ड साधना के चार चरणों को रेखांकित करते हैं। प्रथम खण्ड साधक द्वारा आत्मशुद्धि की प्राप्ति का चरण है, द्वितीय खण्ड साधक द्वारा शब्द से ज्ञान की ओर बढ़ने का चरण है, तृतीय चरण साधना में लीन हो कर अपने पापों को धोने व पुण्य के पालन की तपस्या का चरण है तथा चतुर्थ चरण अग्नि-परीक्षा देने और उसमें सफल होने का चरण है। यह खण्ड विभाजन संकेत कर रहा है कि यह महाकाव्य कथा नहीं, घटना-क्रम नहीं है अपितु यह तो साधना की, तपस्या की, मुनि बनने की प्रक्रिया का शब्दांकन है, न इससे कुछ कम, न कुछ ज़्यादा।

'मूकमाटी' की रचनाधर्मिता का वास्तविक क्षेत्र है इसका अभिव्यक्ति शिल्प। काव्य तो हृदयोद्भूत निराकार अव्यक्त तत्त्व होता है। उसका वर्ण, रेखाएँ, भंगिमाएँ, आयाम तथा कोण क्या हैं, कैसे हैं, इसकी अनुभूति होती है मात्र इसके स्वामी को। उस अनुभूति को उसकी सम्पूर्ण वर्णच्छटा में, आकार-प्रकार में प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ बना देना अभिव्यक्ति-शिल्प का ही कार्य होता है। कथ्य का रूप-स्वरूप कवि में अन्तर्भूत चिन्तक की सृष्टि होती है और उसकी अभिव्यक्ति कवि में अन्तर्निहित कलाकार की। 'मूकमाटी' का कवि जैसा अनुपम चिन्तक है वैसा ही विशिष्ट कलाकार। इस सन्त कलाकार ने अभिव्यक्ति के माध्यम भाषा-तत्त्व का जिस कौशल एवं सहज अधिकार से प्रयोग किया है, वह स्थान-स्थान पर चकित करता है। भाषा की गति उसके छन्द में देखी जाती है। प्रायः महाकाव्य सुनिर्दिष्ट छन्दों में लिखे जाते हैं, सर्गान्त में छन्द परिवर्तित होता है जो कि अगले सर्ग में कथा-क्रम के परिवर्तन का संकेत-सूचक होता है। 'मूकमाटी' में छन्द कथा-क्रम के अनुसार परिवर्तित नहीं होता अपितु स्रष्टा कलाकार की संवेदना की तरंगों व भंगिमाओं के अनुसार कहीं सरपट दौड़ता है, कहीं ज़रा रुक कर विश्लेषण करता है, कहीं उछालें लेता है, कहीं प्रश्न पर प्रश्न दागता है और कहीं शान्त चित्त की एक धवल हँसी को व्यक्त करता है। इस छन्द का कोई नाम नहीं है—यह केवल छन्द है भाव के नर्तन का स्वर, ताल, भाव के संगीत की लय और अनुभूति का आकार, यथा :

- *"इस अवसर पर/पूरा-पूरा परिवार आ/उपस्थित होता है....*
  तैरती हुई मछलियों से/उठती हुई तरल-तरंगें/तरंगों से घिरी मछलियाँ
  ऐसी लगती हैं कि/सब के हाथों में/एक-एक फूल-माला है।" (पृ. ७६)
- *"भाँति-भाँति की लकड़ियाँ सब/पूर्व की भाँति कहाँ रहीं अब!*
  सब ने आत्मसात् कर/अग्नि पी डाली बस!
  या, इसे यूँ कहें—/अग्नि को जन्म देकर अग्नि में लीन हुईं वे।" (पृ. २८२)
- *"कायोत्सर्ग का विसर्जन हुआ,/सेठ ने अपने विनीत करों से*
  अतिथि के अभय-चिह्न-चिह्नित/उभय कर-कमलों में
  संयमोपकरण दिया मयूर-पंखों का/जो/मृदुल कोमल लघु मंजुल है।"
  (पृ. ३४३)

उपर्युक्त उदाहरणों में छन्द मन्द गति से, ठहरे-सधे पगों से मानों राजपथ पर टहल रहा है— सीधा, शान्त, स्पष्ट, अनुद्विग्न। इन तीन उद्धरणों में छन्द का स्वरूप निर्धारण नहीं किया जा सकता। इनमें मात्राओं की गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि वे सम नहीं हैं, यह तो केवल छन्द है, गति-भंगिमा।

इसमें संगीतकार गायक द्वारा ली जाने वाली तानें पलटें हैं – पृष्ठ २६२-२६४ तथा २९० आदि। और अनेक स्थानों पर छन्द की गति संगीत समारोह में हुई गायक व तबलावादक की गुणप्रदर्शिनी संगति की याद दिला देता है।

गति तो है छन्द, परन्तु गति है किसकी ? भाषा की और भाषा पर निश्चित रूप से लेखक का अधिकार है और लेखक ने भाषा का प्रयोग पूर्ण अधिकार के साथ किया है। संस्कृतनिष्ठ भाषा, शुद्ध तत्सम शब्द एक लोकोत्तर समाज व परिवेश का निर्माण सहज ही कर डालते हैं— कुम्भकार, देशना, सीमातीत शून्याकाश, बोधि, सल्लेखना, कषाय, व्याधि, उपाधि, उपाश्रम, प्रभाकर, जलधि, रत्नाकर, पगतली, पग-निक्षेप, जलांजली, द्यौव्य, रसकूप, उद्वेग, ऊष्मा, लेश्या, उपशमन, काष्ठा-पराकाष्ठा, प्रासुक, गन्धोदक, कायोत्सर्ग, घृतांश, वैषयिक भोग-लिप्सा, सारहीना, विपदा प्रदायिनी आदि शब्द हिन्दी के होते हुए भी एक हिन्दीतर वातावरण की एवं प्रकारान्तर से एक अन्य लोकातीत समाज के वातावरण की रचना कर डालते हैं। उस वातावरण में कृति का सन्देश सहज ग्राह्य हो उठता है। 'मूकमाटी' के शब्द

प्रयोग की एक विशेषता विशेष रूप से ध्यातव्य है–वह है शब्द-रूप का अन्वय करके, उसके अन्तर में छिपे अर्थ स्तर का शोध-परिशोध। शब्द वास्तव में एक अर्थ का आकार ही तो होता है। शब्द निर्माण की प्रक्रिया का सही अन्वेषण भाषा वैज्ञानिकों के वश की बात भी नहीं है। 'मूकमाटी' के रचयिता ने शब्दों के अभिधेयार्थ को नहीं अपितु उसके आसपास वर्तमान अर्थ परिवेश को गहरा टटोलकर उसके सही अर्थ का निर्धारण किया है, और उसी अर्थ का प्रयोग किया है। इस क्रम में शब्दों को कहीं तोड़ा है, कहीं खण्डित किया है, कहीं उसके वर्ण-क्रम को उलटा है और कहीं-कहीं व-ब, र-ल, ल-ड, स-श आदि का परस्पर परिवर्तन भी किया है। इ और ई में तथा उ और अ में भी यथारुचि परिवर्तन व स्थानान्तरण किया गया है। जलधि को 'जड़-धी', 'अवसर' को 'अब-सर', वैखरी को 'बै-खरी', महिला को 'मही-ला' तथा इसी प्रकार अबला, सुता, दुहिता आदि शब्दों के नए व्युत्पत्त्यर्थ खोजे गए हैं। कलशी को 'कल-सी' कह कर उसका नया अर्थ किया गया है। शब्दों के रूप भी यथारुचि, यथावश्यकता बदले अथवा नए निर्मित किए गए हैं। कुछ विशेषणों में आगे 'इम' प्रत्यय लगाकर उनके विशेषणत्व पर मानों और अधिक बलाघात दिया गया है– जैसे सरलिम, तरलिम, धवलिम...।

'मूकमाटी' 'कला कला के लिए' का काव्य नहीं है। इसकी रचना एक गहन, गम्भीर प्रयोजन की साक्षी देती है। आज के समाज, जीवन मूल्यों, जीवन व्यवहार, मनोविज्ञान, आचार-व्यवहार पर पैनी, खोजी दृष्टि डालते हुए एक कुशल वैद्य के समान रोग का निदान एवं समाधान दोनों प्रस्तुत किए गए हैं। निदान के सन्दर्भ में दृष्टि पूर्णतया यथार्थवादी है। जीवन में चहुँओर हाहाकार है क्योंकि व्यक्ति 'स्व' में स्थित नहीं है, स्वस्थ नहीं है। 'स्व' की खोज, शोध उसे नहीं है। आज का व्यक्ति 'स्व' का शोधक नहीं, 'स्व' का प्रतिष्ठापक है। वही प्रतिष्ठा उसे उपलब्ध नहीं होती बल्कि प्रतियोगिता, विरोध और खण्डन प्राप्त होते हैं। वह स्थिति उसे सहन नहीं होती और द्वेष-बैर उत्पन्न हो जाते हैं एवं बढ़ जाते हैं। पर का उत्कर्ष भी सहन नहीं होता और पराई सम्पदा को बलपूर्वक अपना बना लेने का प्रयास चलता रहता है। सरिताओं के माध्यम से पृथ्वी की सारी सम्पदा समुद्र हथिया लेता है–रत्नाकर कहाता है, प्रभाकर सूर्य उसे वास्तविकता बताकर उसकी जोड़ी सम्पत्ति प्रकाश में लाना चाहता है, जल का वाष्पीकरण होता है, उससे रत्नाकर क्षुब्ध होता है। अपने सहकर्मी चन्द्र की सहायता लेता है, चन्द्र जल को आकर्षित करता है और रत्नाकर की निधि को ढक देता है। प्रभाकर तब भी नहीं हारता तो जलधि जलकणों को बादल बना कर सूर्य को ढकने भेजता है। बादलों के प्रयास तीव्र से तीव्रतर होते जाते हैं। सूर्य–अपराजेय सूर्य का मानमर्दन करने व उसे परास्त करने के लिए रत्नाकर राहु को भेजता है उसे ग्रस लेने के लिए। सूर्यग्रहण होता है किन्तु फिर ग्रहण दूर भी हो जाता है। इन्द्र रोष में आ कर वज्र से बादलों को छिन्न-भिन्न कर देता है पर बादल क्रोध में आ कर जाते-जाते उपल-वर्षा कर जाते हैं। अर्थात् इस प्रकार दुष्टजन अधिकाधिक शक्ति से, बल से सुजन की सही बात न मानते हुए उसे परास्त करने की दुरभिसन्धि में लीन रहते हैं। कुम्भकार के सत्परिश्रम रूप कच्चे कुम्भ को सूखने न देने के लिए तमाम षड्यन्त्र रचे जाते हैं–आँधी, पानी, ओले और सब कुछ। धन वर्षा भी की जाती है ताकि साधना भंग हो जाए। और धन पर अधिकार जमाने राजा (शासक) उपस्थित हो जाता है, यद्यपि वह अपने मन्तव्यों में सफल नहीं हो पाता।

साहित्य में मानव का हित तत्त्व छिपा हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा था कि जो साहित्य जन-मानस को परमुखापेक्षिता से नहीं बचा सकता, वह निरा वाग्जाल है। साहित्य में शब्द ही शब्द तो हैं, यदि उन शब्दों के द्वारा मानव का कोई आत्यन्तिक कल्याण सिद्ध न होता हो तो उस वाग्-व्यापार से क्या लाभ ? और महाकाव्य ? उस की महानता केवल आकार की, शब्द सम्पदा की, अलंकार छटा की अथवा कल्पना की उड़ान की ही नहीं होती, उस का सम्बन्ध मानवता से होता है, मानव के सुख-दुःख से, कल्याण से, संकटों एवं समस्याओं से उसका घना सरोकार होता है। इसी से पलट-पलट कर कविगण महाकाव्यों के लिए ऐतिहासिक, पौराणिक, प्रतिष्ठित प्रसंगों-सन्दर्भों को

लेते हैं, समसामयिक जीवन-व्यवस्था के सन्दर्भ में उसको नवीन रूप से व्याख्यायित करते हैं और परम्परा का नवीनीकरण करके उसे प्रासंगिक व उपयोगी बनाते हैं। महाकवि तुलसी ने अपने ढंग से एक पुरातन कथा को समसामयिक सन्दर्भानुकूल बनाकर तात्कालिक जीवन स्थितियों, समस्याओं, चिन्तन को उसमें जन-कल्याण की दृष्टि से प्रस्तुत किया था और आधुनिक काल में महाकवि जयशंकर प्रसाद ने मानव की सभ्यता के विकास रूपक को प्रागैतिहासिक, प्राक्पौराणिक महाप्रलय, अवशिष्ट देव, सन्तान, उसकी इच्छा-क्रिया-ज्ञान के त्रेत के समीकरण की समस्या को कथा में पिरो कर 'कामायनी' में प्रस्तुत किया है। ये दोनों ही महाकाव्य अपने अभिव्यक्ति सौष्ठव अथवा कथाक्रम के लिए मूल्यवान् नहीं हैं। इनके मूल्य का वास्तविक आधार है इन का 'दर्शन', महाकवि की जीवन दृष्टि, जो विश्लेषण के मार्ग से गुज़र कर निष्कर्ष या सन्देश पर जाकर ठहरती है। महाकाव्य का 'महात्व' (महत्त्व) उसके 'सन्देश' में निहित होता है।

'मूकमाटी' के सन्देश की महत्ता उसकी शाश्वतता में भी है और उसकी समसामयिक प्रासंगिकता में भी। मानव अभिशप्त है समस्या संकुल रहने के लिए। प्रकृति की ओर से ही उसे द्वेष, वैर, ईर्ष्या, अहंकार, हिंसा, शोषण आदि प्रवृत्तियाँ मिली हैं। परसम्पदा हरण, निन्दा, आत्मस्तुति, आत्मप्रतिष्ठा, षड्यन्त्र, परपीड़न, श्रेष्ठतरता का दम्भ, तुलना आदि व्यापारों में वह प्राकृतिक रूप से ही रत रहता है। इन सबके कारण जनजीवन कष्टों का आगार बना रहता है। कष्ट-मुक्ति की इच्छा और व्याकुलता भी स्वाभाविक है। परन्तु कष्टमुक्ति का मार्ग सुख-सुविधा, साधन-सम्पन्नता का चमचमाता राजमार्ग नहीं है अपितु तपस्या, समर्पण, अग्नि-स्नान का कठिन पन्थ है। संकरता, दोष, आपत्-विपद् का आगमन, इन सबसे राहित्य और मुक्ति-लाभ करके साधना, निष्ठापूर्वक शुद्धि, पवित्रता, सम्पूर्णता की ओर बढ़ने का क्रम ही तपस्या का क्रम है। यह तो सनातन सत्य है। समसामयिक सन्दर्भों में समाज एक और नए प्रकार के कष्ट से पीड़ित हो रहा है– जिसका नाम है आतंकवाद। विश्व के हर कोने में इसका उदय हो चुका है। समाज, व्यक्ति, शासन, संस्थाएँ आदि सब इससे आतंकित हैं, त्रस्त हैं और इसके आगे विवश हैं। कारण ? नवयुवा, जो अमित शक्ति, अदम्य उत्साह और अपरिसीम जोश से भरपूर होते हैं, वे समाज में प्रचलित सहज जीवन व्यवस्थाओं के परिणामस्वरूप साधना के स्थान पर रोष का मार्ग अपना बैठते हैं। स्वयं कुछ उपार्जन व सिद्धि-लाभ करने के स्थान पर दूसरे द्वारा श्रमपूर्वक उपार्जित सिद्धि, सफलता को बलपूर्वक छीन लेना चाहते हैं, और इसके लिए दल बना कर, शस्त्रास्त्रों का प्रयोग कर के, अपनी युवा शारीरिक शक्ति का प्रयोग करके वे अपने मनोरथ-सिद्धि में जुट जाते हैं। सम्पन्नों की सम्पन्नता को वे चोरी, अवैध शोषण, समाज विरोधिता आदि नाम दे-दे कर अपनी अवैध हिंसात्मक गतिविधियों के लिए एक कारण, एक उत्प्रेरक तत्त्व की रचना कर लेते हैं। और फिर सम्पूर्ण समाज, सम्पूर्ण वातावरण असुरक्षित हो उठता है, त्रस्त हो उठता है, आतंकित हो उठता है। आज का समाज लघु-अधिक इसी मानसिकता में जीने के लिए अभिशप्त हो उठा है। 'मूकमाटी' में विशेष रूप से इस समस्या पर विचार किया गया है। दोनों दलों का मानसिक विश्लेषण करके कुछ निष्कर्षों पर पहुँचा गया है :

> *"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,*
> *आतंकवाद का अवतार होता है।/अति-पोषण या अति-शोषण का भी*
> *यही परिणाम होता है,/तब/जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,*
> *बदले का भाव···प्रतिशोध !/जो कि/महा-अज्ञानता है, दूरदर्शिता का अभाव*
> *पर के लिए नहीं,/अपने लिए भी घातक !" (पृ. ४१८)*

आतंकवादियों की मानसिकता व सम्पन्न समाज के प्रति उनकी धारणा द्रष्टव्य है :

"अरे पातको, ठहरो !/पाप का फल पाना है तुम्हें/धर्म का चोला पहनकर
अधर्म का धन छुपाने वालो !/सही-सही बताओ,/कितना धन लूटा तुमने
कितने जीवन टूटे तुमसे !" (पृ. ४२६)

इस मानसिकता का स्वामी आतंकवाद जब भी पराभूत होता है तो पुनः-पुनः भड़क उठता है, क्योंकि :

"एक बार और/उसका डर भर उठा है/उद्विग्नता से–उत्पीड़न से
और/पराभव से उत्पन्न हुई/उच्छृंखल उष्णता से।" (पृ. ४३७)

उनकी धारणा यह है :

- *"आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?/सबसे आगे मैं*
  समाज बाद में !" (पृ.४६१)
- *"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !/और/लोभ के वशीभूत हो*
  अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा,
  धनहीनों में/चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।" (पृ.४६७-४६८)

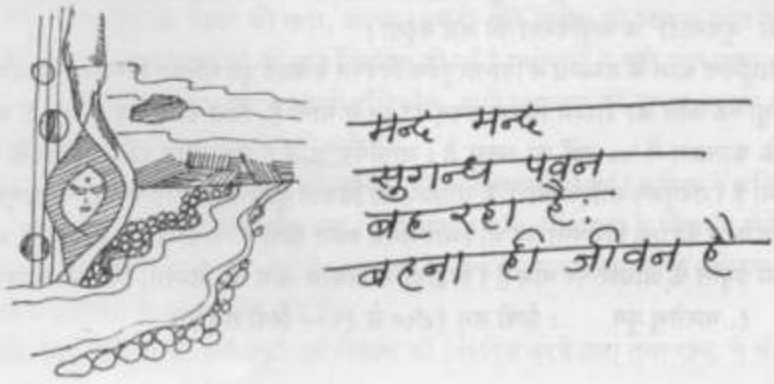
और सन्देश यह है कि जब आतंकवादी अपना अपराध स्वीकार करके समाज की शरण में आएँ तो माँ के समान समाज को उन्हें गोदी में स्वीकार कर लेना चाहिए, क्षमा कर देना चाहिए :

"तुरन्त शिशु को झेलती/ममता की मूर्ति माँ-सम
परिवार ने दल को झेला।" (पृ. ४७७)

और तब होता है :

"आतंकवाद का अन्त/और/अनन्तवाद का श्रीगणेश।" (पृ. ४७८)

कवि का यह सन्देश सर्वाधिक प्रासंगिक एवं समसामयिक है। उसमें निहित सन्देश एवं दृष्टि पर्याप्त मुखर हैं। 'मूकमाटी' केवल एक महाकाव्य ही नहीं है, प्रासंगिक मूल्यों वाला साहित्यिक आधुनिक महाकाव्य है। इसका स्वागत पाठक जगत् द्वारा होना अवश्यम्भावी है। □



'मूकमाटी' : चिन्तन एवं अनुचिन्तन

डॉ. घनश्याम व्यास

जीवन में कर्म की स्थिति महत्त्वपूर्ण एवं उच्च होती है। मानव का कर्म के प्रति आस्था का होना अत्यधिक आवश्यक है। आस्था के साथ मानव विचार करने की ओर अग्रसर हुआ था। मानव ने जिस समय से विचार करना प्रारम्भ कर दिया था और वाणी शब्दों की लहरों का निर्माण करते हुए सरिता के सदृश प्रवाहित होने लगी थी, उस समय से काव्य सृजन का क्रम प्रारम्भ हो गया था। इसी के साथ जीवन में आस्था और अनास्था का क्रम भी प्रारम्भ हो गया था। काव्य मानव-जीवन के इस पक्ष को हल करने की ही ओर अग्रसर होता रहा है। परिणामतः जीवन अपने मूल में अस्तित्व की समन्वयवादी स्थिति को ग्रहण करता हुआ अपने पथ की ओर निरन्तर अग्रसर है। इस क्रम की अभिव्यक्ति का समयगत निदर्शन काव्य में कई बार दृष्टिगत होता है और कई बार समन्वित होता है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा न करते हुए यह कह देना ही समुचित समझता हूँ कि काव्य और मानव या व्यक्ति या मनुष्य एक-दूसरे के पूरक हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव ने जब अपना अस्तित्व समझना प्रारम्भ कर दिया था, उसी समय से ही वाणी के माध्यम से शब्द क्रमगत रूप में निरूपित होने लगे थे। तदनन्तर इन्हीं शब्दों ने विशिष्ट क्रमान्तर्गत काव्य का स्वरूप धारण किया। इसी के सम्बन्ध में मैं यहाँ विचार करने के लिए तत्पर हूँ।

हिन्दी साहित्य का विकास-क्रम विद्वानों ने दसवीं शताब्दी से माना है। कुछ विद्वानों ने आठवीं शताब्दी से माना है। मैं इस विवाद में नहीं पड़ता और सीधा आधुनिक काल की ओर अग्रसर होता हूँ। विवेच्य कृति का सम्बन्ध भी आधुनिक काल से ही है। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य लेखन दो प्रकार से होता है– गद्य और पद्य में। प्रारम्भ में काव्य पद्य में ही लिखा जाता था। गद्य का प्रचलन कालान्तर में हुआ है। हिन्दी के विकास-क्रम की ओर ध्यान देने पर ज्ञात हो जाता है कि रीतिकाल तक काव्य पद्य में ही लिखा गया है। छुट-पुट लेखन गद्य में हुआ होगा। इसका परिणाम यह हुआ कि सामान्य जन पद्य में लिखे जाने वाले साहित्य को काव्य के नाम से समझने लगे और गद्य में लिखे साहित्य को काव्य कहने में हिचकाते हैं। यह भी एक विडम्बना है कि काव्य को एक शैली तक ही बाँधने का कार्य किया है। वास्तव में साहित्य की समस्त विधाएँ काव्य के अन्तर्गत ही आती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गद्य में लिखा जाने वाला साहित्य, यथा– कहानी, निबन्ध, उपन्यास आदि सभी काव्यान्तर्गत ही है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास-क्रम अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। इसी क्रम में आचार्य विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' भी आती है। आचार्यप्रवर ने काव्य के लिए जो विषय चुना है वह अपने आप में श्रेष्ठ एवं अनुपम है। मैं 'मूकमाटी' पर विचार करने के पूर्व आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'पद्य-साहित्य का विकास क्रम' की ओर अग्रसर होता हूँ। तदनन्तर 'मूकमाटी' के अनुचिन्तन की ओर बढ़ूँगा।

आधुनिक काल के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचन न करते हुए संक्षिप्त निरूपण ही करूँगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल का प्रारम्भ विक्रम संवत् १९०० से माना है, जिसे ईस्वी सन् १८५० के करीब मान सकते हैं। वैसे दोनों के कालक्रम में ५७ वर्षों का अन्तर है। आधुनिक काल ने तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर ही अपना विकास किया है। तदनुरूप साहित्यकारों के साहित्य का विकास हुआ और साहित्यकारों ने तदनुरूप विकास भी किया है। आधुनिक काल की एक विशेषता यह भी हमारे समक्ष स्पष्ट होती है कि प्रारम्भ में लेखकों के आधार पर नाम हैं और बाद में काव्य प्रवृत्ति के आधार पर नाम हैं। विद्वानों ने विकास-क्रम को निम्नतः निरूपित किया है :

१. भारतेन्दु युग : ईस्वी सन् १८५० से १९०० ईस्वी सन् तक

२. द्विवेदी युग : ईस्वी सन् १९०० से १९१८ ईस्वी सन् तक
३. छायावादी युग : ईस्वी सन् १९१८ से १९३६ ईस्वी सन् तक
४. प्रगतिवादी युग : ईस्वी सन् १९३६ से १९४३ ईस्वी सन् तक
५. प्रयोगवादी युग : ईस्वी सन् १९४३ से १९४८ ईस्वी सन् तक
६. स्वातन्त्र्योत्तर युग : ईस्वी सन् १९४८ से अद्य तक

मैं यहाँ प्रत्येक युग का विशिष्ट ढंग से विवेचन न करते हुए अत्यन्त संक्षिप्त निरूपण करूँगा। अर्थात् केवल विशेषताओं का ही उल्लेख करूँगा। वह भी इस कारण उल्लिखित करना आवश्यक समझता हूँ कि उन सबका 'मूकमाटी' में किस प्रकार समाहार हुआ है, ज्ञात हो सके।

१. *भारतेन्दु युग :* भारतेन्दु युग के काव्य में राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुई है। सामाजिकता की भावना को इस समय प्रमुख स्थान दिया गया। नारी-शिक्षा, अस्पृश्यता, सामाजिक कुरीतियाँ आदि पर कविताएँ रची गईं। कविता में नवीनता एवं प्राचीनता का अद्भुत समन्वय दृष्टिगत होता है। प्रकृति-चित्रण आलम्बन रूप में अधिक हुआ है। हास्य-व्यंग्य के भी रचनाओं में दर्शन होते हैं। अतीत का गौरव-गान राष्ट्रीयता को ध्यान में रखकर किया गया है। इस समय से गद्य का प्रचलन भी विशेष रूप में होने लगा था।

२. *द्विवेदी युग :* द्विवेदी युग में देश-प्रेम की भावना विशेष रूप से मुखरित हुई है। धार्मिक-चेतना का विकासात्मक समावेश हुआ। काव्य में इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। सामाजिक-चेतना का विकसित स्वरूप दृष्टिगत होता है। कुरीतियों को समाप्त करने की आवाज उठाई। इस समय गद्य का विकास विशेष रूप से हुआ और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली को व्याकरण सम्मत बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। प्रकृति का विविध रूपों में चित्रण हुआ। द्विवेदीयुगीन काव्य की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि वह नीतिपरक एवं आदर्शवादी है।

३. *छायावादी युग :* छायावादी काव्य में सौन्दर्य-चेतना का पक्ष नारी-सौन्दर्य एवं प्रकृति-सौन्दर्य– दोनों रूपों में प्रकट हुआ है। इस समय प्रेम की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है। इस समय आत्मनिष्ठता के साथ वैयक्तिकता उभर कर सामने आई है। काव्य में रहस्य भावना व्यक्त हुई है। काव्य में आत्म-वेदना, पीड़ा, करुणा आदि का स्वर मुखरित हुआ है। नारी-सम्मान की भावना का विकास हुआ है। इस समय की श्रेष्ठ विशेषता - मानवतावादी धारणा का विकास, मानवीय पहलुओं के साथ राष्ट्र-प्रेम की ओर विशेष उन्मुख हुआ। प्रकृति का मानवीकरण प्रकृति-चित्रण के साथ हुआ है एवं काव्य-कल्पना का प्रचुर रूप में दर्शन होता है।

४. *प्रगतिवादी युग :* प्रगतिवादी युग के काव्य में शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। इसी के साथ रूढ़ियों का विरोध, ईश्वर की सत्ता, आत्मा, धर्म के प्रति विद्रोह की भावना प्रकट करना आदि दृष्टिगत होता है। सबका जीवन समान करने की बात निरूपित की गई है। शोषकों के प्रति घृणा प्रमुख रूप से उभर कर आई है। काव्य में क्रान्ति की भावना, मानवतावादी दृष्टिकोण, नारी स्वातन्त्र्य की बुलन्द आवाज़ मुखरित हुई है। इसी के साथ मुक्त छन्द की ओर कविता तेजी से बढ़ी है।

५. *प्रयोगवादी कविता :* प्रयोगवाद तक पहुँचते-पहुँचते कविता घोर व्यक्तिवादी हो गई। कविता में अति यथार्थवाद का चित्रण प्रारम्भ हो गया जो नग्न यथार्थ तक पहुँच गया। इसी के साथ अति बौद्धिकता के भी दर्शन होते हैं। काव्य में व्यंग्य की प्रवृत्ति अधिक मुखर होकर सामने आई है। इन पक्षों के साथ इस समय उपमानों में नवीनता, विषयों में नवीनता तथा शैली में नवीनता के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

यहाँ तक आते-आते साहित्य का क्रम अपने पूर्ण विकास को निरूपित करने लगा तथा राष्ट्र ने भी अपनी नई

करवट ली, जिसे हम स्वतन्त्रता कहते हैं। 'मूकमाटी' इस युग के विकास-क्रम को निरूपित करने की ओर अग्रसर हुई है, इसका ही मैं विवेचन करूँगा।

'मूकमाटी' की ओर : काव्य की क्रमागत स्थिति अपने आप में श्रेष्ठ और बन्धनमुक्त है। यह तथ्य समझ लेना भी आवश्यक है। मैं यह कहूँ कि आचार्यश्री विद्यासागर ने माटी सदृश सामान्य वस्तु पर विशाल कवित्व क्यों कर प्रस्तुत किया ? कहना ही गलत है। जीवन के क्षेत्र का अध्ययन करने पर ज्ञात हो जाता है कि माटी की क्या स्थिति है और वह विश्व के तत्त्वों में किस रूप में स्वीकार्य है। इस सम्बन्ध में मैं एक घटना का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ। मैं मॉडल मिल्स में क्लर्क था और स्नातक कक्षा में अध्ययन करता था। महाविद्यालय में तत्क्षण वक्तृत्व प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था। समय सन्ध्या छह बजे से सात बजे का रहा होगा। मैं मिल्स से घर भोजन के लिए इसी समय जाता था। मैंने भी प्रतियोगिता में भाग लिया था। उस समय मुझे मेरे एक मित्र ने पूछा था कि इसके पहले कभी कहीं पर सबके सामने खड़े होकर कुछ कहा है ? मैंने कहा—'मैंने इसके पूर्व कभी कहीं कुछ नहीं कहा और स्कूल में तो कुछ कहने का साहस भी नहीं किया था।' तब उसने कहा—'दोस्त, तुम निश्चित रूप से काँपते हुए वापस आओगे।' मैंने कहा—'देखेंगे।' इस प्रतियोगिता का नियम होता है—अपने पूर्व बोलने वाले वक्ता के साथ वक्तव्य प्रारम्भ करने के समय विषय की चिट निकालनी पड़ती है। यह बात है ईस्वी सन् १९५६-५७ की। नाम पुकारने पर मैंने चिट निकाल ली। विषय निकला 'धूल'। धूल का अर्थ होता है 'मिट्टी'—माटी। मैंने अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया था :

"अनल अनिल जल गगन रसा है/इन पाँचों पर विश्व बसा है।"

परिणाम निकला था - मुझे प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। यह है माटी की महिमा कि प्रथम बार वक्तव्य देने को खड़े होने के उपरान्त भी प्रथम स्थान का अधिकारी बन गया था। उस समय मुझे अत्यधिक आश्चर्य हुआ था और मेरे मित्र की स्थिति तो अद्भुत हो गई थी। और उसे मैं कहूँगा—दर्शनीय। मैंने अनुभव किया कि पुरस्कार मुझे नहीं, उसे प्राप्त हुआ है वह आनन्द-विभोर होकर नृत्य करने लगा था। इस घटना का विवरण मैंने दिया है—केवल माटी से सम्बन्धित होने के कारण। इसी के साथ मेरे मित्र के निःस्वार्थ भाव से पुष्ट आनन्द का उल्लेख करने हेतु भी। माटी का यही तो सर्वश्रेष्ठ गुण है। वह अपने लिए नहीं—शेष सबके लिए भी है। ऐसे अद्भुत एवं महनीय तत्त्व को आचार्यश्री ने अपने काव्य का विषय बनाया है।

'रसा' शब्द अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मानव का वास्तविक विकास पृथ्वी के सान्निध्य में ही हुआ है और रसा का अर्थ ही पृथ्वी है। सच तो यह है कि मानव ने काव्य-लेखन माटी की सुमधुर गन्ध के सान्निध्य में बैठकर ही प्रारम्भ किया था। जीवन का क्रम ही इससे पुष्ट है जो काव्य के परिचालन में अपने आप अनुपम है, अद्वितीय है। यही बात आचार्यश्री विद्यासागर ने अपने काव्य ग्रन्थ में कही है, जो जीवन की दृष्टि से सहज होने के साथ-साथ दर्शन पक्ष को भी निरूपित करती है। जीवन के साथ सहज गति से दर्शन का पुष्टीकरण काव्य के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है। उसके लिए भी यह तथ्य आवश्यक है कि उसमें दुरूहता या जटिलता नहीं आनी चाहिए। वह सहज रूप में बोधगम्य होना चाहिए। दर्शन की पहेलियाँ बूझना उसका कार्य नहीं होना चाहिए। मैं स्पष्ट रूप से कह सकता हूँ कि प्रस्तुत कृति 'मूकमाटी' इस दृष्टि से सशक्त रचना है। मुझे यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं है कि मानव-काया पाँच तत्त्वों का यौगिक रूप है और उसमें भी 'रसा' का अस्तित्व विशेष उल्लेखनीय है। मानव-काया का क्रम पृथ्वी तत्त्व अर्थात् 'रसा' यानी 'माटी' पर ही आधारित है। इस पक्ष को न तो आचार्यश्री नकार सकते हैं और न ही विश्व का कोई अन्य प्राणी ही। उसमें मैं भी आ गया। माटी का गुण-धर्म है आकार धारण करना। यह आकार माटी का क्रम है, जिसमें विश्व के अन्य चार तत्त्व क्रमशः अपना क्रम सन्निहित करते हैं और आकार को अनेक गुणों से सम्पन्न करते हैं। इस विवरण से यह तो

समझ में आ ही जाता है कि आकार धारण करने की शक्ति केवल माटी में है और अन्य तत्त्व उसे अपनी शक्ति से परिचालित करते हैं, जिसका परिणाम होता है—सजीवता।

पंच तत्त्वों में आकार ग्रहण की क्षमता से माटी पुष्ट है, अन्य तत्त्व उसके सान्निध्य में रहकर जीवन के जीवन्त पक्ष को उजागर करते हैं। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि माटी श्रेष्ठ या अन्य तत्त्व श्रेष्ठ ? यह प्रश्न इन तत्त्वों से किया जाय तो हमें यही उत्तर मिलेगा कि हम सब बराबर हैं, सम हैं। हम आपस में ऊँच-नीच या श्रेष्ठत्व का भाव नहीं रखते हैं। हम अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करते हैं और कर्म में रत रहते हैं, ताकि जीवन गर्वहीन, निर्विकल्प भाव से व्यतीत होता रहे। जीवन का सत्य तो यह है कि हम पाँचों मिलकर ही जीवन के क्रम में सन्निहित होते हैं, अन्यथा प्रत्येक अपनी-अपनी स्थिति तक ही सीमित रहता और जीवन से परे रहता। सच तो यह है कि जीव तत्त्व का महत्त्व सम्मिलन में है, पृथकत्व में नहीं। इतना सब कुछ होते हुए भी हम सब यह स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाते कि आकार ग्रहण करने की शक्ति केवल 'रसा' में है, जो माटी कहलाती है। जीवन रूप में ही निहित है, अतः उसे हम हमारा अस्तित्व स्थल मानते हैं। मुझे उस समय आश्चर्य हुआ कि 'मूकमाटी' के 'प्रस्तवन' में लिखा है : "सबसे पहली बात तो यह है कि माटी जैसी अकिंचन, पद-दलित और तुच्छ वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाने की कल्पना ही नितान्त अनोखी है।" मैं समझ नहीं सका कि श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन सदृश विद्वान् ने माटी को तुच्छ कैसे मान लिया जबकि वह पंच तत्त्वों में से एक है और आकार ग्रहण की शक्ति केवल माटी में ही है। उसकी दार्शनिकता का तो विवरण इसके पूर्व आदि काल से ही ज्ञात है। यही कारण है कि महात्मा कबीर सदृश सन्त कवि ने कहा है :

"माटी कहे कुम्हार सूं, तू क्या रूँधै मोहि।
इक दिन ऐसा आयगा, मैं रूँधूँगी तोहि॥"

इसी के साथ श्री लक्ष्मीचन्द्र जी जैन ने कहा है : "दूसरी बात यह है कि माटी की तुच्छता में चरम भव्यता के दर्शन करके उसकी विशुद्धता के उपक्रम को मुक्ति की मंगल-यात्रा के रूपक में ढालना कविता को अध्यात्म के साथ अ-भेद की स्थिति में पहुँचाना है।"

मेरा इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत है कि आचार्यश्री विद्यासागर ने अपने कवि-कर्म को जीवन-संगीत के ऐसे तत्त्व से सन्निहित कर अपने भाव-लोक को सहज गति से दार्शनिक तथ्यों की ओर अग्रसर किया है कि सामान्य जन भी उसकी गूढ़ता को आत्मसात् कर ले। माटी जीवन को आकार प्रदान करता है और अन्य तत्त्व जीवन्तता प्रदत्त करते हैं। इस प्रकार माटी अपने आप में सर्वश्रेष्ठ एवं अनुपम है, उसे मैं तुच्छ मान्य नहीं करता। उसमें ही सहज गति है और सजीवता को स्थान प्रदान करने की शक्ति है। परिणामतः सजीवता अपनी गति से सन्मार्ग की ओर अग्रसर होती है। आचार्यश्री ने सम्भवतः इसी क्रम को ध्यान में रखकर अपनी मूल धारणा को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है। 'मूकमाटी' के कथ्य की ओर ध्यान देने पर ज्ञात हो जाता है कि सम्पूर्ण काव्य प्रकृति की मूल चेतना से आप्लावित है। प्रकृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है 'माटी', जिसे ही काव्य का विषय बनाया है। जिस समय विचारक इस ओर विचार करने के लिए अग्रसर होता है तो उसे सहज में ही स्वीकार करना पड़ता है कि काव्य का आरम्भ ही प्रकृति के सान्निध्य से हुआ है। प्रकृति के कण-कण से काव्य सराबोर है। प्रकृति की चेतनता, प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण, जीवन की यथार्थता, चेतना की विशुद्ध चिरन्तनता का निरूपण करते हुए आचार्यश्री ने जीवन की पावन भाव-भूमि का अद्भुत पक्ष उद्घाटित किया है। आचार्य विद्यासागरजी की कृति 'मूकमाटी' के अन्तर्गत निहित विचार तन्तुओं के साथ काव्यात्मकता का विवेचन करने के पूर्व कृति की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक समझता हूँ।

भारतीय साहित्य शास्त्र ने साहित्य की स्थिति का विवरण गहनता के साथ प्रस्तुत किया है और साहित्य में लिखित अनेक रूपों का निरूपण किया है। 'मूकमाटी' का पठन प्रारम्भ करने के पूर्व उसके आकार की ओर देखने पर सिद्ध हो जाता है कि कृति महाकाय है और विषय भी पंच तत्त्वों में से एक तत्त्व से सम्बन्धित है तथा जिसमें आकार ग्रहण करने की क्षमता है। परिणामतः मैं इसे 'तत्त्व' के आधार पर ही महान् स्वीकार करते हुए विचार करने की ओर अग्रसर होता हूँ। वैसे 'मूकमाटी' का विस्तार चार सौ अट्ठासी पृष्ठों के मध्य फैला हुआ है। अतः महाकाय तो अपने आप ही है। भारतीय साहित्य शास्त्र में महाकाव्य की परिभाषा निरूपित है। समस्त पक्षों के साथ उच्च एवं श्रेष्ठ नायक आवश्यक है। विद्यासागरजी की कृति का केन्द्र-स्थल है–'माटी'–वह भी मूक। काव्य का नायक बोलता है, चलता है, कर्म करता है, परन्तु मूकमाटी तो केवल स्थिर रहती है। क्या 'मूकमाटी' को केवल विशाल आकार के कारण ही महाकाव्य स्वीकार कर लिया जाय ? यह पक्ष उतना सार्थक सिद्ध नहीं होता। जीवन की श्रेष्ठता उदात्त विचारों में निहित होती है एवं सद्भाव पूर्ण तथ्यों से परिपुष्ट होती है।

काव्य में रम्यता को आचार्यों ने स्वीकार किया है। प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य की व्याख्या करते हुए उसके नायक में उदात्त भाव को विशेष रूप से देखने का प्रयास किया है। यह उदात्तता क्या है ? सहज रूप में स्वीकार करना पड़ता है कि उदात्तता ही जीवन के श्रेष्ठत्व को पुष्ट करती है। भारतीय साहित्य शास्त्र में उदात्त तत्त्व की स्थापना यत्र-तत्र मिलती है। इसी के साथ उच्च विचार, साहस, शक्ति-सम्पन्नता आदि पक्षों का भी निरूपण मिलता है। इसी के आधार पर महाकाव्य के नायक की स्थिति को मान्य किया गया है। 'मूकमाटी' के सम्बन्ध में नायकत्व की स्थिति का क्रम सुस्पष्ट नहीं है, परन्तु कुम्भकार का चित्रण अनेक स्थितियों को चित्रित करता है एवं विशुद्ध भावों के निरूपण में पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। मैं यहाँ महाकाव्य की विशिष्ट परिभाषा नहीं देना चाहता परन्तु प्राचीन आचार्यों के मतों के आधार पर ही आधुनिक भावबोध को ध्यान में रखते हुए कहना चाहता हूँ कि काव्य का कर्म सद्भावों की धारा को निरन्तर प्रवाहित करना है एवं जो काव्य इस दृष्टि से पुष्ट है वह अपने कलेवर और विचार तन्त्र के आधार पर महाकाव्य मान्य किया जा सकता है। आचार्य विद्यासागरजी की कृति 'मूकमाटी' अपने विचार तन्त्र, विशुद्ध भावात्मकता, उदात्त जीवन पक्ष का निरूपण, जीवन के सत्य पक्ष से सन्निहित इतिवृत्त, वस्तु व्यापार एवं संवादात्मक घटना चित्रण के साथ अनुपम भाव-व्यंजना के कारण महाकाव्य स्वीकार की जा सकती है। मैं इसे आधुनिक जीवन दृष्टि और सम-सामयिक वस्तु तन्त्र-योजना की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत महाकाव्य स्वीकार करता हूँ। मैं इस मत का भी हूँ कि काव्य कृति जीवन के उदात्त पक्ष से पुष्ट होती हुई निरन्तर जीवन-सत्य के साथ, सद्भावों को पुष्ट करने में सक्षम है तो इसे महाकाव्य मान्य करना चाहिए। 'मूकमाटी' का जहाँ तक प्रश्न है, उसमें जीवन की अदम्य वासना के त्याग की और जीवन को निम्न से उच्च पथ की ओर अग्रसर करने की ही मूल चेतना निहित है। भारतीय आचार्यों के सदृश पाश्चात्य आचार्य लांजाइनस ने भी काव्य में उदात्त तत्त्व को महत्त्व पूर्ण माना है। मैं महाकाव्यत्व के सम्बन्ध में अधिक विचार न करते हुए अन्य पक्ष की ओर अग्रसर होता हूँ - यह कहकर कि 'मूकमाटी' निश्चित रूप से आधुनिक भावबोध एवं समसामयिकता के आधार पर उच्च कोटि का महाकाव्य है।

'मूकमाटी' का कथानक

आचार्यश्री विद्यासागर का काव्य 'मूकमाटी' मूलतः एक आचार्य की कृति है, जैन दर्शन के विद्वान् मनीषी की कृति है। सत्य के प्रति सजग सन्त कवि की कृति की ओर ध्यान देने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह कृति के माध्यम से सूत्रपात करना चाहता है या अपने द्वारा अनुभूत जीवन-यात्रा के क्रमबद्ध इतिहास को शब्दमय रूप में प्रस्तुत करते हुए संसार के प्रति इस प्रकार अपने को संयत रखने का क्रम स्वीकार करना चाहिए। नियति के साथ किस प्रकार मानव की

क्रियाएँ सन्निहित रहती हैं और किस प्रकार वह अपने कर्म के माध्यम से उच्च पथ का पथिक बन जाता है, ऐसे क्रम को विवेचित करने के लिए कथा का आधार स्वीकार करना ही पड़ता है। 'मूकमाटी' का कथानक क्या है—इस सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व मैं यह समझाना आवश्यक समझता हूँ कि 'कथा' से हमारा क्या तात्पर्य है ?

मानव-विकास के सिद्धान्त की ओर ध्यान देते हैं तो ज्ञात हो जाता है कि प्रारम्भ में मानव कुछ भी नहीं समझता था। वह धीरे-धीरे क्रमशः अपने आस-पास के वातावरण को समझने लगा था। तदनन्तर उसे ध्वनियों का ज्ञान प्राप्त हुआ और उसने उन ध्वनियों के माध्यम से अपनी विचारणा प्रस्तुत करने का क्रम प्रारम्भ किया था। कालान्तर में मानव ने शब्द और वाणी के सहयोग से जीवन-पथ पर अग्रसर होना प्रारम्भ किया था। यही क्रम विकसित होते हुए काव्य की स्थिति को प्राप्त कर सका है। इसमें एक बात महत्त्वपूर्ण रही है—वह है, मेरे साथ अन्य की स्थिति का होना। अन्य की स्थिति के अभाव में कुछ भी कहना व्यर्थ है, निरर्थक है। यही तथ्य कथा के सम्बन्ध में मान्य किया जा सकता है। कथा भी इसी भावार्थ को सन्निहित किए है। कथा के मूल में 'कथ्' है—यह संस्कृत की धातु है। कथा की व्युत्पत्ति इसी से मान्य की गई है, जिसका साधारण अर्थ है—'वह, जो कहा जाता है।' जब मैं विचार करता हूँ तो सहज में ही स्वीकार करना पड़ता कि मैं कुछ भी कहता हूँ तो उसकी सार्थकता अन्य के कारण ही है अर्थात् मेरे अतिरिक्त अन्य की स्थिति नितान्त आवश्यक है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अवश्य ही सुनने को तत्पर हो। इस प्रकार कथा एक से अधिक की स्थिति को स्वीकार करती है, जो जीवन का मूल पक्ष है। एकान्त जीवन नहीं है। साथ होना जीवन का प्रतीक है। काव्य या साहित्य की ओर ध्यान देने पर यह सिद्ध हो जाता है कि वह एक से अधिक के प्रति ही आसक्त है। एक का वहाँ कोई अस्तित्व नहीं है। 'मूकमाटी' आचार्यश्री के विचारों का स्पन्दन है और जीवन के भोग का अभोग रूप है, जिसे वे सबके लिए—जन-कल्याण के लिए प्रस्तुत करने को तत्पर हैं 'मूकमाटी' के माध्यम से। अतः यह स्वीकार्य तथ्य है कि 'मूकमाटी' कथामय है। अतः उसका कथानक ऐसा है जो कथा के अस्तित्व को व्यक्त करता है। यहाँ एक तथ्य और स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ। मैं, कथा के साथ कहने की बात व्यक्त कर चुका हूँ। परन्तु, यह भी उतना ही सत्य है कि जो कुछ कहा जाता है वह कथा नहीं होती। हम सब आपस में अनेक प्रकार की बातचीत करते हैं, उन सबको कथा नहीं कह सकते। अतः कथा उसे स्वीकार करना होगा, जो किसी घटना के क्रम को निरूपित करे और समर्पक ढंग से निश्चित परिणाम को भी व्यक्त करे। भारतीय दर्शन में व्यक्त विचारों की ओर ध्यान देने पर ज्ञात हो जाता है कि जड़-चेतन दोनों ही समान रूप से अपने पक्ष को अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार व्यक्त करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि घटना संसार में स्थित किसी भी वस्तु से सम्बन्धित हो सकती है, यथा—मनुष्य, जीवधारी अन्य पशु, पक्षी आदि एवं संसार के अन्तर्गत उपलब्ध नाना प्रकार के पदार्थ एवं अन्य स्थितियाँ, जिनका अनुभव कल्पना के आधार पर भी किया जा सकता है। स्पष्ट है कि कथा घटनाबद्ध होनी चाहिए तथा परिणाम प्राप्त कराने में सक्षम होनी चाहिए।

कथा को समझने के पश्चात् कथानक को भी ज्ञात करना आवश्यक है। सम्पूर्ण कृति की कथा, कथा है और उसे संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर देना उसका कथानक है। सीधे-सादे अर्थ में समझना हो तो कह सकते हैं कि कथा घटनाओं का कालानुक्रमिक वर्णन है, जिसमें कार्य-कारण-सम्बन्ध की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, उसमें असम्बद्धता नहीं आनी चाहिए। परन्तु, इसी के साथ कथानक में समय की स्थिति को घटनावली खोलती है तथा संसार की युक्तियुक्त संघटना को भी कार्य-कारण के अन्तःसम्बन्ध के आधार पर अभिव्यक्त करती है। कथानक इस प्रकार बुद्धिगम्य है। कथा कथा की तरह अपने में, मूल रूप में स्थित रहती है। आचार्य विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' की ओर ध्यान देने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें घटनावली का क्रम संसार की युक्तियुक्त स्थिति को निरूपित करने में सक्षम है एवं घटना कालानुक्रमिक दृष्टि से परिणाम प्राप्त कराती है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य विद्यासागर की कृति एक निश्चित

क्रम को ही स्पष्ट करती है– वह है, किस प्रकार दीक्षा के प्रति सजग होना एवं उसके माध्यम से किस प्रकार विश्व-कल्याण का पथ अपनाना। आचार्य विद्यासागर ने अपनी कृति 'मूकमाटी' की कथा चौपदों के अन्तर्गत व्यक्त की है– इसे मैं चौ-पद ही कहना चाहता हूँ। कारण, चौ-पद–चारों ओर की स्थिति को निरूपित करता है तथा विषय के चतुर्दिक् रूप को भी व्यक्त करने में सक्षम है। यही कारण है कि आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' को चौपदों– यथा, एक–'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; दो–'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; तीन–'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और चार–'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'। प्रस्तुत चार बोधपक्षों के माध्यम से सम्पूर्ण कथा का पुष्टीकरण हुआ है एवं जीवन को एक निश्चित परिणाम प्रदान किया है। मैं, प्रथमतः कथानक के रूप में चारों पदों का संक्षिप्त विवरण देता हूँ, ताकि कृति के मूलार्थ को समुचित रूप में समझा जा सके।

संकर नहीं : वर्ण-लाभ : यह 'मूकमाटी' का प्रथम पद है। प्रथम पद का नामकरण कवि ने जिस विचार से किया है, वह तो मैं कह नहीं सकता, परन्तु मैं, मेरी दृष्टि से कह सकता हूँ कि कवि का मन्तव्य है विभिन्न क्रमों से युक्त। अर्थात् अत्यन्त मिला हुआ, जिसे प्रयत्नपूर्वक ही पृथक् करना पड़ता है। वर्ण का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह अपने आप में स्वतन्त्र है तथा प्रत्येक वर्ण मूल रूप में स्वच्छ एवं निर्मल है। संकर मिश्रित होने के कारण शुद्ध नहीं हो सकता। अतः आचार्य कवि सर्वप्रथम इस कर्म की ओर बढ़ते हैं कि जीवन क्रम शुद्ध और निर्मल हो जाय। प्रस्तुत पक्ष को ध्यान में रखते हुए कवि आचार्य ने अपनी कृति का प्रथम पद-'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' नामकरण से प्रारम्भ किया है। इसी भावबोध के साथ 'मूकमाटी' काव्य की कथा प्रारम्भ होती है। माटी मूल रूप में माटी होते हुए भी उसमें बहुत कुछ मिला रहता है। कंकर-कण के साथ और जो कुछ भी मिश्रित हो सकता है, वह माटी में मिला रहता है। कवि आचार्य ने माटी को लक्ष्य करके, उसके शुद्धीकरण का क्रम निरूपित किया है। इस क्रम को निरूपित करते समय कवि-कल्पना निर्मल भाव-बोध को विस्मृत नहीं होने देती। कवि माटी के संकर रूप को परिष्कृत करने के साथ, वर्ण-लाभ की बात को हमारे समक्ष उभार कर लाता है। प्रथम पद का प्रारम्भ कवि ने नियामक प्रकृति को आधार बनाकर ही किया है, जो यों उद्भूत हुआ है :

> *"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,/और···इधर···नीचे*
> *निरी नीरवता छाई,/निशा का अवसान हो रहा है*
> *उषा की अब शान हो रही है/भानु की निद्रा टूट तो गई है*
> *परन्तु अभी वह/लेटा है/माँ की मार्दव-गोद में,*
> *मुख पर अंचल लेकर/करवटें ले रहा है।" (पृ. १)*

प्रकृति के साथ जीवन का संसर्ग कितना मोहक होता है और किस प्रकार मानव प्रातः की स्वर्णिम किरणों के पदार्पण के साथ अपने जीवन-क्रम की ओर अग्रसर होने को तत्पर होता है। इस प्रकार कवि आचार्य ने एक साथ अपनी कृति के मूल अस्तित्व को भी हमारे समक्ष निरूपित कर दिया है–महाकाव्य के रूप में एवं जीवन की नित्य क्रियाओं के रूप में भी। इतना ही नहीं, कवि जीवन की अस्मिता को कर्म के साथ सन्निहित करते हुए सत्कर्म की ओर किस प्रकार बढ़ना चाहिए, इसका तात्त्विक विवरण भी देता है। यह क्रम कवि माटी और उसका अपने जीवन के लिए प्रयोग करने वाले कुम्भकार के कर्म से देना प्रारम्भ करता है। कहने को तो अत्यन्त सरल बात है, परन्तु माटी का परिष्करण ही जीवन के परिष्करण को स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष उपस्थित करता है। माटी को शुद्ध रूप में लाने का कार्य कुम्भकार प्रथमतः करता है, तदनन्तर उससे जीवनावश्यक वस्तुओं का निर्माण करता है। इस पद के माध्यम से कवि आचार्य ने जीवन शुद्धीकरण का मार्ग विवेचित किया है। माटी को निर्मल और शुद्ध रूप प्रदान करने के लिए जिन क्रियाओं का

आधार लेना आवश्यक है, उन्हीं क्रियाओं के माध्यम से जीवन क्रम का भी शुद्धीकरण होता है। कवि और आचार्य सन्त ने माटी के संकर रूप को परिष्कृत करने का विवरण सरल भाषा में देते हुए शब्द ब्रह्म की स्थिति को भी स्वीकारा है। 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' की बात कही है। कवि आचार्य ने वर्ण का आशय यों समझाया है :

"इस प्रसंग से/वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से
वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।/यानी !/जिसे अपनाया है
उसे/जिसने अपनाया है/उसके अनुरूप/अपने गुण-धर्म–
'''रूप-स्वरूप को/परिवर्तित करना होगा/वरना
वर्ण-संकर-दोष को/वरना होगा।" (पृ. ४७-४८)

कवि आचार्य की विचारणा यहाँ तक समुचित है, परन्तु मैं एक तथ्य और इसी सन्दर्भ में स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वर्ण अक्षर होते हैं। अक्षरों का अपने आप में शुद्ध और परिष्कृत क्रम है। क्रम ध्वनिमय होता है, अतः वर्ण ध्वनि रूप है। ध्वनि अपने रूप में शुद्ध एवं निर्मल है। कुम्भकार माटी को विभिन्न क्रियाओं के द्वारा शुद्ध एवं निर्मल करता है तथा उसे संकर दोष से मुक्त कर मृदु और शुद्ध रूप प्रदान कर देता है। इस प्रकार माटी अपने मूल रूप को प्राप्त करती है और उसे वर्ण-लाभ प्राप्त होता है। वर्ण-लाभ की स्थिति को प्राप्त होते ही उसमें ध्वनि तत्त्व अर्थात् आकाश तत्त्व सन्निहित हो जाता है। यह जीवन का क्रम प्रारम्भ होने की स्थिति है। कवि आचार्य विद्यासागरजी ने रसा और आकाश–इन दो तत्त्वों के सामंजस्य की स्थिति को निरूपित करते हुए जीवन के सृजनशील रूप को अभिव्यक्त किया है। इसकी सृजनशीलता का प्रवाह द्वितीय खण्ड में विश्व के अन्य तत्त्वों के सामंजस्य को अपने साथ लेता हुआ जीवन के सम्पूर्णत्व को व्यक्त करने के साथ जीवन के सत्त्व गुणों को व्यक्त करता है।

शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं : इस पद के माध्यम से कवि ने निर्माण क्रिया को आत्मशोध से जोड़ते हुए सतत क्रम को निरूपित किया है। निर्माण का क्रम प्रारम्भ होता है और जीवन की स्थिति को समझने का क्रम भी प्रारम्भ होता है। जीवन में किस प्रकार रहना चाहिए इसका निरूपण आचार्य कवि ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है। शिल्पी कुम्भकार माटी को मृदु और निर्मल बनाने के साथ उसमें प्राण संचार करने की ओर अग्रसर होता है। उसे कवि आचार्य ने अत्यन्त सरल एवं भावमय शब्दों के माध्यम से समझाया है :

"लो, अब शिल्पी/कुंकुम-सम मृदु माटी में/मात्रानुकूल मिलाता है
छना निर्मल-जल।/नूतन प्राण फूँक रहा है/माटी के जीवन में
करुणामय कण-कण में,/अलगाव से लगाव की ओर
एकीकरण का आविर्भाव।" (पृ. ८९)

कवि ने मात्रानुकूलता के माध्यम से जीवन में कर्म करने की ओर स्पष्ट संकेत किया है। यहाँ कवि ने 'कर्म-संयोग' का सिद्धान्त प्रतिपादित करने का तथ्य वर्णित किया है। कवि ने जल तत्त्व के स्वभाव को व्यक्त करने के साथ जीवन के मूल को समझने के लिए किस प्रकार ठहराव को भी स्वीकार करना चाहिए, इसे भी अभिव्यक्त किया है। साथ ही ऐसा करने से किस प्रकार नव प्राण प्राप्त होता है और नव ज्ञान प्राप्त होता है, इसका उल्लेख सहज रूप में किया है जो सामान्य जन को भी बोधगम्य है :

"जलतत्त्व का स्वभाव था—/वह बहाव/इस समय अनुभव कर रहा है ठहराव।
माटी के प्राणों में जा,/पानी ने वहाँ/नव-प्राण पाया है,
ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।
अस्थिर को स्थिरता मिली/अचिर को चिरता मिली
नव-नूतन परिवर्तन···!" (पृ. ८९)

यह है तत्त्व के साथ तत्त्व सम्मिलन का रूप और उससे किस प्रकार नव ज्ञान की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख कवि आचार्यश्री ने किया है। कर्म और ज्ञान की सम्प्राप्ति के निमित्त मानव-मन किस प्रकार बल प्राप्त करता है, इसका विवरण कवि ने यों दिया है :

"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं/और/काम के दास होते हैं।
हम बलवाले हैं/राम के दास होते हैं/और/राम के पास सोते हैं।" (पृ. ९२)

इसी सन्दर्भ में कवि ने प्रकृति के साथ पुरुष की चर्चा करते हुए मोक्ष ओर मोह में भ्रमने की सत्यता को समझा दिया है। वह इस प्रकार है :

"स्वभाव से ही/प्रेम है हमारा/और/स्वभाव में ही/क्षेम है हमारा।
पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और/अन्यत्र रमना ही
भ्रमना है/मोह है, संसार है···।" (पृ. ९३)

इसी के साथ कवि ने साधक की स्थिति को चित्रित किया है, साथ ही साहित्य के मर्म को भी अनेक तथ्यों के माध्यम से समझाया है। इतना ही नहीं, आचार्यश्री ने कई गूढ़ तथ्यों को भी अत्यन्त सरल शब्दों में भाषा के चमत्कारी माध्यम से सहजता के साथ समझाया है। जीवन के मर्म को निरूपित किया है। द्वितीय पद में शब्दों के सहज और सरल अर्थ अभिव्यक्त करते हुए साहित्यिक बोध की स्थिति तथा शब्द-ब्रह्म के महत्त्व को प्रभावी ढंग से निरूपित करते हुए मानवीक्रम के उच्च पद की स्थिति को व्यक्त किया है। कवि के मर्म की स्थिति द्रष्टव्य है :

"अति उदासीन अनल-सम/क्रोध-भाव का शमन हो रहा है।
पल-प्रतिपल/पाप-निधि का प्रतिनिधि बना
प्रतिशोध-भाव का वमन हो रहा है।/पल-प्रतिपल
पुण्य-निधि का प्रतिनिधि बना/बोध-भाव का आगमन हो रहा है,
और/अनुभूति का प्रतिनिधि बना/शोध-भाव को नमन हो रहा है
सहज-अनायास ! यहाँ !!" (पृ. १०६)

कवि आचार्य ने बोध की स्थिति को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से शब्द क्रम की गहराई को निरूपित करते हुए विवेचना की है। इसी के साथ शब्द और बोध की ऐकान्तिका का निरूपण करते हुए बोध के अस्तित्व को शोध की निराकुलता के साथ पुष्ट करते हुए फल और फूल की स्थिति को प्रकृति की रम्यता और सरसता के साथ व्यक्त किया है—भाव-बोध सह। कवि आचार्यश्री विद्यासागरजी ने इसे यों व्यक्त किया है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं।" (पृ. १०६-१०७)

कवि इस तथ्य को यहीं तक लाकर चुप नहीं हो जाता अपितु उसे और गहराई तक पहुँचाता है। इसी के साथ साहित्य-बोध और शब्द-बोध की गहराई को भी व्यक्त करता है। साथ ही बोध के शोध की स्थिति को भी निरूपित करता है। वह इस प्रकार है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।/बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है/फूल का रक्षण हो/और
फल का भक्षण हो;/हाँ ! हाँ !!/फूल में भले ही गन्ध हो/पर, रस कहाँ उसमें !
फल तो रस से भरा होता ही है,/साथ-साथ/सुरभि से सुरक्षित भी···!" (पृ.१०७)

द्वितीय पद के अन्त में कवि आचार्यश्री ने जीवन के गहन सूत्र का भाष्य अत्यन्त सरल एवं मार्मिक ढंग से किया है। जीवन के सम्पूर्ण क्रम को सार रूप में दे दिया है। जीवन का मूल है जन्मना, विकसित होना एवं मरण। यह क्रम स्थिर है, निश्चित है तथा इससे कोई भी वंचित नहीं रह सकता। कवि आचार्य विद्यासागरजी ने इसे अपनी कृति के माध्यम से यों व्यक्त किया है तथा सामान्य जन को भी सुलभ रूप में समझ में आ जाय, ऐसी विवेचना प्रस्तुत की है जो काव्य के महत्त्व को द्विगुणित करता है :

" 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्'/सन्तों से यह सूत्र मिला है
इसमें अनन्त की अस्तिमा/सिमट-सी गई है।/यह वह दर्पण है,
जिसमें/भूत, भावित और सम्भावित/सब कुछ झिलमिला रहा है,
तैर रहा है/दिखता है आस्था की आँखों से देखने से !" (पृ.१८४)

कवि आचार्यश्री ने इस तथ्य का व्यावहारिक भाषा में यों अनुवाद प्रस्तुत किया है, जो भावानुवाद है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन-उत्पाद है
जाना यानी मरण-व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर-ध्रौव्य है
और/है यानी चिर-सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ.१८५)

इस प्रकार आचार्यश्री ने द्वितीय पद में साहित्य-बोध के विभिन्न पक्षों के साथ दर्शन के मूल को भी निरूपित किया है—सामान्य जन की भाषा में, जो सहज, बोधगम्य है तथा मनुष्य के समझ की सीमान्तर्गत भी है।

पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन : आचार्यश्री विद्यासागरजी ने तृतीय पद के माध्यम से जीवन के सत्य को उद्घाटित किया है। सत्य ही पुण्य का दाता है और पाप का प्रक्षालन करने में सक्षम है। सत्य जीवन के मूल को निर्मल करता है और सत्पथ की ओर चलने के लिए प्रेरित करता है। कवि ने प्रस्तुत पद का प्रारम्भ किया है प्रकृति के अपरिमेय, अपार पक्ष से। जो चारों ओर फैला हुआ है एवं धरती के वैभव को बहा-बहा कर ले जाता है—वह है जल, जिसे हम विशिष्ट और प्रभावी रूप में जीवन भी कहते हैं। कवि ने पर-धनहरण की बात कह कर रत्नाकर के मूल को उच्छेदित कर दिया है

तथा किस प्रकार अन्य की वस्तु के हरण से वह निम्न कोटि का होने के साथ पापमय बन जाता है—कवि ने इस प्रकार प्रकृति के आन्तरिक रूप का निरूपण अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है तथा उसे मानवी जीवन से सम्बद्ध कर दिया है। अत्यन्त सहज ढंग से कवि कहता है :

"पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/अज्ञान को बताता है,/और
पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।
यह अति निम्न-कोटि का कर्म है/स्व-पर को सताना है,
नीच-नरकों में जा जीवन बिताना है।" (पृ. १८९)

सन्त कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत पद के प्रारम्भ में ही ऐसा मन्त्र दिया है कि मानव अपने आप मन-वचन-कर्म (शरीर) से स्वयं को निर्मल बनाने की ओर अग्रसर हो जाता है तथा शुभ कार्यों की ओर, लोक-कल्याण की ओर तथा समस्त विश्व को समदृष्टि से देखने की ओर उन्मुख हो जाता है। उसे समझ में आ जाता है कि माया, मोह, लोभ, संग्रह आदि पाप के अंग हैं और स्वयं को शुद्ध तथा निर्मल भाव से पुष्ट करते हुए कर्म की ओर लगना पुण्य कर्म है। इसी के साथ कवि ने रत्नाकर—शब्द-ब्रह्म को जिस प्रकार विश्लेषित किया है, वह काव्यपक्ष की अनुपमता को पुष्ट करता है। सब कुछ सहन करने की वृत्ति को निरूपण करते हुए सन्त की महत्ता को व्यक्त किया है। अन्याय को सहन नहीं करना चाहिए, इस तथ्य को सूर्य का प्रतीक वर्णित करते हुए किया है। जीवन की सुखपूर्ण स्थिति का महत्त्व तो पुण्य कर्म करने में है तथा दुखपूर्ण स्थिति पाप कर्म में है—इसमें व्यक्त किया है। इसी क्रम को निरूपित करते हुए 'अर्थ' शब्द की मीमांसा अद्भुत ढंग से की है। कवि ने अर्थ और परमार्थ को यों व्यक्त किया है :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

प्रस्तुत पद में कवि ने नारी के अपूर्व रूप का चित्रण किया है तथा उसके अनेक रूपों का सार्थक विवरण प्रस्तुत किया। कवि ने एक साथ नारी के मातृत्व, सुता, दुहिता, स्त्री, कुमारी, अबला, नारी आदि रूपों का साहित्य की दृष्टि से, जीवन-दर्शन की दृष्टि से एवं पुण्य-पालन के रूप में वर्णन किया है। कवि के शब्द सामर्थ्य की, प्रतिभा की, कल्पना शक्ति की अनुपमता दृष्टिगत होती है, जो जीवन के मूल को अभिव्यक्त करती है एवं सत्य मार्ग की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। कवि आचार्यश्री ने इस पद के माध्यम से कथा का विकास तो नहीं किया है, परन्तु अन्तःकथाओं, जीवनगत पहलुओं, पुण्य प्राप्त करने का क्रम, पाप से मुक्त होने का पथ, जीवन-यात्रा का लक्ष्य आदि तथ्यों को निरूपित किया है। सच तो यह है कि प्रस्तुत पद कवि के काव्य सौष्ठव को सिद्ध करता है। कवि की कल्पना-शक्ति, प्रतिभा, प्रकृति चित्रण के साथ उसका सूक्ष्म निरीक्षण प्रभावी ढंग से हमारे समक्ष उभरकर आता है। इसी क्रम में कवि ने कुम्भकार शिल्पी के चरित्र का विकास चित्रित करते हुए पाप-प्रक्षालन की विधि का श्रेष्ठ ढंग से निरूपण किया है, जो काव्य को उच्चता एवं भव्यता प्रदान करती है एवं मानवीय गुणों के विकास-पथ का चित्रण उपस्थित करती है।

अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख : आचार्य कवि ने चतुर्थ पद के माध्यम से अपनी कृति के मूल को सजाया है तथा जीवन के मूल भाव को शुद्ध करने की ओर अग्रसर हुआ है। प्रस्तुत पद काव्य कृति का सर्वाधित विस्तृत पद है। इसके माध्यम से कवि ने साधना के स्वरूप को चित्रित किया है। उसके प्रमुख पक्ष-नियम-संयम की ही बात कवि ने प्रारम्भ में कही है तथा उसके प्रभाव को निरूपित किया है। वह इस प्रकार है :

"नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी
अपने घुटने टेक देता है,/हार स्वीकारना होती है
नभश्चरों सुरासुरों को !" (पृ. २६९)

कवि ने आधुनिक भावबोध को अपनी कृति में अत्यन्त सहजता के साथ उपस्थित किया है तथा अपराधियों की चर्चा करते हुए गणतन्त्र, धनतन्त्र और मनमाने तन्त्र की स्थिति स्पष्ट कर दी है। इतना सब कुछ होते हुए भी कवि ने परिष्करण के महत्त्व को बबूल के माध्यम से निरूपित किया है। तदनन्तर अग्नि-परीक्षा की चर्चा करते हुए कवि ने लिखा है :

"मैं इस बात को मानती हूँ कि/अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक
किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,/न ही भविष्य में मिलेगी ।" (पृ. २७५)

अग्नि-परीक्षा की बात के साथ दोषों को जलाने के सम्बन्ध में स्व-इच्छा का कथन कहकर काव्य के उदात्त तत्त्व को अभिव्यक्त किया है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)

इसी के साथ कवि आचार्यश्री समझाते हैं कि दोष तथा गुण क्या हैं :

"दोष अजीव हैं,/नैमित्तिक हैं,/बाहर से आगत हैं कथंचित्;
गुण जीवगत हैं,/गुण का स्वागत है।" (पृ. २७७)

कवि आचार्यश्री ने चतुर्थ पद के माध्यम से जीवन के अनेक पक्षों को चित्रित किया है तथा कथा-प्रसंग को अनेक घटनाओं से बाँधते हुए सत्पथ की विचारणा प्रस्तुत की है। इसी सन्दर्भ में आधुनिक काल में आतंकवाद का प्रभाव किस प्रकार बढ़ रहा है और उसे किस प्रकार समाप्त करना चाहिए, इस ओर भी कवि आचार्यश्री ने ध्यान दिया है। कविश्री ने कुम्भकार और कुम्भ के पक्ष को कितनी सहजता के साथ चित्रित किया है, साथ ही कुतूहल का क्रम निरूपित किया है और जीवन क्रम को विकसित किया है ! मानवीय गुणों का विकास भी अद्‌भुत ढंग से विवेचित हुआ है। कविश्री ने निर्माण के आनन्द का चित्रण जिस प्रकार किया है वह जीवन का सत्य है तथा मानवीय क्रम की मूल चेतना है। विवरण यों दिया है :

" 'कुम्भ की कुशलता सो अपनी कुशलता'/यूँ कहता हुआ कुम्भकार
सोल्लास स्वागत करता है अवा का,/और/रेतिल राख की राशि को,
जो अवा की छाती पर थी/हाथों में फावड़ा ले, हटाता है।
ज्यों-ज्यों राख हटती जाती,/त्यों-त्यों कुम्भकार का कुतूहल
बढ़ता जाता है, कि/कब दिखे वह कुशल कुम्भ···।" (पृ. २९६)

चतुर्थ पद इतना विशाल है कि उसका पूर्ण विवेचन ही विस्तृत रूप प्राप्त कर सकता है। इसमें जीवन का कौन-सा पक्ष वर्णित नहीं है ! यहाँ, मैं अब केवल एक उदाहरण देने के पश्चात् अपनी बात कहते हुए, 'चिन्तन : अनुचिन्तन' की विचारणा को विश्राम दूँगा। कवि आचार्यश्री ने सामाजिक विचारणा का अत्यन्त मार्मिक निरूपण किया

है। मनुष्य, मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करता है और स्वयं को क्या समझता है, इसका निरूपण यों किया है :

"...खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं/प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते
और/वेतन का वितरण भी अनुचित ही।" (पृ. ३८६-३८७)

आतंकवादियों को उचित पथ की ओर ले जाने के सम्बन्ध में कवि ने एकत्व की स्थिति का वर्णन किया है। इसी के साथ दण्ड-विधान के स्वरूप को यों निरूपित किया है :

"जिसे दण्ड दिया जा रहा है/उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त।
दण्डसंहिता इसको माने या न माने,/क्रूर अपराधी को/क्रूरता से दण्डित करना भी
एक अपराध है,/न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।" (पृ. ४३१)

कवि आचार्यश्री ने आधुनिक व्यवस्था के समक्ष प्रश्न उपस्थित किया है तथा काव्यगत व्यंजना को सजीव भी किया है—समाधान के रूप में। कवि का भाव-बोध जीवन के विकास के साथ है, न कि उसे नष्ट करने से सम्बद्ध है। कवि ने मानवेतर प्राणियों के माध्यम से जीवन के सत्य को समझाया है, उसमें क्षुद्र प्राणी मच्छर से लेकर गज सदृश विशाल प्राणी भी सम्मिलित हैं।

कवि आचार्यश्री विद्यासागरजी की कृति 'मूकमाटी' आधुनिक भावबोध के साथ जीवनगत पहलुओं को चित्रित करती हुई, मूलगत भावनाओं को निरूपित करने में सक्षम है। इसमें जीवन का कौन-सा पक्ष नहीं है ? कवि ने बात करते-करते नूतन उद्भावनाओं को निरूपित किया है। जीवन के पक्ष को तत्त्व-चिन्तन के साथ ऊँचे-नीचे छोरों में से प्रवाहित करते हुए सत्य के सन्निकट पहुँचाया है। कृति प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अपने कथ्य को विस्मृत नहीं होने देती तथा यह बराबर कहती रहती है कि विकास करो—अतथ्य के रूप में नहीं, सद्भावनाओं के साथ और जीवन के मूल के साथ। इसमें एक साथ पूजा, अर्चना, मानवीय भावनाएँ, गुण-अवगुण, जीवन की सार्थकता, साहस, उदारता आदि का समावेश है। लौकिक और पारलौकिक जीवन दृष्टि को सहज रूप में उपस्थित करने में कवि पूर्णतः सक्षम है। कृति एक साथ पठन, श्रवण और दर्शन— तीनों का आनन्द प्रदान करने में सक्षम है। कवि आचार्यश्री शब्दों की अभिव्यंजना में तो हिन्दी के, इनके पूर्व के, काव्यकारों को एक स्थान पर ठहराते हुए आगे बढ़ गए हैं। उसी के साथ दृष्टि की परिकल्पना का ऐसा सुन्दर संगुम्फन किया है कि पाठक आत्मविभोर हो उठता है।

यह तो बात हुई कृति के काव्यत्व की। मैंने इसी के साथ एक अन्य पक्ष का अनुभव किया है अभिव्यक्ति के आधार पर—वह यह कि कवि स्वयं किस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के लिए अग्रसर हुआ और क्योंकर समुदाय को सत्पथ की ओर ले जाने के लिए तत्पर हुआ है। कवि ने स्वयं ही इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि जीवन की सार्थकता एवं महत्ता अन्यों को भी श्रेष्ठ मार्ग की ओर अग्रसर करने में ही है। यही कारण है कि कवि ने मछली के रूप में ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा का निरूपण किया है। तदनन्तर सबको श्रेष्ठ मार्ग की ओर ले जाने की भावना का प्रतिपादन किया। इस प्रकार प्रस्तुत कृति काव्य के राग तत्त्व को अभिव्यक्त करते हुए दर्शन के मूल को भी अभिव्यक्त करती है। मैं इस दर्शन से पूर्णतः सहमत हूँ कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश—क्रमशः कर्ता, संरक्षक और विनाशक हैं। साथ ही, मैं किसी भी दर्शन को नास्तिक नहीं मानता, क्योंकि उसमें सन्निहित क्रम मानव-कल्याण से ही आबद्ध रहता है। जीवन की सत्यता इसी पर आधारित है। यह पृथक् पक्ष है कि मति भिन्नता के कारण हम आपस में लड़ने, संघर्षरत होने और राग-द्वेष से सम्बद्ध होने लगे। जीवन की वास्तविकता, विश्व-कल्याण का क्रम यही है कि विश्व में कोई

कहीं भी रहता हो, उसके द्वारा अन्य कहीं पर भी रहने वालों के प्रति सदाशयता का भाव रखना ही मानवता है तथा यही सच्चा मानव-धर्म है। कृति में आस्था के प्रति सजगता है और अनास्था का नकार निहित है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि आचार्य श्री विद्यासागर श्रमण-संस्कृति के अध्येता हैं तथा जैनदर्शन के अद्भुत चिन्तक हैं। वीतराग-पथ के पथिक होने के साथ-साथ उस क्षेत्र के अध्ययनशील, प्रतिभासम्पन्न एवं ध्यानी-ज्ञानी-तपस्वी भी हैं। कृति का अध्ययन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि कवि आचार्यश्री जैनदर्शन के साथ जीवनदर्शन के प्रति भी सजग हैं और मानवतावादी दृष्टिकोण के प्रति उदार हैं। कृति, उनके मौलिक चिन्तन के साथ भाषा के शाब्दिक-क्रम को अर्थ-योजना के साथ इतनी गहराई से व्यक्त करती है कि सामान्य शब्द अपने मूल अर्थ में असीम गहनता लिए है, यह प्रतीत होता है। काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि में उनके मौलिक अर्थ-सिंचन का अद्भुत महत्त्व प्रतिपादित होता है। 'मूक- माटी' जैनदर्शन की गहराई को व्यक्त करने के लिए तत्पर है, जो सत्य के सन्निकट है, परन्तु वह केवल वहीं तक सीमित न होकर मानवतावादी दर्शन और दृष्टिकोण से सम्पन्न महाकृति है एवं जीवन की सार्थकता के प्रति सजग एवं सचेत है। इसे मैं यहीं विश्राम देता हूँ तथा भविष्य में अवसर प्राप्त होने पर इसकी विस्तृत रूप से चिन्तना करने का प्रयास करूँगा।

❑

अहिन्दीभाषी के हिन्दी प्रेम की निदर्शक कृति : 'मूकमाटी'

प्रो. (डॉ.) सागरमल जैन

आचार्य विद्यासागरजी दिगम्बर जैन परम्परा के आचार्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी त्यागनिष्ठा और अध्यात्मप्रियता लोकविश्रुत है। जन्म से अहिन्दीभाषी होते हुए भी उन्होंने हिन्दी भाषा में अपनी रचनाओं द्वारा एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। आपकी प्रस्तुत कृति 'मूकमाटी' आपके हिन्दी प्रेम का परिचायक तो है ही, साथ ही हिन्दी काव्य रचना के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रस्तुत कृति चार खण्डों में विभक्त है। इसमें काव्य और अध्यात्म का जो तारतम्यभाव देखा जाता है, वह सामान्यतया अन्यत्र दुर्लभ है। दर्शन के गम्भीर प्रश्नों को भी आचार्यश्री ने जिस सहज ढंग से यहाँ प्रस्तुत किया है, वह निश्चित ही अत्यन्त मार्मिक है। सत् के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक लक्षण को आचार्यप्रवर ने निम्न शब्दों में कितनी सहजता से स्पष्ट कर दिया है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन–उत्पाद है
जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है
और/है यानी चिर–सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

वस्तुतः आचार्यश्री शब्द शिल्पी हैं। शब्दों में अध्यात्म को भर देना, यही उनकी विशिष्टता है। ऐसी महत्त्वपूर्ण कृति के लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही संस्तुति के पात्र हैं। ग्रन्थ की साज-सज्जा आकर्षक और मुद्रण त्रुटि रहित है।

[सम्पादक - 'श्रमण' (मासिक), वाराणसी-उत्तरप्रदेश, जून, १९८९]

❑

'मूकमाटी' : एक महाकाव्य

डॉ. धर्मचन्द्र जैन

जगत् में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ हमेशा एक से एक बढ़कर तपोनिष्ठ साधु-सन्त, ऋषि-महर्षि एवं महापुरुष हुए हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं आचरणात्मक नैतिक मूल्यों की अजस्र धारा निरन्तर प्रवाहित की है, जिसमें अवगाहन कर लाखों सत्त्वों ने अपने को सफल बनाया है। ऐसे ही सन्त-मुनियों में एक हैं—हमारे आराध्य परमपूज्य आचार्य विद्यासागरजी महाराज। आगम साहित्य के गम्भीरज्ञाता, तार्किक विद्वान्, शील सम्पन्न, निस्पृही सन्त, कवि एवं आचार्य-प्रवर सदैव आत्म-साधना में तत्पर रहते हैं। महाप्रज्ञ एवं महाकारुणिक आचार्यश्री की तपस्तेज सम्पन्न एवं प्रसन्न मुखमुद्रा प्रायः सभी का मन मोह लेती है। इन्हीं सन्त की तपःपूत लेखनी से अनेक कृतियों का आविर्भाव हुआ है। इनमें 'नर्मदा का नरम कंकर', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' और 'तोता क्यों रोता ?' प्रमुख हैं। आपके ही ज्ञानार्जन एवं अध्यात्म-साधना का एक और भी फल उपलब्ध है और वह है—'मूकमाटी महाकाव्य'। यहाँ प्रकृत काव्य के महाकाव्यत्व की मीमांसा करना ही प्रमुख लक्ष्य है।

कतिपय मनीषी विद्वान् काव्यशास्त्रियों ने काव्य के लक्षण को स्पष्ट किया है। इसमें भामह, दण्डी एवं विश्वनाथ प्रमुख हैं। छठी शताब्दी के आचार्य दण्डी ने महाकवि भामह के विचारों को महत्ता देते हुए 'काव्यादर्श' (१/१४-१९) में काव्य उसे बतलाया है जिसमें सर्गों का निबन्धन हो। इसका प्रारम्भ आशीर्वाद, नमस्कार अथवा वस्तुनिर्देश से होता है। रचना का आधार ऐतिहासिक कथा या अन्य किसी उत्कर्ष कथा के आधार पर होता है। काव्य को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का फलदायक होना अपेक्षित है। काव्य का नायक भी चतुर तथा उदात्त होना चाहिए। काव्य नगर, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्र और सूर्य के उदय एवं अस्त, उपवन और जलक्रीड़ा, मधुपान तथा प्रेमोत्सव आदि के वर्णन से अलंकृत हो। काव्य को विरहजन्य प्रेम, विवाह, कुमारोत्पति, विचार-विमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक के जय-लाभ आदि के मनोहर प्रसंगों से युक्त होना चाहिए। काव्य में रस तथा भावों की लड़ी जुड़ी हो। सर्ग बहुत लम्बे भी न हों। सर्गों के छन्द श्रवणीय, मनोज्ञ तथा अच्छी सन्धियों से सम्पन्न हों। काव्य लोकरंजन तथा अलंकारों से अलंकृत भी होना चाहिए। ऐसा उत्तम काव्य कवि की दृष्टि से महाप्रलय के बाद भी स्थिर रहता है।

किन्तु सर्वाधिक सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित विवेचन १५वीं शताब्दी में आचार्य विश्वनाथ ने अपनी अनुपम रचना 'साहित्यदर्पण' (६/३१५-२४) में किया है। वह लिखते हैं कि जिसमें सर्गों का निबन्धन हो, वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश का उत्तम धीरोदात्त गुण सम्पन्न नायक होता है, कहीं एक वंश के अनेक कुलीन राजा नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक अंगी रस होता है और अन्य रस गौण होते हैं। काव्य लिखित सन्धियों से युक्त होता है। कथा ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध सज्जन से सम्बद्ध होती है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-इस चतुर्वर्ग में से कोई एक फल होता है। प्रारम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्यवस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुणगान वर्णित होता है। काव्य में न तो बहुत छोटे और न ही अधिक बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। प्रत्येक सर्ग में एक छन्द होता है किन्तु सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्गान्त में अगली कथा की सूचना होती है। इसके अलावा काव्य में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, विवाह, यात्रा, मन्त्र और अभ्युदय आदि का सांगोपांग वर्णन होता है। काव्य का नामकरण कवि के नाम पर अथवा चरित्र के नाम से अथवा नायक के नाम से होना चाहिए। सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रखा जाता है।

सन्धियों के अंग यथासम्भव प्रतिपादित होना चाहिए।

उपर्युक्त काव्य-लक्षण के आधार पर महाकाव्य का स्वरूप इस प्रकार निश्चित होता है :

१. महाकाव्य का सर्गबद्ध होना आवश्यक है।
२. काव्य का नायक धीरोदात्त गुण सम्पन्न कुलोत्पन्न क्षत्रिय अथवा देवता होना चाहिए।
३. शृंगार, वीर अथवा शान्त रस में से कोई एक रस प्रधान हो और अन्य रसों का प्रतिपादन गौण रूप से होना चाहिए।
४. सभी नाट्य सन्धियाँ अपेक्षित हैं।
५. कथा ऐतिहासिक होती है या सज्जनाश्रित, जिसमें जीवन, जगत् एवं प्रकृति के विभिन्न अंगों का मनोरम चित्रण किया गया हो।
६. पुरुषार्थचतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—में से एक काव्य का फल होता है।
७. काव्यारम्भ में वर्ण्य वस्तु के निर्देश के साथ इष्टाशीर्वाद नमस्कार होता है।
८. सर्गों की संख्या आठ अथवा उससे अधिक होती है। एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होता है किन्तु सर्ग का अन्तिम छन्द बदल जाता है।
९. प्रकृति वर्णन में नगर, समुद्र, पर्वत, सन्ध्या, रात्रि, चन्द्र, सूर्योदय, यात्रा तथा ऋतुओं का वर्णन भी आवश्यक है।
१०. काव्य का नाम कवि अथवा चरित्र नायक के चरित्र-चित्रण के आधार पर होता है।
११. सर्ग में वर्णित कथा के आकार पर ही सर्ग का नामांकन किया जाता है।

प्रस्तुत 'मूकमाटी' काव्य को उपर्युक्त कसौटी पर कसकर यदि देखा जाए तो यह आठ से कम यानी चार खण्डों (सर्गों) से सम्पन्न रूपक महाकाव्य के प्रायः समस्त लक्षणों से युक्त है। धीरोदात्त गुणों से युक्त नायक गुरु कुम्भकार और तदनुकूला आत्मारूप मिट्टी नायिका है। काव्य में अंगीरस शान्त है। शृंगार एवं करुण आदि शेष रसों का तथा सन्धियों का यथोचित प्रतिपादन किया गया है। कथावृत्त कल्पना पर आधारित सज्जनाश्रित है। जीवन, जगत् एवं प्रकृति के विभिन्न अंगों का सुन्दर चित्रण किया गया है। एक मात्र लक्ष्य भवसागर से पार होना है। मंगलमय आत्मा का कल्याण सर्वोपरि है। मुक्त छन्दोपेत काव्य में सन्तों की प्रशंसा तथा निहित स्वार्थी दुष्टों की निन्दा पग-पग पर द्रष्टव्य है। प्रकृति के रंग से चित्रित काव्य में सूर्य-चन्द्र, दिवा-रात्रि, सुबह-शाम, मध्याह्न, प्रदोष, ऋतु, सागर, संग्राम, मुनि और मन्त्र-तन्त्र आदि का विशद, विस्तृत, मनोज्ञ चित्रण मिलता है। काव्य के सर्गों का नामांकन खण्ड में निबद्ध घटना के अनुरूप है तथा मुक्तक छन्द का प्रयोग किया गया है।

आधुनिक विद्वानों ने इसके अतिरिक्त भी, काव्य के तत्त्व स्वीकार किए हैं, जिनमें देशकाल, वातावरण, संवाद, चरित्र-चित्रण एवं भाषा-शैली प्रमुख हैं। इन्हीं कतिपय लक्षणों को आधार बना कर प्रकृत काव्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना अपेक्षित है।

खण्ड -१. 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'

रात्रि का अवसान, उषा की चमक से भानु की निद्रा-भंग तो हुई किन्तु दिवाकर मुख ढँककर माँ की गोद का आनन्द जो ले रहा है। पूर्व में अरुणिमा छाई कुमुदिनियों ने अपने को सिकोड़ा, कमलनियाँ खिल उठीं। चंचल तारों ने स्वस्वामी का अनुकरण किया, सन्धिकाल में एक का गमन तो दूसरे का आगमन हो रहा है। यही सृष्टि का नियम है।

जहाँ रात्रि नहीं, वहाँ रात्रिकर कैसे, और जब दिवाकर ही नहीं तो दिन भी कैसा ?

वैसे ही नदी बह रही है बड़ी तेजी से सागर की ओर, जैसे सद्गात्री यात्री अपने कल्याणमार्ग में बढ़ता हुआ पीछे, मुड़कर नहीं देखता। नदी तट की मिट्टी माँ धरती से कहती है—'हे माँ ! मैं पतिता हूँ, पद-दलिता हूँ, निन्दिता हूँ, तिरस्कृता हूँ, मन्द-भागिनी परित्यक्ता हूँ। नहीं जानती कि अभी कितनी और वेदनाएँ सहनी हैं, जिनका न कोई अन्त है और न कोई छोर ही। बदसूरत हूँ जिसे देख दूसरे दुःखी न हों, अतः मुख पर घूँघट (पर्दा) डाल लेती हूँ। अपनी घुटन छिपाती हूँ, कष्ट के दो घूँट आँसू पी लेती हूँ। जी रही हूँ पर कहने मात्र को ही। माँ, बतलाओ ! इस पर्याय की इतिश्री (अन्त) कब होगा ? मेरी काया कब बदलेगी, मेरा यह जीवन उन्नत कब होगा ? कहो, माँ ! मुझे अविलम्ब सहारा दो, मेरे कष्ट हरो।' यह है आज के भारत की नारी की व्यथित कथा, जिसका समाज एवं राष्ट्र के समक्ष स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत किया गया।

इतना सुन माँ के हृदय को भी देखिए। माँ तो माँ ही है, सरल हृदय, तरल आँखें, छल-कपट का नामोनिशान भी चेहरे पर नहीं, मस्तक गम्भीर चिन्तन के उत्कर्ष से दीप्त है। बेटी को दुर्गत दशा में अपने सामने खड़ा देखकर उसका हृदय हर्षोन्माद से भर जाता है। परस्पर अलगाव से विरहित अपूर्व आत्मीयत्व के संस्पर्श से दोनों ओत-प्रोत हैं। धैर्य-धारिणी माँ कहती है—'बेटा !' माँ की वह बेटी नहीं बेटा है, पुत्र है, पुत्री नहीं, कारण कि उसे हीन जो समझा जाता है, आज के समाज में। यही बिडम्बना है पर सत्ता शाश्वत है, किन्तु उसकी प्रतिसत्ता में उत्थान-पतन की अनेक सम्भावनाएँ समाहित हैं। जैसे खसखस का दाना देखने में छोटा है, परन्तु उसी वट बीजरूप दाने को समुचित क्षेत्र में बो दिए जाने पर एवं समय-समय पर खाद, पानी एवं हवा के मिलने से वही एक महान् वृक्ष का रूप ले लेता है, ऐसे ही अणु-परमाणु से इस जगत् का निर्माण हुआ है। अतः सत्ता शाश्वत होते हुए भी भास्वत होती है।

देखें, यह स्वच्छ जलधारा पृथ्वी पर पड़ते ही मैली हो जाती है, कीचड़ बन जाती है, वही नीम की जड़ में पहुँचकर कड़वी, सागर में गिरकर नमकीन और सर्प के मुख में पड़कर हलाहल बन जाती है और वही सीपी में पड़ जाती है तो मोती बन जाती है। 'जैसा संयोग—वैसी बुद्धि, जैसी बुद्धि—वैसी ही गति' होती है, पर्याय मिलती है। अनादिकाल से ऐसा होता आ रहा है, हो रहा है और होता रहेगा। इसलिए स्वयं पर विश्वास कर स्वयं का कल्याण करो। बुद्ध ने भी 'धम्मपद' (अत्तवग्गो/१६०) में ऐसा ही कहा है—"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।"

अपने को गिरा हुआ, हीन मत समझो। सत्य को पहचानो। दृष्टि दूरदर्शी है, लक्ष्य पवित्र है तो साधन भी वैसे ही होने चाहिए। असत्य की सही पहचान सत्योपलब्धि है। पाताल में गिरने का अनुभव ही उन्नति की ऊँचाइयों की आरती उतारना है। आस्था के विषय को आत्मसात् करना ही स्वानुभूति करना है पर यह बिना ध्यान, साधना के सम्भव नहीं। तलहटी में पहुँच कर, पर्वतशिखर का दर्शन हो जाता है, परन्तु गुरु-चरणों में पहुँचे बिना महानता के शिखर पर पहुँचना असम्भव है। विनय में ही अचूक शक्ति है कि कठोर से कठोर भी पसीज जाता है। आस्था अर्थात् श्रद्धा (तत्त्वों का यथार्थबोध) ही मानव-लक्ष्य मोक्ष की उपलब्धि का प्रथम सोपान है। निरन्तर अभ्यास से आस्था के स्थाई और दृढ़तर होने पर भी साधना-क्षेत्र में मजबूत, प्रौढ़, स्वस्थ व्यक्ति के भी पैर फिसलने की सम्भावना होती है, फिर भी पुरुषार्थ को नहीं छोड़ना चाहिए।

माना कि साधना में अनेक बाधाएँ आती हैं किन्तु उन्हें ही समतापूर्वक पार करना, झेल लेना ही विषमता पर समता की विजय है। इसी से आस्था नहीं डगमगाती बल्कि स्थिर होती है, मति परिपक्व होती है। गति में ऋजुता एवं क्षिप्रता आ जाती है और लक्ष्यसिद्धि के निकट पहुँचने लगते हैं। इस प्रकार संघर्षमय जीवन का उपसंहार हर्षमय होता है।

इस सम्बोधन से मिट्टी का मौन भंग होता है। वह माँ के अश्रुतपूर्व मार्मिक भाव को समझ जाती है कि कर्मों का संश्लेषण होना, आत्मा से फिर उनका स्व-पर कारणवश विश्लेषण होना—ये दोनों कार्य आत्मा की ही ममता-समता की परिणति पर आधारित हैं। किन्तु चेतन की इस सृजन एवं द्रवणशीलता का ज्ञान एवं भान किसे है ? किसी को नहीं। बस, यहीं से शिल्पी गुरु कुम्भकार के चरणों में समर्पित मिट्टी के जीवन का स्वर्णिम काल प्रारम्भ हो जाता है।

निर्मोही, हित-मित-प्रिय, कारुणिक, समाधिस्थ शिल्पी गुरु कुम्भकार ने 'ओम्' का उच्चारण कर स्व-कर्त्तव्य बोध से कुशाग्रबुद्धि-कुदाली से नदी तट की मिट्टी की परत खोदी। मिट्टी का मौन और उसके घावों को देख कारण पूछा, मिट्टी ने निर्दयता और उदारता में अन्तर स्पष्ट किया। इससे शिल्पी को उसकी सात्त्विकता भा गई। गुरु बोले—'अति के बिना, इति का साक्षात्कार कहाँ ? और इति के बिना अथ (सत्य) का दर्शन कहाँ ? पीड़ा की अति ही, पीड़ा की इति है और उसकी इति ही सुख का अथ (सत्य) है।' बन्धनहीन, अल्पतन वेतनभोगी गदहे को स्वामी का इशारा हुआ, उसने अपदा मिट्टी पीठ पर लादी और चल पड़ा गन्तव्य की ओर। मार्ग में बोरी की रगड़ से छिलती हुई गदहे की पीठ पर, मिट्टी की सहसा दृष्टि पड़ी। खिरती हुई और पसीने से मिश्रित मिट्टी मलहम बनी। गदहे को सुख दिया। उसे स्व दशा का स्मरण हुआ। प्राणी विज्ञान का यथार्थ परिचय दया है। 'दया' का विलोम 'याद' है। स्व की याद ही स्व-दया है। ज्ञात रहे कि वासना का विलास है मोह, जबकि दया का विकास मोक्ष है। एक इन्द्रियों का दास, जीवन का शत्रु है तो दूसरा समता-सौरभ, पीयूष-शृंगार एवं शुभंकर है।

कौन कहता है करुणा का वासना से सम्बन्ध है ? अरे, मिट्टी को अपना उपकार समझ गदहे को सोचने की दृष्टि मिली। उसने विचार किया : 'प्रभो ! मेरा नाम यथार्थ है। गद-रोग, हा-हारक अर्थात् मैं रोगों का विनाशक हूँ, हरण करने वाला।' उसकी कोई आकांक्षा नहीं रह जाती, अब वह अपहृत भार है, उसकी भावना के फूल खिल गए हैं, वह परस्पर उपकार की भावना, मैत्री-गुण से ओत-प्रोत हो जाता है। लाजवती मिट्टी को भी राजरानी बनने का सुकृत सुअवसर मिल जाता है।

गुरुघर योगशाला, प्रयोगशाला है। मिट्टी को विवेक रूपी छन्नी से छाना जाता है। कंकड़ों से उसका पार्थक्य हो जाता है, क्योंकि ऋजुता एवं मृदुता में शिल्पकला का जो निखार है, वह वर्ण-संकरत्व में कहाँ ? नीर-क्षीर की जाति न्यारी है। दोनों एक रूप धवल हैं, परन्तु क्षीर में नीर मिल जाए तो नीर, क्षीर बन जाता है। इस नीर के क्षीर बनने में ही वर्ण-लाभ है। यही वरदान है। हिमखण्ड पानी पर तैरता है, वह सरलता का अवरोधक और अभिमान का प्रतीक है जबकि उसका आधार उपादान जल तरल और ऋजु है, उससे बीजांकुरित होता है जिसे हिम (पाला) नष्ट कर देता है। जल जीवन है, वहीं हिम उसका विनाशक। स्वभाव एवं विभाव की यही विशेषता है। राही का संयम की राह पर चलना, उसका हीरा (राही का विलोम) बनना है। तप में तपकर, कर्म को जलाकर उन्हें राख करना खरा (राख का विलोम) बनना है।

कुम्भकार का प्रणिधान मिट्टी का फुलाना - गीला करना है। कूप से जल लाने को वह रस्सी की ग्रन्थियों को खोलता है। कुम्भक प्राणायाम चलता है। अँगूठों का बल कम हुआ तो दाँतों ने मोर्चा सँभाला, दाँत हिल उठे, मसूड़े छिल गए, तब रसना चुप न बैठी। ग्रन्थियों में कठिनाइयों का होना स्वाभाविक है। हिंसा की सम्भावना बढ़ती है। ग्रन्थि कुछ ढीली पड़ी, कारण कि गुरु निर्ग्रन्थ हैं।

शिल्पी की काया की छाया अन्धकूप में उतरती एक मछली पर पड़ी। मछली की मानसस्थिति ऊर्ध्वमुखी हुई और वह चिल्लाई—'मुझे अन्धकूप से निकालो, मेरा उद्धार करो।' कुम्भकार ने भी रस्सी से बालटी को बाँध धीमी गति

से कुएँ में छोड़ा। विचित्र वातावरण है वहाँ, बड़े छोटे को निगल जाता है। लोहा लोहे को काटता है। मछली को शरण मिली, जीने की आशा जमी। मोह की मात्रा विफल हुई। मोक्ष की यात्रा सफल हुई। दया धर्म की प्रभावना बढ़ी। मछली ने मिट्टी के चरणों का जल से प्रक्षालन कर उसे वन्दन किया और उससे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ा। मिट्टी ने उसे सत् एवं असत् की परिभाषा स्पष्ट की। सत् को सत् समझना सतयुग है और सत् को असत् जानना ही कलियुग है। कलि शव है, सत् शिव है। सत्-युग समष्टि की ओर देखता है जबकि कलियुग व्यष्टि पर अपनी दृष्टि घुमाता है। साक्षात् शिवायनी मिट्टी की बात मछली की समझ में आ जाती है। उसे अब आधि से भय नहीं, न ही व्याधि से, उपाधि भी अनिष्टकर है। एकमात्र समाधि ही इष्ट है। वह माँ से प्रार्थना करती है—'हे माँ मिट्टी! मुझे सल्लेखना दे दो, बोधि का बीज उल्लेखना दो।' सही सल्लेखना है—कषाय एवं काया को कृश करना, ना कि मात्र काया को घटाना। मछली समाधि में लीन होने तत्पर हो जाती है। उसे पुनः जल में छोड़ दिया जाता है। यही 'दयाविसुद्धो धम्मो' है।

खण्ड -२. 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'

कुम्भकार ने मिट्टी में जल मिलाया। मिट्टी में नूतन चेतना आई, जल को ठहराव मिला। मिट्टी को फूलने का समय मिला। शिशिर का समय है, रातें बड़ी हैं और दिन होते हैं छोटे। शिल्पी स्व-कार्य में तल्लीन है, पर उसकी रातें कटें तो कैसे कटें, कारण कि तन पर एक पतली-सी चादर मात्र है। मिट्टी ने सुझाव दिया—'क्यों न आप कम से कम एक कम्बल अपनी काया पर ले लें।' उत्तर मिला—'यह तो कम बल वालों का कार्य है। मैं राम का दास हूँ, राम के पास सोता हूँ, मुझे कम्बल रूप सम्बल की भला क्यों आवश्यकता? दूसरे, गर्म चर्म वाले ही शीत से भयभीत और नीत कर्म के विरुद्ध होते हैं किन्तु मैं तो शीतशीला हूँ और ऋतु भी शीतशीला है। दोनों का स्वभाव-साम्य है। स्व-स्वभाव में रहना ही वस्तु का धर्म है—'वत्थुसहावो धम्मो'।'

मिट्टी का मौन होना, कुम्भकार का अपने कार्य में लग जाना, मिट्टी का फूलकर स्नेहिल होना उसका हर्ष है। कुदाली की चोट से क्षत-विक्षत एक नन्हा-सा निशा के आँचल में से झाँकता चकित चोर-सा काँटा शिल्पी से बदला लेने तत्पर हुआ। तभी मिट्टी ने उसे सम्बोधित किया कि बदले का भाव राहु है जिससे भास्वत चेतना-भानु अन्तर्धान हो जाता है। इस बदले की आग में पर का नहीं, स्व का ही विनाश होता है। यह सुनते ही निकटस्थ सुरभित गुलाब के पौधे से शूल-दल बोला—'मानते हैं कि दूसरों की पीड़ा-शल्य में हम निमित्त हैं, इसी कारण तो हम शूल हैं। परन्तु इसमें काँटे का कोई दोष नहीं। कामदेव का शस्त्र फूल है, जिसमें पराग है, सघन राग भी है और जिसका फल संसार है। दूसरी ओर महादेव का शस्त्र शूल है, जिसमें विराग है, अन्याय (पाप) का त्याग है और फल भी जिसका भवपार है। एक औरों का दम छीनता है तो दूसरा बदले में दम भर देता है। मद दुःख है और दम अर्थात् शान्ति ही सुख है। कभी फूल शूल बन जाते हैं तो कभी शूल भी तो फूल बने नज़र आते हैं।' फिर भी काँटे के मन में प्रतिशोध की फाँस अटकी ही रही। तभी मिट्टी बोली—'अरे सुनो! तुम शील स्वभावी शिल्पी को नहीं पहचानते। वह तो दयासागर है, क्षमा का अवतार है।' शिल्पी के मुख से भी निकल पड़ता है—'खम्मामि, खमंतु मे— क्षमा करें मुझे, मैं क्षमा माँगता हूँ।' शिल्पी के इस अश्रुतपूर्व वचन से तुरन्त काँटे का क्रोध शान्त होता है और बोध का फूल खिल उठता है।

कुम्भकार ने मिट्टी को और अधिक मसला, पैरों से रौंदा तो मिट्टी ने मौन साध लिया। किन्तु शिल्पी की रसना, नासा और आँखें कब मौन और स्थिर रह सकती थीं। इन सभी ने शिल्पी को साहस जुटाया। आस्था की जोत जगी। आस्था का दर्शन आस्था में निहित है, चर्म-चक्षुओं में नहीं। निष्ठा और आस्था दोनों एक हैं। निष्ठा की फलवती प्रतिष्ठा ही प्राण-प्रतिष्ठा है। मिट्टी का यह वचन सुनते ही शिल्पी का चेतन सजग हुआ और उसने भी अपना आशय दर्शाया—'चेतनभोगी वतन को भूल जाते हैं तो सचेतन अपने तन को भुला देते हैं। कार्य की व्यग्रता में कर्त्ता को स्व का

भान कहाँ ?' चेतन की क्रियाशील शक्ति, जो अचेतनिक है, निरन्तर सक्रिय रहती है। शिल्पी का अंग-अंग भी यन्त्र-सम संचालित हो जाता है। मिट्टी पुनः उसे जगत् की यथार्थता समझाती है : 'सं अर्थात् समीचीन, सार अर्थात् सरकना, जो सम्यक् रूप से सरकता है, वह 'संसार' है। अहर्निश संसरण करना, चलते रहना ही संसार है। मैं भी संसरणशील हूँ। मेरा चार गतियों और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण होता रहा है।'

कुम्भकार ने मिट्टी का लोंदा बनाया। चाक पर रख, डण्डे से उसे घुमा कर मिट्टी के पिण्ड को एक मनोज्ञ घट का आकार दिया। चाक से घट को उतारा गया। उस पर ९९, ६३ और ३६ के अंक अंकित किए। ९९ का अंक ९९ के फेर में पड़ने से सत्त्वों को रोक रहा है तो ६३ की संख्या संसार में उत्पन्न होने वाले महाप्रतापी, महाकारुणिक ६३ महापुरुषों की गुण-गौरव-गाथा गाती है। ३६ के अंक में तीन की संख्या जोड़ने से यह जगत् के समस्त प्रचलित ३६३ मतों को बतलाती है। इसके अतिरिक्त घट पर सिंह, श्वान, कच्छप और खरगोश आदि के अनेक अन्य चिह्न बने हैं। ये सभी मायाचार, स्वतन्त्रता, परतन्त्रता, सभ्यता, समानता, प्रमाद, अप्रमाद, एकान्तवाद, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के बोधक हैं। कुम्भ पर ये भी लिखे हैं—'कर पर कर दो', 'मर हम मरहम बनें', 'मैं दो गला' अर्थात् पाप पाखण्ड से दूर हट कर सही उद्यम करें, मर कर हम अगले भव में मरहम बनें और मैं दोगला हूँ यानी छली, धूर्त, मायावी हूँ। अज्ञान एवं अभिमान के कारण इस छद्म को छुपाता रहता हूँ किन्तु यह यथार्थ है कि मैं अर्थात् अहं (गर्व) को गला दो। तब कल्याण निश्चित है।

खण्ड -३. 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन'

वसुन्धरा वसुधा कहाँ रही ? धरा का निखिल वैभव लूटपाट कर जलधि रत्नाकर बन गया। मोह-मूर्च्छा का अतिरेक पर-सम्पदा हरण है। निन्द्य कर्म करके जलधि ने जड़धी (बुद्धिहीनता) का परिचय देकर नाम सार्थक किया, किन्तु न्यायी सूर्य से यह अन्याय देखा न गया। उसने जल को जला-जलाकर वाष्प बना दिया। दूसरी ओर लक्ष्यहीन चन्द्र ने जल तत्त्व का पक्ष लिया और जलधि में ज्वार-भाटा ला दिया। फिर धरती से अकृतघ्नी सागर को अगणित मुक्ता मिले। सुधाकर का क्रोध और बढ़ गया। उसने जलधि को प्रेरित कर शुक्ल-पद्म-पीतलेश्या वर्ण रूपधारी तीन बदलियों को भेज दिया। बदलियों की छवि का कवि ने दिव्य वर्णन किया है। इसी के बहाने उसने नारी, महिला, अबला, स्त्री, सुता, कुमारी, दुहिता और अंगना जैसे नारी के पर्यायवाची शब्दों की सुन्दर निरुक्तिपरक व्याख्या कर डाली। जो किसी की शत्रु नहीं है और जिसका कोई शत्रु नहीं है यानी न+अरि, वह 'नारी' है। जीवन में मंगल (आनन्द, सुख) को लाने वाली, पुरुष में धृतिधारणी जननी के प्रति अपूर्व आस्था जगाने वाली 'महिला' है। 'महिला' वह भी है जो पुरुष में ज्ञान ज्योति लाती है। जो जीवन को जगाती है, वह 'अबला' है। भूत, भविष्य की आशाओं से चित्त को हटाकर, जो वर्तमान में आशाओं को लाती है, वह 'अबला' है। इसका एक और भी अर्थ है जो स्वयं बला अर्थात् संकट नहीं है, वह 'अबला' है। पुरुषार्थत्रय—धर्म, अर्थ एवं काम—में पुरुष को संयमित करने वाली 'स्त्री' कही जाती है। जो सुख-सुविधाओं का स्रोत है, वह 'सुता' है। तो 'कु' अर्थात् पृथिवी की तरह माँ अर्थात् लक्ष्मी, सुख-सम्पदा को 'री' अर्थात् देने वाली है, वह 'कुमारी' है। 'दुहिता' में दो भाव छिपे हैं। एक तो 'दु' अर्थात् दुष्ट, गिरे हुए पतित से भी पतित पति को जो हित अर्थात् कल्याण में लगाती है, वह 'दुहिता' है। दूसरा यह कि वह उभय कुलवर्धिनी (माता एवं पिता पक्ष), सुख सर्जनी होने से भी 'दुहिता' कहलाती है। 'प्रमातृ' अर्थात् ज्ञाता होने से 'माता' वही है, और जो मात्र अंग नहीं, वह 'अंगना' है अथवा अंग के अतिरिक्त अन्तरंग में और भी बहुत कुछ है, जिसे देखने का यत्न करें, वह 'अंगना' है।

बदलियों को प्रभाकर का यह प्रवचन बहुत अच्छा लगा। उन्होंने सागर का साथ न दे, मोती बरसाए। कुम्भकार अन्यत्र गया हुआ था कि मोतियों की बरसात को सुन सभृत्य राजा पधारे। मौका पा मोती समेटने लगे। गगन में गम्भीर गर्जना हुई। 'अनर्थ हो रहा है, अर्थ प्राप्ति के लिए स्वयं पुरुषार्थ करो।' समीचीन कथन है, पर द्रव्य मिट्टी है- 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'। तभी कुम्भकार आ गया। उसने राजा से क्षमायाचना की। घट ने व्यंग्य किया– 'जलती बत्ती को छूते ही जल गए न। लक्ष्मण-रेखा को लाँघने वाला अवश्य दण्डित होता है।' कुम्भकार ने मोतियों की गठरियाँ राजा को समर्पित कर उसे विदा किया।

लजीली-सी बदलियों को लौटते देख सागर क्षुब्ध हुआ। उसने उन्हें स्त्री रूप होने से 'चला' कहा। कारण, उसका मत था कि चापल्य स्त्री जाति का स्वभाव है, अतः उसे कुल-परम्परा, संस्कृति का सूत्रधार नहीं बनाना चाहिए। प्रभाकर को यह कहना बुरा लगा। उसने जलधि में बड़वानल प्रज्वलित कर सागर को जलाना प्रारम्भ कर दिया। सागर कम न था। उसने तीन बादल भेज दिए, जिससे प्रभाकर ढक गया। प्रभाकर ने भी अपने करतेज से प्रहार करना शुरू किया कि सागर ने राहु को उकसा दिया। राहु ने उसे ग्रस लिया। चारों ओर अँधेरा छा गया। चर-जगत् व्यथित हो उठा। कण-कण ने माँ धरती से गुहार की। कृपा हुई। धरती ने कणों को आदेश दिया। वे प्रभंजन बन गए। घनों के ऊपर विघ्न छा गया, वे भागने लगे। जलधि ने और घन भेजे। इन्द्र प्रच्छन्न रूप में इन्द्रधनुष तान कर अवतरित हुआ। धनुष तान उसने घन का तन भेद दिया। बिजली चमकी, वज्रपात हुआ। बादल फूट-फूट कर रो पड़े। किंकर्त्तव्यविमूढ़ से वे जलकण पत्थरों-सम ओलों से मारने लगे। अविराम युद्ध चलता रहा। स्थितप्रज्ञ कुम्भकार इसे निहारता रहा। इस धर्म-संकट में अपने स्वामी को फँसा देख गुलाब पौध ने गन्धवाहक प्रियमित्र को स्मरण किया। दुर्दिन में फँसे मित्र को संकट से निकालने में सक्षम प्रभंजन ने बादलों पर आक्रमण कर दिया। शत्रु का पीछा किया गया। जहाँ से वे आए थे, वहीं उन्हें धकेल दिया गया। समुद्र पर पहुँचते ही बादल चुप न रहे। जल पड़ते ही सागर का क्रोध भी शान्त हो गया।

नभ स्वच्छ हुआ, प्रभात हुआ। सूर्य निकला, नूतन आलोक फैला। सभी प्रमुदित और प्रसन्न हुए। धरती की प्रतिष्ठा बनी रही, पर शिल्पी रूप गुरु कुम्भकार अनासक्त रहा। यह देख कुम्भ ने कहा- 'यह सार्वभौमिक सत्य है कि परीषह-उपसर्ग के बिना स्वर्ग-अपवर्ग की उपलब्धि कभी नहीं होती।' अपरिपक्व कुम्भ की इस आस्था पर शिल्पी को आश्चर्य हुआ और आशा बँधी कि साधक समुचित मार्ग पर आरूढ़ है। वह बोला- 'तुम्हें इतने ही थोड़े समय में इतनी अधिक सफलता मिलेगी, सोचा न था। कारण, बड़े-बड़े साधक हाँफते और घुटने टेकते हुए देखे हैं। पर तुम्हें सफलता अवश्य मिलेगी। सुनो ! अभी तुम्हें आग का दरिया पार करना है और वह भी भुजाओं से तैर कर।' यहीं कुम्भ कहता है कि साधक की अन्तर दृष्टि में जल और ज्वलनशील अनल में अन्तर शेष नहीं रह जाता। उसकी साधना की यात्रा निरन्तर भेद से अभेद एवं वेद से अवेद की ओर बढ़ती चली जाती है।

खण्ड -४. 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'

नवकार-मन्त्र के उच्चारण के साथ अवा लगाया गया। बबूलादि की लकड़ियाँ चुनी गईं। आग दी गई। लकड़ियों ने अपनी अन्यमनस्कता दर्शाई तो कुम्भकार शिल्पी ने मीठे वचन कहे– 'नीचे से निर्बल को ऊपर उठाना उत्तम है। कुम्भ के जीवन को ऊपर उठाना है।' लकड़ी ने उदारता समझी और हुई आग को समर्पित। कारण, अग्नि-परीक्षा के बिना किसी को मुक्ति नहीं। सदाशय और सदाचार ही जीवन की सही कसौटी है। शिष्टों पर अनुग्रह, दुष्टों का निग्रह ही धर्म का लक्ष्य है। स्व एवं पर-दोषों को जलाना ही परम धर्म है। पूरा का पूरा अवा धूम से भर उठा। कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम किया। यही ध्यान-सिद्धि में साधकतम है और नीरोग योगतरु का मूल है। अग्नि का स्पर्श पाते

ही कुम्भ की काया कान्ति से दमक उठी, आत्मा उज्ज्वल हुई। अग्नि ने कुम्भ को सम्बोधित कर ध्यान की महत्ता समझाई। कुम्भ को इससे साहस और उत्साह मिला। अग्नि ने आगे और भी इसे समझाया कि दर्शन का स्रोत मस्तिष्क है। स्वस्तिक से अंकित हृदय से अध्यात्म का झरना बहता है। अध्यात्म के बिना दर्शन का दर्शन नहीं। निर्विकल्पक अध्यात्म ही सदा सत्य, चिद्रूप, भास्वत होता है।

शिल्पी दर्शन एवं अध्यात्म की इस मीमांसा में खो गया। प्रभात हुआ। अवा का अवलोकन किया गया। अग्नि की अग्नि-परीक्षा पूर्ण हुई। कुम्भकार ने अवा की रेतीली राख को हटाया। कुम्भ को पका हुआ देख प्रसन्न हुआ कि साधना सफल हुई। कुम्भ भी अपने को मुक्त हुआ जानकर प्रसन्न हुआ और उसने भावना भाई कि मेरा पात्र-दान किसी त्यागी को होना चाहिए।

इधर नगर के सेठ ने स्वप्न देखा कि वह मंगल कलश ले सन्त का स्वागत कर रहा है। अपने को धन्य मान उसने कलश लाने को सेवक भेजा। सेवक ने कुम्भकार के पास पहुँचकर कुम्भ को माँगा। सेवक ने उसे उठाकर कंकड़ से बजाया तो ध्वनि निकली—'सा रे ग म प ध नि। मानो कहता हो कि सारे गम, पद नहीं हैं अर्थात् दुःख आत्मा का स्वभाव नहीं है।' ध्वनि सुन सेवक चमत्कृत हुआ। मन मन्त्रित हुआ, तन तन्त्रित हुआ। शिल्पी के शिल्पन चमत्कार पर चेतन-चित्-चमत्कार का भाव हुआ। उसे सेवक सेठ के घर ले आया। सेठ ने सोल्लास कुम्भ को हाथ में ले उस पर चन्दन से स्वस्तिक बनाया और चार बिन्दियाँ बना दीं, जो संसार को सुख-शून्य चारों गतियों और सबको स्व की उपलब्धि को बतला रहा था। कुम्भ को मांगलिक पदार्थों से सजा कर सेठ हाथों में उसे ले कर साधु के आगमन की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ा हो गया। अतिथि का आगमन हुआ। अभिवादन में 'जय हो, जय हो, जय हो; नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु; अत्र, अत्र, अत्र; तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ' की ध्वनि गूँज गई। साधु का घर में प्रवेश हुआ। विधिवत् पाद-प्रक्षालन किया गया। वीतरागी, निर्मोही सन्त ने अंजुलि-मुद्रा छोड़ दी। कायोत्सर्ग कर, पाणिपात्र में आहार ग्रहण किया। आहार हो जाने पर जब कायोत्सर्ग पूर्ण हुआ तब सेठ ने अतिथि के हाथों में मयूरपंखोंवाला संयमोपकरण और प्रासुक जल से परिपूर्ण शौचोपकरण कमण्डलु दिया। साधु ने सदुपदेश दिया कि स्व में लीन हो जाओ। पुरुष>परमतत्त्व>परमात्मा ही प्राप्त करने योग्य है। अनन्तर साधु गन्तव्य की ओर चल पड़े।

सन्त का अधिक सत्संग न पा सेठ कुछ खिन्न हुआ तो कुम्भ ने सेठ को सन्तों की महिमा समझाई। सेठ को कुम्भ में साधुत्व के दर्शन हुए। कुम्भ का मान बढ़ा। इसे देख स्वर्ण कलश को ईर्ष्या हुई। वह आक्रोश में बोला—'यह सभ्य व्यवहार-सा नहीं लगता कि मिट्टी को माथे पर और मुकुट को पैरों में पटका जाय। मानता हूँ कि अपनाना, अपनत्व प्रदान करना, पर को अपने से भी पहले समझना सभ्यता है, प्राणीमात्र का धर्म है पर उच्च उच्च ही होता और नीच नीच ही रहता है।' अभ्यागत सन्त पर भी छींटाकशी की गई। यह असहनीय तिरस्कार था। मिट्टी के कलश से भी न सहा गया। वह बोला—'तुम स्वर्ण हो, पर तुममें पायस ना है, तुम्हारा पाय (पैर) सना है पाप पंक से, अतः पूरा अपावन है। तुम्हें पावन की पूजा रुचती नहीं है, पर-प्रशंसा शूल-सी चुभती है। माटी को सम्मान दो, क्योंकि तुम भी उसी माटी में जनमे हो। वह तुम्हारी माँ है। वह द्रव्य अनमोल है जो दुःखी-दरिद्री को देखकर द्रवीभूत होता है। माटी स्वयं भीगती है दया से और औरों को भी भिगोती है। माटी में बोया गया बीज समुचित अनिल एवं सलिल पाकर पोषक तत्त्वों से परिपुष्ट होकर सहस्र गुणित हो फलता है। तुम यदि यथार्थ में सवर्ण होते तब प्रतिदिन दिनकर का दुर्लभ दर्शन तो करते। क्यों बहुत दूर भूगर्भ में गाड़े जाते रसातल में ? नीरस हो, बन्धक हो, परतन्त्र जीवन की आधारशिला हो, अभेद्य दुर्गम किला हो। स्व एवं पर में भेद जानो। भेद विज्ञान ही श्रेयस्कर है। संसार बन्धन में कारण है विषयों में रसिकता और भोगों की दासता। ऋषि-मुनि-यति भी इसी मिट्टी की शरण लेते हैं। इसी पर शयन करते हैं।' यहाँ झारी,

चम्मच, घृत, केसर आदि का नोक-झोंक पूर्ण संवाद बड़ा दिलचस्प है।

एक पक्ष का संकल्प पूर्ण हुआ। कृष्ण पक्ष का आगमन हुआ। सेठ ने निद्रा की गोद में सोने का प्रयास किया कि मन्द शीतल पवन के साथ खिड़की के द्वार से एक मच्छर ने शयन-कक्ष में प्रवेश किया। प्यासा था, प्रदक्षिणा की। मन्त्र जपा, पर कृपा न हुई। ये देख पलंग में स्थित मत्कुण ने कहा—'ये मनु-सन्तान, महामानव हैं। ये अपने लिए ही परिग्रह-संग्रह करते हैं। सेवकों से प्रायः अनुचित सेवा लेते हैं और वेतन का वितरण भी अनुचित ही करते हैं।' सेठ से कहता है—'सेठ! सूखा प्रलोभन मत दिया करो, कुछ स्वाश्रित जीवन भी जिया करो।' मच्छर और मत्कुण में कुछ देर बहुत ही रोचक संवाद चलता है जो सारगर्भित है। सेठ ने सुना, प्रसन्न हुआ और उसने अपने को कुछ प्रशिक्षित-सा अनुभव किया किन्तु वह दाहज्वर से पीड़ित हो गया।

प्रातः अनुभवी चिकित्सा-विद्या-विशारद वैद्यों को बुलवाया गया। वैद्यों ने कहा—'दाहज्वर है। मात्र दमन से कोई भी क्रिया फलवती नहीं होती, तन के अनुरूप वेतन और मन के अनुरूप विश्राम भी चाहिए।' उपचार प्रारम्भ हुआ। किन्तु जहाँ तक पथ्य की बात है, सभी शास्त्रों का एक ही मत है। बस पथ्य का सही पालन हो तो औषध की आवश्यकता नहीं। श, स, ष— ये तीन बीजाक्षर हैं। इनके उच्चारण में पूरी शक्ति लगाकर श्वास को भीतर ग्रहण कर नासिका से ओंकार ध्वनि के रूप में बराबर बाहर निकालने से अन्तरंग में निविष्ट कषाय और पाप-पुण्य का शमन हो जाता है। और बाह्य भू ही शरण है। भू की पुत्री माटी का टोप बना कर सिर पर ज्यों ही रखा गया तो सेठ की चेतना लौटने लगी।

प्राकृतिक उपचार से सेठ स्वस्थ हो गया। उसने पारिश्रमिक देकर वैद्यों को विदा किया। वैद्य दल ने भी यह सब चमत्कार माटी के कुम्भ का ही बतलाया। इतना सुनते ही पुनः एक बार स्वर्णकलश विवर्णवदन हो जाता है। उसे ऐसी आशा नहीं थी अपने तिरस्कार की। वह विचार करता है कि यह सब कलिकाल का प्रभाव है कि यह संसार मौलिक वस्तुओं के उपभोग को छोड़ लौकिक उपचार में तत्पर हो रहा है। झिलमिल मणिमालाओं, मंजुल-मुक्तामणियों, उदार हीरकहारों, तोते की चोंच को लजाते गूँगे-से मूँगे और नयनाभिराम नीलम के नगों को छोड़ मिट्टी के लेप से उपचार किया जाता है। स्वर्ण-रजतादि के पात्रों को छोड़ इस्पात के पात्रों को खरीदा जा रहा है जिनसे हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ बनती हैं और लोग चन्दन, घी तथा कपूर का त्याग कर माटी—कर्दम का लेप करते हैं। वस्तुओं को समेट कर मितव्ययता का ढोंग रचते हैं। इसी चिन्तन से उसमें अहं जागा और उसने आतंकवाद का सहारा पा लिया। प्रतिशोध की भड़की भीषण ज्वाला को देख कुम्भ ने सेठ को सचेत किया और सपरिवार तुरन्त पीछे के द्वार से भाग जाने का संकेत किया।

सेठ के हाथ में पथप्रदर्शक कुम्भ है और पीछे-पीछे चल रहा है उसका सारा परिवार। वन-उपवन, झाड़ियों से गुज़रता, सिंह से पीड़ित गजयूथों को अभय देता आगे बढ़ रहा था कि सहसा आतंकवाद का हमला हुआ। गजों और नागों ने उन्हें बचाया। आतंकवादी के मार्ग में मन्त्रबल से अचानक काली मेघ घटाएँ छाईं, प्रचण्ड पवन प्रवाहित हुआ। वृक्ष शीर्षासन करने लगे और मोर नाचने लगे। मूसलधार वर्षा होने लगी। चारों ओर घटाटोप छा गया। सर्वत्र जल ही जल नज़र आया। बादल शान्त हुए। परिवार का मन लौटने को हुआ तो कुम्भ ने मना किया और बोला—'अभी आतंकवाद गया नहीं है। नदी में नया नीर है, बड़ा बाढ़-वेग है, जिसे अभी पार करना शेष है। कृत संकल्प दृढ़ है। लो, मेरे गले में बाँधो रस्सियाँ और परस्पर में एक-दूसरे को कमर से पकड़ लो, ओम् का उच्चारण करो और नदी में कूद पड़ो, मैं तुम्हें उस पार पहुँचाऊँगा।' हुआ भी ऐसा ही। कुम्भ के सहारे वे नदी में कूद पड़े। सब जलमग्न, मात्र मस्तक-मुख ऊपर थे। महायान चल पड़ा। मत्स्य, मगरमच्छ और सर्पादि आए, उन्हें खाने की चाह बढ़ी पर अनेक मैत्रीपूर्ण भावों से

जलचरों के भाव बदल गए। नदी ने भँवरजाल में उन्हें फँसाना चाहा तो कुम्भ ने सम्बोधित किया—'हे पाप पैरवाली ! तू भी धरती की शरण में है। फिर क्यों इतना इतराती, इठलाती है ?' नदी को बोध हुआ और वह शान्त हुई।

आतंकवाद फिर भी निराश नहीं हुआ। वह मार्गविरोधी बन सम्मुख खड़ा हो गया। बोला—'तुम समाजवाद का दम भरते हो, पर कहने मात्र से कोई समाजवादी नहीं बन जाता। तुम लोग पार जाने का विकल्प त्याग दो।' उसका क्रोध और अधिक भड़का। उसने फिर से पत्थरों की बौछार की। सब तिलमिला उठे। रक्तधारा बह गई। आतंकवाद ने ध्यान-मुद्रा का सहारा ले जलदेवता का आह्वान किया। वे आए और उन्होंने परिवार को परास्त करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। आतंकवाद परास्त हुआ, सबका उद्धार हुआ। सपरिवार सेठ नदी पार हुआ। सर्वत्र खुशहाली छाई।

सेठ कुम्भ को लेकर वहाँ आया, जहाँ पर कुम्भकार ने पूर्व में मिट्टी खोदी थी। पुत्र को देखकर धरती फूली न समाई। पुत्र के अभ्युदय को देखकर माँ सत्ता धरती बोली—'बेटा ! तुमने मेरी बात मान ली, कुम्भकार का सत्संग जो किया, अतः सृजनशील जीवन का पहला आदिम सर्ग हुआ; जिसका संसर्ग किया, उसके प्रति तुमने समर्पित भाव हो उसके चरणों में अहं का उत्सर्ग किया, यह सृजनशील जीवन का दूसरा सर्ग हुआ; समर्पण के बाद क्लिष्ट तप-साधना में अग्नि-परीक्षा दी, उपसर्ग सहन किए, यह सृजनशील जीवन का तीसरा सर्ग है और परीक्षा परिणाम स्वरूप, बिन्दु मात्र वर्ण जीवन को ऊर्ध्वमुखी (ऊर्ध्वगामी) हो तुमने स्वाश्रित विसर्ग किया, यही अन्तिम सर्ग है। यही वर्गातीत निसर्गरूप अपवर्ग है।

धरती के भाव सुन कुम्भ सहित सबने कृतज्ञदृष्टि से कुम्भकार की ओर देखा। कुम्भकार ने कहा—'मुझ पर सन्तों की कृपा है, मैं उनका किंकर हूँ।' और कुछ ही दूरी पर ध्यान में लीन एक वीतरागी साधु को सबने देखा। पास गए, नतमस्तक हुए, चरणाभिषेक किया, उसे शिर पर लगाया, गुरु-कृपा की प्रतीक्षा की। गुरुदेव का सदुपदेश हुआ—'भूले-भटके को सही राह बतलाना, हित-मित-प्रिय वचन बोलना, भूलकर भी स्वप्न में किसी को वचन न देना, हितकर है। बन्धन रूप मन-वचन-काया का आमूलचूल मिट जाना ही मोक्ष है। यही विशुद्ध दशा और अविनश्वर सुख है।' ऐसा कह सन्त मौन होकर, ध्यान में लीन हुए, सभी निर्निमेष देखते रहे।

उपर्युक्त कथावृत्त भावाभिव्यक्ति कौशल से अत्यन्त रमणीय है। सुगठित भाषा सरस व सरल है। सुललित प्रांजल शैली में वैचारिकता का प्राधान्य है। नारी सामाजिक नियति से बँधी है। वह सामाजिक दंशों को झेलती हुई अपने को आहूत कर देती है। रूढ़ियों में जकड़ी नारी के प्रति गहरी करुणा सन्तकवि के साहित्य सृजन का मूल स्वर है। कवि का आत्मानुभव, वात्सल्य एवं मैत्री-करुणा की सीमाओं को पार कर अध्यात्म की ओर उन्मुख है। काव्य में माधुर्य, ओज एवं प्रसादगुण का सुन्दर सामंजस्य मननीय है। जैन आचार दर्शन का रूपक के माध्यम से प्रस्तुतीकरण अपने आप में अद्भुत है।

काव्य में मानवीकरण द्रष्टव्य है। प्रवहमान सरिता संसार है। रात्रि अज्ञान व मिथ्याज्ञान का प्रतीक है। उषाकाल एवं प्रभात ज्ञानपुंज है। पद-दलिता पतिता नारी रूप मिट्टी पुण्यशीला भव्य आत्मा है। शिल्पी कुम्भकार गुरु सदुपदेष्टा है। मुमुक्षु मिट्टी नारी-मुक्ति की कामना से ओत-प्रोत है। बस, यहीं से इतिवृत्त मुक्ति की राह पर अग्रसर हो जाता है।

मुक्ति की कामना में आस्था (श्रद्धा) का दृढ़तर होना नितान्त अपेक्षित है। कारण, यथार्थ श्रद्धान ही मुक्ति-प्रासाद का प्रथम सोपान है। इसके बिना यथार्थ ज्ञान दुर्लभ है। यथार्थ ज्ञान एवं दर्शन का आधार भी यथार्थ चारित्र है। क्रोध आदि चार कषायों का अभाव और अहिंसादि व्रतों का निःशल्य परिपालन यथार्थ चारित्र है। सम्यक् चारित्र से ही

आस्था बलवती बनती है। प्रबल आस्थावान् साधक ही प्रशस्त मार्ग में अग्रसर होता हुआ यथार्थ ज्ञान-दर्शन के सम्बल से मुक्ति-लाभ के निकट पहुँच जाता है।

यहाँ काव्य में ममता तब समता में परिणत हो जाती है जब माँ धरती के सम्बोधन से आत्मरूप मिट्टी को प्रकृति-पुरुष के सम्मिलन, विकृति और कलुष का संकुचन, कर्मों का संश्लेषण और स्व-पर के विश्लेषण का स्पष्ट भान हो जाता है। गुरु की शरण सुखद होती है, उसमें पहुँचते ही भावों में नूतनता आती है। शिल्पी गुरु मिट्टी रूप आत्मा के कर्मरज की परत हटाता है। मिट्टी को सद्मार्ग रूप गदहे पर लादकर साधना क्षेत्र रूपी प्रयोगशाला में ला पटकता है। मिट्टी रूप आत्मा को विशुद्धकर कूपरूप स्वात्मा की गहराई से जलरूप ज्ञान के आहरणार्थ गुरु जैसे ही उलझन रूप रज्जु-ग्रन्थियों को खोलते कि उपसर्गों का सामना उसे करना पड़ता है। स्वयं स्थितप्रज्ञ, निर्ग्रन्थी गुरु मछली रूप एक अन्य भव्यात्मा को सल्लेखना के साथ समाधि दिलवाते हैं। मिट्टी रूप आत्मा साधना में मग्न हुआ ही था कि उस पर परीक्षाओं का आकाश टूट पड़ता है।

काव्य में वर्षा का मनोज्ञ वर्णन मिलता है। ऋतुओं के बहाने काव्य में जलधि का कोप, चन्द्र का अमर्ष, बदलियों का रूपनर्तन, बादलों की रोषपूर्ण गर्जना, राहु द्वारा सूर्यग्रहण रूप विभावों एवं उत्पातों, सूर्य, धरती, बड़वाग्नि, इन्द्रधनुष एवं प्रभंजन रूप भावों तथा सदाचार वृत्तियों का द्वन्द्वयुद्ध अत्यन्त रुचिकर बन पड़ा है। गुरु ज्ञानोन्नत आत्मा को तपाग्नि में तपाने के लिए अवा लगाता है। आग के लिए लकड़ियों को चुनता है। यहाँ अवा कर्मास्रव को रोकने और बद्धकर्मों को नष्ट करने के लिए संवर-निर्जरा वलयरूप है। अवागत प्रज्वलित अग्नि तप है, जिससे निर्जरा होती है। कुम्भ भी अग्नि में तप करता और कर्मक्षय कर अपने को मंगलमय बनाता है। गुरु सर्वज्ञाता हैं। वे अवा खोलते हैं। प्रबुद्ध आत्मरूप कुम्भ को देखकर प्रसन्न हैं। पुत्र कुम्भ की अभिलाषा है कि किन्हीं महान् तपस्वी सन्त के चरणों का सेवक बनूँ। चाह को राह मिल ही जाती है।

पुत्र कुम्भ को श्रावक रूप सेठ का घर मिला और समुचित सम्मान भी। आहार के लिए आए त्यागी साधु का सत्संग मिला। कुम्भ का अहोभाग्य देख स्वर्णकलश की ईर्ष्या भड़की, आतंकवाद का आक्रमण हुआ, सेठ का पलायन, नदी की बाढ़ का उपसर्ग, जलदेवता का सहयोग, नदी का पार किया जाना इत्यादि वर्णन काव्य में बड़े ही मनोरंजक बन पड़े हैं। पताका और प्रकरी रूप सम्पूर्ण कथा प्रसंग इतिवृत्तरूप सूत्र में बखूबी पिरोए गए हैं।

जैन योग साधना में एक साधक को चौदह श्रेणियों को पार व पूर्ण करना होती हैं। इन्हें 'गुणस्थान' के नाम से जाना जाता है। जीव के स्वभाव ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र का नाम 'गुण' है और इन गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के उत्कर्ष एवं अपकर्ष कृत स्वरूप विशेष का भेद 'गुणस्थान' कहलाता है। मिथ्यात्व का विनाश गुणस्थान का उत्कृष्ट सार है और तत्त्वज्ञान की युगपत् उपलब्धि है।

आत्मा के इस उत्कर्ष में अहिंसादि व्रतों के परिपालन के अलावा साधक पाँच समिति, दश धर्म, बारह वैराग्य-पूर्ण भावनाओं एवं बाईस परीषहों पर विजय पाकर पाँच चारित्र एवं द्वादश तपों के द्वारा शुभाशुभ कर्मों के आवागमन को रोककर उत्तरोत्तर गुणस्थानों में प्रवीणता हासिल करता है। बारहवें गुणस्थान में कषायें निश्शेषतः नष्ट हो जाती हैं और उसे वीतरागपना हासिल हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में उस आत्मा के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय कर्मों का निश्शेषतः क्षय हो जाता है और कैवल्य की उपलब्धि होने से आत्मा अत्यन्त ऋजु हो जाता है। यही उसकी सर्वज्ञत्व एवं विमुक्तावस्था है।

अयोगकेवली नामक चौदहवाँ गुणस्थान अनिर्वचनीय अलौकिक आनन्द की अवस्था है। यहाँ आत्मा एकमात्र अनन्तचतुष्टय यानी ज्ञान-दर्शन-सुख एवं वीर्य से सदैव सम्पन्न रहती है। काव्य की चरम परिणति भी लोकोत्तर

ब्रह्मानन्द सहोदर स्वयं प्रकाशरूप रस में होती है। आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त एवं मम्मट प्रभृति विद्वानों ने अज्ञानावरण से मुक्त शुद्धचैतन्य स्वरूप बना हुआ रति आदि स्थायी भाव ही रस बतलाया है–"भग्नावरणचिद्विशिष्टा रत्यादिः स्थायी भावो रस इति" (रसगंगाधर, प्रथम आनन)। प्रकृत काव्य भी उभय दृष्टिकोणों के प्रतिपादन में यथार्थतया सफल रहा है।

काव्य में अंगी रस शान्त रस की पुष्टि में अंग रसों का भी यथोचित सहज प्रतिपादन मिलता है। मिट्टी की दलित पतितावस्था एवं नदी की बाढ़ में बहता हुआ सेठ परिवार के वर्णन में करुणा का स्रोत उमड़ पड़ता है। माँ धरती के सम्बोधन में वात्सल्य रस, बादलों की गड़गड़ाहट में भयानक, आतंकवाद के उपक्रमण में रौद्र और ओलावृष्टि के प्रतारण में बीभत्स, साहस पूर्वक आतंक का सामना करने में सेठ परिवार में वीर रस तथा पुत्र घट द्वारा धैर्य बँधाने में भी दया वीर, काव्य में और अधिक निखार लाता है। बदलियों के सौन्दर्य वर्णन में तो शृंगार रस स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

पात्रों के चयन में सन्तकवि का सहज नैपुण्यभाव झलकता है। काव्य का आधार ही समस्त प्रकृति की गोद है। नदी तरंगों की अठखेलियाँ, पर्वत-गुफाओं तथा शिखरों की रमणीयता, ऋतुओं की सप्तरंगी छटा आदि काव्य के प्राण हैं। लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति के अनेक चित्र पद-पद पर काव्य में द्रष्टव्य हैं।

हृदय को आनन्दप्रदायक याद>दया (पृ. ३८), राही>हीरा, राख>खरा (पृ. ५७), लाभ>भला (पृ. ८७), नदी>दीन (पृ. १७८), नाली>लीना (पृ. १७८), तामस>समता (पृ. २८४), रसना > नासर (पृ. १८१), धरती>तीरध (थ)(पृ.४५२), धरणी>नीरध(पृ.४५३) इत्यादि विलोम एवं अनुलोम अर्थपरक शब्दों के प्रयोग में कवि का नैपुण्य मननीय है। इसके अलावा सन्तकवि ने अनेक प्रसंगों पर कतिपय शब्दों की अत्यन्त सुन्दर निरुक्तियाँ की हैं। इनमें कुम्भकार (पृ. २८), गदहा (पृ. ४०), कृपाण (पृ. ७३), दो गला (पृ. १७५-१७६), नारी, महिला, अबला, माता, दुहिता, स्त्री, अंगना और सुता (देखें, पृ. २०२-२०७) आदि प्रमुख हैं। काव्य में प्रसंगवश सर्वत्र 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' (पृ. १८४) जैसे परिभाषा सूत्रों एवं मन्त्र-सम 'खम्मामि खमंतु मे' (पृ. १०५), 'धम्मं सरणं पव्वज्जामि' (पृ. ७५), 'धम्मो दयाविसुद्धो' (पृ. ७०), 'दयाविसुद्धो धम्मो' (पृ. ८८) तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (पृ. ८२) आदि सुभाषित रत्नों का प्रयोग मिलता है, जो काव्य के सौष्ठव को बढ़ाते हैं। काव्य में प्रयुक्त अन्य सूक्ति बिन्दु भी पाठक के आकर्षण के केन्द्र हैं। यथा– 'बहना ही जीवन है' (पृ. २), 'आस्था के बिना रास्ता नहीं' (पृ. १०), 'दया का वतन निरा है' (पृ. ७२), 'काया तो काया है/जड़ की छाया-माया है' (पृ. ९२), 'स्वभाव से ही मन चंचल होता है' (पृ. ९६), 'मन वैर-भाव का निधान होता ही है' (पृ. ९७), 'वात्सल्य जीवन का त्राण है' (पृ. १५९) इत्यादि। 'नाड़ी ढीली पड़ना' (पृ. २१३), 'गुरबेल कड़वी और नीम चढ़ी' (पृ. २३६), 'भीति बिना प्रीति नहीं' (पृ. ३९१), 'काँटे से काँटा निकाला जाता है' (पृ. २५६) जैसी लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी कम प्रयोग काव्य में नहीं हुआ है। काव्य में पाठक की रुचि में वृद्धि करने वाले और अन्य कतिपय तत्त्व भी विद्यमान हैं, जिनसे जीवन को उन्नत करने की प्रेरणा मिलती है, यथा :

"नीति-नियोग की विधि बताता
- *प्रीति-प्रयोग की निधि दिखाता।" (पृ. २५७)*

"आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।
- *तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!" (पृ. १३३)*

"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का
- *कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)*

"पाँव नता से मिलता है/पावनता से खिलता है।" (पृ. ११४)
"हर प्राणी सुख का प्यासा है।" (पृ. १४१)

काव्य समाज का दर्पण होता है। महाकाव्य 'मूकमाटी' में विद्यमान भारत की राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधियों की स्पष्ट झलक मिलती है। नारी का समाज में बराबर का दर्जा है। शिक्षित नारियों की संख्या बढ़ रही है। उन्हें संविधान द्वारा पहले से अधिक सम्मान और अधिकार प्रदत्त हैं, फिर भी स्वतन्त्र भारत में नारी का शोषण हो रहा है। उसकी दुर्गति की जाती है। पहले उसे प्रलोभन दिए जाते हैं और फिर तलाक। तलाक पर काव्य में कितना सुन्दर कटाक्ष किया गया है :

"स्वस्त्री हो या परस्त्री,/स्त्री-जाति का स्वभाव है,/कि
किसी पक्ष से चिपकी नहीं रहती वह।/अन्यथा,
मातृभूमि मातृ-पक्ष को/त्याग-पत्र देना खेल है क्या ?
और वह भी"'/बिना संक्लेश, बिना आयास !/यह
पुरुष-समाज के लिए/टेढ़ी खीर ही नहीं,/त्रिकाल असम्भव कार्य है !" (पृ.२२४)

जगत् पर अर्थवाद का आवरण है। भारत उससे अछूता नहीं। धनतन्त्र में न्याय भी सस्ता है तो जीवन उससे भी और अधिक सस्ता है। अधर्म ही धर्म बन रहा है। अपराधों की अपेक्षा अपराधियों की बाढ़ आ गई है। निरपराधी लूटे जाते, पकड़े जाते हैं और पीटे भी जाते हैं। रक्षक ही भक्षक बने हुए हैं। गरीबी उन्मूलन के नारों में गरीबों को लूटा जाता है। करों की महत्ता है। महँगाई के मुख में कम आय वाले ही नहीं, मध्यमवर्गियों की गर्दनें फँसी हुई हैं। किसी को किसी पर विश्वास ही नहीं रह गया है। मानव मानवता से गिर गया है।

भारत महापुरुषों, देशभक्तों की भूमि है किन्तु पद-लोलुपी राजसत्ता के मतवाले राजनेताओं की कथनी और करनी के भेदभाव ने भारत के गौरव को ठेस पहुँचाई है। उनके द्वारा लिए गए गलत निर्णयों एवं अहंभाव ने क्षेत्रवाद की विकराल समस्याएँ उत्पन्न की हैं। आज का भारत अलगाववाद, जातिवाद, नक्सलवाद और विशेषरूप से आतंकवाद के झंझावात में फँसा हुआ है। उसकी आर्थिक दशा डावाँडोल है। इन्हीं सभी पक्षों का प्रासंगिक वर्णन किया गया है। इससे काव्य में कवि का नैपुण्य ही उजागर हुआ है। साथ ही कथित समस्याओं का समाधान भी सुझाया गया है और वह है– अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त सिद्धान्त का सम्यक् परिपालन, निष्कामभाव (अपरिग्रह) से किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक पीड़ा न पहुँचा कर (अहिंसा), अनेकान्तवाद अर्थात् वस्तु की यथार्थता को यथार्थ रूप से समझना, उसे समझाना और स्वयं परस्पर में इन अहिंसादि के परिपालन से ही प्राणी अपने जीवन को सुखी एवं समृद्ध बना सकता है।

❑



'मूकमाटी' : अकिंचन से मंगल घट बनने की मुक्ति यात्रा

प्रो. (डॉ.) उमा शुक्ल

आधुनिक काव्य साहित्य की एक अनुपम उपलब्धि है 'मूकमाटी।' आचार्य विद्यासागरजी ने इसमें मुक्त छन्द का प्रवाह और काव्यानुभूति की अन्तरंग लय समन्वित कर एक अध्यात्म काव्य का रूप दिया है। वे धरती पर आध्यात्मिकता का नव स्रोत बहाने वाले तत्त्वमनीषी हैं। इस काव्य को कवि ने चार खण्डों में विभक्त किया है : (क) संकर नहीं : वर्ण-लाभ; (ख) शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं; (ग) पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन; (घ) अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।

जीवन के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है। चैतन्य शक्ति को उभारना एवं जागृत करना इस कृति का लक्ष्य है। कबीर ने ललकार कर कहा था :

"ऊँचै कुल क्या जनमियाँ जे करणीं ऊँच न होइ।"

जन्म के बाद आचरण के अनुरूप उनमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को कवि ने स्वीकारा है। इसलिए संकर-दोष से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को मानव-जीवन का औदार्य व साफल्य माना है। जैसी संगति मिलती है, वैसी गति होती है :

"वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से/वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।
यानी !/जिसे अपनाया है/उसे/जिसने अपनाया है/उसके अनुरूप
अपने गुण-धर्म–/···रूप-स्वरूप को/परिवर्तित करना होगा।" (पृ. ४७)

कवि ने प्रथम खण्ड में माटी के व्याज से समय और व्यक्ति के विषय में कहा है कि व्यक्ति निष्ठा, लगन, श्रम और कठिन अभ्यास से वर्ण-लाभ कर सकता है, क्योंकि 'नर का गुण उज्ज्वल चरित्र है, धन धाम नहीं।' आधुनिक युग की यह एक ज्वलन्त समस्या है जहाँ कुल और जाति व्यक्ति के विकास में बाधक या साधक बनते हैं। जाति-पाँति के कारण भारतीय समाज में योग्य और कर्मठ व्यक्तियों की उपेक्षा, निरादर आम बात है। यह सामाजिक दोष है जो सच्चे गुणों का आदर न करके जाति के आधार पर ऊँच-नीच का निर्धारण करता है। यही मान्यता आने वाले युग में मानवता के प्रसार में सहायक मानी जाएगी। महाकवि ने पुकार-पुकार कर कहा है कि व्यक्ति जन्मना नहीं, कर्मणा मानव-महत्त्व का आराधक है। कवि कहता है कि उद्यम से विधि का अंक उलट जाता है। कुम्भकार माटी को मंगल घट का सार्थक रूप देना चाहता है। 'सार्थकता' से पहले उसे कूट-छानकर कंकरों को हटाना ज़रूरी है।

मनुष्य तो तभी अपने को लघुतम मानता है जब प्रभु को गुरुतम मानकर पहचान लेता है। इसीलिए साधना की आवश्यकता है। पर्वत की ऊँचाई को पाने के लिए चरणों का प्रयोग करना पड़ता है। साधना-स्खलित जीवन में अनर्थ ही सम्भव है। 'गीता' की कर्मण्यता का सन्देश भी इन शब्दों में मुखरित हुआ है :

"किसी कार्य को सम्पन्न करते समय
अनुकूलता की प्रतीक्षा करना/सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)

अपनी जीवन-यात्रा का सूत्रपात करने के लिए भगवान् के चरणों में समर्पण करना होगा।

इस यात्रा में सहकार का भाव आना भी बहुत आवश्यक है। दया का आना ही मनुष्य की सार्थकता है :

"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।
...दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३७-३८)

जीवन दर्शन : पापी से नहीं पाप से, पंकज से नहीं पंक से घृणा करो। नर से नारायण बनने के लिए लघुता त्यागकर गुरुता प्राप्त करना होती है। मनुष्य को निर्ग्रन्थ पथ का पथिक माना है तभी वह अहिंसा का अनुयायी हो सकता है। अँधकूप में पड़ी मछली की फरियाद मानों जीवन के अँधकूप में पड़े व्यक्ति की याचना है कि हंसरूपी ब्रह्म से उसे मिला दिया जाए। यहाँ यह भी संकेत है कि इस सम्पर्क में छोटी मछली को बड़ी मछली निगलती है। संसार में सहधर्मी-सहजाति में ही वैर- वैमनस्य होता है। वैज्ञानिक युग के छलावों और अवसरवादिता का संकेत कवि ने दिया है (पृ. ७३)। कथनी और करनी का भेद व्यक्ति को घुन की तरह खाए जा रहा है। साम्य-समता शब्द को कूप की मछली से निकलवाया है, जो समय की माँग है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' शब्दों के आधुनिकीकरण का मज़ाक उड़ाते हुए कहा है कि 'वसु' यानी धन द्रव्य और 'धा' यानी धारण करना-आज धन ही जिसका कुटुम्ब है, धन ही जिसका मुकुट है, ऐसे ही स्वार्थी संसार की ओर संकेत किया गया है। कलियुग और सत्-युग की व्याख्या की गई है। प्रथम खण्ड में जीवन दर्शन स्वयं परिभाषित होता जाता है। कूप, बालटी, मछली, रस्सी, गाँठ, बोरी, शिल्पी आदि शब्दगत अध्यात्म और व्यक्ति की बात प्रतीकों से बड़े अनूठे ढंग से व्यक्त की हैं। आचार्य विद्यासागर की आधारशिला अनुभव ज्ञान की है, उसमें जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन है। वह जीवन को परिस्थितियों की असंगतियों और विसंगतियों से भरपूर मानते हैं जिसमें सुख और सन्तोष की छाया भी नहीं है। कवि की चिन्तन धारा ऐसी दिशा में अग्रसर हुई है जिसमें उसने माया-मोह के शिलाखण्डों को तोड़ते हुए जीवन की सहज संवेदना की भूमि को उर्वर किया है और मानवता को महासागर की ओर जाने का अधिकाधिक वेग प्रदान किया है।

कवि ने दूसरे खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में साहित्यिक बोध को बहुआयामी रूप दिया है। इसमें शब्द-प्रयोग शब्द-साधना का सुन्दर रूप है :

"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।" (पृ. ९२)

पाश्चात्य सभ्यता को विभीषिका तथा भारतीय सभ्यता को कवि ने सुख-शान्ति की प्रवेशिका बताया है :

"पश्चिमी सभ्यता/...विनाश की लीला विभीषिका/घूरती रहती है सदा सदोदिता
...भारतीय संस्कृति है/सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।" (पृ. १०२-१०३)

मोह और मोक्ष की साहित्यिक व्याख्या लक्षणा और व्यंजना द्वारा की है। सभी रसों की मौलिक व्याख्या की गई है। जीवन्त साहित्य की व्याख्या कवि ने इन शब्दों में की है :

"शान्ति का श्वास लेता/सार्थक जीवन ही/स्रष्टा है शाश्वत साहित्य का।
इस साहित्य को/आँखें भी पढ़ सकती हैं/कान भी सुन सकते हैं
इस की सेवा हाथ भी कर सकते हैं/यह साहित्य जीवन्त है ना!" (पृ. १११)

वीर रस की व्याख्या अनुपम ढंग से की गई है :

"वीर-रस के सेवन करने से/तुरन्त मानव-खून/खूब उबलने लगता है
काबू में आता नहीं वह/दूसरों को शान्त करना तो दूर,

शान्त माहौल भी खौलने लगता है/ज्वालामुखी-सम।" (पृ. १३१)

हास्य रस को कहावत के साथ कहा है :

"आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!" (पृ. १३३)

रौद्र रस का नमूना इस प्रकार है :

"भीतर बराबर बारूद भरा हुआ था ही/फिर क्या पूछना!
नाक में से बाहर की ओर/सघन धूम-मिश्रित कोप की लपटें
लपलपाती लाली बहने लगी/...कोप की कोषिका नाक ही है।" (पृ. १३५)

शान्त रस, वात्सल्य रस एवं करुण रस के मेल की एक शाब्दिक झाँकी इस प्रकार प्रस्तुत है :

"करुणा-रस जीवन का प्राण है/घम-घम समीर-धर्मी है।
वात्सल्य-जीवन का त्राण है/धवलिम नीर-धर्मी है।
...शान्त-रस जीवन का गान है/मधुरिम क्षीर-धर्मी है।" (पृ. १५९)

गणित द्वारा तीन और छह संख्याओं की विपरीत एवं सम्मुख दिशाओं से विकृति और प्रकृति की सूचना मिलती है। कुम्भ पर चित्रित सिंह और श्वान को राजा एवं स्वार्थी वृत्तिवाले व्यक्तियों का प्रतीक माना है। 'ही' और 'भी' द्वारा पश्चिमी सभ्यता और भारतीय सभ्यता पर प्रकाश डाला है। 'मूकमाटी' में छोटे से वाक्य में भी शब्दों के प्रयोग बड़े सुन्दर हुए हैं :

"मर हम मरहम बनें" (पृ. १७४); "मैं दो गला।" (पृ. १७५)

धर्म कोरा अध्यात्म नहीं है, न कोरा पूजा-पाठ, न जप-तप या ध्यान-धारणा ही है। वह समूचा जीवन है जिसका एक आयाम तो देश-काल ज़रूर है किन्तु उसके साथ एक दूसरा आयाम भी है अपने आप को लाँघकर आगे जाने का भाव। उसका स्वभाव है गति का धारण। भारतीय चिन्तन में इसका समकक्ष शब्द 'अर्थ' है। उसी को और स्पष्ट करने के लिए उसे 'पुरुषार्थ' नाम से भी पुकारा गया है। धर्म तो स्वयं एक पुरुषार्थ है। शब्दों के विग्रह से शब्दों के अर्थ अनोखे हुए हैं। भिन्न प्रकार के शब्दों की नए ढंग से अभिव्यक्ति हुई है। इन शब्दों की नए प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई है उनमें भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। शब्द के विग्रह द्वारा शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं :

- *"स्वप्न-स्व पन।" (पृ. २९५)*
- *" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है।" (पृ. १७२)*
- *" 'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।" (पृ. १७२)*
- *"दोगला–दो गला।" (पृ. १७५)*

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है।

कवि का काव्य नई जीवन-भूमि से उत्सर्जित हुआ है। यह शाश्वत संवेदन है। इस काव्य के भीतर कैसा मर्मपूर्ण

मानव-जीवन का स्वरूप निहित है और कला की सीमा में उसका कैसा मनोरम और प्रभावशाली विन्यास किया गया है! माटी के माध्यम से कवि ने भावों और मानव के चिर-दिन की अनुभूतियों और कल्पनाओं के क्षेत्र को अभिव्यक्त किया है। बाह्य जगत् के आर्थिक या सैद्धान्तिक विभेदों के रहते हुए भी मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। उसके आदर्श और उसकी मानवीयता सभी सभ्य युगों में एक-सी ही ऊँची रह सकती हैं। इस खण्ड में दर्शन शाब्दिक अभिव्यंजना द्वारा अभिव्यक्त हुआ है।

तीसरे खण्ड में 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' जैसे दर्शन को चुना गया है। एक प्रकार से माटी के कुम्भ से जीवन की पूर्णता, उर्वरता और प्रकाशमयता का प्रतीक होने के साथ उसके सायुज्य और सर्वभूतहित के लिए उसके उपयोज्य भाव का भी प्रतीक है, मंगल बोध तो है ही। घट की परिपूर्णता और घट की परिपूरकता का ध्यान बना रहना चाहिए। यह कुम्भ निखिल विश्व की आकांक्षा का प्रतीक भी है जो प्रत्येक अभ्युदय को अपने द्रवण से भरना चाहिए।

सत्य निर्मित नहीं किया जाता, उसे साधना से उपलब्ध किया जाता है। कवि या कलाकार को भी जीवन के किसी अन्तर्निहित सामंजस्य और सत्य की प्रतीति इसी क्रम से होती है—चाहे भाषा, छन्द और अभिव्यक्ति पद्धति उसकी व्यक्तिगत हो। कवि ने धरती को सर्वसहा कहा है। सन्तों का पथ यही है। कवि मुक्ता की बोरियों को राज मण्डली द्वारा भरवाता है। राजमुख से स्वयं यह ध्वनि निकलती है :

"सत्य-धर्म की जय हो !/सत्य-धर्म की जय हो !!" (पृ.२१६)

तन-मन पर संयम की बात उठाकर मन के संयम को उलझनमय कठिन (पृ. १९८) कहा है। नारी, अबला, स्त्री, सुता, दुहिता, अंगना आदि शब्दों के विग्रह से शब्दों की शक्ति बताई है। फूल और पवन की संवाद शैली से परहित की ओर संकेत है। इस काव्य को अध्यात्म कहना ही अधिक सार्थक है। कवि और काव्य का मूल्यांकन इस आधार पर होता है कि युग तथा साहित्य को उसकी देन क्या है ? महान् कवि विद्यासागरजी ने विस्तृत भावभूमि पर अकिंचन विषय लेकर काम किया है। वे एक सांकेतिक कलाकार हैं। अनुभूति का सत्य, भावना की सफल अभिव्यक्ति, युग-चेतना का ग्रहण और स्वस्थ जीवन-दर्शन कवि की महानता के परिचायक हैं।

'मूकमाटी' का चिन्तन कवि के गम्भीर, विशद अध्ययन का परिचायक है। इसमें चिन्तन का क्षेत्र इतना व्यापक है कि जीवन की समस्याओं पर मौलिक विचार और स्वतन्त्र धारणाएँ सहज सुलभ हैं। समस्त चिन्तन-मनन काव्य से एकाकार हो गया है। काव्य में अध्यात्म और अध्यात्म में काव्य है। दर्शन की स्वर लहरी भी मौजूद है। महाकाव्य विशेष काव्य रूप तथा शैली का बोधक होता है। पश्चिम में महाकाव्य का स्वरूप सर्वप्रथम संकलनात्मक प्रणाली पर आरम्भ हुआ। परम्परा से बिखरी हुई सामग्री का उपयोग कलाकार महाकाव्य में कर लेता है। युग की समस्त वस्तु का समाहार उसमें हो जाता है। संसार के सभी महान् काव्य अपने समय की चेतना से सम्बद्ध होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति, समस्या का विश्लेषण उसमें रहता है। 'मूकमाटी' अपने जीवन-दर्शन, काव्य-सौष्ठव, मुक्त छन्द, मानवीय व्यापार के आधार पर महाकाव्य का पद प्राप्त करती है। यह विद्यासागरजी की सर्वोत्तम कृति के रूप में हिन्दी में आई और एक निधि बनकर रहेगी। कवि के शब्दों में :

"कृति रहे, संस्कृति रहे/आगामी असीम काल तक
जागृत···जीवित···अजित !/...हित स्व-पर का यह
निश्चित निराकृत होता है !" (पृ. २४५-२४६)

□

मानवीय प्रज्ञा को उद्दीप्त करने वाला महाकाव्य : 'मूकमाटी'

प्रो. (डॉ.) महेन्द्र नाथ दुबे

आचार्य विद्यासागरजी की श्री-मेधा से निस्सृत और पवित्र करों से विरचित 'मूकमाटी' कृति समीक्षा हेतु मुझे कुछ महीने पूर्व प्राप्त हुई। तब से मैं इसके पाठ में ऐसा निमग्न हो गया कि इसकी समीक्षा भी करनी होगी, यह भूल ही गया।

प्राय: ही ऐसी धारणा बनाने का अवसर हमारे विरक्त साधु संन्यासी-महात्मा देते हैं कि विरक्त हो जाने के बाद समाज से उनका कोई लेना-देना नहीं रह जाता। ऐसे विरक्त कदाचित् ही मिलते हैं जो संसार से स्वयं विरक्त होते हुए भी, लोक-कल्याण की भावना से बराबर ही समाज से जुड़े होते हैं। 'मूकमाटी' के पाठ से मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आचार्यश्री विद्यासागरजी एक ऐसे ही विरल व्यक्तित्व हैं जो अपनी प्रत्येक साँस में लोक-कल्याण की ही चिन्ता करते रहते हैं।

'मूकमाटी' महाकाव्य के रूप में प्रकाशित हुआ है। 'प्रस्तवन' में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने इसकी महाकाव्यीय महिमा के कई आधार स्पष्ट बतलाए हैं। परन्तु साहित्य की सामान्य काव्य-परम्परा की प्रचलित धारणाओं के साँचे वाले महाकाव्यों जैसा यह महाकाव्य नहीं है अपितु मानवीय प्रज्ञा को उद्दीप्त करने वाला ज्ञानोद्दीपक काव्य है। 'मूकमाटी' में माटी कतई ही मूक नहीं है बल्कि माटी के साथ-साथ इसमें वर्णित धरती, घड़ा, मछली, गधा, रसना, मौन, माटी की आस्था, शौर्य, नदी, रस, श्वान, सिंह, कछुवा, खरगोश, प्रभाकर, सागर, लेखनी, अवा, कुण्डल, कपोल, स्वर्ण कलश, पायस, झारी, रस, मच्छर, मत्कुण, दल, गज-दल, सर्प, नदी, आतंकवाद, रस्सी जैसे तत्त्व सभी-के-सभी मुखर हैं। अँग्रेजी काव्यशास्त्र में अरूप पदार्थों के रूपाकार की और अमानवीय मानवेतर तत्त्वों के मानवीकरण की योजना करने के अलंकार तो हैं, परन्तु इतने विराट् धरातल पर अमूर्त के मूर्तीकरण और मानवेतर के मानवीकरण के उदाहरण वहाँ भी एकत्र कहीं नहीं मिलेंगे। इस काव्य में यह प्रक्रिया कहीं-कहीं तो इतनी अधिक मात्रा में है कि सहसा हास्यास्पद लगने लगती है, परन्तु जब हम देखते हैं कि यह सारी प्रक्रिया, वाणीहीन वर्ग का वाणीमय होकर मुखरित हो उठना, मात्र इसलिए है कि इनसे मानव का कल्याण हो तो इस लोक-कल्याणकामी दृष्टि के प्रति श्रद्धा होती है।

'मूकमाटी' काव्य मुक्त छन्दों में निबद्ध है। मुक्त छन्दों की तमाम सारी उन्मुक्तता के बावजूद उसमें ध्वनिगत और आरोहावरोहगत तान और लय का एक बन्धन अवश्य होता है। इस काव्य में वह बन्धन भी कहीं-कहीं ढीला हो गया है, जैसे :

- *"निशा का अवसान हो रहा है,/उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)*
- *"इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें*
  मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।" (पृ. २०२)

कहीं-कहीं तो मुक्त छन्द, छन्द न होकर गद्य ही हो गया है, जैसे :

- *"इसी प्रसंग में/प्रासंगिक बात बताता है*
  अपक्व कुम्भ भी/प्रजापति को संकेत कर।" (पृ.२१६)

- *"और यह भी शंका होती है, कि/वर्षा-ऋतु के अनन्तर शरद् ऋतु में हीरक-सम शुभ्र क्यों होते···?" (पृ.२३०)*
- *"इसके सामने 'स्टार-वार'/जो इन दिनों चर्चा का विषय बना है विशेष महत्त्व नहीं रखता।" (पृ. २५१)*

कहीं-कहीं बात को खोलकर समझाने के चक्कर में बात को और भी उलझा दिया गया है, जैसे :

"लब्ध-संख्या को परस्पर मिलाने से/९ की संख्या ही शेष रह जाती है। यथा:/९९ x २ = १९८, १+९+८ = १८, १+८ = ९।" (पृ. १६६)

इसी प्रकार बात को खोलने के प्रयास में भी अन्यथा श्रम रचयिता को करना पड़ा है, यथा :

- *"आना यानी जनन–उत्पाद है/जाना यानी मरण–व्यय है लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है/और/है यानी चिर–सत् यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)*
- *" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं धर्म, अर्थ, काम–पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल- संयत बनाती है सो···स्त्री कहलाती है।" (पृ. २०५)*
  " 'वै' यानी निश्चय से/'खली' यानी धूर्ता-पापिनी है।" (पृ. ४०३)

काव्य की कलात्मक सर्जना में प्रायः ही शब्दों को तोड़कर, मरोड़कर, उलटकर एक विशेष भाव सूचित करने का प्रयास कवि ने किया है। प्रायः इस तरह के प्रयास रसमय लगते हैं परन्तु कहीं-कहीं तो वे निरे चमत्कार प्रदर्शन मात्र लगते हैं, जैसे :

- *"स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है-/रा···ही···ही···रा।" (पृ.५७)*
- *"रास बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···स···ख···रा।" (पृ. ५७)*
- *"लाभ शब्द ही स्वयं/विलोम-रूप से कह रहा है–/ला···भ···भ···ला।"(पृ.८७)*
- *"मैं दो···गला···मैं···दोगला,/मैं दोगला !!" (पृ. १७६)*
- *"इन का विलोम परिणमन हुआ है/यानी, न···दी···दी···न।" (पृ. १७८)*
- *"घी-रता ही वृत्ति वह/धरती की धीरता है/और काय-रता ही वृत्ति वह/जलधि की कायरता है।" (पृ. २३३)*

इसी प्रकार इस काव्य में कुछ ऐसे शब्दों के प्रयोग हैं जो अब प्रयोग में नहीं रहे, अथवा वर्तमान काल तक आते-आते जिनके अर्थों में परिवर्तन हो गया है अथवा फिर जो प्रचलन में न होने के कारण अर्थवह नहीं रह गए हैं। बहुत सम्भव है कि हिन्दी-भाषा-क्षेत्र से भिन्न भाषा-भाषी क्षेत्र का होने के कारण और संस्कृत-प्राकृत की परम्परा से अधिक जुड़े होने के कारण आचार्यश्री ने ऐसे शब्दों का अधिक प्रयोग किया हो। जैसे– कलिलता, उपाश्रम, विराधना, कर्णिका, कृष्ण वर्ण, विरेचना, स्नात, स्नपित, अदय, उपधि, जनी, नीतकरम, आँखें पलकती नहीं, भास्वत, शम्य, वैयावृत्य, अदेसख, रहवासी, नीराग, तृपा, परीषह, असाता, अमाप, नरपों, विक्रिया, भामण्डल, श्वभ्र, सनील आदि

ऐसे ही शब्द हैं जो सामान्य हिन्दी पाठक के लिए सहज बोधगम्य नहीं हैं। इस तरह के शब्द चमत्कारों अथवा दुरूह प्रयोगों के कारण रचना के जन-सामान्य के निकट परिचय में आ पाने में कठिनाई होती है।

इन कुछ कठिनाइयों के अतिरिक्त यह रचना निश्चय ही बड़ी ही ज्ञानवर्धक और लोकोपकारी है। इसमें मानव-समाज के बस तीन ही विशिष्ट प्रतिनिधि हैं, एक– शिल्पी कुम्भकार, दूसरा–अतिथि-आराधक नगर सेठ और तीसरे नीराग साधु, बाकी सारे पात्र प्रायः प्रकृति के ही विविध रूपों के हैं अथवा फिर आतंकवादियों के गुटों के।

आचार्यश्री ने 'माटी' जैसे एक अति सामान्य पदार्थ को, जिस पर जीवन भर जीवन बिताने पर भी किसी की दृष्टि विशेष आकर्षित नहीं होती, उसे इस काव्य का मूलाधार बनाकर जहाँ एक ओर अपनी उदारता का परिचय दिया है, वहीं माटी की वास्तविक महिमा का उद्घाटन भी किया है। सामान्य पृथ्वी या धरती से माटी को पृथक् करना, ऐसी माटी के तत्त्व का सन्धान करना जिससे रूपाकार बन सकें, और माटी के उस गौरव को प्रत्यक्ष करना जिसके समक्ष सोना-चाँदी जैसी महार्घ धातुओं का मूल्य भी श्री-हीन हो जाता है, एक अत्यन्त अन्तर्भेदी दृष्टि रखने वाले महात्मा से ही सम्भव है।

'मूकमाटी' काव्य चार खण्डों में विभक्त है–(१) खण्ड एक–'संकर नहीं: वर्ण-लाभ' बड़ा ही सार्थक है। प्रायः ही चराचर प्रकृति में संकर तत्त्वों की अर्थात् मिश्रित, अविशुद्ध तत्त्वों की भरमार है परन्तु जब भी कोई नयी सृष्टि करनी होती है तो संकर तत्त्वों से तो काम नहीं चल सकता। तब तो विशुद्ध तत्त्व की ही आवश्यकता होती है। कंकड़-पत्थर मिश्रित माटी के लौंदे से अनावश्यक, बाधक तत्त्वों को अलग कर, छने हुए विशुद्ध जल के मिश्रण से उसमें मार्दवता ला कर, मुलायमियत उपजा कर, लचीलेपन के गुण से सम्पन्न कर, कुशल कुम्भकार किस प्रकार घड़े के स्वरूप को गढ़ता है, इसी का आख्यान इस खण्ड में किया गया है।

(२) द्वितीय खण्ड–'शब्द सो बोध नहीं: बोध सो शोध नहीं' के अन्तर्गत माटी में समुचित मात्रा में पानी के मिश्रण से उपजी मृदुता से घड़े के गढ़े जाने की प्रक्रिया के आगे बढ़ाने का दृश्य है। शिल्पी अपनी सरलता के कारण गरीबी में ही गुज़र-बसर करता है और उसी में सन्तुष्ट भी है। प्रकृति तत्त्वों के निकट रहने में ही अपना भला समझता है। पानी सोख कर मिट्टी फूलती है, गदराती है। माटी के खोदने के क्रम में एक काँटे पर कुदाली जो लगती है तो उस काँटे से भी कुम्भकार का संवाद होता है। कुम्भकार अपने सहनशील स्वभाववश *"खम्मामि खमंतु मे–/अर्थात् मैं क्षमा करता हूँ सबको, क्षमा चाहता हूँ सबसे"* (पृ. १०५) के अनुरोध से बदला लेने के क्रूर भावों से उसे अलग करता है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
...फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ. १०६-१०७)

इन जैसे उपदेशों से काँटे का हृदय भी पसीजता जाता है। कुम्भकार उसके पश्चात्ताप भाव को देख कहता है:

"मन्त्र न ही अच्छा होता है/ना ही बुरा/अच्छा, बुरा तो
अपना मन होता है/स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है।" (पृ. १०८-१०९)

इसी क्रम में मोह की, मोक्ष की धारणाओं को भी कवि स्पष्ट करता है। साहित्य के सम्बन्ध में उसका कथन द्रष्टव्य है:

"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है

और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है।" (पृ. १११)

फिर तो साहित्य की विस्तृत चर्चा छिड़ जाती है। जिस क्रम में स्रष्टा कवि से ले कर श्रोता– भोक्ता, पाठक तक के साहित्यिक रसास्वाद पर रचयिता अपनी टिप्पणियाँ देता चलता है। मौन की महिमा का बखान करता है। प्रकृति व पुरुष के गुण-धर्म की चर्चा करता है। अपने नाना प्रकार के उपदेशों से रचयिता यहाँ रसाभिभूत करने के स्थान पर पाठक को ज्ञानाभिभूत कर देता है। साहित्य के नवों रसों को परस्पर किसी-न-किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध कर उनकी सारी गुणवत्ता के साथ चित्रित किया गया है। रस-चर्चा का यह अंश अपेक्षाकृत अधिक लम्बा खिंच गया है। वैसे इस क्रम में भी आचार्यश्री अवसर निकालकर ज्ञानोपदेश देते चलते हैं, जैसे :

- *"स्थित-प्रज्ञ हँसते कहाँ ?/मोह-माया के जाल में*
  आत्म-विज्ञ फँसते कहाँ ?" (पृ. १३४)
- *"हे शृंगार !/स्वीकार करो या न करो/यह तथ्य है कि,*
  हर प्राणी सुख का प्यासा है/परन्तु,/रागी का लक्ष्य-बिन्दु अर्थ रहा है
  और/त्यागी – विरागी का परमार्थ !" (पृ. १४१)
- *"जीवन-जगत् क्या ?/आशय समझो, आशा जीतो !*
  आशा ही को पाशा समझो !" (पृ. १५०)
- *"सब रसों का अन्त होना ही–/शान्त-रस है।" (पृ. १६०)*

कुम्भ का निर्माण पूर्ण हो चुकने के बाद उसके शृंगार-सजाव में विविध रेखांकनों एवं अंकों का उत्कीर्णन शिल्पी उस पर करता है, उन्हें भी प्रतीक मानकर उनके गूढ़ार्थों को कवि स्पष्ट करता गया है।

- *"एक-दूसरे के सुख-दुःख में/परस्पर भाग लेना/सज्जनता की पहचान है,*
  और/औरों के सुख को देख, जलना/औरों के दुःख को देख, खिलना
  दुर्जनता का सही लक्षण है।" (पृ. १६८)
- *" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है*
  'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।" (पृ. १७२)

तदनन्तर कुम्भ को जलाकर पकाने की प्रक्रिया आरम्भ होती है। इस क्रम में जो ताप देने की अवाँ में प्रक्रिया शुरू होती है उस क्रम में तप और तपन पर एक लम्बा आख्यान कवि प्रस्तुत करता है। और इस प्रकरण को वसन्त-ऋतु के व्यतीत हो जाने और ग्रीष्म के आगमन तक चित्रित करता है।

'पुण्य का पालन: पाप-प्रक्षालन' शीर्षक खण्ड तीन अपेक्षाकृत दुरूह है, विशेषत: इसलिए कि इस खण्ड में महायोगी कृतिकार ने अपनी सहज साधना के क्रम में, अपने धर्मोपदेशों को सामने रखने के उद्देश्य से कुछ ऐसी कल्पनाएँ भी की हैं जो एक ओर जहाँ सहज स्वाभाविक प्रकृति क्रम के अनुकूल नहीं लगतीं, वायवीय कल्पना मात्र जान पड़ती हैं और तर्क की तुला पर ठीक नहीं बैठतीं, वहीं दूसरी ओर परम्परा प्राप्त रूढ़ियों और विश्वासों से भी मेल नहीं खातीं।

जैसे कि आरम्भ में जल और जलनिधि सागर का जैसा वर्णन है आगे जाकर वह मानवीय कल्याण के विरुद्ध चित्रित किया गया है। तमाम तरह की मुक्ताओं के गिनाने में एक मेघमुक्ता की भी कल्पना की गई है, जो सहज लोक

विश्वास में नहीं है। समुद्र को अकल्याणकामी और विध्वंसक खलनायक के रूप में चित्रित किया गया है, जो गढ़े गए और सूख रहे कुम्भ को नष्ट कर देने के अभिप्राय से वह अपनी जड़बुद्धि के कारण बदलियों को भेजता है कि वे जाकर पानी बरसाएँ और सूख रहे घड़ों को गला कर बहा दें। परन्तु सूर्य के उपदेश से वे सत्पथ पर आ जाती हैं और घड़े को गला देने की जगह मेघ मुक्ताओं की बारिश कर घड़े को और कुम्भकार के घर के प्रांगण को मोतियों से भर देती हैं।

बदलियों के स्त्रीलिंग होने का लाभ उठाते हुए रचनाकार ने इसी प्रसंग में नारी-(*'न अरि' नारी'''*, *ये आरी नहीं हैं सो नारी'''*, पृ. २०२), अबला (*न बला'''सो अबला* पृ. २०३), कुमारी-(*'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और 'री' यानी देने वाली'''/...यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना/तब तक रहेगी/जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी*, पृ. २०४), स्त्री-(*'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं/धर्म, अर्थ, काम–पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है/सो'''स्त्री कहलाती है*, पृ. २०५), सुता-(*सुख-सुविधाओं का स्रोत'''सो–/'सुता' कहलाती है*, पृ. २०५), दुहिता-(*दो हित जिसमें निहित हों,/वह 'दुहिता' कहलाती है*, पृ. २०५), मातृ-(*जो सब की आधार-शिला हो,/सब की जननी/मात्र मातृतत्त्व है*, पृ. २०६) जैसी व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ प्रस्तुत करता है। ऊपर से देखने पर यह सब मात्र कल्पनाएँ हैं और शाब्दिक कल्पना ही दिखाई पड़ता है परन्तु इसके नीचे नारी जाति के प्रति आचार्यश्री के मन में जो आदर भाव है वही मुखरित होता दिखाई पड़ता है।

"इसीलिए इस जीवन में/माता का मान-सम्मान हो,
उसी का जय-गान हो सदा,/धन्य'''!" (पृ. २०६)

सूर्य के उपदेशों से मुक्ता वर्षा करने वाली बदलियों की मुक्ता-वर्षा का समाचार सुनकर जहाँ एक ओर राजा के अनुचर सारी मुक्ताओं को बोरियों में भर लेने, उसे उठा ले जाने के लिए ज्यों ही झुकते हैं, त्यों ही आकाश में गम्भीर गर्जना होती है, उससे विरत रहने को। अन्त में कुम्भकार स्वयं ही यूँ आकाश से बरसी मुक्ताओं को राजा की ही सम्पत्ति मान कर उन्हें ही सौंपा देता है। कुम्भ द्वारा राजा पर की गई कटूक्ति को भी कुम्भकार अच्छा नहीं समझता :

"लघु होकर गुरुजनों को/भूलकर भी प्रवचन देना
महा अज्ञान है दुःख-मुधा।" (पृ. २१८)

दूसरी ओर बदलियों के इस कृत्य से सागर और क्षुब्ध हो जाता है और सघन घनों को भेजता है, सब कुछ गला-बहा देने को। घनों का सूर्य से विवाद होता है। सागर फिर सूर्य से भिड़ने के लिए राहु को भेजता है। राहु सूर्य को निगल जाता है। तब धूलि-कण उड़-उड़कर संहारकारी वर्षा करनेवाले बादलों की बारिश, ओले वगैरह का सामना करते हैं। फिर अदृश्य रूप में ही इन्द्रदेवता अपना सर-सन्धान करते हैं बादलों पर (यह प्रसंग इस दृष्टि से ठीक नहीं जँचता कि इन्द्र तो बादलों के ही देवता मान्य हैं। वे उनके संघारक नहीं हो सकते)। यहाँ इन्द्र के तुल्य लेखक स्वयं अवतरित हो अपना मन्तव्य प्रगट करता है :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।
और/तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।" (पृ. २४४)

लेखक स्वयं बादलों की अत्याचारी वृत्तियों पर प्रहार करता है। ओलों की वृष्टि भी कुम्भ का कुछ बिगाड़ नहीं पाती। इस प्रसंग में गुलाब का फूल, उसके काँटे भी अपना-अपना मन्तव्य प्रगट करते हैं। दरअसल सारी कल्पनाओं के

पीछे रचयिता की मानव कल्याण भावना ही छिपी हुई है, येन-केन-प्रकारेण वह लोक कल्याण के प्रति पाठक की भावनाओं का उद्रेक करना चाहता है :

"पर के लिए भी कुछ करूँ/सहयोगी-उपयोगी बनूँ।" (पृ. २५९)

इसी कल्याण भावना के अनुरूप पवन प्रलयंकारी बादलों के विरुद्ध खड़ा होता है और उन्हें ओलों सहित उड़ा ले जाकर पुनः उसी समुद्र में गिरा देता है।

वातावरण के शान्त हो जाने पर फिर सभी कुछ नया और मंगलमय हो जाता है :

"गगन की गलियों में,/नयी उमंग नये रंग/...नया मंगल तो/नया सूरज
...नयी सुधा तो निरामिषा/...नये छुवन में नये स्फुरण हैं।" (पृ. २६४-२६५)

खण्ड चार-'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' आकार (सम्पूर्ण काव्य ४८८ पृष्ठ में है जब कि यह चौथा खण्ड ही २२० पृष्ठों का है) और प्रकार (भाव एवं कला बोध) दोनों ही दृष्टियों से विशेष महत्त्व का है। वस्तुतः आरम्भ के तीनों खण्ड इसकी पृष्ठभूमि से ही हैं। उनमें उपदेश के तत्त्व तो प्रचुर मात्रा में हैं। परन्तु कथातत्त्व जो किसी भी प्रबन्धकाव्य के लिए नितान्त आवश्यक होता है, उसका सर्वथा अभाव है। इस चौथे खण्ड में आकर कथा-तत्त्व कुछ बल पकड़ता है, यद्यपि कथा की कोई एक समन्वित कड़ी नहीं बन पाती। कथा के जो सूत्र जगह-जगह छिटके-छितराये मिलते हैं, वे सामान्य दृष्टि से कहीं-कहीं हास्यास्पद से लगते हैं, जैसे-अवाँ की लकड़ियों का बोलना, कुम्भकार को उपदेश देना, अवाँ की जलती अग्नि भी बोलती है, कुम्भ की स्पर्शा (त्वचा संवेदना), नासा (घ्राण), आँख (दृष्टि) आदि का बोलना, अवाँ को जलाती हुई अग्नि का उपदेश, अवाँ की किसी स्वैरिणी ध्वनि की धुन, कुम्भ के मन के मनोभाव, नगर सेठ का मिट्टी के कुम्भ के प्रति अति आकर्षण, कुम्भ का मूल्य चुकाने की कोशिश करने पर भी कुम्भकार द्वारा मुफ्त में ही कुम्भ देने की जिद करना, किसी भी दशा में मूल्य स्वीकार न करना, दाताओं की उमड़ती भीड़, पात्र यानी अतिथि की सेवा के लिए धनिकों की कम्पटीशन लगाती आतुर भीड़—जिस तरह के दृश्य इस देश में बहुत सुलभ नहीं हैं—सारी महार्घ धातुओं के आगे मिट्टी के कुम्भ के प्रति प्रबलासक्ति, अतिथि सत्कार का अवसर पाने से धनिकों का कृतकत्य हो जाना, कुम्भ के मुख से कविता पाठ, कवि की लेखनी का बार-बार बीच में आ घुसना, गालों का कुण्डलों को समझाना, कुम्भ का सेठ को उपदेश, धातु कलशों का मिट्टी के कुम्भ से वाद-विवाद, रस का व हलवे तक का सम्भाषण, मच्छर और मत्कुण तक का धर्मोपदेश देना, सेठ के बीमार पड़ने पर हर विधि से योग्य चिकित्सकों के उपचार-निदान के ऊपर भी कुम्भ का उपदेश देना, प्राकृतिक चिकित्सा की विधि समझाना, माटी के कुम्भ के समझाने के अनुरूप चिकित्सकों द्वारा चिकित्सा किया जाना, स्वर्ण कलश द्वारा ईर्ष्या से जलकर आतंकवाद को आमन्त्रण दे सेठ को परिवार सहित समूल नष्ट कर देने की योजना बनाना, स्फटिक की झारी का माटी के कुम्भ का पक्ष समर्थन करना, कुम्भ का सेठ और उसके परिवार को सचेत करना, फिर कुम्भ के पीछे-पीछे पूरे परिवार का पलायन करना, मांसाहारी सिंह से प्रताड़ित हाथियों के दल का सेठ के परिवार की सहायता स्वीकारना और कुम्भ को गजमुक्ता की भेंट देना, आतंकवाद के दल का सेठ-परिवार पर आक्रमण, गज-दल द्वारा सेठ के परिवार की रक्षा करना, सर्पों के दल द्वारा न्याय-विचार और सेठ-परिवार को निर्दोष मान कर उनकी सहायता करना, प्रधान सर्प द्वारा किसी को भी न काटने की सीख सर्प-समाज को देना, सर्प-दल के प्रत्याक्रमण से आतंकवाद का पराजित होना, सर्प-समाज के नाग-नागिन के चमत्कार पैदा करने वाले धर्मोपदेश और नाग-मणियों का अर्पण, प्रलयंकारी वर्षा के उत्पातों से गज-गणों

द्वारा सेठ-परिवार की रक्षा करना, बढ़ियाई नदी पार करने की समस्या से हाल-बेहाल सेठ परिवार को कुम्भ द्वारा उपाय बतलाना और अपने गले में रस्सी का फँदा डलवा कर पूरे सेठ परिवार को रस्सी पकड़वा कर अकेले एक कुम्भ द्वारा नदी पार करवा देना, आतंकवाद से संघर्ष करने के नाम पर नदी पार कर सुरक्षित स्थान पर भाग जाने की सलाह देना, मांस-भक्षी जल जीवों द्वारा अहिंसाव्रती सेठ-परिवार को छू-छू कर छोड़ देना, नदी का धरा को भला-बुरा कहना, सेठ का नदी को समझाना, कुम्भ का नदी को ललकारना, महामत्स्य द्वारा कुम्भ को मुक्ता-मणि दान करना, आतंकवाद की नदी से गुहार, उसके द्वारा नौका के सहारे सेठ-परिवार को जा घेरना और उन पर पत्थरों की बौछार करना, फिर भी कुम्भ को फोड़ पाने में एवं बँधी हुई रस्सी को काट पाने में असफल रह जाना, प्रचण्ड वात्यचक्र का आकर आतंकवाद को आतंकित-मूर्छित कर देना और फिर कुम्भ के इशारे पर शान्त हो जाना, नदी द्वारा सेठ परिवार का पक्ष ले आतंकवाद को नाव सहित डुबो देने की चेष्टा, आतंकवाद के मन्त्र स्मरण से देवता दल का उनकी सहायता हेतु आगमन परन्तु आतंकवाद की इच्छा के अनुरूप मदद न दे पाने की अपनी असमर्थता प्रगट करना, आतंकवाद को सेठ परिवार की शरण में जाने की सलाह देना, आतंकवाद का सेठ के समक्ष प्रणत हो क्षमा-याचना करना, सेठ का सहृदयता से उन्हें धर्मोपदेश देना, उपकृत आतंकवाद के सदस्यों का नाव छोड़कर नदी में छलांग लगाना और सेठ-परिवार के सदस्यों द्वारा उन्हें गोदी में उठाकर बचाना, नाव के डूबने को आतंकवाद का अन्त और अनन्तवाद का श्रीगणेश बताना, कुम्भ के पीछे-पीछे पंक्तिबद्ध हो सबका चलना, कुम्भ द्वारा सबके लिए मंगलाशीष देना, नदी तट द्वारा कुम्भ का भाव-विह्वल स्वागत, सबकी प्राणरक्षा करने वाली रस्सी द्वारा लोगों से बस इतने भार के लिए क्षमा माँगना कि लोगों की कमर में बँधी होने के कारण लोगों की कमर को क्लेश पहुँचा, परिवार द्वारा रस्सी को दिलासा देना, सेठ परिवार सहित कुम्भ द्वारा कुम्भकार का स्वागत, धरती द्वारा कुम्भ का अभिनन्दन, धरती-कुम्भ और सभी द्वारा कुम्भकार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन, कुम्भकार का विनीत भाव, और उसी विनीत भाव से वह सभी का ध्यान पादप के नीचे शिलाखण्ड पर समासीन नीराग साधु की ओर आकृष्ट करता है, सभी प्रदक्षिणा कर आशीष लेते हैं, आतंकवाद अपनी तमाम बुराइयों को समझते हुए अविनश्वर सुख पाने की याचना करता है और उनके जैसी साधना को जीवन में अपना सकने का आशीष चाहता है। करुणामय गुरुदेव शान्त, सहज चित्त से श्रमण साधना के गूढ़ तत्त्वों का उपदेश देते है, आचरण, निष्ठा और सहज विश्वास के बल पर अभीष्ट सिद्धि का मर्म बतलाते हैं।

उपर्युक्त कथानक की कड़ियाँ आपस में जुड़ी-जुड़ी प्रतीत नहीं होतीं, कार्य-कारण सम्बन्ध भी बहुत स्पष्ट नहीं है और कार्य की गति भी सहज गति से आगे बढ़ती प्रतीत नहीं होती। लौकिक कथानकों से यह कथानक बड़ा ही अटपटा-सा लगता है। नायक-प्रतिनायक अथवा रस-विमर्श की दृष्टि से भी यहाँ स्पष्टता नहीं है। प्राप्तव्य क्या है और फलागम किसे होना है, यह भी साफ नहीं है। विभिन्न जीव अपने सहज स्वभाव से विपरीत आचरण करते से दिखाई देते हैं, ऐसी दशा में प्रस्तुत काव्य की रसानुभूति भी सहज उपभोग्य नहीं बन पाती।

परन्तु जब हम इस ओर ध्यान देते हैं कि दरअसल लौकिक रसास्वाद इस कृति का उद्देश्य नहीं है अपितु प्रकृत, यथार्थ और कल्याणकारी रसास्वाद पर ही इसकी दृष्टि है, अतएव येन-केन-प्रकारेण यह मानव-कल्याण के पथ को श्रोता या पाठक के समक्ष प्रशस्त करना चाहता है तो कथा की लौकिक सहजता की ओर ध्यान न जाकर रसास्वाद में बाधा नहीं पड़ती। आचार्यश्री की आत्मिक साधना ने उन्हें कुछ प्रत्यक्ष बिन्दु दिए हैं। इन प्रत्यक्ष बिन्दुओं में वे तत्त्व अधिक प्रकाशित हैं जो लोक-हित और जीव-हित के साधन बन सकते हैं। उन्हीं तत्त्वों को पाठकों के समक्ष रखने की योजना बना कर वे एक साधारण-सी कथा का सहारा भर लेते हैं जिसके दौरान वे अपने जैन दर्शन, श्रमण-साधना और अपने निजी अनुभवों से प्राप्त मन्त्रों को हमारे समक्ष उद्घाटित कर सकें। अतः यहाँ महत्त्व इस बात का नहीं है कि कौन

कह रहा है? किस अवसर पर कह रहा है ? किस ढंग से कह रहा है ? अपितु महत्त्व है कि क्या कह रहा है ? बस। क्योंकि जो कह रहा है, उसी के अनुरूप आचरण करने में कल्याण है, साधना की ज्योति का प्रकाश है।

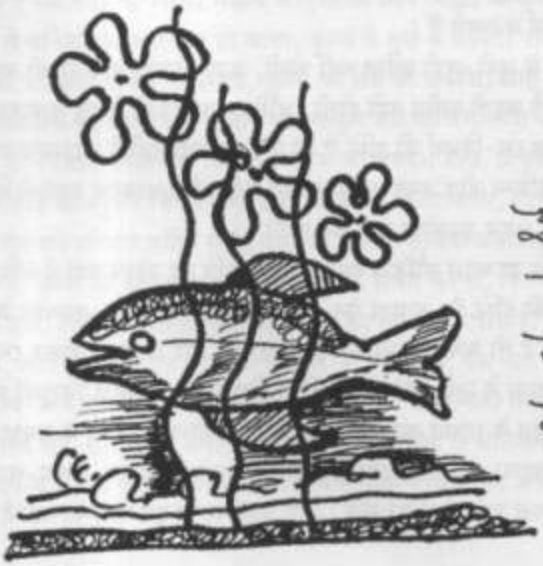
इस प्रकार यह समूचा काव्य ही मन्त्र काव्य है फिर भी कुछ विशेष स्थलों का उल्लेख करना यहाँ अनुपयुक्त नहीं होगा, जैसे :

- *"आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं*
  न्याय अन्याय-सा लगता ही है। (पृ. २७२)
- *"दर्शन का स्रोत मस्तक है/...बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।*
  ...कभी सत्य-रूप कभी असत्य-रूप/होता है दर्शन, जबकि
  अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप ही/भास्वत होता है।" (पृ. २८८)

इस प्रकार के अनेकानेक स्थल हैं जहाँ से हमें साधक आचार्य की सिद्धि के प्रकाश विकीर्ण होते दिखाई देते हैं :

- *"आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना*
  सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ४८२)
- *"पराश्रय लेना दीनता का प्रतीक है।" (पृ. ४५९)*
- *"समर्पण के बाद समर्पित की/बड़ी-बड़ी परीक्षायें होती हैं।" (पृ. ४८२)*

सामाजिक जीवन से विरक्त एक श्रमणाचार्य के मन में समाज कल्याण करने की कितनी तड़प है और वे अपनी अमृतमयी वाणी से किस सहृदयता से हमारे समक्ष उसे उद्घाटित करते हैं इसका बोध 'मूकमाटी' के अध्ययन से सहज ही हो सकता है। आचार्यश्री जी की इस रचना का मैं सादर अभिनन्दन करता हूँ।



'मूकमाटी' में आचार्यश्री विद्यासागर का रस विषयक मन्तव्य

डॉ. रमेश चन्द जैन

काव्यशास्त्रियों ने नव रस कहे हैं– शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त। सहृदयों को रस की अनुभूति कराना ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। यह आनन्द की अनुभूति सभी रसों में समान रूप से हुआ करती है। फिर भी प्रभावी सामग्री के भेद से इसमें चित्त की चार अवस्थाएँ हो जाती हैं–विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। शृंगार में चित्त का विकास होता है, वीर में विस्तार, बीभत्स में क्षोभ और रौद्र में विक्षेप। हास्य, अद्‌भुत, भयानक और करुण में भी क्रमशः विकास आदि चारों हुआ करते हैं। शान्त रस में मुदिता, मैत्री, करुण और उपेक्षा- ये चार चित्त की अवस्थाएँ हुआ करती हैं।

आचार्य विद्यासागर ने 'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रसंगानुकूल रसों का विवेचन किया है। वीर रस के विषय में शिल्पी के वीर्य से कहलाया है कि वीर रस से तीर का मिलना कभी सम्भव नहीं है और पीर का मिटना त्रिकाल असम्भव। आग का योग पाकर शीतल जल चाहे भले ही उबलता हो, किन्तु धधकती अग्नि को भी नियन्त्रित कर उसे बुझा सकता है। परन्तु वीर रस के सेवन से तुरन्त मानव खून उबलने लगता है, वह काबू में नहीं आता। दूसरों को शान्त करना तो दूर, शान्त माहौल भी ज्वालामुखी के समान खौलने लगता है। इसके सेवन से जीवन में उद्दण्डता का अतिरेक उदित होता है। पर, पर अधिकार चलाने की भूख इसी का परिणाम है। मान का मूल बबूल के ठूँठ की भाँति कड़ा होता है। मान को धक्का लगते ही वीर रस चिल्लाता है। वह आपा भूलकर आगबबूला हो पुराण-पुरुषों की परम्परा को ठुकराता है (पृ. १३१-१३२)।

वीर रस के पक्ष में हास्य रस कहता है कि वीर रस का अपना इतिहास है। जो वीर नहीं हैं, अवीर हैं, उन पर क्या, उनकी तस्वीर पर भी अबीर नहीं छिटकाया जाता है। यह बात दूसरी है कि जाते समय अर्थी पर सुलाकर भले ही छिटकाया जाता हो। उनके इतिहास पर न रोना बनता है, न हँसना (पृ. १३२-१३३)।

हास्य रस के विषय में कहा है कि हँसनशील प्रायः उतावला रहता है। कार्याकार्य का विवेक, गम्भीरता और धीरता उसमें नहीं होती। वह बालक-सम बावला होता है। तभी स्थितप्रज्ञ हँसते नहीं हैं। आत्मविज्ञ मोह-माया के जाल में फँसते नहीं हैं। खेद-भाव के विनाश हेतु हास्य का राग आवश्यक भले ही हो, किन्तु वेद-भाव के विकास हेतु हास्य का त्याग अनिवार्य है, क्योंकि हास्य भी कषाय है (पृ. १३३-१३४)।

रौद्र रस के विषय में आचार्यश्री ने कहा है कि रुद्रता विकृति है, विकार है, जो समिट-शीला होती है। भद्रता प्रकृति का प्रकार है। उसकी अमिट लीला है (पृ. १३५)।

कवि को शृंगार नहीं रुचता। वह कहता है शृंगार के ये अंग-अंग खंग-उतारशील हैं। युग छलता जा रहा है। (पृ.१४५)। कवि के इस कथन में वियोगी–कामी की वह स्थिति द्योतित होती है, जब कामदेव कामी को दिन-रात जलाता ही रहता है। उसे कपूर, हार, कमल, चन्द्रमा आदि विपरीत परिणत हुए दिखाई देने लगते हैं। ये वस्तुएँ उसे कुछ भी सुख नहीं पहुँचातीं।

बीभत्स रस शृंगार को नकारता है, उसे चुनता नहीं है। शृंगार के बहाव में प्रकृति की नासा बहने लगती है। कुछ गाढ़ा, कुछ पतला, कुछ हरा, पीला मल निकलता है, जिसे देखते ही घृणा होती है (पृ. १४७)।

करुण रस को भवभूति ने प्रधान रस माना है। भवभूति के कारुण्योत्पादक काव्य को सुनकर :

"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"(उत्तररामचरित, १/२८)

भवभूति के अनुसार करुण रस ही एकमात्र मुख्य रस है। निमित्त घटना (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की विलक्षणता से) यह भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है, परन्तु यथार्थतः वह एक ही होता है :

"एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्, भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेवतु तत्समग्रम् ॥"
(उत्तररामचरित, ३/४७)

आचार्य विद्यासागर की दृष्टि में करुणा हेय नहीं, उसकी अपनी उपादेयता है, अपनी सीमा भी है। करुणा करने वाला अहं का पोषक भले ही न बने, किन्तु स्वयं को गुरु-शिष्य अवश्य समझता है और जिस पर करुणा की जाती है, वह स्वयं को शिशु-शिष्य अवश्य समझता है। दोनों का मन द्रवीभूत होता है। शिष्य शरण लेकर तो गुरु शरण देकर कुछ अपूर्व अनुभव करते हैं। पर इसे सही सुख नहीं कहा जाता है। किन्तु इससे दुःख मिटने और सुख के मिलने का द्वार अवश्य खुलता है। करुणा करने वाला अधोगामी तो नहीं किन्तु अधोमुखी यानी बहिर्मुखी अवश्य होता है। जिस पर करुणा की जा रही है वह अधोमुखी तो नहीं, ऊर्ध्वमुखी अवश्य होता है (पृ. १५४-१५५)।

करुणा की दो दृष्टियाँ हैं– एक विषय लोलुपिनी और दूसरी विषय-लोपिनी, दिशा-बोधिनी (पृ. १५५)।

करुणा रस में शान्त रस का अन्तर्भाव मानना बड़ी भूल है। उछलती हुई उपयोग की परिणति करुणा है। इसे नहर की उपमा दी जा सकती है। उजली-सी उपयोग की परिणति शान्त रस है जिसे नदी की उपमा दी जा सकती है। नहर खेत में जाकर दाह को मिटाकर सुख जाती है। नदी सागर को जाती है और राह को मिटाकर सुख पाती है। करुणा तरल है। वह दूसरे से प्रभावित होती है। शान्त रस दूसरे के बहाव में बहता नहीं है, जमाना पलटने पर भी अपने स्थान पर जमा रहता है। इससे यही द्योतित होता है कि करुणा में वात्सल्य का मिश्रण सम्भव नहीं है (पृ. १५५-१५७)। वात्सल्य रस के आस्वादन में हलकी-सी मधुरता क्षणभंगुरता झलकती है (पृ. १५८-१५९)।

करुणा रस जीवन का प्राण है तो वात्सल्य जीवन का त्राण है। किन्तु शान्त रस जीवन का गान है। यह मधुरिम क्षीरधर्मी है। करुणा रस पाषाण को भी मोम बना देता है। वात्सल्य जघनतम नादान को भी सोम बना देता है। किन्तु, यह लौकिक चमत्कार की बात हुई। शान्त रस संयम-रत धीमान् को ही 'ओम्' बना देता है। संक्षेपतः सब रसों का अन्त होना ही शान्त रस है (पृ. १५९-१६०)।

इस प्रकार आचार्य विद्यासागर के मत में करुण रस में सब रस समाते हैं। सब रसों की सत्ता का विलीन हो जाना शान्त-रस है। इस प्रकार आचार्य विद्यासागर की रस विषयक अवधारणा 'रतये' नहीं 'व्युपशान्तये' है, जो उनके सन्त हृदय को लक्षित करती है।

निमित्त और उपादान : केवल उपादान कारण ही कार्य का जनक है, यह मान्यता दोषपूर्ण लगी। निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है। हाँ ! हाँ !! उपादान-कारण ही कार्य में ढलता है, यह अकाट्य नियम है। किन्तु उसके ढलने में निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है। इसे यूँ कहें तो और उत्तम होगा :

"उपादान का कोई यहाँ पर/पर-मित्र है···तो वह
निश्चय से निमित्त है/जो अपने मित्र का/निरन्तर नियमित रूप से
मन्तव्य तक साथ देता है।" (पृ. ४८१)

सूक्ति रत्न : १. श्रमण का शृंगार ही समता-साम्य है। (पृ. ३३०)

२. मोह और असाता के उदय में क्षुधा की वेदना होती है। यह क्षुधा-तृषा का सिद्धान्त है। मात्र इसका ज्ञात होना ही साधुता नहीं है वरन् ज्ञान के साथ साम्य भी अनिवार्य है। (पृ. ३३०)
३. कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं। होश के श्रमण विरले ही होते हैं। (पृ. ३६१)
४. उस समता से क्या प्रयोजन जिसमें इतनी भी क्षमता नहीं है जो समय पर भयभीत को अभय दे सके। (पृ. ३६१)
५. जब आँखें आती हैं तो दुःख देती हैं, जब आँखें जाती हैं तो दुःख देती हैं और जब आँखें लगती हैं तो दुःख देती हैं। आँखों में सुख है कहाँ ? ये आँखें दुःख की खनी हैं, सुख की हनी हैं। यही कारण है कि सन्त संयत—साधुजन इन पर विश्वास नहीं रखते और सदा-सर्वथा चरणों को लखते विनीत दृष्टि हो चलते हैं। (पृ. ३५९-३६०)
६. एक के प्रति राग करना ही दूसरों के प्रति द्वेष सिद्ध करता है। जो रागी भी है, द्वेषी भी है। वह सन्त नहीं हो सकता। (पृ. ३६३)
७. पाप-भरी प्रार्थना से प्रभु प्रसन्न नहीं होते। पावन की वह प्रसन्नता पाप के त्याग पर आधारित है। (पृ. ३७३)
८. 'स्व' को 'स्व' के रूप में एवं 'पर' को 'पर' के रूप में जानना ही सही ज्ञान है। 'स्व' में रमण करना ही सही ज्ञान का फल है। (पृ. ३७५)
९. तन और मन का गुलाम ही पर-पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है। (पृ. ३७५)
१०. सूखा प्रलोभन मत दिया करो, स्वार्थित जीवन जिया करो। (पृ. ३८७)
११. पर के दुःख का सदा हरण हो। जीवन उदारता का उदाहरण बने। (पृ. ३८८)

['अनेकान्त' (त्रैमासिक) नई दिल्ली, वर्ष ४५, किरण १, जनवरी-मार्च, १९९२]

□



'मूकमाटी' महाकाव्य : एक विनम्र प्रतिभाव

वीरेन्द्र कुमार जैन

कुमार योगी भगवत् स्वरूप आचार्य विद्यासागर स्वामी ने अपने महाकाव्य 'मूकमाटी' में माटी की मूक व्यथा को वाणी प्रदान की है। इस महाकाव्य में अनन्त आयामी सृष्टि के अनन्तकाल में व्याप्त अणु-परमाणु के परिणमन के विज्ञान को भावात्मकता प्रदान की गई है। यह भावोन्मेष ही दर्शन को काव्य और अध्यात्म में परिणत कर देता है।

महाकाव्य की लाक्षणिक परिभाषाओं में उलझना पण्डितों का काम है, मेरा नहीं, क्योंकि मैं मूलतः कवि हूँ। मेरी अकिंचन महाकाव्यात्मक कृति 'अनुत्तर योगी' को भी मैंने किसी पारिभाषिक, लाक्षणिक व्याख्या में नहीं बाँधा है। वह एक स्वतःस्फूर्त आनन्द के उन्मेष से रची गई कृति है। मेरा यह अहोभाग्य है कि पूज्यपाद आचार्य भगवन्त विद्यासागरजी स्वामी ने उस पवित्र कृति को सराहा और स्वाध्याय की पवित्र चौकी पर से उसका पाठ करवाया, अस्तु।

'मूकमाटी' अनन्त आयामी कृति है। इसमें गणित शास्त्र, परमाणु शास्त्र, खगोल विज्ञान, आयुर्वेद शास्त्र और मन्त्र-तन्त्र के बीजाक्षरों तक को काव्य भाषा में अभिव्यक्ति दी गई है। अनायास ही इस कृति में शृंगारिक प्रतीकों का भी समावेश हुआ है। मैं इसे दर्शन नहीं, आध्यात्मिक उन्मेष का काव्य कहना चाहूँगा। माटी की मूक व्यथा को वाणी देने वाला कवि निश्चय ही एक गहरी अन्तश्चेतनिक संवेदना से अनुप्राणित है।

इस कृति में सृष्टि के आविर्भाव से लगाकर उसकी अग्रिम उपलब्धि तक को काव्य रूप प्रदान किया गया है। यहाँ आधुनिक विज्ञान के परमाणु शास्त्र और खगोल शास्त्र का अनायास समावेश हुआ है। यह साम्प्रदायिक जैनागम तक सीमित नहीं है, यह तो एक महाकवि के रसात्मक अनुभव से उत्स्फूर्त मौलिक काव्य रचना है। भगवान् कुन्दकुन्द देव के किसी प्राभृत में यह भाव है कि 'स्वानुभूतिसंवेदकः स आत्मा'—यह एक अत्यन्त मौलिक, मुक्त अनुभव की अभिव्यक्ति है।

आचार्य भगवन्त ने मौलिक अनुभूति में से ही इस महाकाव्य की रचना की है। एक सुखद आश्चर्य यह भी है कि इस महाकाव्य के रचनाकार ने धन समृद्धि सम्पन्न श्रेष्ठियों द्वारा दीन-दलितों के पीड़न-शोषण की व्यथा को भी वाणी प्रदान की है। यहाँ केवल आत्ममुक्ति ही नहीं है, समाजमुक्ति का मन्त्रगान भी किया गया है। यहाँ अनजाने ही समाजवाद भी ध्वनित है। इसी कारण आचार्य भगवन्त विद्यासागर स्वामी मेरे लिए वन्दनीय हैं, प्रातःस्मरणीय हैं।

कर्नाटक देश का बाईस वर्षीय कुमार विद्याधर कब अनायास विद्यासागर हो गया, कब दिगम्बर हो गया, यह एक बहुत महान् घटना है। आचार्य भगवन्त उसी कर्नाटक की माटी के बेटे हैं, जहाँ कुछ सदियों पूर्व ही मूडबिद्री में 'भरतेश वैभव' नामक महाकाव्य के रचयिता कामाध्यात्मयोगी श्री रत्नाकर वर्णी का जन्म हुआ था। योगीश्वर रत्नाकर वर्णी ने 'सम्भोग शृंगार पर्व' तक रचा है, जो गहरे में जन्मजात योगी चक्रवर्ती भरत के दृष्टिप्रधान आत्मलीन भोगोपभोग की निर्गूढ़ अभिव्यक्ति है।

इसी कर्नाटक में परापूर्व काल में नैयायिक चक्रवर्ती भगवान् समन्तभद्र भी हुए। शायद नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती भी इसी कर्नाटक में हुए। षट्खण्डागम के रचनाकार पुष्पदन्त-भूतबली भी शायद इसी कर्नाटक में हुए। बीच के काल में लुप्तप्राय दिगम्बर जैनश्रमण परम्परा में बीसवीं शताब्दी में प्रथम श्रमण महातपस्वी आचार्य शान्तिसागर हुए। फिर आचार्य नेमिसागर और वर्तमान में जिनवाणी के प्रचण्ड प्रवक्ता आचार्य विद्यानन्द स्वामी भी भारत में सर्वत्र विहार कर रहे हैं। वे रत्नाकर वर्णी की तरह ही विश्वधर्म-प्रवर्तक हैं।

आचार्य भगवन्त, परम भट्टारक, भगवत् स्वरूप, महातपस्वी आचार्य विद्यासागर भी अतिथि-चर्या करते हुए

बुन्देलखण्ड की पण्डितरत्न-प्रसविनी धरती पर विहार कर रहे हैं। उन्होंने दुर्द्धर्ष तपस्या की है। उनका तेजोवलय उनकी तस्वीरों में देखने को मिलता है। वे प्रचण्ड शास्त्रज्ञानी हैं, महातपस्वी भी हैं और साथ ही हैं महाकवि भी।

यह महाकाव्य धरती के ध्रुवाकर्षण से ऊपर उठने की आर्हती साधना करने वाले भगवत् स्वरूप आचार्य भगवन्त श्री विद्यासागरजी की रचना है। निश्चय ही आगामी भव में धरती के ध्रुवाकर्षण से ऊपर उठकर वे अन्तरिक्षचारी अर्हत् होंगे।

सुनता हूँ आचार्य भगवन्त मुझ अकिंचन को स्मरण करते रहते हैं। पर अपने दीर्घकाल-व्यापी अनारोग्य और दारुण्य जीवन संघर्ष के चलते मैं उनके चरणों तक न पहुँच सका। यह मेरा चरम दुर्भाग्य है।

आशा करता हूँ कि आचार्य भगवन्त विद्यासागर स्वामी मेरे इन शब्दों के पादार्घ्य को स्वीकार कर मुझे धन्यता प्रदान करेंगे। अथ इति शुभम्।

□

'मूकमाटी' : तेरा अभिनन्दन

कविराज विद्या नारायण शास्त्री

अहो ! धन्य तुम जगती तल में, 'मूकमाटी' तेरा अभिनन्दन।
साधनाशील की प्रतिमा तुम, आचार करें तेरा वन्दन ॥१॥

रचना मुक्त छन्द शैली में, अध्यात्मसारमय तव चिन्तन।
भाषा सरस, उपमा मनोरम, काव्य कला से धरती नन्दन ॥२॥

मधुर सहजता बोधक सुन्दर, देता विचार सागर मन्थन।
घोर उपेक्षित जड़ जीवन का, कैसा सुखद मृदुल मन भावन ॥३॥

रस ध्वनि अलंकारसार यहाँ, कल्पना भावना का गुम्फन।
निरन्तर छन्द प्रवाह अविचल, जड़ता सजीवता का बोधन ॥४॥

श्री विद्यासागर की रचना, धन्य काव्य के पाठक सज्जन।
नवल मूल्य स्थापित घट-घट में, चाह रही मम उन्मादित मन ॥५॥

□

संवेदनाओं का महाकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. सुदर्शन मजीठिया

आचार्यश्री विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' महाकाव्य अपने शिल्प, भाव और भाषा के कारण सहसा ध्यान आकृष्ट करता है। समस्त महाकाव्य का आधार माटी है, जिसे आज तक मूक समझा जाता रहा है। पर यह माटी तो शाश्वत है, जो अपने पुत्रों से निरन्तर संवादरत है। परन्तु एक उसके पुत्र हैं जो पद तथा अर्थ की प्राप्ति में लिप्त, पदार्थवाची बन अपने तथा अपने परिवार की समस्याओं के दलदल में आकण्ठ डूबे रहते हैं। इस मूकमाटी के पुत्र विद्यासागरजी ने माटी की भाषा को सुना और गुना। फिर अपनी प्रतिक्रिया की क्रियात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से उसे साकार किया। आचार्य के सन्त में उनका कवि निरन्तर मुखरित होता रहा है, जिसने माटी की चरम भव्यता को संक्षिप्त किन्तु धारदार वाणी द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत किया।

इस माटी के वे स्वयं अन्यतम सर्जन हैं। अपने को अध्यात्म तक सीमित न रख उन्होंने काव्य व अध्यात्म के सामंजस्य के भेद को मिटा कर उसकी एकता को स्थापित किया है। 'मूकमाटी' का कवि एक सन्त है, जो संसार की नश्वरता तथा भौतिकता से कहीं ऊपर उठ चुका है। उसने ऊपर उठ कर इस माटी की भाषा को सुना, उसके संवाद को समझा और गद्‌गद होकर 'मूकमाटी' का सृजन किया। चार खण्डों की यह कृति लगभग ५०० पृष्ठों में समाहित होकर माटी की लय को, उसकी वाणी को साकारता प्रदान करती है।

अज्ञानतावश हम शब्दों की भाषा के अतिरिक्त कोई भाषा जानते ही नहीं, इसलिए एक सीमा के पश्चात् हमारा ज्ञान ही अज्ञान बन जाता है। विद्यासागर ने इस माटी की भाषा को समझा। इस माटी को किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं में ही एक प्रखर संज्ञा है। विभोर हो कवि कहता है :

"...संकोच-शीला/लाजवती लावण्यवती—/सरिता-तट की माटी
अपना हृदय खोलती है/माँ धरती के सम्मुख !" (पृ. ४)

माटी तो माटी ही है। इसलिए तो कवि कहता है :

"इसकी पीड़ा अव्यक्ता है/व्यक्त किसके सम्मुख करूँ ?" (पृ. ४)

कवि ने इस माटी को अपनी कल्पना, अनुभूति तथा चिन्तन से पूरी तरह से समझने का प्रयास किया है। यही प्रयास 'मूकमाटी' के रूप में हमारे सामने अत्यन्त सजीव हो उठा है।

इसी माटी को प्राणवत्ता प्रदान करते हैं – चाँद, तारे, कुमुदिनी, कमलिनी, सुगन्धित पवन तथा सरिता तट आदि। यही माटी अपनी शून्यावस्था में कुछ नहीं होकर भी सब कुछ है। संसार में जो भी है, जैसा भी है, उसे माटी ने ही आधार प्रदान किया है।

हर कृति का मूलाधार मनुष्य होता है। मानवेतर प्रकृति को नायिका मानकर माटी के अनेक रंगों को अपनी ओजमयी वाणी द्वारा कवि ने प्रस्तुत किया है।

"शिल्पी के शिल्पक-साँचे में/साहित्य शब्द ढलता-सा !
'हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है/अर्थ यह हुआ कि/जिसके अवलोकन से
सुख का समुद्‌भव—सम्पादन हो/सही साहित्य वही है'।" (पृ. ११०-१११)

प्रथम खण्ड में कवि ने माटी की प्राथमिक दशा के परिशोधन की प्रक्रिया को व्यक्त किया है। दूसरे खण्ड में कवि ने साहित्य-बोध को अंकित कर नव रसों को परिभाषित किया है। यहाँ उसने संगीत की आन्तरिक प्रकृति का प्रतिपादन भी किया है। तीसरे खण्ड में कवि ने लोक-कल्याण की कामना से पुण्य का उपार्जन किया है। चतुर्थ खण्ड में अग्नि-परीक्षा है। बार-बार कवि ने कुम्भकार व माटी के संवाद को व्यक्त किया है।

माटी है, इसलिए उसके अभाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। माटी के अस्तित्व को कितने ही आयामों पर कवि ने प्रस्तुत किया है। इस काव्य की वैचारिक पृष्ठभूमि अध्यात्म की है और इसका शिल्प पूर्णरूपेण उत्तम काव्य का है। यह महाकाव्य अध्यात्म व काव्य का अद्‌भुत सन्तुलन है। माटी को अपनी माता मान कवि ने अपने प्रेम को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है, यथा :

"बाहरी दृष्टि से/और/बाहरी सृष्टि से/अछूता-सा कुछ
भीतरी जगत् को/छूता-सा लगा/अपूर्व अश्रुतपूर्व
यह मार्मिक कथन है, माँ !" (पृ. १५)

माटी का गुण है धारण करना व सहन करना। कवि ने माटी की व्यथा की मार्मिकता को बड़े ही सहज ढंग से प्रस्तुत किया है। कविता की अत्यन्त सहज पंक्तियों में आचार्यश्री का चिन्तन बार-बार मुखरित हुआ है। इसलिए यह कहना कठिन हो जाता है कि उनके कवित्व में आचार्यत्व अधिक है या आचार्यत्व में कवित्व ?

यह वह माटी है जिसे गोड़ा जा सकता है, कुचला जा सकता है। पानी के गिरते ही यह नरम पड़ जाती है पर इसकी शाश्वत शक्ति के समक्ष न तो इसे रौंदनेवाले ही टिक सके हैं और न ही कुचलनेवाले। माटी तो स्वयं एक शाश्वत सत्य है। उसका कब निर्माण हुआ ? कैसे निर्माण हुआ ? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दे सकता। इन सन्त कवि ने उस माटी की भाषा को सुना अपने आध्यात्मिक कानों से। कवि अनुभूति को उसके शब्दों के माध्यम से मात्र हम जान सकते हैं परन्तु उसकी अनुभूति से सामंजस्य कर कवि के उस भाव धरातल पर तो कोई नहीं पहुँच सकता है।

माटी के प्रति अपने रोमांस को कवि ने बड़ी ही सार्थक तथा ओजस्वी वाणी में अभिव्यक्त किया है। 'मूक' विशेषण ही स्वयं ध्वन्यात्मक है। मूक लगने की क्रिया के पीछे कितने प्रकार के स्वर हैं जो इस माटी के अस्तित्व को निरन्तर सार्थकता प्रदान कर रहे हैं। यह माटी तो अनन्तगुण धारिणी है। इस माटी के माध्यम से यह सन्त कवि स्वयं साहित्य की परिभाषा प्रस्तुत करता है।

इस महाकाव्य को मैं हिन्दी काव्य-साहित्य का अद्वितीय महाकाव्य कहूँगा, क्योंकि इसमें न तो अधिक मानव पात्र हैं और न उनके जीवन की कथा या घटना। यदि महाकाव्य के शास्त्रीय तत्त्वों की ओर से देखा जाय तो इसमें महाकाव्य के वे लक्षण नहीं प्राप्त होंगे जो रामायण व महाभारत को एक उत्तम महाकाव्य बनाते हैं। महाकाव्य के लक्षणों में इस महाकाव्य ने सैद्धान्तिक दृष्टि से एक नए अध्याय को जोड़ा है। माटी को तथा समस्त मानवेतर प्रकृति को अपने काव्य का मूलाधार बनाकर लेखक ने महाकाव्य की परम्परा में एक नए सिद्धान्त की स्थापना की है। प्रवाही भाषा में लिखा गया वह महाकाव्य कहीं भी टीडियस या नीरस नहीं है। सामान्यतः मनुष्य अपने साहित्य में आज तक अपनी ही कहानी गढ़ता आया है। इस महाकाव्य के माध्यम से आचार्यजी ने एक नई ज़मीन तोड़ कर, नए-नए आयाम प्रस्तुत किए हैं।

इस महाकाव्य में यदि एक ओर उत्तम शब्दालंकार हैं तो दूसरी ओर अर्थालंकार की अनोखी छटा है। इसमें ऐसे भी प्रसंग हैं जहाँ उत्तमोत्तम सूक्तियों के माध्यम से कवि ने आध्यात्मिकता के नए-नए सोपान तय किए हैं। कवि यही प्रतिपादित करता है कि ईश्वर का अस्तित्व तो है पर वह धरती या सृष्टि का कर्त्ता नहीं है।

कई स्थलों पर सामाजिक दायित्वबोध के भी कवि ने दर्शन कराए हैं। कवि ने उपादान की ही नहीं बल्कि निमित्त की भी महत्ता इस महाकाव्य में प्रस्तुत की है। इस कृति में निमित्त कारण के रूप में कुम्भकार कार्यरत है। परन्तु उसके सिवा भी अन्य निमित्त हैं, यथा—आलोक, चक्र, चक्र-भ्रमण हेतु समुचित दण्ड, धरती में गड़ी निष्कम्प कील तथा डोर।

माटी के इस मौन व्रत में कितनी ही नई-पुरानी भाषाएँ छिपी हैं। उन सभी भाषाओं को विभिन्न बिम्बों के द्वारा कवि ने विभिन्न आयामों के माध्यम से प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है। माटी एक बन्धन में आबद्ध हो चुकी है। उसी बन्धन के विभिन्न भावों को कवि ने अति प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है। उसके विचारों ने न तो काव्यशिल्प को ही दबाया है और न ही इस काव्य के शिल्प ने कवि के विचारों को। सृष्टि सर्जन ईश्वर नहीं करता। सर्जन का कार्य तो स्वयं भू है। प्रकृति स्वयं ही अपने संकल्प से अपना सर्जन करती चलती है। माटी का लघुतम रूप ही उसका महानतम रूप है।

सन्त ने अपने आध्यात्मिक विचारों को अत्यन्त सफल रूप से इस काव्य के माध्यम से हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। माटी के इस मौन व्रत में चिरन्तन सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है। काव्य के अन्त में तो स्वयं आतंकवाद पराजित होकर कहता है :

"हे स्वामिन् !/समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है, यहाँ सुख है, पर वैषयिक
और वह भी क्षणिक ! यह··· तो··· अनुभूत हुआ हमें/परन्तु/अक्षय सुख पर
विश्वास हो नहीं रहा है/हाँ ! हाँ !! यदि/अविनश्वर सुख पाने के बाद
आप स्वयं/उस सुख को हमें दिखा सको या/उस विषय में
अपना अनुभव बता सको/···तो/सम्भव है हम भी आश्वस्त हो
आप जैसी साधना को/जीवन में अपना सकें।" (पृ. ४८४-४८५)

'मूकमाटी' महाकाव्य उस माटी की गौरवगाथा है जिसके रूप अनेक तथा असीम हैं। यह माटी हम सबकी माँ है। इस माँ से हमारे जैसे न जाने कितने कण समय-समय पर उत्पन्न होकर इसी माटी में समाते रहे हैं। इसीलिए कवि कहता है :

"और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो,पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ.५)

इस महाकाव्य की एक और विलक्षणता है, और वह है इसके संवाद। इन संवादों से महाकाव्य में नाटकीयता की छटा आ गई है। धरा और माटी का संवाद लगातार चलता है। धरा कहती है :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनायें/उत्थान-पतन की,/खसखस के दाने-सा
बहुत छोटा होता है/बड़ का बीज वह !" (पृ. ७)

आगे वह कहती है :

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है
आस्था के तारों पर ही/साधना आस्था की अंगुलियाँ हैं/चलती साधक की

सार्थक जीवन में तब/स्वरातीत सरगम झरती है !/समझी बात, बेटा ?''
(पृ. ९)

इसी माटी ने अपने को पतित मान, लघुतम माना है, इसीलिए वह प्रभु के महत्त्व को पहचान पाई है। असत्य की उसने सही पहचान कर वास्तविकता को जाना और महानता की ऊँचाइयों को अपने आप में समेटे बाहर से सामान्य रूप ही धारण किए रही।

कवि ने माटी का कई जगह मानवीकरण भी किया है। धरा और माटी का मानवीकरण ही उन्हें मानवी संवादों के लिए प्रेरित करता है। माटी वास्तविकता के प्रतीक रूप में चित्रित की गई है। माटी किसी पर आच्छादित नहीं होती फिर भी उसका आभार हम सब स्वीकार करते हैं। यह माटी स्वाभाविक रूप से धरा के अंक में सोती है। इस नायिका माटी के लिए तो हर ऋतु ही बसन्त है।

इस महाकाव्य में ऐसे भी स्थल हैं जहाँ लेखक जितना सन्त है उतना ही कवि है। ऐसे स्थलों पर यह कहना कठिन हो जाता है कि यहाँ काव्य की छटा अधिक है या अध्यात्म की, यथा :

''कर्मों का संश्लेषण होना,/आत्मा से फिर उनका/स्व-पर कारणवश
विश्लेषण होना/ये दोनों कार्य/आत्मा की ही/ममता-समता-परिणति पर
आधारित हैं।'' (पृ. १५-१६)

धरती को भले ही निद्रा घेर ले, पर माटी को निद्रा छूती तक नहीं। इसका नायक कुम्भकार है, जो एक कुशल शिल्पी है। उसका शिल्प बिखरी माटी को अनेकानेक रूप प्रदान करता है। इसी माटी की मृदुता में उसकी कुदाली भी खो जाती है, यथा :

''माटी की मृदुता में/खोई जा रही है कुदाली !
क्या माटी की दया ने/कुदाली की अदया बुलाई है ?'' (पृ. २९)

प्रकृति के विभिन्न बिम्बों के माध्यम से, तात्त्विक रूप से इस महाकाव्य की कथा का ताना-बाना बुना गया है। इसकी भावात्मक कथावस्तु ने इस काव्य को अन्यतम गरिमा प्रदान की है। दर्शन व चिन्तन के प्रेरणादायी प्रसंग तथा सूक्तियाँ इसमें कई स्थलों पर हैं।

माटी की विभिन्न अवस्थाओं का कवि चित्रण करता चला जाता है। प्रथम खण्ड में उसने परिशोधन की क्रिया को अभिव्यक्ति प्रदान की है। माटी मिली-जुली अवस्था में है। कुम्भकार मंगल घट को सार्थक रूप प्रदान करने के लिए माटी से कंकरों को हटा देता है। वह वर्णसंकर से मृदु माटी के रूप में अपनी शुद्ध दशा प्राप्त करती है। माटी कहती है :

''सल्लेखना, यानी/काय और कषाय को/कृश करना होता है, बेटा !
काया को कृश करने से/कषाय का दम घुटता है/'''घुटना ही चाहिए
और/काया को मिटाना नहीं/मिटती-काया में/मिलती-माया में
म्लान-मुखी और मुदित-मुखी/नहीं होना ही/सही सल्लेखना है, अन्यथा
आतम का धन लुटता है, बेटा !'' (पृ. ८७)

प्रथम खण्ड के परिचय के पश्चात् द्वितीय खण्ड से कवि की पकड़ मज़बूत होती जाती है। नव रस यहाँ परिभाषित हुए हैं। संगीत की प्रकृति का प्रतिपादन भी हुआ है। ऋतुओं की अभिव्यक्ति में कवि ने चमत्कारपूर्ण मोहक

तथा मौलिक बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। कवि कहता है कि मात्र उच्चारण ही 'शब्द' है, शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझना 'बोध' है और इसी बोध को आचरण में उतारना 'शोध' है।

कवि कहता है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन–उत्पाद है
जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है
और/है यानी चिर–सत्/यही सत्य है, यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

तीसरे खण्ड में माटी की विकास-कथा है। माटी के साधारण से दिखनेवाले असाधारण रूप को कवि ने चित्रित किया है।

कवि का एक अत्यन्त आशावादी स्वर यहाँ व्यक्त हुआ है :

"नया मंगल तो नया सूरज/नया जंगल तो नयी भू-रज
नयी मिति तो नयी मति/नयी चिति तो नयी यति
नयी दशा तो नयी दिशा/नहीं मृषा तो नयी यशा
नयी क्षुधा तो नयी तृषा/नयी सुधा तो निरामिषा।" (पृ. २६३)

कुम्भ कहता है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में/निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है,बढ़नी ही चाहिए।" (पृ. २६७)

चतुर्थ खण्ड के विस्तृत फलक पर कई कथाप्रसंगों के माध्यम से कवि ने अपनी बात कही है। कुम्भ कई दिन तक तपता है। कुम्भकार अवे के पास आता है और पके कुम्भ को बाहर निकालता है। इसमें सामाजिक दायित्वबोध भी है।

कवि कहता है :

"बन्धन रूप तन/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ!" (पृ. ४८६-४८७)

यह कृति हिन्दी साहित्य के लिए एक मौलिक देन है। लोक-जीवन को प्रेरित करने के लिए इसमें ऐसा जीवन दर्शन है कि जो अत्याधुनिक जीवन के लिए भी प्रासंगिक कहा जा सकता है। यह आधुनिक जीवन का एक अमर काव्य है। इसमें आध्यात्मिक चिन्तन सुन्दर काव्य शिल्प के माध्यम से व्यक्त हुआ है।



'मूकमाटी' : एक शाश्वत काव्य

प्रो. (डॉ.) वृषभ प्रसाद जैन

इस आलेख के प्रारम्भ में ही मैं कुछ बातें साफ़ करना चाहता हूँ। जैसे मैं कोई समीक्षक नहीं हूँ और न समीक्षक होने की हामी भरता हूँ, न मैं साहित्य के सम्बन्ध में बात करने वाला कोई बहुत बड़ा अधिकारी हूँ और न अपने को अधिकारी मानता ही हूँ, पर एक बात ज़रूर है कि मैं साहित्यिक कृतियों को पढ़ता ज़रूर हूँ, साहित्य का अध्येता ज़रूर हूँ, रचनाओं को पढ़ने की आदत मुझमें ज़रूर है। इसी रचनाओं को पढ़ने की आदत के तहत साहित्य को समझने की कोशिश भी निरन्तर करता रहता हूँ। इसी प्रकार की एक कोशिश 'मूकमाटी' को समझने की भी मैंने की है। 'मूकमाटी' को जहाँ तक मैं अभी समझ पाया हूँ, उसको रखने की कोशिश मैं अपने इस आलेख में करूँगा। पर अभी इसके बहुत सारे भाग को मैं गतिक्रम में बैठा नहीं पाया हूँ, इसलिए इसको समझने की गुंजाइश अभी और शेष है।

दूसरी सबसे ज़रूरी बात है कि मैं आचार्य विद्यासागरजी की बात नहीं करना चाहता, क्योंकि उनकी समीक्षा करना मेरे वश की बात नहीं, मेरे अधिकार की बात भी नहीं। मैं बात करना चाहता हूँ 'मूकमाटी' के रचनाकार की, 'मूकमाटी' की रचना-प्रक्रिया की, 'मूकमाटी' रचना की। इसलिए एक बात बहुत साफ़ है कि आचार्य विद्यासागर में यद्यपि अनन्त रूप हैं, पर दो रूप प्रमुख रूप से दिख रहे हैं—एक है उनका आचार्यत्व रूप और दूसरा 'मूकमाटी' कृति के कृतिकार का। प्रस्तुत समीक्षा में लक्ष्य है कृति, कृतिकार, कृति की प्रक्रिया। कुछ लोगों को यदि समीक्षा के नाम पर कृति भेज दी जाए तो वे लोग अपने को समीक्षक मान बैठते हैं और समझते हैं कि समीक्षा के बहाने उन्हें कुछ भी खींचातानी करने का अधिकार मिल गया है और इसी समीक्षा के बहाने वे कृति में दोष देखने लग जाते हैं। लोगों ने समीक्षा के नाम पर ऐसा करने की कोशिश यदि की है तो आप समझ लीजिए कि वह समीक्षा नहीं है। और समीक्षा दोषान्वेषण नहीं है, छिद्रान्वेषण नहीं है। समीक्षा होती है कृति के छिपे हुए अर्थों के उद्घाटन के लिए, समीक्षा होती है कृतिकार की कृति निर्माण-प्रक्रिया को और सजग बनाने के लिए। मैं इन दोनों बातों का पूरी तरह ध्यान रखने की कोशिश करूँगा अपने इस आलेख में ।

एक टिप्पणी के साथ मैं अपनी बात प्रारम्भ कर रहा हूँ कि कई जगह लगता है कि 'मूकमाटी' का रचनाकार आचार्य विद्यासागर से अलग नहीं हो पाया है, क्योंकि वह अपनी रचना में अनेक जगह सीधा उपदेशक दिखता है, उसे अलग होना चाहिए था। साहित्य सीधे-सीधे कथ्य को नहीं कहता जबकि उपदेशक कहता है, साहित्य अपने साधनों माध्यमों के माध्यम से कथ्य की ओर संकेत भर करा देता है, जिससे कथ्य अपने आप सामने आ जाता है पाठक के। जो रचनाकार अपने इस कथ्य की ओर संकेतन कराने में जितना कुशल होता है वह रचनाकार उतना बड़ा होता है। पर इस टिप्पणी का मतलब यह भी नहीं लेना चाहिए कि 'मूकमाटी'कार ने कहीं भी कथ्य की ओर संकेतन नहीं कराया है, अनेकत्र वह बड़े-बड़े सिद्धहस्त रचनाकारों के द्वारा कराए जाने वाले संकेतन से भी गहरा संकेतन कराता है। निम्न सन्दर्भ को ही लें :

"अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;/कोठी की नहीं/कुटिया की बात है
जो वर्षा-काल में/थोड़ी-सी वर्षा में/टप-टप करती है/और
उस टपकाव से/धरती में छेद पड़ते हैं,/फिर···तो···/इस जीवन-भर
रोना ही रोना हुआ है/दीन-हीन इन आँखों से/धाराप्रवाह···
अश्रु-धारा बह /इन गालों पर पड़ी है/ऐसी दशा में/गालों का सछिद्र होना

स्वाभाविक ही है/और/प्यार और पीड़ा के घावों में/अन्तर भी तो होता है,
रति और विरति के भाव/एक से होते हैं क्या ?" (पृ. ३२-३३)

'मूकमाटी'कार अपरिभाषितों को परिभाषित करने में किसी भी बड़े परिभाषाकार से अधिक सिद्ध है। उदाहरण के लिए लेखन कर्म के प्रसंग में उसके निम्न उद्धरण को लीजिए :

"कुशल लेखक को भी,/जो नई निबवाली/लेखनी ले लिखता है
लेखन के आदि में खुरदरापन ही/अनुभूत होता है/परन्तु,/लिखते-लिखते
निब की घिसाई होती जाती/लेखन में पूर्व की अपेक्षा/सफाई आती जाती
फिर तो···लेखनी/विचारों की अनुचरा होती···/···होती
विचारों की सहचरी होती है;/अन्त-अन्त में···तो/जल में तैरती-सी
संवेदन करती है लेखनी।" (पृ. २४)

रचना में ध्रुव सत्यों की छटा देखने को मिलती है। कभी ये ध्रुव सत्य जीवन को परिभाषित करते हैं तो कभी सत्य को ही, कभी रास्ते के स्वरूप को रखते हैं तो कभी स्वयं की सत्ता को । रचनाकार इन ध्रुव सत्यों को व्यक्त करने में इतना सिद्ध है कि जब वह उन्हें छन्द में व्यक्त करना चाहता है तो छन्द में व्यक्त करता है, जब सूक्त कथनों के माध्यम से रखना चाहता है तो सूक्त कथनों का सृजन करता है।

सूक्त कथन :

- *"बहना ही जीवन है।" (पृ. २)*
- *"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ. ९)*

छान्दिक संरचना में :

- *"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं*
  अनगिन सम्भावनायें/उत्थान-पतन की,/खसखस के दाने-सा
  बहुत छोटा होता है/बड़ का बीज वह !" (पृ. ७)
- *"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर*
  सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।" (पृ. ९)

पूरी की पूरी 'मूकमाटी' रचना प्रतीकात्मक है। भारतीय काव्यशास्त्रियों, चाहे ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन रहे हों या मम्मट, ने व्यंजना प्रधान काव्य को उत्तम काव्य माना है। प्रतीक में भी सीधे अर्थ सामने नहीं आता, अर्थ व्यंजित होता है माध्यम के द्वारा बड़े स्पष्ट रूप में। रचना में प्रतीकात्मकता में माध्यमों की किन्हीं अंशों में व्याख्या की जा सकती है अर्थात् माध्यम व्याख्येय होते हैं। ऐसी प्रतीकात्मकता प्रतीकस्थों की प्रतीकात्मकता कहलाती है। 'मूकमाटी' में इस प्रकार की प्रतीकात्मकता की अधिकता है। दूसरी प्रतीकात्मकता वहाँ होती है जिसमें माध्यमों की व्याख्या नहीं की जा पाती, माध्यम व्याख्येय नहीं होने पर वे रचनाकार और पाठक दोनों के मस्तिष्क में बड़े साफ़ दिखते हैं, झलकते हैं। इस प्रकार के माध्यम प्रतीक माने जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि 'मूकमाटी' रचना सायास और जटिल है, सरल नहीं, पर सच पूछिए तो यह दोष किसी भी रचना पर लगाया जा सकता है, क्योंकि कोई भी रचना आद्योपान्त

एक जैसी नहीं होती, कहीं वह बहुत सरल और सहज हो जाती है तो कहीं कम। इसीलिए उसे पढ़ने की निरन्तर ज़रूरत बनी रहती है। रचना की सार्थकता भी इसी में है कि वह जितनी बार पढ़ी जाय, उतनी बार एक और अर्थ दे, एक नया अर्थ दे, उसकी यह अर्थ-उद्घाटन की शक्ति उसमें निरन्तर बनी रहे। मैं समझता हूँ यह 'मूकमाटी' में है। इसे सायास और जटिल न मानने का एक कारण मुझे और समझ में आता है, वह है इसमें प्रतीकस्थों के प्रयोग की अधिकता। प्रतीकस्थ व्याख्येय होते हैं, सहज होते हैं। उदाहरण के लिए 'मूकमाटी' के एक प्रयोग को लीजिए :

"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।" (पृ. ९२)

इस प्रकार इस प्रयोग में रचनाकार ने कम्बल प्रतीकस्थ का प्रयोग किया है। कम्बल से अभिप्राय सिर्फ कम्बल से नहीं है, कम्बल से अभिप्राय है वस्त्र मात्र से। मान लीजिए कि शीत है और शीत को बचाने के लिए जिन लोगों को साधन की ज़रूरत पड़ती है, स्वयं वे शीत से लड़ने में समर्थ नहीं होते, वे लोग कमज़ोर होते हैं अपेक्षाकृत उन लोगों के जिन्हें कटकटाती शीत से अपने को बचाने के लिए एक तिनके की भी ज़रूरत नहीं होती। उनकी इच्छा-शक्ति इतनी शक्तिवती होती है कि शीत स्वयं उनके सामने आकर घुटने टेक देती है।

'मूकमाटी' नाम स्वयं में प्रतीकात्मक है। 'मूकमाटी' की प्रतीकात्मकता अधिकांशतः सामाजिक यथार्थ और ध्रुव सत्यों को सामने रखती है। इसलिए रचनाकार ने खण्डों के नाम भी 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं', 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन', 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' प्रतीक रूप ही दिया है। उदाहरण के लिए दूसरे खण्ड के नाम को लीजिए—'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'—इस नामकरण के माध्यम से भी रचनाकार ने वास्तविक जागतिकता रूप प्रतीकार्थ को सामने रखा है। आज लोग शब्द के/वस्तु के वास्तविक अर्थ को नहीं समझते—नहीं लेते। इसलिए वे वस्तु के वास्तविक अर्थ से विमुख हैं। और पहले तो शोध ही नहीं हो रहे तथा जो हो भी रहे हैं, वे वास्तविक अर्थ से कहीं दूर हैं। जबकि शोध का प्रयोजन इसी वास्तविक अर्थ के उद्घाटन के लिए होना चाहिए, वह भी आज नहीं हो रहा है— यह परिस्थिति रचनाकार को अकुलाहट दे रही है।

आज का आदमी भी वस्तु से भिन्न ज्ञान को सम्यक् ज्ञान मान रहा है और सम्यग्ज्ञान जो है, वह तद्रूप आचरण नहीं कर रहा है और चाहना कर रहा है मुक्ति की। कैसी विडम्बना है इस संसारी जीवन की!

रचना मानवीय जीवन से जुड़े तमाम सारे सांसारिक प्रश्नों के दार्शनिक समाधानों को प्रस्तुत करती है। निम्न पंक्तियों में रचनाकार संसार के परिणमनशील स्वभाव को जल की धारा के माध्यम से रखता है। जल की धारा का धूल में जा दलदल रूप में, नीम की जड़ में कटुता रूप में, सागर में लवणाकार रूप में, विषधर मुख में विष/हाला रूप में और स्वाति नक्षत्र में शुक्तिका में जा मुक्तिका के रूप में विभिन्नाकार होना, इस जीव के पर्यायों के परिणमन को सीधे-सीधे रेखांकित करता है। सहज प्रतीक-व्यवस्था की यह शृंखला निश्चय ही अनिर्वचनीय हो जाती है :

"उजली-उजली जल की धारा/बादलों से झरती है
धरा-धूल में आ धूमिल हो/दल-दल में बदल जाती है।
वही धारा यदि/नीम की जड़ों में जा मिलती/कटुता में ढलती है;
सागर में जा गिरती/लवणाकर कहलाती है/वही धारा, बेटा!
विषधर मुख में जा/विष-हाला में ढलती है;
सागरीय शुक्तिका में गिरती,/यदि स्वाति का काल हो,
मुक्तिका बन कर/झिलमिलाती बेटा,/वही जलीय सत्ता···!

जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है/मति जैसी, अग्रिम गति
मिलती जाती···मिलती जाती···/और यही हुआ है
युगों-युगों से/भवों-भवों से !" (पृ. ८)

रचना को ध्यान से पढ़ने पर निरन्तर यह प्रतीति होती रहती है कि रचनाकार बहुत ही दृढ़ संकल्पी है। वह झुकता नहीं किसी भी झुकाव के सामने, और नहीं जीता है अनिश्चय के अन्तर्द्वन्द्व को, क्योंकि उसकी दृष्टि बहुत साफ़ व स्पष्ट है:

"नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी/अपने घुटने टेक देता है,
हार स्वीकारना होती है/नभश्चरों सुरासुरों को !" (पृ. २६९)

आज गणतन्त्र की जो धज्जियाँ उड़ रहीं हैं वे 'मूकमाटी'कार को भी बेचैन किए बिना नहीं रहतीं। समाज में व्याप्त बुराइयों, कुरीतियों, विषमताओं को वह केवल तटस्थ होकर देखता भर नहीं रहता, अपितु निर्द्वन्द्व होकर उन पर टिप्पणी भी करता है :

"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,
और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)

यद्यपि रचनाकार समाज में व्याप्त उद्दण्डता की शुद्धि के लिए दण्ड विधान को श्रेयस्कर मानता है पर वह किसी भी अपराध के लिए मृत्युदण्ड को समुचित नहीं मानता। वह मानता है कि मृत्युदण्ड के बाद व्यक्ति के सुधार के अवसर ही समाप्त हो जाते हैं और दण्ड का मूल प्रयोजन व्यक्ति के आचरण में जो खामियाँ आ गई हैं, उन्हें निकालना है, व्यक्ति की समाप्ति नहीं :

"किसी को काटना नहीं,/किसी का प्राणान्त नहीं करना
मात्र शत्रु को शह देना है।/उद्दण्डता दूर करने हेतु
दण्ड-संहिता होती है/माना,/दण्डों में अन्तिम दण्ड
प्राणदण्ड होता है।/प्राणदण्ड से/औरों को तो शिक्षा मिलती है,
परन्तु/जिसे दण्ड दिया जा रहा है/उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त।
दण्ड संहिता इसको माने या न माने,/क्रूर अपराधी को
क्रूरता से दण्डित करना भी/एक अपराध है,
न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।" (पृ. ४३०-४३१)

आज के समाज में जितने भी लोग बड़े-बड़े पदों पर आरूढ़ हैं, वे बाहर से कुछ और हैं तथा अन्दर से कुछ और; बाहर से वे बड़े दिखते हैं पर भीतर से वे घृणित से घृणित काम करने से भी उकताते नहीं। इसीलिए रचनाकार चाहता है कि वह भी ऐसी श्री (धन) से दूर रहे, क्योंकि यदि वह ऐसी श्री से दूर रहेगा तो कम से कम उसे पाप का पाखण्ड तो नहीं करना होगा :

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,

पाप-पाखण्ड करते हैं।/प्रभु से प्रार्थना है कि/अपद ही बने रहें हम!
जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं।"(पृ. ४३४)

और भी :

"चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।
तुम स्वयं चोर हो/चोरों को पालते हो/और/चोरों के जनक भी।
सज्जन अपने दोषों को/कभी छुपाते नहीं,
छुपाने का भाव भी नहीं लाते मन में/प्रत्युत उद्घाटित करते हैं उन्हें।"(पृ. ४६८)

कुछ लोगों ने कहा कि समझ में नहीं आता कि 'मूकमाटी' काव्य है या शास्त्र। वास्तव में सम्पादक, समालोचक या साहित्यकार का प्रयोजन अन्तर्द्वन्द्व को उपस्थित करना नहीं है, गुत्थी को उलझाना नहीं है। इनका प्रयोजन होता है गुत्थी के सुलझाने में और सुलझा कर समाधान की ओर संकेतन करने में। यदि वे ऐसा नहीं करते तो वे साहित्यकार, सम्पादक या समालोचक होने के अपने दावे को छोटा कर रहे हैं। क्यों नहीं सीधे कहते वे कि यह शास्त्र है, इसे काव्य मत मानो ; या फिर यह काव्य है, शास्त्र नहीं। मुझे लगता है वे खुद उलझे हैं और अपनी इस उलझन का हिस्सा बनाना चाहते हैं सभी पाठकों को। पाठकों को उलझाना अन्याय है, जो उनके वह होने का (अर्थात् सम्पादक, साहित्यकार या समालोचक होने का) प्रयोजन नहीं है अत: ऐसा करने का उन्हें अधिकार भी नहीं है।

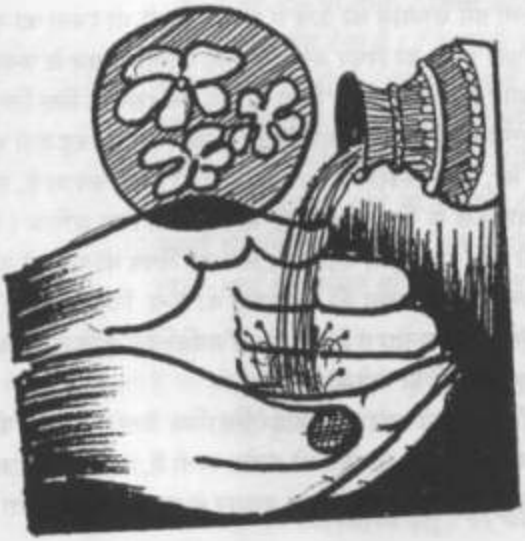
व्यक्ति जब किसी कृति की समीक्षा के लिए बैठता है तो एक प्रश्न उसके मन में निरन्तर कौंधता है कि विवेच्यकृति खण्ड काव्य है या महाकाव्य या केवल काव्य। महाकाव्य को सबसे बड़ा काव्य मानते हैं प्राय: सभी काव्यशास्त्री, पर जिन आधारों पर महाकाव्य को वे तौलते हैं, यथा—सर्गबद्ध हो, विशाल परिमाण हो, प्राकृतिक दृश्य से प्रारम्भ हो, मुझे लगता है कि इन आधारों पर किसी काव्य को तौलने की दृष्टि सम्यक् दृष्टि नहीं है, क्योंकि किसी भी रचना की जो सबसे बड़ी सार्थकता है, वह इसमें है कि वह रचना कितनी अच्छी तरह, कितने सबल ढंग से अपने काव्यार्थ को रख पा रही है। इसलिए इन आधारों पर हम इस 'मूकमाटी' का भी मूल्यांकन करेंगे तो हम वास्तव में काव्य को सही ढंग से मूल्यांकित नहीं कर पाएँगे। इसलिए हमें काव्यार्थ को केन्द्र में रखकर किसी भी रचना का मूल्यांकन करना चाहिए। जिस काव्यार्थ को रचनाकार ने अपनी रचना का विषय बनाया है, वह काव्यार्थ आज के जनमानस के लिए कितने महत्त्व का है, उसका प्रस्तुतीकरण कितने सुदृढ़ ढंग से हुआ है जो माध्यम उसे रखने के लिए लिए गए हैं, वे कितने सटीक हैं, इन बातों पर यदि रचना का मूल्यांकन होता है तो मुझे लगता है कि रचना का वह सही मूल्यांकन है। 'मूकमाटी' को ही लें, रचनाकार ने जिस जगत् को, जिस नश्वरता को अपनी रचना का विषय बनाया है, वह जगत् हर जीवधारी के लिए नश्वर है। ऐसा नहीं कि वह कुछ के लिए शाश्वत हो और कुछ के लिए क्षणिक। इसीलिए रचनाकार ने हर जीव के हितकारी विषय को अपनी कृति का विवेच्य बनाया है, और उस विषय को रखने में वह काफ़ी हद तक सफल रहा है। एक बात ज़रूर बार-बार लगती है कि रचना की विषयवस्तु का केन्द्र किसी बौद्धिक चेता का विषय अधिक है, किसी सहृदय का कम। मैं बार-बार यह मानता हूँ कि किसी भी साहित्यिक कृति का केन्द्र उसका काव्यार्थ होता है। काव्यार्थ जितना बड़ा होता है कृति उतनी ही बड़ी होती है।

रचना की कथावस्तु कोई प्रणय-कथा नहीं, कोई पुरा कथा नहीं, कोई ऐतिहासिक जल्प नहीं, कोई पौराणिक कथा नहीं। शाश्वत कथा है। शाश्वत कथा निरन्तर अपने में शाश्वत सत्य को सँजोए रहती है, शाश्वत सत्य पहले जब तक कि वह अनुभूति का हिस्सा नहीं बनता, कठिन दुरूह ज़रूर लगता है, पर वास्तव में वह सबका प्रेय होता है, सब

की चाह होता है। पर पहले की दुरूहता के कारण कम लोग साहस कर पाते हैं शाश्वत सत्य तक पहुँचने का। पर जो साहस कर जाते हैं, वे ऐसे रम जाते हैं कि कभी स्वप्न में भी नहीं सोचते इस छलावे की दुनिया में आने की, क्योंकि उसके बाद और कुछ पाने को शेष नहीं रह जाता। शाश्वत सत्य त्रैकालिक और अन्तिम सत्य होता है। इसीलिए 'मूकमाटी'कार ने घृत के माध्यम से इस तथ्य को रखा है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही
मोक्ष है।/इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे
प्राप्त होने के बाद,/यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है
तुम ही बताओ !/दुग्ध का विकास होता है/फिर अन्त में
घृत का विलास होता है,/किन्तु/घृत का दुग्ध के रूप में
लौट आना सम्भव है क्या ?/तुम ही बताओ !" (पृ. ४८६-४८७)

चूँकि, रचना शाश्वत सत्य को रखने के लिए, दार्शनिक तथ्य प्रस्तुत करने के लिए संकल्पित है, इसीलिए प्रारम्भ में शाश्वत सत्य की तरह ही दुरूह लगती है, कठिन लगती है। पर एक बार पाठक जब रचना से जुड़ जाता है तो वह शाश्वत सत्य की तरह ही निरन्तर उसमें सराबोर बना रहता है। इसीलिए 'मूकमाटी' को मैं समझता हूँ कि शाश्वत काव्य के रूप में स्वीकारना समीचीन है। एक बात ज़रूर है कि रचना के पात्र काल्पनिक हैं, पर रचना संवाद शैली में है, यदि रचना के पात्र कुछ पौराणिक, कुछ ऐतिहासिक होते, जिनके संस्कार पाठक के मन में पहले से होते तो रचना कुछ और सरल हो जाती। □



पृ. ३३१
लो, अतिथि की
अंजुलि खुल पड़ती है...
---- रस दाद या
रूखा-सूखा
सब स्वीकार !

धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म का सारतत्त्व : 'मूकमाटी'

डॉ. महेन्द्र नाथ राय

'मूकमाटी' धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म के सारतत्त्व को एक सूत्र में पिरोकर एक महान् रचनात्मक दायित्व के प्रति पूरी तरह समर्पित सन्त साहित्यकार आचार्य विद्यासागरजी की ऐतिहासिक महत्त्व की काव्य कृति है। भाव-भाषा एवं प्रतिपाद्य की दृष्टि से यह सर्वथा उदात्त है। 'मूकमाटी' शीर्षक सोद्देश्य एवं साभिप्राय है। मूकमाटी शब्द में सुरक्षित रागात्मकता एवं वत्सलता को उद्घाटित करने के प्रयत्न में आचार्यश्री को आशातीत सफलता मिली है। कुशल कुम्भकार के हाथों यह माटी पड़ कर पूजा का मंगल घट बनती है और अपनी सार्थकता का प्रकाशन करती है। पत्थर तो बहुत होते हैं लेकिन जो सुजान कारीगर के हाथ लगते हैं, वे मनोरम और दिव्य मूर्ति में परिवर्तित होकर सबके लिए पूज्य बन जाते हैं। लोग मूर्ति के समक्ष प्रणत होकर एक तरह से उसके निर्माता के समक्ष ही माथा टेकते हैं। पत्थर का अहंकार सर्वथा मृषा है कि लोग उसके समक्ष अपना सिर झुकाते हैं। वस्तुतः यह तो उसके निर्माता की ही साधना का सुपरिणाम है कि तराश-छाँट कर रास्ते में पड़े एक अनाम पत्थर को उसने मूर्ति का रूप दिया और उसमें प्रभुत्व की प्राण-प्रतिष्ठा की। धन्य हैं सन्त विद्यासागर जी जिन्होंने मूकमाटी की व्यथा-कथा को अपने नवनीत से भी कोमल एवं प्रकृतितः द्रवणशील सन्तजनोचित मानस का करुण साहचर्य प्रदान कर स्वरित किया।

आचार्य विद्यासागर जी ने ग्रन्थारम्भ में 'मूकमाटी' के रचनात्मक अभिप्रेत की विविक्षा में जो लिखा है, वह द्रष्टव्य है : ''ऐसे ही कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है;...जिसमें शब्द को अर्थ मिला है और अर्थ को परमार्थ;...जिसके प्रति प्रसंग पंक्ति से पुरुष को प्रेरणा मिलती है—सुसुप्त चैतन्य-शक्ति को जाग्रत करने की; जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था विधान को नकारा नहीं है परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उनमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है;...जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है''' और जिसका नामकरण हुआ है मूक-माटी''। उपर्युक्त पंक्तियाँ रचनाकार के काव्य-प्रयोजन को स्पष्ट अभिव्यक्ति देती हैं। साहित्य के स्वरूप और अभिप्राय को लेकर आचार्यश्री की एक सुनिश्चित, उन्नत अवधारणा रही है और कहना न होगा कि इस काव्यकृति में रचनात्मक स्तर पर उसे मूर्तिमान होने का भरपूर अवसर मिला है।

'मूकमाटी' चार उपशीर्षकों में विभाजित लगभग पाँच सौ पृष्ठों का बोध एवं विचारधारा की दृष्टि से बहु आयामी ग्रन्थ है। कहते हैं सरस्वती की जवानी कविता और बुढ़ापा दर्शन है। इस काव्यकृति में दर्शनप्रभावी है, विचारधारा प्रबल है। यहाँ भावोच्छ्वास की अभिव्यक्ति कम है, सुचिन्तित दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति अधिक। इसमें प्राकृतजन का गुणगान नहीं है बल्कि प्रतीकात्मक ढंग से शाश्वत और सार्वभौम पारमार्थिक तत्त्वों का दिग्दर्शन है। वैचारिक प्रौढ़ता, तार्किक निष्पत्ति और जीवन-जगत् के प्रति एक स्वस्थ एवं परम उदात्त दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति की संज्ञा है 'मूकमाटी'। सामान्य काव्यरसिकों का अवधान निम्नांकित पंक्तियाँ भले ही अपनी ओर केन्द्रित न करें किन्तु सुविज्ञ और सुविचारित जनों को ये निश्चित रूप से बाँधेंगी :

''सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है/संसार का अन्त दिखने लगता है,
समागम करनेवाला भले ही/तुरन्त सन्त-संयत/बने या न बने
इसमें कोई नियम नहीं है/किन्तु वह/सन्तोषी अवश्य बनता है।'' (पृ. ३५२)

□

मानवता का महाकाव्य और संस्कृति का विश्वकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. लक्ष्मी कान्त पाण्डेय

भारतीय साहित्य में आर्ष काव्य की अपनी परम्परा रही है। यह परम्परा प्राचीनतम साहित्य से प्रारम्भ हुई और काव्य-विधान की परिवर्तमान मान्यताओं को स्वीकारती अद्यावधि विद्यमान है। संस्कृति, दर्शन और आध्यात्मिक चेतना से सम्पृक्त आर्ष परम्परा ही साहित्य के युग-चिन्तन एवं औदात्य को प्रकट करती है। अतः ऐसी रचनाएँ कालातीत नहीं, कालजयी होती हैं और साहित्य के उस रूप को प्रस्तुत करती हैं, जो लोकादर्श का प्रतिष्ठापक होता है। समग्र वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, समस्त पुराण, जैन आचार्यों द्वारा उपदिष्ट एवं प्रणीत प्राकृत साहित्य, बौद्ध त्रिपिटक, विभिन्न भाषाओं में प्रणीत रामायण, रामचरितमानस, आधुनिक युग में गीतांजलि और कामायनी जैसे महाकाव्य मूलतः आर्ष परम्परा के ही अंग हैं। अभिधान एवं उपाख्यान परम्परा-भुक्त हैं, मात्र बहिरंग और सामाजिक प्रकार्य एवं मूल्य नए रूप में आए हैं।

वस्तुतः आर्ष परम्परा है क्या ? 'साहित्य को समाज का दर्पण' मात्र मानने वाले इसका उत्तर नहीं देंगे। साहित्य में समवेत भाव और हित भाव के समंजसन से आर्ष परम्परा सम्भूत है और यह प्रवृत्ति जिस रचना में होगी वह युग-धर्म में जीवित रह कर भी आर्ष ही कही जाएगी। इसे अधिक स्पष्ट करें, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य-प्रयोजनों में जो 'शिवेतरक्षतये' है उसको प्रामुख्य प्रदान कर प्रस्तुत प्रत्येक रचना आर्ष काव्य के अन्तर्गत आती है, क्योंकि प्रत्येक युग, समाज और राष्ट्र के चिन्तन में 'शिवेतरक्षतये' की प्रयोजनमूलकता विद्यमान रहती है, परिमाण एवं प्रकृति में वैभिन्न्य के बावजूद।

हिन्दी साहित्य में जब इसी प्रश्न को उठाया जाता है तो साहित्य की एक विलक्षणता संकेतित होती है। हिन्दी का प्रारम्भिक साहित्य नितान्त ज्ञानात्मक एवं यौगिक संचेतना से अभिमण्डित था और पश्चात् रासो काव्य वीरता एवं शृंगार का समन्वय। भक्तिकाल अवतारवाद की दृढ़ भित्ति बना। इस प्रकार आदि एवं मध्यकाल के पूर्वरूप आर्ष परम्परा के नए आयाम के प्रस्तोता सिद्ध होते हैं। नाथों, सिद्धों और जैनियों के साहित्य की प्रशस्त परम्परा से इसका प्रमाण स्वतः हो जाता है। रीतिकाल या यों कहें कि आदि एवं मध्यकाल के उत्तरवर्ती साहित्य का उपजीव्य मूलतः शृंगार रहा। आधुनिक काल निश्चित रूप से बिखर कर विरचित हुआ और परम्पराओं की अनतिदीर्घता के कारण काल चक्र की गति से प्रवृत्तियों का विकास हुआ। यह वैखरी कालगति का परिणाम है, न कि परम्परा का। यही कारण है कि युग और रचनाकार दोनों में विरोधाभास मिलता है। इसके बावजूद साहित्य में श्रेयस् को प्रेयस् से कम महत्त्व नहीं मिला। यह अलग बात है कि श्रेय एवं प्रेय में विभाजक रेखा आधुनिक साहित्य में बहुत धूमिल हो गई।

वस्तुतः हिन्दी का आधुनिक साहित्य सांस्कृतिक क्षरण के समान्तर स्वच्छ वातावरण के लिए लिखा गया। पाश्चात्य प्रभाव के प्रदूषण से जहाँ समाज की मानसिकता विकृत हो रही थी, वहीं साहित्यिक, सामाजिक पर्यावरण की संरक्षा के प्रयास भी हो रहे थे। भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन इस संरक्षण का ही प्रयास है। साकेत और कामायनी जैसी रचनाएँ इसी परम्परा में संग्रथित हैं। आर्ष परम्परा का यह नव्य रूप सांस्कृतिक विरासत को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भली प्रकार नाप-तौल कर प्रस्तुत कर रहा था पर ज्यों-ज्यों सामाजिक मूल्यहीनता बढ़ती गई, त्यों-त्यों पश्चिमी विचारधाराएँ ही भारतीय समाज की समस्याओं को समाधानित करने के लिए व्यवहृत होने लगीं, जिससे नया साहित्य प्रभावित हुआ और साहित्य की आर्ष परम्परा नई प्रवृत्तियों के समक्ष संकुचित हो गई।

इसके बावजूद भारतीय संस्कृति के चिन्तकों ने सृजन-कर्म निर्बाध गति से जारी रखा, क्योंकि कालजयी

कृतियाँ युगधर्म से जुड़कर तात्कालिकता से प्रभावित नहीं होतीं। भारतीय समाज जैसा वृक्ष न झंझावाती झटके से उखड़ने वाला है, न तात्कालिक पोषण से पुष्ट होने वाला। उसकी सही तस्वीर और वास्तविक पुष्टि आर्ष काव्यों से ही मिलती है और युगों के बाद तथा युगों तक ऐसी रचनाएँ अपनी क्षमता को प्रदर्शित कर पाई हैं। 'मूकमाटी' इसी परम्परा, इसी प्रवृत्ति और इसी चेतना की नवीनतम परिणति है, जिसका रचनाकार विरक्त संन्यासी ही नहीं, प्राचीन श्रमण संस्कृति का मूर्तिमान् रूप है। 'मूकमाटी' की रचना का प्रयोजन मात्र 'शिवेतरक्षतये' है, जिसे गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में 'सुरसरि सम सब कर हित होई' के रूप में परखा जा सकता है।

जैन आचार्य विद्यासागर द्वारा प्रणीत 'मूकमाटी' की विवेचना के पूर्व हिन्दी जैन साहित्य की प्रशस्त परम्परा पर इंगिति आवश्यक है। वस्तुतः संस्कृतेतर आर्य भाषाओं के प्राचीन रूप जैन काव्यकारों के ऋणी हैं, क्योंकि आज उन भाषाओं का अस्तित्व जैन कवियों के ललित साहित्य के कारण ही है। पालि, जिसका साहित्यिक स्वरूप बौद्धों द्वारा विकसित हुआ वह ललित साहित्य की भाषा नहीं बन सकी, क्योंकि बौद्ध धर्म प्रतिक्रियात्मक रहा पर संस्कारक जैन धर्म और साहित्य भारतीय संस्कृति का पुरस्कर्ता बना और जैनाचार्यों और उनके अवलम्बियों ने प्राकृत तथा अपभ्रंश की श्रीवृद्धि अपनी रचनाओं से की। 'अमिअं पाउअकव्वं' की उक्ति तक प्राकृत का माधुर्य जैन कवियों के द्वारा निष्पन्न हुआ। अपभ्रंश और प्रारम्भिक हिन्दी में जो कुछ साहित्य कहलाने लायक है, वह जैन साहित्य की देन है। प्रारम्भिक रचनाओं में मुनि रामसिंह की दार्शनिक चिन्तना एक ओर है तो दूसरी ओर फागु और रासक के द्वारा शृंगार की प्रशस्त परम्परा भी जैन कवियों की देन है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, जिनचन्द सूरि, विनयचन्द सूरि, जिन पद्मसूरि आदि से लेकर मध्यकाल में बनारसीदास जैन तक जैन साहित्य हिन्दी की प्रमुख धारा के रूप में प्रवाहित हुआ है। आधुनिक युग में जब इस प्रकार की काव्य-परम्पराएँ विलुप्त होने लगी हैं, 'मूकमाटी' का रचनाकार जैन काव्य परम्परा की उस चिन्तनधारा से जुड़ कर उसकी निरन्तरता को भी संकेतित कर रहा है।

परम्परा, समकालिकता, दार्शनिकता, आचार्यश्री की विद्वत्ता, महाकाव्य की परम्परागत अवधारणा आदि ऐसे विषय हैं, जिन पर या जिनके परिप्रेक्ष्य में 'मूकमाटी' की बहुविध विवेचना हुई है या हो सकती है। अतः उनका अनुधावन यहाँ अभीष्ट नहीं। वाक्-कायसिद्ध योगी की दार्शनिक चिन्तना अकाट्य है और महाकाव्य की परिधि आज इतनी विस्तृत या विकृत हो चुकी है कि मात्र 'सर्गबन्धो' कह कर किसी काव्य की गरिमा को घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता। प्रश्न यह है कि इस नए वैज्ञानिक युग में एक विरक्त मुनि (जो दुर्लभ श्रेणी में आते हैं) नए समाज को क्या दे रहा है, किस तरह विज्ञान से तालमेल बिठा रहा है और कैसे वह सर्व स्वीकार्य है ?

मैं फिर तुलसी की ओर ध्यान खींचना चाहूँगा, जिसने 'सब कर हित होई' कह कर 'सर्वजन-हिताय' को प्रमुखता दी। सार्वजनीनता ही शिवेतरक्षति है। यह 'क्षति' ही तुलसी का 'हित' है। समाज से शिव के इतर की क्षति सर्वजन का हित है। हित भी दो प्रकार से होगा– लालन और ताड़न द्वारा। काव्य श्रेयमार्ग पर चलने वाले का लालन करे, सम्प्रेरण करे और श्रेयमार्ग से उपरत का ताड़न करे, निवारण करे, तभी वह 'सब कर हित' कर सकता है। शिवत्व की प्रतिष्ठा ही श्रेयस् नहीं है, अशिव का निवारण भी आवश्यक है।

'मूकमाटी' श्रेयस् के इन दोनों रूपों का प्रतिष्ठापक महाकाव्य है। इसलिए जब इस महाकाव्य के वर्ण्य की चर्चा होती है, तो यह एक विशुद्ध आध्यात्मिक कृति प्रतीत होती है। एक ओर कुम्भकार और घट तथा दूसरी ओर श्रेष्ठी, साधु एवं नृपति–दोनों किसी कल्पित ऐतिहासिकता का संकेत देते हैं। ऐसी स्थिति में तमाम पाठक सहजता के साथ कह सकते हैं कि 'मूकमाटी' में जैन दर्शन का अभिनिवेश है। यह अपनी जगह सही भी है लेकिन इसमें एक दोष है–'मूकमाटी,' जो एक भावप्रवण कवि की रचना है और कवि केवल साहित्य दर्शन करता है। इसलिए दार्शनिकता

प्रधान रचनाओं में भी कवि का अन्तरंग शुद्ध दर्शन नहीं बन सकता। वह भावना का तिरस्कार नहीं कर सकता। इसीलिए 'मूकमाटी' में मनुष्य सर्वोपरि है, कोई वाद, दर्शन, सिद्धान्त, सम्प्रदाय या धर्म नहीं।

जब या जिस रचना में मनुष्य सर्वोपरि वर्ण्य हो जाता है, तब वहाँ 'एक पुरुष भीगे नयनों से' ही देखता है वह चाहे 'कामायनी' का मनु हो या 'मूकमाटी' की धरती का : "लो !/भीगे भावों से/सम्बोधन की शुरूआत" (पृ.७)। धरती मानव का आधार है और मिट्टी मनुष्य का आकार। मिट्टी और मनुष्य में केवल स्वरूप का भेद है। मिट्टी का आकार मिटना मनुष्य का मिटना है। विज्ञान इस आधार से रहित जगत् का निर्माण नहीं कर पाया है। धरती, मिट्टी और कुम्भकार– ये तीनों मनुष्य से ही जुड़े हैं। कुम्भकार के द्वारा मिट्टी से गढ़ा मनुष्य और कुम्भकार बनकर निरन्तर निर्माण की ओर अग्रसर भी मनुष्य। इसलिए यह मनुष्य और उसमें भी श्रमजीवी ही विधाता की वास्तविक सृष्टि है– मनुष्य के बाद हम जो कुछ भी बने हैं–यह हमारे अपने अहंबोध हैं, अपने कटघरे हैं, घेरे हैं, बन्दीगृह हैं।

आचार्य विद्यासागर कर्त्तापन को ही नहीं, उसके अहंबोध को भी दूर करने पर बल देते हैं :

"अपने से विपरीत पनों का पूर/पर को कदापि मत पकड़ो
सही-सही परखो उसे, हे पुरुष !" (पृ. १२४)

'पर' को पकड़ना ही मानवीय गुणों का बाधक है। पर में सभी आ जाते हैं–प्रकृति भी। मनुष्य का मूल संघर्ष तो प्रकृति से ही है। यह परा भी है तो अपरा भी। इसीलिए रचनाकार ने पुरुष और प्रकृति के इस संघर्ष को और सम्बन्ध को भी विस्तार से चित्रित किया है। कवि ने 'प्रकृति को नहीं पुरुष को ही पाप-पुंज कहा है', क्योंकि प्रकृति में विकृति भी पुरुष के कारण आती है। जो जैसा है, वही प्रकृति है, पर पुरुष, 'जैसा' से सन्तुष्ट न रहकर 'ऐसा-वैसा' करना चाहता है और यहीं से पुरुष का निर्माण कार्य प्रारम्भ होता है। यही मूल प्रकृति की विकृति है। 'सुख केवल सुख का वह संग्रह, केन्द्रीभूत हुआ इतना'–(कामायनी) की स्थिति आते ही विकृति प्रकृति को लय के लिए प्रेरित करती है क्योंकि 'अति' का होना ही 'मूकमाटी' कार के शब्दों में 'इति' का आरम्भ है और 'इति' 'अथ' का प्रारम्भ। यह 'चक्रनेमिक्रमेण' सृष्टि मूलतः प्रकृति और पुरुष के सम्बन्धों पर संजीवनी पाती है परन्तु पुरुष की केन्द्रीभूत सत्ता बिलगाव की ओर ले जाती है।

अग्नि की जलन, जल के प्रवाह, वायु के झंझावात और आकाश के शब्द को धरती ही सहती है, फिर भी वह मूक है। रचनाकार ने 'माटी' का मूक होना कह कर ही उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। शून्य तक शब्द करता है, आकाश प्रतिध्वनि करता है, वह प्रहार को वापस लौटा देता है, पर माटी सदैव सहती है, धरती है। कबीर की माटी तो मुखर है, उसमें प्रतिभाव है :

"माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रौंदे मोहि।
इक दिन ऐसा आयगा, मैं रौंदोंगी तोहि ॥"

पर अहिंसक जैन मुनि ने माटी का जो वत्सल रूप चित्रित किया है, उसमें मृदुता है, रौंदने पर तो और भी मृदुल होती जाती है, जलने पर और भी चमकती है। माटी का यही मूक रूप जीवन का श्रेष्ठतम रूप है। सबके निर्माण की ललक, अणु-अणु के साथ समर्पण, अपमान और घाव में भी मृदुता, सब कुछ देकर भी मूकता, सब को धारण करने की क्षमता, प्रतिकार एवं प्रतिहिंसा से विरति - यही माटी का स्वभाव है। विश्व साहित्य में पंच भूतात्मक प्रकृति के किसी तत्त्व को आधार बना कर लिखा गया यह प्रथम महाकाव्य है और उसमें भी 'माटी' जैसी नायिका तो विरल है, क्योंकि साहित्य में 'मूक' की उपासना नहीं 'मुखर' की उपासना की जाती रही है।

आचार्य विद्यासागर ने 'माटी' को आराध्य बना कर मनुष्य को ही कथा का आधार बताया है, पुरुष को नहीं। मनुष्य और पुरुष में अन्तर है। मनुष्य सृष्टि है, पुरुष सृष्ट का गुण। पुरुष मनुष्य का कर्त्तापन है। मनुष्य में पुरुष होता है, क्योंकि वह सृष्ट भी है सृजक भी, परन्तु जब सृजक का अहंबोध उभरता है और वह अपने सृजन के अस्तित्व, अपनी नश्वरता, अपने माटीपन को भूल जाता है तो वह मनुष्य नहीं रह जाता। सृजन माटी जैसा होना चाहिए, निरन्तर निर्मितियों के बावजूद मूक बने रहने का भाव। रचनाकार इसी को महत्त्व देता है :

"निसर्ग से ही/सृज्-धातु की भाँति/भिन्न-भिन्न उपसर्ग पा
तुमने स्वयं को/जो/निसर्ग किया,/सो
सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ !" (पृ. ४८६)

इस प्रकार 'मूकमाटी' इस कर्त्तापन के अहंबोध पर प्रहारक है। इसीलिए हमने कहा है कि 'मूकमाटी' में श्रेयस् के दोनों रूप लालन और ताड़न साथ-साथ मिलते हैं। इस कर्तापन को दूर करते हुए रचनाकार कहता है :

"जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं,
पद-लिप्सा का विषधर वह/भविष्य में भी हमें न सूँघे
बस यही भावना है, विभो !" (पृ. ४३४)

मनुष्य की महत्ता के द्योतन में कवि ने आधुनिक समाज की समस्त विकृतियों को चित्रित किया है। धन लिप्सा, शोषण, अनाचार, जाति एवं वर्णभेद, सम्प्रदायबद्धता, आतंकवाद, राजनीतिक पदलिप्सा, भ्रष्टाचार, युद्ध की विभीषिका, अणु आयुधों के आतंक एवं राष्ट्राभिमान की कमी आज के विश्व की समस्याएँ हैं। पूँजी के आधिपत्य एवं कम्युनिष्टों की क्रान्तिदर्शी आक्रान्ता-नीति दोनों का निषेध कवि ने किया है। 'मूकमाटी' में सामाजिक परिवर्तन की ललक है, पर वर्णसंकरी परिवर्तन नहीं, समग्र विलयन की भावना के साथ, जो मिट्टी की भाँति दूसरों को सहन कर सके, वहन कर सके, न कि उनका दहन कर सके। इसलिए 'मूकमाटी' में कंकर नहीं, मिट्टी प्रमुख है, सागर की अपेक्षा कूपजल की प्रमुखता है, राजा और श्रेष्ठी की अपेक्षा कुम्भकार की प्रधानता है। भारतीय आर्ष परम्परा इसी भावना से जुड़ी है जहाँ यम को नचिकेता के समक्ष विनत होना पड़ता है और देवत्व की परिकल्पना विविक्त वनवासियों में की जाती है। राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर स्वामी के ईश्वरत्व का आधार कुलीनता नहीं, सुलीनता है। 'विविक्तदेशसेवित्वं अरतिर्जनसंसदि' के उपासक भारतीय मनीषियों की रचना-परम्परा में 'मूकमाटी' अधुनातन समस्याओं को चिह्नित करती मनुष्य-गाथा है। इस महाकाव्य में लघुता को नमन और उसके लघुत्व में विराटता का दर्शन है। इसलिए नई भंगिमा और नई शैली में प्रस्तुत इस महाकाव्य को मानवता का महाकाव्य और संस्कृति का विश्वकाव्य कहा जा सकता है। दर्शन, भाव, शास्त्रीयता एवं शिल्प के अनूठे प्रयोग तो काव्य-धर्म में स्वतः समाहित हो जाते हैं। □



'मूकमाटी' : क्षणभंगुरता से गहन संवाद

डॉ. नेमीचन्द जैन

इधर के दो दशकों में दो अविस्मरणीय कृतियाँ प्रकाश में आई हैं : एक 'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर' (चार खण्ड/१९७४-१९८१/ वीरेन्द्र कुमार जैन) तथा दो, 'मूकमाटी' (१९८८/आचार्य विद्यासागर मुनि)। इन्हें हम क्रमशः 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' और 'उपन्यासात्मक महाकाव्य' कह सकते हैं।

'मूकमाटी' के विद्वान् प्रस्तवन-लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने इसे 'आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि' और 'आधुनिक जीवन का एक अभिनव शास्त्र' निरूपित किया है। उनके उद्धरण-बहुल 'प्रस्तवन' में से यह पता लगाना कठिन है कि मिसरी की डली कहाँ से और कितनी मीठी है। उसकी मिठास सर्वत्र व्याप्त है।

'मूकमाटी' को मूक तो कह दिया है, किन्तु आत्मा के शाश्वत संगीत में निमग्न कवि ने माटी को एक पल भी मूक नहीं रहने दिया है। माटी की अनिर्वचनीयता पग-पग पर खुद-ब-खुद निर्वचन बनी है और उसने कई चिरन्तन उलझनों को पलक मारते हल किया है। मनीषी कवि ने न सिर्फ़ शब्द को चटखाकर उसके भीतर कारावासित अर्थ को उन्मुक्त किया है वरन् उसे नवार्थ/अभिनवार्थ देने में भी वह सफल हुआ है। शब्द को अर्थ देना एक सामान्य घटना है, किन्तु अर्थ को चेतना की गहराइयों से जोड़कर उसे पुनः अर्थवान् और प्रासंगिक करना किसी मनीषी का काम ही हो सकता है। शब्द को उसकी आर्थी निरम्बरता में पाना और उसमें अपनी परिशुद्ध मेधा के पात्र को अन्तिम हल तक ले पहुँचना परम पुरुषार्थ का विषय है—किसी सामान्य मनीषी के बस की बात वह नहीं है।

कवि ने माटी की चिरन्तन भंगुरता को प्रतीक के रूप में चुना है (असल में 'मूकमाटी' एक भेद-वैज्ञानिक रूपक है) और उसकी युगान्तर की पीड़ा को अक्षरशः समझने का सौधा-सघन प्रयत्न किया है। 'बिन्दु-बिन्दु-घट' की शैली में कवि ने तमाम विस्तृतियों को वर्णबद्ध कर लिया है।

'मूकमाटी' अर्थात् क्षण से एक विलक्षण/अनवरत डायलॉग—किसी योगी के लिए ही सम्भव था। बहुत कम शब्दों में, हम कहेंगे कि 'मूकमाटी' की भाषा 'समाधि भाषा' है, जिसके भीतर पैठने के लिए पाठक को भी समाधि में उतरने की आवश्यकता है। कवि प्रयोगधर्मी है। उसने शैली और भाषा दोनों ही तल पर कई अपूर्व प्रयोग किए हैं। कवि को वर्ण की विलोम/विपर्यय शक्ति का गहन बोध है। वर्ण-विनोद में से वर्ण की आवृत शक्तियों को अनावृत करने की जो क्षमता विद्यासागर मुनि में है, वह अन्यों में नहीं है (नहीं मिलती)। 'खरा' में से 'राख', 'राही' में से 'हीरा', 'याद' में से 'दया', 'लाभ' में से 'भला' ऐसे ही उदाहरण हैं। वर्ण-विच्छेद में से भी कवि ने अर्थ-छवियों की सफल खोज की है। 'सारेगम' में से 'सारे गम,' 'पागल हो' में से 'पाग लहो,' 'रस्सी' में से 'रस सी,' 'रेतिल' में से 'रे तिल' इसी तरह के उदाहरण हैं। वर्ण-क्रीडा में से होकर अर्थ की गहराइयों में अवगाहन और वहाँ से पाठकों को एक अमोघ आध्यात्मिक रसास्वाद विद्यासागर जैसे महान् रसवेत्ता के लिए ही सम्भव था। विलोमशक्ति के तो वे विशेषज्ञ ही हैं— यों उन्हें भाषा तक कभी नहीं जाना पड़ा है, भाषा ही उन तक आई है। वस्तुतः जिसके पास कथ्य होता है, उसके निकट कथन की तमाम विधाएँ खुद दौड़ी आती हैं। 'मूकमाटी' में वही हुआ है, यानी वर्ण-वैभव में से अर्थ-गौरव के कई दुर्लभ क्षण पल-भर में प्रत्यक्ष हुए हैं। असल में क्षर में से अक्षर के तलातल ढूँढ़ निकालने का नाम ही विद्यासागर है।

'मूकमाटी' के प्राण पृष्ठ हैं ३९७-३९९, जिनमें कवि ने 'अ, इ, उ, ऋ, ऌ' की तरह 'श, स, ष' की अमोघ शक्ति को स्पष्ट किया है। उसके शब्द हैं :

"इस पर भी यदि/औषध की बात पूछते हो,/सुन लो !/तात्कालिक
तन-विषयक-रोग ही क्या,/चिरन्तन चेतन-गत रोग भी/जो

जनन-जरन-मरण रूप है/नव-दो-ग्यारह हो जाता है पल में,/श, स, ष
ये तीन बीजाक्षर हैं/इन से ही फूलता-फलता है वह
आरोग्य का विशाल-काय वृक्ष !/इनके उच्चारण के समय
पूरी शक्ति लगा कर/श्वास को भीतर ग्रहण करना है/और
नासिका से निकालना है/ओंकार-ध्वनि के रूप में।
यह शकार-त्रय ही/स्वयं अपना परिचय दे रहा है कि
'श' यानी/कषाय का शमन करने वाला,/शंकर का द्योतक, शंकातीत,
शाश्वत शान्ति की शाला···!/'स' यानी/समग्र का साथी
जिसमें समष्टि समाती,/संसार का विलोम-रूप/सहज सुख का साधन
समता का अजस्र स्रोत···!/और/'ष' की लीला निराली है।
'प' के पेट को फाड़ने पर/'ष' का दर्शन होता है—
'प' यानी पाप और पुण्य/जिन का परिणाम संसार है,
जिसमें भ्रमित हो पुरुष भटकता है/इसीलिए जो
पुण्यापुण्य के पेट को फाड़ता है/'ष' होता है कर्मातीत।
यह हुआ भीतरी आयाम,/अब बाहरी···भी···सुनो !/भूत की माँ भू है,
भविष्य की माँ भी भू।/भाव की माँ भू है,/प्रभाव की माँ भी भू।
भावना की माँ भू है,/सम्भावना की माँ भी भू।/भवानी की माँ भू है,
भूधर की माँ भू है,/भूचर की माँ भी भू।/भूख की माँ भू है,
भूमिका की माँ भी भू।/भव की माँ भू है,/वैभव की माँ भी भू,/और
स्वयम्भू की माँ भी भू।/तीन काल में/तीन भुवन में/सब की भूमिका भू।
भू के सिवा कुछ दिखता नहीं/भू···भू···भू···भू/यत्र-यत्र-सर्वत्र···भू।
'भू सत्तायां' कहा है ना/कोषकारों ने युग के अथ में !"

[सम्पादक-'तीर्थंकर' (मासिक), इन्दौर-मध्यप्रदेश, दिसम्बर, १९८८]

□



पृ. 2.
लज्जा के घूँघट में····
····· ओट देती है।
लो!··· इधर··· ।
····· अनहोनी-सी घटना!

'मूकमाटी' : एक मूल्यांकन

प्रो. श्रीनारायण मिश्र

इस विश्व में विद्या की जितनी विधाएँ हैं उन सबका एक मात्र उद्देश्य मानव को वह शिक्षा देना है जिससे वह सही अर्थ में मानव बन सके अर्थात् अपने को सन्मार्ग पर अभिनिविष्ठ करता हुआ दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दे सके। इस प्रकार की शिक्षा उपदेश यद्यपि सभी शास्त्रों का एक ही है तथापि उपदेश देने के प्रकारों में विविधता के कारण शास्त्रों में भी विविधता आ गई है। वेदादि शास्त्र प्रभुसम्मित उपदेश देते हैं, इतिहास-पुराणादि सुहृत्सम्मित और काव्य-नाटकादि कान्तासम्मित। इनमें प्रभुसम्मित और सुहृत्सम्मित उपदेश उन्हीं के लिए सफल होते हैं जो विनयी हैं, विवेकी हैं। पर ऐसे मानवों की संख्या बहुत छोटी रही है और आज के भौतिक युग में तो यह सर्वथा नगण्य है। इसलिए आज यदि सबसे अधिक उपयोगिता है तो केवल कान्तासम्मित उपदेश की। सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आदरणीय आचार्य विद्यासागरजी ने अपने विलक्षण काव्य 'मूकमाटी' की रचना की है।

इस काव्य के स्वरूप के बारे में यह कहना कठिन है कि यह एक महाकाव्य है या नहीं। परम्परा के अनुसार तो उसे महाकाव्य कहना उचित प्रतीत नहीं होता। किन्तु इसकी प्रबन्धात्मकता के आधार पर इसे एक उच्च कोटि का काव्य तो कहा ही जा सकता है। इसकी विषयवस्तु, जैसा पहले संकेत दिया जा चुका है, पूर्णतः आध्यात्मिक है। कवि के अध्यात्मवाद में विषय-वासना की निन्दा (पृ. ३७, १८६), पद-प्राप्ति में अभिमानजनकता (पृ. ४३४) के कारण असारता और भौतिक जीवन की नीरसता के सुस्पष्ट परिलक्षित होने पर भी पलायनवाद का कोई स्थान नहीं है। कवि स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

"अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं/और
इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव !/अर्थ यह हुआ कि
पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और/पीड़ा की इति ही
सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

इससे निस्सन्देह यह प्रतीत होता है कि इस संसार में रह कर ही मानव इसकी दुःखमयता का अनुभव करता हुआ वह बोध-तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है जिससे दुःख की निवृत्ति (पृ.२९७) होती और अखण्ड सुख की प्राप्ति होती है। यही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। इससे यह स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि में इस संसार के अनुभव इस अन्तर्मुख (पृ. १०९) अनुभव की पूर्वपीठिका है, अतः सांसारिक गतिविधियों से पलायन करने वाला मानव कभी वह अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकता जो उसके अन्तिम लक्ष्य की साधिका हो सके। इसी अन्तर्दृष्टि से मानव स्वतन्त्र बन्धनमुक्त हो सकता है। सम्भवतः कवि की यह भावना औपनिषद-भावना से प्रभावित हो। इसी अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति के लिए कवि ने इसके सभी उपकरणों—परोपकार (पृ. ३८, १६८, २५६ आदि), करुणा (पृ. ३७, २५९, आदि), दान (पृ. ३५४) और भक्ति (पृ. २९९ आदि) प्रभृति लोकोपकारक सद्गुणों का यथावसर प्रतिपादन किया है।

इस कविकर्म की सबसे बड़ी विशेषता है अपने उपदेश के उपादान के रूप में 'मूकमाटी' की उपस्थापना। एक कुशल शिल्पी कुम्भकार अपने कला-कौशल से इस 'मूकमाटी' में ऐसी चेतना का संचार करता है जिसके फलस्वरूप सर्व मंगलकारक 'मंगल-कलश' का प्रादुर्भाव होता है। इस अपूर्व कल्पना के मूल में कवि का उद्देश्य प्रायः माटी को मातृभाव की और कुम्भकार को पितृभाव की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित करना है जिससे मानव-हृदय में इस 'विश्वम्भरा' माटी की अखिल सन्तानों में परस्पर भ्रातृभाव का अभ्युदय हो सके। इसी का संकेत कवि ने निश्छल साम्यभाव के चित्रण

द्वारा (पृ. ३७२) पाठकों के समक्ष किया है जिसकी अन्तिम परिणति स्वच्छ एवं वास्तविक समाजवाद के रूप में निबद्ध है :

"प्रचार-प्रसार से दूर/प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।" (पृ. ४६१)

संक्षेप में, मुझे यही प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य इस कृति द्वारा समाज को यही उपदेश देना है कि वह मिथ्याचार-शून्य होकर विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रचार-प्रसार करे। मेरी दृष्टि में कवि को इस रचना से अपने लक्ष्य की अभिव्यक्ति में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

□

'मूकमाटी' : भारतीय ज्ञान के विवेकपूर्ण पक्ष का उद्घाटन

डॉ. इन्दु प्रकाश पाण्डेय

आभारी हूँ कि आप ने मुझे इस योग्य समझा कि मैं विद्वान् दिगम्बर जैन सन्त आचार्यश्री विद्यासागरजी मुनि द्वारा रचित महाकाव्य 'मूकमाटी' पर कुछ लिखूँ। पुस्तक के मिलने पर मैंने इसका पारायण किया और दो बार श्री लक्ष्मी चन्द्र जैन का 'प्रस्तवन' पढ़ा। इस पुस्तक पर इससे अच्छी समालोचना कोई और कर सकेगा, इसमें मुझे सन्देह है। इस महाकाव्य के पारायण से किसी भी व्यक्ति को सदाचार और गरिमामय मानवीय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिलेगी और भारतीय संस्कृति पर आस्था पैदा होगी। यह रचना अत्यन्त शिक्षाप्रद है और पाठक को भारतीय ज्ञान के विवेकपूर्ण पक्ष से अवगत कराती है। हमारे देश के शताब्दियों के उच्च चिन्तन और मनन को इसमें प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। ऐसा चिन्तन काव्य और महाकाव्य की साहित्यिक कोटियों से ऊपर उठ जाता है। निर्धारित कलात्मक सीमाओं से पृथक् होकर यह काव्य मानवीय मर्यादाओं को उजागर करता है। यह महाकाव्य साहित्यिक आलोचना का विषय नहीं, विवेकपूर्ण एवं उदात्त जीवन की आलोचना का विषय है। अस्तु, मैं इस पुस्तक के अध्ययन के उपरान्त मुनिवर को समस्त विनम्रता के साथ ऐसी दिव्य रचना के लिए प्रणाम करता हूँ।



□

'मूकमाटी' की शब्द-साधना

प्रो. (डॉ.) गणेश प्रसाद

'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी काव्यजगत् की अपूर्व कृति है। सन्त कवि आचार्य विद्यासागर ने इस कृति के माध्यम से विश्व-मानवता को शान्ति, अहिंसा और अनन्त आनन्द का मार्ग दिखाया है। सम्यक् दर्शन,सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के 'त्रि-रत्न' के आधार पर मानव अपने कर्म-बन्धनों का क्षय कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और सच्चरित्रता के आचरण के साथ सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के सहयोग से मानव अपनी आत्मा को भौतिक बन्धनों से मुक्त कर मोक्ष की प्राप्ति करते हुए अनन्त सुख, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य की प्राप्ति करने में सफल होता है। आज भौतिकता की अनपेक्षित महत्ता ने मानव-जीवन को हिंसक, निर्मम, क्रूर, स्वार्थी, संकीर्ण, अविवेकी और अशान्त बना दिया है। मानव अपने लक्ष्य से भटक गया है। आचार्य विद्यासागर ने दिग्भ्रान्त, पथभ्रष्ट तथा जड़ताच्छन्न मानव को 'मूकमाटी' के काव्याध्यात्म से सत्पथ की ओर प्रवृत्त करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'मूकमाटी' के काव्य और अध्यात्म के आनुपातिक दुग्ध-शर्करा-सम्मिलन ने सहृदयों में अनन्त सुख का स्वादानुभव जागरित करने की दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है।

'मूकमाटी' में काव्य के प्रवाह में दर्शन है कि दर्शन के प्रवाह में काव्य या फिर काव्य और दर्शन का संगीतमय प्रवाह--इस तथ्य के सम्यक् परीक्षण का आधार इस काव्य की शब्द-साधना को बनाया जा सकता है। साधना से सोए हुए शब्द जगते हैं, खोए हुए अर्थ शब्दों में वापस आते हैं, आशातीत अर्थ उस मन्त्रित शब्द में अँगड़ाई लेने लगते हैं और पारम्परिक एकप्रणालीय बोझ से बुझे हुए-से शब्द-साधना के जादू से पुनः चमक उठते हैं। कवि के अहं से बद्ध होकर शब्द-साधना केवल चौंध पैदा करती है। कवि का अहं जब 'विश्व अहं' बनता है, तो शब्द-साधना मधुमय दीप्ति बन जाती है जिसमें भागवत ध्वनि की पवित्रता और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की संगीतमय विस्तृति होती है।

प्रस्तुत महान् कृति में आचार्य विद्यासागर की शब्द-साधना चौंध की शब्द-साधना नहीं है, अपूर्व दीप्ति की शब्द-साधना है। यही कारण है कि जैन दर्शन पर लिखी इस महाकृति में कहीं भी काव्य पर दर्शन का अतिक्रमण भासित नहीं होता। दर्शन को रचनात्मक स्तर तक पहुँचाने में आचार्यश्री की शब्द-साधना महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है।

आचार्य विद्यासागर की शब्द-साधना निम्नलिखित भूमिकाओं में परिलक्षित होती है :

(१) शब्द-व्युत्पत्ति के क्रम में उन्होंने दार्शनिक जटिलता को काव्यात्मकता और प्रेषणीयता प्रदान की है :

- *"धरती शब्द का भी भाव/विलोम रूप से यही निकलता है–*
  ध···र···ती ती···र···ध/यानी,/जो तीर को धारण करती है
  या शरणागत को/तीर पर धरती है/वही धरती कहलाती है।
  और सुनो !/'ध' के स्थान पर/'थ' के प्रयोग से/तीरथ बनता है
  शरणागत को तारे सो···तीरथ !" (पृ. ४५२)
- *"कुम्भ की अर्थ-क्रिया/जल-धारण ही तो है/और···सुनो !*
  स्वयं धरणी शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है कि
  ध···र···णी णी···र···ध/नीर को धारण करे···सो···धरणी
  नीर का पालन करे सो···धरणी !" (पृ. ४५३)

(२) निरुक्तों के माध्यम से अन्वेषित दर्शन को रचनात्मक स्वरूप प्रदान किया गया है। 'सरदार' शब्द को कवि ने 'सर-दार' बनाया है। 'सर-दार' का अर्थ हुआ (सर) बुद्धि (दार) वाला।

"वह सर-दार का जीवन/असर-दार कहाँ रहा ?
अब सरलता का आसार भी नहीं,/तन में, मन में, चेतन में।" (पृ. ३८०)

(३) शब्दों का आलंकारिक प्रयोग काव्य को विशदता तथा रमणीयता प्रदान करता है :

"माँ की आँखों में मत देखो/और/अपराधी नहीं बनो/अपरा 'धी' बनो,
'पराधी' नहीं/पराधीन नहीं/परन्तु/अपराधीन बनो !" (पृ. ४७७)

(४) शब्दों का विदग्धतापूर्ण विनियोग अर्थव्यंजना को विस्तृत करता है :

"भुक्ति की ही नहीं,/मुक्ति की भी/चाह नहीं है इस घट में
वाह-वाह की परवाह नहीं है/प्रशंसा के क्षण में।
दाह के प्रवाह में अवगाह करूँ/परन्तु,/आह की तरंग भी
कभी नहीं उठे/इस घट में···संकट में।" (पृ. २८४)

चिह्नित शब्दों में ध्वनि की तरंगायित गति पर अर्थों का भार है।

(५) प्रतीकों और बिम्बों की सृष्टि में आचार्यजी की शब्द-साधना अप्रतिम है :

"और देखो ना !/माँ की उदारता-परोपकारिता/अपने वक्षस्थल पर
युगों-युगों से···चिर से/दुग्ध से भरे/दो कलश ले खड़ी है
क्षुधा-तृषा-पीड़ित/शिशुओं का पालन करती रहती है/और
भयभीतों को, सुख से रीतों को/गुपचुप हृदय से
चिपका लेती है पुचकारती हुई।" (पृ. ४७६)

(६) आचार्यजी के द्वारा प्रयुक्त शब्द व्यंजना की अनेक सम्भावनाओं के द्वार खोलते हैं।

(७) जीवन-सत्य और अनुभूत यथार्थ को सूत्रात्मक रूप में प्रस्तुत कर आचार्यजी ने अपनी शब्द-साधना की प्रवीणता प्रदर्शित की है।

(८) आचार्यजी ने जीवनानुभव को वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक, क्षुद्र काल-खण्ड से कालातीत और संकीर्ण स्थल से विस्तीर्ण सार्वदेशिकता प्रदान की है। इसमें इनकी शब्द-साधना ने इनकी भरपूर सहायता की है।

(९) कविवर विद्यासागर की शब्द-साधना स्वेटर पर उगाए गए फूल की तरह है जिससे स्वेटर की उपादेयता में अभिवृद्धि हो जाती है। स्वेटर शारीरिक सुख के साथ मानसिक तृप्ति भी प्रदान करता है।

"सलिल की अपेक्षा/अनल को बाँधना कठिन है/और
अनल की अपेक्षा/अनिल को बाँधना और कठिन।/परन्तु,
सनील को बाँधना तो···/सम्भव ही नहीं है।" (पृ. ४७२)

आचार्यजी के वैचारिक कथ्य शब्दों की उपयुक्त विन्यस्ति के कारण ही मस्तिष्क की रेखा पार कर हृदय की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं।

(१०) इनके शब्द शास्त्र से सम्पृक्त होकर भी शास्त्रीय नहीं, काव्यीय हैं, क्योंकि इन्होंने शास्त्र में आत्मानुभव का तारल्य समाविष्ट किया है :

"परीक्षा के बाद/परिणाम निकलता ही है/पराश्रित-अनुस्वार, यानी
बिन्दु-मात्र वर्ण-जीवन को/तुमने ऊर्ध्वगामी ऊर्ध्वमुखी/जो
स्वाश्रित विसर्ग किया,/सो/सृजनशील जीवन का
अन्तिम सर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

(११) जीवन के मार्मिक पक्षों को उद्घाटित करने में इनके शब्द सर्वथा समर्थ हैं।

(१२) शब्द और अर्थ आपसी द्वन्द्व की अन्तिम सीमा पर अभिव्यक्ति के लिए एक-दूसरे पर समर्पित होकर आपस में सन्धि करते हैं--शब्द विजयी हो जाता है और अर्थ अपराजित रह जाता है।

(१३) अक्षर-अक्षर में शब्दत्व की अनुगूँज पैदा करने तथा उस शब्दत्व में अर्थतत्त्व की अनेकान्त सामर्थ्य भरने में इनका कोई जोड़ नहीं।

(१४) इनकी शब्द-साधना सम्पूर्ण काव्य-साधना का पर्याय है।

(१५) इनके शब्द-विनियोग का चातुर्य कहीं भी प्रेषणीयता को अवरुद्ध नहीं करता।

(१६) शब्दों का नवीन व्याकरणीय प्रयोग तथा ब्रजभाषा के अव्ययों के प्रयोग से भाषा में अपूर्व मार्दव की सृष्टि हुई है :

"सर्व-प्रथम चाव से/तट का स्वागत स्वीकारते हुए
कुम्भ ने तट का चुम्बन लिया।/तट में झाग का जाग है।" (पृ. ४७९)

'जाग' में जागरित होने का भाव है। यह नवीन प्रयोग है। इसी प्रकार :

"घट में जब लौं प्राण/डट कर प्रतिकार होगा इसका।" (पृ. ४७०)

(१७) देशज शब्दों और मुहावरों का सरस चमत्कारिक प्रयोग कर आचार्यजी ने अर्थ में सांस्कृतिक सुवास अधिष्ठित की है। इससे काव्यात्मक सृजनशीलता की अभिवृद्धि हुई है।

(१८) शब्द-क्रीड़ा से भावानुभूति की प्रेषणीयता को प्रायः ठेस नहीं पहुँची है। हाँ, यह अवश्य हुआ है कि कहीं-कहीं शब्द-क्रीड़ा ने कवि को अपने जाल में इस तरह फँसाया है कि उससे उबरने के लिए कवि को काफ़ी मेहनत करनी पड़ी है। फलस्वरूप काव्य में गाम्भीर्य के स्थान पर नीरस विस्तार का समावेश हो गया है। तैलीय ज्वलन के स्थान पर तैलीय गन्ध के आगम ने इनकी इस महान् कृति में कहीं-कहीं काव्यात्मकता के मार्ग में अड़चनें डाली हैं। पर, ऐसे स्थल बहुत कम हैं। यह सम्पूर्ण महाकाव्य तैलीय जलन और ऊर्जा का महाकाव्य है, तैलीय गन्धपूर्ण अनावश्यक विस्तार का नहीं। कहना नहीं होगा कि यह सब आचार्यजी की शब्द-साधना का ही परिणाम है।

(१९) आधुनिक बोध से इन्होंने अपने शब्दों को विचार प्रवणता और रसवत्ता प्रदान की है :

- *"भीड़ की पीठ पर बैठकर/क्या सत्य की यात्रा होगी अब !*
  नहीं···नहीं, कभी···नहीं।" (पृ. ४७०)

- *"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !/और/लोभ के वशीभूत हो*
  अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा
  धनहीनों में/चोरी के भाव जागते हैं /जागे हैं।
  चोरी मत करो, चोरी मत करो/यह कहना केवल
  धर्म का नाटक है/उपरिल सभ्यता···उपचार !" (पृ. ४६७)
- *"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती*
  धरती यह।" (पृ. ४४१)

(२०) यह आचार्य विद्यासागरजी की काव्य-साधना (शब्द-साधना) का ही परिणाम है कि इन्होंने 'दृष्टि' को स्वाद्य बनाया है :

"रावण ने सीता का हरण किया था/तब सीता ने कहा था :
यदि मैं/इतनी रूपवती नहीं होती/रावण का मन कलुषित नहीं होता
और इस/रूप-लावण्य के लाभ में/मेरा ही कर्मोदय कारण है,/यह जो
कर्म-बन्धन हुआ है/मेरे ही शुभाशुभ परिणामों से !
ऐसी दशा में रावण को ही /दोषी घोषित करना
अपने भविष्य-भाल को/और दूषित करना है।"(पृ. ४६८-४६९)

(२१) महाकवि आचार्य विद्यासागरजी की शब्द-साधना पर महान् आश्चर्य तब होता है जब हमें यह पता चलता है कि इन्होंने अक्षर-अक्षर में शब्द की अर्थ-झंकार अन्वेषित की हैं, शब्द-शब्द में अभिव्यक्ति की तान ढूँढ़ी है और वाक्य-वाक्य में पूरे जीवन-दर्शन को समाहित किया है। इनकी व्युत्पत्तिपरक एवं निरुक्तिपरक काव्यात्मकता में इस तथ्य को भलीभाँति देखा जा सकता है।

कुछ अव्याकरणीय शब्द-प्रयोग कहीं-कहीं अवश्य खटकते हैं। पृ. ४३९ पर 'मूसलाधार' को 'मूसलधार' होना चाहिए, पृ.४३८ पर 'तामसता' की जगह 'तमस' होना चाहिए तथा पृ. ४८२-४८३ 'सृजनशील' के स्थान पर 'सृजनशील' होना चाहिए।

(२२) शब्द-प्रयोगों के विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि आचार्यजी पहले कवि हैं और बाद में सन्त। अभिव्यक्ति के स्तर पर मैं जब 'मूकमाटी' की समीक्षा करता हूँ, तो आचार्यजी पहले दार्शनिक के रूप में आते हैं और बाद में कवि के रूप में। जब मैं 'मूकमाटी' का समग्र अध्ययन करता हूँ तो आचार्यजी दार्शनिक-सन्त कवि के रूप में हमारी प्रतिष्ठा के अधिकारी होते हैं।

आचार्यजी की दृष्टि कविता के सहारे सहृदयों तक पहुँचती है और इनकी कविता दृष्टि के सहारे सहृदयों को आन्दोलित करती है। इसके पीछे इनकी शब्द-साधना का अपरिहार्य सहयोग है।



□

'मूकमाटी' : एक सन्त की काव्य यात्रा

प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन

आचार्यश्री विद्यासागरजी एक उत्कृष्ट सन्त तो हैं ही, एक कुशल कवि, वक्ता और विचारक भी हैं। उनकी अनेक कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं। उनमें से आचार्य कुन्दकुन्द आदि जैनाचार्यों के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों के हिन्दी पद्यानुवाद तथा कुछ प्रवचन संकलन काफी चर्चित और लोकप्रिय हुए हैं। 'नर्मदा का नरम कंकर', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी', 'तोता क्यों रोता ?' आदि अब तक के उनके प्रकाशित कविता संकलन हैं। यह अधुनातन कृति 'मूकमाटी' उनकी अद्यतन काव्य यात्रा का एक स्वर्णिम पड़ाव है।

काव्यरुचि और साहित्यानुराग उन्हें विरासत में मिला है। उनके दीक्षा गुरु आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज स्वयं एक मेधावी कवि थे। उनके द्वारा रचित 'वीरोदय', 'दयोदय', 'जयोदय' आदि काव्यग्रन्थों ने जैन संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। आचार्यश्री विद्यासागर के कण्ठ में भी सरस्वती का निवास है। इसे गुरु का वरदान कहें या पूर्व-पुण्योदय कि जिसके प्रभाव से उनके बोलने, गुनगुनाने तथा यहाँ तक कि चलने और उठने-बैठने में भी एक लय अनुस्यूत है। लय का कविता के साथ अटूट रिश्ता है। छन्द या कविता वही सफल है, जो लय से नियन्त्रित हो।

गद्य तो कोई भी लिख सकता है किन्तु कविता लिखना सबके वश की बात नहीं है। इसके लिए चाहिए विशेष शब्द-संयोजन-कुशलता, कल्पनाशीलता, पाण्डित्य और प्रतिभा का एकरस योग। इस कृति में ऐसे योग का सर्वोत्तम उपयोग दिखाई देता है।

'मूकमाटी' को एक महाकाव्य की संज्ञा दी गई है। सम्भव है कि महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह इसमें नहीं हुआ हो किन्तु आह्लादजनक अमृत के समान अविवेक रूप रोग का अपहारक होने से इसके काव्यतत्त्व में शंका के लिए कोई स्थान नहीं है। महाकाव्य का आधार प्रायः प्रथमानुयोग होता है अर्थात् उसकी कथावस्तु किसी महापुरुष के चरित्र से सम्बद्ध होनी चाहिए। इसमें किसी युगपुरुष का जीवन वृत्तान्त तो नहीं है किन्तु युग सत्य (मानवीय जीवन-मूल्यों एवं गुण सम्पदा) से साक्षात्कार अवश्य होता है। इसका फलक बहुत विस्तृत है, जो लगभग ५०० पृष्ठों में फैला हुआ है तथा सम्पूर्ण कृति चार खण्डों में विभाजित है। विद्वान् 'प्रस्तवन' लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के शब्दों में : ''परिमाण की दृष्टि से तो यह ग्रन्थ महाकाव्य की सीमाओं को छूता ही है।'' ''त्रिवर्गफलसन्दर्भ महाकाव्यं तदिष्यते'' (आदिपुराण-जैनाचार्य श्री जिनसेन स्वामी, १/९९) के अनुसार इसमें धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग का वर्णन होने से भी इस कृति को महाकाव्य माना जा सकता है।

धर्म-दर्शन का एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि हर प्राणी में उत्थान-पतन की अनन्त सम्भावनाएँ छिपी रहती हैं। बीज में वृक्ष की भाँति क्षुद्र में विराट् अर्थात् आत्मा में परमात्मा के दर्शन करने वाला कवि ही सही अर्थों में ''जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'' की कहावत को चरितार्थ करता है। 'मूकमाटी' में भी माटी को प्रतीक बनाकर आत्मा से परमात्मा बनने की अपूर्व और अश्रुतपूर्व कला का मार्मिक कथन किया गया है।

जिस तरह मिट्टी में मंगल घट बनने की योग्यता रहती है, उसी तरह हर आत्मा में भी परमात्मा बनने की सम्भावना निहित है किन्तु मंगल घट का आकार पाने से पहले मिट्टी को कठोर साधना के मार्ग से गुज़रना पड़ता है। टीले में वह अशुद्ध दशा में स्थित रहती है। उसमें विजातीय तत्त्व कंकर आदि मिले रहते हैं। अशुद्धि निवारण की प्रारम्भिक भूमिका में उसे कुम्भकार की सहायता की अपेक्षा रहती है। वह उसे खोदता, छानता है और उसमें से कंकरों को अलग करता है। इतने पर भी मिट्टी को स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। इसके लिए उसे पानी में भीगने, गूँधे/मसले जाने, चाक

पर चढ़ने, अवा की आग में तपने आदि की तीव्र व्यथाओं में से होकर गुज़रना होता है। जब इन सारी प्रतिकूलताओं में भी मिट्टी अपने सहज समताभाव से च्युत नहीं होती, तब उसमें शीतल जलधारण की योग्यता प्रकट होती है और उसका जीवन हो उठता है सफल/सार्थक उस दिन, जिस दिन वह नगर सेठ के हाथों आहार-चर्या के लिए पधारे मुनिराज के पाद-प्रक्षालन तथा तृषा-तृप्ति में निमित्त बनता है। इस प्रकार घट की विकास कथा के माध्यम से सन्त कवि ने भवसागर से पार होने की सम्पूर्ण प्रक्रिया को ही शब्दायित किया है।

'प्रस्तवन' में प्रस्तुत कृति को 'आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि' तथा 'आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र' निरूपित किया गया है। यह ठीक ही है। उपलब्धि तो इस अर्थ में कि अध्यात्म के ताने-बाने पर इतनी रम्य और रोचक रचना इसके पूर्व देखने में नहीं आई तथा शास्त्र इस अर्थ में कि इसमें जैन दर्शन के मूल तत्त्वों का रसात्मक चित्रण एवं निमित्त और उपादान, नियति और पुरुषार्थ, पाप और पुण्य, सृष्टि कर्तृत्व और कार्य-कारण-व्यवस्था जैसी गुत्थियों का सहज समाधान प्रस्तुत हुआ है। कवि ने सर्वत्र पुरुषार्थ पर जोर दिया है तथा उसके अनुसार पुरुषार्थ का फल है ज्ञान-चेतना का निर्मल होना। ज्ञान की निर्मलता का स्वरूप इन पंक्तियों में कितने सहज रूप से व्यक्त हुआ है :

"ज्ञान का पदार्थ की ओर/ढुलक जाना ही/परम आर्त पीड़ा है,
और/ज्ञान में पदार्थों का/झलक आना ही/परमार्थ क्रीड़ा है।" (पृ. १२४)

पूरी कृति में ऐसे सूत्र सर्वत्र बिखरे पड़े हैं।

शब्दालंकार और अर्थालंकारों की छटा तो यत्र-तत्र देखते ही बनती है। कवि का उक्ति-वैचित्र्य तो कमाल का है। शब्दों पर उसकी पकड़ कितनी गहरी है, इसका परिचय पाने के लिए मात्र दो-चार संक्षिप्ततम उद्धरण प्रस्तुत हैं :

कामना : *"यही मेरी कामना है/कि/बस इस घट में/काम ना रहे !" (पृ. ७७)*

रसना : *"मुख से बाहर निकली है रसना/थोड़ी-सी उलटी-पलटी,*
कुछ कह रही-सी लगती है—/भौतिक जीवन में रस ना !" (पृ. १८०)

आदमी : *"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है*
जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)

नारी : *"...नारी/यानी—/'न अरि' नारी···*
अथवा/ये आरी नहीं हैं/···सो···नारी।" (पृ. २०२)

गदहा : *"गद का अर्थ है रोग/हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ*
···बस,/और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

'मूकमाटी' में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। शब्दों की विलोम शक्ति का भी कवि विशेषज्ञ है। 'खरा' में से 'राख', 'राही' में से 'हीरा', 'याद' में से 'दया', 'लाभ' में से 'भला' आदि कुछ ऐसे ही नमूने हैं।

आज की सामाजिक विषमता/विद्रूपता भी कवि की कलम से अछूती नहीं रह सकी है। उसका स्पष्ट उद्घोष है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह।" (पृ. ४४१)

आतंकवाद के निवारण के उपाय तथा बहुविश्रुत समाजवाद की व्याख्या से कवि की समीचीन दृष्टि का परिचय मिलता है। बढ़ती हुई धन-संग्रह की हवस पर भी करारी चोट करते हुए अन्धाधुन्ध संकलित का समुचित वितरण किए जाने की प्रेरणा दी गई है। वैवाहिक विकृतियाँ भी उसकी निगाह से ओझल नहीं हैं। दहेज लोलुपों द्वारा पाणिग्रहण को प्राण-ग्रहण का रूप देने पर खेद व्यक्त किया गया है। सन्त-समागम से संसार का अन्त मानने वाले मनीषी को बढ़ते हुए साधु शिथिलाचार को देख कर यह लिखने के लिए विवश होना पड़ा है :

- *"कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं/होश के श्रमण होते विरले ही।" (पृ. ३६१)*
- *"नाम-धारी सन्त की उपासना से/संसार का अन्त हो नहीं सकता।" (पृ.३६३)*

सम्पूर्ण कृति शान्त रस से सिंचित है। नव रसों की मौलिक परिभाषाएँ अद्भुत हैं। वीर, हास्य और शृंगार रस की व्याख्याएँ पढ़कर कवि-प्रज्ञा पर आश्चर्य-सा होता है। करुण रस को वह जीवन का प्राण, वात्सल्य को जीवन का त्राण तथा शान्त रस को जीवन का गान मानता है और अन्त में पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि सब रसों का अन्त होना ही शान्त रस है तथा रसों में वह रस-राज एवं रस-पाक है।

'मूकमाटी' आत्मा का संगीत है। सहज, शुद्ध, चैतन्य के उपासकों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए। सन्त्रास, तनाव और क्लेश से मुक्ति पाने के लिए कथनी और करनी के अन्तर को मिटाना होगा। इसके लिए 'मूकमाटी' मूक होकर भी मुखर है। ऐसे बोधगम्य एवं कलात्मक प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ बधाई की पात्र है।

[सम्पादक- 'जैन गज़ट' (साप्ताहिक), लखनऊ-उत्तरप्रदेश, २६ जनवरी, १९८९]



'मूकमाटी' : समझ और आचरण की कविता

प्रो. बी. वै. ललिताम्बा

मैंने इधर कुछ दिनों से 'मूकमाटी' का बड़े चाव से अध्ययन किया है। इस काव्य को मैंने बार-बार पढ़ा है, एक ऐसा आकर्षण और सम्मोहन इस रचना में पाया है कि अपने आप यह पढ़ी जाती है। एक प्रकार का अनूठा काव्य है।

'मूकमाटी' मात्र काव्य नहीं, एक महाकाव्य है, जिसका कारण यह है कि यह मिट्टी पर जीने वाले मानवों को एक मूक सन्देश देती है। कोई भी मानव इस आदर्श के वृत्त से अछूता नहीं होता। यही कारण है कि इस कृति की विशेषता है कि इस काव्य की धारा में कोई मृत्तिका पात्र नायक या नायिका बनकर प्रस्तुत नहीं होता, किसी के जीवन की कोई कहानी आधार नहीं बनती। अथाह सागर के प्रवाह में लहरों के बीच से उठने वाले अनगिनत जीवों की तरह इस संसार का हर जीव परोक्ष रूप से इसका पात्र बनता है।

इस प्रकार 'मूकमाटी' पात्र रहित एवं बिना कथावस्तु के प्रवाहित होने वाला एक रसपूर्ण काव्य है। मगर फिर भी इसमें एक आत्मिक संवाद निरन्तर संचालित है जो धरा, माटी, शिल्पकार एवं मछली के प्रतीकों में प्रतिबिम्बित है। प्रकृति के आवरण में यह संवाद आवृत है। कोई भी अलौकिकता इसके साथ जुड़ी नहीं है, न ही कोई कहानी है। मगर काव्य की सरिता इस पूरे काव्य में झरती है। भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर कोई सिद्धान्ती छात्र 'मूकमाटी' को लेकर चर्चा नहीं कर सकता। वह इसलिए कि 'मूकमाटी' अपने उद्देश्यों के कारण एक संकेतात्मक रचना है। एक उदासीन जैन मुनि की रचना है जिसमें कृति का इस संसार से लगाव जीव मात्र के व्यक्तित्व के उद्धार के प्रति है। एक आदर्श की आशा इसकी सरहद में है। और यह आदर्श व्यक्तित्व निर्माण के लिए है, एक सुखी और शुद्ध जगत् को बनाने के लिए है।

आदर्श की कल्पना साधारणतया थोथी कल्पना होती है जिस कारण यह सिद्धान्तों के स्तर पर दिखावा बनकर असफल होती है, वहीं 'मूकमाटी' मूक होकर भी जीवन को बनाने की ओर अग्रसर होती है। एक मानसिक साधना पर यहाँ बल दिया गया है जो मनुष्य को एक दृढ़ व्यक्तित्व प्रदान करती है।

'मूकमाटी' की एक और विशेषता यह है कि यह एक साधक की साधना से परिपूरित फल है जिसमें असम्भाव्य की परिभाषा नहीं हो सकती। साथ ही किसी जाति या धर्म विशेष के लिए इसमें कोई सीमित सन्देश नहीं, अपितु मानव मात्र के लिए एक आचार संहिता है जो इस काव्य को सामान्य की कोटि से महानता के शिखर पर पहुँचाती है। यही कारण है 'मूकमाटी' का कलेवर सांकेतिक और चिन्तना से पूर्ण शीर्षकों में आबद्ध है।

सम्पूर्ण काव्य चार विशिष्ट खण्डों में संयोजित है– 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन'; 'अग्नि-परीक्षा : चाँदी-सी राख'। इन शीर्षकों में हम जीवन की मानसिक अवस्था के चार स्तरों के भी दर्शन कर सकते हैं। अन्तिम स्तर, मानसिक परिपक्वता का है जिसे कवि ने सार्थक शब्दों में चाँदी-सी राख में अग्नि-परीक्षा के माध्यम से सम्बोधित किया है।

आरम्भ का खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' है। सूर्योदय और चन्द्रमा के विलय के दृश्य वर्णन के साथ 'मूकमाटी' का शुभारम्भ हुआ है। भानु अपनी माँ की मार्दव गोद में लेटा है और करवटें ले रहा है। प्रकृति के दैनंदिन दृश्य के चिन्तन में पाठक सराबोर होकर जैसे ही आगे बढ़ता है– मैं यहाँ पर ध्यान दिलाना चाहती हूँ कि कवि किस प्रकार प्रकृति के जीवों को प्रकृति के साथ जोड़ते हुए एक एकात्म वलय में पाठक को पिरोते हैं– तथा जन्म के साथ

जुड़ने वाले स्वभाव, उसके आकार एवं विकृति के विनाश का विश्लेषण सहज रूप से करते हुए आगे बढ़ते हैं। चन्द्रमा के ओझल होने के साथ रात्रि बीतती है, कुमुदिनी मुरझाती है, सूर्योदय के साथ कमलिनी विकसित होती है। पुरुष एवं प्रकृति के मिलन में भारतीय सांस्कृतिक परिवेश और समाज-रचना का आवरण—जिसमें स्व-पर की कल्पना का एक सुन्दर दृश्य प्रस्तुत होता है—कवि इसमें एक मानसिक क्रिया 'ईर्ष्या' के जन्म की ओर इशारा करते हैं और परोक्ष रूप से ही सही, उस पर विजय पाने को प्रेरित करते हैं :

"ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं।" (पृ.२)

कवि इस सम्बन्ध में अपने शब्द भण्डार का पूरी मात्रा में उपयोग भी करते हैं। सूर्य के अनेक नाम जो उसके विभिन्न सन्दर्भों से और क्षणों से जुड़े हैं, स्पष्ट हो उठते हैं— जिस 'भानु' को शिशु के रूप में सम्बोधित किया, वही 'प्रभाकर' बन अपने कर-छुवन से कुमुदिनी को बन्द करते हैं, तारिकाएँ उसी 'दिवाकर' की आँखों से बचकर निकलती हैं।

भारतीयता के आवरण में बालाएँ अभी तक अबलाएँ हैं। कवि के शब्दों में *"अबला बालायें/...अपने पतिदेव/चन्द्रमा के पीछे-पीछे हो/छुपी जा रहीं।" (पृ. २)*। इस दृश्य को कवि प्रकृति की क्रिया में समाहित होते हुए पाते हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के इतिहास की विकासधारा की लकीर खींचते हुए उसकी पृष्ठभूमि में अपने काव्य का आरम्भ करते हैं। मेरा तात्पर्य है कि सर्वप्रथम 'मूकमाटी' एक भारतीयता का काव्य है।

इस सन्दर्भ में कवि के द्वारा प्रयुक्त भाषा के सम्बन्ध में भी दो बातें कहना उचित होगा। सांस्कृतिक काव्य होने से संस्कृत की शब्दावली का आधार लेने के बाद भी कवि सामान्यजन तक अपना सन्देश पहुँचाने हेतु जन-जीवन से जुड़े शब्द माटी, कुम्भकार आदि को अपनाते हैं। एक प्रकार से संस्कृत, हिन्दी या जनभाषा का सामंजस्य यहाँ है। काव्य-शैली तो मुक्त-प्रवहिणी है ही।

कवि के द्वारा दिए गए शीर्षक पर भी यहाँ थोड़ी-सी चर्चा कर लेना ठीक होगा। कवि के अनुसार :

"वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से/वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।
यानी !/जिसे अपनाया है/उसे/जिसने अपनाया है/उसके अनुरूप
अपने गुण-धर्म—/···रूप-स्वरूप को/परिवर्तित करना होगा
वरना/वर्ण-संकर-दोष को/वरना होगा !" (पृ. ४७-४८)

सम्भव है पाठक इस अनुरूपता का व्यतिरेकी अर्थ ग्रहण करें। अतः कवि इसे आगे बढ़कर और स्पष्ट करते हैं:

"नीर की जाति न्यारी है/क्षीर की जाति न्यारी,/दोनों के
परस-रस-रंग भी/परस्पर निरे-निरे हैं/और/यह सर्व-विदित है,
फिर भी/यथा-विधि, यथा-निधि/क्षीर में नीर मिलाते ही
नीर क्षीर बन जाता है।" (पृ. ४८)

उनके अनुसार :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है

इससे यही फलित हुआ,/अलं विस्तरेण !" (पृ. ४९)

यहाँ सब रूप में 'अलं विस्तरेण' कार्य प्रवृत्त है। व्यक्ति या जीव के दृष्टि विकास और व्यक्तित्व विस्तार के लिए एक मार्गदर्शन है।

कवि इस बीच समाज की रीति, नीतियों को कई बार स्पर्श करते हैं। समाज में लोग परस्पर गिराते और पद-दलित करते हैं। इसके साथ व्यक्ति स्वयं हीनभावना के कारण तड़पता है। माटी के माध्यम से कवि कहते हैं :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
"'अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !
सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !/इसकी पीड़ा अव्यक्ता है।" (पृ. ४)

कवि समाज के इस स्तर भेद को दूर करने के प्रति चिन्तित हैं। माटी पूछती है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की/च्युति कब होगी ?
बता दो, माँ''' इसे !/इसका जीवन यह/उन्नत होगा, या नहीं ?" (पृ. ५)

इस प्रश्न पर साधक का विश्वास अटल है। सत्ता की शाश्वतता पर उसकी पूरी श्रद्धा है। धरा कहती है– 'सत्ता शाश्वत होती है, उसकी गन्ध का अनुपान करना होगा। वही जलधारा जो उजली-उजली बादलों से झरती है, धरा-धूल में आ धूमिल हो, दल-दल में बदल जाती है।' इसीलिए कवि संगति के महत्त्व पर जोर देते हैं। 'वही जलधारा जो नीम की जड़ों में जाकर कटुता में ढलती है, सागर में जाकर लवणाकर कहलाती है, विषधर के मुँह में जाकर हाला में ढलती है और सागरीय शुक्तिका में गिरी, यदि स्वाति का काल हो, मुक्तिका बन कर झिलमिलाती है।' संगति और काल या क्षण दोनों के महत्त्व को कवि स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार वे कहते हैं :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है
मति जैसी, अग्रिम गति/मिलती जाती'''मिलती जाती'''
और यही हुआ है/युगों-युगों से/भवों-भवों से !" (पृ. ८)

युग और भव का उच्चारण करते समय स्पष्ट ही कवि का साधना के सत् परिणामों के प्रति एक अदमनीय विश्वास झलकता है और उससे पाठक या जीव को एक सत् प्रेरणा प्राप्त होती है। कवि के शब्दों में ही उद्धरण देने पर :

"'''जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।" (पृ. ९)

परिणाम यह होता है–"*सार्थक जीवन में तब/स्वरातीत सरगम झरती है।*" वास्तव में देखा जाए तो लघुतम नाम की कोई चीज़ नहीं होती। साधना का महत्त्व है और साधना में प्रभु को गुरुतम मानना ज़रूरी है। सत्य क्या है – "*असत्य की सही पहचान है।*" जड़ मजबूत हो तभी तो चूल पर फूल खिलेगा और यह सुदीर्घकालीन परिश्रम का फल होता है।

'मूकमाटी' की एक और विशेषता है कि उसमें न कोई कथा-प्रवाह है, न ही कथात्मक उदाहरण। भारतीय

काव्यशास्त्र की धारा में एक आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथा सामग्री अनिवार्य रूप से प्रकट होती है। यहाँ पर 'मूकमाटी' में एक महाकाव्यात्मक धारा है, एक वैचारिक आग्रह है, एक अनुभव सहज या अनुभव प्राप्त आदर्श का तथ्य है।

कवि साधना के महत्त्व पर ज़ोर देते हैं। उससे प्राप्त होने वाले परिणाम का इन शब्दों में चित्रण हुआ है : *"मीठे दही से ही नहीं,/खट्टे से भी/समुचित मन्थन हो/नवनीत का लाभ अवश्य होता है"(पृ. १३-१४)।*

सम्प्रेषण की सफलता पर कवि का दृढ़ विश्वास है। वे उसे सद्भावों की पौध पुष्ट-सम्पुष्ट करने वाली मानते हैं, जिसके लिए अहिंसक पगतली को आवश्यक मानते हैं। उनका अखण्ड विश्वास है :

"संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियम रूप से/हर्षमय होता है।" (पृ.१४)

कवि को अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है जिससे वे शब्द संचालन का पूरा-पूरा सदुपयोग करते हैं। उक्ति-प्रत्युक्ति तथा अक्षर-साम्य-प्रत्युक्ति शैली का सम्पूर्ण काव्य में सफल रूप से प्रयोग करते हैं। इससे सामान्य श्रोता एवं पाठक भी 'मूकमाटी' के सन्देश को सहज रूप से ग्रहण करता है तथा साधना से जुड़ता है। पात्रों के सांकेतिक स्वरूप के चयन के सन्दर्भ में एक बार फिर यहाँ पर उल्लेख करना सार्थक होगा।

'कुम्भकार' या शिल्पी की कल्पना का स्वरूप देखिए– " 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य–/यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है" (पृ. २८)।

आरम्भिक अवस्था में ओंकार को नमन करने से उसके अहंकार का वमन वहीं पर हो जाता है।

'माटी' दया-ममता की मूर्ति है। अपने ऊपर पड़ने वाले प्रहार वह खुशी-खुशी से सह लेती है और बोरी में भरे जाने पर दुल्हन-सी शरमाती हुई झाँकती है। मिट्टी के माध्यम से पीड़ा की सहज मान्यता मनुष्य जीवन में प्राप्त होती है और परदुःख-कातरता का महत्त्व भी स्पष्ट होता है।

"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और
पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

बोरी की रगड़ से गधे की पीठ छिल जाती है। उसमें भारी मिट्टी अपने को निमित्त कारण मानकर दुःखी होती है। वह इसलिए :

"हृदय-वती आँखों में/दिवस हो या तमस्/चेतना का जीवन ही
झलक आता है,/भले ही वह जीवन/दया रहित हो/या दया सहित।/और
दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ. ३७)

दया के प्रति लोगों की एकान्त धारणा है। अतः इसका निषेध करते हुए कवि करुणा की श्रेष्ठता को उजागर करते हैं। 'मूकमाटी' से स्वयं स्फूर्त हो निम्न पंक्तियाँ निकलती हैं :

"दया-करुणा निरवधि है/करुणा का केन्द्र वह/संवेदन धर्मा···चेतन है
पीयूष का केतन है।/करुणा की कर्णिका से/अविरल झरती है
समता की सौरभ-सुगन्ध;/ऐसी स्थिति में/कौन कहता है/कि
करुणा का वासना से सम्बन्ध है!" (पृ. ३९)

कवि सामाजिक जीवन दर्शन को प्रस्तुत करते हुए एक सामाजिक सहज समता की भावना के उद्‌भाव की ओर पाठक को इस प्रकार प्रेरित करते हैं तथा करुणा के साथ वासना के सम्बन्ध को इनकार करके संसार के श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक विचारकों को भी इस सम्बन्ध में दुबारा चिन्तन करने के लिए चुनौती करते हैं।

'वर्ण' की जड़ मानव समाज में इतनी मजबूत है कि हम मानवीयता से कई बार दूर हो जाते हैं। 'मूकमाटी' का शिल्पी 'सम-वर्ण-संकर' को प्रतिष्ठापित करता है। उसके अनुसार व्यावहारिक जीवन में वर्ण का मतलब :

"वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से/वरन्
चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

ध्यान देने की बात यह है कि सहज शब्दों से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्‌घाटन यानी सुखी समाज को देखने के लिए आचरण की शुद्धता का द्वार खोल दिया गया है। इस जगत् में कंकड़ जैसे कठोर व्यक्ति भी होते हैं, जिनका मिट्टी से मिलाप नहीं होता, जैसे :

"दूसरों का दुःख-दर्द/देखकर भी/नहीं आ सकता कभी
जिसे पसीना/है ऐसा तुम्हारा/···सीना!" (पृ. ५०)

उसको माटी से प्राप्त आदर्श इस प्रकार है :

"लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।" (पृ. ५१)

कवि और साहित्यकार साधारणतया कथावाचक होते हैं। कथा का माध्यम ग्रहण करते हुए सत्‌युग की कल्पना में ले जाकर पाठक को अतीत के सत्य-सुन्दर-शिवमय जगत् में आज के युग का दर्शन कराता है। कथन क्रम में एक अतीत की सम्भाव्यता और वर्तमान के यथार्थ की तुलनात्मकता एवं भविष्य के आदर्श की सम्भाव्यता की कड़ी जुड़ती है। महाकाव्य की धारा में इसी को आरम्भ, मध्य तथा अन्त के चौखट में परखा जाता है। इसी कारण प्रायः भारतीय प्राचीन काव्यधारा में हमें आकर्षित करने वाले धीरोदात्त, धीर ललित और धीर शान्त नायक दिखाई देते हैं। तदनुसार नायिकाएँ, उपनायक आदि के दर्शन होते हैं, सन्धियाँ होती हैं, प्रदेश भेद के अनुसार रीतियाँ होती हैं। जीवन के उस बृहद् दर्शन में प्रासंगिक कथावर्णन आते एवं तिरोहित होते हैं। अठारह अध्यायों की बृहद् मंजरी होती है।

'मूकमाटी' में ये सब कुछ नहीं हैं। पात्र मूर्तिमान् नहीं हैं। समाज के किसी वर्ग के वह प्रतिनिधि नहीं हैं। धरा, मिट्टी और उसको गढ़ने वाला कुम्भकार शब्दों के चयन के आधार पर वे स्त्री लिंगी और पुल्लिंगी हैं, मगर आचरण और व्यवहार दोनों के लिए समान हैं। सदाचरण का महत्त्व है।

कथा-प्रवाह का क्या कहें ? कथा है नहीं, मगर जीवन की धारा और यहाँ के व्यवहारों की सत्यता से इनकार भी नहीं है। उसके फलस्वरूप परिणामों पर ध्यान देते हुए सदाचरण को सम्बल देना चाहिए।

'महाकाव्य' के आठ/अठारह अध्याय एवं बन्ध 'मूकमाटी' में आपको कहीं नहीं मिलते। कवि का अपना मुक्त छन्द है जो हिन्दी की नई कविता की शैली में बनता जाता है। अध्याय सांकेतिक हैं। हर अध्याय का शीर्षक है और शीर्षक में अर्थगर्भित तथ्य है। यह समझ और आचरण की कविता है। अतः जीवन के चार आश्रम और अवस्थाओं की तरह पूरा काव्य-बन्ध चार खण्डों में बँटा है।

कवि प्रकृति की सन्धिवेला से काव्य का आरम्भ करते हैं और सम्प्रेषण के लिए आवश्यक अहिंसात्मक तत्त्वों

का स्वागत करते हैं, जिससे प्रणीत 'नवनीत' को हम यहाँ पर काव्यशास्त्र की सन्धि के रूप में देख सकते हैं। 'साधना एव तपः' और उसके परिणाम की ओर इशारा 'मूकमाटी' की आत्मा है, देखिए :

"राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है/रा···ही···ही···रा
और/इतना कठोर बनना होगा/कि
तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर
जला-जला कर/राख करना होगा।" (पृ. ५७)

अहं का विलयन ज़रूरी है :

"राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?" (पृ. ५७)

शिल्पी जीव को या कहें मिट्टी को गढ़ने वाला है। इस काया को ऊपर उठाना आवश्यक है। इस तत्त्व को कवि कूप की गहराई में तिरने की भावना रखने वाली मछली के प्रतीक से प्रकट करते हैं। काया की छाया मछली पर पड़ती है और :

"उसकी मानस-स्थिति भी/ऊर्ध्वमुखी हो आई,/परन्तु/उपरिल-काया तक
मेरी काया यह/कैसे उठ सकेगी/यही चिन्ता है मछली को !" (पृ.६६)

यहाँ पर कवि जैन दर्शन का यथातथ्य आदर्श प्रस्तुत करते हैं :

" 'धम्मो दया-विसुद्धो'/यही एक मात्र है/अशरणों की शरण !" (पृ.७१)

प्रकृति विज्ञान के विशेषज्ञ जिसे 'फुड चेन–आहार धारा' कहकर पहचानते हैं, सांसारिकता में उसके स्वरूप को देखकर कवि का मन दुःखी होता है। यहाँ पर छोटी मछली को बड़ी मछली साबूत निगलती है। इसको उद्देशित कर वह स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

"सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं !
श्वान श्वान को देख कर ही/नाखूनों से धरती को खोदता हुआ
गुर्राता है बुरी तरह !" (पृ.७१)

संसार की बगुलाई को देखकर मछली कह उठती है :

"प्रभु-स्तुति में तत्पर/सुरीली बाँसुरी भी/बाँस बन पीट सकती है
प्रभु-पथ पर चलने वालों को।/समय की बलिहारी है !" (पृ.७३)

मछली को बालटी में उतरना है। मगर उसकी कामना है कि आगामी छोरहीन काल में इस घट में काम न रहे। वह चाहती है कि उसकी शुभ यात्रा का प्रयोजन यही हो कि साम्य-समता ही उसका भोजन हो, भावना सदोदिता-सदोल्लसा हो। दानव का शरीर धरकर मानव के मन पर हिंसा का प्रभाव न हो। ध्यान से ग्रहण करने की बात है कि इच्छाओं की मछली सत् के साथ ही जुड़ने की प्रेरणा देती है और साथ ही विस्तृत अर्थवाले मानव शब्द के साथ कवि अपनत्व जताकर इच्छा करते हैं कि उस पर हिंसा का प्रभाव न हो।

'मूकमाटी' काव्य के आद्यन्त विस्तृत रूप से आवृत इस प्रकार के कुछ मानववादी तत्त्व हैं, जो उसे सामान्य काव्य की श्रेणी से उठाकर महानता की पीठ पर प्रतिष्ठापित करते हैं और उसे पढ़ने को और समझने को मजबूर करते हैं।

ऊर्ध्वगति में जाने वाली, पतन-पाताल से उत्थान-उत्ताल की ओर अग्रसर मछली मिट्टी के चरणों पर आ गिरती है। वहाँ पर कवि की प्रज्ञा यह प्रश्न करती है कि क्या सचमुच मानवता पूर्णतः मरी है ? निम्न अवतरण में उससे सम्बन्धित अंश को देखा जा सकता है :

"यहाँ पर इस युग से/यह लेखनी पूछती है/कि/क्या इस समय मानवता
पूर्णतः मरी है ?/क्या यहाँ पर दानवता/आ उभरी है···?
लग रहा है कि/मानवता से दानवत्ता/कहीं चली गई है ?/और फिर
दानवता में दानवत्ता/पली ही कब थी वह ?" (पृ. ८१-८२)

इन शब्दों को कहते समय कवि बड़े आशावादी होकर नज़र आते हैं। भारतीय संस्कृति का आदर्श वाक्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' पर उनका विश्वास उमड़ पड़ता है। मगर वह साथ-साथ यह भी कहते हैं कि अब वह सुलभ नहीं रहा, उसका स्वरूप अब परिवर्तित हो चुका है, उसका आधुनिकीकरण हुआ है। *"वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का" (पृ. ८२)।*

व्यापारी प्रवृत्ति में फँसकर अन्धदृष्टि पनपाने वाले मनुष्य को सत् की खोज में प्रवृत्त करना ही कवि का उद्देश्य है। इसी कारण युगों की आचरण मूलक व्याख्या भी 'मूकमाटी' में प्राप्त होती है। कवि कहते हैं :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है बेटा !/और
असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ/सत् को असत् मानने वाली दृष्टि
स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ. ८३)

अन्त में कवि का आदेश है :

"अपने जीवन-काल में/छली मछलियों-से/छली नहीं बनना
विषयों की लहरों में/भूल कर भी/मत चली बनना ?" (पृ. ८७)

इस प्रकार 'मूकमाटी' को उसके अन्तःसत्त्व के कारण उसे महाकाव्यात्मक रूप प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में मुझे दसवीं शताब्दी के कन्नड भाषा के जैनी कवि पम्प के शब्द स्मरण हो आते हैं– "मानव जाति तानोंदे कुलम्"- मानव मात्र की एक मात्र जाति है।

अतः किसी जाति या धर्म की सीमा में सीमित न होकर मानव धर्म के आचरण का एक दार्शनिक महाकाव्य बना है 'मूकमाटी'। □



'मूकमाटी': आधुनिक हिन्दी साहित्य का 'वि'लक्षण महाकाव्य

डॉ. विजय द्विवेदी

दिगम्बर जैन मुनि आचार्य विद्यासागर विरचित 'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक 'वि'लक्षण महाकाव्य है। विलक्षण से मेरा मतलब यहाँ 'विशिष्ट लक्षण' और 'बिना लक्षण'– दोनों से है। इस महाकाव्य में 'भारतीय काव्य शास्त्र' में परिगणित 'महाकाव्य' के सभी लक्षण यथावत् नहीं पाए जाते हैं। तथापि यह भी नहीं कहते बनता है कि इसमें वे हैं ही नहीं। भारतीय आचार्यों में महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करने वाले प्राचीनतम आचार्य भामह ने 'सर्गबद्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्' के आधार पर महाकाव्य के जिन तत्त्वों की पहचान कायम की है, वे ये हैं– (१) सर्ग बद्धता, (२) आकार का बड़ा होना, (३) प्रस्तुति-विधान की उत्कृष्टता, (४) महान् चरित्र और विजयी नायक का समावेश, (५) जीवन के विविध रूपों, अवस्थाओं, घटनाओं आदि का चित्रण, (६) नाटक की सन्धियाँ, अवस्थाएँ आदि का होना, (७) कथानक और प्रभाव की अन्विति एवं (८) ऋद्धि मत्ता।

परवर्ती आचार्यों जैसे दण्डी,रुद्रट, हेमचन्द्र, कविराज विश्वनाथ आदि ने अपने से पूववर्ती सभी के मतों का समाहार करके महाकाव्य के लिए निम्नोक्त तत्त्वों का निरूपण किया है– कथानक, चरित्र, वस्तु-व्यापार और परिस्थिति, रस और भाव-व्यंजना, अलौकिक एवं अति प्राकृतिक तत्त्व, भाषा, शैली और उद्देश्य।

भारतीय आचार्यों के द्वारा महाकाव्य की की गई उक्त विवेचना के बाद महाकाव्य के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों की मान्यताओं पर भी एक नज़र डाल लेना अनुचित न होगा। 'दि बुक ऑफ एपिक' के लेखक ने ठीक ही लिखा है : "संसार में जितने राष्ट्र और कवि हैं, महाकाव्य की उतनी ही परिभाषाएँ हैं और महाकाव्य-रचना के उतने ही नियम हैं।" तब भी समन्वयात्मक दृष्टि से पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में महाकाव्य हेतु निम्न तत्त्वों का पाया जाना आवश्यक माना गया है :

१. महत् उद्देश्य, महत् प्रेरणा और महान् काव्य प्रतिभा।

२. गुरुत्व और गाम्भीर्य।

३. युगीन जीवन और संस्कृति का महत् कार्यों के परिप्रेक्ष्य में चित्रण।

४. सुसंगठित और जीवन्त कथानक।

५. गौरवमयी उदात्त शैली, प्रभावान्वित रस-योजना और गतिशील जीवन-शक्ति तथा प्राणवत्ता।

महाकाव्य के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के बाहरी स्वरूप और शैली पर विशेष ध्यान दिया है, जबकि पश्चिमी विचारकों ने अन्तर्मुखी दृष्टि अपनाई है और कथानक, नायक, रसादि पर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

'मूकमाटी' महाकाव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः इसके मूल्यांकन में दोनों का (भारतीय और पाश्चात्य) का समन्वय आवश्यक माना गया है। एक दूसरी बात यह भी है कि यह महाकाव्य परम्परित न होकर नित्य नूतनता लिए हुए तथा अनेक दृष्टियों से विलक्षण-विचक्षण एवं अपने परिवेश से शक्ति, जीवन से अनुभव, युग से जीवन्तता तथा अध्यात्म से आधार-भूमि ग्रहण किए हुए है। इसमें सर्वतोभावेन 'महत्' तत्त्व की प्रतिष्ठा हुई है। इसमें भाषा-शैली, भाव, उद्देश्य, चित्रण एवं विवरण—सभी कुछ भव्य, उदात्त एवं गौरव गरिमा से मण्डित है। अतः 'मूकमाटी' के महाकाव्यत्व पर विस्तार से विचार करने से पहले इसके काव्यत्व का विवेचन करना अनुचित न होगा।

'मूकमाटी' महाकाव्य आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय काव्य कृति है। वेदों में कवि को 'परमेश्वर' और दृश्यमान् जगत् को 'काव्य' कहा गया है। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' (ईशावास्योपनिषद्/८)

कह कर जहाँ कवि की प्रशंसा की गई है, वहीं 'न पश्य मम पश्य ममार काव्यम्' के द्वारा जगत् को परम पिता की रचना होने का भी संकेत दिया गया है। भारत के प्राचीन मनीषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से काव्य को परिभाषा में बाँधने का प्रयास किया है, परन्तु काव्य को किसी विशेष परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सका है। काव्य न तो 'शब्दार्थौ सहितौ' (भामह) है और न 'वाक्यं रसात्मकम्' (विश्वनाथ)। काव्य वस्तुतः करुणा के विस्तार हेतु वाणी का वह विशिष्ट विधान है जिसमें उदात्त संवेदनाएँ तथा रसमय भावानुभूतियाँ होती हैं, जो मन को आनन्द की सीमा तक ले जाती हैं। महाकवि भवभूति ने 'करुणा' को ही काव्य की पहली अनिवार्यता स्वीकार की है—'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्।'

'मूकमाटी' महाकाव्य में आदि से अन्त तक करुणा-प्रेम-सत्य और अहिंसा की धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। इनमें भी सबसे उल्लेखनीय है—करुणा। यही इस महाकाव्य का मूलाधार भी है और उपजीव्य भी। परम्परावादी रस शास्त्रियों के लिए 'मूकमाटी' करुण रस प्रधान महाकाव्य है, जिसमें अन्य रस आनुषंगिक हैं। इस पर आगामी पृष्ठों में विचार होगा। इस समय प्रसंग करुणा का है।

पश्चिमी विचारक 'प्लेटो' के समय में एक बार यह विवाद उठा था कि क्या काव्य समाज या व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को बल प्रदान कर सकता है? प्लेटो काव्य को इसी कसौटी पर कसता था। वह कविता को अनुकरण तथा कवियों को यश और कीर्ति के लिए पाठकों की वासनाओं को उत्तेजित कर उन्मादग्रस्त प्रकृति का चयन करने वाला कहता था। उसकी बातों में कितनी सच्चाई थी, इसकी गवाही आज का साहित्य स्वयं दे रहा है। प्लेटो के काव्य सम्बन्धी आक्षेपों का जवाब देने के लिए अरस्तू ने 'पोइटिक्स' नामक ग्रन्थ लिखा। इसके अनुसार : ''करुणा और त्रास के उद्रेक द्वारा मनोविकारों का उचित विरेचन किया जा सकता है।'' अरस्तू के इस सिद्धान्त को 'विरेचन' का नाम दिया गया है।

'मूकमाटी' के 'महाकाव्यत्व' के प्रसंग में अरस्तू के विरेचन और भारतीय करुणावाद की चर्चा इसलिए की जा रही है, क्योंकि इस महाकाव्य की आत्मा ही करुणावतार है और संवेदनाओं की जननी भी यही है। अरस्तू के अनुसार करुणा के आस्वाद की समस्या का समाधान विरेचन और आनन्द द्वारा होता है। करुणा और त्रास में निहित अनिष्ट भावना के नष्ट होने से हर तरह की मानसिक शान्ति का अनुभव होता है। इस महाकाव्य में भी कहा गया है कि चित्त की विशदता के दो रूप हैं— भावात्मक और अभावात्मक। प्रथम के अनुसार मन की शान्ति ही आनन्द है। दूसरे के अनुसार दुःखों का अभाव ही मन को शान्ति दे सकता है। अरस्तू की तरह कवि भी यह मानता है कि जीवन करुणावाद पर आश्रित है और करुणा में ही आनन्द है। सत्य की उपलब्धि में आनन्द का निवास होता है। आनन्द करुणा का सकारात्मक रूप है। जिस प्रकार अनन्त लहरों को आत्मसात् किए सागर समाधिस्थ बना रहता है, उसी तरह अनेक करुण-मधुर अनुभूतियाँ चेतना की अन्तर्धाराएँ बनकर प्रवाहित होती रहती हैं। महाकाव्य चाहे शृंगारमूलक हो या करुणामूलक वह सहृदय के मन को शृंगार और करुण की लौकिक/अलौकिक अनुभूति कराता ही है। देखिए :

> *"हाँ ! हाँ !!/अधूरी दया-करुणा/मोह का अंश नहीं है/अपितु*
> *आंशिक मोह का ध्वंस है।/वासना की जीवन-परिधि/अचेतन है···तन है*
> *दया-करुणा निरवधि है/करुणा का केन्द्र वह/संवेदन-धर्मा···चेतन है*
> *पीयूष का केतन है।/करुणा की कर्णिका से/अविरल झरती है*
> *समता की सौरभ-सुगन्ध;/ऐसी स्थिति में/कौन कहता है/कि*
> *करुणा का वासना से सम्बन्ध है !" (पृ. ३९)*

'मूकमाटी' एक तत्त्व ज्ञान सम्पन्न दर्शन, अध्यात्म और आत्मीयता का महाकाव्य है। इसमें विचारों की प्रधानता है, विवरण या विवेचन की नहीं। मनुष्य में विचार ही वह शक्ति है जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्न करती है। विचारणा ही वह शक्ति है, जो मानव को भौतिक सुविधाएँ जुटाने से लेकर मोक्ष तक का पथ प्रशस्त करती है। विचार का प्रथम चमत्कार व्यक्ति को सक्रिय बनाना, जीवन के उद्देश्य, स्वरूप और सही किन्तु उपयोगी जानकारी देना है। विचार शक्ति का मूल्य और महत्त्व जिसकी समझ में आ जाता है, वह प्रभु प्रदत्त इस विभूति का उपयोग परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए करता है। परिणामस्वरूप उसका अपना सारा जीवन तो बदल ही जाता है, उसका प्रत्येक क्रियाकलाप उत्कृष्टता और नैतिकता से ओतप्रोत हो जाता है। यही मानव-जीवन का गौरव और आनन्द है। विचारशीलता का सहारा लेकर जीना ही सार्थक माना जाता है। प्रस्तुत महाकाव्य में कवि विद्यासागरजी ने विचारशीलता के लिए- ''जिन-शासन के धर्मोपदेश को आधार बनाकर अपने मत की पुष्टि'' ('मानस-तरंग' में) की है। इस मत के अनुसार : ''श्रमण-संस्कृति के सम्पोषक जैन-दर्शन ने बड़ी आस्था के साथ ईश्वर को परम श्रद्धेय-पूज्य के रूप में स्वीकारा है, सृष्टि-कर्ता के रूप में नहीं'' (वही, पृ. XXIII)।

ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक न मानने वाले जैन धर्म को भारतीय दर्शन में 'नास्तिक' कहा जाता है। अत: कवि की धर्म विषयक मान्यताएँ सबके लिए ग्राह्य नहीं हो सकती हैं। कवि ने अनासक्त चित्त से काव्य करुणा की जो पयस्विनी प्रवाहित की है, वह एक सीमित वर्ग की काव्य-पिपासा को ही शान्त कर सकती है। इसे हम कवि की मजबूरी ही कह सकते हैं कि समग्र मानव जाति का हित-साधन करने की सामर्थ्य एवं प्रतिभा रखते हुए भी वह साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की जकड़ से अपने को मुक्त न कर सका है। जहाँ मानव-संस्कृति का जयगान करना चाहिए था, वहाँ उसने अपनत्व से काम लिया।

भारत में ही नहीं विश्व के सभी सम्प्रदायों में ऐसे अनेक बेतुके प्रचलनों की भरमार है, जिनका विवेक की कसौटी पर कोई औचित्य नहीं है। तथापि इनके मतावलम्बी पुरातन मान्यताओं में सुधार की बात कहने तक को अधर्म मानते हैं। आज की आवश्यकता है कि न्याय, औचित्य और विवेक का आश्रय लिया जाए और पूर्वाग्रहों, अन्ध-विश्वासों से अपने दृष्टिकोण को मुक्त रखा जाए। अपने आग्रहों को ईश्वर, पैगम्बर, देवतादि का कथन न बताया जाए। आज, हमें स्वतन्त्र चिन्तन का आश्रय लेना चाहिए और प्रचलित मत-मनान्तरों की श्रेष्ठता, उपयोगिता आदि के चक्कर में न पड़ कर नई जीवनदृष्टि अपनानी चाहिए। मुझे ये कहने में कोई संकोच नहीं है कि 'मूकमाटी' महाकाव्य में कवि ने बहुत कुछ नया और अलौकिक दिया है, किन्तु जीवन-दृष्टि वही पाँच हजार साल पुरानी रहने दी है।

धर्म का सही स्वरूप अध्यात्म है। धर्म को ही जीवन का उत्कृष्ट दृष्टिकोण कहा जाता है। इसी के आधार पर जो देखा-जाना और अनुभव किया जाता है, सम्प्रदाय वाले उसी को सही मानकर जुड़े रहते हैं। धर्म मनुष्य की सबसे पुरानी परम्परा है। उसके स्वरूप और सिद्धान्तों में जमीन-आसमान का अन्तर होते हुए भी उन सभी के अनुयायी अपनी-अपनी परम्पराओं पर इतने कट्टर हैं कि उनके औचित्य और यथार्थता पर पुन: विचार नहीं करते।

प्रस्तुत महाकाव्य में कवि विद्यासागरजी ने 'जैन शासन के धर्मोपदेश को आधार बनाकर' अपने मत की पुष्टि के लिए वाणी की परमात्म प्रदत्त सम्पदा का समुचित उपयोग किया है। वैसे जैन मतानुसार ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता नहीं है और उसे परमात्मा के औपचारिक रूप में स्वीकार किया गया है। 'मानस तरंग' में कवि ने स्वीकार किया है : ''किसी भी 'कार्य का कर्त्ता कौन है और कारण कौन ?' इस विषय का जब तक भेद नहीं खुलता, तब तक ही यह संसारी जीव मोही, अपने से भिन्नभूत अनुकूल पदार्थों के सम्पादन-संरक्षण में और प्रतिकूलताओं के परिहार में दिन-रात तत्पर रहता है।'' 'मानस तरंग' में कवि ने कुछ अति महत्त्व के प्रश्न उठाए हैं। परन्तु उनका विवेक सम्मत उत्तर नहीं दे सके हैं। जैसे अशरीरी होकर ईश्वर असीम सृष्टि की रचना तो दूर, छोटी-मोटी क्रिया भी नहीं कर सकता ? यदि

अशरीरी परमात्मा ने सृष्टि की रचना नहीं की तो फिर यह किस शक्ति अथवा सत्ता की करामात है? क्या यह सृष्टि अपने-आप पैदा हो गई और यदि ऐसा हुआ भी तो इसके पीछे प्रयोजन क्या था ? आचार्यश्री को भूतकाल के अनौचित्य, वर्तमान के दुराग्रह और भविष्य को ध्यान में रखकर ऐसे उपायों की खोज करनी चाहिए थी जिनसे आज के विग्रहों के आधार टलते और संसार में एकता-समता एवं औचित्य के द्वार खुलते। दुःख की बात है कि आधुनिक जगत् में अध्यात्म-क्षेत्र की इस महती आवश्यकता की कवि ने अनदेखी कर दी है। न्याय, औचित्य और विवेक का समुचित आश्रय न ले कर कवि ने पूर्वाग्रहों से युक्त हो कर अपनी दृष्टि की सीमा बाँध दी है। परिणामस्वरूप जिस महाकाव्य को जन-जीवन का कण्ठहार बनना चाहिए था, वह कुछ गलों का हार बन कर शोभा बढ़ाने तक ही सीमित हो गया है।

'मूकमाटी' के 'प्रस्तवन' में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने लिखा है : ''''यह प्रश्न उठाना अप्रासंगिक न होगा कि 'मूकमाटी' को महाकाव्य कहें या खण्ड काव्य या मात्र काव्य। महाकाव्य की परम्परागत परिभाषा के चौखटे में जड़ना सम्भव नहीं है।'' इस सम्बन्ध में इस समीक्षक का अपना निजी विचार है कि 'मूकमाटी' एक काव्य तो है ही, महाकाव्य भी है। परम्परागत भारतीय काव्यशास्त्रियों ने 'महाकाव्य' की जो परिभाषा दी है, उनमें से कुछ को छोड़ कर अधिकतर लक्षण 'मूकमाटी' में पाए जाते हैं। इन लक्षणों की चर्चा ऊपर की गई है। यह एक नायिका प्रधान महाकाव्य है। माटी चाहे जितनी भी तुच्छ हो, भारतीय जीवन में उसे धरती-माता के रूप में मान्यता दी गई है। हिन्दू शादी-विवाहों के अवसर पर माटी की पूजा का प्रचलन उसे गरिमा प्रदान करने के लिए ही की जाती है। इस माटी का ही नाम वसुधा, वसुमती, वसुन्धरा, रत्नगर्भा, धरती, धरित्री आदि है। राम से परित्यक्त होकर सीता ने इसी माटी से कहा था– "भगवति वसुन्धरे! देहि मे अन्तरम् (विवरम्) !" वेदों में कहा गया : "द्यौः मे पिता, पृथ्वी मे माता।" अतः माटी तुच्छ नहीं, महनीय है। माटी में सहन करने की अपूर्व क्षमता और क्षमा की असाधारण शक्ति है। कबीरदास के शब्दों में : "खोद-खाद धरती सहे और से सहा न जाइ।" कविवर विद्यासागर ने माटी की इसी सहनशीलता में 'चरम तुच्छता' का दर्शन किया है और 'चरम तुच्छता में' चरम भव्यता के दर्शन करके... कविता को अध्यात्म के साथ अ-भेद की स्थिति में पहुँचाया है। माटी की तुच्छता में चरम भव्यता को देखना कवि की परम उदात्तता का सूचक है। उसने एकाधिक स्थलों पर इस तुच्छ माटी को महिमा मण्डित किया है :

"...वह/धृति-धारिणी धरती/कुछ कहने को आकर्षित होती है,
सम्मुख माटी का/आकर्षण जो रहा है !" (पृ. ७)

पहले ही कहा जा चुका है कि 'मूकमाटी' एक नायिका प्रधान महाकाव्य है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की परम्परा में दो प्रमुख नायिका प्रधान महाकाव्य हमारे सामने हैं– श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय कृत 'प्रिय प्रवास' और श्री दिनकर रचित 'उर्वशी'। इनमें योगिराज अरविन्द लिखित 'सावित्री' का उल्लेख जानबूझ कर मैंने नहीं किया है, क्योंकि वह मूल रूप से अँग्रेजी भाषा में लिखा गया है। मध्ययुगीन सूफी कवि मलिक मोहम्मद जायसी रचित महाकाव्य को भी हम नायिका प्रधान महाकाव्य के रूप में ले सकते हैं। कहने का मतलब यह कि भारतीय महाकाव्यों की परम्परा में नायिका प्रधान महाकाव्यों की रचना कोई नई परम्परा नहीं है और न तुच्छ, किंवा उपेक्षित पात्रों को काव्य का विषय बनाना ही। आखिर इसी शती में उर्मिला, यशोधरा, कर्ण और एकलव्य जैसे पात्रों को महाकाव्य का विषय बनाया गया है या नहीं ? फिर माटी को इससे वंचित क्यों रखा जाय ?

'मूकमाटी' में कवि ने युग जीवन पर व्यापक दृष्टि तो डाली ही है, साथ ही उसने यह भी बताया है कि आधुनिक सम्प्रदाय अनुपयुक्त हो गए हैं, अतः सबको सब कुछ करने की छूट नहीं दी जा सकती। ऐसी छूट प्रकारान्तर से अनीति को प्रोत्साहन देती है और जीवन में उपेक्षापूर्ण रिक्तता पैदा करती है। इस महाकाव्य में कवि ने प्रकारान्तर

से यह सन्देश दिया है कि आधुनिक युग में एक नवीन मानव-धर्म की संरचना करनी चाहिए और उसका परिपालन करते रहने के अनुरोध के साथ ही उपेक्षा करने वालों के प्रति कठोरता बरतनी चाहिए। ताकि :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/वह अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठे/···बस।" (पृ. ४७८)

'मूकमाटी' के कवि का विश्वास है कि चिन्तन में उत्कृष्टता, चारित्र में आदर्शवादिता और आचरण में सत्य, अहिंसा तथा सुजनता का समावेश हो तो नए युग की आवश्यकता के अनुरूप नए समाज का स्वरूप और उसकी आचारसंहिता तैयार की जा सकती है और जन-जन से उसका पालन कराया जा सकता है। बढ़ते हुए बुद्धिवाद और विज्ञान ने दुनिया को सीमित कर दिया है। अध्यात्म की मनमानी खींचतान ने संसार में विषमता और विभेदों की भरमार कर दी है। यह व्यवस्था अब अधिक दिनों तक नहीं चल सकती है। अब हमें एकता और समता की नीति चलानी होगी तथा एक देश, एक भाषा, एक धर्म, एक दर्शन को अपनाकर चलना होगा। विवेकशीलता के धनी कवि ने अपने चिन्तन में इसी विश्वास को बल दिया है :

"सर के बल पर क्यों चल रहा है,/आज का मानव ?
इस के चरण अचल हो चुके हैं माँ !/आदिम ब्रह्मा आदिम तीर्थंकर
आदिनाथ से प्रदर्शित पथ का/आज अभाव नहीं है माँ !/परन्तु,
उस पावन पथ पर/दूब उग आई है खूब !/वर्षा के कारण नहीं,
चारित्र से दूर रह कर/केवल कथनी में करुणा रस घोल
धर्मामृत-वर्षा करने वालों की/भीड़ के कारण !" (पृ. १५१-१५२)

'कामायनी' की तरह 'मूकमाटी' का आरम्भ भी 'विराट्' चिन्तन से हुआ है। 'कामायनी' में 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर' पर बैठा 'एक पुरुष' भीगे नयनों से अनन्त जल राशि को देख रहा है, जबकि 'मूकमाटी' में *"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,/और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई" (पृ. १)* है। कवि ने इस महाकाव्य में प्राकृतिक परिवेश को तो महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप रखा ही है, प्रकृति के अन्य उपादानों जैसे चाँद, पवन, सुरभि, कमल, कुमुदिनी, वन, पर्वत, सरितादि का भी विस्तृत किन्तु रूपकाश्रित चित्रण किया है। यह सारा परिदृश्य एक बिन्दु पर आकर भूलभूत दार्शनिक प्रश्न पर केन्द्रित हो जाता है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/...बता दो, माँ···इसे !
...पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

एक विलक्षण महाकाव्य के रूप में 'मूकमाटी' का सन्देश यह है कि अपने को उठाना या गिराना मानव के अपने हाथ की बात है। सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, साहस, उत्साह, पराक्रम और निश्चित विश्वास के आधार पर मनुष्य उँचा उठ सकता है। इसके विपरीत उक्त गुणों से रहित, हीन भावनाओं से ग्रस्त, दुःख, निराशा, उद्विग्नता, अविश्वास और आशंकाओं से घिरे व्यक्ति भौतिक उन्नति करके भी आत्मिक पतन की ओर अग्रसर होते जाते हैं। करुणा और प्रेम, दया और दान से व्यक्ति आन्तरिक उल्लास का, शान्ति और सुख का अनुभव करता है। कवि की मान्यता है

कि व्यक्ति अपने दोषपूर्ण चिन्तन-मनन और विकृत मनःस्थिति के कारण अपनी जीवनी-शक्ति का क्षरण करता है, प्रतिभा एवं सृजनात्मक शक्ति का विनाश करता है :

"जिसे अपनाया है/उसे/जिसने अपनाया है/उसके अनुरूप
अपने गुण-धर्म—/···रूप-स्वरूप को/परिवर्तित करना होगा
वरना/वर्ण-संकर-दोष को/...वरना होगा !" (पृ. ४७-४८)

प्रस्तुत महाकाव्य चार खण्डों में विभक्त है। खण्ड-एक का नामकरण 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' दिया गया है। इसी तरह खण्ड-दो 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; खण्ड-तीन 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' तथा खण्ड-चार 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' है। खण्डों के इस तरह के नामकरण की व्याख्या करना किसी अन्य मतावलम्बी के लिए कठिन काम है। सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने इनकी विवेचना 'प्रस्तवन' में की है। 'मूकमाटी' के खण्ड विभाजन, नामकरण और कथानक को ले कर कई रोचक और महत्त्वपूर्ण सवाल पैदा हो सकते हैं। मसलन यह कुम्भकार कौन है और वह कुम्भ का निर्माण क्यों करना चाहता है ? 'मानस-तरंग' में सन्त कवि ने जो मुद्दे उठाए हैं उनमें न तो उसने यह बताया है कि यह कुम्भकार (रचयिता, निर्माता या कर्त्ता) क्या है ? कहाँ से आया है और रचना का काम करता ही क्यों है ? यह परमात्मा या ईश्वर तो है नहीं, क्योंकि जैन संस्कृति ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में पहले ही नकार चुकी है। श्रमण संस्कृति ने अवतारवाद और देववाद को भी देश निकाला दे दिया है। तब, सवाल यह पैदा होता है कि जैन धर्म सृष्टि के मूलभूत तत्त्वों के उत्पन्न होने के विषय में क्या कहता है ? वेदों के अनुसार आत्मा-परमात्मा और प्रकृति—ये तीनों अनादि तत्त्व हैं, अजन्मा और स्वयं स्वाधीन हैं। जैन मत वेदों की उक्त मान्यता को भी स्वीकार नहीं करता। कवि के शब्दों में : ''ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है। अस्तु। ऐसे ही कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है'' ('मानस-तरंग', पृ. XXIV)।

उक्त मूलभूत सिद्धान्त, सम्प्रदाय विशेष से, उनकी भावनाओं एवं जीवन-मूल्यों से सम्बन्धित हैं। अतः इनकी समीक्षा न करना ही उचित होगा। 'मूकमाटी' वस्तुतः एक प्रतीकात्मक एवं रूपकाश्रित महाकाव्य है। कवि का ही नहीं, भारतीय मनीषा का भी मानना है कि जब से हमने विज्ञान के प्रत्यक्षवाद को ही सब कुछ मानना शुरू कर दिया है, तब से समाज की संरचना में बहुत बदलाव आ गया है। विज्ञान ने सृष्टि के संचालन के पीछे किसी समर्थ सत्ता के अस्तित्व को अस्वीकार करके जहाँ अन्धविश्वासों और कुरीतियों के उन्मूलन में महत् योगदान किया है, वहीं अनीश्वरवादी-भोगवादियों को भी ज़रूरत से अधिक समाज के सिर पर थोप दिया है। परिणामस्वरूप पूरे विश्व में एक अराजकता-आतंकवादी समाज पैदा हो गया है। यह अनैतिक, अनाचार एवं अत्याचारियों का समाज है। श्री आर. इयूब्स ने अपनी रचना 'सो ह्युमन एज एनीमल' में ठीक ही लिखा है : "अराजकता को समाप्त करने के लिए हमें ईश्वर और मनुष्य के बीच पुनः वही सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा, जो प्राचीन काल में था और जिसे कभी संसार की सर्वोपरि सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया था।" कवि विद्यासागर के पास इस समस्या का समाधान क्षमादान और हृदय-परिवर्तन है :

"सेठ का इतना कहना ही/पर्याप्त था, कि/संकोच-संशय समाप्त हुआ दल का
और/डूबती हुई नाव से/दल कूद पड़ा धार में/...आतंकवाद का अन्त
और/अनन्तवाद का श्रीगणेश !" (पृ. ४७७-४७८)

अध्यात्म और आत्मिकी किंवा भौतिकवादी विचारणा से ऊपर उठकर एक विशुद्ध काव्य ग्रन्थ के रूप में विचार करने पर 'मूकमाटी' में अपूर्व काव्यगत विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। काव्य में एक स्थूल कथानक के जरिए कवि ने अपने समूचे युग और युगीन जीवन के व्यापक पक्षों पर विचार कर डाला है। विचार करने की कवि की अपनी विलक्षण शैली है। इसके लिए कवि ने या तो व्युत्पत्ति शास्त्र का गहन अध्ययन किया है अथवा 'एकाक्षर कोश' का सहारा लिया है। कुछ उदाहरण देखिए :

- *"स्व की याद ही/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी*
  यही अर्थ निकलता है/या···द···द···या···।" (पृ. ३८)
- *" 'स्व' यानी अपना/'प्' यानी पालन-संरक्षण/और 'न' यानी नहीं,*
  जो निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकता
  वह औरों को क्या सहयोग देगा ?" (पृ. २९५)
- *"गद का अर्थ है रोग/हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ*
  ···बस,/और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

एक काव्य के रूप में 'मूकमाटी' की महानता निःसन्देह है। इसमें न केवल अलंकारों को नया रूप-रस-गन्ध दिया गया है, वहीं इस महाकाव्य का एक-एक शब्द अन्तः की सद्भावना से शुद्ध-पूत होकर निकला है। इन एक-एक शब्दों के साथ परिव्राजक मुनि कवि के न जाने कितने जीवनानुभव ओत-प्रोत हैं, न जाने कितनी करुणा की धाराएँ इस करुणावतार की वाणी में समाहित हुई हैं—इसकी गिनती वही कर सकता है जो सत्य-अहिंसा-प्रेम के पथ पर नंगे पाँव चला हो एवं अनासक्त योगी-सा जीवन जिया हो। सन्त कवि ने साहित्यकार होने का अधिकार भी उसी को दिया है, जो 'शाश्वत साहित्य' को 'सार्थक जीवन का स्रष्टा' मानकर 'शान्ति का श्वास लेता' है। सन्त कवि ने साहित्य को परिभाषित ही नहीं किया है, उसे दो भागों में विभक्त भी किया है— १. शाश्वत २. सम-सामयिक। साहित्य के बारे में कवि का कहना है :

"शिल्पी के शिल्पक-साँचे में/साहित्य शब्द ढलता-सा !
हित से जो युक्त-समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है।" (पृ. ११०-१११)

सन्त कवि की साहित्य विषयक मान्यता में ध्यान देने की बात यह है कि उसने साहित्य को सुख का साधक माना है, आनन्द का नहीं। जबकि जीवन्त साहित्य को पढ़ने वाला 'फटा माथा' वाला 'काँटा' आनन्द का अनुभव करता है :

"कान्ता-समागम से भी/कई गुना अधिक
आनन्द अनुभव करता है/फटा माथ होकर भी।" (पृ. १११)

'प्रासंगिक साहित्य विषय पर' कवि के विचार उन्हीं के शब्दों में अवलोकनीय हैं :

"लेखनी के धनी लेखक से/और/प्रवचन-कला-कुशल से भी
कई गुना अधिक/साहित्यिक रस को/आत्मसात् करता है
श्रद्धा से अभिभूत श्रोता वह।" (पृ. ११२-११३)

साहित्य ही क्यों, जीवन और जगत् का ऐसा कोई सन्दर्भ नहीं बचा है जिस पर कवि ने अपनी बेबाक लेखनी चला कर बहुमूल्य 'सूक्तियाँ' न प्रदान की हों। इसे कहावतों का कोश कहना भी अनुचित न होगा। 'मूकमाटी' की कविताओं में लय, प्रवाह, छन्द, शब्द और ध्वनि संयोजना सहज, स्वाभाविक एवं अन्तः की गहराई से निकली हैं। इसीलिए इस काव्य में सभी स्तरों पर अति सहज भाव से साधारणीकरण होता चलता है। तुकान्तता और आवृत्ति की प्रवृत्ति इस काव्य में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। कवि के आकर्षण का मुख्य केन्द्र शब्द है। शब्दबोध का साधक है। शब्द के बिना बोध सम्भव नहीं होता :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं।" (पृ. १०६-१०७)

ध्यान देने की बात यह है कि व्यवहार जगत् का कण-कण प्रतीकों से भरा है। शब्द स्वयं में भाव-संवेदनाओं के प्रतीक हैं। प्रतीकों को हटाने का मतलब है—व्यवहार-शून्यता। व्याकरण शास्त्र, शब्द शास्त्र, पद-वाक्य विज्ञानादि भाषा के सारे अवयव एवं विज्ञान जो हमें किसी तथ्य का बोध कराते हैं, सब प्रतीक ही तो हैं। 'मूकमाटी' में कलात्मक एवं नूतन अर्थों से सजाए गए शब्द अनेकानेक भावनाओं को बरबस पिघला कर भाव-बिन्दुओं के रूप में स्वतः स्थिर हो उठे हैं। शब्द बोध है और बोध ही शोध है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें
वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।" (पृ. १०७)

'मूकमाटी' सर्वतोभावेन प्रतिभा से परिपूरित महाकाव्य है। मानव में जब इतनी प्रखरता आ जाए कि वह विपरीत परिस्थितियों में भी रुके नहीं और विपरीतता को अपने अनुकूल बना ले तो यही उसकी 'प्रतिभा' कहलाती है। यह काव्य साक्षी है कि कवि ने समय और समाज के प्रवाह को अपनी पराक्रमजन्य प्रतिभा से जगाया है और जन-जन के मन में श्रमण-संस्कृति की प्राण-चेतना फूँकी है। इसमें कवि प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता दया, करुणा, अनासक्ति और विनम्रता है। दूसरी विशेषता कष्ट एवं कठिनाइयों से भरा परमार्थ पारायण सन्त जीवन जीना है। प्रतिभावानों का इतिहास बताता है कि उनका जीवन माटी से सने हीरे की तरह होता है। प्रतिभा की महत्ता उसके सुनियोजन में होती है। इस जगत् में लोग अच्छा भाषण दे लेते हैं, साहित्य-सृजन कर सस्ती वाहवाही भी लूट लेते हैं, परन्तु कवि की रुचि अपनी प्रखर साधना और प्रतिभा द्वारा समय और समाज के अवांछित प्रवाह को अनुकूल दिशा में मोड़ना है। इस महत् काम के लिए उसने अपने तन को दीपक, लोहू को तेल और प्राणों को बाती बना कर जगत् को प्रकाशित करने का सार्थक काम किया है।

'मूकमाटी' एक काव्य ही नहीं, जैन मत की सैद्धान्तिक व्याख्या नहीं, अपितु भावनामय नैतिक जीवन जीने की परिष्कृत दृष्टि है। इसके आधार पर जीवन जीनेवाला मानवीय मूल्यों का संरक्षक एवं प्रचारक-प्रकाशक होता है। उसके अन्तर में पवित्रता, मन में सबके प्रति मैत्री-भाव, शान्ति एवं सन्तोष होता है। ऐसा व्यक्ति कर्मनिष्ठ, श्रमशील एवं सहनशक्ति वाला होता है। उसके लिए न तो जाति, देश, काल का कोई बन्धन होता है और न ही किसी बाहरी

योग्यता की ज़रूरत होती है।

सारांशतः, 'मूकमाटी' कवि विद्यासागर रचित एक उच्चकोटि का काव्य और 'वि-लक्षण' महाकाव्य है। इसमें न तो कवि-प्रतिभा के प्रति किसी तरह के सन्देह के लिए स्थान है और न ही महिमामण्डित 'महाकाव्य' के होने में। इन पर विस्तार से विचार करने की कोई विशेष ज़रूरत नहीं है, क्योंकि यह महाकाव्य ही नहीं जैन मत का अध्यात्म भी है। इन दोनों का संयोग सन्त कवियों में ही सम्भव है। 'माटी' को छूकर 'सोना' बना देने वाले कवि के सन्देश को इस समीक्षक ने जिस रूप में समझा है, उसका सार-संक्षेप यह है कि मानव-शरीर का संचालक मन और उसका मालिक अन्तरमन या आत्मन है। स्व, अहम्, स्वत्व आदि एक ही के नाम हैं। 'स्व' को विराट् 'पर' स्तर पर विकसित करने वाला, परिष्कृत करने वाला महामानव अपनी सघन आत्मीयता और सहृदयता का पग-पग पर परिचय देता है। विकसित एवं परिष्कृत आत्मचेतना ही 'बोध और मोक्ष' है।

अपने व्यक्तित्व को सीमित रखने का नाम 'स्वार्थ' है। इसे विकसित करने का नाम 'परमार्थ' है। महान् दार्शनिक प्लेटो के अनुसार : "जब हमारा परिष्कृत 'स्व' से साक्षात्कार होता है, तब हमें अपने सही स्वरूप का, अपने बहुआयामी विस्तार का ज्ञान होता है।" इसी उच्च स्थिति में पहुँचने पर आत्मा का परमात्म तत्त्व में विलय होता है। तब किसी अवलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती। मानव के चेतनशील अन्तर में बहुत सी भाव-संवेदनाएँ विद्यमान हैं। ये उच्च-स्तरीय परतों वाली हैं। यदि इन्हें जाग्रत किया जा सके तो परम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

कवि की मान्यता है :

> *"रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ व्यक्ति/कभी भी किसी भी वस्तु के*
> *सही स्वाद से परिचित नहीं हो सकता।" (पृ. २८१)*

मानव-जीवन की सार्थकता सदाचारी, संयमी, परिश्रमी, उदार और सेवाभावी बनने में है। विचारों, आहारों और व्यवहारों की अनुपयुक्तता मानव को पतन, पराभव एवं अवसाद की ओर ले जाती है। भाव-संवेदनाओं का क्षेत्र बुद्धि से ऊपर है। व्यक्ति की क्रूरता, हिंसात्मकशक्ति, अहंवादिता ही आधुनिक जीवन की आपदाओं की जननी है। विज्ञान और अध्यात्म के बीच टकराव नहीं है। असली लड़ाई भौतिक सम्पदा को लेकर स-बल एवं नि-बल के बीच 'स्व' और 'पर' की वजह से है।

> *"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम/...और*
> *अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला!" (पृ.३६६) (तुम यानी 'स्व' और 'पर'- समी.)*

जीवन जब सहज-सरल गति से चलता रहता है, तब उसे प्रगति कहते हैं। किन्तु माया, मोह, अज्ञान, अन्धकार से ग्रस्त जीवन की गति थम जाती है, अ-गति की हालत हो जाती है, इसे ही पाप या पतन कहते हैं।

> *"सुकृत की सुषमा-सुरभि को/सूँघना नहीं चाहते भूलकर भी,*
> *विषयों के रसिक बने हैं/कषाय-कृषि के कृषक बने हैं*
> *जल-धर नाम इनका सार्थक है।" (पृ. २२९)*



पृ. ४७

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'---

जीवन: चिरंजीवना संजीवन!!!



'मूकमाटी' : मानव-मूल्य परखने का महाकाव्य

डॉ. माधव राव रेगुलपाटी

'मूकमाटी' महान् सन्त आचार्य विद्यासागर के आत्मा का संगीत है। इस काव्य में उनकी पवित्र वाणी सहित आध्यात्मिक प्रवचन मुखरित होता है। इस काव्य में मुक्त छन्द का प्रवाह और काव्याभिव्यक्ति की अन्तरंग लय दोनों गुण विद्यमान हैं।

'मूकमाटी' का प्रथम खण्ड है–'संकर नहीं : वर्ण-लाभ।' इस खण्ड का आरम्भ धृति-धारणी धरती और माटी के वार्तालाप से प्रकम्पित और प्रस्फुटित भीगे भावों से होता है।

धृति-धारणी-धरती श्रमण संस्कृति का प्रतीक है और माटी आस्तिक का। आस्तिक में आध्यामिकता का बीज-वपन संस्कृति के अनेक आयामों के द्वारा होता है। धृति-धारणी-धरती जिस प्रकार अलग-अलग काल खण्डों में अलग-अलग रूपों में अनन्त काल से जिस प्रकार स्थित है, उसी प्रकार साधुत्व से सम्पन्न संस्कृति भी। आस्तिक इस संस्कृति से लाभान्वित होता है। आरम्भिक दशा से लेकर शिखरस्थ दशा तक पहुँचने के लिए आस्तिक बार-बार संस्कृति के मार्ग पर आरोहित होता है।

धरती स्वयं माटी से कहती है अर्थात् आस्तिक को संस्कृति का उपदेश मिलता है :

"सत्ता शाश्वत होती है/सत्ता भास्वत होती है बेटा !
रहस्य में पड़ी इस गन्ध का/अनुपान करना होगा
आस्था की नासा से सर्वप्रथम/समझी बात···!" (पृ. ७-८)

जीवन-धारा की प्रतीक संस्कृति की यह आरम्भिक दशा है। जिस प्रकार बादल की धारा धरा-धूल में आ मिलती है तो कलुषित हो जाती है, उसी प्रकार जीवन भी सांसारिक जीवन से कलुषित होकर दलदल में फँस जाता है। वही धारा नीम की जड़ों में जा मिलती है तो कटुता में ढलती है। सागर में गिरती है तो लवणाकर में बदल जाती है। विषधर के मुख में गिरती है तो विष हाला बनकर रह जाती है। सागरीय शुक्तिका में गिरती है तो स्वाति की मुक्तिका बनकर झिलमिलाती है :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है
मति जैसी, अग्रिम गति/मिलती जाती···मिलती जाती···
और यही हुआ है/युगों-युगों से/भवों-भवों से !" (पृ. ८)

जैसी संगति होती है वैसी मति होती है। जैसी मति होती है वैसी गति होती है। युगों-युगों से और भवों-भवों से यही हुआ। जिस प्रकार की संस्कृति की संगति में मनुष्य रहता है उसी प्रकार उसकी मति होती है। जिस प्रकार की मति होती है उसके जीवन की गति भी वैसी होती है।

संस्कृति पर आस्था जम जाती है। वही आस्था साधना का रास्ता सुगम करती है। इसलिए मनुष्य के लिए आस्था जमा लेना पहला सोपान है तो साधना करना दूसरा सोपान है। साधना विहीन व्यक्ति विजय-शिखर पर नहीं पहुँच सकता :

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर
रास्ता स्वयं शास्ता होकर/सम्बोधित करता साधक को।

साथी बन साथ देता है।/आस्था के तारों पर ही
साधना की अँगुलियाँ/चलती हैं साधक की,
सार्थक जीवन में तब/स्वरातीत सरगम झरती... है !
समझी बात, बेटा ?" (पृ. ९)

संस्कृति-सम्पादन का तीसरा सोपान सत्य की पहचान है।

"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ. ९)

केवल एक-दो सोपान चढ़ जाने मात्र से संस्कृति के समुन्नत शिखर पर नहीं पहुँच सकते। पर्वत की तलहटी में खड़े होकर भी शिखर का दर्शन कर सकते हैं किन्तु शिखर का स्पर्शन चरणों का प्रयोग किए बिना सम्भव नहीं। उसी प्रकार जीवन-संस्कृति के शिखर पर पहुँचने के लिए चतुर्थ सफल सोपान है प्रयोग अर्थात् साधना के साँचे में स्वयं को ढालना :

"आस्था के विषय को/आत्मसात् करना हो
उसे अनुभूत करना हो/...तो/साधना के साँचे में
स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !" (पृ. १०)

साधना के सोपानों पर चढ़ते-चढ़ते कभी-कभी फिसल जाने की सम्भावना होती है और कभी-कभी थकावट महसूस करने की गुंजाइश भी है। इसलिए इस स्खलन से बचने के लिए 'आयास से डरना नहीं' और 'आलस्य करना नहीं' (पृ. ११)।

साधक के रास्ते में विषमता की नागिन सरकती होगी। उससे वह गुम-राह हो सकता है। उसके मुख से गम-आह निकल सकता है। उस समय बोधि की चिड़िया फुर्र से उड़ जाती है। क्रोध भी उभरकर आ जाता है। इनको दूर करने मात्र से ही आराधना में विराधना आना असम्भव हो जाता है।

कभी-कभी गति या प्रगति के अभाव के कारण आशा ठण्डी पड़ जाती है। धृति, साहस, उत्साह भी आह भरते हैं और मन खिन्न पड़ जाता है। साधक के लिए ये सब अवरोध नहीं।

नदी जीवन की चैतन्य प्रवृत्ति का प्रतीक है। चैतन्य प्रवृत्ति के कारण ही फूल-मालाएँ आ-आकर टकराती हैं। कुम्भकार स्वयं भाग्य-विधाता है :

" 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य–
यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो
कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

वही शिल्पी है। वही संस्कृति का निर्माता है, आध्यात्मिकता का प्रदाता है। वही संस्कृति शिल्पी दया, धर्म और करुणा रूपी मूर्तियों का निर्माण किया करता है। केवल प्रसंग से काम नहीं चलता :

"जिसे अपनाया है/उसे/जिसने अपनाया है
उसके अनुरूप/अपने गुण-धर्म–/'''रूप-स्वरूप को
परिवर्तित करना होगा।" (पृ. ४७)

गुण, धर्म, रूप और स्वरूप में जो परिवर्तित हो जाता है, वही मनुष्य है :

"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है
जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)

मछली आत्मा का प्रतीक है। मछली भू पर आने को कृत-संकल्पिता तब होती है जब सारहीन विकल्पों को छोड़ जाती है। उसी प्रकार आत्मा का उत्थान तभी होता है जब वह सारहीन विकल्पों से मुक्ति पाता है। कूप आध्यात्मिक तत्त्व की गहराई का प्रतीक है और बालटी उत्थान का प्रतीक है। कूप की गहराई में बालटी डुबकी लगाकर जिस प्रकार पानी लेकर फिर ऊपर उठती है उसी प्रकार जीवन से सम्बन्धित आध्यात्मिकता की गहराई में डुबकी लगाकर उत्थान की बालटी ऊपर आ जाती है। इस प्रकार महान् संस्कृति के निर्माण मात्र से मनुष्य आस्तिक बन जाता है। ऐसा ही मनुष्य श्रमण संस्कृति के परम श्रद्धेय पूज्य ईश्वर के स्वरूप को पा सकता है। यही दिशाबोध 'मूकमाटी' के प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' से मिलता है।

शिल्पी उस माटी को कुम्भ में बदलने के लिए किन-किन पद्धतियों को अपनाते हुए सफल हुआ, वह दूसरे खण्ड--'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में बताया गया है। कुम्भकार माटी के प्रतीक मानव के गुरु का प्रतीक है। कुम्भकार छनी हुई माटी में निर्मल जल मिलाता है। निर्मल जल आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतीक है। निर्मल जल माटी में मिला देने से वह जिस प्रकार कोमल हो जाती है उसी प्रकार आध्यात्मिकता के अवलोकन, संकलन और अनुभव मात्र से मानव का गुण बदल जाता है। उसका गुण, शील, भाव, चाल-चलन, जीवन निर्वाह आदि सब में भारी परिवर्तन आ जाता है। मनुष्य के स्वभाव में आदि से ही प्रेम है :

"स्वभाव से ही/प्रेम है हमारा/और
स्वभाव में ही/क्षेम है हमारा।" (पृ. ९३)

फूल और शूल दोनों संसार में विद्यमान हैं। फूल कोमल होता है। शूल तीखे होते हैं। फूल में गन्ध होती है। शूल कठिन होता है। कवि समझाते हैं कि फूल-शूल से ऊपर उठकर फल तक पहुँच जाना ही मानव का लक्ष्य है :

"लोक-ख्याति तो यही है/कि/कामदेव का आयुध फूल होता है
और/महादेव का आयुध शूल।/एक में पराग है/सघन राग है
जिसका फल संसार है/एक में विराग है/अनघ त्याग है
जिसका फल भव-पार है।" (पृ. १०१-१०२)

फूल का महत्त्व फूल का है। शूल का महत्त्व भी है जो भव-पार का साधन है। केवल शब्दों को जानने मात्र से सब कुछ नहीं हो सकता। शब्दों का अर्थ भी जानना चाहिए, वही बोध है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें
वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।" (पृ. १०७)

जब फल पक जाता है तो वह मीठा हो जाता है। उसमें रस होता है। बोध पकते ही शोध हो जाता है। इसलिए :

"फूल का रक्षण हो/और/फल का भक्षण हो;/हाँ ! हाँ !!
फूल में भले ही गन्ध हो/पर, रस कहाँ उसमें !" (पृ. १०७)

शोध का परिणाम मोक्ष के धाम तक पहुँचना है। मोह और मोक्ष का अन्तर स्पष्ट करते हुए विद्यासागरजी कहते हैं कि अपने को छोड़कर पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही मोह का परिणाम है :

"सब को छोड़कर/अपने आप में भावित होना ही
मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

तृतीय खण्ड का दिशा-बोध है– 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन--जिसमें मानव की यात्रा अभी शुरू नहीं हुई है; शुरू होने वाली है। समंदर के द्वारा पृथिवी की समस्त निधियाँ चुरा कर स्वयं समृद्ध बनने की चित्त-वृत्ति से आक्रान्त पूँजीपति का प्रतीक है। समस्त हड़पने की रईस चित्तवृत्ति के कारण ही समंदर ने धरती को लूटने का निश्चय किया है। इसीलिए धरती धरा हो गई, न वह वसुंधरा है और न वसुधा। वह समंदर रत्नाकर बन गया और धरती के वैभव को ले गया :

"यह निन्द्य कर्म करके/जलधि ने जड़-धी का,
बुद्धि-हीनता का, परिचय दिया है ।"(पृ. १८९)

धरती तो सर्व-सहा कहलाती है, सर्व-स्वाहा नहीं :

"और/सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में
सन्तों का पथ यही गाता है।" (पृ. १९०)

सूर्य को समंदर का कार्य अच्छा नहीं लगा। चन्द्रमा तो समंदर के पक्ष में रह गया। सूर्य अन्याय का विरोध करने वाली प्रवृत्ति का प्रतीक है तो चन्द्र घूसखोर वृत्ति का प्रतीक है। सीप तो मुक्ति का प्रतीक है। प्रथम खण्ड के आरम्भ में जिस धृति-धारणी-धरा का उल्लेख हुआ है उसका संकेत इस तीसरे खण्ड में मिल जाता है। धृति-धारणी-धरा तो संस्कृति का प्रतीक है। संस्कृति धृति-धारिणी-धरा ही है। उसके कारण ही तो मुक्ति मिल जाती है :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।/यही दया-धर्म है
यही जिया-कर्म है।" (पृ.१९३)

(यहाँ 'जल' के स्थान पर 'जन' शब्द का प्रयोग कर पढ़ने से उसका अर्थ सानुकूल होकर सामाजिकता से सम्बन्ध जुड़ेगा।)

प्रसंगवश नारी की विशेषताएँ बताई गई हैं। वह 'नारी' है अर्थात् न+अरि=नारी, वह अरी नहीं है, सो नारी है। 'महिला'– मह+ला=महोत्सव लाने वाली, अथवा मही=धरती के प्रति आस्था जगाने वाली। 'अबला'=विगत और अनागत की आशाओं से हटाकर, अब=आगत में, ला=लाने वाली है, अथवा अ+बला=न+बला=न+समस्या-संकट अर्थात् अबला=समस्या-शून्य-समाधान है। 'कुमारी'=कु+मा+री अर्थात् कु=पृथ्वी, मा=लक्ष्मी, री=देनेवाली यानी कुमारी=धरा को सम्पदा देने वाली। 'स्त्री'= स्+त्री, स्=समशील संयम, त्री=धर्म, अर्थ एवं काम अर्थात् स्त्री=धर्म, अर्थ, काम में समशील संयत बनाने वाली। 'सुता'=सु=अच्छाइयाँ, ता=भाव-धर्म को बतलाने का धर्म अर्थात् सुता=सुख-सुविधाओं की श्रोतस्विनी। 'दुहिता'=दु+हिता=दो तरफ से हित करने वाली अर्थात् अपना हित और पति का हित चाहने वाली। 'मातृ'=प्रमातृ=ज्ञाता।

कुम्भकार के आंगन में कुम्भों पर मुक्ता की वर्षा होती है। राजा के कानों में यह बात पहुँच जाती है। राजा उन्हें समेट कर ले जाने का प्रयत्न कराता है। तब आकाश में गर्जना होती है। अनर्थ-अनर्थ का नाद फैल जाता है। जब-जब अन्याय फैलता है तब-तब ऐसा हो जाता है। इसलिए :

"परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है !" (पृ. २१२)

राजा मूर्च्छित हो जाता है। बाद में मन्त्र-जल से वह सचेत हो जाता है। सब कहते हैं :

"सत्य-धर्म की जय हो !/सत्य-धर्म की जय हो !" (पृ. २१६)

राजा आतंकवादी है। इतना होने पर भी समंदर अपने कलुषित मन को शमित नहीं कर सका। घनघोर वर्षा करने के लिए वह बादलों को प्रेरित करता है। वह भी विफल हो जाता है :

- *"दृढमना श्रमण-सम सक्षम/कार्य करने कटिबद्ध हो।" (पृ. २४३)*
- *"ऊपर यन्त्र है, घुमड़ रहा है/नीचे मन्त्र है, गुनगुना रहा है*
  एक मारक है/एक तारक।" (पृ. २४९)

इस खण्ड का अमूल्य सन्देश सुनिए। दिशाबोध कितना महत्त्वपूर्ण है, देखिए :

"धरती की प्रतिष्ठा बनी रहे, और/हम सब की
धरती में निष्ठा घनी रहे, बस !" (पृ. २६२)

लो 'यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है' (पृ. २६७) करनी है।

कच्चा घड़ा तैयार हो जाता है। कुम्भकार उसे अवा में डाल कर जलाता है। उसके ऊपर ढकी हुई राख हटा देता है तो कलश दिखाई देता है। जलते-जलते बबूल की लकड़ियाँ अपनी पीड़ा व्यक्त करती हैं :

"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है।"(पृ. २७२)

अग्नि कहती है :

"मैं इस बात को मानती हूँ कि/अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक
किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,/न ही भविष्य में मिलेगी।" (पृ. २७५)

कई-कई सन्दर्भों में प्रासंगिकता के अनुसार दर्शन और आध्यात्मिकता के अन्तर पर प्रकाश डाला गया और बताया गया है कि दुनिया में दो प्रकार के लोग होते हैं– भोगी और विरागी :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं–
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;/और एक
योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।" (पृ. २८६)

कुम्भकार के द्वारा कुम्भ को बाहर निकालने के कुछ दिनों के बाद एक सेठ उसे ले आने के लिए अपने नौकर को कुम्भकार के पास भेजता है। वह अत्यन्त प्रसन्नता के साथ उसे सेठ को देने के लिए तैयार हो गया। नौकर उस कुम्भ को खरीदने के समय उसको बजा-बजा कर देखने लगा। उसमें से सात स्वर सुनाई दिए। उन्होंने नीराग नियति का उद्घाटन किया। उन सारे स्वरों का अर्थ बस इतना ही है।

कुम्भ का मूल्य चुकाने के लिए सेवक पैसे देना चाहता है तो कुम्भकार कहता है :

"आज दान का दिन है/आदान-प्रदान लेन-देन का नहीं,
समस्त दुर्दिनों का निवारक है यह/प्रशस्त दिनों का प्रवेश-द्वार !" (पृ.३०७)

सन्तों की महान् प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है, यथा–गर्तपूर्ण वृत्ति, गोचरी वृत्ति, अग्निशामक वृत्ति, भ्रामरी वृत्ति। इस प्रकार कुम्भ को आधार मान कर सन्तों की अनेक वृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। नियति और यति की परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन–स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है।" (पृ. ३४९)

स्वर्ण-कलश आदि का तृणीकरण और कुम्भ का समादर किया जाता है। सेठ को समाप्त करने के लिए आतंकवादी दल के आने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। गजदल और नागदल आतंकवादी दल को समाप्त करने के लिए उद्यत होते हैं किन्तु उनसे कहा जाता है कि कहीं भी प्राणदण्ड नहीं देना, क्योंकि :

"क्रूर अपराधी को/क्रूरता से दण्डित करना भी
एक अपराध है,/न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।" (पृ. ४३१)

कुम्भ का सहारा पाकर सेठ अन्त में नदी के किनारे पर पहुँच जाता है। सपरिवार सेठ जल-प्लावन से बच जाता है और कुम्भ का सहारा पाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँच जाता है।

- *"डूबती हुई नाव से/दल कूद पड़ा धार में*
  माँ के अंक में निःशंक होकर/शिशु की भाँति !" (पृ. ४७७)

- *"बन्धन रूप तन,/मन और वचन का*
  आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

'मूकमाटी' आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र है और इसका लक्ष्य भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है। मानवता और दार्शनिकता के समानान्तर में मानव-मूल्यों को परखने का यह महाकाव्य है।

कुम्भ (आरम्भिक दशा) विकारों से आक्रान्त मानव का प्रतीक है, मंगल कलश (कुम्भ की पूर्ण विकसित दशा) आध्यात्मिकता से विभूषित मानव का प्रतीक है। स्वर्ण-कलश मानव की स्वर्ण पिपासा का प्रतीक है। नदी भव का प्रतीक है।

मानव आरम्भिक दशा में मिट्टी के समान गुणरहित होता है। कुम्भकार अर्थात् गुरु का उपदेश पाने के बाद वह आध्यात्मिकता से विभूषित मानव हो जाता है। हाँ ! इतना कह सकते हैं कि जैन-आस्तिक-दर्शन से प्रभावित हो जाता है। धन-दाह से पीड़ित सेठ अर्थात् पूँजीपति या दौलतमन्द नदी में अर्थात् धन-दाह-रूपी प्रवाह में बह जाता है। ईश्वर वही है जो श्रद्धेय है, न कि सृष्टिकर्त्ता। ऐसी मान्यता को श्रमण-आस्तिक-दर्शन या जैन-आस्तिक-दर्शन कहते हैं। इसका समुचित प्रतिवेदन करना ही 'मूकमाटी' का 'प्रवचन' है, न कि 'वचन'।



पृ. १८४ ☐

'मूकमाटी' महाकाव्य : शुद्ध चैतन्य की खोज

डॉ. राजमति दिवाकर

'मूकमाटी' काव्य को पढ़ते हुए लगा कि ऋषिमना आचार्य श्री विद्यासागरजी की चेतना निरन्तर सिद्ध होने के उपक्रम में माटी के मौन को व्याख्यायित करने का प्रयास करती है (माटी का मौन यानी पदार्थ-जगत् का मौन विस्तार); इसलिए यह कुछ-कुछ वैसा ही प्रयास है जो सदियों पूर्व से लेकर अब तक आचार्यगणों ने 'चेतना और पदार्थ' के द्वन्द्व को समझने के लिए अनेक बार किया। इसी द्वन्द्व में द्वैत (सगुण), अद्वैत (निर्गुण), विशिष्टाद्वैत न जाने कितने मत-मतान्तर चलते चले आ रहे हैं लेकिन संसार के द्वैत को समझने का यह प्रयास अपने ढंग का विशिष्ट प्रयोग है।

महाकाव्य मैंने और भी पढ़े हैं लेकिन यह उस तरह का शास्त्रीय रूप-गुण वाला महाकाव्य नहीं है, जैसा संस्कृत शैली में प्रचलित है। उसमें शास्त्रीय ढंग की महाकाव्य की लम्बी-चौड़ी सैद्धान्तिक शर्तें हैं, जिसमें सर्गबद्धता हो, वीरता हो, धीर ललित, धीरोद्धत नायक हो, नायक में ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण हों, नव रसों का परिपाक हो इत्यादि शतक भरी शर्तें। जबकि 'मूकमाटी' महाकाव्य में नायक नहीं, नायिका है, वह भी 'मूक रहने वाली माटी'। वैसे हिन्दी साहित्य में ऐसे उपन्यास जरूर लिखे गए हैं जिसमें नायक कोई व्यक्ति विशेष नहीं होता, जैसे—हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'चारुचन्द्र लेख', जिसमें कथा सिर्फ बुनी गई है लेकिन नायक है काल। मध्यकाल के समय को नायक बनाकर कथा शिल्प रचा गया। इसी तरह 'मूकमाटी' में नायिका है 'माटी'— जो धरती है, जो पृथ्वी है, जो ऋतु है, जो साम है, जो प्रणव रूपा है, जो ऋचा है, जो उद्गीथ है। उसे ही नायिका बनाया और यह अपने आप में सृजन का महत्तर लक्ष्य है। माटी की वेदना के माध्यम से संसार की वेदना को समझकर उस पर महाकाव्य की शिल्प-रचना अपने में निराली कोशिश ही नहीं, अपितु अपने भीतर विराजी शुद्ध आत्मचेतना का सृजन के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार ही है। इसीलिए मेरा लक्ष्य है काव्यकार के बृहत्तर सन्दर्भों को समझकर शुद्ध चेतन अस्तित्व के सन्दर्भों में दार्शनिक पक्ष को उजागर करना। मैं महाकाव्य के बाह्य रूप में व्याप्त शब्द, शिल्प शब्द श्लेष या शब्दों की पच्चीकारी में उलझना नहीं चाहती, बल्कि 'मूकमाटी' काव्य में शब्द चित्रों-बिम्बों के माध्यम से 'शब्दों के पार' अवस्थित निःसंग चेतना के आत्मविचारों को समझने की कोशिश करना चाहती हूँ। वस्तुतः अपनी स्वाभाविक ऊर्जा से काव्यकार ने, जो चेतन-अवचेतन में जमा स्मृतियों और दृश्य जगत् से परिकल्पित विचारों को अनेक आयाम में अर्थ देकर काव्य-रचना की है, उसे मैं काव्य के शब्दों चित्रों में अन्तर्धुलित सूक्ष्म तत्त्व दर्शन को अपनी स्थूल बुद्धि से व्याख्यायित करने/पकड़ने की कोशिश करना चाहती हूँ। मैं सोचती हूँ कि माटी को मूक नाट्यशाला का साक्षी बनाकर एक साधक, एक मुनि, एक आचार्यमना आत्मसत्य की चिरन्तनता का कितना विस्तृत आयाम तलाशते हैं।

काव्य का आरम्भ प्रकृति के सुकोमल विस्तार से होता है। वस्तुतः कतिपय पुराणों में महामाया तत्त्व का विस्तार माया है और माया की बेटी प्रकृति है। कवि प्रकृति के मधुर सौन्दर्य बिम्ब को उभारते हैं :

- *"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है।" (पृ. १)*
- *"सत्ता शाश्वत होती है/सत्ता भास्वत होती है बेटा!" (पृ. ७)*
- *"आस्था के बिना रास्ता नहीं।" (पृ. १०)*
- *"गति या प्रगति के अभाव में/आशा के पद ठण्डे पड़ते हैं।" (पृ. १३)*
- *"संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से/हर्षमय होता है, धन्य!" (पृ.१४)*

माटी के साथ जो घटित होता है, उसे पढ़कर लगा हम इस जगत् में शुद्ध चेतन सत्ता के रूप में हैं और हममें अनगिनत सम्भावनाएँ होती हैं किन्तु हमारे साथ ढेर-से कंकर, धूल, काई, कल्मष लिपटा हुआ मन होता है। फलतः आत्मा का शुद्ध अस्तित्व कर्म जाल से आवृत होता है। धीरे-धीरे घर की विशेष संस्कृति के मोह में अपने वास्तविक रूप को ढँक लेते हैं और हम भूल जाते हैं कि हमारे भीतर मनीषी, स्वयम्भू होने की ताकत भी है।

माटी के जन्म, उत्पाद से लेकर व्यय और पुनः अस्तित्व यानी ध्रौव्य तक की यात्रा में अचेतन माटी कितनी पर्याय बदलती है, एक ऐसा ही शब्द-बिम्ब इस तरह है :

" "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्"/सन्तों से यह सूत्र मिला है
इसमें अनन्त की अस्तिमा/सिमट-सी गई है।
यह वह दर्पण है,/जिसमें/भूत, भावित और सम्भावित
सब कुछ झिलमिला रहा है।" (पृ. १८४)

इस माटी की पर्याय परिवर्तन में यम, नियम, प्राणायाम जैसी योग-साधना पर भी आचार्यश्री केन्द्रित होते हैं। शुद्ध होने की प्रक्रिया योग है। इस प्रक्रिया में दोष को तजना पड़ता है। बोधपूर्ण शोध की प्रक्रिया से अन्तर्मन की योग-प्रक्रिया को, प्राणायाम को आचार्यश्री कुम्भ के माध्यम से स्पष्ट कर देते हैं, यथा :

"पूरी शक्ति लगाकर नाक से/पूरक आयाम के माध्यम ले
उदर में धूम को पूर कर/कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम किया।" (पृ. २७९)

माटी से निर्मित 'घट-निर्माण' व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया ही तो है—एक ऐसी प्रक्रिया जो हमें धर्म, विचार, भाषा, शिक्षा, संस्कृति, योग आदि में दीक्षित करती है। अपने अन्न-जल के माध्यम से हम भी 'माटी' (शरीर) के पूरे संघर्ष में अपनी एक धार्मिक पहचान निर्मित करते हैं, परिस्थितिजन्य कर्मों की आँच में तप कर, पक कर अपनी अस्मिता बनाते हैं। हमारे दृश्य जगत् में मूकमाटी की मुश्किल है कुम्भ और कुम्भकार का द्वैत। माटी और शिल्पी के द्वैत के इसमें अनेक बिम्ब हैं :

"शिल्पी की ऐसी मति परिणति में/परिवर्तन - गति वांछित है।" (पृ.१०४)

इस द्वैत में संसार का चक्र चलता चला जा रहा है। इसीलिए काव्यकार लिखते हैं :

"काल स्वयं चक्र नहीं है/संसार-चक्र का चालक होता है वह।" (पृ. १६१)

इस चक्र में चार गतियाँ, चौरासी लाख योनियाँ हैं। वस्तुतः काल-चक्र थोड़े ही है, वो तो हम जनम-मरण की निरन्तर गति से चक्रमाण हैं, इसीलिए संसार का चक्र है। हमारे भीतर का मन ही तो काल को जानता है, वरना काल तो नित्य वर्तमान है। उसकी अखण्ड सत्ता है। लेकिन संसार में भ्रमण करते हुए हम काल को सीमित कर लेते हैं। हम जीवधारी दुविधा में ही विविधा रच लेते हैं। अपने 'मैं' को दुविधा के बीच 'दो-गला' बना लेते हैं। एक शब्द बिम्ब है :

""मैं दो गला"/...मैं द्विभाषी हूँ/भीतर से कुछ बोलता हूँ
बाहर से कुछ और"'/...मैं दोगला/छली, धूर्त, मायावी हूँ
अज्ञान-मान के कारण ही/इस छद्म को छुपाता आया हूँ/...और

इसका तीसरा भाव क्या है—/...सब विभावों-विकारों की जड़
'मैं' यानी अहं को/दो गला—कर दो समाप्त।" (पृ. १७५)

मैं को गला देने या समाप्त कर देने से ही संसार की मोह-माया भी कम होती है। मोह की निर्जरा के लिए अहंकार रहित होना ही शुद्ध चेतन की प्राप्ति या पहल का प्राथमिक बिन्दु है।

'मूकमाटी' महाकाव्य में करुणा रस का बार-बार प्रयोग आया है। मेरे विचार से करुणा रस नहीं है, जिस तरह अहिंसा का भाव रस नहीं है, एक महाभाव है। भाव तो जिस आत्मा में जाग जाए, वह महाकल्याण ही करता है। महावीर की आत्मा में वह जागा और विश्वकल्याण की देशना से उपकृत हो गया संसार। करुणा महाभाव बुद्ध की आत्मा में जागा और सारी दुनिया कृतकृत्य हो गई। करोड़ों लोग उनकी वाणी से उद्‌बुद्ध हुए।

नव रसों के साथ वात्सल्य को जरूर आजकल के विद्वानों ने रस मान लिया है। यद्यपि आचार्यश्री ने मोह के कारण 'त्राण' शब्द का प्रयोग किया है। करुणा जीवन का प्राण समीर-धर्मी, वात्सल्य जीवन का त्राण नीर-धर्मी है जबकि करुणा का स्थान वात्सल्य से करोड़ योजन ऊँचा है। करुणा उसी में जागती है जो शुद्ध चेतना को उपलब्ध हुए हों, साथ ही अहंकार अणुमात्र भी उनमें न हो, सारे विश्वकल्याण के लिए ही अन्तिम जन्म धारण किया हो, यथा :

"करुणा-रस जीवन का प्राण है/घम-घम समीर-धर्मी है।
वात्सल्य जीवन का त्राण है/धवलिम नीर-धर्मी है।
किन्तु, यह/द्वैत जगत् की बात हुई,
शान्त-रस जीवन का गान है/मधुरिम क्षीर-धर्मी है।" (पृ. १५९)

वस्तुतः करुणा हमें रस की तरह लगता है, होता नहीं। करुणा शब्द का जो उपयोग हम व्यवहार में करते हैं वह प्रकारान्तर से दया ही होती है। दया की सीमा होती है, करुणा असीम होती है।

हम दान, दया आदि सबकी प्रतिस्पर्धा करते हैं, क्योंकि इस दान, दया की सीमा होती है। काव्य में इस प्रतिस्पर्धा को प्रतिबिम्बित किया है 'घट' और स्वर्ण कलश की तुलना से। घट के प्रति दया का भाव ही स्वर्ण कलश में दान का अभिमान पैदा करता है, स्वर्ण का आतंक पैदा होता है, जो त्राहि-त्राहि करता है। स्वर्णकलश के आकर्षण और आतंक से हम अपनी पहचान और शुद्ध चेतना के अस्तित्व को भूल जाते हैं। मुनि, आचार्य, सन्त इस पहचान और शुद्ध-चेतना के अस्तित्व की ओर लौटने का उपदेश देते हैं। सन्तशिरोमणि विद्यासागरजी के प्रवचन हैं :

"क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ
वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी/सही-सही पहचान।" (पृ. ४८७)

आचार्य ही वह पहचान देते हैं, लेकिन वह तभी सम्भव है जब हम सांसारिक उपादान को छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप को जानें, उस पर सम्यक् श्रद्धा रखें। जब चेतन मन को जानने की सच्ची जिज्ञासा जागती है तब ऊपरी ज्ञान थोथा लगने लगता है। वह मुनि, आचार्य जैसी आचरण की शुद्धता से उपजता है। तत्त्वतः थोथे ज्ञान को तजने की प्रक्रिया जिस क्षण से शुरू होती है, बस उसी क्षण से हम भीतर के शुद्ध अध्यात्म की देहरी में पहला कदम रखते हैं। शुद्ध चेतन के बोध के प्रयास में भाषा की बाधा मालूम पड़ती है। निज स्वरूप के बोध में मिथ्या भाषा की निस्सारता को हम जान लें तो फिर जाति, धर्म, पुराण, कथा आदि से दूर करणानुयोग-चरणानुयोग में हमारी चेतना रमने लगती है। इस प्रक्रिया में हमारे कर्मों की आवृतियाँ पीछे छूटने लगती हैं, हमारी नाम-रूपमय पहचान हट जाती है और एक द्रष्टा के

मानिंद हम अपने शुद्ध आलोक से देख सकते हैं मूकमाटी की विस्तृत लीला को।

इस आवर्तमान् जगत् में हम धर्म सारिणियों और दार्शनिक तथ्यों को न समझकर धर्म के बाहरी अलंकरण को ही अपनी रक्षा का साधन मानने लगते हैं। धर्म संगठन को सत्ता का रूप देते हैं और धर्म संगठनों को घृणास्पद कट्टरता का रूप देकर सच्चे धर्म से दूर होते जाते हैं, जबकि धर्म का सच्चा रूप निज स्वभाव को अनुभव करने की ऐकान्तिक प्रक्रिया है। धर्म एकान्त में ही घटित होता है। अपने भीतर के सच्चे धर्म की पहचान आन्तरिक महामौन में ही सृजित होती है, भीड़ में नहीं। इसीलिए जिन-धर्म सामयिक और स्वाध्याय की अनिवार्यता पर अधिक बल देता है।

हम संसार की मूक माया में ऐसे आबद्ध हैं कि आत्मधर्म के इस अन्त:साक्ष्य को उभरने ही नहीं देते, अत: आत्मधर्म की यात्रा बड़ी कठिन लगती है। इस कठिन धर्म को समझने की कोशिश तो शुरू करें और अपनी समूची जीवन शैली में एकान्त चर्या के लिए स्थान दें, तब ही हम भीतर से अपनी पहचान को शुरू कर सकते हैं। सच तो यह है कि धर्म साधनाएँ बाहर का ज्ञान दे सकतीं हैं परन्तु शुद्ध-चेतन का बोध महामौन की यात्रा से ही सम्भव है। शुद्ध चेतन को उपलब्ध होने के साक्षी तो महावीर, बुद्ध, नानक, कबीर जैसे शलाका पुरुष हैं, जो आत्मप्रकाश से दीप्त हैं और निरन्तर प्रकाश विस्तार में लीन हैं।

'मूकमाटी' काव्य में सन्त के प्रवचन कठिन-योग साधना को संकेतित करते हैं। 'पुण्य का पालन : पाप प्रक्षालन' करुणा का महाभाव और शान्त रस का विस्तार – सभी कुछ इस महाकाव्य में है। सन्तजन–संसार की मूकमाटी के महामौन के साक्षी हैं और निज स्वरूप को पहचानने की आन्तरिक यात्रा को इंगित करते हैं। माटी की मूक वेदना से स्वर्ण कलश के आतंक तक न जाने कितने विषय, अनेक बिम्ब और स्वयं को उपलब्ध होने की कोशिश में हजार काव्य पद में आत्म स्वभाव तक पहुँचने की अभीप्सा इस महाकाव्य में मौजूद है। जागतिक व्यापार का ऐसा विशद और सहजता पूर्ण चित्रण जैन काव्य परम्परा में है। जो भी इसे पढ़ता है, वह अपने चेतन बोध और स्मृति से अनेक रूपों में ग्रहण करता है।

हमारे आलोचक मन में विवेक के दो आयाम होते हैं– एक बाह्य रूप में आलोचना करना और दूसरा शब्द के पार शब्द के आभ्यंतरिक सच को समझकर उसे व्यक्त करना। मैं बहुत गहरे समझती हूँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी माटी गन्ध में समाई चेतना को। इस काव्य के माध्यम से मैंने सृष्टि के विकास और अनन्त विस्तार को समझा। मिट्टी जो हमारी माँ है, महतारी है, अम्बा है, उसमें कोंपलों के नित नवीन रंग हैं, सृजन की असीम शक्ति है और उस सृजन पर काव्य-सृजन करना बड़े ही सामर्थ्य का काम है। माटी भीतरी सच और संसार के सच के अन्तर को उभार देती है और यही लौकिक संज्ञान की पहली सीढ़ी है। यह काव्य आत्मखोजी, जिज्ञासु चेतना के मन में माटी के मौन से निष्पादित काव्य है, जिसका शिल्प एक संवाद शैली में सहज एवं सरल शिल्प है। मैंने जानबूझ कर महाकाव्य की सैद्धान्तिक समीक्षा को अलक्षित छोड़ दिया है। मेरा लक्ष्य रहा है इस चराचर जगत् में शरीर (पुद्गल), जीव-अजीव से जुड़े संसार में माटी के मौन के, हजार बिम्ब के मर्म को विश्लेषित करना। मौन माटी के पार शुद्ध चेतन की साधना करने वाले आचार्यश्री के द्वारा सिद्धत्व को पहचाने की कोशिश इस काव्य में व्यक्त हुई है। □



पृष्ठ ११०

मिल-मिल मिल-मिल----

बहुत कम युगचे को मिला यह।

'मूकमाटी' : सन्त-कवि का मुखर काव्य

प्रो. (डॉ.) देवव्रत जोशी

भारतीय ज्ञानपीठ विलुप्त, अनुपलब्ध तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य के प्रकाशन की संस्था है। इधर इसी संस्था ने एक महाकाव्य 'मूकमाटी' प्रकाशित किया है। विस्मय और कुतूहल से पढ़ी, आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित यह रचना।

विद्यासागरजी जैन मुनि हैं और उनका तत्त्व दर्शन और चिन्तन लगभग ५०० पृष्ठों के इस काव्य ग्रन्थ में बिखरा मिलता है। छन्दबद्धता कहीं नहीं, किन्तु लय, गम्भीर चिन्तन और दर्शन की गहरी छाप आश्वस्त करती है कि कविता के लिए न जनवादी होना आवश्यक है, न मुनि होना बाधक। सार्वभौम और सार्वकालिक सत्य मानव मूल्यों में ही समाहित है और 'मूकमाटी' में यह सब कुछ सहज प्राप्य है :

"ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं,/और···वह भी···
स्त्री-पर्याय में–/अनहोनी-सी···घटना !" (पृ.२)

यह महाकाव्य चार खण्डों में विभक्त है– (१) संकर नहीं : वर्ण-लाभ, (२) शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं, (३) पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन एवं (४) अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।

काव्य में सम-सामयिकता है। ऐतिहासिक परिदृश्य हैं, जो वर्तमान से सन्दर्भित हैं। कथा है, किन्तु कथा को अतिक्रमित करती हुई। वस्तुतः श्री अरविन्द की 'सावित्री' और प्रसाद की 'कामायनी' के बाद इतना सुघड़, शिल्प-वैशिष्ट्यपूर्ण काव्य सम्भवतः भारतीय साहित्य में दृष्टिगत नहीं हुआ। कहीं-कहीं सन्देश हैं, जो कविता को क्षति नहीं पहुँचाते :

"जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ !" (पृ. १४९)

और भी उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

"निगूढ़ निष्ठा से निकली/निशिगन्धा की निरी महक-सी
बाहरी-भीतरी वातावरण को/सुरभित करती जो
वही निष्ठा की फलवती/प्रतिष्ठा प्राणप्रतिष्ठा कहलाती है।" (पृ. १२०)

दया जैन-दर्शन का महत्त्वपूर्ण तथ्य-सत्य है, किन्तु दया जितना ओछा शब्द भी और कोई नहीं। मानव भला मानव पर दया दिखा सकता है ? प्रखर कवि दया को इस तरह परिभाषित करता है :

"दया का कथन निरा है/और/दया का वतन निरा है।" (पृ. ७२)

आज के परिप्रेक्ष्य में कवि-कथन कितना सटीक है :

"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।" (पृ. ७३)

अपनी पृथक् भंगिमा और तेवर के कारण यह काव्य पृथक् स्थान रखता है। यही इसकी विशेषता है।

['नई दुनिया' (दैनिक), इन्दौर-मध्यप्रदेश, १६ जनवरी, १९९०]

'मूकमाटी' : काव्य-जगत् में एक नया कीर्तिमान्

पण्डित प्रकाश 'हितैषी' शास्त्री

कर्नाटक प्रान्त में जन्मे विद्याधर, जो आज आचार्य विद्यासागर हैं, जैन समाज में बहुचर्चित विद्वान् साधु हैं। इस पर कौन विश्वास कर सकता है कि कर्नाटकवासी हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं पर इस प्रकार से अधिकार कर लेगा कि तत्-तत् भाषाओं के विद्वानों से भी बहुत आगे निकल जाएगा। माटी जैसी अकिंचन, निर्जीव वस्तु के माध्यम से आपने धर्म, दर्शन, आचार, विचार के सन्दर्भों को मुक्त छन्द की आधुनिक शैली की कविता में निबद्ध करके काव्य-जगत् में एक नया कीर्तिमान् स्थापित किया है। सुयोग्य शिल्पी कुम्भकार मिट्टी की योग्यता और भाव्य शक्ति देख कर अपने कौशल से उसे स्वच्छ, साफ़ कर उसका सर्वोपयोगी जीवन का निर्माण कर देता है, जैसे कि शिष्य की योग्यता के अनुसार गुरु उसके निर्माण में सहायक बन जाता है।

यह एक प्रतीकात्मक कृति है जो महाकाव्य की श्रेणी में आती है। इसमें मिट्टी मंगल कलश का रूप धारण करके मंगल का प्रतीक बन जाती है, जिसका उपयोग मंगल कार्यों में प्रमुखता से किया जाता है। मंगल घट बनने के पूर्व उसे जिन-जिन कठिन परीषहों और परीक्षाओं से गुज़रना पड़ता है, वे दृश्य हमारी साधना की ओर इंगित करते हैं। आत्म-साधना में भी दु:सह परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना पड़ता है। उस माटी को पानी की अतिवृष्टि बहा ले जाती है तथा अनावृष्टि माटी को रूक्ष और शुष्क बनाकर उसका अस्तित्व समाप्त करना चाहती है, किन्तु ये प्रतिकूलताएँ भी माटी का अस्तित्व समाप्त न कर सकीं। जैसे साधना के पथ में अनेक प्रतिकूलताएँ आती हैं किन्तु वे उसे बाधाएँ उत्पन्न नहीं कर सकतीं बल्कि वे बाधाएँ उसे साधक ही सिद्ध हो जाती हैं।

वह मंगल कलश इन सब बाधाओं को पार कर सुहागनों के शिखर पर सबसे अग्रपंक्ति में पुष्प माला और स्वस्तिक व श्रीफल से सुशोभित, शृंगारित होकर मंगल कार्यों में मंगलमय बन गया है, जैसे कि साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर स्वयं मंगलमय और मंगलकारी बन जाता है।

आचार्यश्री की सूझबूझ, अलंकारों की साज-सज्जा, नाटकीय दृश्य, रोचक और लुभावने संवाद अध्यात्म के रहस्यों को उद्घाटित करते देखे जाते हैं। इसमें द्रव्यशक्ति का ज्ञान कराकर उसमें सुप्त सम्भावनाओं को जागृत करने का प्रयास किया गया है। जैसे रत्न को शाण पर चढ़ाकर उसको अपनी निर्दोष स्थिति में लाकर बहुमूल्य और ज्योतिर्मय बना दिया जाता है, वैसे ही मंगल कलश को अवे की अग्नि/भट्ठी में डालकर परिपक्व अवस्था में लाकर कुम्भकार उसको महिमावन्त बना देता है।

कविता का मुख्य उद्देश्य कवि और पाठक को आनन्दानुभूति कराना है। इसलिए कविता का मूलगुण उसकी भावात्मक प्रकृति है। अत: उसमें निहित उपदेश मन और बुद्धि को आन्दोलित करते हैं। भले ही कविता लोकहित की प्रेरणा से लिखी हो, किन्तु उसमें भी रसों को विशेष महत्त्व दिया जाता है जो काव्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

कविता की रचना सामान्यत: या तो प्रबन्ध काव्य के रूप में की जा सकती है या मुक्तक कविता के रूप में। प्रबन्ध काव्य में किसी कथा विशेष का आश्रय लिया जाता है। सम्पूर्ण मानव-जीवन को दृष्टि में रखकर लिखे जाने वाले प्रबन्ध काव्य को महाकाव्य कहते हैं और जीवन की किसी एक पक्ष को छूने वाली घटना का वर्णन जिसमें किया जाता है उसे खण्ड काव्य कहते हैं।

सम्पूर्ण मानव-जीवन को लक्ष्य में रखकर लिखित यह रचना महाकाव्य की श्रेणी में आती है, अत: इसको महाकाव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। विषय और शैली दोनों दृष्टि से कविताओं के गुण इसमें प्राप्त होते हैं। भाषा की सरलता और प्रवाहपूर्ण गति इसकी उल्लेखनीय विशेषता है। कवि की चिन्तनपूर्ण अलौकिक प्रतिभा के दर्शन इसमें पद-पद पर होते हैं। साहित्यकारों की दृष्टि में यह कृति सर्वांग सुन्दर होगी।

[सम्पादक-'सन्मति सन्देश'(मासिक), नई दिल्ली, जून, १९९०]

□

'मूकमाटी' महाकाव्य की दार्शनिकता

डॉ. अजित शुकदेव

सत् साहित्य चिन्तन एवं अनुभूति के सम्यक् समन्वयात्मक सम्प्रेषण का मंजूषा होता है, क्योंकि चिन्तन जहाँ मस्तिष्कगत अपनी बहु-आयामिक व्यापकता से साहित्य को सबल, सतेज और चिरंजीवी बनाता है, वहाँ अनुभूति अपनी हृदयगत कलात्मक, गहरी भाव प्रवणता से साहित्य को सुष्ठु और संवेदनशील बनाने में सहायिका होती है। अतः चिन्तन और अनुभूति दोनों ही साहित्य के सन्दर्भ में अभिन्न हैं और दोनों ही समान रूप से साहित्य संरचना के लिए अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत हैं। दोनों ही सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में आत्मप्रेषण की मौलिक प्रवृत्ति के कारण देश-काल की अपेक्षा से विकसित और अभिवर्धित होते रहते हैं। यही कारण है कि कोई भी महान् साहित्यकार की कालजयी रचना अपनी सांस्कृतिक धरातल पर अपने संश्लिष्ट विचारों अथवा चिन्तन को संजोए रखती है और अपनी गूढ़ इन्द्रधनुषी अनुभूतियों को प्रक्षेपित करती हुई पाठकों के मनःप्राण को आकर्षित करती है। यद्यपि चिन्तन और अनुभूति एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के दो पहलू हैं फिर भी दोनों एक-दूसरे के बिना अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकते। चिन्तन साहित्य के माध्यम से ही सामाजिक स्वीकृति ग्रहण करता है और उसी तरह अनुभूति भी चिन्तन की सहचरी बनकर ही शाश्वत स्वीकार प्राप्त करती है। सच तो यह है कि चिन्तन कभी भी अनुभूति से अलग नहीं होता और न आरोपित ही होता है, बरन् वह तो सर्जन-प्रक्रिया में ही अनायास सन्निविष्ट हो जाया करता है। सत् साहित्य इसी प्रक्रिया के माध्यम से ही अपने चिन्तन और अनुभूति को क्षिप्र एवं निगूढ़ बना पाता है। इस सन्दर्भ में दर्शन एवं साहित्य अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के समान-धर्मत्व की भूमिका अदा करते हुए दोनों ही एक-दूसरे से संगुम्फित होकर जीवन सम्बन्धी उन चिरन्तन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं, जो समय के अन्तराल में परिस्थितियों के द्वारा उठाए जाते हैं। अतः साहित्य सर्वदा सांस्कृतिक नींव पर ही खड़ा होकर वर्तमान चिन्तन एवं अनुभूति को अपने में आत्मसात् करता हुआ विकसित होता रहता है और भविष्य का भी प्रेरणास्रोत बन जाता है। पुनः मानसिकता के समान-धर्मत्व के कारण साहित्य दर्शन से कभी भी अलग नहीं होता, बल्कि अनुभूत सत्य को समस्तरीय प्रदान करने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहता है। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि साहित्य का चरमोत्कर्ष अथवा परिणति दर्शन ही है और उसी प्रकार सार्वजनीन स्वीकृति अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए दर्शन का चरमोत्कर्ष साहित्य ही होता है। साहित्य तब पूर्ण कहलाने का अधिकारी होता है जब उसकी अनुभूति परम सत्य का साक्षात्कार कर ले और दर्शन की चरम सिद्धि तब होती है जब वह आत्मचिन्तन को आत्मानुभूति के रूप में हृदयंगम कर ले। इसी कारण प्रत्येक महान् साहित्यकार दार्शनिक होता है और प्रत्येक महान् दार्शनिक साहित्यकार। दुनिया के प्रत्येक महान् दार्शनिकों की कृतियाँ साहित्य तत्त्व से अलग नहीं है और न प्रत्येक सिद्धस्त साहित्यकार की कृतियाँ दर्शनविहीन।

अतः 'मूकमाटी' अपने आप में, काव्य-परम्परा से अलग हटकर एक ऐसा महाकाव्य है जिसके सन्दर्भ में सम्पूर्ण जैन वाङ्मय के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक ज्ञान-विकास का संश्लिष्ट दस्तावेज़ प्रस्तुत हुआ है। क्योंकि इस महाकाव्य के रचयिता आचार्य विद्यासागरजी स्वयं में साधक, चिन्तक एवं आधुनिक परिवेश के भोक्ता कवि हैं और जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अँग्रेजी आदि भाषाओं के माध्यम से विभिन्न दृष्टिभंगियों से साक्षात्कार किया है। वे विस्तृत फलक पर दैशिक समस्त सम-सामयिक गतिविधियों के साथ उनके आन्तरिक समस्याओं की नब्ज पहचानने में समर्थ दीख पड़ते हैं और उनके सम्यक् समाधान के दिशा-निर्देश देने में आकुल सक्षम। 'सन्त-साधना के जीवन्त प्रतिरूप' एवं 'तपस्या से अर्जित जीवन-दर्शन को अनुभूति में रचा-पचाकर सबके हृदय में गुंजरित कर देना' उनका काम्य है और मंगल घट के प्रतीक के माध्यम से भविष्य को सार्थकता की त्वरा देकर प्रतिष्ठित करना उनका लक्ष्य।

'मूकमाटी' महाकाव्य न किन्हीं ऐतिहासिक महापुरुषों अथवा घटनाओं के आधार पर वर्णित हुआ है न किन्हीं कथा-कहानियों के कल्पित प्रमुख पात्र-पात्राओं के संस्कार पर बल्कि इस महाकाव्य के नायक-नायिका के रूप में क्रमशः माटी एवं कुम्भकार की उद्भावना की गई है, जो 'कर्मबद्ध आत्मा की विशुद्धि की ओर बढ़ती मंज़िलों की मुक्ति-यात्रा के पर्याय बन सके हैं।' स्वाभाविक है कि 'मूकमाटी' के चार अध्याय वस्तुतः जीव अथवा आत्मा के चार सन्दर्भों की व्याख्या करते हैं। प्रथम अध्याय 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' जीव के साधारणतः प्रकृति-स्वरूप का विवेचन करता है। द्वितीय अध्याय 'शब्द सो बोध नहीं: बोध सो शोध नहीं' प्रकारान्तर से सम्यक् दर्शन की अभिव्यंजना करता है। तृतीय अध्याय 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' एवं चतुर्थ अध्याय 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' क्रमशः सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की व्याख्या करते हैं। क्योंकि इन अध्यायों में माटी ही प्रतीक रूप में जीव अथवा आत्मा के इन चारों सन्दर्भों का सूत्रधार है जो विभिन्न अवस्थाओं से गुज़रते हुए मोक्षावस्था को प्राप्त करता है। माटी वस्तुतः अन्तःसलिला की भाँति अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखती हुई समस्त अवान्तर सम्बन्धित पात्रों मच्छर, मत्कुण, गुलाब के फूल एवं काँटे, सरिता, सेठ, आतंकवादी आदि के साथ अनुस्यूत दीख पड़ती है, जो यथोचित ही है।

'मूकमाटी' महाकाव्य चार अध्यायों में विभाजित जीवन के चार आयामों की व्याख्या करता है। यद्यपि वैदिक चार आयामों की स्वीकृति श्रमण संस्कृति में ठीक उसी प्रकार प्रचलित नहीं है, जिस रूप में वहाँ है। श्रमण संस्कृति में प्रकारान्तर से उसका स्वरूप संशोधित कर दिया गया है। इस महाकाव्य के 'मानस तरंग' शीर्षक के अन्तर्गत उल्लिखित भी है : "...जिसने (श्रमण संस्कृति) वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था-विधान को नकारा नहीं है परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उनमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है।"

"वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से,
वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

तात्पर्य यह है कि श्रमण-परम्परा में कर्तव्यों का पालन न जातिवाद के आधार पर स्वीकृत है, न आश्रम के आधार पर बल्कि कर्तव्य पूर्णतः मनुष्य मात्र के लिए करणीय है और वह भी समान रूप से। श्रमण-परम्परा में यदि जातियों का विभाजन हुआ भी है तो मनुष्य के कर्म के आधार पर। अतः कोई भी व्यक्ति किसी भी जाति का हो, वह अपनी योग्यता के अनुसार या तो संन्यास ग्रहण कर साधु बन सकता है, अथवा श्रावक बन कर सांसारिक कर्तव्यों का पालन करता हुआ भी यथायोग्य संन्यास का जीवन व्यतीत कर सकता है। श्रमण-परम्परा में अर्थ एवं काम को खुली छूट कभी नहीं दी गई है। 'मूकमाटी' के अन्तर्गत सेठ इसी भाव का प्रतीक बनकर उपस्थित होता है जो अन्ततः धर्म और मोक्ष की देहली पर अपना सिर टेक देता है।

'मूकमाटी' के अन्तर्गत अग्नि के माध्यम से अध्यात्म एवं दर्शन का अन्तर सहज तथा नपे-तुले शब्दों में वर्णित हुआ है, जो शलाघनीय है :

"दर्शन का आयुध शब्द है—विचार,/ अध्यात्म निरायुध होता है
सर्वथा स्तब्ध—निर्विचार !/एक ज्ञान है, ज्ञेय भी
एक ध्यान है, ध्येय भी।" (पृ. २८९)

वस्तुतः दर्शन का जहाँ अन्त होता है, वहाँ से ही अध्यात्म का प्रारम्भ होता है। यद्यपि भारतीय ज्ञान-मीमांसा अध्यात्म को भी अपने में समेटने का प्रयास करती है, लेकिन अधिकांश पाश्चात्य दार्शनिकों की दृष्टि आध्यात्मिक ज्ञान की ओर नहीं जा पाती है। दीपक के माध्यम से ज्ञान के स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव का वर्णन बड़ा ही अच्छा बन पड़ा है :

"...दीपक की लाल लौ/अग्नि-सी लगती, पर अग्नि नहीं,
स्व-पर-प्रकाशिनी ज्योति है वह।" (पृ. ३७०)

ज्ञान ज्योति समग्रता से साक्षात्कार करती है तथा अभेद दृष्टि प्राप्त करती है :

"स्व और पर का भेद/चरमरा-सा गया है,/सब कुछ निःशेष हो गया
शेष रही बस,/आभा···आभा···आभा···।" (पृ. ४२५)

जैन दर्शन में सत् अथवा द्रव्य की परिभाषा है : "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्" (तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०)। इस परिभाषा को महाकवि बसन्त ऋतु के जाने के अवसर आम-फहम भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करने में सफल हुआ है, यथा :

"आना यानी जनन—उत्पाद है/जाना यानी मरण—व्यय है
और/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है/और/है यानी चिर—सत्
यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

वस्तुतः यह जगत् अथवा सांसारिक प्राणियों के सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता अथवा संहारकर्ता कोई नहीं है। गुण पर्याय के कारण जगत् अथवा प्राणि मात्र अपने नए रूप को ग्रहण करते हैं और पुराने का त्याग, जिसे हम सृजन-प्रलय के नाम से जानते हैं। वस्तुतः उनका आत्यन्तिक विनाश नहीं होता है। वे तो चिरन्तन हैं। प्राणी अथवा जीव कर्मवश विभिन्न गतियों—स्थितियों में परिरमण करते रहते हैं, क्योंकि :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है।" (पृ. ८)

पुनः, सांसारिक परिवेश जीव को अपने सूक्ष्म कर्माणुओं से प्रभावित करते हैं :

"कर्मों का संश्लेषण होना,/आत्मा से फिर उनका
स्व-पर कारणवश/विश्लेषण होना,/ये दोनों कार्य/आत्मा की ही
ममता-समता-परिणति पर/आधारित हैं।" (पृ. १५-१६)

इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि व्यवहार नय से जीव पर्याय के आाश्रत है, निश्चय से नहीं। 'समयसार' में कहा भी है :

"ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स॥" (गाथा ६१)

वर्णादिक व राग-मोहादिक गुणस्थान पर्यन्त जितने भी भाव हैं, वे व्यवहार नय से जीव के हैं परन्तु निश्चय नय से कोई भी वैभाविक भाव जीव के नहीं हैं। परमागम में पदार्थ को द्रव्य और पर्याय रूप कहा गया है। दर्शन की भाषा में इसी को सामान्य-विशेषात्मक कहा जाता है, क्योंकि वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य एवं पर्याय की अपेक्षा से विशेष मानी गई है। निश्चय नय ही द्रव्यार्थिक नय संज्ञा से अभिहित होता है और व्यवहार नय पर्यायार्थिक नय संज्ञा से। पुनः यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना समीचीन मालूम पड़ता है कि पर्याय दो प्रकार की होती हैं— स्व-निमित्तिक एवं स्व-पर-निमित्तिक। कालादि सामान्य निमित्तों की विवक्षा न करने पर धर्म, अधर्म आदि सभी द्रव्यों का अनादिकाल से जो परिणमन चला आ रहा है, वह स्व-निमित्तिक पर्याय है और पुद्गल द्रव्य के संयोग से जीव में जो रागादिक रूप परिणमन

होता है वह तथा जीव के संयोग से पुद्गल में जो कर्मादिक रूप परिणमन होता है वह स्व-पर-निमित्तिक पर्याय है। यही कारण है कि रागादिक द्रव्यकर्म के उदय से आत्मा रागी-द्वेषी देखा जाता है। इस सन्दर्भ में महाकाव्य 'मूकमाटी' के विभिन्न कथनों में विभिन्न रूपकों के माध्यम से कर्म, भावना, लेश्याओं की समस्त प्रकृतियों के बहुविध स्वरूपों का अभिव्यंजन हुआ है, जो सहज, सरल एवं सरस है। महाकवि दर्शन के नीरस सिद्धान्तों को भी काव्य की सन्तुलित शब्दावलियों का आवरण देकर सुष्ठु एवं समझ के लायक बनाने में सफल हुआ है। बहुआयामिक रंगीले बादलों की ओट में लेश्याओं का वर्णन अपूर्व है, जो रचयिता की कुशलता का परिचायक है। नील लेश्या के चित्रण की बानगी द्रष्टव्य है:

"विष उगलता विषधर-सम नीला
नील-कण्ठ, लीला-वाला—/जिस की आभा से
पका पीला धान का खेत भी:हरिताभा से भर जाता है।" (पृ. २२८)

जैन दर्शन सर्वदा एवं सर्वथा ऐकान्तिक कथन का विरोधी है, इसलिए इसे अनेकान्तवादी दर्शन कहा गया है। वह मानता है कि मात्र जीव द्रव्य ही नहीं बल्कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है 'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्' और उसके स्वरूप ज्ञान के लिए देश, काल, भाव, जाति, वर्ग आदि की अपेक्षा होती है। पुनः उसके निषेधात्मक गुणों की भी जानकारी आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, वस्तु को सत्तात्मक अर्थात् स्व-पर्याय एवं निषेधात्मक अर्थात् पर-पर्याय दोनों का समुच्चय माना गया है। अतः वस्तु के समस्त गुणों का ज्ञान केवल सर्वज्ञ को ही सम्भव है, साधारण मनुष्य के लिए नहीं। साधारण मनुष्य के ज्ञान प्राप्ति की विभिन्न दृष्टियाँ आंशिक निर्णय के रूप में 'नय' कही जाती हैं और इन विभिन्न दृष्टियों का समन्वित रूप ही अनेकान्त कहा जाता है। वस्तुतः अनेकान्त विभिन्न दृष्टिभंगियों का मिश्रण मात्र नहीं है बल्कि एक स्वतन्त्र दृष्टि है, जिसके द्वारा वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रतिभाषित होता है। यह विराट् वस्तु को जानने की वह पद्धति है अथवा प्रकार है, जिसमें वस्तुगत विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया जाता है बल्कि उन्हें गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है। इस अनेकान्तवादी पद्धति की अभिव्यक्ति स्याद्वाद द्वारा ही सम्भव है। इस सन्दर्भ में 'मूकमाटी' में अभिव्यक्त महाकवि के विचार बड़े ही नपे-तुले शब्दों में अभिव्यंजित हुए हैं, जो महाकवि के सूझबूझ एवं दार्शनिक अभिज्ञान के द्योतक हैं, यथा :

- *"एक ही वस्तु/अनेक भंगों में भंगायित है*
  अनेक रंगों में रंगायित है, तरंगायित !" (पृ. १४६)
- *"अब दर्शक को दर्शन होता है—/कुम्भ के मुख मण्डल पर*
  'ही' और 'भी' इन दो अक्षरों का।/ये दोनों बीजाक्षर हैं,
  अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
  'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
  हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,
  तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो !'/और,/'भी' का कहना है कि/हम भी हैं
  तुम भी हो/सब कुछ!/'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को
  'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
  'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
  'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है।" (पृ. १७२-१७३)

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान के सत्य ही साथ सम्यक् चारित्र की अनिवार्यता जैन धर्म में स्वीकृत है। बौद्ध धर्म में भी

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् शील एवं सम्यक् समाधि के रूप में अष्टांग मार्ग को समेट लिया गया है। वैदिक धर्म-दर्शन में यद्यपि ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग एवं राजयोग मार्ग के रूप में अलग-अलग मार्गों का उल्लेख हुआ है, फिर भी वे मार्ग नितान्त अपने स्वरूप में एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिए सभी भारतीय धर्मों में चारित्र अथवा आचार का संयमित पालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य माना गया है। यही कारण है कि आध्यात्मिक उन्नयन के क्रम में मनुष्य को दृढ़ता से नियम-पालन का विधान है और सभी भारतीय धर्म कमोबेश आचार नियमों का पालन करते हैं। खासकर श्रमण परम्परा में अत्यधिक त्याग, तपस्या, आचार पालन, उपवास आदि पर अवधान दिया गया है। जैन धर्म श्रमण परम्परा की ही एक शाखा है। फलतः इस धर्म में आचार के सम्यक् रूप के बिना सम्यक् ज्ञान एवं दर्शन भी अधूरा है। स्वाभाविक है कि जैन धर्म में आचार पालन की दृढ़ता, संयमित जीवनयापन की अनिवार्यता अविच्छिन्न रूप में स्वीकार की गई है। यहाँ तक कहा गया है कि जिनवाणी का सार आचार ही है :"अंगाणं किं सारो? आयारो !" (आचारांग नि.,गा.१६)। पुनः प्ररूपणा का सार आचार ही माना गया है। "सारो परूवणाए चरणे"– आस्था से पूरित संकल्प साधकों को साथी बन कर आध्यात्मिक उन्नयन में सहायक होता है :

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।" (पृ. ९)

इस सन्दर्भ में बोध एवं शोध का पार्थक्य भी द्रष्टव्य है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें
वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।
बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ. १०७)

विचार एवं आचार वस्तुतः एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं और सम्यक् सम्प्रेषण के कारण भी। महाकवि के शब्दों में :

"विचारों के ऐक्य से/आचारों के साम्य से/सम्प्रेषण में
निखार आता है।" (पृ. २२)

यहाँ तक कि इन तीनों में एकता की अपेक्षा मुनिधर्म की कुंजी है : "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।" नियम पालन का उल्लंघन मनुष्य को अपने लक्ष्य-पथ से च्युत कर देता है, भले ही वह मनुष्य महामानव क्यों न हो, यथा :

"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता
राम ही क्यों न हो/दण्डित करेगा ही !" (पृ. २१७)

पुनः असावधानी के कारण भी, अभ्यासी महापुरुष को कभी-कभी अपने पथ पर फिसलन का सामना करना पड़ता है :

"प्राथमिक दशा में/साधना के क्षेत्र में/स्खलन की सम्भावना
पूरी बनी रहती है, बेटा !/स्वस्थ-प्रौढ़ पुरुष भी क्यों न हो
काई-लगे पाषाण पर/पद फिसलता ही है !/इतना ही नहीं,
निरन्तर अभ्यास के बाद भी/स्खलन सम्भव है।" (पृ. ११)

इसलिए साधना के क्षेत्र में मनुष्य को दृढ़संकल्प एवं अटूट धर्म का पालन अपेक्षित है, क्योंकि :

"चिर-काल से सोती/कार्य करने की सार्थक क्षमता
धैर्य-धृति वह/खोलती है अपनी आँख/दृढ़-संकल्प की गोद में ही।" (पृ. ६८)

पुनः 'संयम की शिक्षा का संस्कार प्राप्त' होने पर ही शिल्पी के संयमित दोनों हाथ कार्य करने के लिए उठते हैं। जो वस्तुतः विचारवान् हैं, उन्हें ही पापकर्म से भय होता है :

"अन्धा नहीं,/आँख-वाला ही भयभीत होता है
परम-सघन अन्धकार से।" (पृ. २३२)

आज के परिवेश में श्रमण अथवा साधु की बहुलता है लेकिन उनमें कितने हैं जो वास्तव में साधुत्व का पालन करते हैं ? इस सिलसिले में महाकवि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

"कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं/होश के श्रमण होते विरले ही।" (पृ. ३६१)

श्रमण अथवा श्रावक के धर्म से सम्पर्कित कितने ही विषयों के सम्बन्ध में महाकवि ने सूक्ष्मता से विचार किया है। स्वयं सफल साधक होने के कारण उनके विचारों में सच्चाइयाँ है, क्योंकि उन्होंने स्वयं अनुभव किया है। अतः उनके वे विचार अनुभूतियों की ख़राद पर घिसकर अपनी असलियत होने का दावा पेश करते हैं और कुशल साहित्य के माध्यम से जन-साधारण तक पहुँचने की क्षमता अर्जित करते हैं। उनका अनुभव सत्य कितना सटीक एवं मार्मिक बन पड़ा है:

- *"महापुरुष प्रकाश में नहीं आते/आना भी नहीं चाहते,*
  प्रकाश-प्रदान में ही/उन्हें रस आता है।" (पृ. २४५)
- *"पर से स्व की तुलना करना/पराभव का कारण है*
  दीनता का प्रतीक भी।" (पृ. ३३९)
- *"किसी कार्य को सम्पन्न करते समय/अनुकूलता की प्रतीक्षा करना*
  सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)
- *"मूल में कभी/फूल खिले हैं ?/फलों का दल*
  दोलायित, होता है/चूल पर ही आखिर !" (पृ. १०)

अतः 'मूकमाटी' के महाकवि बड़े ही सुसज्जित ढंग से अपने जीवन-दर्शन के आलोक में जैन दर्शन की व्याख्या करने में सक्षम हो सके हैं। दर्शन के साथ साहित्य का यह मणि-कंचन संयोग निश्चय ही सम-सामयिक साहित्य संरचना के क्षेत्र में रेखांकित करता है, ऐसा मेरा विश्वास है। ❑



'मूकमाटी' : लघुता की महत्ता का महाकाव्य

प्रोफे. (डॉ.) प्रमोद कुमार सिंह

भारतीय परम्परा कवि को मन्त्रद्रष्टा स्वीकार करती है। यह ऋचाओं को मन्त्र और अनुष्टुपों को आर्ष वाणी मानती है। इसके महाकाव्यों में अपदार्थ क्रौंची (वाल्मीकि, 'रामायण', बाल काण्ड, २/१९) और कुत्ते (महाभारत, आदिपर्व-पौष्यपर्व, ३/२)के क्रन्दन मुखरित होते हैं। इसकी समदर्शिता हि 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के महावाक्य में झंकृत होती है। हम हर वामन में विराट् को देखने के अभ्यासी रहे हैं। हमारा वामन समग्र देश-काल को ढाई पगों में ही मापने का पराक्रम करता रहा है। लघुता की महत्ता की यह स्वीकृति भारतीय मनीषा की चिर-परिचित प्रवृत्ति रही है। आचार्य विद्यासागर की 'मूकमाटी' में पदाक्रान्त मृत्तिका के गूँगेपन को स्वर देने के पीछे हमारी यही सनातन प्रगतिशीलता लक्षित होती है।

हिन्दी में एक समय रामधारी सिंह दिनकर के साथ अमूर्त्त आकाश से ठोस 'मिट्टी की ओर' अग्रसर होने का नारा सुमित्रानन्दन पन्त ने भी प्लुत स्वर में उछाला था। उस हल्ले को प्रगतिवाद ज्ञापित किया गया था। लोग धरती की धूल और अकिंचन विषयों के प्रवक्ता बन बैठे थे। हिन्दी के राजपथ पर पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन आ बैठी थी (सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 'अनामिका') और कवियों को कूड़ा-कर्कट भी रुचिकर लगने लगा था। हम रद्दी चीजें बटोरने वाले आवारा लड़कों (पन्तजी–'तारा पथ') और 'मैले आँचल' (पन्तजी-'पुष्करिणी') के मुरीद हो गए थे। इस स्थिति को भारतीय साहित्य में एक नया मोड़ माना गया था, किन्तु उस युग के उत्साही आलोचक यहीं पर चूक भी गए थे। उन्होंने अपनी सुदीर्घ परम्परा में निहित प्रगतिशील मूल्यों की पड़ताल का प्रयत्न नहीं किया। मार्क्सवाद ने उन्हें इतना मोहान्ध कर दिया था कि सुदूर अतीत के मानववादी मूल्य ही नहीं, छायावाद के जीवन्त तत्त्व भी उनके लिए अगोचर बने रहे। वे हिन्दी के बगीचे में गुलाब और कुकुरमुत्ते की खेती के खेल में उलझे रहे, किन्तु नये पत्तों के निकट उन्हें पुराने पुष्पों के परिमल की याद नहीं आई। स्वयं 'कुकुरमुत्ता' के कवि निरालाजी की 'परिमल' में प्रकाशित 'कण' शीर्षक छायावादी कविता की ये पंक्तियाँ भी उनका मार्गदर्शन नहीं कर सकीं :

''पड़े हुए सहते हो अत्याचार/पद-पद पर सदियों के पद-प्रहार,
बदले में, पद में कोमलता लाते/किन्तु हाय, वे तुम्हें नीच ही हैं कह जाते !
तुम्हें नहीं अभिमान,/छूटे नहीं, न प्रिय का ध्यान,
इससे सदा मौन रहते हो,/क्यों रज, विरज के लिए ही इतना सहते हो ?''

भारत मिट्टी की महिमा का उद्गाता रहा है। 'अथर्ववेद'(१२/१/१/२६) का 'पृथिवीसूक्त' ही नहीं, धरित्री श्रद्धेया पुत्री सीता से सम्पृक्त समस्त राम-साहित्य से इसकी पुष्टि होती है। मिट्टी खानेवाले दामोदर और गोचारण की धूलि से विभूषित कृष्ण भी इस सत्य को स्वस्ति देते हैं। आहत मध्यकालीन भारत के जुझारू कवि कबीर (कबीर वचनावली-४१०) ने सबको सर्व कर देने वाली 'माटी' के महत्त्व की जो साखी दी है उससे देश के तत्कालीन निष्पेषित एवं रौंदे गए दीनजनों के दर्प की प्रतीति बेमिसाल होती है। अध्यात्म में लिपटा हुआ यह युगावेश बेमिसाल है: ''माटी कहै कुम्हार को तू क्या रूँदै मोहि। इक दिन ऐसा होयगा मैं रूँदूँगी तोहि।'' पद-दलित मनुष्यत्व के इसी विनम्र, किन्तु अक्षय साहस को सन्त-साहित्य में नानक ने दूब की अपराजेय जीवनी-शक्ति के स्मरण द्वारा भी मूर्त्त किया है: ''नानक नन्हें ह्वै रहौ जैसे नन्हीं दूब। और रूख सुख जायेंगे दूब खूब की खूब।''

आधुनिक हिन्दी-काव्य में मृत्तिका-स्तवन के कई साक्ष्य मिलते हैं। नवजागरण की ऊष्मा और स्वातन्त्र्य-संग्राम की आग में तपी देश की मिट्टी की रचनात्मक शक्ति की अच्छी पहचान राष्ट्रकविद्वय मैथिलीशरण गुप्त एवं

रामधारी सिंह दिनकर में मिलती है। गुप्तजी ने अपनी कृति 'मंगल घट' में तथा 'राष्ट्र कवि मैथिलीशरणगुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ' में भी युगीन मिट्टी की साधना को 'मंगल घट' के रूप में परिणत होते दिखलाया है :

"फिर भी तुझको तपना होगा/क्लेशों से न कलपना होगा
यों मंगल घट अपना होगा/भर घर-घर-घर आऊँ/मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ।"

दिनकर ने अपनी *'अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला'*, *'सामधेनी'* में कल्पक की प्रतीक्षा में पड़ी हुई 'अचेतन मृत्ति' की स्पृहा एवं नियति को आकार दिया है :

"ग्रहण करती निज सत्य-स्वरूप/तुम्हारे स्पर्शमात्र से धूल,
कभी बन जाती घट साकार/कभी रंजित, सुवासमय फूल।"

वे ही 'ओ ज्वलन्त इच्छा अशेष', 'प्रतीक' के अन्तर्गत 'बलिसिक्त भूमि' में अंकुरों का प्रस्फुटन सम्भव बनाने वाली मिट्टी की जिस तरह अभ्यर्थना करते हैं :

"काया प्रकल्प के बीज मृत्ति में ऊँघ रहे।"
"अंजलि-भर जल से भी उगते दूर्वा के दल
वसुधा न मूल्य के बिना दान कुछ लेती है।
औ' शोणित से सींचते अंग हम जब उसका
बदले में सूरज-चाँद हमें वह देती है।"

अज्ञेय उसकी वासन्ती 'ईहा' से चमत्कृत हैं और सुमित्रानन्दन पन्त उसके दान के प्रति नतशिर हैं :

"वसन्त के उस अल्हड़ दिन में/एक भिदे हुए, फटे हुए लोंदे के बीच से बढ़कर
अंकुर ने/तुनुक कर कहा/मिट्टी ही ईहा है!···"

(अज्ञेय, 'मिट्टी की ईहा', 'पूर्वा')

"रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ!"

-(पन्त, 'आः धरती कितना देती है!',-'तारापथ')

'मूकमाटी' हमारे साहित्य में निहित इसी मृत्तिका-प्रेम को एक महाकाव्यात्मक आयाम देने वाली कृति है। वैराग्य और तितिक्षा की श्रमण-परम्परा के कवि की मिट्टी के प्रति यह उन्मुखता विचारणीय है।

आचार्य विद्यासागरजी मुनि हैं। मौन रहना उनकी तपस्या है। उनकी 'माटी' भी 'मूक' है। यह मूकता मिट्टी और कवि—दोनों की साधना है। इसकी मुखरता लोक-जीवन के लिए तपस्या की उपादेयता है। विरति की यह लोकानुरक्ति जीवनगत साफल्य को रेखांकित करती है। निवृत्तिपरक सन्त-परम्परा में लोकनिष्ठा और सामाजिक मंगल की अभीप्सा का कभी अभाव नहीं रहा है। यह अकारण नहीं है कि महाराष्ट्र के सन्त गोरोबा या गोरा कुम्हार सिद्धि की परिपक्वता के परीक्षण के लिए पके घड़े को प्रतिमान मानते हैं। विनोबाजी ('गीता प्रवचन', पृ. ४०) मानते हैं : "कच्ची मिट्टी को रौंद-रौंदकर समाज को पक्की हँड़िया देनेवाला गोरा कुम्हार अपने मन में ऐसी पक्की गाँठ बाँधता है कि मुझे अपने जीवन की भी हँड़िया पक्की बना लेनी चाहिए। इस प्रकार वह हाथ में थपकी लेकर 'हँड़िया कच्ची है या पक्की ?'— यों सन्तों की परीक्षा लेनेवाला परीक्षक बन जाता है।" परशुराम चतुर्वेदी-'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' (पृ. ११२) में लिखते हैं : "... ज्ञानदेव की बहन मुक्ताबाई के पूछने पर गोरावा ने कहा कि मैं मिट्टी के बर्तन

ठोंकने वाली अपनी थापी की सहायता से जाँचकर यह निश्चित रूप से बतला सकता हूँ कि उक्त मण्डली में से कौन पक्का और कौन कच्चा मनुष्य समझा जा सकता है। इतना ही नहीं, उन्होंने सचमुच अपनी थापी उठायी और वे क्रमशः सबके शिर को उससे ठोंक-ठोंककर अपनी सम्मति देने लगे।''

'मूकमाटी' भारत के जातीय साहित्य की अन्तश्चेतना से ओत-प्रोत है। इसमें वैदिक भूमि-प्रेम की व्यापकता, लघुता की गरिमा के व्यापक आर्ष महाकाव्यों की समदर्शिता, निर्गुणपन्थी सन्तों की वाणियों में गूँजती दलितों एवं अपात्रों की अस्मिता, स्वातन्त्र्य-समर में तपने वाले जनों की मनस्विता, तथाकथित प्रगतिवाद की यथार्थवादिता तथा सनातन अध्यात्म-साधना की प्रतीकात्मकता एक साथ सम्पुटित है। भारतीय साहित्य के इस महार्घ रिक्थ को स्वायत्त करने के कारण यह रचना अनायास ही महाकाव्य का कलेवर धारण कर लेती है। अपनी परम्पराओं को सफलता के साथ आत्मसात् करने वाली यह रचना टी. एस. इलियट की कसौटी पर 'क्लासिक' सिद्ध होती है। किसी 'पिरामिड' की तरह इसकी अद्वितीयता इस अर्थ में चरितार्थ होती है कि यहाँ 'माटी' जैसे अतिशय साधारण विषय को अपार सम्भावनाओं एवं अर्थगत असाधारण व्यंजनाओं से गर्भित कर दिया गया है।

प्रारम्भिक संस्कृत-काव्यशास्त्र के भरतोत्तर आचार्यों में अन्यतम भामह ने 'काव्यालंकार' (१/१९) में 'सर्गबद्धो महाकाव्यं महता च महच्च यत्' के अनुसार 'महत्' तत्त्व को महाकाव्य का मूलाधार माना है। यह महत्ता कभी सद्वंशजात, कौलीन्यमूलक और पाश्चात्य विचारक लोंगिनुस के 'सब्लाइम' या औदात्त्य के निकट रही है तो कभी नगण्यता में निहित पाई गई है। 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' (भाग २, पृ. ४०३) में डॉ. नगेन्द्र का अभिमत है: ''लांजाइनस के प्रसिद्ध निबन्ध का प्रतिपाद्य है 'उदात्त भावना'। यह 'उदात्त भावना' निश्चय ही जीवन और काव्य के असाधारण तत्त्वों पर आधृत रहता है।'' इतना ही नहीं, 'काव्य में उदात्त तत्त्व' (पृ. १०) में आपने उल्लेखित किया है : ''लोंगिनुस ने औदात्त्य के पाँच उद्गम स्रोतों का निर्देश किया है···। 'इन पाँचों में प्रथम और सर्वप्रमुख है महान् धारणाओं की क्षमता'···।'' वस्तुतः भारतीय शब्द विराट् उदात्त की समग्र धारणा को व्यक्त करने में अधिक समर्थ है···। ···भारतीय काव्यशास्त्र में उदात्त का विवेचन प्रत्यक्ष एवं स्वतन्त्र रूप से नहीं किया गया। किन्तु धीरोदात्त नायक, वीर और अद्भुत रस तथा ओज गुण के विवेचन में उदात्त के भाव-विभाव पक्ष की और गौड़ी या रीति तथा उदात्त अलंकार प्रसंगों में उसके शैली पक्ष की अप्रत्यक्ष विवक्षा अवश्य मिलती है'' (पृ. २४)। छोटों और उपेक्षितों-उपेक्षिताओं के प्रति पर्याप्त संवेदनशील हिन्दी में महाकाव्यनिष्ठ महत्ता की अवधारणा सामन्तीय एवं जड़ नहीं, जनवादी तथा विकसनशील दृष्टिगत होती है। हम महादेवों, महाराजाओं, महामन्त्रियों और महानायकों में ही नहीं, मर्दित मिट्टी में भी महत्ता की सत्ता का अनुभव कर लेते हैं।

महाकाव्य के रूप में 'मूकमाटी' एक रूपक (Allegory) है। 'दि न्यू एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (पृ. २७७) के अनुसार : "allegory, the written, oral or artistic expression by means of symbolic fictional figures and action of truths or generalizations about human couduct or experience." ऐसा समझा जाता है कि इस तरह का रूपबन्ध विजातीय है। इस क्रम में जॉन बनयन की गद्यात्मक कृति 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और दाँते की 'डिवाइना कामेडिया' का स्मरण आना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु संस्कृत-प्राकृत के विशाल अन्योक्ति-साहित्य की विरासत सँभालनेवाली हिन्दी की किसी रचना की आन्यापदेशिकता की अवगति के लिए पश्चिमाभिमुखी होना आवश्यक नहीं है। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (पृ. ५९१) में पं. बलदेव उपाध्याय के अनुसार : ''संस्कृत साहित्य में एक नये प्रकार के रूपक उपलब्ध होते हैं जिसमें श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त पदार्थों को नाटकीय पात्र बनाया गया है। कहीं तो केवल अमूर्त पदार्थों की ही मूर्त-कल्पना उपलब्ध होती है और कहीं पर मूर्त-अमूर्त दोनों का मिश्रण है। ...इस प्रकार के नाटकों को हमने 'प्रतीक नाटक' की संज्ञा दी है, क्योंकि इनके पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीक-मात्र होते हैं; उनकी भौतिक जगत् में स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती।'' संस्कृत के प्रतीक-नाटक और जैन-परम्परा के 'निक्षेप'

सहजतः हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं। कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय', यशःपाल रचित 'मोहराज पराजय', वेदान्तदेशिक कृत 'संकल्पसूर्योदय', परमानन्ददास या कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय', आनन्दराय मखी प्रणीत 'विद्यापरिणयन' एवं 'जीवा नन्दन', नल्लाध्वरी रचित 'चित्तवृत्ति-कल्याण' एवं 'जीवन्मुक्ति-कल्याण' आदि संस्कृत नाटकों और प्राकृत के 'उत्तराध्ययन सूत्र', 'सूत्रकृतांग' आदि जैन ग्रन्थों तथा हरिदेव के अपभ्रंश प्रबन्धकाव्य 'मयणपराजय चरिउ' में जो आन्यापदेशिकता मिलती है, उसे इस महाकाव्य की रूपकात्मकता का स्वाभाविक आधार मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। हिन्दी में इसकी परम्परा के विश्लेषण क्रम में सूफियों का प्रेमगाथा साहित्य प्रासंगिक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मलिक मुहम्मद जायसी की 'जायसी ग्रन्थावली' (पृ. ५४) में और डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (पृ. ३२८) में जायसी की 'पदमावत' में अन्योक्ति शैली लक्षित की भी है। हिन्दी रीतिकाव्य के पितामह केशवदास की 'विज्ञानगीता' तो 'प्रबोधचन्द्रोदय' की छाया ही है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में जयशंकर प्रसाद की 'कामना' एवं सुमित्रानन्दन पन्त की 'ज्योत्स्ना' में इस शैली की नाटकीयता दृष्टिगत होती है। 'कामायनी' आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के क्षेत्र में इस पद्धति को पूर्णतः प्रतिष्ठित करती है। 'मूकमाटी' इस समाम्नातपूर्व बन्धगत वैशिष्ट्य को एक सुचिन्तित विस्तार देती है।

'कामायनी' देवसृष्टि के अन्तिम प्रतिनिधि के शिवत्वलाभ का आख्यान है, किन्तु 'मूकमाटी' तुच्छता की उच्चता-प्राप्ति का महाकाव्य है। आचार्य विद्यासागर की यह कृति हिन्दी महाकाव्य को मनु से 'माटी' और 'कैलास' से कुम्भ की ओर ले आती है। प्रजापति मनु से घट-निर्माता प्रजापति तक पहुँचने की यह महाकाव्य यात्रा चिरन्तन अध्यात्म एवं आम आदमी के आधुनिक महत्त्व को उसी तरह समानान्तर ढंग से व्यक्त करती है जिस तरह 'मिथक' की सावित्री यम को पराभूत कर अपने लकड़हारे पति की प्राणरक्षा करती है। मिट्टी से हीनतर एवं किसी भी वस्तु की अपेक्षा अधिक नश्वर 'माटी' की प्रतिष्ठा तथा कुम्भत्व में उसके उन्नयन की जो आन्यापदेशिकता आलोच्य कृति में मिलती है, वह दैहिक-ऐहिक यथार्थ और आध्यात्मिक सत्य की सम्मिलित गाथा 'सावित्री' की प्रतीक-योजना से होड़ लेती है। जिस तरह महर्षि अरविन्द के महाकाव्य में दीन सत्यवान की कथा और मृत्युविजय के आध्यात्मिक रूपक का योग अनुदात्त में उदात्त के संग्रथन का परिचायक है, उसी तरह 'मूकमाटी' में अधमत्व को अमरत्व देने का प्रयास किया गया है। महाकाव्यगत भामहोक्त महत्ता का यह विपर्यय सत्य के स्याद्वादी स्वरूप की प्रतीति कराता है कि स्यात् लघुता में भी महत्ता का एक आयाम होता है।

"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है।" (पृ.४५)

जैन-दर्शन के 'सप्तभंगी नय' में ईश्वर नहीं, मामूली 'घट' को दृष्टान्त-रूप में उपस्थापित करने का कदाचित् यही मर्म है।

❑



पृ. ४३४
~~अणुओं के मुख से~~
~~पदों की, पदावलियों की~~
~~परिणति पद्धति बुन कर~~
~~पवित्र संगति हुआ।~~

'मूकमाटी' : एक नया प्रस्थान-बिन्दु

डॉ. जयकुमार जलज

कथावस्तु के कारण लम्बी काव्य यात्रा सरल हो जाती है। जहाँ कविता कमज़ोर पड़ती है, वहाँ कहानी उसे सहारा दे देती है। इसीलिए महाकाव्य/खण्डकाव्य के साथ कहानी को एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में जोड़ा गया है। हिन्दी तथा हिन्दी की पूर्वज भाषाओं में अधिसंख्य लम्बी कविताएँ भी वे ही हैं, जिनके साथ कहानी जुड़ी हुई है। अच्छी कहानी या चरित, जैसा कि मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं, अपने आप में काव्य होता है और उसके सहारे कोई भी कवि बन सकता है।

कठिनाई वहाँ पैदा होती है जहाँ कविता को कहानी के बिना लम्बी यात्रा करनी होती है। 'कामायनी' में जयशंकर प्रसाद ने कहानी के पर काफ़ी हद तक कतरकर यह यात्रा की है। 'मूकमाटी' में यह यात्रा और भी साहसिक है, क्योंकि इसमें कहानी बहुत कुछ अनुपस्थित है। इसलिए आचार्य विद्यासागर का यह काव्य लम्बी कविताओं/महाकाव्यों के क्षेत्र में एक नया प्रस्थान-बिन्दु है।

आचार्यश्री का विचरण मनुष्य ही नहीं जीव मात्र को मुक्ति का मार्ग दिखाने और तलाशने के लिए है। इसलिए आत्मसाधना के बावजूद समाज और परिवेश से उनका सरोकार वास्तविक और आन्तरिक है। फलस्वरूप 'मूकमाटी' की भाषा किताब की कम, जीवन की भाषा अधिक है। उसमें ऐसे स्थल बहुत कम हैं, जहाँ वह भाव या विचार सम्पदा को प्रकाशित करने के स्थान पर अपने खुद के ही चमत्कार में उलझी हुई हो। रचनाकार की पूर्व रचनाओं की तुलना में 'मूकमाटी' की भाषा अधिक विकसित और जीवन तथा समाज से अधिक जुड़ी हुई है। एक ओर जहाँ वह उनकी शब्दमूल तथा उसकी व्युत्पत्ति की पकड़ को सूचित करती है, वहीं दूसरी ओर शब्द के प्रयोग और प्रचलन से उनके जीवन्त परिचय को भी स्पष्ट करती है। वह अधिक धारदार, स्पष्ट और सक्षम है। कवि की भाषा के इस विकास क्रम को देखते हुए यह उम्मीद की जानी चाहिए कि उनकी भविष्य की कृतियाँ उन्हें जनभाषा के अधिक निकट ले जाएँगी।

'मूकमाटी' हिन्दी कविता की एक असाधारण उपलब्धि है। लेकिन इससे बढ़कर वह उन उपलब्धियों की प्रस्तावना है, जो कवि आचार्य विद्यासागरजी की पावन लेखनी से होने को है। आचार्यश्री की आत्मसाधना, तपश्चर्या, जीवों को बन्ध से मुक्त देखने की उत्कट ललक और जीव मात्र के लिए निमित्त के रूप में उनकी सार्थक उपस्थिति जैसे-जैसे बढ़ती जाएगी तैसे-तैसे उनकी कविता भी ऊँचे शिखरों पर पहुँचती जाएगी।

घाटियों की परिपाटी प्रतीक्षित है अभी। □



'मूकमाटी' : एक पर्यालोचन

डॉ. रमण लाल पाठक

अध्यात्म और काव्य की समरसता

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों में 'मूकमाटी' का स्थान विशिष्ट है क्योंकि इसके रचयिता आचार्य विद्यासागरजी कविकर्म में कुशल होने के साथ-साथ अध्यात्म मार्ग के पुरोधा हैं। आचार्यजी का जीवन आध्यात्मिकता के सर्वोच्च विकास की ओर उन्मुख रहा है। प्रतिपल अध्यात्म जीवन में जीने वाला प्रबुद्धयोगी जब कविकर्म में प्रवृत्त होता है तब उसकी अभिव्यक्ति में काव्य और अध्यात्म का मणिकांचन योग दृष्टिगत होता है। गहरे आध्यात्मिक संस्पर्शों से अलंकृत होने पर भी 'कामायनी'कार प्रसादजी, 'साकेत'कार मैथिलीशरण गुप्त, 'लोकायतन' के शिल्पी सुमित्रानन्दन पन्त, 'उर्वशी' के रचयिता दिनकरजी आदि स्वनाम धन्य कविपुंगवों की तुलना आचार्य विद्यासागरजी के साथ नहीं की जा सकती, क्योंकि विद्यासागरजी के कविकर्म में अध्यात्म और काव्य की सहज समरसता विशेष रूप से समुपलब्ध होती है और उसका रहस्य यह है कि आचार्यजी पहले योगी हैं और बाद में कवि। विद्यासागरजी के कविकर्म-आलोचकों को कृति के इस वैशिष्ट्य को विशेष रूप से रेखांकित करना पड़ेगा।

आत्मा का संगीत

'मूकमाटी' कविकर्म नहीं है। यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत भी है। हाँ, सन्त संज्ञा के आगे दार्शनिक विशेषण जोड़ने की कोई अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि दार्शनिक सन्त शब्द एक विशिष्ट अवधारणा का संकेतक बन जाता है। वास्तव में 'मूकमाटी' में प्रकट रूप से कहीं भी जैन दार्शनिकता के प्रतिपादन का बलपूर्वक आयास दृष्टिगोचर नहीं होता। सन्त ने साधना और तपस्या से अर्जित जीवन दर्शन को सबके हृदय में गुंजरित कर देने का प्रयत्न मात्र किया है। मुझे तो 'आत्मा का संगीत' विशेषण ही एक मात्र उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि आत्मा का संगीत तत्त्वतः आत्मा का संगीत होता है। दार्शनिक की आत्मा, अ-दार्शनिक की आत्मा, सन्त की आत्मा, अ-सन्त की आत्मा आदि शब्द-विधान निरर्थक हैं, क्योंकि आत्मा तो आत्मा होती है, किसी के दार्शनिक–अ-दार्शनिक, सन्त या असन्त होने से आत्मा विशिष्ट नहीं बन जाती। वालिया लुटेरे की आत्मा जब कषायों से मुक्त-अनावरित होती है तब वह महाकवि वाल्मीकि बन जाता है।

अनुभूति में रचा-पचा जीवन

श्री लक्ष्मीचन्द जैन द्वारा लिखित कृति के 'प्रस्तवन' में प्रयुक्त 'जीवन दर्शन को अनुभूति में रचा-पचा कर' वाक्य महत्त्वपूर्ण है। इसका यह अर्थ है कि विद्यासागरजी ने परम्परा सम्मान्य जैन जीवन-दर्शन को शास्त्र-ग्रन्थों से पढ़ा मात्र नहीं है, साधना के द्वारा उसे अर्जित भी किया है और जीवन-दर्शन के अर्जन तक ही न रुककर उसे स्वानुभूति में रच-पच जाने के अनन्तर ही 'सर्वजन हिताय' सुलभ बनाया है। काव्य को दत्तचित्त होकर पढ़ने से अनुभव होता है कि वह कवि के जीवन का अभिन्न अंग या जीवन स्वाभाविक रूप, रंग बन गया है। ज्यों-ज्यों काव्य पठन में आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों यह अनुभव होता है कि प्रस्तुत जीवन दर्शन विविध प्रसंगों एवं परिवेशों में से अपने आप कुसुमकली के नैसर्गिक विकास के समान उद्घाटित होता चलता है।

अविनश्वर सुख की समुपलब्धि

कृति के अन्त में आतंकवाद के द्वारा 'तुम्हारी भावना पूरी हो' ऐसा वचन देने के लिए की गई प्रार्थना के प्रत्युत्तर में नीराग साधु के द्वारा 'हित-मित-मिष्ट वचनों में जो प्रवचन दिया जाता है कि विश्वास को अनुभूति मिलेगी, अवश्य मिलेगी'-शब्दावली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दिशाबोधक प्रस्तुत कथन में इस बात का अभय वचन है कि साधक को नीराग साधु और सिद्धपुरुष के धर्म प्रवचनों पर दृढ़ विश्वास रखकर संयमभूत आचरण के द्वारा साधना के मार्ग पर धैर्यपूर्वक आगे ही बढ़ते रहना चाहिए। साधना मार्ग की अन्तिम परिणति बन्धन रूप तन, मन और वचन के समूल मिट जाने पर मोक्ष में होती है। मोक्ष-प्राप्ति उस अनिवार्य शुद्ध दशा की पीठिका है जिसमें अविनश्वर सुख की सम्प्राप्ति होती है, और जिसे अविनश्वर सुख की समुपलब्धि होती है उसके 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' वाली दशा अर्थात् संसार में आवागमन की परम्परा सदैव के लिए मिट जाती है।

छन्दविधान

मुक्त छन्द के राजमार्ग पर 'मूकमाटी' की कविता चलती है। इसमें शब्दलय के साथ-साथ अर्थलय अर्थात् अर्थ की गति 'फ्लो ऑफ मीनिंग' का भी विशेष ख्याल रखा गया है। अर्थगति के उपरान्त इसमें अर्थ की संगति अर्थात् 'रिदमेटिक मीनिंग फुलनेस' का निर्वाह भी सफल बन पड़ा है। यह 'मूकमाटी' की एक बड़ी उपलब्धि है। 'मूकमाटी' की प्रबन्धात्मकता के निर्वाह में इस अर्थ संगति ने विशेष योग दिया है। किन्तु यह भी अवश्य है कि अनेक स्थानों पर कवि अनुप्रास योजना और तुक चातुर्य के व्यामोह से बच नहीं पाया है और यह वे स्थल हैं जहाँ कृति की महाकाव्यात्मक अर्थ-चुस्ती बिखर जाती है। इस कारण छन्दमयता की दृष्टि से 'मूकमाटी' को महाकाव्य की वास्तविक गरिमा प्राप्त नहीं हो सकी है।

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' और 'मूकमाटी'

'मूकमाटी' महाकाव्य 'रामचरितमानस' की भाँति 'स्वान्तःसुखाय' प्रणीत न होकर सर्वसाधारण जैनों के मार्गदर्शन के लिए ही लिखा गया है। हाँ, यह बात अलग है कि तुलसी ने 'रामचरितमानस' के 'स्वान्तःसुखाय' के निमित्त सर्जन करने की बात कही है फिर भी वह अधिकतः 'बहुजनहिताय' ही है। 'मूकमाटी' भी 'बहुजन - हिताय' ही लिखा गया है और यही कारण है कि दैनिक जीवन में क्लेशोत्पादक अवसरों और प्रसंगों को निमित्त बनाकर कवि ने ऐसी परिस्थितियों में लोगों को संयम, अहिंसा, क्षमा आदि का आचरण करने का उपदेश बार-बार दिया है। कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि कवि ने उपदेश दे पाने के लिए इन छोटे-छोटे प्रसंगों की अवधारणा की है। चतुर्थ खण्ड में तो ऐसा लगता है कि उपदेश प्रदान करने के लिए ही उसकी रचना की गई है। फलतः महाकाव्य की कथावस्तु में बिखराव अधिक है, कहीं भी चुस्ती, लाघव, कसावट और कृति के मूल प्रतिपाद्य नुकीले ढंग से गति दृष्टिगत नहीं होती। तुलसी ने 'रामचरित-मानस' में कोई भी ऐसा स्थान नहीं छोड़ा है जहाँ वे राम की ब्रह्ममयता का प्रकट वर्णन या उसके प्रति संकेत तक न करते हों, जबकि 'मूकमाटी' में आत्म-साधना के सर्वोच्च विकास या ईश्वरत्व की प्राप्ति के लिए अपेक्षित साधना-सोपानों का सर्वांगीण एवं तार्किक प्रतिपादन कहीं भी नहीं किया। फिर भी जैन धर्म के अनुयायियों के लिए प्रस्तुत कृति अपनी ऋजु भाषा-शैली में सद्गृहस्थ के पवित्र जीवन जीने की रीति-नीतियों के निरूपण के कारण 'रामचरितमानस' की-सी ही लोकप्रिय हो सकती है, बशर्ते इसका सम्यक् प्रचार-प्रसार किया जाए।

□

आत्म-साधना की मंगल यात्रा : 'मूकमाटी' महाकाव्य

डॉ. विमला चतुर्वेदी

आचार्य विद्यासागरजी द्वारा रचित काव्य 'मूकमाटी' वस्तुतः प्रकृति एवं उसके विभिन्न उपकरण, जन-जीवन के दृष्टान्तों के माध्यम से, जागतिक प्रतीकों के सम्बल ले, सामान्य जन की श्रमण संस्कृति की ओर अग्रसर होने एवं साधु के चरणों में पहुँचने की अध्यात्म-यात्रा है। आत्मशुद्धि प्राप्त करने हेतु, जीव की इस विकास-यात्रा को आचार्य कवि ने चार खण्डों में विभाजित किया है :

१. संकर नहीं : वर्ण-लाभ, २. शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं,

३. पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन, ४. अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।

प्रथम खण्ड में कवि ने अध्यात्म-यात्रा के प्रारम्भ के लिए आवश्यक माना वर्ण का लाभ, वर्ण की शुद्धि। कृति का प्रारम्भ निशा के अवसान तथा उषा के अभ्युदय के चित्रण से होता है जो स्वतः भोग में लिप्त, सुप्त मानव की जागृति का संकेत देता है :

"भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है
माँ की मार्दव गोद में/मुख पर अंचल लेकर/करवटें ले रहा है।" (पृ. १)

उषा के चित्रण के साथ ही सरिता-तट की माटी के मन का क्षोभ व्यक्त होता है। कब तक वह इस प्रकार पड़ी रहेगी। वह चाहती है इस जीवन से मुक्ति। वह 'पतिता है, सुख-मुक्ता, दुःख-युक्ता है'—कब और कैसे उसका उद्धार होगा। धरती सभी की ममतामयी माँ है। जीव-माटी की चाह, उत्कण्ठा देख वह उसे बोध देकर कहती है कि आस्था के तारों पर साधक जब साधना आरम्भ करता है, तभी जीवन सार्थकता की ओर अग्रसर होता है। उज्ज्वल हिमशिखर तक पहुँचने के लिए जिस प्रकार अथक विश्वास, लगन और निष्ठा आवश्यक है, जीव की सार्थकता के लिए, परम तत्त्व-प्राप्ति के लिए भी इनकी आवश्यकता है। उस पथ पर स्खलन की सम्भावनाएँ होती हैं किन्तु लगन और अभ्यास सहायक होते हैं। आस्था सही होने पर कुम्भकार अवश्य आएगा और इस पतिता, उपेक्षिता माटी को मंगल घट का रूप प्रदान करेगा। और प्रभात में शिल्पी का आगमन होता है।

मंगल घट के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है मिट्टी की पवित्रता, जिसके लिए वह उसमें निहित कंकड़ों को बीन कर पृथक् करता है। यदि वे कंकड़ मिट्टी के साथ घुलकर एक रस हो गए होते तो उन्हें छाँटने की आवश्यकता न होती। इसके साथ ही वह दया, माया के भी स्पष्ट संकेत देता है :

- *"पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।" (पृ. ५०-५१)*
- *"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है।" (पृ. ५७)*

इन्हीं के मध्य कुम्भक प्राणायाम भी हो जाता है। मन की ग्रन्थि दूर किए बिना अहिंसा नहीं आती, जो जीव के लिए अनिवार्य है। "धम्मो दया-विसुद्धो" (पृ. ७०), 'धम्मं सरणं गच्छामि' (पृ. ७०) आदि के दर्शन-संकेत भी समय, स्थान, भावानुसार जीव को उसकी ओर अग्रसर करते हैं। कवि स्थान-स्थान पर व्याख्या कर कहते हैं कि कलियुग हो या सत्युग—यह बाह्य नहीं, अन्तस् की दशा-स्थिति है :

"सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा!

और/असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् मानने वाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा!" (पृ. ८३)

अहिंसक शिल्पी घट-निर्माण के लिए कूप से जल लेता है किन्तु जल के जीव पीड़ित न हों, इसका उसे ध्यान निरन्तर है। इसीलिए वे कहते हैं–"धम्मो दया-विसुद्धो" (पृ. ७०)।

द्वितीय खण्ड का शीर्षक स्वयं अपने निहित भाव को अभिव्यक्ति देता है कि केवल ज्ञान ही उपलब्धि नहीं देता अपितु उसमें रमना, डूबकर, जिज्ञासा को जीवित रखकर आगे बढ़ना होगा। मनसा-वाचा-कर्मणा से ही सही गति मिल सकती है। जीवन को नियम-संयम से बाँधने पर बाह्य उपकरणों की उपयोगिता कम होगी। शिल्पी ठिठुरती हुई रात में मात्र एक सूती चादर को पर्याप्त मानता है। कम्बल का नया अर्थ लेकर कम बल वालों के लिए उसकी उपयोगिता बताता है। शिल्पी के पास तो उसकी आत्मा का बल है। अध्यात्म यात्रा में प्रतिशोध आदि भावनाओं के दुष्परिणाम बताते हुए वे रावण और बाली का उदाहरण देते हैं। आत्म-विकास के लिए कामदेव के पुष्पबाण के स्थान पर शंकर का शूल ग्राह्य मानते हैं, क्योंकि एक में भोग है और दूसरे में योग। कुम्भकार वही उपदेश देता है, जो वह स्वयं आचरित करता है। उसका कथन है : "खम्मामि, खमंतु मे–/क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे" (पृ. १०५)। इस खण्ड में कवि ने नव रसों की मीमांसा अपने ढंग से करते हुए करुण और शान्त को अधिक श्रेयस्कर माना है– "करुणा-रस जीवन का प्राण है" (पृ. १५९), उसके उपरान्त ही "सब रसों का अन्त होना–/शान्त-रस है" (पृ. १६०)। मिट्टी रौंधी, गूँधी जाकर, चाक पर चढ़ाई जाकर आकार पाती है। शिल्पी माटी को भी बताता है कि काल को भी चक्र कहते हैं, जिसके कारण चार गति, चौरासी लाख योनियों में जीव को चक्कर लगाना पड़ता है। वह चक्र रागद्वेषमय है किन्तु चक्री का चक्र भौतिक जीवन के अवसान का कारण होता है। उस माध्यम से आध्यात्मिक विकास का चित्रण कर वे 'धृति' का महत्त्व निरूपित करते हैं :

"मान-घमण्ड से अछूती माटी/पिण्ड से पिण्ड छुड़ाती हुई
कुम्भ के रूप में ढलती है/कुम्भाकार धरती है
धृति के साथ धरती के ऊपर उठ रही है।" (पृ. १६४)

तृतीय खण्ड की कथात्मकता द्वितीय खण्ड का ही अग्रिम चरण है। पुण्य का पथ ग्रहण करने से पाप स्वयं पृथक् होकर छूटने लगते हैं :

"पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/अज्ञान को बताता है।" (पृ. १८९)

सन्तों का सही पथ तो धरती का पथ है जो केवल देती है, पाने की आकांक्षा उसको नहीं। वह सर्व-सहा है। इस कारण ही वह प्रतिकार नहीं करती। पुण्य कर्म करने वाला, स्वार्थ-संग्रह आदि का परित्याग करने वाला ही श्रमण की शरण तक पहुँचकर, प्रवचन-प्राप्ति का अधिकारी होता है। कवि अपने बुद्धिकौशल से नारी, अबला, महिला, दुहिता, सुता आदि के अनूठे अर्थों में विवेचना करते हैं। इन सबका कोई न कोई आध्यात्मिक भाव है। सार रूप में उनका संकेत है कि निरन्तर साधना से ज्ञान-ग्रन्थि खुलती है और यही साधना हमको भेद से अभेद की ओर, वेद से अवेद की ओर ले जाती है। फिर भी साधक को आपने दिशा-निर्देश देते हुए बताया है : "अपने ही बाहुओं से तैर कर/तीर मिलता नहीं बिना तैरे" (पृ. २६७)।

काव्य ग्रन्थ का चतुर्थ एवं अन्तिम खण्ड है– "अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।" कुम्भ हो या जीव, उसको

परम पवित्रता प्राप्ति के पूर्व अग्नि-परीक्षा से गुज़र कर पार होना पड़ता है। कुम्भ अब घट का रूप ले चुका है किन्तु उसकी परिपक्वता के लिए उसे अवे की अग्नि में, कठिन साधना की अग्नि में तपकर शुद्ध रूप प्राप्त करना होगा। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि कुम्भकार नव बार नवकार मन्त्र का पाठ कर अवा को अग्नि लगाता है :

"पूरी शक्ति लगा कर नाक से/पूरक आयाम के माध्यम ले
उदर में धूम को पूर कर/कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम किया
जो ध्यान की सिद्धि में साधकतम है/नीरोग योग-तरु का मूल है।" (पृ. २७९)

शब्द से शब्द और उससे अर्थ निकाल कर कवि उनकी मीमांसा करता है। कुम्भ पक चुका है। उसको अवा से निकालना, उसके शुद्ध परिपक्व रूप के दर्शन से आनन्द अद्वितीय होता है। आगे आचार्य कवि ने साधु के आहार दान की प्रक्रिया वर्णित की है। दाता है सेठ, किन्तु वह दान के लिए स्वर्ण, रजत कलशों के स्थान पर माटी के शुद्ध कुम्भ के द्वारा अतिथि का सत्कार करना चाहता है। उसके चयन से स्वर्ण, रजत के अहंकारी कुम्भों को अपमान का अनुभव होता है और प्रतिशोध के लिए वे आतंकवादी दल को आहूत करते हैं। यह दल कुम्भ के नाश, सेठ तथा उसके परिवार का विनाश करना चाहता है। सेठ परिवार घट सहित उनसे बचकर चलता है और नदी पार करने का प्रयास करता है। सरिता और जलचर इस पवित्र दल की रक्षा और आतंकवादियों से विरोध लेते हैं। पवन झकोरे लेता है जिससे आतंकवाद की नौका डूबने लगती है। कुम्भ सहित परिवार तट तक पहुँच जाता है, और :

"सर्व-प्रथम चाव से/तट का स्वागत स्वीकारते हुए
कुम्भ ने तट का चुम्बन लिया।" (पृ. ४७९)

सम्पूर्ण वातावरण धर्मानुराग से भर उठा। कुम्भ परिवार सहित कुम्भकार का अभिवादन करता है। इसी समय धरती माँ का कथन है :

"माँ सत्ता को प्रसन्नता है, बेटा/तुम्हारी उन्नति देख कर
मान-हारिणी प्रणति देख कर।" (पृ. ४८२)

किन्तु कुम्भकार में कहीं कोई अहंकार नहीं :

"यह सब/ऋषि-सन्तों की कृपा है,/उनकी ही सेवा में रत
एक जघन्य सेवक हूँ मात्र,/और कुछ नहीं" (पृ. ४८४)

पवित्र परिवारजनों से क्षमा प्राप्त कर, आतंकवादी दल में भी परिवर्तन होता है और पाषाण फलक पर आसीन साधु अभय का हाथ उठा मानों सभी को सम-रूप से शाश्वत सुख का आशीर्वाद देते हैं : "शाश्वत सुख का लाभ हो" (पृ. ४८४)। आतंकवादियों ने अपने जीवन में न आस्था जानी है और न साधना पथ, अतः वे साधु से वचन चाहते हैं। साथ ही उस सुख का दर्शन चाहते हैं जो साधु ने प्राप्त कर लिया है यह सम्भव नहीं है क्योंकि उनको गुरु का आदेश वचन का नहीं, प्रवचन देने का है। वह उनको समझाने का प्रयास करते हैं : "बन्धन-रूप तन, /मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है" (पृ. ४८६) आदि। अभी भी उनको आश्वस्त न होते देखकर वे कहते हैं :

"क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ

वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी/सही-सही पहचान
क्योंकि/ऊपर से नीचे देखने से/चक्कर आता है
और/नीचे से ऊपर का अनुमान
लगभग गलत निकलता है।" (पृ. ४८७-४८८)

वे प्रवचन करते हैं कि जीवन में विश्वास, आस्था उत्पन्न करो, तभी अनुभूति होगी और तभी गन्तव्य मिलेगा, अवश्य मिलेगा। और फिर :

"महा-मौन में/डूबते हुए सन्त"'/और माहौल को
अनिमेष निहारती-सी/'''मूकमाटी।" (पृ. ४८८)

आचार्य कवि ने इस प्रकार साधना और उसके लिए आवश्यक भाव-तत्त्व तथा बीच के पड़ाव की बाधाओं, उनको दूर कर, सही पाथेय प्राप्त करने के साधन आदि का चित्रण भी किया है। विशेष बात यह है कि अवसर पाते ही वे देश की संस्कृति, राजनीति, सामाजिक स्थितियों पर भी कटाक्ष करते हैं क्योंकि कवि अन्ततः जहाँ रहता है, उसकी विशिष्टताओं से अछूता नहीं रह सकता :

"सत्य का आत्म-समर्पण/और वह भी/असत्य के सामने ?
हे भगवन्/यह कैसा काल आ गया।" (पृ. ४६९)

इसी प्रकार :

"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,
और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)

इसी प्रकार साहित्य भी वही है जो सबके हित से युक्त है।

अपनी बात कहने के लिए आचार्य कवि ने अलंकारों, प्रतीकों का खुलकर प्रयोग किया है। शब्दों के नवीन अर्थ गढ़, उनकी मीमांसा भी की है। उपदेश के लिए वे मच्छर तक का उपयोग करने से भी नहीं सकुचाते।

पूरी कृति का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि मूलतः वे कुम्भ, कुम्भकार के माध्यम से दर्शन संकेत देना चाहते हैं। यह कृति सांसारिक व्यक्ति को भोग से योग की ओर मुड़कर, श्रमण-संस्कृति की ओर बढ़कर आत्म-समर्पण का दिशा संकेत प्रदान करती है। □



'मूकमाटी' : एक विहंगावलोकन

प्रो. अजीत कुमार वर्मा

कविता भावना का उद्‌गीथ है, जाग्रत आत्मा का संगीत है और है वह बहुविध विचारणाओं का प्रपानक। कविता में भावना की लोरियाँ गुनगुनाती हैं, कामनाओं के सपने झिलमिलाते हैं ; कविता आत्मा के सत्यान्वेषी ऊर्ध्वारोहण की यात्रा गाथा है, कविता विचारों के सन्दोहन का तत्त्व-संचयी पावन यज्ञ है। कविता अनुभूति है, चिन्तन है, विद्या है, कला है। कविता कल्पना भी है, यथार्थ भी; अनुमान भी है और सत्य-सन्धान भी। कविता कभी ध्यान के फलक पर चित्रित होती है, कभी ज्ञान के सरोवर में, कमल की पंखुड़ियों में खिलती है। कविता मानस में उतरकर विचार में कौंधती है, चिन्तन में कौंधती है। वह हृदय में डूबकर अनुभूति का रस बनती है। कविता कभी हृदय से उमड़ती है तो कभी मस्तिष्क से उभरती है। और, सच्ची और अच्छी बात तो यह है कि ऊँची कविता हृदय और मस्तिष्क की, अनुभूति और चिन्तन की, स्वप्न और यथार्थ की समन्वित सन्तुलित झंकृति है। तत्त्वबोध और रसबोध के समन्वय की ज़मीन पर कविता—सच्ची, टिकाऊ और ऊँची कविता-जन्म लेती है और हृदय से लेकर मस्तिष्क के आकाश तक कविता का यह मस्त मुक्त, पाखी निर्बाध रूप से उड़ता रहता है। कविता के उड़न-पाखी के पाँव में ज़मीन की धूल भी लगी रहती है तो उसके पंख में आकाश की अनन्तता समाहित हो उठती है। कविता, अपने अस्तित्व के लिए, कल्पना, व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण, गहन चिन्तन और तीव्र संवेदनशीलता से रचनात्मक ऊर्जा प्राप्त करती है। इस तरह श्रेष्ठ कविता में वैचारिकता और भावुकता का मणि-कांचन संयोग रहता है।

आचार्य विद्यासागरजी की कृति 'मूकमाटी' वस्तुतः विचारशीलता और भावप्रवणता की समन्वित सन्तुलित परिणति है। इस कृति का भावलोक विमुग्ध मन का स्वप्न दर्शन भर नहीं है बल्कि एक उदात्त स्वप्न के सत्यापन का सर्जनात्मक कर्म-लोक है। इस कृति का विचार जगत् तर्कशील मस्तिष्क की शुष्क सृष्टि नहीं है। इसके विचार अनुभव, अनुचिन्तन और सूक्ष्म निरीक्षण से सम्पुष्ट एवं संवर्द्धित हुए हैं। 'मूकमाटी' का कवि शब्दों का कलाकार मात्र नहीं है और इसलिए यह कृति कल्पना तथा भावना की शब्द लीला मात्र नहीं है। यह एक तत्त्वान्वेषी चिन्तक की काव्य-रचना है, एक स्पष्ट और स्वच्छ चित्त वाले साधक की रचना-यात्रा की शब्दात्मक गाथा है। अतः इसमें विचार साफ़-साफ़ व्यंजित हुए हैं। सहज, परिचित उदाहरणों से अपना मन्तव्य कवि देखते-देखते पाठकों के हृदय में उतार देता है। 'मूकमाटी' का कवि जीवन के सुष्ठु विकास के लिए, उसकी सार्थक मंगलमयी परिणति और चरितार्थता के लिए संयम, साधना और अभ्यास को आवश्यक मानता है। यह एक अनुभवसिद्ध सत्य है। इस सत्य को कवि सुपरिचित उदाहरण तथा अत्यन्त सरल भाषा द्वारा पाठक के मन तक सम्प्रेषित करता है :

"प्राथमिक दशा में/साधना के क्षेत्र में/स्खलन की सम्भावना
पूरी बनी रहती है, बेटा !" (पृ. ११)

इन पंक्तियों में निवेदित अनुभव सिद्ध सचाई को कवि अत्यन्त सहज उदाहरण द्वारा स्वीकार्य बना देता है :

"स्वस्थ-प्रौढ़ पुरुष भी क्यों न हो/काई लगे पाषाण पर
पद फिसलता ही है !" (पृ. ११)

विचारक कवि ने जीवन की सफलता के साधनों का रहस्य सहज-सरल शब्दों में खोल दिया है। 'रहस्य' को रहस्यमयी भाषा में ढँककर वह नहीं प्रस्तुत करता। वह सफलता की कुंजी को बड़े साफ़ ढंग से समझा देता है :

"प्रतिदिन–बरसों से/रोटी बनाता-खाता आया हो /तथापि वह
पाक-शास्त्री की पहली रोटी/करड़ी क्यों बनती, बेटा !/इसीलिए सुनो !
आयास से डरना नहीं/आलस्य करना नहीं !" (पृ. ११)

ऐसी साफ़ और सुलझी अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब अभिव्यंग्य तथ्य, भाव, दृष्टि या विचार भी सुलझे और साफ़ हों। विचार की स्पष्टता तभी सम्भव है जब विचारक का मस्तिष्क और मन उलझनों की भूमि त्याग चुका हो। ये पंक्तियाँ इकहरी, सपाट और अकलात्मक, प्रथम दृष्ट्या हैं। पर क्यों ? कवि की बौद्धिक, भावपरक और सृजनात्मक क्षमता की सीमा के कारण ? नहीं, क्योंकि इसी कृति में कलात्मक पंक्तियों की कोई कमी नहीं है। सवाल जीवन-दर्शन को, चिन्तन और अनुभव से प्राप्त बोध को पाठक में प्रतिष्ठित करने का है। और इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि अनुभूत, सुचिन्तित विचार निरलंकृत होते हैं। मन से निकलने वाले विचार, हृदय से उमड़ने वाले भाव सहज, सरल ही होने चाहिए। अनावश्यक कल्पनातिरेक, कृत्रिम अभिव्यंजना शैली और उलझी हुई जीवन दृष्टि के कारण काव्य सम्प्रेषण की गुणवत्ता से विरहित होकर अस्वीकार्य हो जाता है। 'मूकमाटी' के कवि की कला भाव तथा विचार के अधीन है, उनके प्रति उन्मुख है। कला-कौशल का प्रदर्शन प्रस्तुत कवि का अभीष्ट नहीं है, उसका अभीष्ट है विचार-सन्दोहन और विचार का पाठक हृदय में प्रतिष्ठापन। अतः वह सपाट और इकहरी भाषा-शैली के प्रयोग से हिचकता नहीं।

'मूकमाटी' मूलतः विचार काव्य है, दर्शन का काव्य है। अतः ऊपर से देखने पर इसकी बहुत सारी पंक्तियाँ शुष्क मालूम पड़ती हैं। पर, ध्यान देने की बात यह है कि इस काव्य में आद्यन्त रोचकता बनी रहती है और पाठक को कथाक्रम के साथ विकासमान् और जीवन-प्रवाह के अनेक धरातल देखने को मिलते हैं। दूसरी खूबी यह है कि विचार दर्शन सूत्रात्मक संक्षिप्तता में सिमट कर सहज रूप से स्मरणीय हो गए हैं। गहन-से-गहन चिन्तन या विचार को कवि ने सूत्रात्मक संक्षिप्तता में समेट कर उसे स्मरणीय सूक्ति का रूप दे दिया है। ऐसी सूक्तियों की संख्या काफ़ी बड़ी है और इससे काव्य में रोचकता आ गई है, नीरसता छँटी है, पाठक के मन की ज़मीन भावुकता के रस से नहीं, विचार और ज्ञान के रस से भींग उठती है। यह रस ऐसा है जो अपने स्पर्श से ज्योतिमाला रचता है। रस और रौशनी का रसमय 'आलोक पर्व' इस कृति में अनेक स्थलों पर जगमगाता दीख पड़ेगा। ऐसी सूत्रात्मक सूक्तियों के कुछ उदाहरण लें :

- *"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ. ९)*
- *"पतन पाताल का अनुभव ही/उत्थान-ऊँचाई की*
  आरती उतारना है !" (पृ. १०)
- *"चरणों का प्रयोग किये बिना/शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है !" (पृ. १०)*
- *"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं।" (पृ. १०)*
- *"मीठे दही से ही नहीं,/खट्टे से भी/समुचित मन्थन हो*
  नवनीत का लाभ अवश्य होता है।" (पृ. १३-१४)
- *"संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से*
  हर्षमय होता है, धन्य !" (पृ. १४)

ऐसी ही अनेक सूत्रात्मक सूक्तियाँ पूरे काव्य में बिखरी पड़ी हैं और इस कृति को विचार और अभिव्यक्ति के स्तरों पर आर्ष कथन की भंगिमा और गरिमा प्रदान करती हैं।

आचार्यश्री ने अपनी इस कृति में 'विचार', 'आचार' और 'सम्प्रेषण' पर अपना चिन्तन स्पष्ट किया है। यहाँ

पर एक बात ध्यान देने योग्य है और वह है 'आचारों के साम्य' पर कवि द्वारा एक नया आलोकपात। कवि ने 'सम्प्रेषण' को भावबोध के लिए अनिवार्य पोषक तत्त्व माना है। साथ ही, 'सम्प्रेषण' जैसे रचना-प्रक्रिया से जुड़े तत्त्व को 'आचारसाम्य' से जोड़कर कवि ने काव्य-रचना के एक ऐसे आयाम की ओर संकेत किया है जो साधक, विचारक यति कवि की दृष्टि में ही खुलता है। यह है अध्यात्म का आयाम। अतः भाव-सम्प्रेषण पर कवि ने अपना स्वतन्त्र चिन्तन प्रकट किया है। सम्प्रेषण और मूल्य तो साहित्य के आधार स्तम्भ हैं, ऐसा आधुनिक साहित्य चिन्तक आई.ए. रिचर्ड्स भी मानते हैं।

इस भाव तत्त्व तथा सम्प्रेषण प्रक्रिया पर आचार्यश्री का चिन्तन सर्वथा मौलिक और सही है। 'सम्प्रेषण' के विकार शून्य निखार के लिए कवि का सन्देश है :

"विचारों के ऐक्य से/आचारों के साम्य से/सम्प्रेषण में
निखार आता है,/वरना/विकार आता है !" (पृ. २२)

'सम्प्रेषण' के सही रूप पर भी कवि का विचार स्पष्ट है :

"बिना बिखराव/उपयोग की धारा का/दृढ़-तटों से संयत,
सरकन-शीला सरिता-सी/लक्ष्य की ओर बढ़ना ही
सम्प्रेषण का सही स्वरूप है।" (पृ. २२)

'सम्प्रेषण' तभी सफल होता है जब वह संयत और मर्यादित हो, लक्ष्योन्मुख हो, अभिव्यक्ति सुपुष्ट और गठी हुई हो, कसी हुई हो। 'बिखराव' यदि भाषा और विचार के स्तर पर आएगा तो अभिव्यक्ति शिथिल और अस्पष्ट हो जाएगी। 'सम्प्रेषण' के दुरुपयोग तथा सदुपयोग पर भी विचार किया गया है। कवि की दृष्टि में दुरुपयोग होना यह है :

"संप्रेष्य के प्रति/कभी भूलकर भी/अधिकार का भाव आना
सम्प्रेषण का दुरुपयोग है,/वह फलीभूत भी नहीं होता !" (पृ. २३)

कवि की दृष्टि में सहकार के भाव से सम्पृक्त होकर ही सम्प्रेषण सफल होता है :

"सहकार का भाव आना/सदुपयोग है, सार्थक है।" (पृ. २३)

इस 'सम्प्रेषण' को अर्थात् अभिव्यक्ति को, सृजन-प्रक्रिया को कवि भाव-सम्पदा का पोषक तत्त्व मानता है, इसे वह 'स्वाद' की संज्ञा देता है। यह ऐसा स्वाद है जिससे तत्त्वबोध को तुष्टि और द्युति दोनों की प्राप्ति होती है :

"सम्प्रेषण वह स्वाद है/जिससे, कि/सद्भावों की पौध
पुष्ट-सम्पुष्ट होती है/उल्लास-पाती है;
सम्प्रेषण वह स्वाद है;/जिससे कि/तत्त्वों का बोध
तुष्ट-सन्तुष्ट होता है/प्रकाश पाता है।" (पृ.२३)

सच ही, सम्प्रेषण-प्रक्रिया की सार्थक परिणति उल्लास भाव की सृष्टि में होती है और सम्प्रेषण ही वह स्वाद है जिससे जुड़कर तत्त्वबोध प्रकाशमय हो उठता है। कवि सम्प्रेषण के साधन की आरम्भिक बोझिलता और निस्सारता के साथ-साथ सम्प्रेषण की अभ्यासजन्य सहजता पर भी विचार करता है और इसे एक सामान्य उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर देता है :

"प्राथमिक दशा में/सम्प्रेषण का साधन
कुछ भार-सा लगता है/निस्सार-सा लगता है।" (पृ. २३)

पर, इसे स्वाभाविक मानकर कवि इससे घबराने की सलाह नहीं देता। वह कहता है कि सतत अभ्यास से स्वयं लेखनी विचारों, भावों की अनुचरी हो जाती है। बड़े ही सामान्य उदाहरण से अपने कथ्य को वह बोधगम्य बना देता है :

"कुशल लेखक को भी,/जो नई निबवाली/लेखनी ले लिखता है
लेखन के आदि में/खुरदरापन ही/अनुभूत होता है/परन्तु,
लिखते-लिखते/निब की घिसाई होती जाती/लेखन में पूर्व की अपेक्षा
सफाई आती जाती/फिर तो···लेखनी/विचारों की अनुचरा होती···
···होती/विचारों की सहचरी होती है।" (पृ. २४)

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होगा कि चिन्तक कवि ने भाव-सम्प्रेषण जैसी रचना-प्रक्रिया पर भी स्वतन्त्र रूप से सोचा है। सम्प्रेषण के स्वरूप-निर्धारण में वह साहित्य जगत् के पण्डितों के विचारों का हवाला नहीं देता। वह स्वानुभव, स्व-चिन्तन से सम्प्रेषण का स्वरूप निर्धारण करता है। सम्प्रेषण जैसी जटिल रचना-प्रक्रिया को वह सहज भाषा में, सरल रूप से बोधगम्य बना देता है।

किसी काव्य को महान् बनाता है उसका हेतु रूप कोई स्वप्न, कोई दर्शन, कोई चिन्तन। महान् स्वप्न, महान् चिन्तन, महत् लक्ष्य और उदात्त सन्देश ही महान् काव्य में व्यक्त होते हैं। क्या 'मूकमाटी' के कवि के पास ऐसा कोई दर्शन है ? इसके साथ-साथ एक महान् और श्रेष्ठ कोटि का रचना-तन्त्र भी आवश्यक है। क्या ऐसा रचना तन्त्र है इस कवि के पास ? इस रचना में चिन्तन-ही-चिन्तन है, सर्वाग्रही और सर्व-ग्राही दर्शन है, जीवन दर्शन है, कर्म दर्शन है, समाज दर्शन है, सेवा दर्शन है और साहित्य दर्शन है। कवि के पास इस विशाल भाव सम्पदा को सम्प्रेषित करने योग्य रचना तन्त्र भी है।

साहित्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कवि साहित्य दर्शन को भी बड़े सहज भाव से स्पष्ट कर देता है :

"हित से जो युक्त-समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिसके अवलोकन से/सुख का समुद्भव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम,
सुख का राहित्य है वह,/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

कवि ने साहित्य की सार्थकता 'हितकारी' होने में माना है। अर्थात् उसका साहित्य दर्शन लोक-मंगल के दर्शन से समन्वित है।

प्रथम खण्ड में माटी की प्राथमिक दशा के परिशोधन की क्रिया वर्णित है, दूसरे खण्ड में अनवधानता के कारण कार्य-सम्पादन में प्रमादवश हो गयी हिंसा से, प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न बदला लेने के भाव का क्षमा-याचना द्वारा शमन दिखाया गया है :

"खम्मामि, खमंतु मे-/क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे,

सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी ! वैर किससे/क्यों और कब करूँ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है/संसार-भर में मेरा वैरी !" (पृ. १०५)

क्रोध के शमन और क्षमा भाव के उदय से विश्व मैत्री का भाव उत्पन्न होता है, इस तथ्य को कवि ने स्पष्ट रूप से समझाया है। इस खण्ड में साहित्य बोध, नव रस, संगीत की अंतरंग प्रकृति, शृंगार की सर्वथा मौलिक व्याख्या, ललित ऋतु वर्णन, कला चमत्कार आदि द्रष्टव्य हैं।

संगीत की अन्तरंग प्रकृति को कवि इस रूप में व्यक्त करता है :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और/प्रीति उसे मानता हूँ
जो अंगातीत होती है/मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत···!"
(पृ. १४४-१४५)

शृंगार के सम्बन्ध में कवि की मौलिक उद्भावना और नया चिन्तन देखिए :

"शृंगार के अंग-अंग ये/खंग-उतार शील हैं/युग छलता जा रहा है
और/शृंगार के रंग-रंग ये/अंगारशील हैं,/युग जलता जा रहा है।" (पृ. १४५)

'करुण' और 'शान्त' रसों पर भी कवि ने विचार किया है और यह माना है कि 'करुण' रस में 'शान्त' रस का अन्तर्भाव नहीं हो सकता :

"करुण रस में/शान्त रस का अन्तर्भाव मानना/बड़ी भूल है।" (पृ. १५५)

इन दोनों का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है :

करुण रस :

"उछलती हुई उपयोग की परिणति वह/करुणा है/नहर की भाँति !" (पृ.१५५)

शान्त रस :

"उजली-सी उपयोग की परिणति वह/शान्त रस है/नदी की भाँति !"
(पृ. १५५)

इसी तरह वात्सल्य, वीर आदि रसों का मौलिक विवेचन और स्वरूप-निर्धारण भी हुआ है। इसी खण्ड में 'ही' और 'भी' जैसे शब्दों के द्वारा अलग-अलग जीवन-दृष्टि को तो व्यंजित किया ही गया है, साथ ही, इनके द्वारा 'पश्चिमी' और 'भारतीय' संस्कृति का पृथक् स्वरूप निर्धारण भी हुआ है :

" 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
...'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।"
(पृ. १७३)

इसी खण्ड में 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' जैसे गूढ़ सूत्र का सहज भाषा में बोधगम्य अनुवाद भी किया गया है। काव्य लालित्य, व्यापक जीवन-बोध, मौलिक उद्भावना आदि सभी दृष्टियों से यह द्वितीय खण्ड बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

तीसरे खण्ड में तन-मन-वचन की निर्मलता, शुभ कर्मों के शुचितापूर्ण सम्पादन, लोक मंगल की कामना से

पुण्यार्जन को सम्भव बताया गया है। क्रोध, मान, माया और लोभ से पाप का उदय होना बताया गया है। इसी खण्ड में माटी की विकास गाथा के द्वारा पुण्य कर्मों से उत्पन्न श्रेयस्कर उपलब्धि का वर्णन किया गया है। चतुर्थ खण्ड में कुम्भकार ने घट को आकार दे दिया है। 'अवा' में उसे तपाने की क्रिया भी वर्णित है। पके हुए कुम्भ को सोल्लास निकालकर कुम्भकार ने उसे सेठ के सेवक को दे दिया है ताकि आहार दान के लिए आए गुरु का पद-प्रक्षालन इसी कुम्भ के जल द्वारा हो। कुम्भ के होने की सार्थकता इसी में है। चतुर्थ खण्ड का फलक इतना व्यापक है, कथा प्रसंग इतने अधिक हैं कि सब का सार संक्षेप प्रस्तुत करना कठिन है।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि 'मूकमाटी' की रचना के पीछे एक व्यापक जीवन दर्शन और मंगलमय स्वप्न की प्रेरणा छिपी हुई है और इसकी व्यंजना 'माटी' की विकास-कथा के द्वारा की गई है। सम्पूर्ण काव्य का स्वरूप रूपकात्मक हो गया है। इसके पात्र और उनसे जुड़ी घटनाओं का प्रतीकार्थ संकेतित होता जाता है और इस तरह इस काव्य का स्वरूप 'कामायनी' की तरह ही, बहुत अंशों में, रूपक काव्य जैसा हो गया है।

'मूकमाटी' का कवि जहाँ ध्यान और चिन्तन की आध्यात्मिक ऊँचाई से उतरकर काव्य-कला की श्रीशोभा से युक्त धरती पर विचरता है वहाँ उसके शुद्ध कवि रूप की मोहक झलक मिलती है। उषा काल की प्रकृति का कितना मोहक और सुन्दर चित्रण इन पंक्तियों में हुआ है :

> *"भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है/माँ की मार्दव-गोद में,*
> *मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।" (पृ. १)*

भानु के बाल रूप और उसकी बाल चेष्टा का ऐसा वर्णन और कहीं देखने को नहीं मिलेगा।

उषा की सिन्दूरी आभा में नहाए प्राची का कलात्मक और ललित वर्णन देखिए :

> *"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है/और*
> *सिंदूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा—/भाई है, भाई···!" (पृ. १)*

भाषा शैली और शब्द प्रयोग की दृष्टि से 'मूकमाटी' में भाषा की प्राणवत्ता तथा शब्द की अर्थवत्ता को नया सन्दर्भ प्रदान किया है। इस प्रसंग में इस कृति के 'प्रस्तवन' (पृ. VII) से श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन की ये पंक्तियाँ उद्धृत करना ही अलम् होगा : "कवि के लिए अतिशय आकर्षण है शब्द का, जिसका प्रचलित अर्थ में उपयोग करके वह उसकी संगठना को व्याकरण की सान पर चढ़ाकर नयी-नयी धार देते हैं, नयी-नयी परतें उघाड़ते हैं। शब्द की व्युत्पत्ति उसके अन्तरंग अर्थ की झाँकी तो देती ही है, हमें उसके माध्यम से अर्थ के अनूठे और अछूते आयामों का दर्शन होता है।"

निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत काव्य भाव सम्पदा तथा अभिव्यंजना कौशल की दृष्टि से एक अभिनव प्रयोग है। यह सफल कृति है। विचारों का विस्तृत फलक, भाव समृद्धि, ललित कल्पना, रोचक वर्णन शैली, मौलिक चिन्तन और अनूठी व्याख्याओं ने मिलकर इस दीर्घ कलेवर वाले काव्य को पठनीय और विश्वसनीय बना दिया है। मूलतः यह काव्य लोक मंगलकारी अध्यात्मचिन्तन से परिपुष्ट विचार काव्य है जिसमें अभिव्यक्ति की सहजता है, कथ्य की विश्वसनीयता है और कलात्मक चारुता है।

□

'मूकमाटी' : एक सांस्कृतिक महाकाव्य

डॉ. (पं.) दयाचन्द्र जैन साहित्याचार्य

सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागर महाराज इसके रचयिता हैं। मूकत्व भाव से सृजन करने के कारण 'मूकमाटी' यह साहित्यिक ग्रन्थ पृथक्-पृथक् चार खण्डों की अपेक्षा मानों चार खण्ड-काव्य हैं और समेकित खण्डों की अपेक्षा एवं चरम लक्ष्य की अपेक्षा एक महाकाव्य है। कारण, इसका लक्ष्य भावात्मक और शब्दात्मक कलेवर लगभग पाँच सौ पृष्ठों में सम्पूर्णता को प्राप्त होता है। इस महाकाव्य का लक्ष्य द्योतित होता है :

"पथ पर चलता है/सत्पथ-पथिक वह/मुड़कर नहीं देखता
तन से भी, मन से भी।/और, संकोच-शीला/लाजवती लावण्यवती–
सरिता-तट की माटी/अपना हृदय खोलती है/माँ धरती के सम्मुख!" (पृ. ३-४)

'मूकमाटी' एक रूपक है जो अनेक द्रव्यों को, उसके अनेक रूपों को अभिव्यक्त करता है। विश्व के सूक्ष्म और स्थूल एवं दृश्य और अदृश्य सभी पदार्थ सत्ता के अन्तर्गत हैं। सत्ता समस्त पदार्थों का मौलिक तत्त्व है, जो सर्व व्यापक और नित्य होती है। किसी भी विद्यमान पदार्थ का नाश नहीं होता, अन्यथा समस्त पदार्थों का लोप हो जाएगा तथा किसी भी अविद्यमान पदार्थ का उत्पाद नहीं होता, अन्यथा आकाश-पुष्प, बन्ध्या-पुत्र, खरविषाण आदि का सद्भाव हो जाएगा।

भूमि माता की गोद में फूली-फली माटी का नाश नहीं हुआ किन्तु उसने अनुकूल निमित्त कारणों का संयोग प्राप्त कर अपना विकास करते हुए मंगल कलश रूप सौन्दर्य पद को प्राप्त कर लिया। मंगल कलश को विश्व में आदर के साथ शुभ माना जाता है। इसीलिए सभी धार्मिक एवं लौकिक कार्यों में उसकी स्थापना की जाती है।

'मूकमाटी' महाकाव्य से एक दार्शनिक सिद्धान्त भी द्योतित होता है :"सद् द्रव्यलक्षणम्; उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्"-(तत्त्वार्थसूत्र ५/२९-३०)। प्रत्येक द्रव्य में पूर्व पर्याय का नाश (अस्त) और उत्तर पर्याय का उत्पाद (उदय) होने पर भी द्रव्य की सत्ता विद्यमान (नित्यता) रहती है अर्थात् द्रव्य का मूलतः विनाश नहीं होता है। वसुधा में उत्पन्न मूकमाटी को कुम्भकार ने भूमि से निकाल कर शुद्ध किया। कुम्भकार उसको घट-निर्माण योग्य शुद्ध, मृदु बनाता है। तत्पश्चात् मृदु पिण्ड को चाक पर रखकर स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में परिवर्तित करता है। घट को सुखाना, अवा में पकाना, विविध रंगों से चित्रित करना, मूल्य से विक्रय करना तथा अनेक मंगल कार्यों में मंगल घट का स्थापित किया जाना, मंगल कलश में फल, हल्दी, चाँदी, पुष्प का प्रक्षेपण, घट के मुख पर श्रीफल का स्थापित करना आदि सामग्रियों से मंगल कलश का सुसज्जित किया जाना--ये सब पर्यायें उत्पाद-व्यय के रूप में होती हैं तथापि मूक मृत्तिका अपनी सत्ता का परित्याग नहीं करती।

मूक मृत्तिका ने अपने परिवर्तित पवित्र जीवन से मानव मात्र को यह सत्प्रेरणा प्रदान की है :

"परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः, परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः, परोपकारार्थमिदं शरीरम्॥"

मूक वृक्ष परोपकार के लिए फल प्रदान करते हैं। मूक तरंगिणी ठण्डा जल प्रदान कर परोपकार करती है। मूक गोप्राणी समाज हित के लिए पौष्टिक दुग्ध प्रदान करती है। ये मूक प्राणी और मूकमाटी मानव-समाज को शिक्षा प्रदान करती है कि 'हे मानव! सावधान हो जाओ। आपका यह क्षणिक शरीर स्व-पर-कल्याण के लिए ही है। इससे व्यर्थ यापन मत करो।'

महाकाव्य के प्रणेता पूज्य आचार्यप्रवर ने 'मूकमाटी' यह नामकरण व्यापक दृष्टि से किया है, जिससे लोक के अनुकूल पर्यावरण में भी यह जीवन-घटना घटित होती है। उदाहरणार्थ--मूक वसुन्धरा ने मात्र मृत्तिका को ही जन्म नहीं दिया, अपितु सामान्य पृथिवी, बालू, ताम्र, लोहा, रांगा, सीसा, चाँदी, स्वर्ण, हरताल, मैनशिल, हिंगुल, सस्यक, सुरमा, अभ्रक, अभ्रबालुका, लवण आदि सोलह धातुओं को भी जन्म दिया, जो प्रकृति से कोमल होती हैं। ये सभी मूक होकर आभूषण आदि के रमणीय रूप को धारण करते हुए लोक सम्मान प्राप्त करती हैं, लोक उपकार करती हैं।

इन सोलह धातुओं से अतिरिक्त इस वसुन्धरा ने बीस कठोर धातुओं को भी जन्म दिया है। इन मूक धातुओं ने अशुद्ध खानि में पड़े हुए जीवन को संस्कार विशेष से शुद्ध करते हुए रमणीय आभूषण आदि अवस्थाओं को प्राप्त किया है और लौकिक उपकार किया है। वे मूक धातुएँ इस प्रकार हैं--(१) कठिन बालू, (२) पाषाण की चट्टान, (३) वज्र(हीरा), (४) दीर्घ शिला, (५) प्रवाल (मूँगा),(६) गोमेद मणि (पुलक मणि), (७) रुजक मणि, (८) स्फटिक मणि, (९) पद्मराग मणि, (१०) वैडूर्य मणि, (११) चन्द्रप्रभ मणि, (१२) चन्दन मणि, (१३) जलकान्त मणि, (१४) पुखराज मणि, (१५) सूर्यकान्त मणि, (१६) मरकत मणि, (१७) नील मणि, (१८) विद्रुम मणि, (१९) रुचिर मणि और (२०) अंक मणि। इन कठोर मूक धातुओं ने जिनालय, जिन प्रतिमा, विमान, अष्ट प्रातिहार्यों की पर्यायों को धारण करने का भी सौभाग्य प्राप्त कर लोक का महान् उपकार किया है। जिन मानवों ने नव देवों की प्रतिष्ठा एवं उपासना करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं किया, उनका जीवन ऊपर कथित वसुन्धरा की धातुओं से भी गिरा हुआ है और वे पुरुषार्थ से हीन हैं।

यहाँ पर यह विचारणीय है कि 'मूकमाटी' महाकाव्य के प्रणेता ने इसका नाम 'मूकमाटी' क्यों रखा ? विचार करने पर ज्ञात होता है कि 'माटी' गौरव हीन, तुच्छ एवं अकिंचन वस्तु है। माटी जैसी तुच्छ वस्तु भी श्रेष्ठ निमित्त प्राप्त कर स्वर्ण, मोती, मणि आदि धातुओं से अपना विकास और भी अधिक कर सकती है। जैसा विकास उच्च कीमती वस्तु का हो सकता है, वैसा विकास तुच्छ, अकिंचन वस्तु का भी हो सकता है। इस विषय को सिद्ध करने के लिए इस महाकाव्य का नाम 'मूकमाटी' निश्चित किया गया है, मूक मोती, मूक सुवर्ण, मूक प्रवाल, मूक रजत आदि नहीं रखा गया। यदि मूक मोती, मूक स्वर्ण आदि कीमती नाम रखा जाता, तो सभी मानवों की यह मान्यता हो जाती कि अति मूल्यवान् वस्तु ही अपना उद्धार और परोपकार कर सकती है और माटी जैसी तुच्छ व गौरवहीन वस्तु लोक में अपना विकास नहीं कर सकती, वह बेकाम है।

'मूकमाटी' इस नामकरण से यह भी ध्वनित हो जाता है कि उच्च वर्णजात मानव के समान हीन वर्णजात मानव भी योग्य निमित्त का सन्निधान होने पर अपना पूर्ण विकास एवं उद्धार कर सकता है। उन्नति का द्वार मानव मात्र के लिए खुला है। पाताल से निकल कर जल ने अपना जीवन शुद्ध किया तथा मेघमाला बन कर विश्व के लिए जल प्रदान किया, जिससे विश्व का संरक्षण एवं संवर्द्धन हुआ। जल का सौभाग्य है कि उसने जिन चैत्य और चैत्यालयों का अभिषेक किया। जल के द्वारा शान्ति धारा की क्रिया होती है। पूजन में प्रथम जल द्रव्य के समर्पण द्वारा द्रव्यों के अष्टक की शुद्धि सम्पन्न हुई। जल से शाकाहारी वस्तुओं का उत्पादन, तृषा-बाधा की शान्ति और लौकिक पदार्थों की शुद्धि प्रक्रिया और कृषि कार्य सम्पन्न हुआ। मूक जल ने मानव को प्रेरणा प्रदान की है कि हमारे समान आप भी विषय-कषायों को दूर कर आत्मशुद्धि का पुरुषार्थ करें।

'मूकमाटी' का उपलक्षण एक अग्नि द्रव्य भी है जो लोक में अपनी सत्ता रखता है, जिसने विश्व-शान्ति महायज्ञ का श्रेष्ठ कार्य सम्पादन किया। जिन-पूजा में धूप की सुगन्धि को दिव्य व्यापी किया। भोजन-निर्माण में पाक-क्रिया का सम्पादन किया। अन्धकार के स्थान पर प्रकाश का विस्तार किया तथा स्वर्ण-रजत आदि धातुओं का संशोधन किया। विद्युत का रूप धारण कर अग्नि के रूप में चमत्कार पूर्ण कार्य किया, जो विज्ञान का एक साधन है।

अग्नि द्वारा मूक होते हुए भी मानव-समाज को यह चेतना दी गई कि मानव साधुवृत्ति को धारण कर ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा राग, द्वेष, मोह आदि कर्म-ईंधन को यदि भस्म कर देवे, तो वीतराग परमात्मा हो सकता है। आप पुरुषार्थ करें और आत्मा को उज्ज्वल बनाएँ।

'मूकमाटी' का उपलक्षण एक वायु द्रव्य भी है जो लोक में अपना अस्तित्व सुरक्षित किए हुए है। वह वायु वातवलय की पर्याय से सर्व लोक का प्रबल आधार बनी हुई है। मूक वायु श्वास एवं उच्छ्वास के माध्यम से विश्व-प्राणियों का अनिवार्य प्राण है। उसने व्योमयान, वायुयान एवं विमान, मेघमाला और पक्षियों को गगन में आश्रय प्रदान किया है एवं जिसके द्वारा महीतल का कूड़ा-कचरा आदि उड़ाकर पृथ्वी स्वच्छ कर दी गई है।

उस मूक पवन ने मानव को सन्देश दिया कि मानव रसलय रूप पवन के द्वारा ज्ञान, दर्शन, शक्ति स्वरूप भाव-प्राणों की सुरक्षा करे। शान्ति, सत्य, संयम, ब्रह्मचर्य रूप प्राणवायु के द्वारा आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध बनाए तथा अहिंसा रूप तीन वातवलयों के द्वारा लोक का आधार बने। धार्मिक वातावरण से छल, कपट, तृष्णा, पारस्परिक द्रोह, व्यसन और अन्याय के कचरे को शीघ्र उड़ा दें और हृदय-पटल को स्वच्छ कर दें।

'मूकमाटी' का एक अन्य उपलक्षण मूक वनस्पति का भी प्रभाव एवं परस्पर उपगृह (उपकार) प्रकृति लोक में प्रशंसा के योग्य है। उन चौबीस वृक्षों का महान् सौभाग्य था कि जिनकी शीतल छाया में श्री ऋषभनाथ आदि चतुर्विंशति तीर्थंकरों ने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की थी। वे वृक्ष अभी भी मानव-समाज का आह्वान करते हैं कि आप भी हमारी शीतल छाया में बैठकर जिन-दीक्षा को अंगीकार करें और आत्म-कल्याण में लीन हों। एक वृक्ष जिनेन्द्र तीर्थंकर के सन्निधान में आकर शोकरहित हो गया, अतएव उसका नाम 'अशोक' जगत् में प्रसिद्ध हो गया। विश्व के पादपों ने मिलकर अपना पंचांग (जड़, छाल,पत्ते,फल और फूल) मानवों के हितार्थ प्रदान कर दिए हैं। यह तरु समाज ने मानव समाज पर महान् उपकार किया है। वृक्ष स्वयं आतप की पीड़ा को सहते हुए अन्य प्राणियों को शीतल छाया प्रदान करते हैं। उनके इन उपकारों से मानव को भी यह शिक्षा प्राप्त होती है कि मानव को भी तन, मन, धन से स्व-पर-कल्याण करने में सदैव तत्पर रहना चाहिए।

'मूकमाटी' एक साहित्यिक महाकाव्य है। माटी एक मूक पदार्थ है। उसकी प्रथम पतित अवस्था से लेकर अन्तिम उच्च पवित्र अवस्था तक का वर्णन करने से अन्य अनेक पार्थिव धातुओं की भी यह अव्यक्त दशा परिवर्तित होते हुए चरम अभिव्यक्त दशा होती है। इस रूपक से मानव की भी यह दशा अभिव्यक्त होती है। अन्तर इतना ज्ञात होता है कि माटी मूक होते हुए भी अपना उत्थान कर सकती है और मानव सत्यवादी होते हुए भी अपना लक्ष्य सम्पूर्ण नहीं कर सकता। यह चिन्ता का विषय है। पर्याय तो सभी पदार्थों की परिवर्तित होती है पर उनमें अन्तिम श्रेष्ठ दशा की जब अभिव्यक्ति होती है, वही प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

इस काव्य का 'मूकमाटी' यह नामकरण भी एक विशेष लक्ष्य को ध्वनित करता है। मूकमाटी यह उपलक्षण है जिससे अन्य पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति पदार्थों के अव्यक्त रूपों की अभिव्यक्ति सिद्ध होती है। महाकाव्य का अन्तिम निष्कर्ष यह है :

"इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर/मार्ग में नहीं, मंज़िल पर !
और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···/और माहौल को
अनिमेष निहारती-सी/···मूक माटी।" (पृ. ४८८)

□

'मूकमाटी' का रचना-सौष्ठव एवं उसमें प्रतिपादित लोकदर्शन—दृष्टान्तबोध

डॉ. यज्ञ प्रसाद तिवारी

किसी महत् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लिखा गया काव्य भले ही शास्त्रीय लक्षणों की कसौटी पर खरा न उतरे लेकिन वह महाकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि कोई भी रचनाकार काव्य के लक्षणों को आधार मानकर किसी ग्रन्थ का प्रणयन करता ही नहीं है। फिर उसके काव्य को किसी शैली के चौखटे से नापना कहाँ तक न्यायसंगत है, यह सवाल खड़ा होना स्वाभाविक है। रामायण, महाभारत,ईलियड, ओडिसी को प्रथम महाकाव्य का दर्जा दिया गया तथापि महाकाव्य के जिस स्वरूप का विकास अद्यतन मिलता रहा है उस स्वरूप की दृष्टि से उन्हें महाकाव्य कहना बहुत सार्थक नहीं दिखता है। कविता लिखने की मौलिक चेतना काव्य को दिशा और गति देती है। यह मौलिक चेतना युग विशेष की ध्वनि होती है, जिसे आकार देकर रचनाकार उस युग को मुखर करता है। वाचस्पति गैरोला के इस कथन से हम सहमत हैं कि 'रामायण' और 'महाभारत' को भी प्रथम महाकाव्य न कहकर युग विशेष के प्रतिनिधि महाकाव्य मानना ज्यादा उचित है। यदि महाकाव्यों की परम्परा और शैली का अध्ययन करें तो यह मान लेना सहज और सार्थक प्रतीत होने लगता है कि कसौटियों के अनेक स्वरूपों के विकसित होने के बावजूद काव्य के अन्तर्गत सन्निहित जीवन्त-मूल्यों ने ही कृति को महाकाव्य का दर्जा दिया या दिलाया है। हिन्दी में 'पृथ्वीराज रासो', 'रामचरितमानस', 'कामायनी', 'साकेत' आदि आख्यानक काव्यों को महाकाव्य के एक निर्धारित मानक से मूल्यांकित करना यदि सम्भव नहीं है तब फिर 'मूकमाटी' को कैसे किसी निर्धारित मानदण्ड पर मूल्यांकित किया जा सकता है।

काव्य-लेखन की अवधारणा काव्य-मूल्यांकन की अपेक्षा अधिक बलवती होती है। इस दृष्टि से किसी मूल्यांकन परिधि का निर्माण करना औचित्यपरक नहीं दिखता है और यही वह कारण है जिसके आधार पर 'मूकमाटी' जैसे महाकाव्यों को स्वतन्त्र निकषों पर कसने की ज़रूरत महसूस होने लगती है।

'मूकमाटी' काव्य इस शताब्दी के विख्यात सन्त दार्शनिक आचार्य विद्यासागर की अमूल्य काव्यकृति है। सर्जना के समस्त सोपानों के निर्माण में चिन्तन का अद्भुत सहयोग लिया गया है। इसीलिए यह महाकाव्य भावना के साथ-साथ विचारों को भी आन्दोलित करने में समर्थ हो गया है। कवि की अन्तश्चेतना जब आध्यात्मिक उत्कर्ष को कृति का लक्ष्य बना लेती है तब रचना का कथ्य चाहे जो भी हो, उससे महत् और सत् काव्य जन्म लेता ही है। 'मूकमाटी' की दार्शनिक अभिव्यक्ति, भावात्मक अन्विति, विचारात्मक कल्पना जिन निष्कर्षों को जन्म देती है, वे निष्कर्ष परम्परा उद्भूत नवनीत सदृश हैं। मेक्डॉनल ने यद्यपि 'रामायण' तक को अनुकृत महाकाव्य (आर्टिफिसियल एपिक) की संज्ञा दे डाली है तथा परवर्ती महाकाव्यों को अलंकृत महाकाव्य (एपिक ऑफ आर्ट) कह दिया है, लेकिन इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि इस तरह के महाकाव्यों का कोई उद्देश्य नहीं था। 'मूकमाटी' को अलंकृत महाकाव्य की श्रेणी में रखना भी सम्भव नहीं है और न ही अनुकृत महाकाव्य की श्रेणी में रखना। फिर भी यह महाकाव्य है, इसमें भी सन्देह नहीं है।

वस्तुतः कोई भी कालबोधक कृति जब जीवन और कल्पना को प्रचलित बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से किसी सहज जन भाषा में आकार दे लेती है तब वह लोकभावना की प्रतिनिधि बन जाती है। जनता जनार्दन की वाणी के रूप में प्रकट किसी सन्त की विराट् भावना लोकमंगल का दर्शन करने में समर्थ होने पर ही काव्य या महाकाव्य का सृजन करती है। ऐसे काव्य में कवि का निजीपन इतना समष्टिगत हो जाता है कि रचना मात्र उसकी सर्जना न रहकर किसी लोकवाणी का सत्य बन जाती है, जो महाकाव्य का अर्थ ग्रहण कर लेती है। इस दृष्टि से भी 'मूकमाटी' को

महाकाव्य कहना सर्वथा उचित है। इस सबके बावजूद डॉ. भगीरथ मिश्र जैसे आधुनिक आचार्यों ने महाकाव्य के जिन लक्षणों का निर्धारण किया है, उसमें से कतिपय लक्षणों का उल्लेख करना यहाँ प्रासंगिक होगा :

१. महाकाव्य सर्ग, अध्याय एवं खण्डों में विभक्त रचना होती है।

२. उसका कथानक इतिहास, पुराण और कल्पना पर आधारित होता है।

३. प्रकृति, पर्वत, उत्सव आदि का वर्णन होता है।

४. उक्ति वैचित्र्य की प्रधानता होने के बावजूद उसमें प्राण रूप में रस व्याप्त होता है।

५. महाकाव्य का नाम, कथा, नायक या कथातत्त्व के आधार पर होता है ।

इन समस्त निकषों की दृष्टि से मूल्यांकन करने पर 'मूकमाटी' न केवल परिमाण की कसौटी पर महाकाव्य सिद्ध होता है अपितु कथ्य-तथ्य की कसौटी पर भी महाकाव्य सिद्ध होता है ।

'मूकमाटी' काव्य काण्ड, अध्याय, सर्ग रूप में विभक्त न होकर खण्ड रूप में विभक्त है। इसमें कुल चार खण्ड हैं जो मुख्य कथा के चार तत्त्वों के रूप में कथात्मक अन्विति बनाए रखते हैं। सर्ग संख्या बढ़ाने की जगह पर रचनाकार ने खण्डों की सार्थक आवश्यकता पर बल दिया है। 'मूकमाटी' का कथानक यद्यपि कल्पना पर आधारित है तथापि उसमें वर्णित विषय वस्तु किसी भी राष्ट्र के नागरिक के लिए आकर्षक और लोकवृत्ति का स्पर्श करने वाला है। 'माटी' या 'धरती' के सम्मान में वीर और सन्त दोनों प्राणोत्सर्ग के लिए समान भाव से उद्यत मिलते हैं। एक बलिदान द्वारा उसकी लाज रखता है तो दूसरा समाधि द्वारा। 'माटी' प्रतीक रूप भी साधु, महात्माओं के उपमान दर्शन की अर्थवत्ता प्राप्त कर चुकी है। देश की माटी, जन्मभूमि की माटी चरण धूलि आदि रूपों में इसके महत्त्व की चर्चा लौकिक-अलौकिक दोनों सन्दर्भों में होती रहती है। भारतवासियों ने इसे पूज्य भाव से देखा-समझा है। फिर कल्पना की सार्थक अभिव्यक्ति भले ही इतिहास, पुराण में वर्णित माटी की महिमा के रूप में तो हुई है। यही कारण है कि काव्य की नायिका मूकमाटी कल्पित होकर भी नायिका की अवधारणा को पूर्ण करती है। कथातत्त्व के आधार पर ही इसका नामकरण किया गया है। इस दृष्टि से भी इसे महाकाव्य कहना तर्कसंगत प्रतीत होता है।

'मूकमाटी' के वर्णन प्रसंग अनूठे और अलौकिक हैं। प्रकृति की गोद में माटी का उद्‌भव कितना अनूठा लगने लगता है। वर्णन की नैसर्गिक चेष्टा माटी को प्रकृति की सहचरी साबित कर देती है। प्रारम्भ का यह दृश्य देखिए :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे / निरी नीरवता छाई,...
प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है
और/सिन्दूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा/भाई है, भाई···!
लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह/अपनी पराग को—/सराग-मुद्रा को
पाँखुरियों की ओट देती है।" (पृ. १-२)

प्रकृति का यह दृश्य मात्र काल्पनिक नहीं अपितु सत्य का अन्तर्बोध ध्वनित करने में भी समर्थ है। 'मूकमाटी' में शब्द चयन के बल पर जिन नवीन परिकल्पनाओं को सँजोया गया है उसे देखने से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उक्ति-वैचित्र्य से कहीं अधिक इस कालजयी कृति में रस छटा की प्रबलता है। अलंकार विधान 'मूकमाटी' के वर्णनों का साधन मात्र है, साध्य तो है रस। इस परम्परागत स्वरूप के अलावा आनन्द-दीप्ति उत्कर्षात्मक प्रभा रूपों

के दर्शन होते हैं इस कृति में। 'प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी' की गुणवत्ता का प्रभाव इस कृति में दृष्टिगोचर होता है। विद्यासागर जी की संवाद-योजना रचना की रसात्मक भावधारा को गत्यात्मक प्रवाह देती है। शैली, वर्णन, प्रसंग, भाषा रसोत्कर्ष के माध्यम बन गए हैं। इसलिए रचना में सर्वथा नवीन और साधारण विषय को कव्य बनाने के बावजूद कथानक की मिठास रसास्वादक को बाँधे रहती है। यही नहीं, काव्य के द्वितीय खण्ड में नौ रसों की मौलिक व्याख्या इस बात को सिद्ध करने में काफी दिखती है कि रसों की परिभाषाएँ धीरे-धीरे बदल रही हैं। कभी जहाँ किसी रस या भाव का नाम लेना 'स्वशब्दवाच्यत्वं दोषः' हो जाता था, वहीं आज रसोपचयन में सहायक हो गया है। सच है सन्त के स्पर्श से लौकिक मानदण्ड भी अलौकिक अर्थ पा लेते हैं। रस भाव और बुद्धि-विचार का सामंजस्य दिखाने की दृष्टि से एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे :

"मानता हूँ इस कलिका में/सम्भावनायें अगणित हैं/किन्तु, यह कलिका
कली के रूप में कब तक रहेगी ?/इस की भीतरी सन्धि से
सुगन्धि कब फूटेगी वह ?/उस घट के दर्शन में/बाधक है यह घूँघट
अब राग नहीं/···पराग मिले !" (पृ. १४०-१४१)

शृंगार की इस बिम्बात्मक परिधि में कल्पना का निष्कर्ष विराग उसी तरह है जिस तरह आध्यात्मिक चिन्तन का निष्कर्ष आत्मिक उत्कर्ष होता है। 'राग' के समानान्तर 'पराग' की सूक्ष्म अनुभूति की कल्पना न केवल मुग्धकारी है अपितु अर्थभरी भी है। 'वीर रस' के सन्दर्भ से इसका विश्लेषण और सार्थक हो जाएगा :

"वीर रस का अपना इतिहास है/वीरों को उसका अहसास है
उसके उपहास का साहस मत करो तुम !/जो वीर नहीं हैं, अवीर हैं
उन पर क्या, उनकी तस्वीर पर भी/अबीर छिटकाया नहीं जाता !" (पृ. १३२)

'उसके उपहास का साहस मत करो तुम' पंक्ति में कवि की ललकार वीरोक्ति ललकार में बदल जाती है जबकि निष्कर्ष पंक्ति तक पहुँचते-पहुँचते वह उसकी महत्ता के चिन्तन में लीन हो जाता है।

कथावस्तु की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' को महाकाव्य की श्रेणी में रखना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि कथा सन्दर्भों को जिन मूल्यों के द्वारा उद्घाटित किया जाता है वे सभी मूल्य 'मूकमाटी' में यथास्थान विद्यमान हैं। कथा का चार खण्डों में विभक्त होना, एक प्रधान कथा का आद्योपान्त बने रहना, नव रसों का सन्निवेश, अलंकृत शब्दावली से उसकी प्राणवत्ता को बनाए रखना, कथातत्त्व की आदर्श छटा आदि अनगिनत गुण 'मूकमाटी' की कहानी को आदर्श कहानी में परिणत कर देते हैं। नायक-नायिका की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए कृति के 'प्रस्तवन' में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के विचार का उल्लेख करना सटीक होगा : "···माटी तो नायिका है ही, कुम्भकार को नायक मान सकते हैं···किन्तु यह दृष्टि लौकिक अर्थ में घटित नहीं होती। यहाँ रोमांस यदि है तो आध्यात्मिक प्रकार का है। कितनी प्रतीक्षा रही है माटी को कुम्भकार की, युगों-युगों से, कि वह उद्धार करके अव्यक्त सत्ता में से घट की मंगल-मूर्ति उद्घाटित करेगा। मंगल-घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है जो काव्य के पात्र, भक्त सेठ, की श्रद्धा के आधार हैं।

"शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,
भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज !"

काव्य के नायक तो यही गुरु हैं किन्तु स्वयं गुरु के लिए अन्तिम नायक हैं अर्हन्त देव।"

अनेकान्तवादी दृष्टि से नायक-नायिका के सम्बन्ध में विद्वान् समीक्षक लक्ष्मीचन्द्र जैन के विचार आदरणीय हैं तथापि हमारा विनम्र निवेदन है कि 'माटी' को नायिका मान लेने पर गुरु को नायक मानना असंगत प्रतीत होने लगता है। अलौकिक सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में देखने पर मूर्त कुम्भकार जब अमूर्त चेतना को घट में विद्यमान करता है तब घट का पारमार्थिक रूप नज़र आने लगता है। निमित्त कारण की अमूर्तता द्वारा संचालित उपादान कारण की उद्भावना का सम्बन्ध ही अनेकान्तवादी दर्शन की मंगल परिणति हो जाती है। नानात्मक सत्ता की तात्त्विक विवेचना ही तो अनेकान्तवाद की आवश्यकता है। आचार्य गुणरत्न ने एक श्लोक के द्वारा इस मत की व्याख्या की है :

"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥"

(षड्दर्शनसमुच्चय टीका)

व्यवहार और परमार्थ के समन्वय की अवधारणा द्वारा पदार्थों के नाना रूपों का समीकरण ही तो विश्व में अनुस्यूत परमतत्त्व तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है और उसी मार्ग को काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत करना ही तो आचार्य विद्यासागर का मंगल ध्येय है। फिर यदि काव्य में नायक पक्ष विवादास्पद भी रहता है तो काव्य के महाकाव्यत्व पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगता है, क्योंकि 'कामायनी', 'साकेत' जैसे नायिका प्रधान काव्यों की परम्परा आधुनिक काल की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी गई है। धरती (माँ)-माटी (बेटी) का वार्तालाप काव्य को नायिका प्रधान बनाए रखने में मदद करता है। 'नायक-नायिका' पर 'पति-पत्नी' भाव आरोपित करने से कुम्भकार और माटी को नायक-नायिका मानना अवश्य दोषपूर्ण है लेकिन शास्त्रों में परम सत्ता के पुरुष-स्त्री दोनों रूपों का गुणगान मिलता है, तब किसी अलौकिक गुणों की खान मान लिया है जो लौकिक सन्दर्भों को भी अलौकिक बना देने में समर्थ है। प्रकृति-पुरुष का अन्तःसामंजस्य ही 'मूकमाटी' का उपादेय पहलू है। कवि का प्रतिपाद्य भी तो यही है :

- *"पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।" (पृ. ९३)*
- *"धरा की दृष्टि माटी में/माटी की दृष्टि धरा में*
  बहुत दूर···भीतर···/जा···जा– समाती है।" (पृ. ५-६)

कवि ने जिस तादात्म्य दर्शन का बोध किया है उसी की प्रतीति एक में अनेक और अनेक में एक दृष्टि का भाव है। धरती का अपनी बेटी माटी को समझाते हुए कहना :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनायें/उत्थान-पतन की/खसखस के दाने-सा
बहुत छोटा होता है/बड़ का बीज वह !...
...अंकुरित हो, कुछ ही दिनों में/विशाल काय धारण कर
वट के रूप में अवतार लेता है,/यही इसकी महत्ता है।
सत्ता शाश्वत होती है/सत्ता भास्वत होती है बेटा !" (पृ. ७)

'बेटी' सम्बोधन की जगह पर 'बेटा' सम्बोधन परम सत्ता में स्त्री (प्रकृति), पुरुष (परमसत्ता) भाव की सम्पृक्त पहचान कराने में समर्थ है, इसलिए भी नायक-नायिका के अन्वेषण की पहल 'मूकमाटी ' के सन्दर्भ में

बेमानी दिखने लगती है।

'मूकमाटी' के भाव पक्ष और कला पक्ष का विश्लेषण करने पर यह कहना प्रासंगिक प्रतीत होता है कि इस कृति में रस और अलंकार की पूरक अनिवार्यता की कल्पना की गई है। रस के प्राचीन आधार आधुनिक काल में महत्त्वहीन साबित हो चुके हैं, तब भी 'मूकमाटी' में अंगीरस के रूप में शान्त रस का सन्निवेश मिलता है। रचनाकार ने इस रस की पुष्टि के लिए अंग रस रूप में कई स्थलों को भाव प्रधान बना दिया है फिर भी किसी रस का बहुत चटक या गाढ़ा प्रभाव नहीं परिलक्षित होने पाया है। रस का प्रभाव उत्तेजक होने से बचा लेने की क्षमता आचार्य विद्यासागर जैसे सिद्ध कवि में ही हो सकती है। ढोई जाती हुई माटी जब गधे की पीठ पर बोरी की रगड़ से बने घावों को देखती है तो द्रवित हो जाती है। उसे लगता है कि गधे को कष्ट देने वाली मैं हूँ। उसका करुण हृदय पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगता है। जिसका चित्रण कवि ने इस खूबी से किया है कि पाठक करुण रस की शान्त अनुभूति करने लगता है :

"और/उसे देखकर/वहीं पली/पड़ी-पड़ी/भीतरी अनुकम्पा को चैन कहाँ ?
सहा नहीं गया उससे/रहा नहीं गया उससे/और वह/रोती-बिलखती
दृग-बिन्दुओं के मिष/स्वेद कणों के बहाने/बाहर आ/पूरी बोरी को
भिगोती-सी अनुकम्पा !" (पृ. ३६-३७)

अदृश्य चेतना विलक्षण रस माधुरी के रूप में किसी कवि सन्त के हृदय से पवित्र वाणी की शृंगार-साधना बनकर प्रवाहित हो उठती है। रस का यह स्वाभाविक उफान कविता और उपदेश दोनों में प्रकट होता है। 'मूकमाटी' की रसात्मक सम्पन्नता सायास एकत्र की गई नहीं लगती है अपितु अनायास फूटे हुए किसी झरने की तरह प्रस्फुटित-सी प्रतीत होती है। चित्रात्मकता 'मूकमाटी' की रसात्मकता की सहचरी है, इसलिए जगह-जगह इस कृति में रसानुभूति की तरह चित्रानुभूति भी होती है :

"काक-कोकिल-कपोतों में/चील-चिड़िया-चातक-चित में
बाघ-भेड़-बाज-बकों में/सारंग-कुरंग-सिंह-अंग में
खग-खरगोशों-खरों-खलों में/ललित-ललाम-लजील लताओं में
पर्वत-परमोन्नत शिखरों में/प्रौढ़ पादपों औ' पौधों में
पल्लव-पातों फल-फूलों में/विरह-वेदना का उन्मेष
देखा नहीं जाता निमेष भी।" (पृ. २४०)

अनुप्रास शब्दावली से कवि ने चित्रानुभूति का संयोजन किया है, जिससे सह-अनुभूति समानान्तर धरातल पर होती चलती है। भारतीय काव्यशास्त्र में 'रसानुभूति' की जिस गहराई का विश्लेषण किया गया है उसी गहराई तक पहुँचने के लिए पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों ने सह-अनुभूति और 'समानुभूति' शब्दों का विश्लेषण किया। 'सिम्पैथी' और 'इम्पैथी' के सौन्दर्यात्मक पहलू की विश्लेषण पद्धति भारत में 'नयी कविता' की अनिवार्य माँग बनकर प्रकाश में आई। छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त की कविताओं में चित्रानुभूति का दर्शन 'समानुभूति' के स्तर पर ही होता है।

शब्द विधान की दृष्टि से 'मूकमाटी' की शैली तत्सम प्रधान है। कवि की भाषागत उदारता ने विषय को सहज बोधगम्य बना दिया है। रचनाकार ने यथास्थान विदेशी शब्दों के प्रयोग में भी हिचक नहीं दिखाई है :

- *"गुम-राह हो सकता है/उसके मुख से फिर*

गम-आह निकल सकती है।" (पृ. १२)

- *"कुशल लेखक को भी/जो नई निबवाली/लेखनी ले लिखता है*
  लेखन के आदि में/खुरदरापन ही/अनुभूत होता है।" (पृ. २४)

'फुर्र-फुर्र' आदि समानान्तर प्रयोग के साथ 'आराधना' के जोड़ पर 'विराधना' का प्रयोग खटकता अवश्य है लेकिन कवि ने जिस अर्थ को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है उस अर्थ का सम्यक्बोध प्रयुक्त शब्द के द्वारा ही होना सम्भव था। सामान्य धर्म वाले सादृश्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि प्रचलित अलंकारों की भरमार तो मिलती ही है 'मूकमाटी' में पाश्चात्य अलंकारों का प्रयोग भी कम नहीं हुआ है। लांजाइनस को 'प्रश्नालंकार' बहुत प्रिय था। प्रश्नालंकार द्वारा काव्य-सौन्दर्य विवर्द्धन पर बल देने वाला वह पहला पाश्चात्य समीक्षक है। स्वयं के द्वारा प्रश्न किया जाना और स्वयं के द्वारा ही उसका उत्तर देना काव्य के चारुत्व को बढ़ाता है। डिमोस्थनीज ने अपने काव्य में इस अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग किया था। आचार्य विद्यासागरजी ने इस अलंकार के द्वारा दार्शनिक गुत्थियों को सहज रूप में सुलझाने का अद्भुत प्रयास किया है :

- *"प्रभु के अनुरूप ही/सूक्ष्म स्पर्श से रीता/रूप हुआ है किसका ?/···धूप का*
  मानना होगा/यह परिणाम-भाव/उपाश्रम की छाँव का है।" (पृ. ७९)
- *"कहाँ हैं प्यास से पीड़ित-प्राण ?/वह शोक कहाँ/वह रुदन कहाँ*
  वह रोग कहाँ/वह वदन कहाँ/और वह/आग का सदन कहाँ ?"
  (पृ. २९५-२९६)

आदि न जाने कितने प्रयोग काव्य-शिल्प को नई गति और दिशा देने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

जैन-दर्शन के अधिकारी विद्वान् ही नहीं सिद्ध आचार्य विद्यासागर द्वारा प्रणीत यह कृति दार्शनिक उपपत्तियों का दस्तावेज बन गई है। 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं,' 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक चार खण्डों में कवि ने जैन-दर्शन की मूलभूत चिन्तनधारा को मानव-हृदय से उद्भूत मानवता का कोष बना दिया है। मन की चंचलता की भाँति जल की चंचलता जब माटी का आश्रय पा जाती है तब उसमें ठहराव आ जाता है। जिस तरह विवेक का आश्रय पाकर मन ठहर जाता है उसी तरह माटी का आश्रय पाकर जल स्थिर हो उठा है :

"जलतत्त्व का स्वभाव था—/वह बहाव
इस समय अनुभव कर रहा है ठहराव।" (पृ. ८९)

यदि जल तत्त्व मिट्टी के सम्पर्क से ठहराव पा जाता है तो धूल जल के सम्पर्क से मृदु और लचीली मिट्टी का रूप ग्रहण कर लेती है। वर्षा ऋतु में धूल के विलुप्त होने से मिट्टी के सुन्दर रूप का चित्रण तुलसी ने भी किया है :

"पंक न रेनु सोह अस धरनी।
नीति निपुन नृप के जस करनी॥"

दर्शन के गूढ़ परिणामों को उपदेश की भाषा में प्रस्तुत करने में समर्थ कवि ने काव्य को दर्शन का सहधर्मी बना दिया है :

"पुरुष का प्रकृति पर नहीं/चेतन पर/चेतन का करण पर नहीं,
अन्तःकरण–मन पर/मन का तन पर नहीं/करण-गण पर/और
करण-गण का पर पर नहीं /तन पर/नियन्त्रण–शासन हो सदा।" (पृ. १२५)

'उत्पाद-व्यय प्रक्रिया की मौलिक उद्भावना को सत्य के समीकरण द्वारा चित्रित करने की क्षमता मुनि विद्यासागर में ही हो सकती है–

" 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्'/सन्तों से यह सूत्र मिला है
इसमें अनन्त की अस्तिमा/सिमट-सी गई है।
आना यानी जनन–उत्पाद है/जाना यानी मरण–व्यय है
लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है/और/है यानी चिर–सत्
यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८४-१८५)

'मूकमाटी' के सौष्ठव विश्लेषण के आधार पर यह कहना अन्यथा न होगा कि जीवन-जगत् के प्रवाहपूर्ण अन्तःसामंजस्य को दार्शनिक पृष्ठभूमि में, महाकवि विद्यासागरजी ने काव्यमयी शैली में प्रस्तुत करके परम सत्य के अन्वेषण का मार्ग प्रशस्त किया है। सुधी पाठकों के लिए इस रचना का महत्त्व किसी 'विवेक-ज्योति' से कम नहीं है। 'मूकमाटी' के उद्देश्य, वर्णन प्रसंग, शब्द शिल्पांकन, रस-भाव प्रभाव, कल्पना दर्शन, रचना कौशल, भाषा विधान आदि कसौटियों पर कसने से सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि यह एक महाकाव्य कोटि का आधुनिक प्रकाश-स्तम्भ है।

'मूकमाटी' में लोक दर्शन – दृष्टान्त बोध

रचना की कालजयता की बुनियाद शब्दशिला होती है। रूप, रस, गन्ध, ध्वनि जब आकाश पर अवलम्बित शब्द व्याख्या करने को उत्सुक हो जाते हैं तो रचनाकार की अनुभूति किसी सार्थक शब्द की तलाश करने लगती है, जीवनचर्या का मार्ग प्रशस्त करती है परम्परा, तो परम्परा का पथ प्रशस्त करती है युगीन अर्थवत्ता। शास्त्रों में जनकल्याण को ही धर्म का ध्येय बताया है। तभी तो अनादि काल से सबके सुख की कामना को परोपकार, परहित, मंगलकामना आदि रूपों में स्मरण करने की परम्परा शास्त्रोक्त परम्परा है। यहाँ का वैदिक ऋषि जब कहता है :

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥"

वो भारतीय परम्परा के विकसित उन गुणसूत्रों की ओर ही संकेत करता है जो काव्य की रससिक्ति शब्दावली में मिठास लाने में सहायक सिद्ध होती है। दृष्टान्त किसी रचना के अर्थ खोलने वाले औजार होते हैं, इसलिए कोई भी समर्थ कवि लोक-दृष्टान्तों के जरिए रचना के दर्शन को व्यक्त करना चाहता है। लोक-जीवन की संवेदनशील दृष्टि को भाषा के नवीन आयाम से जोड़ने की सार्थक पहल करना चाहता है। विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' काव्य कृति में लौकिक उदाहरणों के माध्यम से लोक-दर्शन के अनछुए पहलुओं को बहुत चतुराई से कह दिया है जिसके कारण ही इस कृति में दर्शन के गूढ़ पक्ष सहज ही उद्घाटित हो गए हैं। जरा-मरण के भय से मुक्ति दिलाने वाली यह अनूठी कृति उन्हें सरस कविता करने वाले कवीश्वर के रूप में स्थापित कर देती है :

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥"(भर्तृहरि, नीतिशतक, २३)

विद्यासागरजी की इस कृति में वैचारिक मौलिकता, श्रेष्ठता, उदारता, प्रगतिशीलता आदि गुण समाविष्ट हैं जिनकी पुष्टि के लिए उन्होंने दृष्टान्तों का सहारा लिया है। सम्पूर्ण कृति में दृष्टान्तों का प्रयोग उन्होंने कतिपय इन कारणों से किया है : (१) उपपत्ति संग्रह भाव से, (२) अर्थ निष्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए, (३) दार्शनिक प्रतीकों को स्पष्ट करने के लिए, (४) बिम्बात्मक दृश्यों को उपस्थित करने के लिए, (५) जीवन के उपयोगी पक्षों को स्पष्ट करने के लिए, (६) चिन्तन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए, (७) व्यष्टिगत या समष्टिगत भावबोध को सार्वभौमिक स्वरूप प्रदान करने के लिए, (८) जीवन मूल्यों को रूपायित करने के लिए, (९) काव्य में चारुत्व लाने के लिए, (१०) उदात्तता पैदा करने के लिए।

लौकिक दृष्टान्तों में उपपत्ति संग्रह भाव से प्रयुक्त दृष्टान्त तर्कसंगत प्रमाण बनकर काव्य में उदाहरण का आकार पा गए हैं। इस तरह के दृष्टान्तों से कवि ने व्यावहारिक अनुभवों को आधार बनाकर, नया रूप गढ़ने का काम लिया है। 'मूकमाटी' के खण्ड एक 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में जगह-जगह ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं :

"निरन्तर अभ्यास के बाद भी/स्खलन सम्भव है;/प्रतिदिन-बरसों से
रोटी बनाता-खाता आया हो वह/तथापि/पाक-शास्त्री की पहली रोटी
करड़ी क्यों बनती, बेटा !/इसीलिए सुनो !/आयास से डरना नहीं
आलस्य करना नहीं !" (पृ. ११)

यहाँ कवि ने 'अनभ्यासे विषं शास्त्रम्' की उक्ति को आधार बनाकर लोक-जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्ष को उजागर कर दिया है। कवि यदा-कदा लोक-दृष्टान्तों के द्वारा तर्कसंगत तथ्यों को प्रस्तुत करने के लिए 'उपदेश शैली' का प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों पर प्रयुक्त दृष्टान्त देखने में तो किसी उपमान सदृश दिखते हैं लेकिन काम सम्पूर्ण पद्य खण्ड के नियन्त्रक (कमाण्डर) की तरह करते हैं। इसी खण्ड का दूसरा उदाहरण हमारे कथन को प्रमाणित कर देगा :

"प्राथमिक दशा में/साधना के क्षेत्र में/स्खलन की सम्भावना
पूरी बनी रहती है, बेटा !/स्वस्थ-प्रौढ़ पुरुष भी क्यों न हो
काई-लगे पाषाण पर/फिसलता ही है !" (पृ. ११)

अर्थ व्यापकता की दृष्टि से प्रयुक्त दृष्टान्तों का स्वरूप अपेक्षाकृत गम्भीर चिन्तन का परिचायक बन गया है। फलतः कहीं-कहीं तो वह सामान्य ज्ञान को भी चुनौती देने की सामर्थ्य प्रकट करता है। साधारण पाठक जब तक सघन अनुभूति तक नहीं पहुँच सकेगा तब तक कवि के लक्ष्य को नहीं पा सकेगा।

"यद्यपि इनका नाम पयोधर भी है/तथापि/विष ही वर्षति हैं वर्षा ऋतु में ये।
अन्यथा,/भ्रमर-सम काले क्यों हैं?/यह बात निराली है कि
वसुधा का समागम होते ही/'विष' सुधा बन जाता है।" (पृ. २३०)

बादलों को 'पयोधर' कहा जाता है, क्योंकि ये जीवनदायी जल देकर वनस्पतियों, प्राणियों को जीवित रखते हैं। 'विष' का कोशगत एक अर्थ है 'जल'। कवि केशवदास ने भी 'रामचन्द्रिका' महाकाव्य में लिखा है–'विषमय यह गोदावरी'। जल बरसाने की जगह पर विष बरसाने का भाव लाकर कवि ने उसके लोक-अर्थ को छिपा दिया, जिससे

पाठक थोड़ी देर अर्थ तलाशने में लीन हो जाता है फिर अगले ही दृष्टान्त के द्वारा उसे अर्थ मिल जाता है कि भले ही बादल विष बरसाते हैं लेकिन 'वसुधा' की गोद में उतरकर उनका रूप परिवर्तन अमृत में हो जाता है। धरती की कुछ विशेषता है भी इस प्रकार की कि वह अपनी भिन्न-भिन्न प्रकृति और वस्तु के संयोग की पृष्ठभूमि में कभी रत्न उगलती है तो कभी अद्भुत धातुएँ; कभी जड़ का निर्माण करती है तो कभी चेतन का और कभी बुद्धिप्राण जीव मानव का तो कभी कीड़े-मकोड़ों का। जल, पावक, गगन और समीर आदि पंचभौतिक विभूतियों के मेल से तरह-तरह की वस्तुओं को ढालने का स्वभाव और किसी को नहीं सिर्फ़ धरती को मिला। आचार्य विद्यासागर ने सामान्य बात के माध्यम से व्यापक अर्थ उतारने की कोशिश जगह-जगह की है।

"कुम्भ !/'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य-
यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

कुम्भ-निर्माता शिल्पी को भाग्य-विधाता ब्रह्मा के अर्थ में प्रस्तुत करने की परम्परा भले ही पुरानी पड़ गयी हो लेकिन यहाँ पर आचार्यश्री ने प्रचलित अर्थ को 'शब्द-मन्थन' की तुला पर रखकर उसकी व्यापक भावभूमि को आवरण मुक्त कर दिया, फलतः लौकिक अवधारणा को अलौकिकत्व प्राप्त हो गया।

दार्शनिक प्रतीकार्थ को स्पष्ट करने के लिए कवि ने जिन दृष्टान्तों का सहारा लिया है उनकी लोकात्मक प्रकृति अन्य प्रयोजनों से प्रयुक्त दृष्टान्तों से थोड़ी भिन्न है। इस तरह के दृष्टान्तों को कवि ने 'आत्म कथा' शैली में प्रस्तुत किया है जिससे उसकी आन्तरिक वेदना शब्द के सहारे दार्शनिक अर्थ को खोलने के साथ-साथ प्रभावशाली बना देती है। क्लिष्टार्थ का शोधन करके मृदु अर्थ में ढाल देती है :

"लो, जलती अग्नि कहने लगी कि/मैं इस बात को मानती हूँ कि
अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक/किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,
न ही भविष्य में मिलेगी/...कुम्भ कहता है अग्नि से/विनय-अनुनय के साथ
मैं कहाँ कह रहा हूँ/कि मुझे जलाओ ?/हाँ, मेरे दोषों को जलाओ !
मेरे दोषों को जलाना ही मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।/दोष अजीव हैं,
नैमित्तिक हैं/बाहर से आगत हैं कथंचित्;/गुण जीवगत है,
गुण का स्वागत है।/तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से,
इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुम से/मुझ में जल-धारण करने की शक्ति है
जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,/उसकी पूरी अभिव्यक्ति में
तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है।" (पृ. २७५-२७७)

जैन-दर्शन में गुणों की व्याख्या मनोवैज्ञानिक आधार पर की गई है, फलतः जीवन में गुणग्रहण को सर्वोच्च लक्ष्य माना गया। सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए मुमुक्षु को गुणों को धारण करना ही पड़ता है। इस दृष्टि से ही चौदह गुणस्थानों की विकास यात्रा से सिद्धि को अन्तिम लक्ष्य माना गया है– मिथ्यात्व, मिथ्यात्व से मुक्ति किन्तु सम्यक्त्व से च्युति, मिथ्या एवं सम्यक् श्रद्धा की अवस्था, अविरत सम्यग्दृष्टि, पाँच पापों का आंशिक त्याग– जिसे देशविरति कहा गया, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्त मोह, क्षीण मोह, सयोगकेवली तथा

अयोगकेवली। इन गुणस्थानों के लिए गुण को जीवगत घोषित करने के पीछे व्यंजना यही है कि कवि गुणों के माध्यम से सिद्धि पाने का प्रतीकात्मक लक्ष्य घोषित करता है। दोषों को जलाने में इन गुणों की अहं भूमिका 'स्व-पर' दोष परिमार्जन का प्रभावी क़दम माना जा सकता है।

लौकिक उपमानों के द्वारा अलौकिक सन्दर्भों को रूपायित करने की आध्यात्मिक प्रक्रिया उन कबीर, रैदास आदि सन्त कवियों का स्मरण कराती है जिन्होंने दृष्टान्तों के द्वारा दुरूह ब्रह्म को समझाने का प्रयत्न किया। जब कबीर अद्वैत ब्रह्म को स्पष्ट करने के लिए कुम्भ का उदाहरण रखते हैं तब उनमें देही और देह के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों का बोध जागृत रहता है। इस बोध को ही व्यक्त करने के लिए आचार्य विद्यासागर भी 'स्व' की उपलब्धि को महानतम उपलब्धि घोषित करते हैं :

"फिर, बायें हाथ में कुम्भ लेकर,/दायें हाथ की अनामिका से
चारों ओर कुम्भ पर/मलयाचल के चारु चन्दन से
स्वयं का प्रतीक, स्वस्तिक अंकित करता है–
'स्व' की उपलब्धि हो सबको/इसी एक भावना से।" (पृ. ३०९)

लौकिक उपमानों की आन्तरिक शक्ल की अनुकृति बिम्बात्मक दृश्यों की अद्भुत छटा से रूप में अंकित मिलती है। दर्शन की पृष्ठभूमि में ऐसे दृश्यों का उपयोग कवि ने केवल दृश्य-निर्माण के लिए नहीं किया है अपितु पारम्परिक अर्थ देने का प्रयास किया है। 'स्वस्तिक' भारतीय समाज का ऐसा चिह्न है जो लाभ एवं शुभ का सूचक माना जाता है। उसका शिवत्व सत्य और सुन्दर के संयोग से भास्वर होता रहा है। 'स्वस्तिक' की सम्पूर्ण व्याख्या निम्नांकित बिम्ब-योजना में देखी जा सकती है :

"प्रति स्वस्तिक की चारों पाँखुरियों में/कश्मीर-केसर मिश्रित चन्दन से
चार-चार बिन्दियाँ लगा दीं/जो बता रहीं संसार को, कि
संसार की चारों गतियाँ सुख से शून्य हैं।/इसी भाँति,
प्रत्येक स्व के मस्तक पर/चन्द्र-बिन्दु समेत, ओंकार लिखा गया
योग एवं उपयोग की स्थिरता हेतु।/योगियों का ध्यान
प्रायः इसी पर टिकता है।" (पृ. ३०९)

ओंकार में 'योग और उपयोग' के सामंजस्य को व्यक्त करने की इतनी सूक्ष्म व्यंजना किसी विस्तृत व्याख्या में भी सम्भव नहीं दिखती है। साधारण 'चोटी' को आधार बनाकर 'मुक्ति' दर्शन का विश्लेषण करना आचार्यप्रवर विद्यासागर जैसे सन्त कवि के द्वारा ही सम्भव है :

"प्रायः सब की चोटियाँ/अधोमुखी हुआ करती हैं,
परन्तु/श्रीफल की ऊर्ध्वमुखी है।/हो सकता है
इसीलिए श्रीफल के दान को/मुक्ति-फल-प्रद कहा हो।" (पृ. ३११)

कवि श्री विद्यासागरजी ने बिम्बों का निर्माण लोक प्रचलित अन्धविश्वासों के माध्यम से भी किया है, लेकिन ऐसे वर्णनों में किसी जनमान्यता को प्रोत्साहित करने की जगह पर सुनी-सुनायी परम्परा को साक्ष्य के रूप में उपयोग

करने भर को महत्त्व प्राप्त हुआ है :

"सुना है श्मशान में/भूतों के हाथ में मशाल होता है
जिसे देखते ही/निर्भीक की आँखें भी बन्द हो जाती हैं।" (पृ. ३७०)

भय से भयभीत व्यक्ति दूसरों को भी भयभीत करता है लेकिन जिसके हृदय में ज्ञान का प्रकाश आ जाता है वह भय की उपासना से दूर होता है :

"पथ-भ्रष्ट एकाकी/अन्धकार से घिरा भयातुर
पथिक वह/दीपक को देखते ही अभीत होता है।" (पृ. ३७०)

भारतीय समाज में 'नारी' मर्यादा मानी जाती है। लोक में उसके प्रति सम्मानभाव महत्त्वपूर्ण नैतिक मूल्य बना हुआ है। विद्यासागरजी ने इस मूल्य की प्रासंगिक महत्ता को समझा और नए परिप्रेक्ष्य में उस महत्ता को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया :

- *"इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें*
  मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।/यही कारण है कि
  इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी—/'न अरि' नारी···/अथवा
  ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ. २०२)
- *"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है*
  'महिला' कहलाती वह।" (पृ. २०२)

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि 'मूकमाटी' में आचार्य विद्यासागरजी ने लोक-दृष्टान्तों या उपमानों के माध्यम से लोक-दर्शन को वाणी दी है जो इस कृति की अपूर्व उपलब्धि है।



आधुनिक सन्दर्भ में 'मूकमाटी' की विवेचना

डॉ. जी. शान्ता कुमारी

घटनाओं की बहुतायत से भरी बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतभूमि ने यातनाओं को सहन किया परन्तु उत्तरार्द्ध तक हमारी मातृभूमि ने आजादी के मीठापन का पान करना शुरू किया था। कितने बड़े तूफानों का सामना किया था। बल्कि अचम्भे की बात है कि इस भूमि ने इस बीच अपनी सांस्कृतिक परम्परा को कहीं खोने न दिया। 'तमस् से ज्योतिस्' की ओर ले चलने वाली एक अदृश्य शक्ति इस परम्परा की एक कड़ी है। उसके हाथ से प्रतिभावान् तपस्वी कवि कभी बच न पाएँगे। यों ज्योतिष की खोज करने वाले एक दिल की अदम्य जिज्ञासा का प्रस्फुटन 'मूकमाटी' महाकाव्य के प्रणयन के पीछे परिलक्षित है। इस काव्य के प्रणेता आचार्य विद्यासागर के आध्यात्मिक जीवन की अजस्र धारा का निर्बाध-प्रवाह इस काव्य को हिन्दी साहित्य की अक्षय-निधि बना देता है। जो धरती उपनिषदों की जन्मदात्री है, वही ऐसी रचना को जन्म दे सकती है और ऐसी एक जनता के लिए ही यह काव्य पुलकोद्गमकारी हो सकता है, जिसके अबोध में आस्तिकता निद्रावस्था में पड़ी हो।

गाँधी जी के तत्त्वचिन्तन की गहराई के साथ-साथ कार्ल मार्क्स के प्रत्ययशास्त्र की गम्भीरता का सामंजस्य लगभग पाँच सौ पृष्ठों में विरचित 'मूकमाटी' महाकाव्य में मिलता है। यद्यपि इन दोनों के रास्ते अलग हैं तो भी लक्ष्य सम्बन्धी उनकी वैचारिक सत्ता में एकात्मकता है। अतः इस काव्य के प्रणयन से आचार्य श्री विद्यासागर सन्त होकर भी इस सदी के नए मानव का प्रतिनिधि बन जाते हैं।

प्राचीनता-अर्वाचीनता का, आध्यात्मिकता-आधिभौतिकता का, परम्परागत दार्शनिक चिन्तनों का एवं समयानुसार बदली सामाजिक मान्यताओं का सुन्दर समन्वय इस महाकाव्य में हमें प्राप्त होता है। महाकाव्य की परम्परागत सीमाओं को तोड़ कर तत्कालीन समस्याओं का उद्घाटन करने में यह काव्य सक्षम हुआ है। अतः 'मूकमाटी' महाकाव्य का आधुनिक महाकाव्यों के परिप्रेक्ष्य में आलोचना करना अत्यन्त समीचीन होगा।

चार खण्डों में विभक्त इस महाकाव्य की कथावस्तु रोचक है जिसमें कोई भी पात्र नायक या नायिका का स्थान नहीं ग्रहण करता। सन्तकवि जिस समाज की कल्पना करते हैं, उस समाज में साम्यवाद का जो स्वरूप हो सकता है उसी को लेकर काव्य के पात्रों की सृष्टि भी हुई है। दूसरे महाकाव्यों की तरह इसकी भी शुरूआत मनोरम प्रकृतिवर्णन से होती है, जो सीधे कथावस्तु की ओर ले चलती है :

"सरिता-तट की माटी/अपना हृदय खोलती है
माँ धरती के सम्मुख !" (पृ. ४)

संघर्षों से लड़कर अपना उद्धार चाहने वाले पतित एवं पद-दलित मानव का प्रतिनिधित्व करने वाली पात्र है 'माटी'। वह अपनी माँ धरती से कहती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
··· अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)

औरों से कुचली जाने पर, जिस तीव्र वेदना का अनुभव होता है उसे शब्दों के माध्यम से कविवर उजागर कर देते हैं :

"यातनायें पीड़ायें ये !/कितनी तरह की वेदनायें/कितनी और··· आगे

कब तक··· पता नहीं/इनका छोर है या नहीं !" (पृ. ४)

इतने पर भी माटी अपने दु:ख को, घुटन को छिपाती है। क्यों ? क्योंकि दूसरे उसके दु:ख से दु:खी न हों। माटी की नि:स्वार्थ भावना हमारे दिल को द्रवित कर देती है। यहाँ पर माटी जैसे पददलितों की सीमाहीन पीड़ा को कवि ने उभारा है। धरती माँ से माटी सहारा माँगती है, कुछ उपाय चाहती है कि अपना उद्धार कर पाए। पथ और पाथेय की वह माँग करती है।

धरती माँ ने बेटी माटी को बता दिया कि जो अपने आप को पतित मानता है, लघुतम समझता है, वह ईश्वर को पहचान सकता है। वैसे ही किसी कार्य को सम्पन्न करने, अनुकूलता की प्रतीक्षा करना सही पुरुषार्थ नहीं। आधुनिक मानव को विघ्नों से भिड़ते हुए आशा बनाए रखने की प्रेरणा यहाँ से मिलती है :

"संघर्षमय जीवन का/उपसंहार
नियमरूप से/हर्षमय होता है, धन्य !" (पृ. १४)

इन पंक्तियों में कवि की आशावादिता छलकती है और संघर्षमय जीवन बितानेवालों को अमृत-लेपन-सी शान्ति-धारा वे बहा देते हैं।

माटी को कल प्रभात से अपनी यात्रा का सूत्रपात करना है। पतित को पावन बनाने कुम्भकार आएगा। माँ ने उसे समझाया :

"उसी के तत्त्वावधान में/तुम्हारा अग्रिम जीवन
स्वर्णिम बन दमकेगा।" (पृ. १७)

अगले प्रभात से माटी की महान यात्रा शुरू होगी– "पथ के अथ पर/पहला पद पड़ता है/इस पथिक का" (पृ.२१)। पद रखने से पहले पिछली रात को आशा, आकांक्षा एवं जिज्ञासा की वजह से माटी को नींद नहीं आती। माँ धरती उसे पाथेय के रूप में कई उपदेश देती है। धरती माँ के मार्मिक कथन में धार्मिक मन्थन की जो बातें हमें मिलती हैं, वे वर्तमान समाज की हालत पर दृष्टि डालने वाली हैं और उनमें एक श्रेष्ठ आचार्य की सामाजिक प्रतिबद्धता भी निहित है।

धरती माँ जानती है कि 'सुत को प्रसूत कर विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करने मात्र से माँ का सतीत्व सार्थक नहीं होता बल्कि उसे सन्तान की सुषुप्त शक्ति को सत्-संस्कारों से सचेत, सशक्त और साकार करना होता है' (पृ. १४८)। इस प्रसंग में आपस में लड़ते-भिड़ते, मिटाने-मिटने को तुले हुए आज के मानव की ओर इशारा करके प्रकृति माता के रुदन की ओर आचार्यजी ने दृष्टि डाली है। उनका कथन है :

"जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ !" (पृ. १४९)

इस सन्दर्भ में दोषैकदृक् लोगों पर विचार करते कवि का उपदेश है :

"अपना ही न अंकन हो/पर का भी मूल्यांकन हो,
पर, इस बात पर भी ध्यान रहे/पर की कभी न वांछन हो
पर पर कभी न लांछन हो !" (पृ. १४९)

प्रकृति माँ के मन को दुखानेवाली बातों से हमेशा दूर रहने का उनका संकेत है।

भारत की पुण्य-परम्परा में मार्गदर्शकों, आचार्यों, गुरुओं का कहीं अभाव नहीं। लेकिन उनके दिखाए पावन पथ पर चलने की कामना आज के लोगों में थोड़ी ही है। कथनी और करनी में सामंजस्य न रखने वाले आज के नेताओं की ओर इशारा करके कवि कहते हैं :

"आज पथ दिखाने वालों को/पथ दिख नहीं रहा है, माँ !
कारण विदित ही है—/जिसे पथ दिखाया जा रहा है
वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,/औरों को चलाना चाहता है
और/इन चालाक, चालकों की संख्या अनगिन है।" (पृ. १५२)

दिन-ब-दिन बढ़ने वाले ऐसे झूठे नेताओं से घिरे रहकर हम आज तंग आ रहे हैं। ऐसी सच्चाई पर बिलखती कवि की लेखनी दरअसल अपना कवि-कर्म निभाती है।

प्रथम खण्ड में माटी कुम्भकार की प्रतीक्षा में विह्वल है कि कब उनके चरण निकट आएँ कुम्भकार को कवि ने दृढ़संकल्पी मानव कहा है। वह अविकल्पी है। तनाव के भार-विकार से दूर है। वह कुशल शिल्पी है – पददलित माटी को नाना रूप प्रदान करने वाला महापुरुष। यहाँ कवि ने सरकार की ओर भी संकेत किया है। सरकार उससे कर नहीं माँगती, क्योंकि इस शिल्प के कारण चोरी के दोष से वह सदा मुक्त रहता है। अर्थ के व्यय-अपव्यय से भी यह शिल्प बहुत दूर है। शिल्पी को यह सार्थकता प्रदान करता है। कितनी सार्थक एवं यथार्थ अभिव्यक्ति है।

शिल्पी ने कार्य की शुरुआत में ओंकार को नमन किया है। अहंकार का वमन किया। लक्ष्य प्राप्ति की ओर बढ़ने वालों को, सहायक बनने वालों को अपने अहम् को दूर करना चाहिए ताकि पूर्ण सफलता मिल जाए। कर्तृत्व-बुद्धि और कर्तव्य-बुद्धि से जुड़ना है। कार्य की निष्पत्ति तक ये दोनों अनिवार्य होती हैं।

कुम्भकार माटी को मार (खोद) रहा है। माटी क्रन्दन करती है। उसे बोरी में भरकर वह ले जा रहा है। तब उसको सन्देह हो रहा है कि भोली माटी के सात्त्विक गालों पर घाव क्यों है ? छेद क्यों है ? वह उसका भेद जानना चाहता है तो माटी का कथन है कि वर्षाकाल में बूँदें टपक-टपक कर ही छेद पड़ते हैं। दीन-हीनों का रुदन है यह वर्षा। अश्रु-धारा-प्रवाह से, प्यार और पीड़ा से घाव हुए हैं। तब शिल्पी सहज कह उठता है कि यही वास्तविक जीवन है।

यहाँ कवि ने वास्तविक जीवन क्या है, उसकी एक झलक दी है। शिल्पी का सहयोगी है 'गदहा', जो स्वच्छन्द और अवैतनिक है। उसका बन्धन सिर्फ़ स्वामी की आज्ञा से है। माटी की दृष्टि गदहे की पीठ पर पड़ती है। बोरी की रगड़ से छिल रही है पीठ। माटी बोरी में से क्षण-क्षण छनकर छिलन के छेदों में जा कर मृदुतम मरहम बनती जा रही है। माटी की करुणा लेपन कर रही है। बोरी की रूखी स्पर्श भी घनी मृदुता में डूबी जाने पर भी माटी उदासीन है, क्योंकि गदहे के छिलन में, जलन में निमित्त कारण वह है। इसका उसे दुःख है, पश्चात्ताप है। इस सन्दर्भ में कवि ने दया की महिमा गाई है और विभिन्न रसों पर अपना मत प्रकट किया है।

माटी के निर्माण का समय आया है। योगशाला में शिल्पी से शिक्षण-प्रशिक्षण मिलता है, जिसका सीधा असर भीतरी जीवन पर पड़ता है। जीवन का निर्माण होने वाला है, साक्षी है इतिहास। अधोमुखी जीवन ऊर्ध्वमुखी होकर उन्नत होता है। बेसहारा जीवन सहारा देने वाला बनता है। दर्शनार्थी आदर्श पा जाते हैं। इतिहास से सम्बन्धित सदियों से उलझी समस्याएँ सहज सुलझ जाती हैं क्षण-भर की संगति से। यहाँ सब कुछ मिलते हैं, सब को। संस्कारार्थी को परामर्श तथा कृषि और ऋषि को निःस्वार्थी आर्ष पा जाते हैं। ऐसा विशुद्ध वातावरण है।

शिल्पी माटी को छालनी से छानता है। कूड़े-कंकड़ को निकालता है, उसे शुद्ध किया जा रहा है। मृदुता की चरम दशा प्राप्त होती है। निष्कासित कंकड़ पूछते हैं कि क्यों उन्हें निकाला जा रहा है, अपनी माँ माटी से ? तब शिल्पी का कथन है– उसका शिल्प मृदु माटी से, लघु जाति से निखरता है। कठोरता से शिल्प बिखरता है। कोमल मनवाले ही सुधर सकते हैं। उन पर प्रभाव जल्दी पड़ता है, उन्हें हम सुन्दर से सुन्दरतम बना सकते हैं। लेकिन कठोर दिलवालों को सुधारना आसान नहीं है। उससे निर्माण भी कठिन है। और भी एक बात यह है कि शिल्पी वर्ण-संकर-दोष से डरता है। यह वर्ण-संकर-दोष न रंग से है, न ही अंग से वरन् चाल-चरण, ढंग से है। जिसे अपनाया, उसे जिसने अपनाया है, उसके अनुरूप अपने गुण-धर्म, रूप-स्वरूप को परिवर्तित करना होगा। कवि वर्ण-लाभ को ठुकराता नहीं। क्षीर-नीर के उदाहरण से उसे भी मान्यता प्रदान करता है :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।/और
क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४९)

माटी से कंकड़ का अस्तित्व अलग है। वह कभी माटी में मिल नहीं पाएगा, क्योंकि उसका गुण-धर्म अलग है जिसे वह भूल नहीं पाता। चूर्ण होने पर भी रेतिल माटी बन नहीं सकता।

यहाँ कंकर भी एक प्रतीक है। हृदय-शून्य व्यक्ति का प्रतीक पाषाण-हृदयवाला, दूसरों के दुःख-दर्द से जो पिघलता नहीं। शिल्पी फिर भी कंकर से घृणा नहीं करते, क्योंकि ऋषि-सन्तों का सदुपदेश है कि पापी से नहीं पाप से, पंकज से नहीं पंक से घृणा करनी है। यह धार्मिक उपदेश कितना स्वीकार्य वा वर्तमान युग में यह कितना प्रासंगिक है ?

'पृथक्-वाद' का आविर्भाव होना मान का ही फलदान है। कितनी सच्ची अभिव्यक्ति है। वर्तमान समाज में जो कुछ अन्याय, अत्याचार चल रहे हैं, वह इस पृथक्-वाद का नतीज़ा नहीं है तो फिर क्या होगा ?

मानातीत मार्दव-मूर्ति माटी-माँ से कंकर-दल हीरा बनने का मन्त्र चाहता है, कंचन-सा खरा बनने का। उनके प्रति माटी माँ का कथन विचारणीय है : "राही बनना ही तो हीरा बनना है, स्वयं राही शब्द ही विलोम-रूप से कह रहा है– रा···ही···ही···रा···।" जो जीवन-यात्रा के बीच प्रकट आने वाली विघ्न-बाधाओं से भिड़कर लक्ष्य प्राप्ति की ओर जा रहा है, उसे अवश्य हीरा बनना है। तन-मन को कठोर बनाना होगा, क्योंकि उसे सब कुछ सहना पड़ेगा। जीवन का ध्येय जो भी हो तो भी संघर्षों से गुजरना होगा। मगर संघर्षों से भिड़ने के लिए मन को कठोर बनाना होगा। नहीं तो लक्ष्य-प्राप्ति अधूरी रहेगी। यह प्रेरणा आधुनिक जन-जीवन के संघर्षों से गुज़रने वाले प्रत्येक आदमी को बेहद लाभदायक है। तन-मन को संघर्षों की आग में तपाकर राख बनाना है। राख यानी खरा यानी शुद्ध।

कुम्भकार, माटी से शिल्प बनाने का प्रयास कर रहा है। माटी को जल मिलाकर फुलाना है। कूप पर खड़े होकर कर में बालटी लेकर जल खींच रहा है। लेकिन रस्सी उलझ गयी। शिल्पी रस्सी की उलझन को सुलझाने का प्रयास कर रहा है। काम की शुरुआत में विघ्न-बाधाओं का आना सहज है। उसे सुलझाकर ही लक्ष्य-प्राप्ति की ओर प्रयाण करना है। शिल्पी का आयाम प्रारम्भ हुआ। संघर्ष– 'बात का प्रभाव', 'हाथ का प्रभाव', 'हथियार का प्रयोग' यानी दाँत-रसना का उपयोग अन्त में गाँठ खोल देता है।

रस्सी-रसना को प्रतीक बनाकर हिंसा-अहिंसा का विवेचन हुआ है। रस्सी की गाँठ नहीं खुलेगी तो उसकी वजह से अनेक जलचर जीव अकाल में ही मरेंगे। इसलिए गाँठ खोलना अनिवार्य है।

काया माया है। शिल्पी की काया की छाया सुदूर कूप के स्वच्छ जल में स्वच्छन्द तैरती मछली पर जा पड़ती

है। अर्थात् किसी भी महान् आदर्श व्यक्ति की छाया मात्र पड़ने से नीचे रहनेवाली मछली रूपी आत्मा में ऊर्ध्व हो जाने की चेतना जाग्रत होती है। अन्ध कूप में पड़ी मछली रूपी आत्मा, विकृत गति, मति और स्थिति से बचना चाहती है। ज्ञानरूपी प्रकाश-किरण के लिए तरसती है। मछली को ऊपर उठाने के लिए कुम्भकार अपनी बालटी नीचे कूप में उतारता है। लेकिन सब मछलियाँ जाल को बन्धन समझकर, भीति से भाग जाती हैं। मगर एक मछली, जो दृढ़-संकल्पिता है, वह महा आयतन की शरण में जाने की सोच लेती है, क्योंकि कूप में रहने से पता नहीं कब बड़ी मछली छोटी को निगल लेगी।

आधुनिक सन्दर्भ में रखकर इसकी विवेचना करने से प्रतीत होता है कि हमारे ही समाज में ऐसी अनेक मछलियाँ हैं, जो छोटी-छोटी मछलियों को खा जाती हैं। सहधर्मी होते हुए भी, सजाति में ही वैरभावना पनप रही है। श्वान, श्वान को देखकर नाखूनों से धरती को खोदता, गुर्राता है। यही हालत हमारे देश में दर्शनीय है। इससे मुक्ति तभी सम्भव है, जब उनकी चेतना ऊर्ध्वमुखी हो जाएगी।

सबका विश्वास अपने आप से भी उठ गया है। 'मुँह में राम बगल में छुरी' का हाल बनाया है हमने। दया का स्थान लुट गया। अस्त्रों, शस्त्रों, कृपाणों पर ही हमारा विश्वास रहा है। किन्तु यह जानना है कि कृपाण कभी कृपालु नहीं होता। कृपाण का अर्थ 'कृपा न' है। धर्म के पवित्र झण्डे को आज डण्डा बना दिया है। ईश्वर-स्तुति में तत्पर सुरीली बाँसुरी को भी बाँस बनाकर सुमार्ग-चलनेवालों को पीटते हैं। 'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने ऐसे जो प्रतीकात्मक चित्र अंकित किए हैं, वे सब आधुनिक जमाने के यथार्थ चित्रण को प्रस्तुत करने वाले हैं।

किसी मंगल कार्य के शुरू करते समय विघ्न-बाधा का उपस्थित होना सहज है। किन्तु उन व्यवधानों का सावधानी से सामना करना चाहिए। तभी हमें अन्तिम समाधान मिलेगा। उसी प्रकार गुणों के साथ दोषों का बोध रखना चाहिए, किन्तु दोषों के प्रति द्वेष रखा उचित नहीं है। वह तो अज्ञता है, बल्कि उनसे अपना बचाव करना विज्ञता है। यह विज्ञता विरलों में ही मिलती है। मछली जब अपने उद्धार के लिए चल निकली, तो अन्य मछलियों की भीति दूर हो गई और उनको दिशा मिल गई। मोक्ष की यात्रा का अनुमोदन सारी मछलियाँ कर रही हैं। मोह छोड़कर मुक्ति की ओर आत्मा की यात्रा। पतन-पाताल से, उत्थान-उत्ताल की ओर प्रयाण। अब मछली को तैरने की जरूरत नहीं। कूप का बन्धन टूट गया। मछली बालटी में से उछलकर माटी के पावन चरणों में जा गिरती है और उजली अश्रु की बूँदों से माटी के चरणों को धोती है।

इस सन्दर्भ में कवि की दृष्टि आधुनिक समाज की गतिविधियों की ओर भी पड़ती है। आधुनिक समाज से मानवता गायब हो चुकी है। उसकी जगह दानवता ने हड़प ली है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" का अर्थ ही बदल गया है। उसका आधुनिकीकरण हुआ है। 'वसु' माने धन-द्रव्य और 'धा' यानी धारण करना। आज तो धन ही कुटुम्ब बन गया है और वही मुकुट भी। इस नग्न सत्य को कवि ने आध्यात्मिकता के कवच से उभारा है। माटी, 'धरती माँ से तो मछली 'माटी माँ' से अपना उद्धार चाहती है। उसके प्रश्न के उत्तर के रूप में कवि ने कलियुग की सही पहचान दी है। सत्युग एवं कलियुग का उन्होंने अन्तर समझाया है। सन्तों से उनको यह सूत्र मिला है :

> *" "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्"/सन्तों से यह सूत्र मिला है*
> *इसमें अनन्त की अस्तिमा/सिमट-सी गई है/यह वह दर्पण है,*
> *जिसमें/भूत, भावित और सम्भावित/सब कुछ झिलमिला रहा है,*
> *तैर रहा है/दिखता है आस्था की आँखों से देखने से !" (पृ. १८४)*

आचार्यश्री विद्यासागरजी व्यावहारिक भाषा में इस सूत्र की व्याख्या करते हैं :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन-उत्पाद है
जाना यानी मरण-व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर-ध्रौव्य है/और
है यानी चिर-सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

मछली की सारी उलझन माँ माटी के उपदेश से सुलझ गयी। आत्मा अपने उद्धार के प्रयाण में जब प्रयत्नशील रहती है तब शंकाएँ उद्भूत हों– यह स्वाभाविक है। उन्हें सही तौर पर सुलझाए बिना उद्धार सम्भव नहीं। बोध की जागृति होती है, जिससे शोध होता है।

माटी परिवर्तन की ओर मुड़ गयी और शिल्पी उसमें नूतन प्राण फूँकने लगा। वह अपने काम में तल्लीन है। उसे अपने तन का बोध नहीं। माटी खोदते एक काँटे पर शिल्पी की कुदाली की मार पड़ी। क्षत-विक्षत शरीर से वह जीता है। काँटे के मन में शिल्पी के प्रति बैर-भावना जागी है। तब माटी उसे समझाती है कि बदले का भाव कभी उचित नहीं।

मानव-मन में आजकल बैर-भाव बढ़ गया है। सद्मार्गी लोग दुर्मार्गियों से बचने के वास्ते त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। आज भी हमारे बीच रावण जी रहे हैं। वासना से भरे मानव सुख-भोग के पीछे भाग रहे हैं। फूल और शूल के धर्म का वर्णन करते हुए कवि स्थापित करता है कि शूल से घृणा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शूल कभी -कभी फूल जैसे कोमल होते हैं। शूल महादेव का आयुध है। लगता है, पश्चिमी सभ्यता ही फूल है। उन फूलों की वजह से लोग विरक्त हैं। शान्ति-सुख की प्रवेशिका भारतीय संस्कृति रूपी शूल खोजकर आत्म-शक्ति खोजने आज पश्चिमी लोग हमारे यहाँ प्रयाण कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति उन्नत है। हमारी आध्यात्मिकता का मार्ग कुछ कठिन है। कठिन तपस्या, साधना को ही शूल बताया गया है। शिल्पी, माटी को रौंदकर मृदु बनाने का प्रयास करता है। उसका एक पद मिट्टी रौंदकर घायल है तो दूसरा पद प्रभु से प्रार्थना करता है कि दूसरों को पददलित न करें।

यहाँ आधुनिक सन्दर्भ देखना असंगत न होगा। माटी को आम आदमी के रूप में देखें तो प्रकट होगा कि उसकी भी स्थिति माटी-जैसी होती है। जिस प्रकार माटी को रौंदते हैं, उसी प्रकार आम आदमी को उन्नत अधिकारी या कोई भी ऊँचा आदमी रौंदता है। उनसे आम-आदमी कुचला जाता है। दोनों में सिर्फ यही अन्तर है कि माटी को निर्माण के लिए रौंदता है और आम आदमी को नाश करने हेतु रौंदते हैं। अपने निर्माण के लिए उन्नत लोग निचले आम-आदमी को रौंदते हैं।

"परस्पर कलह हुआ तुम लोगों में/बहुत हुआ, वह गलत हुआ।
मिटाने-मिटने को क्यों तुले हो/इतने सयाने हो !
जुटे हो प्रलय कराने/विष से घुले हो तुम !" (पृ. १४९)

इस घटना से बुरी तरह माँ घायल हो चुकी है :

"जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ !" (पृ. १४९)

इन पंक्तियों में वर्तमान स्थिति की ओर संकेत किया गया है। ये सब आज हमारे देश में विविध रूपों में प्रत्यक्ष हैं।

अंकों के माध्यम से कविता करके कवि ने कमाल किया है। काव्य में नूतनता लाए हैं। यह भी प्रतीक है। गुणन और जमावं से गणित में प्रवीणता स्थापित हुई है।

छह के मुख को तीन, तीन को छह कहकर माया का वर्णन किया है। सन्त कवि ने उसके माध्यम से नैतिक उपदेश दिया है। इसमें वर्तमान समाज की दशा का चित्रण हुआ है। तीन और छह, इन दोनों की दिशाएँ एक-दूसरे के विपरीत हैं। विचारों की प्रकृति ही आचारों की प्रकृति को उलटी करवट दिलाती है। कलह-संघर्ष छिड़ जाता है परस्पर। फिर क्या बताना। छत्तीस के आगे एक और तीन की संख्या जुड़ जाती है, कुल मिलाकर तीन सौ त्रैसठ मतों का उद्भव होता है। जो परस्पर एक-दूसरे के खून के प्यासे होते हैं, जिनके दर्शन आज इस धरती पर सुलभ हैं।

वर्तमान समाज में जो कुछ घट रहा है वह इन्हीं भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों का परिणाम है। एकता का अभाव, मानवता का अभाव – ऐसी स्थिति के ये ही हेतु हैं। भाई-भाई खून के प्यासे होकर डण्डा मारते हैं, बम फेंकना, आग लगाना, निर्दोषों की हत्या करना, ये सब कुटिलता की वजह से होते हैं।

कुम्भ का निर्माण हुआ। कुम्भ पर हुआ वह सिंह और श्वान का चित्र देखिए। उनके माध्यम से कवि ने अधम-जनों को चेतावनी देने का प्रयास किया है। श्वान पराधीनता का प्रतीक है तो सिंह स्वतन्त्रता का। अपनी नीचता, गुलामी के जंजीरों को तोड़कर ऊपर उठने का प्रयास करना चाहिए। मायाचार के वशीभूत हैं साधारण लोग। लेकिन वीर-विवेकी जन कभी अपनी पराधीनता, नीचता, गुलामी पसन्द न करेंगे। उनके विरुद्ध आवाज उठाना हमारा दायित्व है। नीचजनों का उद्धार हमारा कर्तव्य है। श्वान की तरह आपस में अपनी ही जाति लड़ रही है, क्योंकि वे पागल हैं, मदान्ध हैं। श्वान इतना नीच है कि मलिनता में ही लिपटा रहता है। कवि ने लोकतन्त्र को भी नहीं छोड़ा है। शब्दों की सार्थकता बताई गई है।

कुम्भकार कुम्भ को सुखाने उसे तपी हुई खुली धरती पर रखता है। कवि की राय में :

> *"उच्च उच्च ही रहता/नीच नीच ही रहता/ऐसी मेरी धारणा नहीं है,*
> *नीच को ऊपर उठाया जा सकता है,/उचितानुचित सम्पर्क से*
> *सब में परिवर्तन सम्भव है।" (पृ. ३५७)*

यहाँ जल अज्ञान का प्रतीक है। उस जल रूपी अज्ञान को ज्ञान रूपी धूप में सुखाना है। तपन की प्रक्रिया द्वारा माया का विवेचन हुआ है। भौतिक जीवन को सारहीन बताया गया है। तपन से बहुत कुछ अनुभव-ज्ञान होता है। मोक्ष की ओर आत्मा का निरन्तर प्रयाण होता रहता है यानी कि आम आदमी अपनी नीचता से उन्नति की ओर प्रयत्नशील होता है।

काव्य के तृतीय खण्ड में पुण्य का पालन करते हुए पाप-प्रक्षालन करने को उद्यत होने वाली आत्मा का प्रयास है। हाँ, दीन-हीन आदमी का प्रयास। इस खण्ड में अच्छे-बुरे कर्मों का विवेचन हुआ है। सामाजिक बातों का उद्घाटन हुआ है। स्त्री समाज द्वारा पृथ्वी पर प्रलय का संकेत :

> *"क्या सदय-हृदय भी आज/प्रलय का प्यासा बन गया ?*
> *क्या तन-संरक्षण हेतु/धर्म ही बेचा जा रहा है ?*
> *क्या धन-संवर्धन हेतु/शर्म ही बेची जा रही है ?" (पृ. २०१)*

और :

> *"प्रायः पुरुषों से बाध्य होकर ही/कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को*
> *परन्तु,/कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।"*
> *(पृ. २०१-२०२)*

नारी, स्त्री, कुमारी आदि शब्दों की सार्थकता बताकर समाज में नारी की महत्ता की ओर संकेत किया है।

स्त्री-समाज को आगे बढ़कर प्रगति प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है।

वर्तमान समाज में हो रहे अत्याचारों, अनाचारों की ओर भी इशारा है। दोष-बैर युक्त समाज की ओर संकेत है। प्रकृति के प्रत्येक अंगों के माध्यम से सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। जैसे जलधर, मुक्ता, प्रभाकर, सागर इत्यादि के माध्यम से विशेष अभिव्यंजना हुई है। ओलों का वर्षण, बादलों का आगमन, बिजली की कौंध आदि सभी प्रकार के संघर्षों से घिरी हुई है आत्मा यानी साधारण मनुष्य। संघर्षों का उत्कर्षण-प्रकर्षण होते रहते हैं। लक्ष्य की ओर बढ़ते वक्त इस प्रकार की विघ्न-बाधाओं का टूट पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि हमारी परीक्षा ली जा रही है। हमें उसमें विजयी होना है। उसके लिए धैर्य से, बहादुरी से काम करना अवश्यम्भावी है। ओलों के पड़ने से भी कुम्भ का नाश नहीं होता है। यह तो एक प्रेरणा है। जो लक्ष्य-प्राप्ति के लिए तन-मन को पाक एवं पक्का बनाकर प्रयाण करता है, उसका नाश असम्भव है। प्रतिकूलता से डरकर वह पीछे नहीं हटेगा। त्याग-तपस्या से, दृढ़ निष्ठा से वह आगे बढ़ेगा।

माटी की मूक वेदना है। वह स्वयं सर्वंसहा है। सर्वंसहा माटी मूक होकर वेदना में तड़पती है। फिर भी वह पहने कपड़ों को नहीं फाड़ रही है, हाथ-पैर नहीं पछाड़ रही है। धरा पर मुख-मुद्रा को विकृत कर आक्रोश के साथ क्रन्दन नहीं कर रही है। इसी कारण उसमें दुःख के अभाव का निर्णय लेना, सही निर्णय नहीं माना जा सकता। यहाँ दुःख का अभिव्यक्तीकरण नहीं है, किन्तु दुःख की घटाओं से आच्छन्न है अन्दर का प्रकाश।

यह हाल भूकणों का ही नहीं है, ऐसे अनेक जीवित भू-कण रूपी आत्माएँ मूक वेदना स्वयं भोग रही हैं। ईश्वर उनकी परीक्षा कर रहे हैं। लेकिन अति परीक्षा पात्र को विचलित करेगी। पाथेय के प्रति प्रीति घट जाएगी। धैर्य, साहस कम हो जाएँगे, दरार की सम्भावना होगी, परिणाम होगा अकाल मृत्यु। माटी ने सबको स्वयं सहा और अपनी यात्रा की निरन्तरता में तल्लीन रही। आगे जाकर उसे परिपूर्ण विकास प्राप्त करना है। अभी तो अग्नि-परीक्षा स्वागतार्थ सामने खड़ी है। जलांश सूख गया तो अग्नि की कठोर परीक्षा।

हाँ, हाँ ! यही तो मानव-जीवन का भी हाल है। मूकमाटी ही नहीं, ऐसे अनेक असहाय जन पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं। उनकी परीक्षा ली जा रही है।

कुम्भ की परीक्षा हो रही है। उसे अवा में तपाना है यानी कि कुम्भ को पक्का बनाना है, पाक बनाना है। उसके लिए लकड़ियों का सहयोग चाहिए। नीम, देवदारु, बबूल की लकड़ियाँ हैं। इनमें बबूल की लकड़ियाँ कुछ कड़ी हैं जिससे सज़ा दी जाती है। लेकिन सज़ा पाने वाले अपराधी नहीं, निरपराधी हैं। इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि आजकल की सामाजिक नीति भी खोखली है। प्रायः यहाँ अपराधी नहीं, निरपराधी ही पीटा जाता है। उनको पीटते-पीटते सज़ा देने वाले अधिकारी टूटते हैं। यह कभी गणतन्त्र नहीं होगा। इसकी ओर कवि का संकेत है। कवि की राय में :

> *"कभी-कभी हम बनाई जातीं/कड़ी से और कड़ी छड़ी*
> *अपराधियों की पिटाई के लिए।/प्रायः अपराधी-जन बच जाते*
> *निरपराध ही पिट जाते,/और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।*
> *इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या*
> *मनमाना 'तन्त्र' है!" (पृ. २७१)*

यहाँ गणतन्त्र के नाम पर घोर अत्याचार हो रहे हैं। पाखण्ड, घूसखोरी, रिश्वतखोरी आदि आम, असहाय,

दुर्बल जनों को पीटते रहते हैं। वे मूकमाटी की तरह सब स्वयं सह रहे हैं। ऐसी नीच स्थिति ने घोर व्याली-सी सबको रेंगते-रेंगते घेर लिया है। उसकी पकड़ से बचना मुश्किल है। यहाँ गणतन्त्र के बदले धनतन्त्र ही होता है। धन ही सब कुछ है। वही सब कुछ करता है। सामाजिक नीति उसके इशारे पर नाच रही है। मनमाना तन्त्र है यह। कितनी सशक्त सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति है। कवि का समाज के प्रति जो दायित्व है, उसका सही दृष्टान्त है यह। सामाजिक प्रतिबद्धता सन्त कवि तोड़ न पाए हैं।

यहाँ निरपराध कुम्भ, निरपराध मूक आम-असहाय आदमी है, जिससे चारों ओर लकड़ियाँ बिछाकर जला रहे हैं। यहाँ न्याय भी अन्याय-सा लगता है। न्याय का युग बीत गया। लकड़ी का यह कथन "निर्बल-जनों को सताने से नहीं, बल-संबल दे बचाने से ही बलवानों का बल सार्थक होता है" (पृ. २७२)– नए समाज के प्रत्येक अधिकारी लोगों को, समाज-सुधारकों को और प्रत्येक तबके के उन्नत लोगों को सन्त कवि का यही सन्देश है।

कुम्भ की अग्नि-परीक्षा होने वाली है। लेकिन अग्नि जलती नहीं। कुछ बाधा है। अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक किसी को भी मुक्ति मिली नहीं। कुम्भ को नहीं जलाना है, उसके दोषों को जलाना है। अग्नि जलने लगी। कुम्भ के मुख में, उदर में, आँखों में, कानों में और नाक के छेदों में धूम ही धूम है। कुम्भ का कुम्भक प्राणायाम, उदर में धूम को पूर कर। यह अग्नि-परीक्षा है दमघोंटू वातावरण में घुट-घुट कर मरने वाले दुर्बल आदमी की। यहाँ दर्शन और अध्यात्म का प्रतिपादन भी हुआ है।

अग्नि-परीक्षा से छोटी-सी प्रतिज्ञा भी मेरु-सी लगेगी। आस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी। भावी जीवन के प्रति उत्सुकता नहीं रहेगी। कुम्भ की अग्नि-परीक्षा सम्पूर्ण हुई। जलने से कालिमा छाई। इस खण्ड में साधक के सच्चे भावों का, गुणों का वर्णन भी हुआ है।

अग्नि-परीक्षा के बाद भी परीक्षा ! तब कुम्भ का कहना—करो-करो परीक्षा, पर को परख रहे हो, अपने को तो परखो जरा···! परीक्षक बनने से पूर्व परीक्षा में पास होना अनिवार्य है, अन्यथा उपहास का पात्र बनेगा वह। कुम्भ को निमित्त बनाकर अग्नि की अग्नि-परीक्षा ले रहे हैं। उसके बीच सेवक का, साधुता का वर्णन भी किया है। इस खण्ड में अनेक सामाजिक बातों का ज़िक्र भी किया है। स्वर्ण-कलश के माध्यम से पूँजीवाद की ओर इशारा है। परतन्त्र जीवन की आधारशिला है वह। हाँ, हाँ ! मज़दूरों के शोषण से पूँजीपति और अधिक धनवान् होते हैं। मज़दूरों की ताकत पर आधारित उनका जीवन परतन्त्र जीवन है। सन्त जनों पर उनका आक्रोश, उनके द्वारा समता का उपहास आदि अक्षम्य अपराध है। पूँजीपतियों ने अपने दोषों को छिपाकर निर्दोषों को सदोष बताया है और बताएँगे भी।

"धनिक और निर्धन—/ये दोनों/वस्तु के सही-सही मूल्य को
स्वप्न में भी नहीं आँक सकते/कारण/धन-हीन दीन-हीन होता है प्रायः
और/धनिक वह/विषयान्ध, मदान्ध !!" (पृ. ३०८)

मच्छर का कथन देखिए--'अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है। उनकी कृपा कृपणता पर होती है, उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं, काकतालीय-न्याय से कुछ मिल भी जाए वह मिलन लवण मिश्रित होता है, पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।' मच्छर ने सेठ की निन्दा की है। मच्छर के माध्यम से कवि ने सामाजिक यथार्थ को ही उजागर किया। मत्कुण के माध्यम से दुर्भावना के साथ कुछ देने वाले कृपण धनवानों की खिल्ली उड़ायी है। छिद्र में मत्कुण रहता अवश्य है। लेकिन वह किसी के छिद्र देखता नहीं। पुरुष और प्रकृति के माध्यम से नर-नारी सम्बन्ध का वर्णन किया है। कुछ और सामाजिक बातों का उद्घाटन देखिए--'सकल कलाओं का प्रयोजन बना है केवल अर्थ का आकलन-संकलन

आजीविका से। कलियुग में किसी का, कुछ का अर्थ नहीं।' सन्दर्भानुकूल भू की महिमा, नारी की महिमा का वर्णन हुआ है। विज्ञान को भी नहीं छोड़ा है। सोना सो गया अब, लोहा से लोहा लो···हा···। आज माटी के बर्तनों के स्थान पर सोना-रजत के लोटे-प्याले-प्यालियाँ बेचकर धनी बनते हैं। जेल में भी अपराधियों के हाथ-पैरों में इस्पात की ही हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ होती हैं। युवक-युवतियों के हाथों में भी इस्पात के ही कड़े मिलते हैं। यही है विज्ञान का विकास ? चिकित्सा के क्षेत्र में, भोजन-पान के क्षेत्र में ऐसा ही कुछ घट रहा है। स्वादिष्ट-बलवर्द्धक दुग्ध का सेवन रोग के कारण बनने वाले हैं। अनियन्त्रित जीवन जीने वालों को, सुख-भोग के पीछे पागल बनकर भागने वालों को कुछ नैतिक उपदेश हैं। अतिव्यय और अपव्यय को छोड़कर मितव्ययी बनने का मशविरा देते हैं।

कुम्भ ने स्वर्ण-कलश का उपहास किया तो उसके मन में बदले का भाव भर जाता है और वह सेठ को परिवार सहित समाप्त करने का षड्यन्त्र रचता है। दिन और समय निश्चित होते हैं। आतंकवाद आमन्त्रित है। देखिए, यह हाल अभी हमारे सम्मुख विराजमान है। हमारे पावन, महान् भारत वर्ष में आज बैर भाव से उत्पन्न आतंकवाद का ताण्डव नर्तन हो रहा है। इन सबका कारण है अपने को न पहचानना, जीवन का अपना उद्देश्य न पहचानना, पुरुषार्थ का दुरुपयोग करना, आध्यात्मिकता छोड़कर लौकिक सुख-भोग में डूब मरने की अवांछित अभिलाषा; नहीं तो हमारे देश की स्थिति इतनी बुरी, इतनी दयनीय नहीं हो सकती थी। मान को टीस पहुँचने से, अति शोषण से, अति पोषण से यही हाल हुआ है। जीवन का लक्ष्य शोध के बदले आज प्रतिशोध बना है, बदले का भाव पनपा है। अज्ञानता का, दूरदर्शिता के अभाव का यही परिणाम है। काश, लोग सही जान पाते। सोना-मिट्टी होने के भेद-भाव को छोड़कर समता का भाव पैदा करने की सलाह देते हैं।

हाँ, हाँ ! स्वर्ण-कलश ने बदले का भाव ठान लिया है और सेठ सहित पूरे परिवार पर आक्रमण करना निश्चित किया है। निर्धारित समय के पहले ही अनर्थ के घटने की सम्भावना से अवगत होकर अड़ोस-पड़ोस की निरपराध जनता को बचाने हेतु कुम्भ ने सेठ से परिवार सहित पलायन करने को कहा। आजकल जो हो रहा है, उसकी यह सही अभिव्यक्ति है।

पलायन करने वाले परिवार से आतंकवाद के दल का यह पूछना कि 'कहाँ भागोगे, कब तक भागोगे, काया का राग छोड़ दो अब। अरे पातको, ठहरो ! पाप का फल पाना है तुम्हें, धर्म का चोला पहनकर अधर्म का धन छुपाने वालो ! सही-सही बताओ, कितना धन लूटा तुमने, कितने जीवन टूटे तुम से'– यह सामाजिकता की सच्ची अभिव्यक्ति है। आधुनिक समाज में यह अत्याचार अभी हो रहा है। उससे निरीह, आम जनता की रक्षा के लिए आतंक-दलों की पुकार की आवाज़ अभी हमारे कानों में गूँज रही है। 'दण्ड-विधान से सम्बन्धित कवि का अपना मत है कि उद्दण्डता दूर करने हेतु दण्ड-संहिता होती है। दण्डों में अन्तिम दण्ड प्राणदण्ड होता है। प्राणदण्ड से औरों को तो शिक्षा मिलती है, परन्तु जिसे दण्ड दिया जा रहा है, उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त होता है। क्रूर अपराधी को क्रूरता से दण्डित करना भी एक अपराध है।' कवि की कितनी सही दण्डनीति है !

आज समाज में पद-लिप्सा की जो भावना खतरनाक स्थिति तक पहुँच गई है, उसकी ओर भी कवि ने संकेत किया है–'पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु पर को पद-दलित करते हैं, पाप पाखण्ड करते हैं।'

वेगवती नदी की गम्भीरता और गुरुता से भयभीत होकर परिवार जन लौट चलने को उद्यत होता है तो कुम्भ का कहना है कि अभी लौटना नहीं है, क्योंकि अभी आतंकवाद गया नहीं। 'जब तक आतंकवाद जीवित है तब तक यह धरती शान्ति का श्वास नहीं ले सकती' – आधुनिक समाज का यही हाल है।

आतंकवाद का परिवार के प्रति इस कथन में कि 'प्रचार-प्रसार से दूर, प्रशस्त आचार-विचार वालों का जीवन

ही समाजवाद है। समाजवाद-समाजवाद चिल्लाने मात्र से समाजवादी नहीं बनोगे'-- समाजवाद की परिभाषा दी गई है। धन-संग्रह के बदले जन-संग्रह करने का आह्वान किया गया है कि 'लोभ के वशीभूत होकर अँधाधुन्ध संकलित का समुचित वितरण करो, अन्यथा धनहीनों में चोरी का भाव जागता है, जागा है। चोरी मत करो, चोरी मत करो-- यह कहना केवल धर्म का नाटक है, उपरिल सभ्यता, उपचार मात्र।' कवि ने इन पंक्तियों में बताया है कि 'चोर इतने पापी नहीं होते जितने कि चोरों को पैदा करने वाले होते हैं। तुम स्वयं चोर हो और चोरों के जनक भी। सज्जन अपने दोषों को कभी छुपाते नहीं, छुपाने का भाव भी नहीं लाते मन में, प्रत्युत उद्घाटित करते हैं उन्हें।' रावण और सीता के उदाहरण के द्वारा सन्त कवि ने यही बात स्थापित की है। 'आज असत्य के सम्मुख क्या सत्य का आत्म-समर्पण होगा ? क्या सत्य, असत्य से शासित होगा ? आज जौहरी के हाट में हीरक-हार की हार ! काँच की चकाचौंध में हीरे की झगझगाहट मरी जा रही है। क्या अब सती अनुचरी हो व्यभिचारिणी के पीछे-पीछे चलेगी ? असत्य की दृष्टि में सत्य भी असत्य हो सकता है।' ऐसी नीच स्थिति से हमारा समाज मैला पड़ा है। क्या सन्त कवि का संकेत समाज की इस प्रकार की बुरी हालत से तो नहीं है ?

"नाव की करधनी डूब गई/जहाँ पर लिखा हुआ था--
'आतंकवाद की जय हो/समाजवाद का लय हो
भेद-भाव का अन्त हो/वेद-भाव जयवन्त हो'।" (पृ. ४७३-४७४)

यह एक नूतन समाज की विभावना नहीं तो फिर क्या होगा ? परन्तु आतंकवाद व्याकुल-शोकाकुल होकर पश्चात्ताप करता है। आतंकवाद का अन्त होता है। परिवार के प्रति-सदस्य से दल के प्रति-सदस्य को सहारा मिलता है। नव-जीवन का श्रीगणेश, कुम्भ के मुख से मंगल-कामना की पंक्तियाँ :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें--/अमंगल-भाव/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठें/···बस !" (पृ. ४७८)

कुम्भ की साधना से, साध्य प्राप्ति से, धरती माँ सन्तुष्ट हुई। कुम्भकार ने कहा कि ऋषि-सन्तों की कृपा से एक सेवक के नाते उसने कुम्भ को रूप दिया। आतंकवाद को आतंक से विजय क्षणिक महसूस हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मूकमाटी' एक आध्यात्मिक महाकाव्य है जिसके माध्यम से केवल आध्यात्मिकता ही नहीं, आधुनिक समाज का सही -- यथार्थ चित्रण भी हो पाया है। 'मूकमाटी' मोक्ष की ओर प्रयाण करनेवाली अनश्वर आत्मा का ही नहीं, प्रत्युत, लक्ष्य की ओर बढ़ने वाले आम आदमी का भी रूपक है जो संघर्षशील है, जिसकी अग्नि-परीक्षा हो रही है और संघर्षों की धूप में तपकर अग्नि में झुलसकर जो निखर आया है, पक्का एवं पाक बना है। सन्दर्भानुकूल सन्त कवि ने अनेक सामाजिक यथार्थ भी उजागर किए हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य कोश में 'मूकमाटी' एक अमोल रत्न है जो अपनी मूकता में अनेक धार्मिक-दार्शनिक-आध्यात्मिक-सामाजिक सार को छुपाए रहती है, जिसके आवरण को अनावृत करने से प्रत्येक राज एक-न-एक के रूप में हमारे सम्मुख असलियत का रूप धारण कर उतरता-उतरता प्रकट होता है। कथ्य की दृष्टि से ही नहीं, शिल्प की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' की निजी विशेषता है। शब्दों का खिलवाड़ इसकी सुन्दरता में चार-चाँद लगाता है। शब्दों को उलट-पुलटकर अनेकार्थ प्रतिपादन सन्त कवि की शब्द-पटुता को व्यक्त करता है। कवि ने शब्दों को सार्थक बनाया है। मुक्त छन्द में रूपायित यह रचना

प्रवाहमयी भाषा से, ओजयुक्त काव्यपटुता से नवनवोन्मेषशालिनी बनी हुई है।

भाषागत कुछ उदाहरण :

- *"रति-पति-प्रतिकूला-मतिवाली*
  पति-मति अनुकूला गतिवाली।" (पृ. १९९)
- *"वपुषा - वचसा - मनसा/एक ही व्यवहार।" (पृ. २७५)*
- *"क्या दर्शन और अध्यात्म/एक जीवन के दो पद हैं?" (पृ. २८७)*
- *"दर्शन का आयुध शब्द है–विचार/अध्यात्म निरायुध होता है*
  सर्वथा स्तब्ध – निर्विचार!/एक ज्ञान है, ज्ञेय भी
  एक ध्यान है, ध्येय भी।" (पृ. २८९)

कवि की कवित्व भावना के कुछ उदाहरण :

"दाँत मिले तो चने नहीं/चने मिले तो दाँत नहीं
और दोनों मिले तो···/पचाने का आँत नहीं···!" (पृ. ३१८)

आध्यात्मिकता एवं सामाजिकता का पूरा समन्वय इसकी छटा को निरालापन प्रदान करता है। अध्यात्म व मोक्ष सम्बन्धी बातों में उनकी भाषा की चमक अनन्य है। उदाहरणार्थ :

- *"योग के काल में भोग का होना/रोग का कारण है/और*
  भोग के काल में रोग का होना/शोक का कारण है।" (पृ. ४०७)
- *"बन्धन-रूप तन/मन और वचन का*
  आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

कवित्व :

"प्रभाकर के कर-परस पाकर/अधरों पर मन्द-मुस्कान ले
सरवर में सरोजिनी खिलती हैं।" (पृ. २१५)

परिश्रम की महत्ता पर उनके शब्द हैं–

"परिश्रम करो/पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही।" (पृ. २११-२१२)

अन्ततोगत्वा यह जाहिर है कि जो अपने अन्तस् को पहचानना चाहता है, साथ ही साथ समाज को भी पहचानना चाहता है उसके लिए यह महाकाव्य एक धरोहर है, मार्गदर्शक है। यह महाकाव्य आध्यात्मिकजनों के लिए ही नहीं, आधुनिक मानव के लिए भी उपयोगी है जिसमें आधुनिक जीवन का भी खूब यथार्थ चित्रण सन्दर्भानुकूल हो पाया है। 'मूकमाटी' महाकाव्य स्वर्ग-पृथ्वी को, भू-नभ को, देव-मानव को बाँधने वाला महा सेतु है।

□

'मूकमाटी' में प्रकृति-चित्रण

सुरेश सरल

प्रकृति का अवलोकन करने के उपरान्त उसका चित्रण करना एक बात है और कल्पना क्षेत्र में रचे गए प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करना पृथक् बात है। आचार्य विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' महाकाव्य के अनेक स्थलों पर प्रकृति के काल्पनिक दृश्य निर्मित किए हैं। कई स्थानों पर दृश्य केवल वे ही देख रहे हैं, ऐसा ज्ञात होता है। वे ही उसके रचयिता और वे ही उसके द्रष्टा। मगर दृश्यों का चित्रण करते समय वे द्रष्टा के रूप में पहले, पाठकों की नज़र में आ जाते हैं।

चूँकि सम्पूर्ण महाकाव्य के पार्श्व में जैन सिद्धान्त हैं और उन्हें कहीं, तनिक भी शिथिल/क्षीण नहीं होने दिया गया है, अतः स्वाभाविक है कि प्रकृति चित्रण करते हुए भी रचनाकार ने यह ध्यान रखा हो कि भले ही चित्रण लघु रहे, पर उसकी उपस्थिति से सिद्धान्तों के साथ खिलवाड़ न हो।

उनका महाकाव्य प्रकृति-चित्रण से प्रारम्भ किया गया है, जहाँ प्रथम खण्ड की पहली पंक्ति ही पाठक को प्रकृति की ओर ले जाती है :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १)

'नीचे' से अर्थ है धरती पर। वहाँ, ऊपर गगन में चारों ओर नीलिमा है और इधर धरती पर शान्ति। विचित्र चित्रण है– रंग का प्रति-उत्तर रंग से होना चाहिए था, यथा–ऊपर नीलिमा है तो नीचे कोई दूसरा रंग– कालिमा, हरीतिमा आदि। पर वे कथन ऐसा नहीं सँवारते। वे नीलिमा के समक्ष 'शान्ति' की बात कहते हैं जो 'प्रकृति चित्रण में वैचित्र्य' का दुर्लभ उदाहरण है।

वे बाद की पंक्तियों में, पूरे दृश्य को माता का मार्दव उत्संग (गोद) में बदल देते हैं, जब लिखते हैं :

"भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है
माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।" (पृ. १)

यह विशाल दृश्य देखने वाला कवि अपने लेखन में अनेक विशालताओं को लेकर काव्य-यात्रा पर पाया गया है।

रचनाकार ने पूर्व दिशा में सुबह-सुबह जो लालिमा देखी है, उसका वे वर्णन भर नहीं करते बल्कि कुछ समय के लिए वे पूर्व दिशा को ही एक सुन्दरी की तरह पाठकों के परिचय में लाते हैं :

"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है
सर पर पल्ला नहीं है/और/सिन्दूरी धूल उड़ती-सी
रंगीन-राग की आभा–/भाई है, भाई···!" (पृ. १)

मगर वे पाठक को उस सुन्दरी के दर्शन नहीं होने देते और स्वतः एक वर्णी की तरह दृश्य के आनन्द को भाषा के माध्यम से सामने लाते हैं :

"लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी
प्रभाकर के कर-छुवन से/बचना चाहती है वह;
अपनी पराग को–/सराग-मुद्रा को–/पाँखुरियों की ओट देती है।" (पृ. २)

यहाँ 'लज्जा का घूँघट' पंक्ति पाठक को गुदगुदी पैदा करती है, फिर 'डूबती-सी कुमुदिनी' पाठक के समीप ही वह (नायिका) है, का आभास कराती है। 'प्रभाकर के कर-छुवन से' सूर्य की किरणों के द्वारा स्पर्श किया जाना दूर की बात लगती है, पाठक ही हाथ से स्पर्श कर रहा हो - लगता है। अन्तिम पंक्ति 'पाँखुरियों की ओट देती है' जैसे किसी सुन्दर सलौनी युवती ने दोनों हथेलियों से अपना मुख-चन्द्र छुपाने का सुकोमल प्रयास किया हो।

यों सम्पूर्ण काव्य, जो ४८८ पृष्ठों में है, में आचार्यश्री ने स्थल व्यवस्था और परिवेश-प्रस्थान को ध्यान में रख कर, मात्र अठारह जगहों पर प्रकृति चित्रण आवश्यक समझा है, जिसमें उनका कवि शृंगारिक दृष्टि धारण कर कुछ देखता चलता है।

इसे और अधिक स्पष्ट करूँ कि कई दृश्य महाकवि खुद तो देखते हैं, किन्तु पाठकों को नहीं देखने देते, बल्कि उन (दृश्यों) के आनन्द का खुलासा पाठकों से शब्दों के माध्यम से कर, आगे बढ़ जाते हैं, जैसा कि उनने उपर कहा है- 'पाँखुरियों की ओट'।

महाकाव्य के प्रारम्भिक अंश में ही ये पंक्तियाँ– "न निशाकर है, न निशा/न दिवाकर है, न दिवा" (पृ.३) दिन और रात के मध्य आने वाले एक ऐसे सन्धिकाल की भनक देती हैं जिसे केवल रचनाकार ने देखा-जाना है, और उसी के कथनानुसार पाठक एक चित्र आँखों में बनाने का सुन्दर प्रयास कर लेने में सफल हो जाता है।

कवि कल्पनाशीलता का प्रथम संस्थापक पुरुष होता है, वह ही हैं हमारे आचार्यश्री। वे धरती माता के चेहरे का वर्णन कर नए कीर्तिमान स्थापित कर देते हैं, जब कहते हैं :

"जिसके/सल-छलों से शून्य/विशाल भाल पर
गुरु-गम्भीरता का/उत्कर्षण हो रहा है,/जिसके
दोनों गालों पर/गुलाब की आभा ले/हर्ष के संवर्धन से
दृग-बिन्दुओं का अविरल/वर्षण हो रहा है।" (पृ. ६)

यह प्यारा दृश्य भी पाठक सीधा-सीधा नहीं देखता, उसे कलमकार अपने शब्दों के माध्यम से दिखलाता है। कहें, बात नायिका रूप की हो या माता रूप की। कवि ने कुछ स्थलों पर अपने सन्तुलित शब्दों को माध्यम बनाकर दृश्य का आभास कराया है, दृश्य की सर्जना किए बगैर, मात्र अपने वर्णन वैभव के सहारे।

वे, आगे, प्रभात का परिचय कराने में भी भाषा और व्याकरण से परे, मात्र कल्पना के बल पर भारी सफलता पाते हैं, जब लिखते हैं :

"प्रभात आज का/काली रात्रि की पीठ पर
हलकी लाल स्याही से/कुछ लिखता-सा है, कि
यह अन्तिम रात है।" (पृ. १९)

यहाँ प्रभात के द्वारा रात्रि की पीठ पर कुछ लिखना पाठक के आनन्द को कई गुना बढ़ा देता है। हर योग्य और चरित्रवान् नागरिक इन पंक्तियों को पढ़ते हुए क्षण भर को अपने परिवार में उड़कर आ जाता है, जहाँ उसकी प्रिय पत्नी है। वहाँ वह नागरिक दो स्थितियों पर सोचता है– वह भी अपनी पत्नी की पीठ पर इसी तरह कुछ लिखता रहा है अथवा विगत वर्षों में या अभी तक उसने पीठ पर क्यों नहीं लिखा ? चित्रण की यह जीवन्त प्रभावना ही है जो पाठक को सोचने विवश करती है।

प्रकृति का ऐसा दुर्लभ चित्रण, जो सौ प्रतिशत मौलिकताओं से सजा-सजा होता है, किसी काव्य (प्रबन्ध काव्य/महाकाव्य) में अन्यत्र देखने नहीं मिला।

किसी बड़ी मिल से निर्मित साड़ियाँ तो कहीं न कहीं देखने को मिल जाती हैं, परन्तु इधर 'प्रभात' ने 'रात्रि' को, भेंट में जो साड़ी दी है, वह मात्र आचार्यश्री की मिल में ही बनती है। वे दिगम्बर साधु, सवस्त्र कवियों की कल्पना से सैकड़ों मील आगे चलते मिलते हैं, जब वे कहते हैं :

"उपहार के रूप में/कोमल कोंपलों की/हलकी आभा-घुली
हरिताभ की साड़ी/देता है रात को।" (पृ. १९)

सूती और रेशमी साड़ी से लेकर बनारसी साड़ी तक, साड़ियों की शताधिक प्रजातियाँ और प्रकार देखे हैं, पर 'मूकमाटी' के महाकवि ने हरिताभ की साड़ी प्रकाश मे लाकर अब तक के कल्पनाश्रित कवियों के समक्ष नव आदर्श तो रखा ही है, नूतन सर्जना को नया फ्रेम (चौखट) भी प्रदान किया है।

सत्य तो यह है कि ऐसे प्रसंगों के चित्र कोई तूलिकाकार अपनी तूलिका से केनवास पर उतार ही नहीं सकता। ये तो काव्यलोक में घुमड़ने वाले ऐसे दृश्य हैं जिन्हें कवि की कृपा से पाठक अपनी अनुभूति में ला सकता है, पर ड्राइंग रूप में सर्व साधारण के अवलोकनार्थ टाँग नहीं सकता।

इतना ही नहीं 'मूकमाटी' का कवि ओस के कणों में "उल्लास-उमंग/हास-दमंग और होश" (पृ. २१) के दर्शन भी करता है। भला ऐसी कल्पनाओं के चित्र मृत तूलिका कैसे बना सकेगी, उसके लिए तो जीवन्त विचार ही सहायक हो सकते हैं कवि के।

बोरी में भरी हुई माटी कैसी या किस आकार में दिख सकती है, कौन बताए ? परन्तु हमारे कवि ने वहाँ भी अपनी मधुर कल्पना को नवाकार देकर सफलता पाई है। वे कहते हैं :

"सावरणा - साभरणा/लज्जा का अनुभव करती,
नवविवाहिता तनूदरा/घूँघट में से झाँकती-सी··· !" (पृ. ३०)

बोरी के खूँट, छोर तक माटी भर जाने के बाद वह कैसे दिखती है कवि को ? उपमा का चमत्कार यहाँ देखने मिलता है, वह है – 'तनूदरा'। अश्लीलता या वासना के स्वर से दूर है यह एक सुन्दर उपमा।

जिस तरह लेखक अपनी रचना से वार्ता कर लेता है उसी तरह उनका पात्र शिल्पी भी माटी से बातचीत करता है, मगर कवि ने बातचीत को इतनी जीवन्तता प्रदान कर दी है कि माटी एक महानायिका की तरह पाठकों के मस्तिष्क में प्रवेश करती है, जब शिल्पी मिट्टी से पूछता है :

"सात्त्विक गालों पर तेरे/घाव-से लगते हैं,/छेद-से लगते हैं,
सन्देह-सा हो रहा है/भेद जानना चाहता हूँ
यदि···कोई···बाधा···न···हो···तो···/बताओगी/चारु-शीले !" (पृ. ३१)

यहाँ कविता में नहीं, चित्रण का चमत्कार शिल्पी के प्रेम भरे सम्बोधन में है, जब वह पूछता है–बताओगी, 'चारु-शीले'। यह 'चारु-शीले' शब्द पाठक के मस्तिष्क के तार झनझना देने तक भीतर कौंधता रहता है और शब्द की गरिमा और सौन्दर्य के बोध को किसी सुन्दर रूप में तलाशने लग जाता है अपने ही परिचय में आए किसी रूप में।

सूर्य का उदय एक प्राकृतिक घटना है, जो नित्य होती है। सूर्य के कारण धूप का प्रसारण भी प्राकृतिक है। सूर्य और धूप के मध्य कोई प्राकृतिक रिश्ता भी है क्या ? हम तो नहीं जानते थे, पर कलमकार ने उसे स्पष्ट करने का सत् प्रयास किया है :

"दिनकर अपनी अंगना को/दिन-भर के लिए

भेजा है उपाश्रम की सेवा में,/और वह
आश्रम के अंग-अंग को/आँगन को चूमती-सी···
सेवानिरत-धूप···!" (पृ. ७९)

कवि ने धूप को सूर्य की अंगना सम्बोधित कर एक नए, किन्तु अत्यन्त मौलिक रिश्ते का उद्घोष किया है, जो अन्यत्र पढ़ने को नहीं मिला। इस स्थल पर अंगना के बाद आँगन शब्द का प्रयोग कर भाषाई चमत्कार को बल दिया गया है।

पाठक को एक मिठास और मिली है उक्त पंक्तियों से, वह यह कि किरणों का सहज ही आश्रम में आना एक मायने रखता है, पर उनका आश्रम में आकर आश्रम का अंग-अंग चूमना, विशेष मायने की संरचना करता है। यही है चित्रण का चमत्कार।

इसी तरह एक अन्य उदाहरण है—मछली का पानी में जन्म लेना प्राकृतिक है, पर आचार्यश्री अपने चिन्तन से उस प्राकृतिक घटना के भीतर छुपी हुई स्थिति को प्रकट करने में साफल्य पाते हैं, जब वे लिखते हैं :

"जल में जनम लेकर भी/जलती रही यह मछली।" (पृ. ८९)

यह मछली जैसे जीवधारियों का सत्य है जिसे आचार्यश्री ही समझ-सुन सके हैं।

'जल में जले मछली' यह शब्दोपयोग सामान्य नहीं है। यह प्रतीति और वह अनुभूति दार्शनिकता से जन्मी लगती है। महाकवि मात्र कल्पनाशीलता के विमान पर नहीं चलते, वे दार्शनिकता के राजपथ पर भी चले हैं काव्य लिखते समय।

प्रकृति के महत्त्वपूर्ण चित्रण से लबरेज महाकाव्य का प्रथम खण्ड समृद्ध बनाया गया है, जबकि द्वितीय खण्ड में वह तनिक भी आवश्यक नहीं माना गया है, फलतः प्रकृति की कोई लघु दृश्यावली दृष्टि में नहीं आती। किन्तु खण्ड तीन में रचनाकर का चिन्तन पुनः प्रकृति का पावन स्पर्श करता है, जब वे बादलों से बरसे हुए पानी को धरती पर गिरता हुआ देखते हैं और फिर वही पानी विशाल राशि के साथ धरती का सब कुछ बहाता हुआ अपने साथ समुद्र में ले जाता है। वे उस दृश्य को शब्द देते हैं :

"वसुधा की सारी सुधा/सागर में जा एकत्र होती।" (पृ. १९१)

इन पंक्तियों में वे धरती पर पानी के साथ बहे हुए अनेक पदार्थों को 'सुधा' का सम्बोधन देकर अपने कवि का स्तर बहुत ऊँचा करने में भी साफल्य पा सके हैं।

धरती की सम्पदा को आदर देने के निमित्त ही उन्होंने 'सुधा' शब्द का श्रेष्ठ उपयोग किया है। यहाँ वर्तमान के विख्यात कविगण काफी पीछे रह जाते हैं जिनने लिखा है कि धरती सोना और हीरा-मोती उगलती है।

अब मैं जो उदाहरण देने जा रहा हूँ वह कवि की सुकुमार भावनाओं का सुन्दर परिचय तो देता ही है, उसे प्रकृति की घटनाओं का ज्ञाता भी सिद्ध करता है। आकाश में तीन बदलियों को उड़ते देख वे किस कदर प्रकृति में समाहित हो जाते हैं, यह समझने-विचारने की बात है :

"गजगामिनी भ्रम-भामिनी/दुबली-पतली कटि वाली
गगन की गली में अबला-सी/तीन बदली निकल पड़ी हैं।
दधि-धवला साड़ी पहने/पहली वाली बदली वह
ऊपर से/साधनारत साध्वी-सी लगती है।
रति-पति-प्रतिकूला-मतिवाली/पति-मति-अनुकूला गतिवाली।" (पृ. १९९)

इतनी दिव्य है वह उनकी प्रथम बदली। प्रथम के पीछे-पीछे चल (उड़) रही दूसरी बदली, जो मध्य में है, का वर्णन पृथक् है :

"इससे पिछली, बिचली बदली ने/पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी
गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे/लाल पगतली वाली लाली-रची
पद्मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे।" (पृ. २००)

बदलियाँ बदलियाँ न हुईं, तीन अल्हड़ सहेलियाँ हो गई हैं यहाँ, जिनके शृंगार और छवि पृथक् होते हुए भी वे एक साथ चल रही हैं। तीसरी बदली का प्रकृति-चित्रण भी कम नहीं है, जब कवि लिखता है :

"नकली नहीं, असली/सुवर्ण वर्ण की साड़ी पहन रखी है
सबसे पिछली बदली ने।" (पृ. २००)

बदलियों का वर्णन कर तरुणियों के रूप-लावण्य को उपस्थित करता हुआ कवि अपनी उस दृष्टि का परिचय व प्रभाव यहाँ पूर्ण बारीकी से करा देता है, जो प्रकृति के दृश्य देखने में अतिरिक्त क्षमताएँ धारण किए हुए है।

इसी पृष्ठ पर कवि ने सूर्य और धूप का नूतन रिश्ता तय कर दिया है, वे प्रभा (धूप) को प्रभाकर की प्रेयसि पहले ही मान चुके हैं, अब वे उसे पत्नी मानकर कलम चलाते हैं :

"प्रभाकर की प्रभा को प्रभावित करने का!" (पृ. २००)

बाद में कवि प्रभाकर और प्रभा के रिश्ते को भी नाम देता हुआ लिखता है :

"अपनी पत्नी को प्रभावित देख कर/प्रभाकर का प्रवचन प्रारम्भ हुआ।" (पृ.२००)

प्रकृति-चित्रण की ये कल्पनाएँ सहज नहीं हैं, इन्हें कागज पर उतारने में रचनाकार को कल्पना के हिमालय जितनी ऊँचाई स्पर्श करनी पड़ी होगी।

पूरे ग्रन्थ में एक विचित्र सन्दर्भ भी देखने मिला है, जब कलमकार का एक पात्र 'बादल' विशाल समुद्र का पक्ष लेते हुए सूरज को डाँट पिलाता है। चूँकि कलमकार का आशय ही बादल और सूरज की बातचीत सुनने-सुनाने का है, इसलिए इस दृश्य को मैं प्रकृति-चित्रण में ही समाहित पा रहा हूँ, क्योंकि सूर्य एक प्राकृतिक तत्त्व है, उसका उदय और अस्त प्राकृतिक है, उसका तपना भी प्राकृतिक है। इसी तरह बादल-दल भी प्राकृतिक है। कवि ने सीधा-सीधा सूर्य को नहीं डाँटा, कथा के एक पात्र ने उस पर कोप उतारा है, जब बादल नक्षत्रों के मध्य अपने पाण्डित्य का डंका बजाते हुए उनके वरिष्ठ पण्डित दिवाकर को आड़े हाथ लेता है :

"अरे खर प्रभाकर, सुन!/भले ही गगनमणि कहलाता है तू,
सौर-मण्डल देवता-ग्रह—/ग्रह-गणों में अग्र
तुझमें व्यग्रता की सीमा दिखती है/अरे उग्रशिरोमणि!
तेरा विग्रह"यानी/देह-धारण करना वृथा है।/कारण,
कहाँ है तेरे पास विश्राम-गृह?/तभी"तो/दिन भर दीन-हीन-सा
दर-दर भटकता रहता है!/फिर भी/क्या समझ कर साहस करता है
सागर के साथ विग्रह-संघर्ष हेतु?" (पृ. २३१)

बादल का क्रोधोत्पन्न वार्तालाप जारी रहता है, बीच में वह समुद्र को समझाने के स्वर धारण करता है और कहता है :

"अरे, अब तो/सागर का पक्ष ग्रहण कर ले,
कर ले अनुग्रह अपने पर,/और,/सुख-शान्ति-यश का संग्रह कर !
अवसर है,/अवसर से काम ले !/अब, सर से काम ले !
अब···तो···छोड़ दे उलटी धुन/अन्यथा,
'ग्रहण' की व्यवस्था अविलम्ब होगी।" (पृ. २३१-२३२)

कलमकार चतुर चितेरे हैं, वे जानते हैं कि सूरज को क्या दण्ड उपयुक्त हो सकता है। कोई उसे न जला सकता है, न बुझा सकता है। अतः उन्होंने उसके आभामण्डल (यश) को कलंकित करने की सजा ठीक मानी। यश कलंकित कैसे हो ? जब उसमें 'ग्रहण' लग जाए। वह लगा भी।

प्रकृति का यह चित्रण, हाँ ऐसा चित्रण, हरेक कलमकार के लिए सम्भव प्रतीत नहीं होता। यह तो महाकवि आचार्य विद्यासागर के वश की ही बात है।

रचनाकार ने किसी भी स्थल पर प्रकृति सापेक्ष-सत्य को अनदेखा नहीं किया, परन्तु देखना वहाँ ही चाहा है, जहाँ जरूरी लगा है।

इसी तरह खण्ड चार में मात्र दो जगहों पर उन्हें प्रकृति का चित्रण आवश्यक लगा है। प्रथम वहाँ, जहाँ सन्ध्या-वन्दन करने के उपरान्त कुम्भकार कक्ष से बाहर आता है और उसे दृश्य देखने मिलता है :

"प्रभात-कालीन सुनहरी धूप दिखी/धरती के गालों पर
ठहर न पा रही है जो।" (पृ. २९४)

प्रकृति-चित्रण का, महाकाव्य में यह अन्तिम स्थल है, यहाँ गुरुवर विद्यासागरजी बाढ़ से उफनती नदी के विषय में कलम चलाते हैं :

"वर्षा के कारण नदी में/नया नीर आया है
नदी वेग-आवेगवती हुई है/संवेग-निर्वेग से दूर
उन्माद-वाली प्रमदा-सी !" (पृ. ४४०)

नदी को नारी के रूप में देखने के बाद, उसमें संवेग और निर्वेग को तलाशना और न पाना, मुनि विद्यासागर जैसे महाकवि ही स्पष्ट कर सकते हैं।

एक मायने में महाकाव्य के हरेक स्थल पर, जहाँ भी चित्रण है प्रकृति का, मुनिवर ने वहाँ प्रकृति सौन्दर्य के बोध को स्थापित करते हुए भी अध्यात्म का रंग फीका नहीं होने दिया है।

उन्होंने आँख मूँद कर या आँख खोलकर चित्रण नहीं किए हैं, हर चित्रण के पार्श्व में कलमकार अपनी अनुभूति उपस्थित करने का सुन्दर प्रयास करता है, जबकि सत्य यह भी है कि दिगम्बर सन्त को ऐसी अनुभूतियों से कोई सरोकार नहीं रहा है, न रहेगा।

मैं उन्हें प्रकृति-चित्रण में सिद्धहस्त मानता हूँ और उनके चित्रण की सराहना करता हूँ।

❑

महाकाव्य 'मूकमाटी' : एक सार्थक सर्जनात्मक प्रयास

शेख अब्दुल वहाब

नई कविता के युग में धर्म, दर्शन और अध्यात्म क्षेत्र के साथ-साथ साहित्य के क्षेत्र में भी अप्रतिम योगदान देने वाले आचार्य श्री विद्यासागर कवि एवं दार्शनिक सन्त के रूप में सुविख्यात हैं। प्रवचन ग्रन्थों के अतिरिक्त आधुनिक युगीन विविध समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने हेतु प्रबन्ध कृतियों का प्रणयन भी इन्होंने किया है। प्रस्तुत 'मूकमाटी' महाकाव्य इसी महोद्देश्य से अर्थात् धर्म, दर्शन, अध्यात्म को सही अर्थों में समझाने के लिए लिखा गया है।

'मूकमाटी' को महाकाव्य की संज्ञा दी गई है ('प्रस्तवन', II)। परन्तु, प्रबन्ध की पारम्परिक परिभाषा है: "जो बन्ध सहित हो अर्थात् जिस काव्य में शृंखलाबद्ध रूप में किसी वस्तु का वर्णन हो उसे प्रबन्धकाव्य कहते हैं।" आचार्य विश्वनाथ, दण्डी आदि से लेकर हिन्दी के आचार्य शुक्ल तक अनेक विद्वानों ने प्रबन्ध के विषय में अपने मत व्यक्त किए हैं। चूँकि आधुनिक काल में परम्परा का विद्रोह हुआ और हो रहा है, अतः नई कविता तक आते-आते प्रबन्ध का स्वरूप बदल गया है। विषयवस्तु से लेकर अप्रस्तुतों के चयन तक सबमें परिवर्तन आया है। 'मूकमाटी' में विषयवस्तु से लेकर नायक अर्थात् पात्र परिकल्पना तक परम्परा का विद्रोह है। इसमें सब नयापन है। इसलिए प्रस्तुत 'मूकमाटी' काव्य को अभिनव काव्य स्वीकार करते हैं। आज के सन्दर्भ में पारम्परिक 'महाकाव्य' शब्द भी वैसे उचित नहीं लगता है।

'मूकमाटी' काव्य की वस्तु ऐतिहासिक अथवा पौराणिक नहीं है। जैन धर्म, दर्शन और अध्यात्म विषय को वस्तु के रूप में ग्रहण कर लिया गया है। इसमें मिट्टी को केन्द्रीय पात्र बनाकर उसके द्वारा काव्योपलब्धि कराई गई है। कुम्भकार के हाथों में एक कुम्भ का रूप धारण कर माटी भक्त सेठ के परिवार से मिलकर उनका पथ-प्रदर्शन करती है। अज्ञानान्धकार में डूबे स्वर्ण कलश, चम्मच, सागर, केसर, स्फटिक झारी, अनार रस आदि को धर्म का वास्तविक अर्थ समझाती है। उन्हें ज्ञानोदय कराती है। आतंकवाद से परिवार को बचाकर अनन्तवाद के दर्शन कराती है।

"लो, अब हुआ"/नाव का पूरा डूबना/आतंकवाद का अन्त/और
अनन्तवाद का श्रीगणेश !" (पृ. ४७७-४७८)

इस प्रकार 'मूकमाटी' काव्य की वस्तु काल्पनिक है। इस काल्पनिक वस्तु में कवि ने युग जीवन को सम्पादित किया है। कवि, मनुष्य की तरह सामाजिक प्राणी है। वह समाज से प्रेरणा ग्रहण करता है। 'मूकमाटी' भी आज के युग परिवेश से प्रभावित है। युग-जीवन की बातें कृति में किसी न किसी रूप में प्रस्फुटित होती हैं। पृथक्वाद या पृथकतावाद पर 'मूकमाटी' में विचार किया गया है, जो आज की ज्वलन्त समस्या है :

"माना !/पृथक्-वाद का आविर्भाव होना/मान का ही फलदान है।" (पृ. ५५)

'ही' व 'भी' बीजाक्षरों के द्वारा भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का परिचय दिया गया है। यहाँ 'ही' तुच्छ यानी कुछ नहीं और 'भी' सब कुछ है, के द्योतक हैं :

" 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।" (पृ. १७३)

भारत के सैनिकों की देश-भक्ति को उजागर करते हुए कहते हैं :

"रणभेरी सुनकर/रणांगन में कूदने वाले/स्वाभिमानी स्वराज्य-प्रेमी
...कई जलकणों को, बस/सोखते जा रहे हैं।" (पृ. २४३)

आजकल की राजनीति के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि यह अपराधियों को बचाने के लिए काम कर रही है। देखिए :

"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,/और उन्हें
पीटते-पीटते टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)

'मूकमाटी' में वस्तुशिल्प के अन्तर्गत प्रकथनात्मकता, वर्णनात्मकता, नाटकीयता, भावतत्त्व और वैचारिक तत्त्व भी पाए जाते हैं। प्रकथनात्मकता के बिना प्रबन्ध का अस्तित्व सम्भव नहीं है। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इस अंश पर अधिक बल दिया गया है। आधुनिक प्रबन्धों में यह तत्त्व क्षीण पड़ गया है। फिर भी 'मूकमाटी' में इसका उपयोग हुआ है :

"धरती में गड़ी लकड़ी की कील पर/हाथ में दो हाथ की लम्बी लकड़ी ले
अपने चक्र को घुमाता है शिल्पी।/फिर/घूमते चक्र पर/लौंदा रखता है माटी का
लौंदा भी घूमने लगता है।" (पृ. १६०)

वर्णनात्मकता कथानक को पुष्ट बनाता है। 'मूकमाटी' में वर्णन के महत्त्व को स्वीकारा गया है। प्रकृति का वर्णन देखिए :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १)

प्रबन्ध काव्यों में नाटकीय तत्त्व अवश्य पाए जाते हैं। पात्रों की वैयक्तिकता पर प्रकाश डालने के लिए आज इस तत्त्व का उपयोग हो रहा है। संवाद, स्वगत भाषण इसके अन्तर्गत आते हैं।

कुम्भ और झारी के बीच संवाद देखिए :

"अग्नि-परीक्षा के बाद भी/सब कोयलों में बबूल के कोयले
काले भी तो होते हैं/वह क्यों ? बता दो !
लो, उत्तर देती है झारी :/अरे मतिमन्द, मदान्ध, सुन !" (पृ. ३७४)

आज के प्रबन्धों में भावात्मकता कम देखने को मिलती है। वैचारिक प्रवृत्ति ज़्यादा हो गई है। 'मूकमाटी' में भी भावात्मकता कम है। समूचे काव्य में विचार तत्त्व भरपूर है। फिर भी, भावात्मकता निम्नांकित उद्धरण में देख सकते हैं :

"माटी के पावन चरणों में ···!/फिर/फूट-फूट कर रोती है/उसकी आँखें
संवेदना से भर आती हैं/और/वेदना से घिर आती हैं।" (पृ. ८०-८१)

विचार तत्त्व देखिए :

"कुम्भ ने कहा विस्मय के स्वर में– /क्या अग्नि-परीक्षा के बाद भी
कोई परीक्षा-परख शेष है, अभी ?/करो, करो परीक्षा !/पर को परख रहे हो
अपने को तो परखो···जरा !/परीक्षा लो अपनी अब !" (पृ. ३०३)

आचार्य विद्यासागरजी ने काव्य-रचना के दौरान अपनी मेधा में उपजी अनेक महान् उक्तियों का नियोजन भी 'मूकमाटी' में किया है :

- *"काँटे से ही काँटा निकाला जाता है।" (पृ. २५६)*
- *"आचरण के सामने आते ही/प्रायः चरण थम जाते हैं/और*
  आवरण के सामने आते ही/प्रायः नयन नम जाते हैं।" (पृ. ४६२)
- *"धन का मितव्यय करो, अतिव्यय नहीं।" (पृ. ४१४)*
- *"माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा।" (पृ. ३९९)*
- *"सकल-कलाओं का प्रयोजन बना है/केवल*
  अर्थ का आकलन-संकलन।" (पृ.३९६)

'मूकमाटी' की पात्र परिकल्पना आधुनिक है। निम्नवर्गीय पात्रों को लेकर उनके माध्यम से धर्म, दर्शन और अध्यात्म की जिज्ञासाओं के समाधान प्रस्तुत किए हैं। 'मूकमाटी' में माटी, कुम्भकार दो पात्र निम्न वर्ग के हैं। ये पात्र अपने कर्मों के द्वारा उत्तम वर्ग में प्रवेश करते हैं। यह आधुनिक काल की विशेषता है कि उत्तमवर्गीय पात्र भी अपने दीन कर्म के कारण निम्न वर्ग में और निम्नवर्गीय पात्र अपने श्रेष्ठ कर्म के कारण उत्तम वर्ग में आ जाते हैं। उदाहरण के लिए माटी स्वर्ण कलश की निन्दा करते हुए कहती है :

"तुम स्वर्ण हो/उबलते हो झट से,/माटी स्वर्ण नहीं है/पर
स्वर्ण को उगलती अवश्य,/तुम माटी के उगाल हो !" (पृ. ३६४-३६५)

अभिव्यंजना शिल्प के अन्तर्गत 'मूकमाटी' में प्रतीक विधान, बिम्ब-योजना, अलंकार-विधान, भाषिक एवं छन्द-विधान का प्रयोग हुआ है। धर्म, दर्शन को इस अत्याधुनिक महाकाव्य में उपर्युक्त अंगों को अपने ढंग से अपनाया गया है। पौराणिक प्रतीकों के साथ-साथ सामाजिक विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

स्वर्ण को पूँजीवाद का प्रतीक बताते हुए और मूक माटी– धरती को सर्वहारा शोषित वर्ग के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !" (पृ. ३६६)

'कान्तिहीन बादल' निराशा के प्रतीक हैं। 'मशाल' को अपव्ययी असंयमी का प्रतीक बताते हुए दीपक को मितव्ययी, संयमशील बताते हैं :

"मशाल अपव्ययी भी है,/बार-बार तेल डालना पड़ता है/..आदर्श गृहस्थ-सम
मितव्ययी है दीपक। /कितना नियमित, कितना निरीह !" (पृ. ३६८-३६९)

काव्य में बिम्बों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिम्बात्मक शैली के कारण 'मूकमाटी' का अभिव्यंजना पक्ष

सशक्त बन पड़ा है। उपलब्ध बिम्बों की चर्चा निम्नांकित है :

१. *स्थितिशील (स्थिर बिम्ब) :* ये बिम्ब मात्र चित्रबोध कराते हैं। मुक्ताराशि को छूते ही राज-मण्डली की स्थिति स्थिर बिम्ब उभारती है :

"यह सब देख कर/भयभीत हुआ राजा का मन भी,
उस का मुख खुला नहीं/मुख पर ताला पड़ गया हो कहीं।" (पृ. २१३)

२. *गतिशील बिम्ब :* ये क्रिया-व्यापार से सम्बन्धित होते हैं। यह काव्य में गतिशीलता एवं क्रियाशीलता को परिलक्षित करते हैं। हाथियों का झुण्ड परिवार को बचाने के लिए उद्यत होते ही उन हाथियों का गर्जन गतिशील बिम्ब को उभारता है :

"गजगण की गर्जना से/गगनांगन गूँज उठा,/धरती की धृति हिल उठी,
पर्वत-श्रेणी परिसर को भी/परिश्रम का अनुभव हुआ,/निःसंग उड़नेवाले पंछी
दिग्भ्रमित भयातुर हो,/दूसरों के घोंसलों में जा घुसे।" (पृ. ४२९)

३. *भाव बिम्ब :* इसमें जीवन की सूक्ष्म भावनाओं को बिम्बों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। काव्य के प्रथम अध्याय में सरिता तट का प्राकृतिक दृश्य भाव बिम्ब को उभारता है :

"और देखो ना !/तृण-बिन्दुओं के मिष/उल्लासवती सरिता-सी
धरती के कोमल केन्द्र में/करुणा की उमड़न है,
और उसके/अंग-अंग/एक अपूर्व पुलकन ले/डूब रहे हैं
स्वाभाविक नर्तन में !" (पृ. २०)

४. *घ्राण बिम्ब :* इनका प्रयोग अपेक्षाकृत कम मिलता है। अवा में धूम लगा हुआ है। इस धूम में कुम्भ का दम घुट रहा है। यह घ्राण बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत है :

"बाहर से भीतर घुसने वाला धूम/प्राणों को बाहर निकलने नहीं देता,
नाक की नाड़ी नहीं-सी रही कुम्भ की/धूम्र की तेज गन्ध से।" (पृ. २७९)

५. *वर्ण बिम्ब :* वर्ण संवेद्यता का बिम्ब 'मूकमाटी' में उभर आया है। सेठ पीताम्बर धारण किए हुए है। यह वर्ण बिम्ब देखिए :

"मन्द-मन्द बहते पवन के प्रभाव से/पीताम्बर लहरदार हो रहा है,
जिन लहरों में/कुम्भ की नीलम-छवि तैरती-सी/सो···पीताम्बर की पीलिमा
अच्छी-लगती नीलिमा को/पीने हेतु उतावली करती है।" (पृ. ३४०)

अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाते हैं। यह परम्परा प्राचीन है। आज अप्रस्तुत के नए प्रयोग मिलते हैं। 'मूकमाटी' में पारम्परिक अलंकारों के साथ पाश्चात्य अलंकार भी आए हुए हैं। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

१. *अनुप्रास अलंकार :*

"सदा सरकती सरिताओं की/सरवर सरसिज सुषमा की।" (पृ. २२३)

"आलसी नहीं, निरालसी लसी।" (पृ. २७८)—(अन्त्यानुप्रास)

२. *उपमा अलंकार* :

मूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त अप्रस्तुत :

"नीरज की बन्द पाँखुरियों-सी/शिल्पी की पलकों को सहलाता है।"(पृ. २६५)

अमूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त अप्रस्तुत :

"लक्ष्मण की भाँति उबल उठा/आतंक फिर से !" (पृ. ४६७)

३.१ *उत्प्रेक्षा* : *"आज का यह दृश्य/ऐसा प्रतीत हो रहा है, कि/ग्रह-नक्षत्र-ताराओं समेत रवि और शशि/मेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा दे रहे हैं।" (पृ. ३२३)*

३.२ *हेतूत्प्रेक्षा* : यह प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त है :

"यद्यपि इनका नाम पयोधर भी है,/तथापि/विष ही वर्षति हैं वर्षाऋतु में ये अन्यथा,/भ्रमर-सम काले क्यों हैं ?" (पृ. २३०)

४. *रूपक अलंकार* : प्रस्तुत-अप्रस्तुत की अभेदता कुछ नई है :

"आकाश के स्वच्छ सागर में/स्वच्छन्द तैरने वाले।" (पृ. ४६५)

५. *अर्थान्तरन्यास* : इसका सहज एवं अद्‌भुत प्रयोग देखिए :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

६. *मानवीकरण* : पाश्चात्य अलंकारों में मानवीकरण का प्रयोग समूचे काव्य में छाया हुआ है। माटी, झारी, बादल, रस्सी, सागर आदि पात्रों का चित्रण मानवीकरण के माध्यम से हुआ है। उदाहरण देखिए :

"बाल-भानु की भास्वर आभा/निरन्तर उठती चंचल लहरों में
उलझती हुई-सी लगती है/कि/गुलाबी साड़ी पहने/मदवती अबला-सी
स्नान करती-करती/लज्जावश सकुचा रही है।" (पृ. ४७९)

७. *ध्वन्यार्थ* : व्यंजना में ध्वनियों के द्वारा अर्थ की व्यंजना होती है :

"खदबद खदबद/खिचड़ी का पकना वह/अविकल चलता ही रहा।" (पृ. ३६२)

इस प्रकार 'मूकमाटी' में सभी प्रकार के अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

भाषा अभिव्यक्ति का अप्रतिम साधन है। यह विषय को संवेद्य बनाती है। 'मूकमाटी' में भी सशक्त भाषिक विधान को अपनाया गया है। इसमें तत्सम शब्दों की बहुलता है। फिर भी, तद्‌भव एवं विदेशी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। विशिष्ट शाब्दिक अभिव्यंजना इस काव्य की विशेषता है। कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं :

१. तत्सम : चन्द्र, रात्रि, मार्दव, आस्रव, लज्जा, अस्मिता, दुग्ध, ऊर्ध्व आदि।

२. तद्‌भव : धूम, रात, सूरज, लाज, आँख, हाथ आदि।

३. विदेशी : (अरबी, फारसी व अँग्रेजी)—ताजा, गम, दुआ, बेशक, माहौल, जवाब, शुरूआत, असरदार,

जीत, आवाज़, स्टार-वार, निब (NIB) आदि ।

भाषा की विशिष्ट शाब्दिक व्यंजना 'मूकमाटी' में मिलती है। नारी, दुहिता, अबला, साहित्य, कृपाण, नियति आदि शब्दों की विशिष्ट परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। उदाहरण के लिए 'नियति' शब्द देखिए :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन–स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है।" (पृ. ३४९)

मुहावरे काव्य की सम्प्रेषणीयता को और अधिक सशक्त बनाते हैं। 'मूकमाटी' में मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है :

'कड़वी घूँट पीना' (पृ. ५१), 'नव-दो-ग्यारह होना' (पृ. ३९७), 'टेढ़ी खीर' (पृ. २२४), 'आँखें लगना' (पृ. ३६०), 'आग-बबूला होना' (पृ. ३६४), 'होंठ चबाना' (पृ. ४२७), 'तिलमिलाना' (पृ. ३७९)।

'मूकमाटी' में मुक्त छन्दों का प्रयोग ही हुआ है। दोहा (पृ. ५०-५१ एवं ३२५), वसंततिलका (पृ. १८५) के एक-दो प्रसंगों के अतिरिक्त पारम्परिक छन्दों का प्रयोग विद्यासागरजी ने नहीं किया है। छन्द के सम्बन्ध में वे स्वयं काव्य में एक स्थान पर कहते हैं :

"दाह की स्वच्छन्दता छिन्न-भिन्न हुई/इस सफल प्रयोग से।
कवि के स्वच्छ-भावों की स्वच्छन्दता-ज्यों/तरह-तरह के छन्दों को देखकर
अपने में ही सिमट-सिमट कर/मिट जाती है, आप!" (पृ. ४०८)

तथापि कुछ स्थानों पर उन्होंने सममात्रिक, अर्धसम मात्रिक एवं विषम मात्रिक छन्दों का भी प्रयोग किया है। निम्नांकित छन्द में १६-१६ मात्राएँ प्रत्येक चरण में देख सकते हैं :

"वही छल-छल वही उछाल है/क्रूर काल का वही भाल है
वही नशा है वही दशा है/काँप रही अब दिशा-दिशा है।" (पृ. ४५६)

उपसंहार के रूप में हम यही कह सकते हैं कि अधिकांश प्रबन्ध काव्यों की कथावस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक है। परन्तु, 'मूकमाटी' इस दृष्टि से परम्परा का पालन नहीं करती है। इसमें धर्म, दर्शन और अध्यात्म विषय को वस्तु के रूप में ग्रहण कर उसे महाकाव्य का रूप दिया गया है। पर प्रबन्ध सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं का निराकरण इसमें देख सकते हैं। प्रत्येक खण्ड के लिए नाम दिए गए हैं। काव्य का आरम्भ मंगलाचरण से नहीं हुआ है। विभिन्न छन्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। काव्य का नायक महापुरुष या राजा या उत्तम क्षत्रिय नहीं, बल्कि निम्नवर्गीय माटी है। सब अंशों में यह काव्य एक अभिनव महाकृति है।

काव्य-रचना के पीछे जिन समसामयिक समस्याओं को सुलझाने का उद्देश्य रहता है, वह 'मूकमाटी' में है। इसमें मानव की विभिन्न समस्याएँ–युद्ध, राजनीति, कला का वास्तविक प्रयोजन, इन सबसे बढ़ कर मानव को सच्चे आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचाना–इस काव्य का उद्देश्य रहा है। जैन धर्म, दर्शन की मीमांसा भी इसमें की गई है। श्रमण के लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं। सकल परमात्मा को भगवान् के रूप में स्वीकारना जैन दर्शन का मूल है। कुम्भ में सन्त श्रमण के दर्शन होना इसका परिचायक है : *"कुम्भ के विमल-दर्पण में/सन्त का अवतार हुआ है" (पृ. ३५४)*। यह दर्शन, यह धार्मिक तत्त्व सहज ही काव्य के प्रसंग और परिवेश से उद्घाटित हुए हैं। अन्त में कह सकते हैं कि 'मूकमाटी' एक सार्थक सृजनात्मक प्रयास है।

□

आध्यात्मिक चेतना का ऊर्ध्वीकरण : 'मूकमाटी'

डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन

'मूकमाटी' प्राचीन भारतीय, पाश्चात्य एवं आधुनिक महाकाव्य के निर्धारित लक्षणों के साँचे में न समा सकने वाला एक सर्वथा अभिनव प्रयोग है। यह अपनी मूल और अन्तिम चेतना में एक अध्यात्मप्रधान काव्य है। इसके विस्तार, गाम्भीर्य, वैविध्य, दूरान्वय एवं वैचित्र्य को देखकर यह कहना पर्याप्त कठिन हो जाता है कि इसे महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पूकाव्य या फिर किसी अन्य संज्ञा से अभिहित किया जाए। मुझे लगता है कि यह काव्य अपने आप में एक 'क्लासिक' है और किसी प्रचलित नाम का मुहताज नहीं है।

'मूकमाटी' अविकसित आत्मा के अनथक संघर्ष द्वारा विशुद्ध होकर परमात्मत्व की चिर प्राचीन और चिर नवीन गाथा है। यह काव्य चार खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड सिद्धान्त स्थापना अर्थात् विश्वास मूलक सम्यग्दर्शन का है। यह दूसरे खण्ड के लगभग पूर्वार्ध तक चलता है। द्वितीय खण्ड का उत्तरार्ध एवं तृतीत खण्ड सम्यग्ज्ञान अर्थात् बोधकोटि की स्थापना और विस्तार का है। चतुर्थ खण्ड सम्यक् चारित्र अर्थात् तपस्या, संघर्ष एवं सम्पूर्ण साधना का है। यही मोक्ष मार्ग है। मूकमाटी (आत्मा) एक सांगरूपक के रूप में प्रस्तुत है। आत्मा के उद्धार में कुम्भकार (गुरु) को एक महत्त्वपूर्ण निमित्त कारण माना गया है। वस्तुतः उसे स्वयं ही सब कुछ करना है।

यह काव्य वस्तु के आधार पर उखड़ा-उखड़ा-सा लगता है, लोक चेतना की सजीव अन्विति का व्यापक संस्पर्श भी नहीं करता। काँटा, गदहा और मच्छर जैसे पात्रों और प्रसंगों से पाठक का तादात्म्य भी सम्भव नहीं हो पाता, अपितु एक ऊब एवं बेचैनी उठती है। इसी प्रकार अनेक शब्दों के अविश्वसनीय, अप्रामाणिक एवं चमत्कारी और अटकल भरे तोड़-मरोड़ से भी काव्य प्रायः चित्र-काव्य की कोटि में चला जाता है। कवि के अनेक प्रसंग सहजता की उपज न होकर एक ऊहा की सन्तान प्रतीत होते हैं। निर्मापक समीक्षक (Constructive Critic) को भी अनेक उखड़े और असम्बद्ध प्रसंगों को प्रायः ज़बरदस्ती तारतम्य के साथ जोड़कर अर्थान्विति या भावान्विति बैठानी पड़ती है। इस सारे कथन के लिए उदाहरण चुनने की, छाँटने की आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि ये अनायास सर्वत्र प्राप्त होते हैं।

इतनी स्पष्ट एवं खटकने वाली परिसीमाओं के बावजूद इस काव्य में रस, लोक-चेतना का उन्नयन, किसी जाति का, व्यक्ति का लोकोत्तर यशोवैभव अथवा संघर्ष जैसा कुछ है क्या ?

उत्तर में मैं इतना ही कहूँगा कि जहाँ संसार के समस्त संघर्ष समाप्त हो जाते हैं, वहाँ यह काव्य उगता है– विकसित होता है और फलित होता है। इसकी फलश्रुति यही है कि यह काव्य मानव की आध्यात्मिक चेतना के ऊर्ध्वीकरण में विचरण करता है। इस विराट् चेतना-लक्ष्य के कारण इस काव्य की अनेक नगण्य सीमाएँ पर्याप्त हलकी एवं मूल्यहीन लगती हैं। एक आध्यात्मिक सन्त से सांसारिक उतार-चढ़ाव के सर्कस की आशा करना भी उचित नहीं है।

मानव-स्वभाव अभ्यस्त या फिर तदनुरूप के क्रियाकलापों एवं भाव-भंगिमाओं का आदी होता है और उसी में उसका मनोरंजन भी होता है। अतः यह काव्य पहली पकड़ में एक झटके का (shock treatment) का काम करता है, पर धीरे-धीरे धैर्य होने पर, अपना पुरजोर असर करता है।

मेरा निवेदन है कि तट पर मोती नहीं मिलेंगे, गहरे पानी पैठना होगा।

□

'मूकमाटी' की मुखरता

डॉ. (श्रीमती) आशालता मलैया

'मूकमाटी' एक ऐसे शब्द शिल्पी की लेखनी से मुखरित हुई है, जिसका काव्य, तपस्यामय है तथा तपस्या, काव्यमय। प्रश्न उठता है—तपस्या और काव्य में क्या सम्बन्ध है ? जब तपस्या ही काव्य बन जाती है और काव्य ही तपस्या, तब तपस्या भी काव्यात्मक हो उठती है और काव्य भी तपस्यात्मक। इस 'तपस्यात्मक-काव्य' अथवा 'काव्यात्मक-तपस्या' से जो कुछ प्रस्फुटित होता है, वह अद्‌भुत रूप से रमणीयमय भी होता है और तेजस्वी भी।

'मूकमाटी' के रचयिता आचार्य विद्यासागर के रूप में हमें एक ऐसे कवि के दर्शन होते हैं जिसका सम्पूर्ण जीवन ही काव्यमय हो गया है। एक ऐसा योगी, जिसके लिए काव्य भी योग की साधना का एक अंग बन जाता है। एक ऐसा दार्शनिक, जो तर्क की रूक्षता में विचरण करते हुए भी सरसता की प्रतिमूर्ति है। एक ऐसा सन्त, जिसका अपना कुछ भी नहीं, लेकिन वह सभी का है।

"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः"— उपनिषदों की यह उक्ति आचार्यश्री पर पूर्णतः चरितार्थ होती है। आत्मक्रीड़ योगी की आत्मरति से निष्पन्न 'कविता' मानवीय चेतना को ब्रह्मानन्द के अक्षय आयामों से परिचित कराने में नितान्त समर्थ होती है, क्योंकि उस ब्रह्मानन्द का दर्शन इन चर्म-चक्षुओं से तो सम्भव है नहीं :

"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न, चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एवमेव विदूरममृतास्ते भवन्ति॥"

जो योगी, उस रूपरहित सौन्दर्य के चरम अधिष्ठान परम तत्त्व को जान लेता है, वह स्वयं 'अमृतमय' हो जाता है और उस अमृतस्वरूप ब्रह्मवेत्ता के मुखारविन्द से जो 'काव्यधारा' प्रवाहित होती है, वह भी 'अमृता' हो जाती है।

'मूकमाटी' महाकाव्य तपस्वी कवि आचार्य श्री विद्यासागरजी की शान्त रस से अनुप्राणित अद्‌भुत कृति है। जब तपःपूत लेखनी से काव्य प्रसूत होता है तो वह साधना की आराधना का परिपाक होता है। वास्तविक 'काव्य-साधना' तो उस कवि की ही हो सकती है, जिसका तन, मन एवं वचन—सब कुछ अन्तः एवं बाह्य तप से परिपूत हो उठा हो।

'मूकमाटी' ४८८ पृष्ठों में निबद्ध एक ऐसा महाकाव्य है जिसका प्रत्येक शब्द अ-शब्द की स्थिति का अनुभव कराने वाला है। शब्द से अ-शब्द का बोध ही सत्काव्य का लक्षण है और 'मूकमाटी' अपने इस लक्ष्य में पूर्णतः सफल है।

चार खण्डों में विभाजित इस महाकाव्य की नायिका 'माटी' है। इसमें आचार्यश्री ने नारी के 'कामिनी' अथवा 'रमणी' रूप का चित्रण नहीं किया है अपितु माटी को 'जननी' और 'धरणी' के रूप में चित्रित किया है। इसमें नारी के उपासनामय व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हुई है।

यह नायिका प्रधान महाकाव्य है। इसका नायक कौन है— शिल्पी, सेठ अथवा निर्ग्रन्थ मुनि ? यह स्पष्ट नहीं हो पाता। धरा के मातृत्व रूप की प्रतिष्ठा तथा मूकमाटी का साधना की अग्नि में तपकर कुम्भ में परिवर्तित हो जाना, एक अद्‌भुत कथ्य को जन्म देता है—जिसमें नायिका शनैः-शनैः नायक का रूप धारण कर लेती है।

शान्त रस के महासागर में अवगाहन कराने वाला यह महाकाव्य कई दृष्टियों से विशिष्ट है— (१) शृंगार अथवा वीर रस इसका अंगीरस नहीं है, जबकि महाकाव्य प्रायः शृंगार अथवा वीर रस प्रधान होते हैं। (२) नारी के

सौन्दर्य वर्णन में नारी के नख-शिख वर्णन का अभाव है तथा धरा के आन्तरिक सौन्दर्य का अद्‌भुत वर्णन है। यह भी महाकाव्यों की परम्परा से कुछ पृथक् है। (३) यह महाकाव्य नायिका प्रधान है जबकि प्रायः महाकाव्य नायक प्रधान होते हैं। (४) इस महाकाव्य की नायिका राजपुत्री या महारानी नहीं है वरन् जन-साधारण की प्रतीक मूकमाटी है। अतः यह महाकाव्य दलित, शोषित एवं मूक वर्ग की वेदना को मुखरित करने वाला प्रतिनिधि काव्य है। मूकमाटी के रूप में जन-साधारण की वेदना मुखरित हुई है—इससे यह काव्य महनीय हो उठा है।

सदुक्तियों का तो महासागर है यह महाकाव्य। कवि ने मुक्त छन्द में अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त अलंकार का बहुलता से प्रयोग किया है। उक्तियों की गम्भीरता ''भारवेरर्थगौरवम्'' का स्मरण दिलाती है। प्रत्येक खण्ड की कुछ कमनीय उक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं :

इस काव्य के प्रथम खण्ड -'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में माटी की विशुद्ध रूप में परिणति वर्णित है। इस खण्ड में अति और इति के भेद को कमनीयता से प्रस्तुत किया गया है :

> *''अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं/और/इति के बिना*
> *अथ का दर्शन असम्भव !/अर्थ यह हुआ कि/पीड़ा की अति ही*
> *पीड़ा की इति है/और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।'' (पृ. ३३)*

भावों की निकटता ही प्राणियों में नैकट्य स्थापित करती है। क्षेत्रीय अथवा तन की दूरी रहने पर भी भावों का अथवा मन का सामीप्य प्राणियों में निकटता स्थापित करता है। गधे की पीर को माटी के द्वारा अनुभव करवाते हुए कवि कहता है :

> *''गदहे की पीठ पर/खुरदरी बोरी की रगड़ से/पीठ छिल रही है उसकी*
> *और/माटी के भीतर जा/और भीतर उतरती-सी/पीर मिल रही है।*
> *...केवल क्षेत्रीय ही नहीं/भावों की निकटता भी/अत्यन्त अनिवार्य है*
> *इस प्रतीति के लिए।/यहाँ पर/अचेत नहीं/चेतना की सचेत—/रीत मिल रही है!*
> *भावों की निकटता/तन की दूरी को/पूरी मिटाती-सी।'' (पृ. ३४-३५)*

दया की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए तपस्वी कवि ने वासना और दया के भेद को अत्यन्त रमणीयता से स्पष्ट किया है :

- *''दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।'' (पृ. ३७)*
- *''वासना का विलास.../...मोह है,/दया का विकास.../मोक्ष है—*
  एक जीवन को बुरी तरह/जलाती है···/भयंकर है, अंगार है !
  एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है···/शुभंकर है, शृंगार है।
  हाँ ! हाँ !!/अधूरी दया-करुणा/मोह का अंश नहीं है/अपितु
  आंशिक मोह का ध्वंस है।'' (पृ. ३८-३९)
- *''वासना की जीवन-परिधि/अचेतन है···तन है/दया-करुणा निरवधि है*
  करुणा का केन्द्र वह/संवेदन धर्मा···चेतन है/पीयूष का केतन है।'' (पृ. ३९)

सन्त कवि ने स्वभाव और विभाव के पार्थक्य को दृष्टान्त अलंकार के माध्यम से अत्यन्त मनोहारी ढंग से समझाया है :

"जल जीवन देता है/हिम जीवन लेता है,/स्वभाव और विभाव में
यही अन्तर है,/भले ही/हिम की बाहरी त्वचा/शीतशीला हो
परन्तु, भीतर से/हिम में शीतलता नहीं रही अब !
उसमें ज्वलनशीलता/उदित हुई है अवश्य।" (पृ. ५४)

रस्सी और रसना के वार्तालाप के माध्यम से कवि ने ग्रन्थि और निर्ग्रन्थ दशा का अत्यन्त सरल शब्दों में साक्षात्कार कराया है :

"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही
हिंसा छलती है।/अर्थ यह हुआ कि/ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और
निर्ग्रन्थ-दशा में ही/अहिंसा पलती है,/पल-पल पनपती,
'''बल पाती है।" (पृ. ६४)

युगबोध बाह्य घटना नहीं है अपितु आन्तरिक संघटना है। इसका चित्रण कवि ने अति ही सुन्दरता से किया है :

- *"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह*
  सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !
  और/असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
  सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ. ८३)

- *"एक का जीवन/मृतक-सा लगता है/कान्तिमुक्त शव है,*
  एक का जीवन/अमृत-सा लगता है/कान्ति-युक्त शिव है।
  शव में आग लगाना होगा,/और/शिव में राग जगाना होगा।" (पृ. ८४)

इस महाकव्य के द्वितीय खण्ड–'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में कवि ने स्वभाव का वर्णन करते हुए कितनी सरलता से पुरुष और प्रकृति के सामंजस्य को उद्घाटित किया है :

"स्वभाव से ही/प्रेम है हमारा/और/स्वभाव में ही/क्षेम है हमारा।
पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और/अन्यत्र रमना ही
भ्रमना है/मोह है, संसार है/...मन के गुलाम मानव की/जो कामवृत्ति है
तामसता काय-रता है/वही सही मायने में/भीतरी कायरता है!"(पृ.९३-९४)

तन और मन के बल की विभेदक रेखा को भी कितनी मोहकता के साथ प्रस्तुत किया है :

"तन का बल वह/कण-सा रहता है/और/मन का बल वह/मन-सा रहता है
यह एक अकाट्य नियम है।/...मन वैर-भाव का निधान होता ही है।
मन की छाँव में ही/मान पनपता है/मन का माथा नमता नहीं
न-'मन' हो, तब कहीं/नमन हो 'समण' को
इसलिए मन यही कहता है सदा–/नम न ! नम न !! नम न !!!" (पृ.९६-९७)

प्रतिशोध का भाव किस प्रकार जन्म-जन्मान्तर को दूषित कर देता है, इसको स्पष्ट करते हुए कवि कहता है :

"बदले का भाव वह अनल है/जो/जलाता है तन को भी, चेतन को भी
भव-भव तक !/बदले का भाव वह राहु है/जिसके
सुदीर्घ विकराल गाल में/छोटा-सा कवल बन
चेतनरूप भास्वत भानु भी/अपने अस्तित्व को खो देता है।" (पृ. ९८)

'बोध और शोध', जो कि द्वितीय खण्ड का मुख्य कथ्य है, कवि के शब्दों में :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं,/...बोध का फूल जब
ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।
बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है,/फूल का रक्षण हो
और/फल का भक्षण हो;/हाँ ! हाँ !!/फूल में भले ही गन्ध हो
पर, रस कहाँ उसमें !/फल तो रस से भरा होता ही है,
साथ-साथ/सुरभि से सुरभित भी···!" (पृ. १०६-१०७)

मन्त्र की शक्ति, मन की शक्ति का ही परिणाम है। अत: मन्त्र का शुभत्व अथवा अशुभत्व मन की स्थिति पर ही निर्भर है :

"मन्त्र न ही अच्छा होता है/ना ही बुरा/अच्छा, बुरा तो
अपना मन होता है/स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है/और
अस्थिर मन ही/पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,/एक सुख का सोपान है
एक दु:ख का सो पान है।" (पृ. १०८-१०९)

आशा और आस्था के भेद को भी आचार्यश्री ने किस सरलता से स्पष्ट किया है :

"आँखों की पकड़ में आशा आ सकती है/परन्तु
आस्था का दर्शन आस्था से ही सम्भव है/न आँखों से, न आशा से।" (पृ. १२१)

विकृत और अविकृत ज्ञान के अन्तर का विश्लेषण कितनी सूक्ष्मता से किया है :

"ज्ञान का पदार्थ की ओर/ढुलक जाना ही/परम आर्त पीड़ा है,/और
ज्ञान में पदार्थों का/झलक आना ही—/परमार्थ क्रीड़ा है।" (पृ. १२४)

मुक्ति का पथिक, जो रूप की प्यास से परे है, शृंगार की उपासना कैसे कर सकता है :

- *"जिसे रूप की प्यास नहीं है,/अरूप की आस लगी हो*
  उसे क्या प्रयोजन जड़ शृंगारों से !" (पृ. १३९)

- *"सही अलंकार, सही शृंगार—/भीतर झाँको, आँको उसे हे शृंगार !"(पृ. १४१)*

स्वर और संगीत के विषय में भी कितना ! मर्मस्पर्शी !! चिन्तन प्रस्तुत किया है :

- *"स्वर संगीत का प्राण है/संगीत सुख की रीढ़ है/और*
  सुख पाना ही सब का ध्येय/इस विषय में सन्देह को गेह कहाँ ?
  निःसन्देह कह सकते हैं—/विदेह बनना हो···तो
  स्वर की देह को स्वीकारता देनी होगी/दे देहिन् ! हे शिल्पिन् !" (पृ. १४३)

- *"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और/प्रीति उसे मानता हूँ*
  जो अंगातीत होती है/मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत··!"(पृ.१४४-१४५)

प्रकृति माँ का सन्देश-"जीवन को मत रण बनाओ" यह कहते-कहते कवि गा उठता है :

"सदय बनो!/अदय पर दया करो/अभय बनो !
सभय पर किया करो अभय की/अमृत-मय वृष्टि
सदा-सदा सदाशय दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो !
जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ !" (पृ. १४९)

इसके साथ ही यह सन्देश कि अन्य प्राणियों का भी उचित मूल्यांकन होना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा जीवन-दृष्टि अपूर्ण रह जाएगी :

"अपना ही न अंकन हो/पर का भी मूल्यांकन हो,/पर, इस बात पर भी ध्यान रहे
पर की कभी न वांछन हो/पर पर कभी न लांछन हो !
जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का न मन दुखाओ !" (पृ. १४९)

सत् के अस्तित्व को कितने !! सरल शब्दों में समझाने का प्रयत्न किया गया है :

"होने का मिटना सम्भव नहीं है, बेटा !/होना ही संघर्ष-समर का गीत है
होना ही हर्ष का अमर गीत है।" (पृ. १५०)

करुण और शान्त रस के पार्थक्य को कितनी हृदयावर्जक शैली में प्रस्तुत किया गया है :

- *"करुणा तरल है, बहती है/पर से प्रभावित होती झट-सी।*
  शान्त-रस किसी बहाव में/बहता नहीं कभी/जमाना पलटने पर भी
  जमा रहता है अपने स्थान पर ।" (पृ. १५६)

- *"करुणा-रस उसे माना है, जो/कठिनतम पाषाण को भी/मोम बना देता है,*
  वात्सल्य का बाना है/जघनतम नादान को भी/सोम बना देता है।
  किन्तु, यह लौकिक/चमत्कार की बात हुई,/शान्त-रस का क्या कहें,
  संयम-रत धीमान को ही/'ओम्' बना देता है।/जहाँ तक शान्त रस की बात है

वह आत्मसात् करने की ही है/कम शब्दों में/निषेध-मुख से कहूँ
सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है।/यूँ गुनगुनाता रहता
सन्तों का भी अन्तःप्रान्त वह।/···धन्य!" (पृ. १५९-१६०)

परिधि और केन्द्र का दृष्टान्त देते हुए अन्तः एवं बाह्य दृष्टि का कितना मनोहारी विश्लेषण किया है :

"परिधि की ओर देखने से/चेतन का पतन होता है/और
परम-केन्द्र की ओर देखने से/चेतन का जतन होता है।
परिधि में भ्रमण होता है/जीवन यूँ ही गुज़र जाता है,
केन्द्र में रमण होता है/जीवन सुखी नज़र आता है।" (पृ. १६२)

मति और रति किस प्रकार क्रमशः विकास और विनाश का कारण बनती है :

"विकास के क्रम तब उठते हैं/जब मति साथ देती है/जो मान से विमुख होती है,
और/विनाश के क्रम तब जुटते हैं/जब रति साथ देती है
जो मान में प्रमुख होती है।/उत्थान-पतन का यही आमुख है।" (पृ. १६४)

सज्जनता और दुर्जनता के लक्षणों को अभिव्यक्त करते हुए कवि कह उठता है :

"एक-दूसरे के सुख-दुःख में/परस्पर भाग लेना/सज्जनता की पहचान है,
और/औरों के सुख को देख, जलना/औरों के दुःख को देख, खिलना
दुर्जनता का सही लक्षण है।" (पृ. १६८)

अनेकान्त और स्याद्वाद को निम्न पंक्तियों में कितनी सरलता से समझाया गया है :

" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।...
'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है/'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है।"
(पृ. १७२-१७३)

वासना के विषय में कवि की उक्ति चमत्कारी है :

"वासना का वास वह/न तन में है, न वसन में
वरन्/माया से प्रभावित मन में है।" (पृ. १८०)

सहनशीलता के माहात्म्य को अभिव्यक्ति देती हुई निम्न सूक्ति भी विचारणीय है :

"सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में
सन्तों का पथ यही गाता है।" (पृ. १९०)

तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में आपने तन, मन – अनंग का कैसा सम्बन्ध है, इसे अत्यन्त सरल शब्दों में अभिव्यक्ति दी है :

"तन को अंग कहा है/मन को अंगहीन अन्तरंग/अनंग का योनि-स्थान है वह
सब संगों का उत्पादक/सब रंगों का उत्पातक !/तन का नियन्त्रण सरल है
और/मन का नियन्त्रण असम्भव नो नहीं,/तथापि
वह एक उलझन अवश्य है/कटुक-पान गरल है वह···।" (पृ. १९८)

स्त्री समाज को आचार्यश्री ने उपासनामय दृष्टि से देखा है। अतः 'मूकमाटी' में 'स्त्री' शब्द के पर्यायवाची शब्दों की सूक्ष्म मीमांसा की गई है :

- *"कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।...*
  इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी—/'न अरि' नारी···
  अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···!" (पृ. २०२)
- *"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है*
  'महिला' कहलाती वह।" (पृ. २०२)
- *"...जो/पुरुष-चित्त की वृत्ति को/विगत की दशाओं/और*
  अनागत की आशाओं से/पूरी तरह हटाकर/'अब' यानी
  आगत-वर्तमान में लाती है/'अबला' कहलाती है वह···!" (पृ. २०३)
- *" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं*
  धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
  सो···'स्त्री' कहलाती है।" (पृ. २०५)

कवि के हृदय में मातृशक्ति के प्रति विशिष्ट सम्मान है :

"जानने की शक्ति वह/मातृ-तत्त्व के सिवा/अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती।
...मातृ-तत्त्व की अनुपलब्धि में/ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ठप् !
...इसीलिए इस जीवन में/माता का मान-सम्मान हो,
उसी का जय-गान हो सदा,/धन्य···!" (पृ. २०६)

मर्यादा का उल्लंघन किसी के लिए क्षम्य नहीं है :

"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता
राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही !" (पृ. २१७)

कलिकाल के प्रभाव से विश्व में भौतिकता का प्रचार-प्रसार वृद्धिंगत हो रहा है :

"कलि-काल की वैषयिक छाँव में/प्रायः यही सीखा है इस विश्व ने
वैश्यवृत्ति के परिवेश में—/वेश्यावृत्ति की वैयावृत्य···!" (पृ. २१७)

'उपादेय' की प्राप्ति हेतु मात्र 'उपाय' ही आवश्यक नहीं है वरन् 'अपाय' की अनुपस्थिति भी आवश्यक है :

"उपाय की उपस्थिति ही/पर्याप्त नहीं,/उपादेय की प्राप्ति के लिए

अपाय की अनुपस्थिति भी अनिवार्य है।/और वह
अनायास नहीं, प्रयास-साध्य है।" (पृ. २३०)

महापुरुषों का स्वभाव विचित्र ही होता है। प्रकाश प्रदान करना उनकी स्वाभाविक वृत्ति है :

"महापुरुष प्रकाश में नहीं आते/आना भी नहीं चाहते,/प्रकाश-प्रदान में ही
उन्हें रस आता है।/यह बात निराली है,कि/प्रकाश सब को प्रकाशित करेगा ही
स्व हो या पर, 'प्रकाश्य' भर को···!" (पृ. २४५)

इन्द्रधनुष के माध्यम से कवि ने अपने काव्य प्रयोजन को मनोहारी ढंग से प्रस्तुत किया है :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।
और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है—
कृति रहे, संस्कृति रहे/आगामी असीम काल तक
जागृत···जीवित···अजित!" (पृ. २४५)

विज्ञान और आस्था का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है :

"एक विज्ञान है/जिसकी आजीविका तर्कणा है,
एक आस्था है/जिसे आजीविका की चिन्ता नहीं,
एक अधर में लटका है/उसे आधार नहीं पैर टिकाने,
एक को धरती की शरण मिली है/यही कारण है, ऊपर वाले के पास
केवल दिमाग है, चरण नहीं···!" (पृ. २४९)

'प्रश्न' और 'उत्तर' की मीमांसा भी दर्शनीय है :

"प्रश्न का उत्तर नीचे ही मिलता है/ऊपर कदापि नहीं···
उत्तर में विराम है, शान्ति अनन्त।/प्रश्न सदा आकुल रहता है
उत्तर के अनन्तर प्रश्न ही नहीं उठता,/प्रश्न का जीवन-अन्त—
सिन्धु में बिन्दु विलीन ज्यों···!" (पृ. २५०)

साधना का लक्ष्य क्या है— इसे कवि ने मननीय तथा स्पृहणीय शैली में प्रस्तुत किया है :

"साधक की अन्तर दृष्टि में/निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,
वह यात्रा नाम की है/यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में वर्णित गुण और दोष के विषय में कवि के विचार मननीय हैं:

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है/स्व-पर दोषों को जलाना

परम-धर्म माना है सन्तों ने।/दोष अजीव हैं,/नैमित्तिक हैं,
बाहर से आगत हैं कथंचित्;/गुण जीवगत हैं,/गुण का स्वागत है।" (पृ. २७७)

'रस' के आस्वाद का अधिकारी कौन हो सकता है – इसे कवि ने अत्यन्त सुन्दरता के साथ स्पष्ट किया है :

"रस का स्वाद उसी रसना को आता है/जो जीने की इच्छा से ही नहीं,
मृत्यु की भीति से भी ऊपर उठी है।/रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ व्यक्ति
कभी भी किसी भी वस्तु के/सही स्वाद से परिचित नहीं हो सकता।" (पृ. २८१)

कुम्भ के माध्यम से कवि ने जीवन-लक्ष्य की ओर संकेत किया है :

"भुक्ति की ही नहीं,/मुक्ति की भी/चाह नहीं है इस घट में
वाह-वाह की परवाह नहीं है/प्रशंसा के क्षण में।/दाह के प्रवाह में अवगाह करूँ
परन्तु,/आह की तरंग भी/कभी नहीं उठे/इस घट में···संकट में।
इसके अंग-अंग में/रग-रग में/विश्व का तामस आ भर जाय
कोई चिन्ता नहीं,/किन्तु, विलोम भाव से/यानी
ता···म···स स···म···ता···!" (पृ. २८४)

कुम्भ की मनोकामना सम्माननीय है :

"रूप-सरस से/गन्ध परस से परे/अपनी रचना चाहता है, विभो !
संग-रहित हो/जंग-रहित हो/शुद्ध लौह अब/ध्यान-दाह में बस
पचना चाहता है, प्रभो !" (पृ. २८५)

'ध्यान' की सूक्ष्म मीमांसा सभी के लिए मननीय है :

"ध्यान की बात करना/और/ध्यान से बात करना
इन दोनों में बहुत अन्तर है–/ध्यान के केन्द्र खोलने-मात्र से
ध्यान में केन्द्रित होना सम्भव नहीं।" (पृ. २८६)

'दर्शन' और 'अध्यात्म' पर गहन चिन्तन करते हुए कवि ने दोनों के अन्तर को मनोहरता के साथ प्रस्तुत किया है :

"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।/दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
चल सकता है, चलता ही है/पर, हाँ !
बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।/लहरों के बिना सरवर वह
रह सकता है, रहता ही है/पर हाँ !/बिना सरवर लहर नहीं।
...अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप ही/भास्वत होता है।
...बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही/दर्शन का पान करती है,

अन्तर्मुखी, बन्दमुखी चिदाभा/निरंजन का गान करती है।
दर्शन का आयुध शब्द है-- विचार,/अध्यात्म निरायुध होता है
सर्वथा स्तब्ध-निर्विचार !/एक ज्ञान है, ज्ञेय भी
एक ध्यान है, ध्येय भी।" (पृ. २८९)

सत्ता परिवर्तनशील है :

"यहाँ पर कोई भी/स्थिर-ध्रुव-चिर/न रहा, न रहेगा, न था
बहाव बहना ही ध्रुव/रह रहा है,/सत्ता का यही, बस
रहस रहा, जो/विहँस रहा है।" (पृ. २९०-२९१)

'काया' और 'माया' में रहने मात्र से उसकी अनुभूति नहीं होती वरन् आन्तरिक लगाव ही उसका मुख्य कारण है :

"काया में रहने मात्र से/काया की अनुभूति नहीं,/माया में रहने मात्र से
माया की प्रसूति नहीं,/उनके प्रति/लगाव-चाव भी अनिवार्य है।" (पृ. २९८)

श्रीफल के मुख से मृदुता और काठिन्य का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है :

"मृदु और काठिन्य में साम्य है, यहाँ।/और/यह हृदय हमारा/कितना कोमल है,
इतना कोमल है क्या/तुम्हारा यह उपरिल तन ?/बस/हमारे भीतर जरा झाँको,
मृदुता और काठिन्य की सही पहचान/तन को नहीं,
हृदय को छूकर होती है।" (पृ. ३११)

परमपूज्य मुनिश्री के पद-नख में कुम्भ के प्रतिबिम्ब का कितना ! सुन्दर !! वर्णन है :

"कन्दर्प-दर्प से दूर/गुरु-पद-नख-दर्पण में/कुम्भ ने अपना दर्शन किया
और/धन्य ! धन्य ! कह उठा।" (पृ. ३२४-३२५)

स्पर्धा की मीमांसा भी विचारणीय है :

"स्पर्धा प्रकाश में लाती है/कहीं···सुदूर···जा···भीतर बैठी
अहंकार की सूक्ष्म सत्ता को।" (पृ. ३३९)

'यति' और 'नियति' की परिभाषा भी स्पृहणीय है :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन - स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है।" (पृ. ३४९)

सन्त समागम का परिणाम अचिन्त्य है :

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है/संसार का अन्त दिखने लगता है,
समागम करनेवाला भले ही/तुरन्त सन्त-संयत/बने या न बने

इसमें कोई नियम नहीं है,/किन्तु वह/सन्तोषी अवश्य बनता है।
सही दिशा का प्रसाद ही/सही दशा का प्रासाद है।" (पृ. ३५२)

स्वर्ण की व्यर्थता पर कवि ने रमणीय चिन्तन प्रस्तुत किया है :

"तुम स्वर्ण हो/उबलते हो झट से,/माटी स्वर्ण नहीं है/पर
स्वर्ण को उगलती अवश्य,/तुम माटी के उगाल हो !/आज तक
न सुना, न देखा/और न ही पढ़ा, कि/स्वर्ण में बोया गया बीज
अंकुरित होकर/फूला फला, लहलहाया हो/पौधा बनकर।
हे स्वर्ण-कलश !/...माटी स्वयं भीगती है दया से/और
औरों को भी भिगोती है।/माटी में बोया गया बीज
समुचित अनिल-सलिल पा/पोषक तत्त्वों से पुष्ट-पूरित
सहस्र गुणित हो फलता है।" (पृ. ३६४-३६५)

ध्येय की चंचलता ध्यान में बाधक बनती है :

"कोई साधक साधना के समय/मशाल को देखते-देखते
ध्यान-धारणा साध नहीं सकता/इसमें मशाल की अस्थिरता ही कारण है,
'ध्येय यदि चंचल होगा, तो/कुशल ध्याता का शान्त मन भी
चंचल हो उठेगा ही'।" (पृ. ३६९)

वहीं ध्यान में दीपक की लौ साधक होती है :

"...दीपक की लाल लौ/अग्नि-सी लगती, पर अग्नि नहीं,
स्व-पर-प्रकाशिनी ज्योति है वह/जो स्पन्दनहीना होती है
जिसे अनिमेष देखने से/साधक का उपयोग वह/नियोग रूप से,
स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर/बढ़ता-बढ़ता, शनैः शनैः/व्यग्रता से रहित हो
एकाग्र होता है कुछ ही पलों में।/फिर, फिर क्या ?
समग्रता से साक्षात्कार !" (पृ. ३७०)

यथार्थ ज्ञान का लक्षण (कुम्भ के माध्यम से) अति सहजता से प्रस्तुत किया गया है :

"कुम्भ का सुनाना प्रारम्भ हुआ :/'स्व' को स्व के रूप में
'पर' को पर के रूप में/जानना ही सही ज्ञान है,/और
'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ. ३७५)

अज्ञानी ही पर-पदार्थों में रमण का इच्छुक रहता है :

"विषयों का रसिक/भोगों-उपभोगों का दास,/इन्द्रियों का चाकर
और···और क्या?/तन और मन का गुलाम ही

पर-पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है।" (पृ. ३७५)

'तन', 'मन' और 'चेतन' की प्रक्रिया का वर्णन अत्यन्त हृदयावर्जक शैली में किया गया है :

"तन की भी चिन्ता होनी चाहिए,/तन के अनुरूप चेतन अनिवार्य है,
मन के अनुरूप विश्राम भी।/मात्र दमन की प्रक्रिया से/कोई भी क्रिया
फलवती नहीं होती है,/केवल चेतन-चेतन की रटन से,
चिन्तन-मनन से/कुछ नहीं मिलता!" (पृ. ३९१)

प्रकृति के अनुरूप चलना ही साधना है :

"प्रकृति से विपरीत चलना/साधना की रीत नहीं है।
बिना प्रीति, विरति का पलना/साधना की जीत नहीं।" (पृ. ३९१)

पुरुष की साधना में प्रकृति किस प्रकार सहयोगिनी होती है, सांख्य दर्शन के इस सिद्धान्त को कितनी सरलता से प्रस्तुत किया गया है :

"लीला-प्रेमी द्रष्टा-पुरुष/अपनी आँखों को जब/पूरी तरह विस्फारित कर
दृश्य का चाव से दर्शन करता है,/तब, क्या ?···/प्रमत्त-विरता प्रकृति सो···
पलकों के बहाने/आँखों की बाधाओं को दूर करती/पल-पल सहलाती-सी···!
पुरुष योगी होने पर भी/प्रकृति होती सहयोगिनी उसकी,
साधना की शिक्षा तक/साथ देती रहती वह,/श्रमी आश्रयार्थी को
आश्रय देती ही रहती/सदोदिता स्वाश्रिता होकर।" (पृ. ३९२)

प्रकृति की महिमा का वर्णन स्पृहणीय है :

"यही तो प्रकृति का/पावन-पन है पारद-पन/जो युगों-युगों से
परवश हुए बिना,/स्व-वश हो/पावस बन बरसती है,/और पुरुष को
विकृत-वेष आवेश से छुड़ा कर/स्ववश होने को विवश करती,
पथ प्रशस्त करती है।" (पृ. ३९४)

सज्जनों और दुर्जनों के मुख से प्रसूत वाणी का भेद विचारणीय है :

"सत्पुरुषों से मिलने वाला/वचन-व्यापार का प्रयोजन/परहित-सम्पादन है
और/पापी-पातकों से मिलने वाला/वचन-व्यापार का प्रयोजन
परहित-पलायन, पीड़ा है।" (पृ. ४०२)

दार्शनिक कवि का सन्ध्याकाल विषयक सूक्ष्म चिन्तन मननीय है :

"सन्धि-काल में सूर्य-तत्त्व का/अवसान देखा जाता है/और/सुषुम्ना यानी
उभय-तत्त्व का उदय होता है/जो/ध्यान-साधना का

उपयुक्त समय माना गया है।/योग के काल में भोग का होना
रोग का कारण है,/और/भोग के काल में रोग का होना
शोक का कारण है।" (पृ. ४०७)

ध्येय, देह तथा विदेह का विश्लेषण कितनी सुन्दरता से हुआ है :

"अरे देहिन् !/द्युति-दीप्त-सम्पुष्ट देह/जीवन का ध्येय नहीं है,
देह-नेह करने से ही/आज तक तुझे
विदेह-पद उपलब्ध नहीं हुआ।" (पृ. ४२८-४२९)

'प्राणदण्ड' के औचित्य पर आचार्यश्री का विशिष्ट चिन्तन सम्माननीय है :

"उद्दण्डता दूर करने हेतु/दण्ड-संहिता होती है/माना,/दण्डों में अन्तिम दण्ड
प्राणदण्ड होता है।/प्राणदण्ड से/औरों को तो शिक्षा मिलती है,/परन्तु
जिसे दण्ड दिया जा रहा है/उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त।
दण्डसंहिता इसको माने या न माने,/क्रूर अपराधी को/क्रूरता से दण्डित करना भी
एक अपराध है,/न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।" (पृ. ४३०-४३१)

'पदलिप्सा' जो कि आधुनिक जीवन की अभिशाप है, उस पर भी कवि का सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत है :

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,
पाप-पाखण्ड करते हैं।/प्रभु से प्रार्थना है कि/अपद ही बने रहें हम !
जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद है,/पद-लिप्सा का विषधर वह
भविष्य में भी हमें न सूँघे/बस यही भावना है, विभो !" (पृ. ४३४)

मनीषी कवि का 'मन्त्र प्रयोग' विषयक विशिष्ट ज्ञान निम्न पंक्तियों में परिलक्षित होता है :

"मन्त्र-प्रयोग के बाद/प्रतीक्षा की आश्यकता नहीं रहती
हाथों-हाथ फल सामने आता है/यह एकाग्रता का परिणाम है।
मन्त्र-प्रयोग करने वाला/सदाशयी हो या दुराशयी
इसमें कोई नियम नहीं है।/नियन्त्रित-मना हो बस !
यही नियम है, यही नियोग।" (पृ. ४३७)

'काल' और 'क्षेत्र' की महत्ता भी प्रतिपादित की गई है :

"फलानुभूति—भोग और उपभोग के लिए/काल और क्षेत्र की
अनुकूलता भी अपेक्षित है/केवल भोग-सामग्री ही नहीं।" (पृ. ४३९-४४०)

कवि ने कुम्भ के माध्यम से बन्धन और स्वातन्त्र्य का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है :

"यहाँ/बन्धन रुचता किसे?/मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता/तभी···तो···

किसी के भी बन्धन में/बँधना नहीं चाहता मैं,/न ही किसी को
बाँधना चाहता हूँ।/जानते हम,/बाँधना भी तो बन्धन है !
तथापि/स्वच्छन्दता से स्वयं/बचना चाहता हूँ।" (पृ. ४४२-४४३)

'जड़' और 'जंगम' के अन्तर को कितनी सरलता से स्पष्ट किया है :

"जड़ और जंगम दो तत्त्व हैं/दोनों की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं–
जंगम को प्रकाश मिलते ही/यथोचित गति मिलते ही
विकास ही कर जाता है वह/जब कि/जड़ ज्यों-का-त्यों रह जाता।
जड़ अज्ञानी होता है/एकान्ती हठी होता है
कूटस्थ होता है···त्रस्त !/स्वस्थ नहीं हो सकता वह।" (पृ. ४४६)

'धरती' एवं 'तीर्थ' की महत्ता को उदारमना कवि ने अत्यन्त उदारता से स्वीकार किया है :

"जिसने धरती की शरण ली है/धरती पार उतारती है उसे
यह धरती का नियम है···व्रत !/धरती शब्द का भी भाव
विलोम रूप से यही निकलता है–/ध···र···ती ती···र···ध···
यानी,/जो तीर को धारण करती है/या शरणागत को
तीर पर धरती है/वही धरती कहलाती है।/और सुनो !
'ध' के स्थान पर/'थ' के प्रयोग से तीरथ बनता है
शरणागत को तारे सो···तीरथ !" (पृ. ४५१-४५२)

आचरण और आवरण का विवेचन विचारणीय है :

"आचरण के सामने आते ही/प्रायः चरण थम जाते हैं
और/आवरण के सामने आते ही/प्रायः नयन नम जाते हैं।" (पृ. ४६२)

वर्तमान में सत्य की विवशता पर कवि-हृदय की आन्तरिक व्यथा प्रकट हुई है :

"सत्य का आत्म-समर्पण/और वह भी/असत्य के सामने ?/हे भगवन् !
यह कैसा काल आ गया,/क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
क्या सत्य शासित होगा ?/हाय रे, जौहरी के हाट में
आज हीरक-हार की हार !/हाय रे, काँच की चकाचौंध में
मरी जा रही–/हीरे की झगझगाहट !/अब/सती अनुचरी हो चलेगी
व्यभिचारिणी के पीछे-पीछे।/असत्य की दृष्टि में/सत्य असत्य हो सकता है,
और/असत्य सत्य हो सकता है/परन्तु/सत्य को भी नहीं रहा क्या
सत्यासत्य का विवेक ?/क्या सत्य को भी अपने ऊपर
विश्वास नहीं रहा ?" (पृ. ४६९-४७०)

सलिल, अनल, अनिल और सनील की प्रकृति का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है :

"सलिल की अपेक्षा/अनल को बाँधना कठिन है/और/अनल की अपेक्षा
अनिल को बाँधना और कठिन।/परन्तु/सनील को बाँधना तो···
सम्भव ही नहीं है।" (पृ. ४७२)

कुम्भ के माध्यम से कविवर ने अपनी मंगलमयी अन्त:कामना को अभिव्यक्ति दी है :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठे/···बस!" (पृ. ४७८)

उपादान और निमित्त का सूक्ष्म चिन्तन भी समादरणीय है :

"उपादान-कारण ही/कार्य में ढलता है/यह अकाट्य नियम है,/किन्तु
उसके ढलने में/निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है,
इसे यूँ कहें तो और उत्तम होगा कि/उपादान का कोई यहाँ पर
पर-मित्र है···तो वह/निश्चय से निमित्त है/जो अपने मित्र का
निरन्तर नियमित रूप से/गन्तव्य तक साथ देता है।" (पृ. ४८१)

'मोक्ष' की परिभाषा सरलतम रूप में प्रस्तुत की गई है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है।" (पृ. ४८६)

कवि का अन्तिम सन्देश इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

"क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ/वहाँ आकर देखो मुझे,
तुम्हें होगी मेरी/सही-सही पहचान/क्योंकि/ऊपर से नीचे देखने से
मुझे चक्कर आता है/और/नीचे से ऊपर का अनुमान/लगभग गलत निकलता
है। इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर/मार्ग में नहीं, मंज़िल पर!
और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···/और माहौल को
अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी!" (पृ. ४८७-४८८)

इस प्रकार सूक्तियों, विचित्र उक्तियों, सुभाषितों का महासागर है यह महाकाव्य। इस महाकाव्य में अवगाहन करने पर ही परम शान्त रस का आस्वादन सम्भव है, तट के दर्शन मात्र से नहीं।

□

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की गौरव गाथा : 'मूकमाटी' महाकाव्य

डॉ. सीएच. रामुलु

'मूकमाटी' आचार्य श्री विद्यासागरजी विरचित आधुनिक महाकाव्य है। इसमें माटी के जीवन की व्याख्या के मिस मानव-जीवन की व्याख्या की गई है। माटी की अपनी वाणी नहीं है। उसका जीवन ही उसकी वाणी बनकर बोलता है। माटी की अपनी मूक साधना है, तपस्या है, जिसकी व्याख्या करना विरले कवि के बस का होता है। आचार्य श्री विद्यासागरजी स्वयं मूक साधक हैं। अपनी तपस्या साधना के बल पर मूकमाटी को आपने वाणी दी है। जीवन के अद्‌भुत रहस्यों को प्रकट किया है। आपने सिद्ध किया कि मौन बने रहने से वाक् सिद्धि होती है। प्रकट अभिव्यक्ति में वाणी सीमित होती है। अनुभूति की समग्र अभिव्यक्ति असम्भव है। मुनि की मौन साधना में अनन्त अनुभव का प्रसारण अनेक दिशाओं में होता है। प्रकट अभिव्यक्ति में असमग्रता है, अपूर्णता है। मूक वाणी में समग्र चिन्तन प्रकट होता है। अनन्त सम्भावनाएँ प्रतिफलित होती हैं। माटी मनुष्य की प्रतीक है। जीवन की प्रतीक है। इस प्रकार 'मूकमाटी' में मानव-जीवन की मूक साधना प्रसारित होती है। जीव की मूक वेदना प्रकट हुई है। अनन्त जीवकोटि की संवेदना अभिव्यक्त हुई है।

माटी तुच्छ है। जीवन क्षुद्र है, क्षणिक है तथा ससीम है। इस माटी को, अणु को उदात्त बनना है। अपनी साधना से अनन्त स्थिति को प्राप्त करना है, महान् सिद्धि को प्राप्त करना है। इस अनन्त यात्रा में अपनी कमज़ोरियों को, क्षुद्रताओं को प्रक्षालित करना है। अणु से महान् का आविष्कार करना है। अर्थात् अणु को, अपने आप को पहचानने की अपेक्षा है। इस साधना में ही साध्य निक्षिप्त है। साधना के अन्त में सिद्धि प्राप्त हो जाती है। परन्तु साधना के प्रत्येक क्षण में भी सिद्धि की प्राप्ति होती है। अनन्त काल महान् है। क्षण महान् है। माटी भी महान् है। माटी में छिपा अभिव्यक्त पुरुष महान् है। माटी के रूप में व्यक्त क्षुद्र व्यक्तित्व को अपने सहज, सीमित उपाधिगत तत्त्वों की दीवारों को लाँघकर जाति, कुल, सम्प्रदाय, भाषा, प्रदेश इत्यादि परदों को चीरकर आत्मदर्शन करने की प्रक्रिया में असामान्य साधना की आवश्यकता है। आचार्यप्रवर श्री विद्यासागरजी ने माटी की इस मूक साधना में विघटनकारी बाधाओं की व्याख्या करते हुए मानव-जीवन में उपस्थित होने वाले कंटकों की व्याख्या की। 'मूकमाटी' एक दार्शनिक काव्य है। इसके मूल में आध्यात्मिक जीवन का वृत्त संकलित है। जीवन की साधना में निवृत्ति मार्ग को अपने में समेटा हुआ प्रवृत्ति मार्ग प्रबोधित है। जीवन-संघर्ष में अग्नि-परीक्षा को चुनौती के रूप में स्वीकार करने का उपदेश दिया है। अग्नि में तपकर जिस प्रकार माटी उज्ज्वल, उदात्त तथा शुद्ध बनती है, उसी प्रकार परीक्षाओं की कसौटी पर कसा जाकर मानव संस्कारित, परिष्कृत होता है। उसकी क्षुद्र भावनाओं का संस्कार, परिष्कार होता है, तब उसकी हर भावना आदरणीय होती है। मानव-जीवन का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक भाव अपने देश, काल, परिस्थिति के बन्धनों में सीमित होते हुए भी परिष्कृत होकर शुद्ध, बुद्धात्मा को प्राप्त कर उदात्त होता है। इस प्रकार मानव जीवन का प्रत्येक क्षण साधना के योग्य पूजनीय होता है और उसी प्रकार प्रत्येक पल, सम्पूर्ण काल पुरुष का समर्थ तथा शक्तिशाली अंश होता है। मानव का जीवन काल सापेक्ष है और देशापेक्षित। अर्थात् मानव जीवन काल तथा स्थान से नियन्त्रित होता है। इसलिए क्षुद्र, सीमित, असमग्र, असम्पूर्ण माना जाता है। परन्तु वही क्षण ईश्वरीय साधना के बल पर सबल, प्रबल, सुरम्य, समग्र, सम्पूर्ण हो जाता है। मूकमाटी को अन्त में परम पुरुष के रूप में वाणी मिल जाती है। मूक साधना को लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

आचार्यश्रेष्ठ श्री विद्यासागरजी ने मूकमाटी की मूक साधना को वाणी दी। अनन्त अनुभव को प्रकट किया है। मूकमाटी की इस जीवन-यात्रा में कई अनुभव रूपी रत्नों को संकलित किया गया है। उनको यथासाध्य यहाँ प्रस्तुत करने

का प्रयास किया जाता है :

"बहना ही जीवन है।" (पृ. २)

जीवन एक प्रवाह है। उसका अपना स्रोत है। इसलिए वह स्रवन्ती है। आरम्भ में वह झरना है। आगे वह सरिता बन जाती है। अन्त में सागर से संगम प्राप्त करती है। इसीलिए 'चरैवेति चरैवेति' कहा गया है। गतिशील प्रवाह ही जीवन कहलाता है।

"ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं।" (पृ. २)

मानव-जीवन की सबसे बड़ी कमज़ोरी ईर्ष्या है। साधक को इस पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि ईर्ष्या से उत्तेजित हो जाते हैं और इनके कारण जीवन पतित हो जाता है। इस पर विजय प्राप्त करना साधना का लक्ष्य है।

"सत्ता शाश्वत होती है/सत्ता भास्वत होती है...।" (पृ. ७)

इस संसार में सत्ताकामी, यशोकामी और धनकामियों का राज्य है। जो सत्ता भास्वत होती है, वही शाश्वत होती है। जिस सत्ता के कारण शोषण प्रबल होता है और दूसरों को त्रास मिलता है, वह सत्ता अशाश्वत होती है।

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है।" (पृ. ८)

दिन-रात सज्जनों की संगति से मति सुमति हो जाती है। सात्त्विक प्रवृत्ति के साथ संगति बैठने के कारण जीवन की, साधना की गति और दिशा निर्धारित हो जाती है। अर्थात् साधु पुरुषों का सांगत्य, सद्ग्रन्थों का पठन अपेक्षित है।

साधना मार्ग पर जीव को अपने आप को सुधारना चाहिए। कंकर-पत्थर से माटी अशुद्ध होती है और पानी में मिलकर छन जाती है।

"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा!" (पृ. ९)

अपनी क्षुद्रता को, अपनी अस्मिता की सीमा को पहचानना ही सत्य पथगामी का लक्षण होता है। अपने आपको पहचानने के लिए तत्काल अपनी स्थिति को पहचानने की आवश्यकता है। उपनिषद् कहती है कि जो यह जानता है कि मुझे बहुत कुछ जानना है वह कुछ तो जानता है। जो यह मानता है कि वह सब कुछ जानता है वह कुछ नहीं जानता। "वेद वेद इति नोन वेद च। नोन वेद इति वेद वेद च।" अपने आप को अल्पमति मानने से अनन्त ज्ञान की खोज जारी रहती है। अन्यथा, अनन्त खोज की गति मन्द पड़ जाती है या रुक जाती है।

"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं।" (पृ. १०)

मानव-जीवन में आस्था प्रमुख तत्त्व है। जहाँ विश्वास नहीं, वहाँ शान्ति नहीं होती। जीवन के मूल में विश्वास है। जीवन के सभी सम्बन्ध विश्वास से बनते हैं। अर्थात् तर्क सर्वत्र काम नहीं देता। कहीं न कहीं विश्वास पर जाकर वह टिक जाता है। जो विश्वास पर चलते हैं, वे उस विश्वास को दृढ़ विश्वास बनाने के प्रयास में तर्क ढूँढ़ा करते हैं। जो तर्क के आधार पर चलते हैं, वे तर्क पर तर्क जोड़कर उस तर्क को विश्वास बना लेते हैं अर्थात् विश्वास तर्क जोड़ता है और तर्क विश्वास बनता है। साधना की एक छोर पर विश्वास है तो दूसरी छोर पर तर्क है। दोनों का संगम स्थान

सिद्धावस्था का मूल स्थान है। लौकिक जगत् में आस्था या विश्वासी अन्धविश्वासी बन जाता है। तार्किक वितण्डावादी हो जाता है। इस प्रकार दोनों बदनाम हैं कि एक घोर आस्तिक है तो दूसरा घोर नास्तिक। व्यक्ति की ये दोनों स्थितियाँ असंगत हैं। वह ईश्वर है भी और नहीं भी। उपनिषदों में जिस प्रकार कहा गया है कि "ना इति, न इति" – नहीं नहीं है। इसमें नहीं, उसमें नहीं। अर्थात् किसी में नहीं है। जो रूप हमारे लिए अगम्य है, दुस्तर है। इस अर्थ में वह वहाँ नास्ति है। परन्तु दूसरे रूप में वहाँ वह अस्ति है। ईश्वर के अनेक रूप हैं। एक रूप में वह सिद्ध होता है तो दूसरे रूप में वह अप्राप्त है। इसलिए वह है और नहीं भी। किसी वितण्डावादी ने कहा था – 'God is no where?' इसमें 'No' के साथ 'W' जोड़ें तो 'Now here' हो जाएगा। अस्ति-नास्ति की विचिकित्सा इतने में ही है।

"आयास से डरना नहीं/आलस्य करना नहीं!" (पृ. ११)

जीवन का अर्थ कर्म है। कर्म ही जीवन है। कर्म नहीं है तो जीवन की सार्थकता नहीं है। कर्म करना ही जीवन का लक्ष्य है। अर्थात् प्रत्येक को कर्म करने का अधिकार है। आलसी बने रहने में मृत्यु का वरण करना है। इसलिए अकर्मण्यता मृत्यु है। आचार्यश्री विद्यासागरजी ने कर्ममय जीवन को जीवन मानकर 'मूकमाटी' में चेतना भर दी है।

"साधना-स्खलित जीवन में/अनर्थ के सिवा और क्या घटेगा?" (पृ. १२)

कार्य-साधना जीवन का लक्ष्य है। कर्मच्युत होना जीवन-पथ से गिर जाना है। साधना से हट जाना जीवन से हट जाना है। इसके फलस्वरूप जीवन सार्थक नहीं होगा, अर्थात् किसी महत्कार्य को साधना ही जीवन का लक्ष्य है। उसको प्राप्त करने की साध (ज़िद) होनी चाहिए। साधना से स्खलित जीवन में खाली हाथ होंगे। कर्म से तात्पर्य साधना है, परम साध्य को प्राप्त करना है।

"अपनी ओर ही/बढ़ते बढ़ते/आ रहे वह/श्रमिक-चरण···।" (पृ.२५)

पात्र बनाने हेतु मिट्टी का चयन करने के लिए कुम्हार को आता देखकर माटी कहती है कि वे अपनी ओर ही बढ़ रहे हैं। वे श्रमिक के चरण हैं अर्थात् पात्र बनाने के लिए अपना चयन होगा। ये अपना सौभाग्य माना जाएगा कि हम उसके वरण के लिए योग्य हुए।

कबीर का दोहा इसी दृश्य को उपस्थित करता है :

"माली आवत देखिकै, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिये, कालि हमारी बार॥"

मानव को इस क़दर योग्य बनना चाहिए कि किसी उत्तम कार्य के लिए उसकी पवित्रता सिद्ध हो जाए और उसका चयन हो जाए। अपने कर, मुख, नयन ईश्वर की सेवा करने योग्य हो जाएँ। उसके स्तुति-गान में अपने जीवन को सार्थक बना लें। जगत् की इस ईश्वरीय लीला में हर व्यक्ति अपना कर्तव्य/कर्म करे। इस रंगमंच पर अपना पार्ट अदा करे।

"ओंकार को नमन किया/...अहंकार का वमन किया है।" (पृ. २८)

जीवन के निर्माण में शिल्पी ने ईश्वर की वन्दना की। और उसने अपनी कार्य-कुशलता के कारण उत्पन्न होने वाले अहंकार को छोड़ दिया। मनुष्य अपना कर्म करें और फल की चिन्ता न करें। 'गीता'कार का कहना है :

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" (२/४७)

दूसरी ओर अहम् को छोड़ने से तात्पर्य कर्म के फल के साथ संगति छोड़ना है। कबीर कहते हैं :

"जब मैं था तब तुम नहीं, अब तुम हो हम नाहिं।"

दूसरे सन्दर्भ में अहम् का वमन करने से तात्पर्य छोटे अहम् को त्यागना है। महती अहम् के साथ अपने अहम् को जोड़ना है। अर्थात् अपने अहंकार को विस्तृत करना है ताकि उसमें विश्व के समस्त जीव कोटि समा सकें। अपने सुख को विस्तृत करना है ताकि सबके सुख में अपना सुख मान लिया जाए। कवि जयशंकर प्रसाद का कथन है :

"औरों को हँसते देखो मनु/हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो...।"

'मूकमाटी'कार का कथन है :

- *"औरों के सुख को देख, जलना/औरों के दुःख को देख, खिलना दुर्जनता का सही लक्षण है।" (पृ. १६८)*
- *"गलत निर्णय दे/जिया नहीं जा सकता।" (पृ. ३०)*

जीवन में गलत निर्णय लेकर गलत रास्तों पर चलना अहितकर होगा। इसलिए कभी गलत क़दम न उठाते हुए स्वच्छ, सरल, सहज तथा पवित्र जीवन बिताने की आवश्यकता है।

"पश्चात्ताप की आग में/झुलसती-सी माटी।" (पृ. ३६)

अपने किए पर पश्चात्ताप करना उत्तम मानव का लक्षण है। क्योंकि पश्चात्ताप से पाप धुल जाता है। फिर कभी कोई गलत क़दम न उठाने का निर्णय ले सकता है। इस प्रकार एक-एक करके जीवन में सभी दोष मिटाए जा सकते हैं। जन्म-जन्मों के संस्कारों के फलस्वरूप सम्भव होनेवाले दोषों का निवारण पश्चात्ताप से हो जाता है। गीता का 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि' का तात्पर्य यही है कि सही ज्ञान से गलती का एहसास हो जाता है और फिर दूसरी बार गलती नहीं होती। जन्म-जन्मों के चक्र से मुक्त होने की लालसा जग जाती है। इसलिए मानव-जीवन में पश्चात्ताप का बड़ा महत्त्व है।

"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३८)

मानव-जीवन में जब वासना प्रबल होती है, तब मोह बढ़ता है। काम का विकास मोह है और सारी विलास-क्रीड़ाएँ मोह के फलस्वरूप होती हैं, जो पतन के कारण बनती हैं। अपने आप पर दया करने से उसके प्रति अहितकारी कार्यों से दूर हो जाते हैं और इससे जीवन के कार्य-कलापों की दिशा बदल जाती है। सज्जनता व साधु प्रवृत्ति को अपनाकर बन्धन रहित मोक्षपथगामी कार्यों में रुचि लेते हैं, अन्त में जीवन का उद्धार हो जाता है। इसलिए दया, करुणा का विकास मोक्षप्रद हो जाता है।

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।/और
क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४९)

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने इस छन्द में वर्ण-व्यवस्था का विश्लेषण किया है। भारतीय समाज में विजातियों के मिल जाने की प्रक्रिया का विवेचन किया है। अन्य जातियाँ दूध में पानी की तरह मिली रहें और अलग नहीं की जा सकें। तब भारतीय समाज स्वस्थ तथा सुदृढ़ बन जाता है। वर्णों का मिलना उस स्थिति में वरदान बन जाता है। कभी अलग करने का प्रयत्न हुआ हो तो एक दूसरे के लिए तड़प उठे। जिस प्रकार दूध को गर्म करने पर पानी भाप बनकर उड़ जाता है। अर्थात् जब दूध से पानी अलग होता जाता है तब बर्तन का दूध उसको पकड़ने के लिए ऊपर उठ-उठकर आता है और अपने मित्र के लिए अग्नि में भी प्रवेश कर जाता है। भारतीय समाज में इस स्थिति की अपेक्षा है। परन्तु कभी-कभी अन्य जातियों के सम्मिलन से वर्ण-संकर से क्षीर जैसा भारतीय समाज विघटित हो जाता है। तब वर्ण-संकर अभिशाप बन जाता है। भारतीय समाज में आज कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो अलगाव की ओर समाज को प्रवृत्त करते हैं और टकराव पैदा करते हैं। इसी तत्त्व को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर ने अपनी काव्यभाषा में अभारतीय जातियों को सम्बोधित किया। भारतीय समाज को व्यवस्था दी कि विजातियों को अपने में समाहित किया जा सकता है।

"अरे कंकरो !/माटी से मिलन तो हुआ/पर/माटी में मिले नहीं तुम !
माटी से छुवन तो हुआ/पर/माटी में घुले नहीं तुम !
इतना ही नहीं,/चलती चक्की में डालकर/तुम्हें पीसने पर भी
अपने गुण-धर्म/भूलते नहीं तुम !/भले ही
चूरण बनते, रेतिल;/माटी नहीं बनते तुम !" (पृ. ४९)

आचार्यजी ने इस छन्द में अन्योक्ति के द्वारा भारतीय समाज के गठन का निर्देश किया है। विजातियों को भारतीय समाज से घुल-मिल जाने का उपदेश दिया है। इस मिट्टी से, वतन से प्यार करने का आदेश दिया है। भारतीय समाज के स्वस्थ गठन की ओर आचार्य जी जागरूक हैं।

आचार्यजी ने अहिंसा वृत्ति पर बल दिया है। अहिंसा बलशाली शस्त्र है। जब वह निरुपयोगी हो जाता है तो व्यक्ति शस्त्र उठाता है।

"बात का प्रभाव जब/बल-हीन होता है
हाथ का प्रयोग तब/कार्य करता है।
और/हाथ का प्रयोग जब/बल-हीन होता है
हथियार का प्रयोग तब/आर्य करता है।" (पृ. ६०)

आगे आचार्यजी स्पष्ट करते हैं कि समाज के जीवन में जहाँ कहीं गाँठ पड़ जाती है वहाँ हिंसा पनपती है। इसलिए जीवन तथा समाज को निर्ग्रन्थ बनाने की अपेक्षा है।

"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और
जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।
अर्थ यह हुआ कि/ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है।...
...हम निर्ग्रन्थ-पन्थ के पथिक हैं/इसी पन्थ की हमारे यहाँ
चर्चा-अर्चा-प्रशंसा/सदा चलती रहती है।...
...इसीलिए गाँठ का खोलना/आवश्यक ही नहीं
अनिवार्य रहा।/समझी बात !" (पृ. ६४-६५)

सामासिक संस्कृति वाले, बहुभाषी देश में अविश्वास सर्वनाश की जड़ें बन जाती है। एक देश में सहधर्मी, सहजाति में ही वैमनस्य भाव परस्पर देखे जाते हैं :

"श्वान, श्वान को देख कर ही/नाखूनों से धरती को खोदता हुआ
गुर्राता है बुरी तरह।" (पृ. ७१)

इस उपमान के द्वारा आचार्यजी ने भारत में होनेवाले जातिगत वैमनस्य का चित्र खींचा है। एक जाति की स्थिति इस प्रकार है तो अन्य जाति पर कैसा विश्वास ?

"विजाति का क्या विश्वास ?/आज श्वास-श्वास पर
विश्वास का श्वास घुटता-सा/देखा जा रहा है···प्रत्यक्ष !....
....'मुँह में राम/बगल में छुरी'/बगुलाई छलती है।" (पृ. ७२)

वे धर्म के सन्दर्भ में लिखते हैं कि 'दया' धर्म का मूल है। परन्तु, आज कृपाण कृपालु नहीं हैं। वे कहते हैं– हम हैं कृपाण, हम में कृपा-न। धर्म का झण्डा भी डण्डा बन जाता है, और शास्त्र शस्त्र बन जाता है। अवसर पाकर प्रभु स्तुति में तत्पर सुरीली बाँसुरी भी बाँस बन पीट सकती है। आचार्यजी का यह खरा सन्देश है। भारत में पनपनेवाले पंजाब, असम के आतंकवादी तथा विघटनकारी तत्त्वों की ओर यह संकेत है।

"मोक्ष की यात्रा/···सफल हो/मोह की मात्रा/···विफल हो
धर्म की विजय हो/कर्म का विलय हो।" (पृ.७६-७७)

प्रसंग में जोड़कर आचार्यजी लिखते हैं कि शव में आग लगाना होगा और शिव में राग जगाना होगा। अर्थात् असार जीवन को समाप्त कर शिवत्व के साथ सम्बन्ध जोड़ना होगा।

संसारी प्राणी का पंच तत्त्वों में जन्म लेकर पंच तत्त्वों में ही विलीन होना सिद्ध है। जल में जन्म लेकर भी जलती रही यह मछली। आचार्य जी ने पंच तत्त्वों के बारे में व्याख्या करते हुए लिखा है कि जल में जनम लेकर भी जल से, जलचर जन्तुओं से जलती रही मछली, क्योंकि जड़ में शीतलता कहाँ ? जबकि धरती माँ की स्पर्शरूपी शीतलता ही शीत-लता बन गई। इस सन्दर्भ में आचार्यजी ने उपमान देते हुए मानो 'तैत्तिरीय उपनिषद्' का सार समझाया है कि जीव अन्न से पैदा होता है, अन्न से बढ़ता है और अन्न में विलीन हो जाता है। अन्न परब्रह्म स्वरूप है :

"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।/अन्नाद्धयखल्विमानि भूतानि जायन्ते,।
अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! "

पश्चिमी सभ्यता के सन्दर्भ में आपने लिखा है कि वह आक्रमणकारी है, विनाश की लीला विभीषिका है। भारतीय संस्कृति उसकी तुलना में सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।

भारतीय संस्कृति क्षमा की मूर्ति है, जो कुम्भकार का स्वभाव बन गया है। वह क्षमा का अवतार बन गया है। इसलिए वह कहता है कि मैं क्षमा करता हूँ सबको, क्षमा चाहता हूँ सबसे, सबसे सदा-सहज बस मैत्री रहे मेरी। वैर किससे, क्यों और कब करूँ ?

श्वान और सिंह सभ्यता का अन्तर समझाते हुए आचार्यजी लिखते हैं कि भारतीय सभ्यता सिंह सभ्यता है। वह 'स्वयमेव मृगेन्द्रता' का प्रतीक है।

"श्वान-सभ्यता—संस्कृति की/इसीलिए निन्दा होती है/कि
वह अपनी जाति को देख कर/धरती खोदता, गुर्राता है।
सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है,/राजा की वृत्ति ऐसी ही होती है,
होनी भी चाहिए।" (पृ. १७१)

इस सन्दर्भ में आप आत्माभिमान, स्वतन्त्रता, अस्मिता की व्याख्या करते हैं :

"अपनी स्वतन्त्रता-स्वाभिमान पर/कभी किसी भाँति
आँच आने नहीं देता वह!" (पृ. १७०)

इस प्रकार आचार्यजी ने देश को सम्पूर्ण स्वाधीन जीवन के लिए संघर्ष करने का सन्देश दिया है। आप लिखते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति से बोध में आकुलता पलती है। शोध में निराकुलता फलती है। चेतनाशील प्राणी संवेदनशील होता है। अतः जगत् से, जीवकोटि से राग-अनुराग जोड़ता है।

आचार्यजी ने जीवन की व्याख्या करते हुए लिखा है कि किसी को परुष नहीं होना चाहिए। जो अपनी जीभ जीतता है, दुःख रीतता है उसी का। सुख में जीवन बीतता है और चिरंजीव भी बनता वही। कबीर की सूक्ति इस सन्दर्भ में स्मरणीय है :

"ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आप हुँ सीतल होय॥"

आचार्यजी ने आहार-विहार के सन्दर्भ में लिखा है :

"आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!" (पृ. १३३)

भगवान् श्रीकृष्ण ने 'गीता' (६/१७) में कहा है :

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु॥"

आचार्यजी ने काव्य में छोटी-छोटी बात पर ध्यान दिया है। स्थितप्रज्ञता के लिए प्रेरित किया है। अर्थ और परमार्थ की व्याख्या करते हुए आपने लिखा है :

"परमार्थ तुलता नहीं कभी/अर्थ की तुला में
अर्थ को तुला बनाना/अर्थशास्त्र का अर्थ ही नहीं जानना है
और/सभी अनर्थों के गर्त में/युग को ढकेलना है।
अर्थशास्त्री को क्या ज्ञात है यह अर्थ?" (पृ. १४९)

आगे आप प्रश्न करते हैं :

"धन जीवन के लिए/या जीवन धन के लिए?
मूल्य किसका/तन का या चेतन का,/जड़ का या चेतन का?" (पृ. १८०)

प्रश्न में उत्तर निक्षिप्त है। आचार्यश्री ने धन का संग्रह, धन के प्रवाह से होनेवाले अहित कार्य और अर्थ के

समुचित वितरण आदि पर भी लिखा है :

"वह जल रत्नाकर बना है—/बहा-बहा कर
धरती के वैभव को ले गया है।" (पृ. १८९)

संग्रह एवं शोषण की आपने निन्दा की है :

"पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/अज्ञान को बताता है,
और/पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।
यह अति निम्न-कोटि का कर्म है/स्व-पर को सताना है,
नीच-नरकों में जा जीवन बिताना है।" (पृ. १८९)

आप आगे कहते हैं कि अर्थ कभी परमार्थ की ओर बढ़ने नहीं देता :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

परिश्रम का फल स्वीकारना हितकर है। पर-धन मिट्टी के ढेले के बराबर है तथा परकान्ता अपनी जननी के बराबर होती है :

"परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है!
पर-कामिनी, वह जननी हो,/पर-धन कंचन की गिट्टी भी
मिट्टी हो सज्जन की दृष्टि में!" (पृ. २१२)

व्यास महर्षि की सूक्ति इस सन्दर्भ में स्पृहणीय है :

"अष्टादश-पुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥"

धन के वितरण के सम्बन्ध में आपने लिखा है :

"शिष्टों का उत्पादन—पालन हो/दुष्टों का उत्पातन—गालन हो,
सम्पदा की सफलता वह/सदुपयोगिता में है ना!" (पृ. २३५)

शब्द साधारण और अर्थ अनन्त :

"पर की दया करने से/स्व की याद आती है/और
स्व की याद ही/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी
यही अर्थ निकलता है/या···द···द···या···।" (पृ. ३८)

दूसरों के दया के पात्र बनने से अपना महत्त्व घट जाता है और जब अपनी स्थिति की पहचान हो जाती है तो उसके बाद अपनी स्थिति पर दया आ जाती है। तात्पर्य यह है कि लोग दूसरों पर तरस खाते हैं और अपनी दयनीय

स्थिति पर विचार नहीं करते। पहले अपने आपसे प्रेम करो। अपने स्वत्व से प्यार करो। अपने निज रूप को पहचानकर उस पर दया करो। स्व को याद करो और दया करो। अपने आप को पहचानने का यह पहला कदम होता है।

"गद का अर्थ है रोग/हा का अर्थ है हारक
मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वाँछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

निकृष्ट जानवर 'गदहा' शब्द से आचार्यजी ने महान् अर्थ निकाला है। गदहा शब्द रोगों का निवारण करनेवाला है, जीवन के सारे दोष मिटानेवाला है। लौकिक जगत् में जीव गदहा बनकर पापों को ढोता फिरता है। धीरे-धीरे उसे पापों के भार से मुक्त होना है। फल ही रोग बनकर सताते हैं। अतः सभी रोगों से भी छुटकारा पाना है।

मन की व्याख्या करते हुए आचार्यजी ने लिखा है :

"मन की छाँव में ही/मान पनपता है/मन का माथा नमता नहीं
न-'मन' हो, तब कहीं/नमन हो 'समण' को
इसलिए मन यही कहता है सदा—/नम न ! नम न !! नम न !!!" (पृ. ९७)

इसमें समण शब्द 'श्रमण' शब्द की विकृति है। मन में अभिमान नहीं हो तो श्रमण को नमन करता है। अर्थात् सात्त्विकता की ओर प्रवृत्त होता है। नमन शब्द को आचार्यजी ने तोड़-मरोड़ कर चमत्कार पैदा किया है।

आचार्यजी ने अपने काव्य में तत्त्व चिन्तन की गरिमा के साथ काव्य में तत्त्वों को चरम सीमा पर पहुँचाया है। साधारण शब्दों में तात्त्विक अर्थ भर दिया है। शब्दों का खिलवाड़ देखिए :

- *"जब हवा काम नहीं करती/तब दवा काम करती है,*
  और/जब दवा काम नहीं करती/तब दुआ काम करती है।" (पृ. २४१)
- *"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।*
  और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।" (पृ. २४५)
- *"मंगलमय प्रांगण में/दंगल क्यों हो रहा, प्रभो ?" (पृ. २१४)*

इस प्रश्न का उत्तर कहाँ है ? आचार्यजी के हाथों से शब्द कोमल बन गए हैं। उदाहरणार्थ-गरलिम, धवलिम आदि।

आचार्यश्री विद्यासागरजी ने जीवन में विज्ञान का महत्त्व प्रकट किया है। इसके सहारे दैवकार्य समझकर मानो शत्रु दमन, दुष्ट दलन करने का आदेश दिया है।

"इन्द्र ने अमोघ अस्त्र चलाया/तो···तुम/रामबाण से काम लो !
पीछे हटने का मत नाम लो/ईंट का जवाब पत्थर से दो !
विलम्ब नहीं, अविलम्ब/ओला-वृष्टि करो···उपलवर्षा !" (पृ.२४८)

आपने आर्यभट्ट, रोहिणी आदि प्रक्षेपास्त्रों की चर्चा भी की है। इसमें 'स्टार-वार' का प्रसंग उठाया है और अन्त में वैज्ञानिक, भौतिक तत्त्वों को नकारा है, उसकी सीमा निर्धारित की है। सत्य और अहिंसा के द्वारा शत्रु को जीतने का सन्देश दिया है।

"जब सुई से काम चल सकता है/तलवार का प्रहार क्यों ?

जब फूल से काम चल सकता है/शूल का व्यवहार क्यों ?" (पृ.२५७)

आतंकवाद के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि अन्त में आतंकवाद ही स्वयं आतंकित हुआ :

"आतंकवाद का बल/शनैः-शनैः निष्क्रिय होता जा रहा है।
दल-दल में फँसा/बलशाली गज-सम !" (पृ. ४३२)

आपने अहिंसात्मक संघर्ष करने की प्रेरणा दी :

"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !
हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ !" (पृ. ४३२)

आचार्यश्री ने अटूट विश्वास प्रकट किया है कि अन्त में सत्य की विजय होगी, अहिंसा की विजय होगी। और आतंकवाद, भेदभाव समाप्त होगा। उसे व्याकुल, शोकाकुल हो पश्चात्ताप करना होगा और अहिंसा की शरण में जाना होगा। हर एक को श्रमण बनना होगा। अन्य कोई उपाय नहीं है।

"कोई शरण नहीं है/कोई तरणि नहीं है/तुम्हारे बिना हमें यहाँ,
क्षमा करो, क्षमा करो/क्षमा के हे अवतार !/हमसे बड़ी भूल हुई,
पुनरावृत्ति नहीं होगी/हम पर विश्वास हो !" (पृ. ४७४)

आचार्यश्री विद्यासागर के मत में प्रत्येक को साधक बनना होगा। साधक बनने के लिए प्रारम्भ में जीवन से मुख मोड़ने की, विरत होने की आवश्यकता नहीं है। अतः सही जीवन को अपनाने का आपने उपदेश दिया है।

आतंकवादी वह है, जो स्वयं भयभीत है। अपने भीतर के भय से भय खाया हुआ है। उसे छिपाने के लिए वह औरों को डराता है। वह जीवन से विरत हुआ है। वैराग्य का यह भयावना रूप है। अन्त में हारकर उसे जीवन में लौटना होगा, क्योंकि :

"प्रकृति से विपरीत चलना/साधना की रीत नहीं है।
बिना प्रीति, विरति का पलना/साधना की जीत नहीं,/'भीति बिना प्रीति नहीं'
...'प्रीति बिना रीति नहीं/और/रीति बिना गीत नहीं'।" (पृ. ३९१)

आचार्यश्री के मत में प्रीति और भीति में समरसता हो। जीवन को सही दिशा एवं सही स्थिति में रखने के लिए भीति, भय को प्रवर्तित करना होगा और प्रीति को उदात्त करना होगा।

इस प्रकार आचार्यश्री विद्यासागरजी ने जीवन को संयमित रखने, जीवन की सत्यता को पहचानने और उसे साधन बनाकर परम सत्य को प्राप्त करने का सन्देश दिया है। गणतन्त्र के बारे में आचार्यजी ने लिखा है कि आज यह गणतन्त्र नहीं, धन तन्त्र बन गया है या मनमाना तन्त्र बन गया है।

जहाँ न्याय समय पर नहीं मिलता तो उसे न्याय नहीं, अन्याय ही मानना चाहिए।

"आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय-सा लगता ही है।" (पृ. २७२)

आपने गणतन्त्र को बलतन्त्र बताया है और बल का सदुपयोग करने पर बल दिया :

"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है।" (पृ. २७२)

'स्व' एवं 'पर' का भेद जानना या उसे मिटाना ही ज्ञान है अथवा ज्ञान का फल है :

" 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में
जानना ही सही ज्ञान है,/और
'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ. ३७५)

कुम्भकार के द्वारा असीम दया का कार्य कराते हुए आचार्यजी लिखते हैं :

"हाथ की ओट की ओर देखने से/दया का दर्शन होता है,
मात्र चोट की ओर देखने से/निर्दयता उफनती-सी लगती है।" (पृ. १६५)

'मूकमाटी' राष्ट्रीय काव्य है। राष्ट्रीय जीवन के सभी तत्त्वों की व्याख्या इसमें हुई है। भारतीय समाज के उदात्त, अनुदात्त तत्त्वों को देखा, परखा गया है और उनको परिष्कृत कर सही दिशा देने का आदेश/निर्देश दिया गया है।

भारतीय संस्कृति, सभ्यता की गौरव-गाथा इसमें वर्णित है। 'मूकमाटी' मूलतः दार्शनिक काव्य है। यह अध्यात्म काव्य है। इसमें अलौकिक प्रेम-कथा है। वह प्रेम, जो अपने आपसे प्रेम करना सिखाता है। यह आध्यात्मिक प्रेम-काव्य है। प्रेम-कथा में आत्मा-परमात्मा की विरह-गाथा वर्णित है। परन्तु यह सूफी सन्तों की विरह-व्यथा गाथा नहीं है। यह आध्यात्मिक विरह-गाथा है, जिसके बीज हमें कबीर के 'दुलहिन गावहु मंगलचार' और 'नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय' में मिल जाते हैं।

काव्य तत्त्व के समस्त गुण इसमें अपनी परिपूर्ण अवस्था में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार 'मूकमाटी' हिन्दी का आधुनिक महाकाव्य सिद्ध होता है, जिसमें प्रेम, भक्ति तथा अध्यात्म का चरम विकास हुआ है। परन्तु लौकिक तत्त्वों की उपेक्षा इसमें नहीं हुई है। लोक-परलोक दोनों को सुधारने का, दोनों को अपने सम्पूर्ण अर्थ में अनुभव करने का सन्देश इसमें दिया गया है।

□



पृष्ठ १९०-१९१
लो! प्रखर प्रखरतर ---
--- जलधि को धार-धार
भर कर ---!

'मूकमाटी' की गागर का सागर अथाह है !

डॉ. सुकमाल जैन

धर्म-दर्शन और आध्यात्मिक चिन्तन के प्रख्यात मर्मज्ञ आचार्य श्री विद्यासागर ने अपने महाकाव्य 'मूकमाटी' की प्रस्तावना 'मानस-तरंग' (पृ. XXIV) में इन भावों के साथ अपनी रचना यात्रा का संकेत दिया है :

"···मढ़िया जी (जबलपुर) में/द्वितीय वाचना का काल था
सृजन का अथ हुआ और/नयनाभिराम-नयनागिरि में/पूर्ण पथ हुआ
समवसरण मन्दिर बना/जब गजरथ हुआ"

और उनकी इस रचना यात्रा ने जिन मुक्त छन्दों को जन्म दिया है, उनमें माटी की मूक वेदना और आकांक्षा को वाणी मिली है, उसकी उपादेयता और निर्मलता को एक अत्यन्त गहन, गम्भीर, पवित्र आधार मिला है, और उनमें मानव-जीवन के कई विलक्षण मन्तव्यों को सूक्तियों में गढ़ कर प्रस्तुत किया गया है। इसकी भाव-कथा में कुम्भकार शिल्पी मिट्टी की ध्रुव और भव्य सत्ता को पहचान कर उसे कूट-छाँट कर निर्मल और पवित्र कुम्भ यानी कलश का रूप देता है। जहाँ वह माटी मंगल पूजा-कलश बन कर जीवन की सार्थकता प्राप्त करती है।

'मूकमाटी' महाकाव्य चार खण्डों में अनेक वैचारिक प्रवाहों, भाव-चारित्रिक संवादों और चिन्तनशील आधारों पर विकसित होता हुआ अपनी आध्यात्मिक पराकाष्ठा पर पहुँचता है। घटनाओं की विविधता और जीवन के पहलुओं को प्रकाशित करनेवाले सांसारिक, भौतिक और सांस्कृतिक तत्त्वों में गुँथी हुई यह अध्यात्म-कथा पाठक को प्रारम्भ से समाप्ति तक बाँधे रखती है, और जब तक पाठक अन्तिम छन्द तक नहीं पहुँच जाता है, तब तक उसकी आत्मिक कौतूहलता बनी रहती है कि वस्तुतः यह विचार-क्रम किस रूप में पहुँच कर समाप्ति का संकेत बनता है।

माटी की आध्यात्मिक और भौतिक यात्रा पहले खण्ड में पिण्ड रूप में कंकर कणों से मिली-जुली अवस्था से चलती हुई कुम्भकार की कल्पना माटी के मंगल घट तक चलती है और हमें जीवन के कुछ पहलुओं से परिचित कराती हुई कहती है :

- *"बहना ही जीवन है।" (पृ. २)*
- *" पथ पर चलता है/सत्पथ-पथिक वह*
  मुड़कर नहीं देखता/तन से भी, मन से भी।" (पृ. ३)

और इस क्रम में :

- *"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है*
  मति जैसी, अग्रिम गति/मिलती जाती···मिलती जाती···।" (पृ. ८)

चिन्तक विद्वान् इस खण्ड में जीवन के जिन विलक्षण पहलुओं को सूक्तिबद्ध करते हैं, उनकी कुछ झलक इन छन्दों में मिलती है :

- *"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं*
  अनगिन सम्भावनायें/उत्थान-पतन की।" (पृ. ७)
- *"पर्वत की तलहटी से भी/हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का*
  दर्शन होता है,/परन्तु/चरणों का प्रयोग किये बिना

शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है !" (पृ.१०)

- *"स्वस्थ-प्रौढ़ पुरुष भी क्यों न हो*
  काई-लगे पाषाण पर/पद फिसलता ही है !"(पृ.११)

'मूकमाटी' की निर्माण-कथा के इस खण्ड में हमें जीवन को एक चारित्रिक ऊँचाई देने के लिए कई सूक्ति-सन्देश मिलते हैं, जिन्हें आज के सन्दर्भ में सीप के मोती कहा जा सकता है, जैसे :

- *"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ.९)*
- *"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं।" (पृ.१०)*
- *"किसी कार्य को सम्पन्न करते समय*
  अनुकूलता की प्रतीक्षा करना/सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ.१३)
- *"दुःख की वेदना में/जब न्यूनता आती है*
  दुःख भी सुख-सा लगता है।" (पृ. १८)

अध्यात्म के अथाह सागर में छिपे हुए इन मोतियों को सामने लाने के लिए हमें महाकाव्य के छन्दों की, भावनाओं की एक-एक पंक्ति को मननपूर्वक समझना पड़ता है और अनुभूत करना पड़ता है—इन बानगियों के समान :

- *"अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं/और/इति के बिना*
  अथ का दर्शन असम्भव !/अर्थ यह हुआ कि/पीड़ा की अति ही
  पीड़ा की इति है/और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ.३३)
- *"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है—*
  एक जीवन को बुरी तरह/जलाती है···/भयंकर है, अंगार है !
  एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है···/शुभंकर है, शृंगार है।" (पृ.३८)

पहले खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में ऐसे धाराप्रवाह विचारों के साथ माटी और धरती माँ के बीच के संवाद, कुम्भकार के आगमन, मिट्टी के खनन और वहन, संशोधन और विवेचन के साथ हम भौतिक विश्व के कुछ दुखद पहलुओं से होकर भी गुज़रते हैं, जिनके बारे में आचार्यश्री कहते हैं :

"अब तो···/अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी
'दया-धर्म का मूल है'/लिखा मिलता है...
कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।" (पृ. ७३)

और यह कटु सत्य :

" 'वसुधैव कुटुम्बकम्'/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
'वसु' यानी धन-द्रव्य/'धा' यानी धारण करता/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

महाकाव्य का दूसरा खण्ड है–'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'। इसमें माटी कुम्भ के रूप में सृजन-क्रिया से गुजरती है, कच्चा घट बनती है और भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति के साथ अनेक आयामों में अंकित होती है। इसमें ही नव रसों को सांकेतिक रूप से नव परिभाषित किया गया है और बताया गया है कि जहाँ उच्चारण मात्र 'शब्द' है, उसका सम्पूर्ण अर्थ समझना 'बोध' और इस बोध को अनुभूति में, आचरण में उतारना 'शोध' है।

शब्दों और रसों से सृजित विचार इसी क्रम में आते हैं :

- *"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं/और*
  काम के दास होते हैं।" (पृ. ९२)
- *"पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा*
  निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा ।" (पृ. ९३)
- *"बदले का भाव वह दल-दल है/कि जिसमें/बड़े-बड़े बैल ही क्या,*
  बल-शाली गज-दल तक/बुरी तरह फँस जाते हैं ।" (पृ. ९७)
- *"कभी कभी शूल भी/अधिक कोमल होते हैं/···फूल से भी/और*
  कभी कभी फूल भी/अधिक कठोर होते हैं/···शूल से भी ।" (पृ. ९९)
- *"दम सुख है, सुख का स्रोत/मद दुःख है, सुख की मौत !" (पृ. १०२)*

अध्यात्म यहाँ भी आत्मा के साथ-साथ चलता है और ऐसी अनुभूतियाँ देता है, जिन्हें सरलता के साथ आज के जीवन से भी जोड़ा जा सकता है। उदाहरण प्रस्तुत हैं :

- *"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही*
  मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
  अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है !" (पृ. १०९-११०)
- *"आस्था के बिना आचरण में/आनन्द आता नहीं, आ सकता नहीं।*
  फिर,/आस्थावाली सक्रियता ही/निष्ठा कहलाती है।" (पृ. १२०)
- *"गुणी के ऊपर चोट करने पर/गुणों पर प्रभाव पड़ता ही है।" (पृ. १२५)*
- *"दुःस्वर हो या सुस्वर/सारे स्वर नश्वर हैं।" (पृ. १४३)*

आध्यात्मिक अनुभूतियों के साथ-साथ इस खण्ड की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता है आधुनिक परिस्थितियों पर शालीन व्यंग्य और जीवन के अशान्तिगत तथा स्वार्थपूर्ण पहलुओं पर तीखे विचार, जिनकी अभिव्यक्ति इन उदाहरणों में होती है :

- *"वीर-रस के सेवन करने से/तुरन्त मानव-सून/खूब उबलने लगता है*
  काबू में आता नहीं वह/दूसरों को शान्त करना तो दूर,
  शान्त माहौल ही खौलने लगता है/ज्वालामुखी-सम।"(पृ.१३१)
- *"आज पथ दिखाने वालों को/पथ दिख नहीं रहा है, माँ!*
  कारण विदित ही है–/जिसे पथ दिखाया जा रहा है
  वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,/औरों को चलाना चाहता है
  और/इन चालाक, चालकों की संख्या अनगिन है।" (पृ. १५२)

और इन सबके बीच जीवन की सार्थकता के प्रति प्रश्न करते हुए ये विचार :

- *"कौन किस के लिए–/धन जीवन के लिए/या जीवन धन के लिए ?*
  मूल्य किसका/तन का या वेतन का,/जड़ का या चेतन का ?" (पृ. १८०)
- *"सोना तो तुलता है/सो···अतुलनीय नहीं है/और*
  तुला कभी तुलती नहीं है/सो···अतुलनीय रही है
  परमार्थ तुलता नहीं कभी/अर्थ की तुला में
  अर्थ को तुला बनाना/अर्थशास्त्र का अर्थ ही नहीं जानना है।" (पृ. १४२)

विचार-प्रवाह की यह दिशा माटी के गागर पर कुछ शुभ संकेतों और संख्याओं के अंकन तक पहुँचती है। और तब आता है संख्याओं के आध्यात्मिक-वैचारिक विश्लेषण का यह क्रम :

- *"संसार ९९ का चक्कर है/यह कहावत चरितार्थ होती है।" (पृ. १६७)*
- *"कुम्भ के कण्ठ पर/एक संख्या और अंकित है,/वह है ६३*
  जो पुराण-पुरुषों की/स्मृति दिलाती है हमें।/इस की यह विशेषता है कि
  छह के मुख को/तीन देख रहा है/और
  तीन को सम्मुख दिख रहा छह !/एक-दूसरे के सुख-दुःख में/परस्पर भाग लेना
  सज्जनता की पहचान है,/और/औरों के सुख को देख, जलना
  औरों के दुःख को देख, खिलना/दुर्जनता का सही लक्षण है।" (पृ. १६८)

और यदि यही ६३ का अंक बन जाता है ३६ का आंकड़ा तब :

"तीन और छह इन दोनों की दिशा/एक-दूसरे के विपरीत है।
विचारों की विकृति ही/आचारों की प्रकृति को
उलटी करवट दिलाती है।/कलह-संघर्ष छिड़ जाता है परस्पर।" (पृ. १६८)

अब हम पहुँचते हैं तीसरे खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' की विचारधारा में, जिसमें कुम्भकार द्वारा माटी की विकास-कथा के माध्यम से पुण्य कर्म करने से उत्पन्न श्रेयस्कर उपलब्धि का चित्रण किया गया है। इस खण्ड में सृजन और निर्माण की प्रक्रिया में आने वाले व्यवधानों को प्रभावशाली सांकेतिक शैली में अभिव्यक्त किया गया है। दृढ़प्रतिज्ञ प्रयास इस स्थिति में भी अनुकूलता उत्पन्न करता है। कुम्भ अपनी सम्पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है।

इस खण्ड में विविध विचारक्रमों का, सांकेतिक घटनाओं का, पृथ्वी के विभिन्न जड़-अजड़ तत्त्वों का अनूठा मिश्रण है, और इनके बीच उभरता हुआ एक चित्र दृश्य विशेष रूप से आकर्षित करता है, जिसमें महिला वर्ग के विषय में अत्यन्त सम्मानित भाव व्यक्त है :

- *"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है*
  'महिला' कहलाती वह।" (पृ.२०२)
- *"अनागत की आशाओं से/पूरी तरह हटाकर/'अब' यानी*

आगत- वर्तमान में लाती है/'अबला' कहलाती है वह···!" (पृ.२०३)

- *" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं*
  धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
  सो···'स्त्री' कहलाती है।" (पृ.२०५)

इस प्रवाह में कुछ और चिन्तन सामने आता है :

"आवश्यक अवसर पर/सज्जन-साधु पुरुषों को भी,
आवेश-आवेग का आश्रय लेकर ही/कार्य करना पड़ता है।
अन्यथा,/सज्जनता दूषित होती है/दुर्जनता पूजित होती है।" (पृ.२२५)

और अन्तिम-चौथे खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में विलक्षण आध्यात्मिकता-आधुनिकता का संगम है। विस्तृत कथा-फलक में अनेक प्रसंग समा गए हैं और कुम्भ के तपने-परखने से लेकर स्वर्ण कलश के विकल्प में उसके श्रद्धापूर्ण उपयोग के कथा-बिन्दुओं से आगे आध्यात्मिकता और आधुनिकता के सागर में पात्रों की कष्टपूर्ण-कष्टमुक्ति अभिव्यंजना शब्दातीत है और वर्तमान से कहीं-कहीं बहुत ही स्पष्ट रूप से जुड़ जाती है। अध्यात्मवाद से भौतिकवाद का सामना और समापन अत्यन्त रोचक और कहीं-कहीं रोमांचक हो जाता है। इस खण्ड में जीवन के कुछ गुणों की अत्यन्त सारगर्भित मीमांसा की गई है, जिनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

- *"अपनी कसौटी पर अपने को कसना/बहुत सरल है,···पर*
  सही-सही निर्णय लेना बहुत कठिन है,/क्योंकि,
  अपनी आँखों की लाली/अपने को नहीं दिखती है।" (पृ. २७६)

- *"शिष्टों पर अनुग्रह करना/सहज-प्राप्त शक्ति का*
  सदुपयोग करना है, धर्म है।/और,/दुष्टों का निग्रह नहीं करना
  शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म है।" (पृ.२७६-२७७)

और अब हम इसी खण्ड में पहुँचते हैं, आधुनिक सन्दर्भ में गम्भीर विचारों के तारतम्य में, जिनमें व्यापारिक गुणदोष, आधुनिकता, पदलोलुपता, स्वास्थ्य, आतंकवाद और इन सब परेशानियों से जुड़े हुए अन्य अनेक विचारों के सागर से हमारा मन गुजरता है :

- *"भूख दो प्रकार की होती है/एक तन की, एक मन की।*
  तन की तनिक है, प्राकृतिक भी,/मन की मन जाने
  कितना प्रमाण है उसका!/वैकारिक जो रही,
  वह भूख ही क्या, भूत है भयंकर!"(पृ. ३२८)

- *"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,*
  आतंकवाद का अवतार होता है।/अति-पोषण या अतिशोषण का भी
  यही परिणाम होता है।" (पृ. ४१८)

आध्यात्मिक चिन्तन की पराकाष्ठा पर पहुँचकर यह काव्यकृति शान्ति, अहिंसा, समानता का महान् सन्देश देती है, जिन्हें इन विलक्षण शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है :

"विश्व का तामस आ भर जाय/कोई चिन्ता नहीं,
किन्तु, विलोम भाव से/यानी/ता···म···स स···म···ता···!"(पृ. २८४)

यह है आचार्यश्री विद्यासागर के महाकाव्य 'मूकमाटी' पर मेरी एक विनम्र दृष्टि। लेकिन यह कहाँ ले सकती है उसकी थाह ! क्योंकि 'मूकमाटी' की गागर का सागर अथाह है, जिसे इन्हीं चिन्तक की वाणी में कहा जाए तो :

"अगर सागर की ओर/दृष्टि जाती है,/गुरु-गारव-सा
कल्प-काल वाला लगता है सागर;/अगर लहर की ओर दृष्टि जाती है,
अल्प-काल वाला लगता है सागर।/एक ही वस्तु/अनेक भंगों में भंगायित है
अनेक रंगों में रंगायित है, तरंगायित !" (पृ. १४६)

··· और मेरी विनम्र दृष्टि भी शायद यही कुछ देख पाई है !

['धर्मयुग' (साप्ताहिक), मुम्बई, महाराष्ट्र, १७ सितम्बर, १९८९]

□



पृष्ठ १८९
जब कभी धरा पर---
---- धरती के वैभव को
ले गया है।

नई कविता का प्रथम महाकाव्य : 'मूकमाटी'

प्रो. जीवितराम का. सेतपाल

भारत की सांस्कृतिक धरोहर हैं हमारे ऋषि-मुनि, तपस्वी, सन्त और महात्मा। सन्त-महात्माओं और ऋषि-मुनियों की यहाँ एक लम्बी परम्परा रही है। भारत के धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक जीवन में इस परम्परा का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

सदियों से भारतीय जनमानस को इनकी विचारधारा प्रभावित करती रही है। हमारे ये सन्त-महात्मा बड़े ही ज्ञानी, ध्यानी, विचारक एवं समाज के हितकारक रहे हैं। इनके तप-त्याग, ज्ञान-ध्यान के आगे विश्व की महान् हस्तियाँ भी अपना सिर झुकाती रही हैं। सिकन्दर ने जब अपने गुरु से पूछा कि वह उनके लिए भारत वर्ष से क्या लाए? उत्तर में गुरु ने कहा था : "मेरे लिये भारत वर्ष से एक सन्त-महात्मा ले आना।"

सन्त परम्परा में जैन मुनियों का एक विशिष्ट स्थान है। जैन मुनि तप-त्याग, शान्ति, अहिंसा व्रत का पालन तो करते ही थे, साथ-साथ अध्ययनरत भी रहा करते थे। उन्होंने अपने ज्ञान को लिपिबद्ध किया था और अपने विचारों को लिख कर समाज के सामने रखा था। आधुनिक युग भी इससे भिन्न नहीं है। इसके साक्षी हैं जैन मुनि आचार्य विद्यासागर और उनकी 'मूकमाटी'।

वादों के घेरे से निकल कर छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता, ठोस कविता, हाशिए की कविता आदि के चक्कर से फिसलकर जब कविता सिर्फ शुद्ध कविता रह गई है, ऐसे समय में साहित्य के क्षेत्र में 'मूकमाटी' का पदार्पण सुखद आश्चर्य है, मनोनुकूल है। आश्चर्य करने के कारण हैं – एक तो आधुनिक काल में काव्य के प्रति लोगों की रुचि दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। मात्र गिने-चुने लोगों की ही कविताएँ छपती हैं अथवा कवि स्वयं पैसा देकर छपवाए। इस व्यापारिक युग में साहित्य ही उपेक्षित हो गया है, फिर कविता का क्या कहना! लेकिन इसका महत्त्व कम नहीं है! दूसरा आश्चर्य है यह उत्कृष्ट कृति मुनि के कर-कमलों द्वारा सृष्ट है, जो वर्तमान युग के लिए वांछनीय है। आद्योपान्त पढ़ जाने के बाद, 'मूकमाटी' में पिरोई गई सूक्ष्म तरंगों में अवगाहन करने पर यह भावनाओं और विचारों का सागर लगती है। सुधी समीक्षक यदि इस कृति को पूर्वाग्रह रहित होकर पढ़ेंगे तो निश्चय ही आचार्य विद्यासागर के इस महासागर से हीरे-मोती पा जाएँगे। इस कृति का जो कथ्य है, जो उद्देश्य है, वह आज के अशान्त समाज और असन्तुष्ट जीवन के लिए उपयुक्त है।

'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं', 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' तथा 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' – इन चार खण्डों में विभक्त 'मूकमाटी' की सूक्ष्म कथा का ताना-बाना मानों रेशम के धागों से बुना गया है, जो घृत एवं मखमल-सा स्निग्ध व सुकोमल है और जिसकी माटी मूक होते हुए भी मुखर है।

इस दलित, उपेक्षित मिट्टी को सामान्य जीवन में कोई महत्त्व नहीं मिलता। इसे तुच्छ मान कर सभी रौंदते हुए चले जाते हैं। हम सब इसी मिट्टी की उपज हैं, फिर भी इस बात को हम भूल जाते हैं। एक कवि याद भी दिलाता है :

"पाँच तत्त्व का पुतला मानव/सूरत न्यारी-न्यारी,
कोई उजला, कोई गोरा/बहुरंगी संसारी,
तू काहे भेद करे ?/माटी, नये-नये रूप !"

'मूकमाटी' का कवि सन्त कबीर की परम्परा को ही आगे बढ़ाते हुए अपनी माटी को अधिक मुखरित रूप से

प्रस्तुत करता है। कबीर की माटी देखिए क्या कहती है :

"माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रूँदे मोहि।
इक दिन ऐसा आयगा, मैं रूँदूँगी तोहि॥"

कबीर की माटी तो रौंदने की बात करती है, जिसमें एक प्रकार से बदले की भावना है, लेकिन आचार्य विद्यासागरजी की माटी ऐसे कुसंस्कारों से मुक्त है। वह तो अपने आप श्रम से, तप-त्याग से, साधना-आराधना से ऊँचा उठ कर, मंगल कलश बन कर जन-कल्याण के लिए तत्पर हो जाती है। यही माटी का चरमोत्थान भी है।

आजकल समाज में पानी को भी आग लग चुकी है, अतः हिंसा और मार-काट के इस युग में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना न जाने कहाँ तिरोहित हो गई है ? चारों तरफ असुरक्षा का वातावरण, बेकारी, भुखमरी, असन्तोष बना हुआ है। ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट की आँधियाँ मनुष्य को बावला बनाए दे रही हैं। मनुष्य, मनुष्यत्व से हट कर पशुवत् बन कर रह गया है। जब समाज तथा राष्ट्र में फूट और हिंसा की आग धू-धू कर जल रही है, ऐसे समय में सत्य, अहिंसा एवं शान्ति का सम्बन्ध लेकर यह कृति आई है। ईर्ष्या-द्वेष को मिटा कर, 'सादा जीवन-उच्च विचार' का उद्देश्य लेकर इसने साधना का बिगुल बजाया है, यह सामान्य बात नहीं है! सबसे बड़ी विशेषता इस कृति की यही है कि यह सारा सन्देश, उद्दिष्ट, हमें शिक्षा-दीक्षा या उपदेशों के माध्यम से नहीं मिलता और न ही हमें जो कोई भी आज्ञा ही देता है, यह इस कृति की कथा में आए पात्रों द्वारा मुखरित होता है अथवा काव्य में व्यंजित होता है, इसीलिए पाठकों को अखरता नहीं और वह ऐसी कृति का स्वागत करता है। वर्तमान अवमूल्यन के समय में मानव-मूल्य को उन्नत दिशा देने रूप इस कृति का उद्देश्य अति समीचीन है। इस समय इसकी उपयुक्तता समादरणीय है।

जनसंख्या की बेतहाशा व असन्तुलित वृद्धि के अनुपात में स्रोतों की उतनी वृद्धि नहीं हुई। अभावों की संकुलता मानव-मन व चिन्तन में इस प्रकार घुल-मिल गई है कि उसने आज के व्यक्ति को स्वार्थी, लुटेरा व आत्मकेन्द्रित कर दिया है। कल के लिए संग्रह करने की प्रवृत्ति में विग्रह कर बैठता है, वह भी परायों से नहीं, अपनों से। अपनों को ही बुरी तरह से डँसता है। आज का मनुष्य अब मनुष्य नहीं रहा, इन्सान भी इन्सान नहीं रहा। इसी बात से पीड़ित होकर उर्दू के एक शायर ने इस वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप इन्सान के ह्रास को कुछ इस प्रकार कहा है :

"बहुत कुछ हो रहा है इस तरक्की के ज़माने में
मगर यह क्या गज़ब है आदमी इन्साँ नहीं होता।"

जिस युग में इन्सान अपनी इन्सानियत खो बैठा हो, मानव अपनी मानवता खो बैठा हो, मनुष्य अपनी मनुष्यता खो बैठा हो, उस युग में जो कृति मनुष्यता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करे, वह स्पृहणीय है और वह कृतिकार वन्दनीय। इसीलिए 'मूकमाटी' का अवतरण औचित्य के धरातल पर खरा उतरता है एवं 'मूकमाटी' का कवि-कर्म श्लाघ्य है।

समाज को बहुत कुछ उत्कृष्ट देने के लिए खुद को मिटाना पड़ता है। ऐन्द्रिय सुख का त्याग अथवा उस पर नियन्त्रण आवश्यक है। दूसरों को सुख देने के लिए अपने दैहिक सुखों, सांसारिक सुखों का संवरण तो करना ही पड़ता है। यह महान् कर्म अपने आप में साधना है, तपस्या है। यह सभी लोगों के बस की बात नहीं है। कबीर की भाषा में :

"जो घर जारै आपनो चलै हमारे साथ।"

उर्दू के भी एक शायर ने कहा है :

"मिटा दे अपनी हस्ती अगर कुछ मर्तबा चाहे
कि दाना ख़ाक में मिलकर गुले गुलज़ार होता है।"

समाज-कल्याण के लिए स्वयं को मिटा देना पड़ता है। ऐसे मिटने में अमरता छिपी रहता है। 'एकोऽहं बहुस्याम्।'

सौभाग्य से 'मूकमाटी' के रचयिता स्वयं दिगम्बर जैन धर्म के सन्त हैं, जिन्होंने सांसारिकता का त्याग कर, 'बहुजन-हिताय' ही यह कवि-कर्म निर्लिप्त भाव से किया है। वे स्वयं कहते हैं कि अपने आपको मिटा देना ही प्रभु को पाना है। अपने आपको मिटाने का अर्थ है – अहं को मिटा देना। कवि की शब्द योजना में इस बात को देखें :

"तूने जो/अपने आपको/पतित जाना है
लघु-तम माना है/यह अपूर्व घटना/इसलिए है कि/तूने
निश्चित-रूप से/प्रभु को,/गुरु-तम को/पहचाना है!
तेरी दूर-दृष्टि में/पावन-पूत का बिम्ब/बिम्बित हुआ अवश्य!" (पृ.९)

वास्तव में सारा झगड़ा अहं के कारण ही उठ खड़ा होता है। आचार्य विद्यासागर ने उसी अहं को मारने की बात कही है। अहं और ईश्वर साथ-साथ नहीं चलते। कहा भी गया है :

"जब मैं था, तब हरि नहीं, अब हरि हैं, मैं नाहिं।"

ईश्वर तक पहुँचने के लिए तथा सांसारिक वैमनस्य मिटाने के लिए अहं का त्याग करना ही चाहिए। केवल अहं का ही नहीं, ईर्ष्या का भी त्याग करना आवश्यक है, यद्यपि वह है कठिन।

"लो!···इधर···!/अध-खुली कमलिनी/डूबते चाँद की
चाँदनी को भी नहीं देखती/आँखें खोल कर।/ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना
सबके वश की बात नहीं।" (पृ.२)

कवि ने काव्य का प्रारम्भ प्रकृति को लेकर ही किया है। उनके बिम्ब और चित्रण उत्कृष्ट हैं। देखिए उगते हुए सूरज का यह चित्र :

"भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है
माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।" (पृ. १)

इतना सुन्दर मानवीकरण सूर्य का शायद ही किसी कवि ने किया हो! सान्ध्य वेला का चित्रण और भी अप्रतिम है :

"न निशाकर है, न निशा/न दिवाकर है, न दिवा/अभी दिशायें भी अन्धी हैं;
पर की नासा तक/इस गोपनीय वार्ता की गन्ध/···जा नहीं सकती!
ऐसी स्थिति में/उनके मन में/कैसे जाग सकती है/···दुरभि-सन्धि वह!" (पृ.३)

शब्द 'दुरभि-सन्धि' ने इन पंक्तियों के अर्थ को द्विगुणित कर दिया है। यह कवि की ही सूझ है।

ऐसे ही प्रकृति से सम्बन्धित अनेक सुमधुर एवं उत्कृष्ट बिम्ब, चित्र 'मूकमाटी' में भरे पड़े हैं। पाठकगण जब इस कृति को स्वयं पढ़ेंगे तो वे चित्र उनके सामने आ जाएँगे।

कवि अपनी काव्य-कथा मिट्टी से ही प्रारम्भ करता है। यद्यपि माटी निर्जीव है, मगर कवि की माटी यहाँ पर बिलकुल सजीव है। उसे अपने क्षुद्र अस्तित्व का एहसास है, अस्तित्वहीनता का बोध है। अस्तित्व होते हुए भी माटी का अपनी माँ धरती से इस प्रकार कहना :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)

क्या यह माटी की विनम्रता नहीं ? माटी प्रतीक है यहाँ एक सामान्य व्यक्ति की, साधक की। विनम्रता उसका मूलगुण है। आगे की पंक्तियों में कवि ने माटी के माध्यम से ही आज के युग के लगभग समस्त मानवों की पीड़ा को युक्ति-संगत अभिव्यक्ति दी है :

"सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !" (पृ. ४)

सचमुच आज का प्रत्येक मानव किसी न किसी कारण से दुःखी और सामान्य व्यक्ति कदम-कदम पर तिरस्कृत और उपेक्षित होता रहता है। इसे हम कवि की दूरदृष्टि कहें या युगबोध कहें– पर है सत्य। संसार में माया-मोह से असम्पृक्त रहने वाला एक सन्त-महात्मा दिगम्बर जैन आचार्य विद्यासागरजी को सांसारिक युगबोध का समीचीन बोध है।

कवि तुरन्त ही अपने इस काव्य के सृजन का उद्देश्य भी प्रकट करवा देता है माटी से :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ...इसे !" (पृ. ५)

कवि मुक्ति की कामना से इस शरीर से छुटकारा पाना चाहता है। मुक्ति प्राप्त करना, ईश्वरत्व को प्राप्त करना इतना आसान नहीं होता। इसके लिए कठिन साधना, तपश्चर्या करनी पड़ती है, तब जाकर वह पद मिलता है। कवि ने इस साधारण मिट्टी को काट-छाँटकर, कंकड़-पत्थर निकालकर, जल मिलाकर, ठोक-पीटकर, चाक पर चढ़ाकर, अवा में तपाकर, अग्नि परीक्षा लेकर की, तब कहीं जाकर उसे दिव्य मंगल कलश तक पहुँचाया है। यह एक परोक्ष रूप से मानव मात्र के लिए संकेत है, सन्देश है कि जब पैरों तले रौंदी जाने वाली क्षुद्रा मिट्टी इतनी ऊँचाई तक पहुँच सकती है, तब मनुष्य क्यों नहीं ? साधारण से साधारण मनुष्य भी अपने अहं को तोड़कर ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट छोड़कर, तप-त्याग एवं साधना से आत्मोन्नति कर सकता है, अन्तर की ज्योति जगा सकता है और इसी से उसे परम पद की प्राप्ति भी हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य को साधना करनी चाहिए। परन्तु ऐसी साधना करना भी सबके वश की बात नहीं। जो कर ले जाए, वही तर जाए।

जब ऐसा दिव्य, लोक मंगल कामना का भाव लिए 'मूकमाटी' हिन्दी साहित्य गगन में सितारे की भाँति चमकी है तो फिर इसे क्यों नहीं सूर्य-चन्द्र बनाकर इसके प्रकाश को यत्र-तत्र-सर्वत्र फैलाया जाय।

'मूकमाटी' के पात्र

'मूकमाटी' के पात्रों के बारे में विस्तार से कहने के लिए एक अलग से लेख लिखना पड़ेगा, जिसका यहाँ अवकाश नहीं है। किन्तु संक्षिप्त टिप्पणी किए बगैर काम नहीं चलेगा, क्योंकि 'मूकमाटी' की कथा अपने आप में जितनी सूक्ष्म और अलौकिक-सी है, उतने ही इस कथा के विचित्र पात्र हैं। इन्हीं विचित्र पात्रों के माध्यम से 'मूकमाटी' का ताना-बाना बुना गया है। ये पात्र हैं– मत्कुण, भानु, कुमुदिनी, सर्प, चन्द्रमा, सरिता, सागर, माटी, चेतना, बादल, कुम्भकार, शिल्पी, गदहा, कंकर, कूप, रस्सी, गाँठ, रसना, मछली, बालटी, माँ, कुदाली, काँटा (शूल),

फूल, लेखनी, रसना, ढोल, प्रकृति, पुरुष, काया, मति, श्रवणा, करुणा, हिमखण्ड, कुम्भ, श्वान, सिंह, धरती, बुद्धि, प्रभा, प्रभाकर, पृथ्वी, राहु, इन्द्र, बबूल की लकड़ी, अग्नि, मिट्टी का घड़ा, स्वर्ण कलश, आतंकवादी दल, मच्छर, पवन, बिजली, पौधा, अग्नि, स्पर्शा, रसना, सेठ, श्रीफल, गुरुदेव तथा सन्त आदि-आदि।

ऐसे और भी अनेक पात्र हैं जो कथाक्रम को आगे बढ़ाते हैं। सभी पात्रों के कथनों का उदाहरण देना भी न सम्भव है और न ही यहाँ स्थान। मच्छर से हम-आप सभी परिचित हैं, मच्छर को कभी बोलता हुआ न देखा होगा, मगर यहाँ पढ़ कर अपनी जिज्ञासा शान्त कर लीजिए :

"...सन्तों ने/पाणिग्रहण संस्कार को/धार्मिक संस्कृति का
संरक्षक एवं उन्नायक माना है।/परन्तु खेद है कि
लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।
प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते/और
वेतन का वितरण भी अनुचित ही।/ये अपने को बताते
मनु की सन्तान!/महामना मानव!/देने का नाम सुनते ही
इनके उदार हाथों में/पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं,
फिर भी, एकाध बूँद के रूप में/जो कुछ दिया जाता/या देना पड़ता
वह दुर्भावना के साथ ही।" (पृ. ३८६-३८७)

मच्छर स्वयं समाज के उत्तरदायित्व को समझाता है। मच्छर के माध्यम से दहेज के लालची मनु की सन्तान को कवि ने फटकारा है। समाज में फैली हुई बुराइयों को दूर करने के लिए ललकारा है।

'मूकमाटी' में अन्तर्निहित विचार

'मूकमाटी' में जीवन के अच्छे-बुरे पहलुओं को अनेक आयामों से समझाया गया है। काव्यालंकारों के साथ सरल, सहज, मुहावरेदार भाषा की मधुरिमा से बनी चाशनी को चाटते हुए निम्नलिखित अनेक विचारों के दर्शन हम 'मूकमाटी' में कर सकेंगे :

'मूकमाटी' का रचयिता शब्द-शिल्पी है। प्राकृतिक उपादानों का मानवीकरण, अमूर्त पात्रों को मूर्त रूप देना, निर्जीव या जड़ पदार्थों को पात्र का स्वरूप देना, मनुष्येतर वस्तुओं का मानवीकरण, भारतीय संस्कृति के प्रतीक, सुन्दर प्राकृतिक चित्रण, तुकों का अनूठा सामंजस्य, आधुनिकता के अनेक दृश्य, श्रम पर बल, साधना की महत्ता, संस्कृत की उक्तियों का प्रयोग, मुहावरे-कहावतों का ज्यों-का-त्यों प्रयोग, संसार की व्यर्थताओं का निषेध, प्रगतिशील विचारधारा के तत्त्व, सूक्ष्म विश्लेषण, अप्रतिम बिम्ब योजना, साधना के स्तर की चर्चा, सूक्ष्म निरीक्षण, अहिंसा के सिद्धान्त को बल, आध्यात्मिक उन्नति पर योग-साधना द्वारा बल, मानवता के मूल्यों की उद्घोषणा, अनेक परिभाषाएँ, अलंकारों का प्रयोग– विशेषकर अनुप्रास, विज्ञान का आधुनिकतम ज्ञान, आयुर्वेदीय ज्ञान, साहित्य की व्याख्या जैसी अनेक व्याख्याएँ, शान्ति का सन्देश, शब्दों की व्याख्याएँ, लोक मंगल की भावना, खगोलीय जानकारी, आदर्श नारी चित्रण (नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, अंगना शब्दों की व्याख्या द्वारा), प्रभाकर-बदली और सागर का रूपक, अवा के माध्यम से योग-साधना का चित्रण, सन्त पूजा एवं आतंकवाद आदि ऐसे विषय हैं जिन का वर्णन इस कृति में हम पाते हैं। यहाँ निश्चित रूप से इनके अतिरिक्त कई ऐसे विषय भी हैं, जो छूट गए हैं। इन सबका यदि एक-

एक उदाहरण भी दूँ तो एक अलग से निबन्ध तैयार हो जायगा। अतः विस्तार भय से इसे यहीं छोड़ रहा हूँ।

उपसंहार

इस लेख में 'मूकमाटी' की सुगन्ध का शतांश भी नहीं है। अलंकारों से सजी, कथा-कहानी के रूप में रोचक प्रसंगों से मढ़ी, सजीव, चुटीले वार्तालापों की लड़ी, यह कृति, अपने आप में एक महान् कृति है। एक अनुपम उपहार है।

यह मुक्त छन्द में लिखी कविता का प्रथम महाकाव्य है। 'मूकमाटी' के प्रकाशन से उस प्रश्न का उत्तर तो पाठकों को व आलोचकों को मिल ही गया कि मुक्त छन्द में लिखा गया महाकाव्य कहाँ है ?

इस महाकाव्य को समझने-समझाने के लिए 'मूल कृति' से दुगने आकार की एक और पुस्तक की आवश्यकता है, जो 'मूकमाटी' पर लिखी जाए। इस कृति पर शोध प्रबन्ध या लघु शोध प्रबन्ध भी लिखे जाना चाहिए। साथ ही इसे बी. ए., एम.ए. की कक्षाओं में भी पढ़ाया जाना चाहिए, क्योंकि यह कृति भारतीय संस्कृति एवं उसकी मनीषा की वाहक है। यह कृति हमें अध्यात्म की ऊँचाइयों के दर्शन कराती है। मानव मात्र को समझने की बुद्धि देती है।

हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला, मराठी, कन्नड़ आदि भाषाओं के ज्ञाता सन्त कवि आचार्य विद्यासागर ने 'मूकमाटी' लिख कर मानव मात्र पर उपकार किया है। जितनी सिद्धहस्तता से उन्होंने इसे लिखा, बहुत कम सांसारिक कवि ऐसा कर पाएँगे।

कृति को पढ़ते-पढ़ते स्व. जयशंकर प्रसाद की अविस्मरणीय कृति 'कामायनी' की याद आ जाती है, भगवती चरण वर्मा की 'चित्रलेखा' की याद आ जाती है, वृन्दावन लाल वर्मा की 'मृगनयनी', यशपाल की 'दिव्या' और आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'आम्रपाली' की याद आ जाती है।

यह कृति सर्वथा पठनीय और संग्रहणीय है। इसे विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों तथा संस्थाओं में भी होनी चाहिए, क्योंकि इसके पढ़ने से शान्ति और अहिंसा की भावना में वृद्धि होगी, जिससे समाज में अमन-चैन का वातावरण पनपेगा।

❑



पृष्ठ १४५
किसी लय में बँध कर –
--- मुक्त नंगी रीत है।

आधुनिक हिन्दी कविता की शैली में लिखी गीता : 'मूकमाटी'

डॉ. राजमल बोरा

आचार्य विद्यासागर रचित 'मूकमाटी' काव्य वैचारिक और प्रतीक प्रधान है। इसे शीर्षक में ही महाकाव्य लिखा गया है। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने 'प्रस्तवन' लिखा है। वे लिखते हैं : ''यह कृति अधिक परिमाण में काव्य है या अध्यात्म, कहना कठिन है। लेकिन निश्चय ही यह है आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र। और, जिस प्रकार शास्त्र का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करना होता है, गुरु से जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करना होता है, उसी प्रकार इसका अध्ययन और मनन अद्भुत सुख और सन्तोष देगा, ऐसा विश्वास है।''('प्रस्तवन,' पृ. XVII)

दो बातें लक्ष्मीचन्द्रजी बतलाते हैं : (१) आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र और (२) शास्त्र का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय। इनके साथ काव्य की फलश्रुति भी उन्होंने बतला दी है।

यों 'मूकमाटी'का बाना काव्य का है किन्तु वास्तव में वह शास्त्र ही है। यों भगवद् गीता के कुछ लक्षण इसमें मिलते हैं किन्तु इसकी योजना में गीता जैसी बात नहीं है। लक्ष्मीचन्द्र जैन 'आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र' कहते हैं। मैं कहता हूँ– 'आधुनिक गीता'। केशवदास ने भी गीता लिखी थी। उसे 'विज्ञान गीता' कहा गया। किन्तु 'विज्ञान गीता', 'भगवद् गीता' नहीं हो सकी। 'मूकमाटी' को गीता के समान ख्याति मिलेगी या नहीं–इसके उत्तर में दो बातें प्रधान हैं : (१) प्रेषणीयता और (२) श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय।

'मूकमाटी' के समान काव्य लिखने की हमारे देश में लम्बी परम्परा रही है। इन्हें हम वैचारिक कहें, प्रतीकात्मक कहें, बोधपरक कहें, आध्यात्मिक कहें, विज्ञान परक कहें और सबसे प्रधान नाम 'गीता' कहें। इसी परम्परा में यह काव्य है।

'विज्ञान गीता'–केशवदास की दरबारी गीता है। ठीक इसी तरह 'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी कविता की शैली में लिखी हुई गीता है। स्वयं 'गीता' की पद्धति से लिखी हुई गीता नहीं है। इस काव्य को गीता कहने का एक मात्र कारण यह है कि इसमें चिन्तन की सामग्री है, जो बोध स्वरूप है और मनन करने पर जीवन के रहस्य को समझने में उपयोगी है।

गीता की तरह 'मूकमाटी' में संवाद हैं। किन्तु 'मूकमाटी' के सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं। उन्हें लौकिक और ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। प्रतीकात्मक पात्र प्रायः प्रेषणीय नहीं होते। ऐसे पात्रों का सम्बन्ध जीवन से सीधा नहीं होता। सब कुछ आरोपण है और आरोपण को मान लो तो ठीक है। यह तो मानना ही हुआ। मान लेते हैं, तब तो ठीक है...अन्यथा ये सब दुर्बोध रहेंगे। फिर इन सब पात्रों की संख्या बतलाना कठिन है क्योंकि ये सभी प्रतीकात्मक पात्र योजनाबद्ध नहीं हैं। संवादों में संवाद हैं और यह क्रम एक दूसरे से सम्बद्ध है। 'माटी' के 'कुम्भ' बनने की कथा है किन्तु इसमें कई पात्र इससे ऐसे जुड़ गए जो निर्माण में या सृजन में सहायक हैं। इन सबके संवादों में बोधवृत्ति को प्रधानता दी गई है। एक प्रकार से काव्य-पठन काव्य-पठन न रहकर बौद्धिक कसरत का रूप ले लेता है। आप को रुक-रुक कर पात्रों को अलगाना पड़ेगा और तब कहीं कवि आपको क्या कहना चाहता है— मालूम होगा। जिन पात्रों को आधार बनाकर कवि कह रहा है, वे सब प्रतीक हैं और प्रतीक तो अपने आप में चिह्न स्वरूप होते हैं। उन चिह्नों का जो बोध प्राप्त होता है, वह बोध ही प्रधान होता है। इस रूप में सारा काव्य प्रथम वाचन में तो किसी भी तरह प्रेषणीय नहीं हो सकता। आप आगे पढ़ते जाएँगे और पीछे भूलते जाएँगे। हमारा हृदय इस काव्य को पढ़कर प्रभावित नहीं होता क्योंकि हृदय के उपयुक्त सामग्री काव्य में प्रायः नहीं है। आप मान लेंगे, श्रद्धा रखेंगे, तब कुछ पा लें। अन्यथा सोचना ही

सोचना है।

'अखरावट' पढ़ें, 'बावन आखरी' पढ़ें या 'अलीफ नामा' पढ़ें - ये सब ऐसे काव्य हैं जिनमें प्रत्येक अक्षर में आध्यात्मिक बोध की भावना है। हम सभी से कुछ न कुछ सीखते हैं। उसी तरह खुली आँख से प्रकृति का निरीक्षण करें तो सब 'लाल' की 'लाली' है और आप भी देखते-देखते (बोध हो जाए तो) 'लाल' हो जाएँगे। कबीर तथा सूफी कवियों ने इस प्रकार के काव्य लिखे हैं और इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनको 'ज्ञानाश्रयी शाखा' के कवि कहा है। ये सब ज्ञानमार्गी हैं। 'मूकमाटी' को इस रूप में ज्ञानमार्गी कहना ठीक होगा।

'मूकमाटी' देखने में आधुनिक प्रतीत होगा। काव्य शैली आधुनिक है। छन्दोबद्ध रचना नहीं, सर्गबद्ध भी नहीं। पात्रों के अनुसार शीर्षक नहीं। संवादों में पात्रों को अलगाया नहीं गया। सब कुछ एक चलते प्रवाह में है। प्रतीकों का मानवीकरण काव्य में है, अन्यथा उनमें संवाद कैसे होता ? किन्तु मानवीकरण बौद्धिक स्तर का है। बुद्धि स्वीकार करने के उपरान्त ही उसे हृदय में प्रवेश मिल सकता है और आदि से अन्त तक के क्रम को हृदय में उतारना सचमुच बौद्धिक परिश्रम का काम है। इसीलिए इसे प्रेषणीय कहने में संकोच है।

कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार है और शब्दों के अर्थ की मीमांसा काव्य में रंगत लाती है। नाम (शब्द) रूप/लक्षण की संगति में भाषा की अर्थवत्ता को नई ज्योति मिलती है। पर्यायी अर्थों के बजाय मूल अर्थ का विश्लेषण अधिक किया गया है। अक्षर विपर्यय/शब्दान्वय के आधार पर अर्थों की मीमांसा की गई है। कुछ उदाहरण देखें :

- *"लाभ शब्द ही स्वयं/विलोम रूप से कह रहा है—*
  ला···भ···भ···ला।" (पृ. ८७)

- *"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं/और/काम के दास होते हैं।*
  हम बलवाले हैं/राम के दास होते हैं/और/राम के पास सोते हैं।
  कम्बल का सम्बल/आवश्यक नहीं हमें/सस्ती सूती-चादर का ही
  आदर करते हम !/दूसरी बात यह है कि/गरम चरमवाले ही
  शीत-धरम से/भय-भीत होते हैं/और/नीत-करम से/विपरीत होते हैं।
  मेरी प्रकृति शीत-शीला है/और/ऋतु की प्रकृति भी शीत-शीला है
  दोनों में साम्य है/तभी तो अबाधित यह/चल रही अपनी मीत-लीला है।"
  (पृ. ९२-९३)

ऐसे कई उदाहरण हैं। प्रकृति के उपादानों में मानवीय लक्षण दिखलाए गए हैं और इस तरह मानव-प्रकृति की मीमांसा कवि ने प्रस्तुत की है। इस मीमांसा में जीवन-दर्शन है। दर्शन को काव्य के बाने में प्रस्तुत करने का यह प्रयास अद्भुत है।

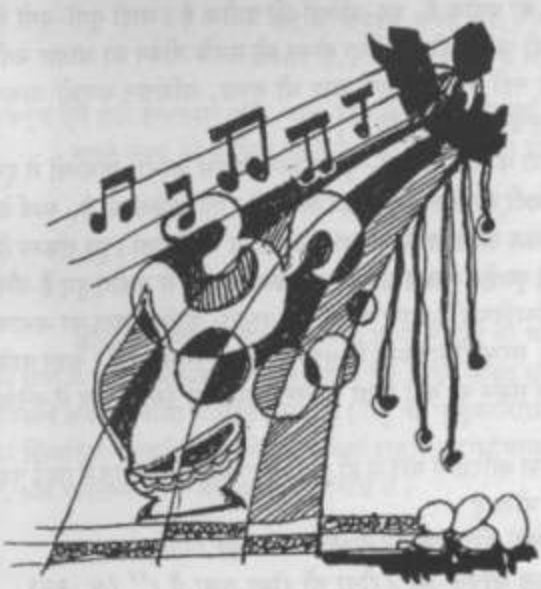
दार्शनिक दृष्टि और धार्मिक दृष्टि– यों एक ही होती है किन्तु दर्शन तो सबके लिए खुला है और धर्म के साथ आस्था पक्ष जुड़ा हुआ है। पुस्तक को धार्मिक दृष्टि से पढ़नेवाले आस्था से पढ़ेंगे जबकि दर्शन की दृष्टि से पढ़नेवाले जिज्ञासाओं का समाधान खोजेंगे। इस रूप में देखने पर जैन धर्म को मानने वाले पाठकों में और अन्य धर्म को मानने वाले पाठकों में भेद करना होगा। पुस्तक में जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या-विश्लेषण है। 'मानस-तरंग' के आरम्भ में लिखा है : "यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है, जिसमें लौकिक अलंकार अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं; अलंकार अब अलं का

अनुभव कर रहा है, जिसमें शब्द को अर्थ मिला है और अर्थ को परमार्थ; जिसमें नूतन-शोध-प्रणाली को आलोचन के मिष, लोचन दिये हैं; जिसने सृजन के पूर्व ही हिन्दी जगत् को अपनी आभा से प्रभावित-भावित किया है,''... ('मानस तरंग', पृ. XXIV)

यों सारा काव्य कवि के 'मानस-तरंग' का परिणाम है। 'मानस-तरंग' के रूप में लिखित गद्य पंक्तियाँ ज्ञान को ललित रूप में प्रस्तुत करती हैं और पूरा काव्य भी इस तरह मानस-तरंगों से युक्त है। इन तरंगों की आभा अलग-अलग रूप में रुक-रुक कर देखनी होगी। इनका मनन बहुत आवश्यक है। ज्ञान यदि मस्तिष्क से हृदय में उतर आए तो उसे ललित होना चाहिए। जहाँ दिमागी कसरत अधिक हो, उसे ललित कैसे कहें ? 'मानस-तरंग' जितना (गद्य रूप में भी) ललित है, उस रूप में काव्य ललित नहीं हो सका है। इस पर भी काव्य प्रभावित करता है। जैन दर्शन में आस्था न रखनेवाले पाठक भी इसे पढ़ेंगे तो उन्हें जीवन के रहस्य को समझने में सहायता मिलेगी।

लक्ष्मीचन्द्रजी ने 'प्रस्तवन' लिखा है। मैंने जो कुछ लिखा है, वह एक सामान्य पाठक के नाते लिखा है। इसे महाकाव्य कहकर इसके महत्त्व को कम नहीं करना है और न ही इसे लौकिक काव्यों की श्रेणी में रखना है। काव्य के विचार उदात्त हैं और वे सबको अपनी-अपनी पहचान बढ़ाने में सहायक हैं।

□



पृष्ठ १४३
स्वर संगीत का प्राण है। --- हे देवि! हे शिल्पिन्!"

'मूकमाटी' में युग-स्पन्दन

राजेन्द्र पटोरिया

'मूकमाटी' आचार्य श्री विद्यासागर द्वारा रचित महाकाव्य है। भारतीय ज्ञानपीठ ने इसका प्रथम संस्करण १९८८ में प्रकाशित किया है। सुन्दर मुखपृष्ठ पर ऊपर बादलों की गहरी व हल्की नीली और श्वेत आभा है, नीचे गहरे और हल्के पीले रंग की माटी है। इस पृष्ठभूमि पर एक मंगल कलश रखा हुआ है, जो मूकमाटी की मूक साधना की परिणति है। सुन्दर मुखपृष्ठ के अतिरिक्त चारों खण्डों में सार्थक चित्र दिए हैं। प्रथम खण्ड का चित्र चक्राकार गतियों से बना है। दूसरे खण्ड में मंगल कलश के साथ अनुभूति की आँखें चित्रित हैं। तीसरे खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में जल में जल से भिन्न कमल अंकित है। और चौथे खण्ड में अग्नि की लपटें और चाँदी-सी राख के ढेर का चित्रांकन है।

महाकाव्य की पृष्ठ संख्या ४८८ है। इसके साथ श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का 'प्रस्तवन' है, जो कृति का परिचय भी देता है और कृति का यथार्थ स्तवन भी करता है। यह प्रस्तवन महाकाव्य के भाल पर बिन्दी की तरह सुशोभित है। कवि का कृति के विषय में आत्मकथ्य 'मानस तरंग' के रूप में है, जिसके अनुसार सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की मान्यता के निराकरण जैसे मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन के साथ धार्मिक, शैक्षणिक, सामाजिक कुरीतियों का निराकरण व वीतराग श्रमण संस्कृति की सुरक्षा कृति का पावन प्रयोजन है।

'मूकमाटी' आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। काव्य के आवरण में लिपटे हुए दर्शनपक्ष के अतिरिक्त इस काव्य का एक और पक्ष है—युग-सन्दर्भ का, युग-स्पन्दन का।

मेरी दृष्टि में 'मूकमाटी' ज़मीन से जुड़े लोगों की प्रतीक है, पद-दलितों की प्रतीक है। माटी युगों-युगों से परिवर्तनों को देख रही है, झेल रही है। सर्वंसहा धरती की पुत्री माटी पददलित होकर भी सबके जीवन का आधार बनी हुई है। वह अन्न, औषधि, ईंधन, आश्रय, छाया क्या नहीं देती ? उसके बाद भी तुच्छ, अकिंचन समझी जाकर पददलित होती है। इस माटी के चरम भव्य रूप के दर्शन इस कृति में होते हैं।

मानसिक तनाव इस युग की देन है। इस समस्या का समाधान है—दृढ़ संकल्प से श्रम करना, विकल्पों से दूर रहना। कुम्भकार ऐसा ही कुशल शिल्पी है, जो बिखरी माटी को नाना रूप प्रदान करता है। वह अविकल्पी है, व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों में झूलता नहीं है, इसीलिए तनाव का भार कभी उसके मस्तिष्क में आश्रय नहीं पाता। दृढ़ संकल्प से अपना कर्तव्य करता है, इसलिए करवंचना जैसे दोषों से दूर है। अपनी संस्कृति को विकृत होने से बचाए हुए है और इसीलिए वह तनावमुक्त है। अहंकार को त्याग कर कर्तव्यनिष्ठा से काम करता है। वस्तुतः कर्तव्यनिष्ठा का अभाव हमारे देश की भ्रष्टाचार से भी बड़ी समस्या है। विशेषतः सरकारी महकमों में अकर्मण्यता का साम्राज्य है। वेतन वाले वतन की ओर कब ध्यान दे पाते हैं ? इसीलिए कोई काम समय पर नहीं होता। जनसाधारण को इस विलम्ब से अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

माटी उन गरीबों की प्रतिनिधि है, जिनकी कुटिया बारिश में थोड़े से ही पानी से टपकती है, ज़मीन में गड्ढे पड़ जाते हैं। इनका घर ही नहीं, सारा जीवन ही आँसुओं से भींगा है :

"अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;/कोठी की नहीं
कुटिया की बात है/...इस जीवन-भर/रोना ही रोना हुआ है।" (पृ. ३२)

दोहरा चरित्र या मायाचारिता मानवीय आचरण की एक और दुर्बलता है। बगुलाभक्तों ने इस दुनिया को खूब छला है :

"बाहरी लिखावट-सी/भीतरी लिखावट/मात मिल जाये,

फिर कहना ही क्या !" (पृ. ७२)

विसंगतियाँ धर्म के क्षेत्र में भी फैली हुई हैं। अवसरवादिता व्यक्ति, समाज एवं राजनीति के साथ धर्म में भी व्याप्त है :

"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।" (पृ. ७३)

आज भारतीय समाज में भी पद और पैसे का अनुचित महत्त्व बढ़ गया है। ऐसा लगता है मानों धन जीवन के लिए नहीं, अपितु जीवन ही धन के लिए है :

" "सुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
'वसु' यानी धन-द्रव्य/'धा' यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

सागर ने धरती का धन हरण किया। चन्द्रमा को धूँस दी, परन्तु न्याय-पथ का पथिक सूर्य उसका विरोध करता रहा। घूँसखोर, भ्रष्टाचारी, परधनलम्पट लोगों के लिए ऐसे ईमानदार लोग राह का काँटा बन जाते हैं। वे उन्हें अपनी ओर मिलाने का भरसक प्रयत्न करते हैं। पहले समझाते हैं, लालच देते हैं और नहीं मानने पर रास्ते से हटा देते हैं या हटवा देते हैं। सागर का पक्षधर बादल सूर्य को समझाता है कि सागर का पक्ष ग्रहण कर ले और :

"कर ले अनुग्रह अपने पर,/और,/सुख-शान्ति-यश का संग्रह कर !
अवसर है,/अवसर से काम ले/अब, सर से काम ले !" (पृ. २३१)

सचमुच ऐसे हठी ईमानदार लोग आज की धूर्त दुनिया को मूर्ख नज़र आते हैं।

अपने लक्ष्य को हासिल करने के लिए केवल उपाय ही पर्याप्त नहीं, विघ्नों का उपशमन भी अनिवार्य है :

"उपाय की उपस्थिति ही/पर्याप्त नहीं,/उपादेय की प्राप्ति के लिए
अपाय की अनुपस्थिति भी अनिवार्य है।/और वह
अनायास नहीं, प्रयास-साध्य है।" (पृ. २३०)

और इस विघ्न को हटाने के लिए सागर ने राहु को भड़काया। आपके सम्मुख मनमानी करता है सूर्य। धरती की सेवा के बहाने आपका उपहास करता है। सागर केवल धनलोभी लुटेरा ही नहीं, धनसंचय के लिए हर प्रकार के हथकण्डे अपनाने वाला आधुनिक धनी है। राहु की चाटुकारिता कर उससे अपनी स्वार्थसिद्धि करता है। यान में भर-भर कर झिलमिल-झिलमिल अनगिनत निधियाँ राहु के घर पहुँचाता है। राहु का घर अनुद्यम प्राप्त अमाप निधि से भर जाता है, और मस्तिष्क विष-सी विषम पापनिधि से।

समुद्र के बहाने पर-सम्पदा को हरण करने वाले व्यक्ति की ओर संकेत है :

"पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।
यह अति निम्न-कोटि का कर्म है/स्व-पर को सताना है,
नीच-नरकों में जा जीवन बिताना है।" (पृ. १८९)

आज अर्थ की भूख ने बड़ों-बड़ों को निर्लज्ज बनाया है :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

इसी कारण शासनतन्त्र भी धनतन्त्र बन गया है, फलतः यहाँ निरपराधी ही पिटते हैं :

"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,/और उन्हें
पीटते-पीटते टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)

इस युग में यदि कथंचित् न्याय मिल भी जाए तो इतनी देर से मिलता है कि वह न्याय नहीं, अन्यास-सा लगता है।

स्वर्ण के प्रति कवि का कथन है :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !" (पृ. ३६६)

जीवन यूँ ही बिता देने के लिए नहीं है, पार लगाने के लिए है। यही उसकी सार्थकता है और अन्यों की तुलना में नयापन भी :

"जीवन का, न यापन ही/नयापन है/और/नैयापन !" (पृ. ३८१)

दहेज दिन-प्रति-दिन फैलती जा रही समस्या है। इसका कारण भी धन के प्रति अनुचित मोह और समाज-मानस द्वारा उसे चरित्र से ज्यादा सम्मान देना है। इसीलिए :

"लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ. ३८६)

वर्णव्यवस्था को जन्मजात मानकर जो हमारे समाज ने अभिशाप भोगा है, उसके शमन के लिए ही मानों आरक्षण द्वारा हम असवर्ण को ऊपर उठाना चाहते हैं, परन्तु सन्त कवि का स्पष्ट मत है :

"नीच को ऊपर उठाया जा सकता है,
उचितानुचित सम्पर्क से/सब में परिवर्तन सम्भव है।" (पृ. ३५७)

परन्तु इस परिवर्तन के लिए केवल आर्थिक, शैक्षणिक आदि सहयोग मात्र से काम नहीं चलेगा। इस कार्य का सम्पन्न होना सात्त्विक संस्कार पर आधारित है।

इसमें आतंकवाद की समस्या को भी चित्रित किया गया है। आतंकवाद का जन्म अतिपोषण या अतिशोषण से होता है।

प्राणदण्ड देना भी एक तरह से अपराध है, क्योंकि उससे दण्डित होने वाले की उन्नति के अवसर समाप्त हो जाते हैं :

"क्रूर अपराधी को/क्रूरता से दण्डित करना भी
एक अपराध है,/न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।" (पृ. ४३१)

समाज की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार दी है :

"प्रचार-प्रसार से दूर/प्रशस्त आचार-विचार वालों का
जीवन ही समाजवाद है।" (पृ. ४६१)

समाजवाद-समाजवाद चिल्लाने वालों की आस्था समाजवाद में नहीं–'सबसे आगे मैं, समाज बाद में' में है।

सच्चा समाजवाद धनसंग्रह में नहीं, जनसंग्रह में है। लोभ के वशीभूत हो, जो अँधाधुन्ध संकलन किया है, उसका वितरण होना चाहिए। अन्यथा, अभाव में चोरी के भाव जागते हैं। 'चोरी मत करो' कहना ऊपरी सभ्यता का उपचार है। धर्म का नाटक है। दोषी चोर को जन्म देने में कारण धनिक हैं, चोर नहीं।

मायाचारी मनुष्य कुत्ते की भाँति है जो पीठ पीछे से काटता है, बिना प्रयोजन भौंकता है और एक टुकड़े के लिए पूँछ हिलाता है। वह स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझता :

"पराधीनता-दीनता वह/श्वान को चुभती नहीं कभी,
श्वान के गले में ज़ंजीर भी/आभरण का रूप धारण करती है।" (पृ. १७०)

स्वाभिमानी जीवन के लिए श्रम का जीवन में महत्त्व है। श्रम के बिना :

"परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है!" (पृ. २१२)

हिंसा का जन्म पहले विचारों में होता है, फिर आचरण में :

"तीन सौ त्रेसठ मतों का उद्भव होता है/जो परस्पर एक-दूसरे के
खून के प्यासे होते हैं/जिनका दर्शन सुलभ है/आज इस धरती पर!" (पृ. १६९)

इसके समाधान के लिए अनेकान्त दृष्टि आवश्यक है, क्योंकि 'ही' एकान्त दृष्टि है तथा 'भी' अनेकान्त दृष्टि है :

" 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को
'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है।" (पृ. १७३)

यह 'भी' ही लोकतन्त्र की रीढ़ है। लोकतन्त्र में बहुमत-अल्पमत सभी को समान महत्त्व मिलना चाहिए :

"लोक में लोकतन्त्र का नींव/तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।
'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,
सद्विचार सदाचार के बीच/'भी' में हैं 'ही' में नहीं।" (पृ. १७३)

लेकिन लोकतन्त्र में बहुमत का महत्त्व है, जिसका परिणाम होता है अपात्र/अयोग्य की पूजा। बहुमत से चुना व्यक्ति या मत कितना ही दूषित या घातक क्यों न हो, वह पूजनीय हो जाता है।

"प्रायः बहुमत का परिणाम/यही तो होता है,

पात्र भी अपात्र की कोटि में आता है/फिर,
अपात्र की पूजा में पाप नहीं लगता।" (पृ. ३८२)

इसीलिए :

- *"पतितों को पावन समझ, सम्मान के साथ/उच्च सिंहासन पर बिठाया जा रहा है।*
  और/पाप को खण्डित करने वालों को/पाखण्डी-छली कहा जा रहा है।" (पृ.४१०)
- *"किन्तु आज !/काँच-कचरे को ही सम्मान मिल रहा है।" (पृ. ४१२)*

जिनकी झोली खुद आँसुओं से भरी हो, वे दूसरों के आँसू कैसे पोंछ सकते हैं :

"अपनी प्यास बुझाये बिना/औरों को जल पिलाने का संकल्प
मात्र कल्पना है,/मात्र जल्पना है।" (पृ. २९३)

वस्तुतः इस पंक्ति में इतनी व्यंजना है कि इसके अनेक ध्वन्यर्थ निकलते हैं। किसी की मदद करने के लिए मदद करने वाले को समर्थ होना होगा, अन्यथा मदद करने की बात केवल दम्भ है। समाज सेवा वही कर सकता है, जो स्वयं सन्तुष्ट हो, जिसे सेवा की आवश्यकता न हो। अथवा, दूसरे के ज्ञान की प्यास वही बुझा सकता है, जो स्वयं ज्ञानी हो। व्यंजना शक्ति-सम्पन्न यह पंक्ति इतनी सशक्त और मार्मिक है कि बार-बार पढ़ने को प्रेरित करती है।

साधकों के लिए नारी सिद्धिमार्ग की बाधा रही है, इसीलिए प्रायः धर्माचार्यों ने नारी के प्रति अनादर के भाव व्यक्त किए हैं। परन्तु इस काव्य में आचार्यश्री ने नारी के पर्यायवाची शब्दों के माध्यम से उसके प्रति अपना आदरभाव व्यक्त किया है :

- *"...पुरुष को रास्ता बताती है/सही-सही गन्तव्य का—*
  महिला कहलाती वह !" (पृ. २०२)
- *"संग्रह-वृत्ति और अपव्यय-रोग से/पुरुष को बचाती है सदा,*
  अर्जित-अर्थ का समुचित वितरण करके।" (पृ. २०४)

स्त्री अपने साथ पति के हित का भी साधन करती है :

"अपना हित स्वयं ही कर लेती है,/पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे/वह दुहिता कहलाती है।" (पृ. २०५)

जो कुपथगामिनी स्त्री दिखाई देती है, उसके पीछे पुरुष ही कारणभूत है :

"प्रायः पुरुषों से बाध्य हो कर ही/कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को
परन्तु,/कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।"
(पृ. २०१-२०२)

त्यागप्रधान और सुख-शान्ति की पोषिका भारतीय संस्कृति की सुरक्षा का भाव रखते हुए यह कृति समाज व राजनीतिगत कुरीतियों का निर्देश कर, मात्र उनसे परिचित ही नहीं कराती अपितु उनके निराकरण का सन्देश भी देती है। कवि ने युगचेतना को आत्मसात् कर उसे वाणी दी है।

□

'मूकमाटी' : एक कलात्मक महाकाव्य

डॉ. रामस्वरूप खरे

साहित्य के मूल में आत्माभिव्यंजन की अभीप्सा और चारुता के प्रति असीम अनुराग–ये दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ प्रधान रूप से कार्य सम्पादित करती हैं। सौन्दर्य का अनन्य उपासक सामाजिक सहृदय प्राणी आत्माभिव्यक्ति के साधन में भी सौन्दर्याभिव्यक्ति को सर्वाधिक स्वीकार करता है। इस प्रकार अन्त:करण को प्रभूत मात्रा में प्रफुल्लित करने के लिए आनन्दोपलब्धि हेतु प्रेरक एवं मार्मिक भाषा में आत्मा की अभिव्यक्ति 'साहित्य' नाम से अभिहित की जाती है। नि:सन्देह साहित्य मानव-मस्तिष्क की सर्वोत्तम उपलब्धि है।

साहित्य को चाहे 'ज्ञान राशि का संचित कोष' कहा जाय या 'मानव जीवन की व्याख्या' माना जाय अथवा 'भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति' स्वीकार करें, इसमें कोई दो मत नहीं कि साहित्य का जीवन से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। साहित्य जीवन की सशक्त एवं अनुप्रेरक शक्ति तो है ही, साथ ही साथ उसमें जीवन की विभिन्न अनुभूतियों का समावेश भी रहता है। साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ उसकी जाति एवं समाज के विशाल जीवन का प्रतिबिम्ब भी विद्यमान रहता है। साहित्य, समाज और जीवन–ये तीन बिन्दु एक श्रेष्ठ साहित्यकार का संस्पर्श पाकर कला का सुन्दर रूप धारण कर लेते हैं।

साहित्य-सर्जना में साहित्यकार का बहुत बड़ा हाथ होता है। 'साहित्यकार' इस दृष्टि से केवल एक कलाकार ही नहीं होता, वरन् वह समाज-नियन्ता तथा उसका समुन्नायक भी होता है। उसकी कृतियाँ समाज को प्रेरणा प्रदान करने की क्षमता रखती हैं, उसकी प्रगति में सहयोग देती हैं और उसकी परिस्थितियों को बदलने तथा सुधारने में भी हाथ बँटाती हैं। साहित्यकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने तथा समाज के अन्य व्यक्तियों के अन्यथा नश्वर भावों को कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि विविध साहित्यिक कृतियों के रूप में अमर बनाने की क्षमता रखता है। वह समाज के मूक भावों को वाणी प्रदान करता है, उसके अस्थिर भावों को स्थाई बना देता है। साहित्यकारों की विविध रचनाओं की समष्टि ही साहित्य के रूप में हमारे सम्मुख आती है। अस्तु, इस प्रकार साहित्य को हम मानव समाज का 'सर्वांग सम्पन्न शरीर' स्वीकार करेंगे और निश्चित ही काव्य को उसकी 'आत्मा' मानना अतिशयोक्ति नहीं मानी जाएगी। साहित्य के विविध एवं अन्यान्य रूपों की अपेक्षा काव्य में हृदय को प्रभावित करने की सर्वाधिक क्षमता पाई जाती है। जिन भावों को नाटक, कहानी, निबन्ध आदि माध्यमों से प्रकट करने पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, वे भी काव्य रूप में अत्यधिक मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी बन जाते हैं। काव्य, जड़ को चेतन, असुन्दर को सुन्दर, कठोर को आर्द्र, क्षुद्र को महान्, अस्पृश्य को स्पृश्य, अरसिक को रसज्ञ एवं मूढ़ को पण्डित बना देने की क्षमता रखता है। काव्य हृदय-परिवर्तन के साथ ही साथ व्यक्ति में प्रेम, सहानुभूति, सौहार्द्र, चेतना प्रभृति मानवीय गुणों को प्रादुर्भूत कर सकता है। यही कारण है कि काव्य को साहित्य में मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। इस सन्दर्भ में कतिपय भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों की धारणाओं को जानना विषय के प्रतिपादन के निमित्त अधिक उपादेय रहेगा।

भारतीय आचार्यों में भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में 'सहित शब्द और अर्थ' को काव्य स्वीकार किया है तो सुप्रसिद्ध आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में काव्य के शब्दार्थ रूपी शरीर को अलंकृत करने वाले आभरणों को महत्ता प्रदान की है। जबकि आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में 'ध्वनि को ही काव्य की आत्मा' कहा है। आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति' में रीति को काव्य माना तो कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' में वक्रोक्ति को, मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में 'दोष रहित गुणवाली, अलंकार युक्त तथा कभी-कभी अलंकार सहित शब्दावली रचना को, विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में 'रसात्मक वाक्य' को तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक'

को काव्य की संज्ञा से अभिहित किया। अग्निपुराण, रुद्रट ने 'काव्यालंकार', भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण', हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' एवं जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में भी कुछ इसी प्रकार की मान्यताओं को प्रतिष्ठापित किया।

आधुनिक युग के रसवादी समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'चिन्तामणि' में 'आत्मा की मुक्तावस्था और हृदय की मुक्तावस्था' को एवं महादेवीजी 'महादेवी के विवेचनात्मक गद्य' में 'मनुष्य को ही एक सजीव काव्य' स्वीकार करती हैं। इस प्रकार 'सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन' है।

पाश्चात्य विद्वानों में जॉनसन के अनुसार 'छन्दोबद्ध रचना' को, कार्लायल ने 'संगीतमय विचार,' शेली ने 'कल्पना की अभिव्यक्ति', हैजलिट ने 'कल्पना और भावना की युति', वर्ड्सवर्थ ने 'प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह,' मैथ्यू आर्नाल्ड ने 'जीवन का विश्लेषण' एवं रशिका ने 'उदात्त मनोवेगों का सुन्दर क्षेत्र' ही काव्य माना है। निष्कर्षतः पाश्चात्य काव्य मर्मज्ञ काव्य के चार प्रमुख तत्त्व स्वीकार करते हैं, जो इस प्रकार हैं :

(१) भाव तत्त्व (इमोशनल ऐलीमेण्ट)
(२) बुद्धि तत्त्व (इन्टैलेक्च्युअल ऐलीमेण्ट)
(३) कल्पना तत्त्व (ऐलीमेण्ट ऑफ इमेजिनेशन)
(४) शैली तत्त्व (ऐलीमेण्ट ऑफ स्टायल)

भारतीय काव्य विशारद काव्य को प्रायः दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य–इन दो प्रमुख भेदों में बाँटते हैं। दृश्य काव्य के रूपक और उपरूपक अन्य दो और उपभेद हैं, जबकि श्रव्य काव्य के गद्य, पद्य और चम्पू–ये तीन प्रमुख उपभेद हैं।

गद्य के अन्तर्गत कहानी, आख्यायिका, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना, रेखाचित्र प्रभृति विधाएँ आ जाती हैं। छन्द रहित विधा 'गद्य' नाम से जानी जाती है। जबकि छन्दोबद्ध रचना को 'पद्य' कहते हैं। इसके दो प्रमुख भेद हैं – (१) प्रबन्ध काव्य (२) मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य में पद्य परस्पर सापेक्ष रहते हैं। इसके पद्य किसी कथा-सूत्र अथवा क्रमबद्ध वर्णन से सम्बद्ध होते हैं। वे सम्बद्ध अथवा सामूहिक रूप से अपने विषय का ज्ञान कराते हैं और रसोद्रेक में सक्षम होते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में लिखा है कि 'मुक्तक काव्य' में प्रत्येक पद की स्वतन्त्र सत्ता रहती है और वह स्वतन्त्र रूप में अपना भाव व्यक्त करता है। विषय परिमाण की दृष्टि से प्रबन्ध काव्य के भी दो और भेद किए जाते हैं, वे हैं– (१) महाकाव्य और (२) खण्ड काव्य।

महाकाव्य में जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति होती है। इसका विषय अत्यधिक विस्तृत एवं व्यापक होता है। कथावस्तु किसी महापुरुष से सम्बन्धित होती है। कथा के आधार पर जीवन के विविध अंगों पर प्रकाश डाला जाता है। संस्कृत में रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि महाकाव्य माने गए हैं। हिन्दी में रामचरितमानस, साकेत, कामायनी प्रभृति उल्लेख्य महाकाव्य हैं।

महाकाव्य का सर्वप्रथम विवेचन भामह प्रणीत 'काव्यालंकार' (परि.१/१९-२३) में उपलब्ध होता है। गद्य-पद्यमयी मिश्रित रचना को 'साहित्यदर्पण'कार (परि.६/३३६) ने 'चम्पू' नाम से अभिहित किया है।

पाश्चात्य विद्वानों ने व्यष्टि और समष्टि के आधार पर काव्य के दो भेद किए हैं :

(१) विषयीगत (सब्जैक्टिव), (२) विषयगत (ऑब्जैक्टिव)

अर्थात् जो काव्य कवि के व्यक्तित्व से, उसके निजी भावों और अनुभूतियों से सम्बन्ध रखते हैं, उन्हें विषयीगत भाव प्रधान अथवा स्वानुभूति निरूपक काव्य कहा जाता है। और जिन काव्यों में बाह्य जगत् के कार्य-कलापों तथा समाज अथवा जाति विशेष की मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति रहती है, उन्हें विषयगत अथवा बाह्यार्थ निरूपक काव्य माना जाता है। इस प्रकार प्रथम प्रकार के काव्य में प्रगीति या गीति काव्य (लिरिक) को तथा दूसरे प्रकार के काव्य में महाकाव्य

(एपिक) को प्रमुख स्थान दिया गया है। भाव प्रधान काव्यों में कवि दृष्टि अन्तर्मुखी रहती है जबकि विषयप्रधान काव्यों में वह बहिर्मुखी बन जाती है।

उपर्युक्त काव्य भेद विभाजन में पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि मनोवैज्ञानिक अधिक है। डॉ. गोविन्द राम शर्मा (हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ. २७) के अनुसार निष्कर्षतः कहा जा सकता है : ''वस्तुतः कवि संसार में अपने आपको और अपने आप में संसार को देखता है। वह संसार के सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि को अपनाने की योग्यता रखता है और उसकी निजी अनुभूतियाँ संसार के दूसरे व्यक्तियों की अनुभूतियों से सर्वथा भिन्न भी नहीं होतीं। विषयप्रधान काव्य में भी बाह्य वस्तुओं के वर्णन पर कवि के व्यक्तित्व की छाप बनी रहती है। भावप्रधान काव्य में भी कवि की निजी अनुभूति संसार की अनुभूति से मिश्रित रहती है। यही कारण है कि तुलसी के रामचरितमानस जैसे विषयप्रधान काव्य में पाठक समाज के हृदय के साथ ही तुलसी के भक्ति-प्रवण हृदय को भी टटोलता है और उसके 'विनय पत्रिका' जैसे भावप्रधान नीतिकाव्य में पाठक कवि की अनुभूतियों में अपनी अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब भी देखता है।''

संस्कृत काव्य के क्षेत्र में आचार्य विश्वनाथ की महाकाव्यीन परिभाषा ही अत्यधिक विश्रुत हुई। उनके 'साहित्य दर्पण' (परि.६/११५-१२५) के अनुसार : ''महाकाव्य की कथा सर्गों में विभक्त होना चाहिए। इसका नायक देवता अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई उच्च कुलोत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं। इसमें शृंगार, वीर और शान्त रूप इन तीन रसों में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिए और अन्य रस इसके सहायक होना चाहिए। इसमें नाटक की सारी सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उपसंहृति-निर्वहण) होना अपेक्षित है।

महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक होता है, यदि ऐतिहासिक न हो तो किसी सज्जन व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाला होना चाहिए। इसमें चार वर्गों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) में से कोई एक फलरूप में होना चाहिए। इसके आरम्भ में नमस्कार, आशीर्वचन अथवा मुख्य कथा की ओर संकेत के रूप में मंगलाचरण विद्यमान रहता है। इसमें कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा होती है। इसके सर्गों की संख्या आठ से अधिक होना चाहिए और इन सर्गों का आकार बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा भी नहीं होना चाहिए। प्रायः प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग और सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन उचित माना जाता है। एक सर्ग में विभिन्न छन्दों का वर्णन भी हो सकता है। सर्गान्त में भावी कथा की सूचना अवश्य होना चाहिए।

इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग-वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, युद्ध, यज्ञ, विवाह, मन्त्रणा, पुत्रोत्पत्ति आदि का यथावसर सांगोपांग वर्णन होना चाहिए।

महाकाव्यों का नाम कवि, कथावस्तु, नायक अथवा किसी अन्य व्यक्ति के नाम के आधार पर होना चाहिए और सर्गों के नाम सम्बन्धित कथा के आधार पर होना चाहिए।''

पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य विषयक अपनी-अपनी धारणाओं को व्यक्त किया है। आइए, उन पर भी एक विहंगम दृष्टि डालते चलें।

डौमेस्ट्रियस की 'अरिस्टोटिल पोइटिक्स' के अनुसार : ''जहाँ तक शब्दों के माध्यम से महान् चरित्रों और उनके कार्यों के अनुकरण का सम्बन्ध है, महाकाव्य और त्रासदी में समानता पाई जाती है, किन्तु कुछ बातों में महाकाव्य त्रासदी से भिन्न होता है। महाकाव्य में आदि से लेकर अन्त तक एक ही छन्द का प्रयोग होता है। वह प्रकथनात्मक होता है और उसके कार्य-व्यापार में समय की कोई सीमा नहीं रहती, जबकि त्रासदी का कार्य-व्यापार लगभग २४ घण्टे तक

ही सीमित रहता है।'' जबकि एम. डिक्सन की 'इंग्लिश ईपिक एण्ड हीरोइक पोयट्री' में उल्लिखित अन्य समालोचकों में लार्ड केम्स के अनुसार : ''वीरतापूर्ण कार्यों का उदात्त शैली में वर्णन ही महाकाव्य है।'' प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् ल वस्सु –''प्राचीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं की छन्दोबद्ध रचना को महाकाव्य कहते हैं।'' जबकि हाब्स के मतानुसार– ''वीरतापूर्ण प्रकथनात्मक कविता ही महाकाव्य है।''

पाश्चात्य समीक्षकों ने भी महाकाव्य के दो भेद स्वीकार किए हैं :

(१) विकसनशील महाकाव्य (ईपिक ऑफ ग्रोथ), (२) कलात्मक महाकाव्य (ईपिक ऑफ आर्ट)

इन्हीं दो भेदों को प्रकारान्तर से प्रामाणिक (ऑथेन्टिक) और साहित्यिक (लिटरेरी) महाकाव्य कहा गया है।

विकसनशील महाकाव्य साधारणतया एक व्यक्ति की रचना न होकर अनेक व्यक्तियों की रचनाओं का सुसम्बद्ध साहित्यिक रूप होता है। 'द एपिक' में एल. एबरक्रॉम्बी के अनुसार : ''कभी-कभी ऐसे महाकाव्य में एक ही लेखक जनता में प्रचलित विविध कथाओं को एक सूत्र में गूँथकर उन्हें सुन्दर काव्योचित रूप प्रदान करता है। विकसनशील महाकाव्य की रचना मुख्यतया सुनने-सुनाने के लिए होती है।'' यह वास्तव में श्रव्य काव्य माना जाता है। इसमें वीर पुरुषों की वीर गाथाओं का वर्णन स्वाभाविक सीधी-सादी शैली में होता है। होमर के 'इलियड' एवं 'ओडिसी' जैसे महाकाव्यों को विकसनशील महाकाव्य कहा जाता है। संस्कृत के 'महाभारत' और 'रामायण' की गणना भी ऐसे ही महाकाव्यों में की जाती है।

कलात्मक महाकाव्य व्यक्ति विशेष की साहित्यिक रचना होती है। इसमें स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता रहती है। मुख्यतया पढ़ने के लिए ही इसकी रचना होती है, इसीलिए इसे हम श्रव्य काव्य न कहकर 'पाठ्य काव्य' कह सकते हैं। इसकी रचना जन-साधारण के लिए नहीं अपितु विद्वानों के लिए होती है। काव्य के निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर इसका निर्माण होता है। इसमें काव्य के कलापक्ष की प्रधानता रहती है। इसमें कवि का ध्यान मुख्यतया भाषाशैली की सुन्दरता की ओर रहता है और इसीलिए इसमें काव्य कला का उत्कृष्ट, निखरा हुआ रूप पाया जाता है। वर्जिल के 'इलियड' और मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' जैसी रचनाओं को 'कलात्मक महाकाव्य' माना जाता है। कालिदास के 'रघुवंश' तथा 'कुमार सम्भव' जैसे महाकाव्यों को हम इसी श्रेणी में स्थान देते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण और विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि महाकाव्यों की परिभाषाएँ एवं लक्षण देश-काल एवं वातावरण को दृष्टिगत रखते हुए परिवर्तनीय हैं। यही प्रकृति का भी नियम है। समूचा संसार परिवर्तनशील है और यह परिवर्तन ही क्रमशः नवीनता का उत्स है। जो परिभाषाएँ एवं लक्षण ऊपर वर्णित किए गए, वे तत्कालीन महाकाव्यों को दृष्टि में रखकर ही निर्धारित किए गए प्रतीत होते हैं। अस्तु, यह आवश्यक नहीं कि किसी महाकाव्य में सभी निर्दिष्ट लक्षण दृष्टिगोचर हों। पर हाँ, यह निर्विवाद सत्य है कि उक्त लक्षणों में से अधिकाधिक लक्षणों अथवा कुछ प्रमुख लक्षणों के होने पर ही कोई विशिष्ट कृति महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित की जा सकती है।

'मूकमाटी' का कथानक इस प्रकार है– प्रकृति के सुरम्य वातावरण में सरिता तट की माटी अपनी माँ धरती के प्रति करुणाक्रन्दन करती है। पद दलिता होने का उसे क्षोभ है। वर्णसंकरी दृष्टि से मुक्ति पाना ही उसका एकमेव उद्देश्य है। अस्तित्व का कभी नाश नहीं होता है, रूपान्तरण सम्भव है। लघुत्व से ही महत्त्व मिलता है। आस्था के बिना कोई मार्ग नहीं मिलता। प्रतिकूलता व्यवधान नहीं, यदि उसे अपने अनुकूल बना लिया जाए। उत्तर-प्रति उत्तर। उपादानों एवं माध्यमों का जीवन में महत्त्व है। अस्तु, इनका तिरस्कार कर उनका उपकार मानना चाहिए। कुशल शिल्पी का संस्पर्श पाकर ही सामान्य मृदा अनमोल मंगल घट के रूप में परिवर्तित हो आत्म-स्वरूप का लाभ प्राप्त करती है और शीतल जल प्रदान कर दूसरों की तृषा शान्त करती है। अपने को मिटाकर दूसरों को सुख देना ही मोक्ष है। कवि के शब्दों में :

"अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं
और/इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव !
अर्थ यह हुआ कि/पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है
और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

रस्सी-बालटी, मछली और सागर (जीवात्मा-परमात्मा), शिल्पी द्वारा करुणा का उद्रेक, युगों का वर्णन, विषय-वासना बन्धन का मूल है, और यही प्रथम आर्य सत्य है। किन्तु यह सब बिना गुरु-कृपा प्राप्य नहीं। अन्ततोगत्वा 'दयाविसुद्धो धम्मो' की ध्वनि का अनुगुंजन और उसी में समाधि सुख की उपलब्धि। इस प्रकार प्रथम खण्ड का शीर्षक 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' सार्थक सिद्ध हुआ।

द्वितीय खण्ड का शीर्षक है–'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।' निःसन्देह यह खण्ड हमें माटी की भावी यात्रा की ओर ले जाता है। कष्टसहन और विनम्रता का भाव ही लक्ष्य तक पहुँचाता है।

शिल्पी द्वारा माटी के जीवन में प्राण-प्रतिष्ठा, अ-रसा को स-रसा बनाने का उपक्रम, रावण नाम की सार्थकता, पश्चिमी एवं पूर्वी सभ्यता के वर्णन में भारतीय संस्कृति की महत्ता का प्रतिपादन अवलोकनीय है, यथा :

"महामना जिस ओर/अभिनिष्क्रमण कर गये/सब कुछ तज कर, वन गये
नग्न, अपने में मग्न बन गये/उसी ओर···/उन्हीं की अनुक्रम-निर्देशिका
भारतीय संस्कृति है/सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।" (पृ. १०२-१०३)

शूल और फूल के गुणों का समन्वय जीवन के लिए आवश्यक है। क्षमा-वाणी की अनुगूँज। खण्डगत शीर्षक की सार्थकता के निमित्त स्वयं कवि का कथन द्रष्टव्य है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।/बोध में आकुलता पलती है
शोध में निराकुलता फलती है,/फूल से नहीं, फल से
तृप्ति का अनुभव होता है,/फूल का रक्षण हो/और
फल का भक्षण हो;/हाँ ! हाँ !!/फूल में भले ही गन्ध हो
पर, रस कहाँ उसमें !/फल तो रस से भरा होता ही है,
साथ-साथ/सुरभि से सुरभित भी···!" (पृ. १०७)

अनन्तर मोक्ष की व्याख्या द्रष्टव्य है :

"मोह क्या बला है/और/मोक्ष क्या कला है ?
इन की लक्षणा मिले, व्याख्या नहीं,/लक्षणा से ही दक्षिणा मिलती है।
...अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

यह मोक्ष साहित्य के माध्यम से प्राप्य है। तभी तो कवि ने साहित्य की सुन्दर अभिव्यंजना इस प्रकार से प्रस्तुत की है :

"हित से जो युक्त-समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिसके अवलोकन से/सुख का समुद्भव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड"!" (पृ. १११)

पुनश्च, शिल्पी माटी को रौंदता हुआ मानों इस भाव से अभिभूत हो उठता है :

"समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥"

इसी क्रम में सागर-सरिता, प्रकृति-पुरुष की परिभाषाओं का सुन्दर एवं समीचीन उल्लेख उपलब्ध होता है। समर्पित माटी की यहाँ एक उपयुक्त झाँकी देखिए :

"और सुनो !/ओर-छोर कहाँ उस सत्ता का ?/तीर-तट कहाँ गुरुमत्ता का ?
जो कुछ है प्रस्तुत है/अपार राशि की एक कणिका
बिन्दु की जलांजलि सिन्धु को/वह भी सिन्धु में रह कर ही।
यूँ कहती-कहती/मुदिता माटी की मृदुता
मौन का घूँघट मुख पर लेती !" (पृ. १२९)

भिन्न-भिन्न प्रकरणों और सन्दर्भों के बीच नव रसों की सरसता दृष्टिगोचर होती है। शब्द ब्रह्म की जैसी उपासना इस कवि ने की है, अन्यत्र आज दुर्लभ है, यथा :

"परन्तु/जिसे रूप की प्यास नहीं है,
अरूप की आस लगी हो/उसे क्या प्रयोजन जड़ शृंगारों से !" (पृ. १३९)

इसी प्रकार :

"स्वीकार करो या न करो/यह तथ्य है कि,
हर प्राणी सुख का प्यासा है/परन्तु,/रागी का लक्ष्य-बिन्दु अर्थ रहा है
और/त्यागी-विरागी का परमार्थ !" (पृ. १४१)

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है :

"किसलय ये किसलिए/किस लय में गीत गाते हैं ?
किस वलय में से आ/किस वलय में क्रीत जाते हैं ?
और/अन्त-अन्त में श्वास इनके/किस लय में रीत जाते हैं ?" (पृ.१४१-१४२)

परम सत्ता में तद्रूप हो जाना ही चिरन्तन सुख है। कवि इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है :

"स्वर संगीत का प्राण है/संगीत सुख की रीढ़ है/और
सुख पाना ही सबका ध्येय/इस विषय में सन्देह को गेह कहाँ ?

नि:सन्देह कह सकते हैं—/विदेह बनना हो···तो
स्वर की देह को स्वीकारता देनी होगी/हे देहिन् ! हे शिल्पिन् !" (पृ. १४३)

आगे कवि संगीत और प्रीति को परिभाषित करते हुए कहता है :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और
प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है
मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत···!" (पृ. १४४-१४५)

यह खण्ड सूक्तियों और कहावतों का तो सचमुच कोश ही प्रतीत होता है। पुष्टि में कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

(१) *"सन्तान की अवनति में/निग्रह का हाथ उठता है माँ का/और*
सन्तान की उन्नति में/अनुग्रह का माथ उठता है माँ का।" (पृ. १४८)

(२) *"जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ !"(पृ. १४९)*

(३) *"सदय बनो !/अदय पर दया करो/अभय बनो !" (पृ. १४९)*

(४) *"जीवन-जगत् क्या ?/आशय समझो, आशा जीतो !/आशा ही को पाशा समझो।" (पृ. १५०)*

(५) *"क्या करुणा की पालड़ी भी हलकी पड़ी ?/इतनी बाल की खाल तो मत निकालो—*
कहती-कहती करुणा रो पड़ी !" (पृ. १५२)

(६) *"दोनों का मन द्रवीभूत होता है/शिष्य शरण लेकर/गुरु शरण देकर।" (पृ. १५४)*

(७) *"नहर खेत में जाती है/दाह को मिटाकर/सुख पाती है, और/नदी सागर को जाती है*
राह को मिटाकर/सुख पाती है।" (पृ. १५५-१५६)

(८) *"महासत्ता माँ के/गोल-गोल कपोल-तल पर/पुलकित होता है यह वात्सल्य।*
करुणा-सम वात्सल्य भी/द्वैत-भोजी तो होता है/पर, ममता-समेत मौजी होता है,/इसमें
बाहरी आदान-प्रदान की प्रमुखता रहती है,/भीतरी उपादान गौण होता है
यही कारण है, इसमें/अद्वैत मौन होता है।" (पृ. १५७)

(९) *"सृ धातु गति के अर्थ में आती है,/सं यानी समीचीन/सार यानी सरकना···*
जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।" (पृ. १६१)

(१०) *"और सुनो,/यह एक साधारण-सी बात है कि/चक्करदार पथ ही, आखिर/गगन चूमता*
अगम्य पर्वत-शिखर तक/पथिक को पहुँचाता है/बाधा-बिन बेशक !" (पृ. १६२)

(११) *"मान-घमण्ड से अछूती माटी/पिण्ड से पिण्ड छुड़ाती हुई/कुम्भ के रूप में ढलती है*
कुम्भाकार धरती है/धृति के साथ धरती के ऊपर उठ रही है।" (पृ. १६४)

(१२) *"भोग पड़े हैं यहीं/भोगी चला गया,/योग पड़े हैं यहीं/योगी चला गया,/कौन किसके लिए—*
धन जीवन के लिए ?/या जीवन धन के लिए/मूल्य किसका/तन का या वेतन का,
जड़ का या चेतन का ?" (पृ. १८०)

(१३) *" 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्'/सन्तों से यह सूत्र मिला है/....व्यावहारिक भाषा में*
सूत्र का भावानुवाद प्रस्तुत है :/आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है/और
है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८४-१८५)

(१४) *"स्वभाव से ही सुधारता है /स्व-पन··· स्वपन···स्व-पन···/अब तो चेतें–विचारें*
अपनी ओर निहारें/अपन···अपन···अपन/यहाँ चल रही है केवल
तपन···तपन···तपन···!"(पृ. १८६)

काल की महाशक्ति जब अपना पाश निकालती है तो उसमें जड़-चेतन सभी आबद्ध हो चिर विराम की आकांक्षा कर उठते हैं। यही नियति है और यही परम शाश्वत सत्य। दूसरे खण्ड का इसी भावना की सार्थकता में समापन होता है, यथा :

"अधर में डुलती-सी/बादल-दलों की बहुलता
अकाल में काल का दर्शन क्यों ?/यूँ कहीं···निखिल को
एक ही कवल बना/एक ही बार में/विकराल गाल में डाल
···बिना चबाये/साबुत निगलना चाहती है !" (पृ. १८७)

तीसरे खण्ड का शीर्षक है-'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।' कवि ने इस खण्ड में माटी के उद्भव की नहीं अपितु विकास-कथा-यात्रा का वर्णन किया है। पुण्य कर्मों से उद्भूत श्रेयस्कर की उपलब्धि ही एक मात्र जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। प्रत्येक वस्तु में एक लय है, एक क्रम है और इसी भाव की अभिव्यक्ति भी। मेघों से मुक्तोद्भव, तदनन्तर वर्षण। अपक्व कुम्भों पर। कुम्भकार के प्रांगण में। तुरन्त यह समाचार अवनिपति के पास सम्प्रेषित। राजा द्वारा अनुचरों एवं मन्त्रि-परिषद् को उन मुक्ताओं को भरने का आदेश। पर ज्यों ही वह मण्डली मुक्ता-चयन हेतु झुकी, त्यों ही गगन में गुरु-गम्भीर-गर्जना के साथ सुनाई दिया–'अनर्थ ! अनर्थ !! अनर्थ !!!'। राजा को किसी मन्त्र-शक्ति द्वारा कीलित किया जाना महसूस हुआ। उधर कुम्भकार को यह आभास होना कि 'प्रजा की प्रत्येक वस्तु पर राजा का अधिकार ही न्याय-संगत है।' समूची मुक्ता-राशि अपने नरेश के चरणों में निश्छल होकर समर्पित कर देना उसके अनुपम त्याग की ओर संकेत करता है। इस खण्ड में कवि ने नारी के प्रति अपना मंगलमय दृष्टिकोण रखा है, यथा :

"इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें
मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।/यही कारण है कि
इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी–/'न अरि' नारी···
अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ. २०२)

इसी में कवि ने नारी के अन्य रूपों की भी प्रामाणिक विवेचना की है, जिसमें माँ, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, मातृ प्रभृति उल्लेख्य हैं। इसके अनन्तर है मेघ-मुक्ता प्रसंग। बिना परिश्रम किए हुए किसी भी लब्ध वस्तु का कोई मूल्य नहीं होता। समूची सृष्टि में जो वस्तु परिश्रम के द्वारा प्राप्त होती है, वही वरेण्य है, उसी का विशेष महत्त्व है। इसीलिए उन्होंने श्रम का आह्वान किया है, यथा :

"परिश्रम करो/पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही,/परिश्रम के बिना तुम
नवनीत का गोला निगलो भले ही,/कभी पचेगा नहीं वह
प्रत्युत, जीवन को खतरा है।" (पृ. २११-२१२)

नरेश को अधिक अर्थ-लिप्सा के कारण कष्ट उठाना पड़ा। सच ही कहा है : "अर्थ का स्वार्थ में लगाया जाना

सर्वनाश का कारण बनता है।'' अर्थ की सच्ची सार्थकता तो परोपकार में है। सागर, विष, बादल (पयोधर), प्रभाकर, स्वभाव का अपरिवर्तनीय होना, पक्षी-कलरव, पाप-पाखण्ड का प्रहार आदि की सुन्दर परिभाषाएँ निरूपित की गई हैं, यथा :

''मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।/और
मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक/जागृत''जीवित''अजित !'' (पृ. २४५)

इन्द्र और बादलों के माध्यम से सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया गया है। पाटल पौध का अंकुरण तथा गुलाब के ब्याज से सत्पुरुषों का सुरभि विकीर्ण करना दिग्दर्शित किया गया है। अन्त में कुम्भ की अग्नि-परीक्षा से सर्ग का समापन हुआ है, क्योंकि :

''जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर
बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।'' (पृ. २६७)

खण्ड चार में साधना के आध्यात्मिक शिखरों की ऊँचाइयाँ व्याप्त हैं। इस खण्ड का अभिधान भी यही व्यक्त करता है, यथा—'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' और विगत खण्ड का अवशेष भाग पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। कुम्भ की अग्नि-परीक्षा हेतु अवा का निर्माण हुआ। लकड़ी के ब्याज से निर्बल प्राणी की अभिव्यंजना। सांगरूपक अलंकार के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है कि तपस्या के उपरान्त ही सफलता की उपलब्धि होती है, यथा :

''मैं इस बात को मानती हूँ कि/अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक
किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,/न ही भविष्य में मिलेगी।'' (पृ. २७५)

इस प्रकार दोष भस्म होकर समाप्त हो जाता है और अवशिष्ट सात्त्विक तत्त्व मात्र ही रह जाता है, तभी वह बहुमूल्य बन पाता है। सच है—'इष्ट है अलम् अतः अनमोल। साधना ही जीवन का मोल।' दर्शन को परिभाषित करते हुए कवि कहता है :

''दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।/दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
चल सकता है, चलता ही है/पर, हाँ !/बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।
लहरों के बिना सरवर वह/रह सकता है, रहता ही है/पर हाँ !
बिना सरवर लहर नहीं।/अध्यात्म स्वाधीन नयन है/दर्शन पराधीन उपनयन
दर्शन में दर्श नहीं शुद्धतत्त्व का/दर्शन के आस-पास ही घूमती है
तथता और वितथता/यानी,/कभी सत्य-रूप, कभी असत्य रूप
होता है दर्शन, जबकि/अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप हो/भास्वत होता है।'' (पृ.२८८)

इसी खण्ड में कवि आगे कुम्भ के माध्यम से बड़े ही सुन्दर विचार अभिव्यक्त करता है। इनमें जैन दर्शन की

स्पष्ट छाप विद्यमान है, यथा :

- *"आगामी आलोक की आशा देकर/आगत में अन्धकार मत फैलाओ !" (पृ.२९२)*
- *"अपनी प्यास बुझाये बिना/औरों को जल पिलाने का संकल्प*
  मात्र कल्पना है,/मात्र जल्पना है।" (पृ. २९३)
- *"पावन-व्यक्तित्व का भविष्य वह/पावन ही रहेगा।/परन्तु,*
  पावन का अतीत—इतिहास वह/इति``हास ही रहेगा
  अपावन``अपावन`` अपावन।" (पृ. २९७)
- *"काया में रहने मात्र से/काया की अनुभूति नहीं,/माया में रहने मात्र से*
  माया की प्रसूति नहीं,/उनके प्रति/लगाव-चाव भी अनिवार्य है।" (पृ. २९८)

अग्नि-परीक्षा के उपरान्त कुम्भ का निर्दोष होना और संकल्प की दिशा में अग्रसर होने का प्रयास कैसा विलक्षण और सुखद है :

- *"लो, कुम्भ को अवा से बाहर निकले/दो-तीन दिन भी व्यतीत न हुए*
  उसके मन में शुभ-भाव का उमड़न/बता रहा है सबको कि,
  अब ना पतन, उत्पतन``/उत्तरोत्तर उन्नयन-उन्नयन/नूतन भविष्य-शस्य
  भाग्य का उघड़न``!/बस,/अब दुर्लभ नहीं कुछ भी इसे
  सब कुछ सम्मुख``समक्ष।" (पृ. २९९)
- *"मानापमान समान जिन्हें,/योग में निश्चल मेरु-सम,*
  उपयोग में निश्छल धेनु-सम,/लोकैषणा से परे हों/मात्र शुद्ध-तत्त्व की
  गवेषणा में परे हो;/छिद्रान्वेषी नहीं/गुण-ग्राही हों, प्रतिकूल शत्रुओं पर
  कभी बरसते नहीं,/अनुकूल मित्रों पर/कभी हरसते नहीं,/और
  ख्याति-कीर्ति-लाभ पर/कभी तरसते नहीं।" (पृ. ३००)
- *"क्रूर नहीं, सिंह-सम निर्भीक/किसी से कुछ भी माँग नहीं भीख,*
  प्रभाकर-सम परोपकारी/प्रतिफल की ओर/कभी भूल कर भी ना निहारें,
  निद्राजयी, इन्द्रिय-विजयी/जलाशय-सम सदाशयी मिताहारी,
  हित-मित-भाषी/चिन्मय-मणि के हों अभिलाषी;
  निज-दोषों के प्रक्षालन हेतु आत्म-निन्दक हों/पर निन्दा करना तो दूर,
  पर-निन्दा सुनने को भी/जिनके कान उत्सुक नहीं होते/मानो हों बहरे !
  यशस्वी, मनस्वी और तपस्वी/होकर भी,/अपनी प्रशंसा के प्रसंग में
  जिन की रसना गूँगी बनती है।" (पृ. ३०१)

पृष्ठ संख्या ३१२ से एक अन्य प्रकरण सेठ का, जो समागन्तुक गण्यमान अतिथि का अपने निवास पर भोजनार्थ आने पर उनका यथाविधि आह्वान करता है। नवविध सत्कार करता हुआ, विनम्र बन, जयगान करता है :

"पक्षपात से दूरों की/यथाजात यतिशूरों की/दया-धर्म के मूलों की
साम्य-भाव के पूरों की/जय हो ! जय हो ! जय हो !/भव-सागर के कूलों की
शिव-आगर के चूलों की/सब-कुछ सहते धीरों की/विधि-मल धोते नीरों की

जय हो ! जय हो ! जय हो !" (पृ. ३१५)

कुम्भ द्वारा काव्य पंक्तियाँ सुनाने पर सेठ को प्रबोध मिला। भ्रान्तियाँ दूर हो गईं। अभ्यागत का स्वागत :

"मन शुद्ध है/वचन शुद्ध है/तन शुद्ध है
और/अन्न-पान शुद्ध है/आइए स्वामिन् !" (पृ. ३२३)

पुनश्च, स्व-उद्धार की विनय इन शब्दों में हुई :

"शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,
भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज !" (पृ. ३२५)

जल, चन्दन, अक्षत आदि अष्ट मंगल द्रव्यों द्वारा पूजन के उपरान्त आहार करने हेतु आग्रह किया जाता है। प्रसंगानुसार भूख की व्याख्या की गई है : *"भूख दो प्रकार की होती है/एक तन की, एक मन की"* (पृ. ३२८) तथा *"ये सारी इन्द्रियाँ जड़ हैं,/जड़ का उपादान जड़ ही होता है,/जड़ में कोई चाह नहीं होती/जड़ की कोई राह नहीं होती/...परस-रस-गन्ध/रूप और शब्द/ये जड़ के धर्म हैं/जड़ के कर्म...।" (पृ. ३२८-३३०)*

अभ्यागत के समक्ष रजत एवं स्वर्ण कलशों द्वारा दुग्ध एवं इक्षुरस के दान का प्रयास किया गया। स्फटिक झारी द्वारा अनार रस का निवेदन हुआ। पर, यह क्या ? अभ्यागत को तोष नहीं मिला। वह इधर-उधर देखने लगा। मानों अपना प्राप्य चाह रहा हो। उक्त पात्रों की ओर तो उसकी दृष्टि तक नहीं उठी। अचानक माटी का कुम्भ आगे बढ़ाया सेठ ने और– *"अतिथि की अंजुलि खुल पड़ती है/स्वाति के धवलिम जल-कणों को देख/सागर-उर पर तैरती शुक्तिका की भाँति !/चार-पाँच अंजुलि जल-पान हुआ।" (पृ. ३३१-३३२)*

इसी प्रकरण में 'गर्तपूर्ण वृत्ति', 'गोचरी वृत्ति', 'अग्निशामक वृत्ति' तथा 'भ्रामरी वृत्ति' का भी वर्णन किया गया है। सेठ परिवार सानन्द प्रफुल्लता का अनुभव करता है। और सेठ के गौर वर्ण के युगल करों में माटी का कुम्भ शोभा पा रहा है कनकाभरण में जड़े हुए नीलम-सा। कुम्भ द्वारा सेठ के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का भाव। माणिक मणि से खचित स्वर्णमुद्रा संयुक्त करों से अतिथि का चरण-स्पर्श। क्योंकि– *"पूज्यपदों की पूजा से ही/मनवांछित फल मिलता है" (पृ. ३३७)*। रजत मुद्रा, कुण्डल, पीताम्बर, बाल की लटों के अटपटापन आदि पर कवि द्वारा मनोहारी टिप्पणियाँ प्रस्तुत की गई हैं। अतिथि के दर्शन हेतु प्रतिवेशियों का इकट्ठा होना प्रांगण में। आशीर्वाद के निमित्त समवेत दर्शनार्थियों की प्रार्थना। सेठ द्वारा अनेक प्रश्नों का उठाया जाना। अतिथि श्रमण द्वारा उन सबका समाधान, यथा :

"आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही
सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)

तदुपरान्त निज निवास की ओर प्रत्यागमन। फिर कुम्भ और सेठ का संवाद होता है। पीतल कलश के क्षोभ का उद्घाटन। आँखों और चरणों पर तर्कपूर्ण टिप्पणी। श्रमण की परिभाषा – "श्रम करे सो श्रमण।" स्वर्ण के कलश द्वारा सन्त के नाम की सार्थकता पर व्यंग्य। फिर माटी और स्वर्ण की तुलना एवं महत्ता पर प्रवचन। असंयमी एवं संयमी का मशाल एवं दीपक दृष्टान्त द्वारा स्तवन। कुम्भ-झारी संवाद में झारी को 'पाप की पुतली' सुनकर आलाप। ग्रन्थ में विद्यमान प्रायः सभी पात्रों ने माटी के पात्र का उपहास उड़ाया और उसे मूल्यहीन बताया।

एक अन्य प्रकरण मत्कुण का है, जिसके द्वारा कवि ने सामाजिक स्थितियों एवं आधुनिक युग-बोध से अवगत कराया है, यथा :

"इस बात को मैं भी मानता हूँ कि/जीवनोपयोगी कुछ पदार्थ होते हैं,
गृह-गृहणी घृत-घटादिक/उनका ग्रहण होता ही है/इसीलिए सन्तों ने
पाणिग्रहण संस्कार को/धार्मिक संस्कृति का/संरक्षक एवं उन्नायक माना है।
परन्तु खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ. ३८६)

अचानक सेठ रुग्ण हो गया। सारा शरीर अग्नि-सा दहक उठा। मच्छर-मत्कुण द्वारा अनेक उपदेश दिए गए सेठ को। कभी दक्षिणा के सम्बन्ध में तो कभी उदारता के सम्बन्ध में। कण और मन, प्रभात वेला, वैद्य समूह का आगमन तथा रोग का कारण जानकर उसे दूर करने का प्रयास किया गया। प्रकृति के विपरीत चलना ही रोग को आमन्त्रित करना है। योगी और भोगी की व्यवस्था, पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध निरूपित हुआ, यथा :

- *"पुरुष में जो कुछ भी/क्रियायें-प्रतिक्रियायें होती हैं,/चलन-स्फुरण-स्पन्दन,*
  उनका सबका अभिव्यक्तिकरण,/पुरुष के जीवन का ज्ञापन
  प्रकृति पर ही आधारित है।/प्रकृति यानी नारी/नाड़ी के विलय में
  पुरुष का जीवन ही समाप्त···!" (पृ. ३९२-३९३)
- *"पुरुष और प्रकृति/इन दोनों के खेल का नाम ही/संसार है, यह कहना*
  मूढ़ता है, मोह की महिमा मात्र !/खेल खेलने वाला तो पुरुष है/और
  प्रकृति खिलौना मात्र !/स्वयं को खिलौना बनाना/कोई खेल नहीं है,
  विशेष खिलाड़ी की बात है यह !" (पृ. ३९४)
- *"प्रकृति और पुरुष का परिचय,/वेद मिला, भेद खुला—*
  'प्रकृति का प्रेम पाये बिना/पुरुष का पुरुषार्थ फलता नहीं'।" (पृ. ३९४-३९५)

मनुष्य मात्र को चाहिए कि वह ऐसा प्रयास करे जिससे कोई रोग ही न हो। कारण को यदि विभक्त/समाप्त कर दिया जाए तो फिर कार्य होगा ही नहीं। यह सूक्ति नहीं सुनी आप सबने क्या...?

"माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा।" (पृ. ३९९)

सेठ ने प्राकृतिक चिकित्सा के माध्यम से आरोग्य प्राप्त किया। ओंकार की उपासना करते हुए कवि द्वारा परावाक्, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी के उदाहरण दिए गए हैं। मृदा उपचार द्वारा सारे कष्टों का निवारण सम्भव है। आहार-विहार की उपयुक्तता नीरोग होने में सहायक एवं लाभप्रद है। इसके पश्चात् आज की भौतिकता की प्रगति पर तीखा व्यंग्य करते हुए कवि अपना मन्तव्य प्रकट करता है :

"स्वर्ण के कुम्भ-कलश थालियाँ/रजत के लोटे-प्याले-प्यालियाँ,
जलीय-दोषों के वारक/ताम्र के घट-घड़ू-हांडियाँ
बड़ी-बड़ी परात भगोनियाँ···ऐसे/आदि-आदि मौलिक बर्तनों को
बेच-बेच कर/जघन्य सदोष बर्तनों को/मोल ले रहे हैं धनी, धीमान् तक।
आज बाजार में आदर के साथ/बात-बात पर इस्पात पर ही
सब का दृष्टिपात है।/जेल में भी/अपराधी के हाथ-पैरों में/इस्पात की ही

हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ होती हैं।/कहाँ तक कहें/और···इधर
युवा-युवतियों के हाथों में भी/इस्पात के ही कड़े मिलते हैं।
क्या यही विज्ञान है ?/क्या यही विकास है ?
बस/सोना सो गया अब/लोहा से लोहा लो···हा !" (पृ. ४१२-४१३)

आधुनिक युगबोध और परिस्थितियों का आकलन करते हुए कवि ने कनक-कलशी के माध्यम से (स्वर्ण में सारी बुराइयाँ निहित हैं) ईर्ष्या और जलन को उकसाया। और स्वर्ण का आश्रय पा आतंकवाद ने डेरा डाल दिया। अनेक षड्यन्त्रों की रचना की गई। आज के दंगे, मानापमान और अपने अस्तित्व की रक्षा के निमित्त लोग स्वार्थ के वशीभूत हो क्या-क्या अनाचार नहीं कर उठते ? दल परिवर्तन की प्रक्रिया की कैसी कटु आलोचना की गई है :

"आज आयेगा आतंकवाद का दल,/आपत्ति की आँधी ले आधी रात में।
और इधर,/स्वर्ण-कलश के सम्मुख/बड़ी समस्या आ खड़ी हुई, कि
अपने में ही एक और/असन्तुष्ट-दल का निर्माण हुआ है।
लिये-निर्णय को नकारा है उसने/अन्याय-असभ्यता कहा है इसे,
अपने सहयोग-समर्थन को/स्वीकृति नहीं दी है।/न्याय की वेदी पर
अन्याय का ताण्डव-नृत्य/मत करो, कहा है।/उस दल की संचालिका है—
स्फटिक की उजली झारी/वह/प्रभावित है माटी के कुम्भ से !
धीरे-धीरे/झारी की समझदारी/बहुतों को समझ में आने लगी है,/और
झारी का पक्ष/सबल होता जा रहा है, अनायास।" (पृ. ४१९-४२०)

इस प्रकार आत्म-सुरक्षा हेतु सेठ परिवार ने पृष्ठद्वार से पलायन कर, बाँसों के झुरमुट में, वनस्थली की हरीतिका की क्रोड में शान्ति एवं सुरक्षा की साँस ली। वंशमुक्ता एवं गजमुक्ता की विवेचना की गई। गजयूथ द्वारा सेठ परिवार का संरक्षण हुआ। विषधरों के व्याज से क्रूरता धर्मों का विवेचन हुआ। नाग-नागिन संवाद। 'उरग' शब्द की व्यंजना :

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,
पाप-पाखण्ड करते हैं।/प्रभु से प्रार्थना है कि/अपद ही बने रहें हम !
जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं,/पद-लिप्सा का विषधर वह
भविष्य में भी हमें न सूँघे/बस यही भावना है, विभो !" (पृ. ४३४)

इसमें प्रकृति के रौद्र रूप को दर्शाते हुए प्रलय दृश्य एवं आतंकवाद के परिणामस्वरूप राष्ट्र की दुर्गति का विवेचन हुआ है, जो सच है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं।" (पृ. ४४१)

वैसे सरल पंक्तियों द्वारा कवि ने युग सत्य को उद्घोषित कर डाला है। नदी के व्याज से प्रवहमान् जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए कवि ने आगे उत्तम गिरि-शिखर से प्रादुर्भूत सरिता की कुटिल गति के विवेचन के साथ ही धरती शब्द की सुन्दर अभिव्यंजना भी की है, यथा :

"धरती शब्द का भी भाव/विलोम रूप से यही निकलता है–
ध···र···ती ती···र···ध/यानी,/जो तीर को धारण करती है
या शरणागत को/तीर पर धरती है/वही धरती कहलाती है।" (पृ. ४५२)

समाजवाद की व्याख्या की गई, पर व्यंग्यात्मक है। कैसी सच्ची एवं प्रेरक पंक्तियाँ हैं कवि की :

"आचरण के सामने आते ही/प्रायः चरण थम जाते हैं
और/आवरण के सामने आते ही/प्रायः नयन नम जाते हैं।" (पृ. ४६२)

यात्रा के समापन की ओर अग्रसर होते हुए परिवार सहित सेठ का सरिता सन्तरण एवं आतंकवादी विचारधारा के मूर्तमान् स्वरूप से सुरक्षा प्राप्त कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का दिग्दर्शन हुआ है, यथा :

"कुम्भ के मुख से निकल रही हैं/मंगल-कामना की पंक्तियाँ :
"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें–/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठे/···बस!" (पृ. ४७८)

कवि की अन्तः एवं बाह्य वृत्ति की झाँकी आभा के मानवीकरण में झलक उठी है। नायिका के ऐसे भाव एवं सुन्दर चित्र की झलक और कहाँ सुलभ होगी ? :

"बाल-भानु की भास्वर आभा/निरन्तर उठती चंचल लहरों में
उलझती हुई-सी लगती है/कि/गुलाबी साड़ी पहने/मदवती अबला-सी
स्नान करती-करती/लज्जावश सकुचा रही है।" (पृ. ४७९)

भाव, भाषा, छन्द, अलंकार, रीति और शैली–सभी रूपों में जब हम आचार्य विद्यासागर प्रणीत 'मूकमाटी' काव्यकृति पर विचार करते हैं तो वह परीक्षा के निकष पर खरी उतरती है। इसमें पदे-पदे कवि की बहुज्ञता तो प्रदर्शित होती ही है, साथ-ही-साथ दर्शन के प्रमुख तत्त्व भी प्रकारान्तर से स्वर्ण मुद्रिका में मणि की भाँति अलंकृत प्रतीत होते हैं। यह कृति उस नारिकेल फल के सदृश है जिसका बाह्य आवरण अत्यन्त कठोर, किन्तु अन्तःकरण सरस और मधुर होता है। निःसन्देह प्रतिभासम्पन्न युगसन्त आचार्य विद्यासागरजी द्वारा प्रणीत यह अतुकान्त काव्यकृति विचारोदधि से प्रादुर्भूत वह नवनीत है, जिससे मूकमाटी की चिरन्तन पीड़ा को पूर्ण विराम मिलता है। देवासुर-संग्राम के समय समुद्र विमन्थन से निकली हुई सुधा, वसुधा को अमरत्व प्रदान करे और समूची सृष्टि से वैषम्य का विष विगलित हो–इसी कामना के साथ में इस कृति और कृतिकार का अभिवन्दन करता हूँ :

"इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ! हाँ!!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर/मार्ग में नहीं, मंजिल पर!
और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···/और माहौल को
अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी।" (पृ. ४८८)

□

'मूकमाटी' : आत्मा के संगीत की कविता

डॉ. तेजपाल चौधरी

'मूकमाटी' एक अप्रतिम महाकाव्य है—मानव की मुक्तियात्रा का मार्गदर्शक, वीतराग जीवन की आध्यात्मिक साधना का परिपाक, ऊर्ध्वमुखी चिन्तन का चरम बिन्दु और लोक मंगल की कामना से आद्यन्त ओतप्रोत, जिसे पढ़ कर एक अलौकिक आनन्द मिलता है। 'मूकमाटी' की सर्वोत्तम उपलब्धि अध्यात्म जैसे दुरूह एवं सीमित संवेद्य विषय को काव्यात्मकता की चाशनी में पाग कर सर्व संवेद्य बना देना है। स्वयंतपा जीवनद्रष्टा मुनि साधना और तपश्चर्या के द्वारा जीवन-सत्य का जो साक्षात्कार करते हैं, उसकी चरितार्थता उसके सम्प्रेषण में निहित होती है। 'मूकमाटी' इसी सदुद्देश्य की पूर्ति का सफल प्रयास है। ग्रन्थ का कथ्य एक और तथ्य की ओर संकेत करता है कि कोई भी धर्म आध्यात्मिक विकास की ऊपरी सीढ़ी पर पहुँचकर सर्वग्राह्य मानव धर्म में परिवर्तित हो जाता है। वहाँ पहुँच कर साम्प्रदायिक संकीर्णताएँ विगलित हो जाती हैं और शेष रह जाती है व्यापक सत्त्वप्रधान दृष्टि, जो सम्पूर्ण मानवता के कल्याण का विधान करती है। 'मूकमाटी' ऐसे ही व्यापक मानव धर्म की प्रतिष्ठा का महाकाव्य है।

'मूकमाटी' का महाकाव्यत्व असन्दिग्ध है। महाकाव्य की शास्त्रीय कसौटी हाथ में लिए खड़ा समीक्षक शायद कहेगा कि इसका कथानक व्यापक नहीं है, या कि इसमें धीरोदात्त नायकत्व की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, या कि इसमें रस का सम्यक् परिपाक नहीं हुआ है, या कि इसमें आठ नहीं चार ही सर्ग हैं, या कि इसका वस्तु वर्णन महाकाव्य के मानदण्डों की कोटि का नहीं है, आदि...आदि। ये सब प्रश्न अपनी जगह ठीक हैं, परन्तु 'मूकमाटी' फिर भी महाकाव्य है। इसमें कथ्य और शैली की जो उदात्तता है, वह इसे महाकाव्य बनाती है। ये प्रश्न सर्वथा नए नहीं हैं। प्रायः हर युग में ये प्रश्न उठाए गए हैं और हर बार आचार्यों को नए महाकाव्य के अनुसार अपनी कसौटियाँ बदलनी पड़ी हैं।

कथानक की व्यापकता की बात करें, तो हम पाएँगे कि पूरे महाकाव्य की कहानी को आठ-दस पंक्तियों में कहा जा सकता है। एक कुम्हार घड़ा बनाने के लिए मिट्टी खोदकर लाता है, उसे कूटता-छानता है, उसके कंकर-पत्थर दूर करता है, उसमें पानी डालकर गूँथता है, चक्र पर चढ़ाकर घड़ा बनाता है, उसे सुडौल बनाने के लिए थपकी से पीटता है, कच्चे घड़े को सुखाता है, उसे अवे में पकाता है और जब घड़ा बन जाता है, तो उसे एक श्रद्धालु सेठ को सौंप देता है, जिससे वह गुरु-पाद-प्रक्षालन के पुण्य कार्य के लिए उसका उपयोग कर सके।

इस लघुतम कथा को एक प्रदीर्घ काव्य का विषय बनाना और कथा संयोजन में बिखराव न आने देना, एक लोकोत्तर कवि के ही बूते की बात है। प्रतीकात्मक स्तर पर कथानक का अवगाहन करें तो यह कथा परत-दर-परत जीवन के रहस्य खोलती हुई प्रतीत होती है। कथा से एक सत्य तो यही उभरकर सामने आता है कि जीवन की धन्यता गन्तव्य तक पहुँचने और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में निहित है। परन्तु वह मंज़िल सहज प्राप्य नहीं होती। उसके लिए साधक को कठोर तपश्चर्या करनी पड़ती है। उसे पानी में गलना पड़ता है, आतप में सूखना पड़ता है, आग में तपना पड़ता है। परन्तु जब वह तपकर बाहर निकलता है तो उसका मूल्य सम्पन्नता के लिए भी ईर्ष्या की वस्तु बन जाता है। मिट्टी के घड़े के प्रति स्वर्ण कलश का ईर्ष्याभाव गम्भीर अर्थवत्ता लिए हुए है।

मिट्टी को प्रकृति का प्रतीक माना जाए तो एक अन्य अर्थ प्रस्फुटित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। आज हमारा मिट्टी से सम्पर्क टूट गया है। मिट्टी की गरिमा को भुलाकर हम वैज्ञानिक संसाधनों के दास हो गए हैं। आज हम जिस आत्मघाती उपभोक्ता संस्कृति में जी रहे हैं, वह हमें पराश्रितता की पीड़ा के सिवाय कुछ नहीं देती। एक क्षण के लिए विद्युत् प्रवाह खण्डित हो जाए तो हम स्वयं को बेबस अनुभव करने लगते हैं। हम अन्न, जल और वस्त्र ही नहीं,

वायु तक कृत्रिम स्रोतों से ग्रहण करते हैं। किन्तु मिट्टी हमें प्रकृति से जोड़ती है, ऋजुता से जोड़ती है, जीवन की सरलता से जोड़ती है। आचार्यजी ने चतुर्थ सर्ग में श्रेष्ठी की मूर्च्छा के प्रसंग में मिट्टी के औषधीय गुणों का स्पष्ट उल्लेख किया है :

"छूने को मन मचले/ऐसी छनी हुई/कुंकुम-मृदु-काली माटी में
नपा-तुला शीतल जल मिला,/उसे रौंध-रौंध कर/एकमेक लोंदा बना,
एक टोप बना कर/मूर्च्छा के प्रतिकार हेतु/सर्व प्रथम,
सेठ जी के सर पर चढ़ाया गया।" (पृ. ४००)

'''और आश्चर्य...उस मिट्टी के टोप ने सिर की उष्णता को इस प्रकार सोख लिया, जैसे गर्म लोहे की तपती उष्णता को पानी सोख लेता है।

'मूकमाटी' चार सर्गों में विभाजित है। सर्गों के नाम एक-एक दार्शनिक सत्य को अभिव्यक्ति देते हैं। 'संकर नहीं: वर्ण-लाभ' वर्णसंकरता की पहेली का सही समाधान प्रस्तुत करता है। कुम्भकार मिट्टी को संस्कार देता है। कूट-छान कर उसकी वर्णसंकरता दूर करता है। कंकर बिलगा दिए जाते हैं और शुद्ध मिट्टी घड़े के सृजन के लिए रख ली जाती है। वहाँ कवि संकरता और वर्ण-लाभ के अन्तर को स्पष्ट करता है—परस्पर विरोधी गुणधर्म वाले पदार्थों का मिलन संकरता है तो समानधर्मी पदार्थों का मिलन वर्ण-लाभ। आक के दूध और गाय के दूध का मिलन संकरता है, अप्राकृतिक है, अनिष्टकारी है तो नीर-क्षीर-मिलन वर्ण-लाभ है, प्राकृतिक प्रक्रिया है।

दूसरे सर्ग का शीर्षक है – 'शब्द सो बोध नहीं: बोध सो शोध नहीं'। यह ज्ञान और व्यवहार की उत्तम परिभाषा है। शब्द को शब्द के स्तर तक जानना 'बोध' नहीं है। शब्द प्रथम सोपान पर अभिधात्मक होता है, उसका अभिप्रेत अर्थ जिस बिन्दु पर प्रकट होता है, वह बोध की सीमा रेखा है। परन्तु शब्द की यात्रा यहीं समाप्त नहीं होती। उसकी मंज़िल तो 'शोध' है, जो शब्द-वृक्ष का परिपक्व फल है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है, कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं,/...बोध का फूल जब
ढलता बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।"(पृ. १०६-१०७)

तीसरा सर्ग 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' है। पाप और पुण्य की आचार्यप्रवर की धारणा मुख्यतया 'पर-द्रव्येषु लोष्ठवत्' की सूक्ति पर आधारित है। पाप का प्रारम्भ ही पर-सम्पदा पर दृष्टि डालने से होता है। यह मानसिक चोरी है और चौर्य कर्म कायिक चोरी है। किसी भी दुष्कर्म में हमारी प्रवृत्ति पहले मन के स्तर पर होती है, जो उत्तरोत्तर कायिक व्यवहार में परिणत हो जाती है। कवि का कथन है :

"पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/अज्ञान को बताता है,
और/पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना
मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।" (पृ. १८९)

कुम्भकार की अनुपस्थिति में उसके प्रांगण में मोतियों की वर्षा होती है। ये मोती परिश्रम से उपजे हैं, परन्तु राजा के सेवक उन्हें समेटने उसके घर पहुँच जाते हैं। किन्तु ज्यों ही वे झुककर उन्हें उठाने में प्रवृत्त होते हैं, आकाशवाणी होती है :

"अनर्थ···अनर्थ···अनर्थ !/पाप···पाप···पाप···!/क्या कर रहे आप···?
परिश्रम करो/पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही।" (पृ. २११-२१२)

लगता है, कवि कहना चाहता है कि बिना श्रम के जो हम पाते हैं, वह पौरुषहीन कर्म है, चोरी है, पाप है।

चतुर्थ सर्ग 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' तो जैसे मानव के समस्त चिन्तन का सार है। कुम्भ का अवे में तपाया जाना ही उसकी अग्नि-परीक्षा है, तपश्चर्या है। दोषों और अवगुणों को भस्मसात् करने की प्रक्रिया है। मनुष्य भी जब तक कुम्भ की तरह कष्टों से नहीं गुज़रता, उसके व्यक्तित्व में निखार नहीं आता। विषयासक्ति का दमन, मोह का त्याग, काम आदि कमज़ोरियों पर विजय ही उसकी अग्नि-परीक्षा है। कविप्रवर कहते हैं :

"अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक/किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,
न ही भविष्य में मिलेगी।" (पृ. २७५)

'मूकमाटी' का मूल स्वर प्रवचनपरक है। कवि की लेखनी मानव-व्यवहार के शुभ पक्ष का सन्देश देने के लिए संकल्पित है। अत: इस महाकाव्य में शुचिता के हर पक्ष से पाठक का साक्षात्कार होता है। ग्रन्थकार का उद्देश्य मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। अनेक स्थानों पर विभिन्न शब्दों में वह मोक्ष के साधनों का उल्लेख करता है। एक स्थान पर कहा गया है :

"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है–
एक जीवन को बुरी तरह/जलाती है···/भयंकर है, अंगार है !
एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है···/शुभंकर है, शृंगार है।" (पृ. ३८)

मोह के परित्याग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए कठोर व्रत की आवश्यकता होती है। वह अनायास सिद्ध नहीं होता। पर्वत की तलहटी में खड़े होकर हम उच्च शिखर की भव्यता देख तो सकते हैं, परन्तु उस भव्यता का स्पर्श करने के लिए चरणों का प्रयोग करना ज़रूरी है।

क्षमा मोक्ष का प्रवेश द्वार है। वह देवत्व का मार्ग है। जब मानव का अन्त:करण राग-द्वेष आदि कालुष्यों से मुक्त हो जाता है, तब क्षमावृत्ति का अंकुरण होता है। क्षमा के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा प्रतिशोध की भावना है। इसीलिए 'मूकमाटी' का सन्देश है :

"बदले का भाव वह अनल है/जो
जलाता है तन को भी, चेतन को भी।" (पृ. ९८)

कोमलता और कठोरता के सम्बन्ध में भी कवि के विचार प्रेरक एवं मार्गदर्शक हैं। सामान्यतया हम किसी के बाह्य कलेवर को देखकर उसकी कोमलता और कठोरता का निर्णय कर लेते हैं, किन्तु कई बार बाद में महसूस करते हैं कि हमारा निर्णय कितना पूर्वग्रह दूषित और एकांगी था। चतुर्थ सर्ग में गुरु चरणों की अर्चना के सन्दर्भ में श्रीफल कहता है :

"हमारे भीतर जरा झाँको,/मृदुता और काठिन्य की सही पहचान
तन को नहीं,/हृदय को छूकर होती है।" (पृ. ३११)

अपरिग्रह मोक्ष-प्राप्ति का अन्यतम सिद्धान्त है। जिस श्रमण संस्कृति की आचार्यों ने प्रतिष्ठा की थी, वह त्याग की उस पराकाष्ठा पर टिकी थी, जहाँ वस्त्र और पात्र तक त्याज्य हो जाते हैं। भोजन के लिए पात्र का उपयोग न करने वाला साधक ही 'पात्र' कहलाता है। कवि का उपदेश है :

"पात्र के बिना कभी/पानी का जीवन टिक नहीं सकता,
और/पात्र के बिना कभी/प्राणी का जीवन टिक नहीं सकता,
परन्तु/पात्र से पानी पीने वाला/उत्तम पात्र हो नहीं सकता।" (पृ. ३३५)

साधु की 'गोचरी वृत्ति' की भी विवेच्य महाकाव्य में सुन्दर व्याख्या हुई है। भूख लगना एक शारीरिक आवश्यकता है, अतः उदर-भरण प्राकृतिक क्रिया है। उसमें कोई दोष या पाप नहीं है। किन्तु जिह्वा की तुष्टि के लिए षड्रस व्यंजनों की ओर दौड़ना आसक्ति है। दाता जो दे, उसे निर्विकार भाव से ग्रहण करना साधु स्वभाव है। इसे समताधर्मी वृत्ति भी कहा गया है। इतना ही नहीं, दाता के सौन्दर्य को देखना भी 'आकर्षण' है। साधु उससे मुक्त रहता है। जिस तरह भूखी गाय की दृष्टि चारे पर रहती है, चारा डालने वाले के वस्त्रालंकारों पर नहीं। यही 'गोचरी वृत्ति' है।

'मूकमाटी' का कवि शास्त्रीय एवं लौकिक ज्ञान के विभिन्न पक्षों से सम्पन्न है, बहुज्ञ है। संगीत की सरगम से लेकर गणित के गूढ़ किन्तु मनोरंजक सिद्धान्तों तक का 'मूकमाटी' में उल्लेख हुआ है। काव्यशास्त्र के परम्परागत सिद्धान्तों से असहमति रखते हुए कवि ने शान्त रस को जो सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है, वह उनके मौलिक चिन्तन का प्रमाण है। शान्त एक अलौकिक रस है। करुण जीवन का प्राण है, परन्तु वह लौकिक है। वात्सल्य भी लौकिक है। किन्तु शान्त लोकोत्तर 'रस' है। सब रसों की परिणति शान्त में होती है। कवि का कथन है :

"जहाँ तक शान्त रस की बात है/वह आत्मसात् करने की ही है
कम शब्दों में/निषेध-मुख से कहूँ
सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है।" (पृ. १६०)

हास्य को तो मुनिप्रवर ने गर्हित कषाय माना है। सम्पूर्ण काव्य गम्भीर चिन्तन से ओतप्रोत है, बस एक स्थान पर हल्का-सा मृदु हास्य है, वह भी कवि की सात्त्विक पीड़ा से जन्मा है, अतः व्यंग्य है। समाजवाद की वर्तमान स्थिति पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं :

"आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?/सबसे आगे मैं
समाज बाद में !" (पृ. ४६१)

वस्तुतः यही आज के समाजवाद का असली चेहरा है।

परम्परागत मान्यताओं के विपरीत—जो नारी को विषवृक्ष या नरक का द्वार मानती हैं—आचार्य विद्यासागर महाराज नारी के विषय में अत्यन्त उदार हैं। वे उसे सद्गुणों का समवाय मानते हैं। नारी पापभीरु और धर्मनिष्ठ होती है। शत्रुता तो उन्हें स्पर्श भी नहीं करती, इसीलिए उसे 'नारी—न अरि' कहा गया है; वह उत्सव—आनन्द लाती है, अतः 'महिला' है; वह 'बला' नहीं, अतः 'अबला' है; पृथ्वी पर समृद्धि लाती है, अतः 'कुमारी' है; अच्छाइयों का समूह है, अतः सुता है; दो कुलों का हित करती है, अतः दुहिता है। नारी जननी है, माँ है।

विरक्त सन्तों के लिए काव्य का प्रयोजन केवल 'स्वान्तः सुखाय' माना गया है। परन्तु 'मूकमाटी' का कवि

क्रान्तद्रष्टा मुनि है, साधक है, उपदेष्टा है, जनदु:ख-कातर है, उनका 'स्वान्तः सुख' 'सर्वहित' में निहित है। अतः अध्यात्म के संसार से बाहर निकलकर उनकी दृष्टि बीच-बीच में दु:खद युगीन स्थितियों तक भी पहुँची है। कहीं वे गणतन्त्र के दोषों का अवलोकन करते हैं, तो कहीं 'समता सिद्धान्त' की व्याख्या करते नज़र आते हैं; कभी वे दहेज बलि पर द्रवित होते हैं तो कभी भौतिक प्रगति की एकांगिता पर चिन्ता व्यक्त करते हैं। दहेज लोभी समाज के व्यवहार पर मुनिवर की प्रतिक्रिया द्रष्टव्य है :

"...सन्तों ने/पाणिग्रहण संस्कार को/धार्मिक संस्कृति का
संरक्षक एवं उन्नायक माना है।/परन्तु खेद है कि/लोभी पापी मानव
पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ. ३८६)

इतना ही नहीं, आतंकवाद जैसी युगीन असंगतियाँ भी कवि की दृष्टि से छूट नहीं पाईं। स्वर्णकलश मिट्टी के घड़े से अवज्ञा पाकर आतंकवाद का आह्वान करता है। आतंकवाद के जन्म की स्थितियों का विश्लेषण करते हुए 'मूकमाटी'कार लिखते हैं :

"मान को टीस पहुँचने से ही,/आतंकवाद का अवतार होता है।
अति-पोषण या अतिशोषण का भी/यही परिणाम होता है,
तब/जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,
बदले का भाव···प्रतिशोध !" (पृ. ४१८)

'मूकमाटी' की एक-एक पंक्ति प्रेरक, उद्बोधक और उद्धरणीय है, परन्तु कतिपय पृष्ठों की समीक्षा में महाकाव्य के विस्तार को समेटना कहाँ सम्भव है ?

विवेच्य महाकाव्य में कथ्य के स्तर पर जैसी भव्यता और उदात्तता है, वैसी ही शिल्प के स्तर पर भी दिखाई देती है। विशेष कर कुछ शब्दों की प्रवचनपरक व्युत्पत्ति और व्युत्क्रमजन्य अर्थ तो चमत्कृत करने वाले हैं, जैसे :

- *"स्वप्न प्रायः निष्फल ही होते हैं/इन पर अधिक विश्वास हानिकारक है।*
  'स्व' यानी अपना/'प्' यानी पालन-संरक्षण/और
  'न' यानी नहीं,/जो निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकता
  वह औरों को क्या सहयोग देगा ?" (पृ. २९५)

- *"रग-रग में/विश्व का तामस आ भर जाय/कोई चिन्ता नहीं,*
  किन्तु, विलोम-भाव से/यानी/ता···म···स स···म···ता···!" (पृ. २८४)

'योग में निश्चल मेरु-सम, उपयोग में निश्छल धेनु-सम' जैसे उपमान कवि की उत्कृष्ट अलंकार योजना के निदर्शन हैं। काव्य मुक्त छन्द में है, परन्तु उसमें लयात्मकता है।

एक ही वाक्य में कहें तो 'मूकमाटी' आत्मा का संगीत है, जो पाठक की चेतना पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है।

□

'मूकमाटी' : काव्य-अध्यात्म का संश्लेष

डॉ. सत्यदेव मिश्र

जैनमुनि आचार्य विद्यासागर प्रणीत काव्य-ग्रन्थ 'मूकमाटी' आध्यात्मिक काव्य है, काव्य और अध्यात्म का संश्लिष्ट रूप है। इस ग्रन्थ में आत्म-शुद्धिरत साधना के सोपानों तथा लोक-मंगलकामी सन्त की तपश्चर्या का रेखांकन कुम्भकार द्वारा निर्माण की प्रक्रिया के रूपक तथा विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से हुआ है। इस भौतिक जगत् की नितान्त अकिंचन एवं तुच्छ वस्तु मिट्टी को महाकाव्य की वस्तु के रूप में स्वीकृति आचार्यश्री का कोई रोमांटिक व्यामोह नहीं है, वरन् इस बात का प्रमाण है कि अकिंचन और अपदार्थ समझे जाने वाले भी महान् हो सकते हैं, आवश्यकता मात्र साधना की है, तपश्चरण की है।

समीक्षित ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है और महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित भी। महाकाव्य की कसौटी पर कसने से पूर्व प्रत्येक खण्ड का वस्तु-तात्त्विक विश्लेषण अपेक्षित है। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' का प्रारम्भ प्रकृति के मनोरम रूपांकन से होता है :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई,
निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।"(पृ. १)

उषाकालीन वेला में जहाँ रात्रि रूपी माँ की गोद में सोता हुआ सूर्य, प्राची रूपिणी राग-रंजित स्त्री की मन्द-मन्द मुस्कान से अनुरंजित हो अँगड़ाई लेने लगता है, वहीं चाँदनी और ताराएँ– अबला बालाएँ अपने पतिदेव चन्द्रमा के पीछे-पीछे छुपने का उपक्रम करती हैं। ऐसी ही मनोहारी सन्धि वेला में जहाँ न निशाकर है न निशा, न दिवाकर है न दिवा, पतिता, तिरस्कृता, पद-दलिता, यातनाओं और पीड़ाओं का पुंजीभूत स्वरूप अकिंचन माटी माँ पृथ्वी के सम्मुख एक अभागिन बेटी की भाँति अपनी व्यथा-कथा कहती है, और उस व्यथा-कथा के माध्यम से ही रचनाकार का दार्शनिक चिन्तन मुखर हो उठता है :

"और, संकोच-शीला/लाजवती लावण्यवती–/सरिता-तट की माटी
अपना हृदय खोलती है/माँ धरती के सम्मुख !/स्वयं पतिता हूँ
और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !...
यातनायें पीड़ायें ये !/कितनी तरह की वेदनायें/...इनका छोर है या नहीं !
...और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ४-५)

इस प्रकार जैन दर्शन और अध्यात्म के मूलभूत सिद्धान्तों का आख्यान-क्रम प्रथम खण्ड से ही प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुतः यहाँ सन्त कवि की प्रसंगोद्भावना नितान्त मौलिक है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में जिस वेदना-व्यथा, यातना और पीड़ा का रेखांकन माटी के सन्दर्भ में हुआ है, उसे साधक के मनोविकारों और सन्त्रास के प्रक्षालन का ही उपक्रम मानना चाहिए। साधना-पथ में करुणा का उद्रेक बिना पीड़ानुभूति, वेदनानुभूति के सम्भव नहीं। और कारुणिक अनुभूति ही आत्म-शोधन और आत्म-विस्तार की पहली सीढ़ी है।

कुम्भकार की परिकल्पना में माटी का जो मंगल घट उद्भासित हुआ है, उसके लिए माटी का परिशोधन,

उससे कंकर-पत्थर अलग करने की क्रिया, ठीक उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार मानवात्मा के उत्कर्ष के लिए उसे कटु भौतिक (दैहिक) अनुभूतियों से मुक्त कराना। दुःखानुभूतियों का अतिक्रमण ही मानवात्मा का सहज रूप है। आत्मोत्कर्ष की इसी प्रक्रिया का प्रस्तुतीकरण माटी से मंगल घट निर्माण करने की क्रिया में अन्तर्निहित है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' इस दृष्टि से पूर्ण सार्थक है। अभिप्राय यह है कि माटी जो अभी विपरीत तत्त्वों (कंकर-पत्थर आदि) के कारण वर्ण-संकर है, मंगल घट का रूपाकार ग्रहण नहीं कर सकती। वह 'मंगल घट' के रूप में तभी अवतरित होगी जब वह वर्ण-लाभ करेगी, अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होगी अर्थात् मानवात्मा मोक्ष-लाभ तभी करेगी जब वह राग-द्वेष, दुःख-सुख की अनुभूतियों का अतिक्रमण कर अपने परिमार्जित एवं सहज रूप में प्रतिस्थापित होगी। यहाँ 'मंगल घट' निर्माण की शिल्पी द्वारा की गई क्रिया, वस्तुतः गुरु द्वारा साधक की अन्तश्चेतना के परिमार्जन, परिशोधन की प्रक्रिया की ओर इंगित है। साधना, तपश्चरण साधक की जीवन-यात्रा, उसकी अन्तश्चेतना के विकास की, उसकी आध्यात्मिक यात्रा की पहली सीढ़ी है। माटी और शिल्पी के रूपक द्वारा कवि का यही सन्देश है:

"कल के प्रभात से/अपनी यात्रा का/सूत्र-पात करना है तुम्हें!
प्रभात में कुम्भकार आयेगा/पतित से पावन बनने,/समर्पण भाव-समेत
उसके सुखद चरणों में/प्रणिपात करना है तुम्हें,/अपनी यात्रा का
सूत्र-पात करना है तुम्हें!/...अपने-अपने कारणों से/सुसुप्त-शक्तियाँ—
लहरों-सी व्यक्तियाँ,/दिन-रात, बस/ज्ञात करना है तुम्हें,
अपनी यात्रा का/सूत्र-पात करना है तुम्हें!" (पृ. १६-१७)

प्रथम खण्ड मुनिवर के विचार-मन्थन से उद्भूत दार्शनिक-वैचारिक उपपत्तियों से ओत-प्रोत है। वे संघर्ष को ही जीवन का सुखद उपसंहार मानते हैं :

"संघर्षमय जीवन का/उपसंहार
नियमरूप से/हर्षमय होता है, धन्य!" (पृ. १४)

गरीबी-अमीरी, दुःख-सुख मानव-जीवन के तथ्य हैं। जीवन का यथार्थ—सात्त्विक जीवन का यथार्थ यही है। पर-दुःखकातरता, वेदनानुभूति, सहजानुभूति का सम्पोषण तथा संवेदनधर्मा बनना ही मानव-जीवन की सार्थकता है। यही कारण है कि कवि वासना को मोह और दया को मोक्ष मानता है।

- *"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है—*
  एक जीवन को बुरी तरह/जलाती है.../भयंकर है, अंगार है!
  एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है.../शुभंकर है, शृंगार है।" (पृ. ३८)

- *"वासना की जीवन-परिधि/अचेतन है...तन है/दया-करुणा निरवधि है*
  करुणा का केन्द्र वह/संवेदन-धर्मा...चेतन है/पीयूष का केतन है।" (पृ. ३९)

कवि भौतिक जगत् में अपदार्थ और अकिंचन समझे जाने वाली वस्तुओं और जीवों को प्रतीकात्मक ढंग से अतिशय कल्याणकारी और मानवीय मूल्यों का सम्पोषक प्रमाणित करता है। 'गदहा' शब्द की सार्थकता की ओर संकेत करते हुए रचनाकार लिखता है :

"गद का अर्थ है रोग/हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ
...बस,/और कुछ वांछा नहीं/...आज सार्थक बना नाम
गद-हा...गदहा...धन्य !" (पृ. ४०-४१)

यही नहीं, तुच्छ और पद-दलित माटी और अकिंचन गदहा दोनों ही 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' की सूक्ति को चरितार्थ करते हैं, यथा :

" 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'/यह सूत्र-सूक्ति/चरितार्थ होती है इन दोनों में !
सब कुछ जीवन्त है यहाँ/जीवन ! चिरंजीवन !! संजीवन !!!" (पृ. ४१)

इस अधोमुखी, बेसहारा जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए कवि आत्मसंयम और अहिंसा की उपासना करने की सलाह देता है। हिंसा मनुष्य को हमेशा छलती है। मानव-मन में ग्रन्थियों का होना ही हिंसा को जन्म देता है। वस्तुतः ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है और निर्ग्रन्थ-दशा, मन की सहज दशा ही अहिंसा की पोषक है। रचनाकार की दृष्टि में निर्ग्रन्थ-पथ पर चलना और अहिंसा की उपासना करना ही मानव-जीवन का प्रमुख काम्य होना चाहिए। जैन-दर्शन के इसी मूल-मन्त्र को रेखांकित करते हुए मुनिश्री लिखते हैं :

"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है
वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।/अर्थ यह हुआ कि
ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही/अहिंसा पलती है...
हम निर्ग्रन्थ-पन्थ के पथिक हैं/इसी पन्थ की हमारे यहाँ
चर्चा - अर्चा - प्रशंसा/सदा चलती रहती है।" (पृ. ६४)

परन्तु रचनाकार मुनि की वेदना यह है कि आज अहिंसा और अपरिग्रह के स्थान पर स्वार्थ और हिंसा ही फलवती हो रही है।

आज 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का महाभाव भी भावहीन हो रहा है। उसका आशय ही बदल डाला गया है :

" 'वसुधैव कुटुम्बकम्'/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
'वसु' यानी धन-द्रव्य/'धा' यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

किन्तु भविष्य नितान्त अन्धकारमय नहीं है। आज महती आवश्यकता सत् और असत् की पहचान की है:

"समझने का प्रयास करो, बेटा !/सत्-युग हो या कलियुग
बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह/सत् की खोज में लगी दृष्टि ही
सत्-युग है बेटा !/और/असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा !"(पृ. ८३)

वस्तुतः असत् अदय और क्रूर होता और सत् सदय और मृदु। असत् व्यष्टिवादी होता है और सत् समष्टिवादी और दयावान् भी । इसी तथ्य की ओर ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की अन्तिम पंक्तियों में संकेत मिलता है :

"कूप में एक बार और/'दयाविसुद्धो धम्मो'/ध्वनि गूँजती है/और
ध्वनि से ध्वनि, प्रतिध्वनि/निकलती हुई दीवारों से
टकराती-टकराती ऊपर आ/उपाश्रम में लीन···डूबती···सी !" (पृ. ८८)

प्रथम खण्ड में कुम्भकार द्वारा माटी परिशोधन की प्रक्रिया का प्रस्तुतीकरण, वस्तुतः, गुरु-कृपा से साधक द्वारा आत्म-परिशोध की क्रिया को रेखांकित करना है।

द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' का प्रारम्भ शुद्ध माटी में निर्मल जल मिलाने की क्रिया से प्रारम्भ होता है :

"लो, अब शिल्पी/कुंकुम-सम मृदु माटी में/मात्रानुकूल मिलाता है
छना निर्मल-जल।/नूतन प्राण फूँक रहा है/माटी के जीवन में
करुणामय कण-कण में/...नव-नूतन परिवर्तन···!" (पृ. ८९)

धर्म-दर्शन की मूलभूत मान्यताओं का रेखांकन विभिन्न पदों में यहाँ प्रस्तुत हुआ है। दया, क्षमा, प्रेम एवं मैत्री का विस्तार और क्रोध, प्रतिशोध आदि भावनाओं का शमन-परिष्कार निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

"खम्मामि खमंतु मे—/क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी !/वैर किससे/क्यों और कब करूँ ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है/संसार-भर में मेरा वैरी !" (पृ. १०५)

इसी भाँति :

"क्रोध-भाव का शमन हो रहा है...
प्रतिशोध-भाव का वमन हो रहा है।" (पृ. १०६)

इस खण्ड में कवि का लोक से सम्बद्ध जीवनानुभव और तत्त्वदर्शन स्थान-स्थान पर अनायास ही उभर कर आया है। समसामयिक जीवन में मूल्यों का पतन सन्त कवि की पैनी दृष्टि से छुपा नहीं है :

"चेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं/और
चेतन वाले तन की ओर/कब ध्यान दे पाते हैं ?"(पृ. १२३)

यही नहीं, रचनाकार का विविध आयामी साहित्यिक दृष्टिकोण भी इस खण्ड में सुरूपायित हुआ है। साहित्य की परिभाषा, रस सम्बन्धी मान्यताएँ, ऋतुवर्णन आदि प्रस्तुत खण्ड की विशेषताएँ हैं। साहित्य का समसामयिक बोध से सम्पुष्ट होना, सर्व कल्याणकारी होना ही उसकी सार्थकता है।

"हित से जो युक्त – समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि/जिस के अवलोकन से
सुख का समुद्भव – सम्पादन हो/सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)

मर्मज्ञ कवि ने अपनी लेखनी से तत्त्व-दर्शन की उपपत्तियों को नितान्त सरल शब्दावली में प्रस्तुत किया है।

आगम के चक्रगत (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्) ध्रुवता का निरूपण द्रष्टव्य है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है,
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और/है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

यही नहीं, प्रस्तुत खण्ड में काव्यगत चमत्कार-प्रदर्शन के नमूने भी भरपूर मिलते हैं। ९९ और ९ की संख्याओं पर गणितीय प्रयोगों को तत्त्वोन्मेष से सम्बद्ध करना चमत्कार-प्रदर्शन के साथ ही रूढ़िग्रस्त भी प्रतीत होता है :

"९९ और ९ की संख्या/जो कुम्भ के कर्ण-स्थान पर
आभरण-सी लगती अंकित हैं/अपना-अपना परिचय दे रही हैं।
एक क्षार संसार की द्योतक है/एक क्षीर-सार की।
एक से मोह का विस्तार मिलता है,/एक से मोक्ष का द्वार खुलता है
९९ संख्या को/दो आदि संख्याओं से गुणित करने पर...
९ की संख्या ही शेष रह जाती है।" (पृ. १६६)

द्वितीय खण्ड का शीर्षक सार्थक है। अभिप्राय है कि मात्र उच्चारण शब्द होता है। शब्द की अन्तरात्मा की पहचान ही उसका बोध है और उस बोध को जीवन में अन्तर्घटित करना शोध है, यथा :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
...बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें
वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।" (पृ. १०६-१०७)

तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में धरती और जलधि के रूपक द्वारा कवि ने पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के गर्हित स्वरूप का रेखांकन किया है। जलधि उस पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतीक है जो निरन्तर धरती रूपी सर्व-सहा भारतीय जनता का सर्वस्व अपहरण कर रहा है तथा वैभव के, ऐश्वर्य के चकाचौंध से छल रहा है :

"जब कभी धरा पर प्रलय हुआ/यह श्रेय जाता है केवल जल को
धरती को शीतलता का लोभ दे/इसे लूटा है,/इसीलिए आज
यह धरती धरा रह गई/न ही वसुंधरा रही न वसुधा !/और
यह जल रत्नाकर बना है—/बहा-बहा कर
धरती के वैभव को ले गया है।" (पृ. १८९)

परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के सम्पोषकों का यह संग्रह-कर्म दार्शनिक कवि की दृष्टि में नीच कर्म तो है ही, साथ ही पारलौकिक दृष्टि से अज्ञान और मोह का परिचायक भी है :

"पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/अज्ञान को बताता है,/और
पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।
यह अति निम्न-कोटि का कर्म है/स्व-पर को सताना है,

नीच-नरकों में जा जीवन बिताना है।" (पृ. १८९)

न्याय और अन्याय के सनातन संघर्ष को रेखांकित करने हेतु रचनाकार ने प्रकृति के उपकरणों को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। न्याय और धर्म का संरक्षक भानु कभी अपने मार्ग से विचलित नहीं होता और अपनी प्रखर किरणों के उत्ताप से सदा अन्यायियों, अनाचारियों को दग्ध करता रहता है। ताराएँ, चन्द्रमा आदि सभी उसके धर्मध्वज से कतराकर दूर भागते रहते हैं अर्थात् अधर्म हमेशा ही धर्म के साम्मुख्य से बचता रहता है। परन्तु अधर्मियों की शक्ति भी कम नहीं, क्योंकि:

"दिन-रात जाग्रत रहती है यहाँ की सेना
भयंकर विषधर अजगर/मगरमच्छ, स्वच्छन्द...
वातावरण को विषाक्त बनाया जाता है/तुरन्त विष फैला कर।" (पृ. १९४)

किन्तु, अहिंसा को परम धर्म मानने वाले साधक, धर्म से कभी विचलित नहीं होते। वे धरित्री की भाँति ही सदा-सर्वदा सब के कल्याणकारी होते हैं।

"पूरी तरह जल से परिचित होने पर भी/आत्म-कर्तव्य से
चलित नहीं हुई धरती यह।/कृतघ्न के प्रति विघ्न उपस्थित
करना तो दूर,/विघ्न का विचार तक नहीं किया मन में।...
उद्धार की ही बात सोचती रहती/सदा - सर्वदा सबकी।" (पृ. १९४-१९५)

मुनि कवि मन, वाणी और कर्म से लोक-कल्याण का उपदेश देते हैं, क्योंकि लोक-हित में श्रेष्ठ कार्यों का सम्पादन ही सच्चे साधक का शोध है और यही दया-धर्म है। काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मान एवं मोह आदि से मन को मुक्त कराने की क्रिया साधक की चेतना के संस्कार का कर्म ही सच्चा धर्म है :

"जल को मुक्ता के रूप में ढालने में/शुक्तिका—सीप कारण है
और/...जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।
यही दया-धर्म है/यही जिया-कर्म है।" (पृ. १९३)

वस्तुतः प्रस्तुत खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' का शीर्षक नितान्त सार्थक तथा सांकेतिक है। लोक-कल्याण की कामना करना, विषयों को त्याग कर जितेन्द्रिय और विजितमना बनाना ही पुण्य का पालन है एवं पाप का प्रक्षालन है। और यही, यहाँ कुम्भकार और माटी की विकास-कथा के प्रसंग में रचनाकार ने पुण्य-कर्म-सम्पादन के श्रेयस् को प्रमाणित किया है।

चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' निर्मित कुम्भ का कुम्भकार द्वारा अवा में तपाने की प्रक्रिया का प्रतीकात्मक काव्यबद्ध रूप है। घट पकाने की प्रक्रिया तत्त्व-दर्शन और सामाजिक सन्दर्भों से जोड़ी गई है। अवा में बबूल की लकड़ियों का जलना, वस्तुतः साधना की आँच में दोषों का जलना है। साधना की आग में दोषों का जलना ही साधक का पुनः जीवित होना है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)

कुम्भ के पकने पर साधु की आहार-दान प्रक्रिया के रेखांकन के अन्यान्य पहलू जैन-मत की नाना अवधारणाओं को प्रस्तुत करते हैं। कुम्भ का परीक्षण करते हुए सेवक द्वारा कुम्भ को सात बार बजाने की क्रिया द्वारा रचनाकार अपनी धार्मिक उपपत्तियों को उद्घाटित करता है :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख/प···ध यानी ! पद–स्वभाव
और/नि यानी नहीं,/दुःख आत्मा का स्वभाव– धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह।"(पृ. ३०५)

यही नहीं, इस खण्ड में विविध प्रसंगोद्भावनाओं द्वारा मुनिश्री ने लौकिक-पारलौकिक जिज्ञासाओं, मानवीय मूल्यों और भावनाओं, साधना-उपासना के अन्यान्य पहलुओं तथा दार्शनिक चिन्तन के अनेक फलकों को नाटकीय शैली में उद्घाटित किया है। विचित्र बात यह है कि रचनाकार इन सारी प्रसंगोद्भावनाओं के ऊहापोह में धँसते हुए भी समसामयिक सामाजिक सन्दर्भों से असम्पृक्त नहीं है। यही कारण है कि इसी खण्ड में वह आतंकवाद की समस्या से जूझने का भी प्रच्छन्न संकेत देता है। आधुनिक भारतीय समाज की विभीषिका का विश्लेषण यहाँ अभिधात्मक पद्धति में नहीं वरन् लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा किया गया है। स्वर्णकलश द्वारा आतंकवादी दल का आहूत किया जाना और अन्त में पाषाण-फलक पर आसीन वीतरागी संन्यासी की अर्चना-वन्दना के उपरान्त आतंकवाद का यह स्व-कथन ही इस समस्या का समाधान है अर्थात् आतंकियों का हृदय-परिवर्तन :

"हे स्वामिन् !/समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है,
...हम भी आश्वस्त हो/आप-जैसी साधना को/जीवन में अपना सकें,
...'तुम्हारी भावना पूरी हो'/ऐसे वचन दो हमें,/बड़ी कृपा होगी हम पर।"
(पृ. ४८४-४८५)

समग्रतः रचनाकार ने लौकिक-पारलौकिक दृष्टियों और मूल्यों के अन्यान्य पहलुओं को इस ग्रन्थ में संग्रथित किया है। वे शुद्ध, सात्त्विक जीवन-पद्धति को ही मानव का चरम काम्य स्वीकारते हैं। भौतिक भोगों से समाधि की ओर उन्मुख होना और वीतराग संस्कृति को तरजीह देना ही, कदाचित् 'मूकमाटी' का लक्ष्य है। मुनि कवि इस स्व-केन्द्रित भौतिकवादी युग में 'श्रमण-संस्कृति' को सर्वथा प्रासंगिक एवं वरेण्य मानते हैं।

'मूकमाटी' को महाकाव्य कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि महाकाव्य के लिए निर्धारित काव्य-शास्त्रीय प्रतिमानों का निर्वाह इस ग्रन्थ में नहीं होता। यद्यपि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रचना में काव्यगत औदात्त्य का चर्मोत्कर्ष विद्यमान है। मुनिकवि की दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से पुष्ट 'मूकमाटी' में विचारों, भावोद्गारों और आवेग की प्रबलतम एवं उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है। कृति का रचनाविधान नितान्त गरिमामय एवं भव्य है। प्रतीक योजना एवं बिम्बविधान की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' उल्लेखनीय काव्य है।

□

दक्षिण भारतीय कलमकार की हिन्दी-साधना की फलश्रुति : 'मूकमाटी'

कैलाश मड़बैया

'मूकमाटी' के रचयिता आचार्य विद्यासागर सर्वोपरि मुनि हैं, जैन सन्त हैं – आचरण के धनी, तपःपूत और आज के सन्तों में जिनकी छवि भी शीर्ष स्तरीय है, बाद में वे कवि और लेखक हैं। जैन ही नहीं, जैनेतर देशवासी भी जिनके दर्शन और श्रवण का लाभ लेना चाहते हैं--निःस्वार्थ, क्योंकि जैन सन्त निर्ग्रन्थ और दिगम्बर, भला क्या दे सकता है ? परन्तु फिर भी विचारों के पारखी भले ही कम हों, पर हवा में बहने वाले भक्तों की भीड़ की इस देश में आज भी कमी नहीं है। यद्यपि मुनिवर विद्यासागरजी की साधना निर्विवाद रूप से तीर्थंकरों के अनुरूप और वर्तमान में अद्वितीय है, वन्दनीय है। ऐसी स्थिति में जब मुनिवर विद्यासागरजी का अद्भुत प्रभामण्डल देदीप्यमान हो रहा हो, उनकी किसी कृति की समीक्षा कितने निष्पक्ष ढंग से की जा सकती है, यह विचारणीय है। स्पष्ट है कि इन पंक्तियों के लेखक की भी नियत ठीक नहीं है। हालांकि मैं चाहता यही हूँ और प्रयास भी यही है कि काव्य की समीक्षा करूँ, कवि की नहीं, पर रह-रह कर विद्यासागरजी का सन्ताचरण-तपश्चरण से दिपदिपाता चेहरा सामने आ जाता है। खैर, प्रयास करूँगा कि पूरी तटस्थता से पक्षपात रहित कलम चले। केवल कविता पर चर्चा करूँ। न आलोचना के लिए आलोचना हो और न भक्त की तरह मात्र स्तुति, वन्दना हो।

'मूकमाटी' में मुक्त छन्द का प्रयोग हुआ है पर रचनाकार गीतात्मकता से कहीं मुक्त नहीं हो पाया। विषय से अधिक ध्यान शब्दों के तिलिस्म पर रहा है। जैसे कि 'प्रस्तवन' में कह भी दिया गया है : "कवि के लिए अतिशय आकर्षण है शब्द का", यथा :

- *"निरी माटी का/दरश करता है/...खरा माटी का/परस करता है*
  ...तन से मन से/हरष करता है।" (पृ.४४)
- *"शिष्टों का उत्पादन–पालन हो/दुष्टों का उत्पातन–गालन हो।" (पृ. २३५)*

यह सही है कि कविता शब्दों की लयबद्धता भी है पर प्राकृतिक प्रस्फुटन उसकी पहली शर्त है। समर्थ कवि के शब्द विचारों पर थिरकते सटीक शब्द सहज चले आते हैं, उन्हें श्रम से नहीं लाना पड़ता। शिल्प और काव्य में श्रम अवश्य होता है पर वह प्रतीत नहीं होता, शैली होती है पर वह रचनाकार की मौलिक हो तो मज़ा ही कुछ और होता है। 'मूकमाटी' की स्तुति-वन्दना आज बहुत सारे जैन भक्त जगह-जगह कर रहे हैं पर पूरी कृति पढ़ पाने का श्रम और साहस कदाचित् बहुत कम ने किया होगा ! भक्त की तरह 'मूकमाटी' का मोटा ग्रन्थ बहुतों ने मन्दिरों के लिए खरीद भी लिया होगा पर माटी की तरह जड़ होकर दिखावे के लिए, मुखर होकर उसका अध्ययन कितनों ने किया होगा--यह शंकास्पद है। अपेक्षा भी नहीं की जा सकती लगभग पाँच सौ पृष्ठ पढ़ने की--व्यवसायी वर्ग से। पर यदि विराम दे-देकर इसे पढ़ा जाए तो 'मूकमाटी' से माटी तो मुखर हो ही उठती है ।

सन् और माह तो याद नहीं है अब, पर बहुत पहले ललितपुर यात्रा के दौरान मुझे मुनिवर आचार्यश्री के दर्शन करने का अवसर मिला था, तो इसी कृति के कुछ अंश आचार्यजी ने मुझे दिखाए थे, लिखित पाण्डुलिपि के रूप में, कुछ पढ़कर--तब भी मैंने इसके गीत-तत्त्व की प्रसंशा की थी :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की/च्युति कब होगी ?
बता दो, माँ···इसे !/...कुछ उपाय करो माँ !/खुद अपाय हरो माँ !

और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

इसमें कबीर का फक्कड़पन और गर्वीलापन भले न हो पर तुलसी-सी विनम्रता अवश्य परिलक्षित होती है।

माटी का दर्द अपनी चरम सीमा पर उभरा है इस कृति में। यह कबीर का भी विषय था परन्तु तेवर भिन्न हैं :

- *"जो घर फूँके आपना चले हमारे साथ।"*
- *"माटी कहे कुँभार से तूँ क्या रूँधे मोहि।*
  इक दिन ऐसा आयगा मैं रूँधूँगी तोहि॥"

रचनाकार की प्रतिबद्धता जब किसी विचारधारा से हो जाती है तो वह रचनाकार कम रह पाता है सम्बन्धित विचारधारा का प्रवक्ता अधिक हो जाता है। मेरे कतिपय साथी रचनाकार भी किसी विशेष विचारधारा से प्रतिबद्ध हैं और निश्चय मानिए कि उनका सहज शिल्प और प्राकृतिक रचनाकार कहीं खो गया है। अपनी लावी में, अपनी पत्रिकाओं में भले वे तीसमारखाँ बन जाएँ पर है यह शुतुरमुर्गी अदा ही। कहने के लिए वे कहने लगते हैं बिना विचारधारा के सृजन कैसा? पर मैं सोचता हूँ सृजन के लिए विचार आवश्यक हैं, न कि सीमाओं में बँधी धारा। धारा का प्रवाह तो रचना में होना चाहिए न कि विचारबद्धता में, उद्गम में, रचना का विषय प्रतिबद्ध होना चाहिए न कि किसी धारा विशेष से सम्बद्ध। विद्यासागरजी ने कई जगह यह प्रतिबद्धताएँ तोड़ी भी हैं, जबकि वे संयमित ही नहीं इन्द्रियविजयी सन्त हैं पर कवि की तरह जब सोचते हैं तो रचना में शृंगार भी खूब उभरता है।

प्राकृतिक शृंगार की एक बानगी देखते बनती है :

- *"फूल ने पवन को/प्रेम में नहला दिया,/और*
  बदले में/पवन ने फूल को/प्रेम से हिला दिया !" (पृ. २५८)
- *"बीचों-बीच मुख है/और/सावरणा—साभरणा/लज्जा का अनुभव करती,*
  नवविवाहिता तनूदरा/घूँघट में से झाँकती-सी···!" (पृ. ३०)
- *"सागर से शशि की मित्रता हुई/अपयश—कलंक का पात्र बना शशि*
  किसी रूपवती सुन्दरी से/सम्बन्ध नहीं होने से
  शशि का सम्बन्ध निशा के साथ हुआ,
  सो···सागर को श्रेय मिलता यह !" (पृ. २२९)

हालाँकि स्वभावतः जैनत्व उनकी कलम पर हावी हुआ है और होना अनुचित भी नहीं, कारण कि रचनाकार का उद्देश्य मात्र कविता कला में खोना नहीं है वरन् कविता तो उन्हें एक सोपान है आत्मत्व तक पहुँचने का, पहुँचाने का। इसीलिए काव्य के विषय का चयन भी अत्यन्त सयानेपन से किया गया है। माटी···पद-दलित माटी, लेकिन कुम्भकार अपने श्रम से इसकी परिणति कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है। और विद्यासागरजी इस माध्यम से वह सभी कुछ सन्देश दे देते हैं, जो वे सोचते हैं और आत्मत्व के लिए आवश्यक है। एक दक्षिण भारतीय क़लमकार हिन्दी की साधना इतने उत्कृष्ट स्तर तक कर, शब्दों को क़लम की नोक पर भावनाओं के अनुरूप थिरकाने का प्रयास कर, मन तो जीत ही लेता है। यद्यपि काव्य में शब्दों की तोड़-मरोड़ क्षम्य है परन्तु कई जगह लिंग विषमता अथवा अनावश्यक तोड़-मरोड़ या तो रचनाकार पर दक्षिण भारतीय प्रभाव के कारण हुआ या सहजता के अभाव में, यथा :

- *"अपनी पराग को।" (पृ. २)*
- *"पराक्रम से रीता/विपरीता है इसकी भाग्य रेखा।" (पृ. ४)*
- *"ऋजुता की यह/परम दशा है/और/मृदुता की यह/चरम यशा है।" (पृ. ४४-४५)*
- *"...शिल्पी से/कड़वी घूँट-सी पीकर।" (पृ. ५१)*

कहीं-कहीं उपदेशात्मक शैली बोझिल भी हुई है, पर विषय की गूढ़ता के कारण रचनाकार की यह मजबूरी हो सकती है, यथा :

- *"इसीलिए सुनो !/आयास से डरना नहीं/आलस्य करना नहीं !" (पृ. ११)*
- *"इसलिए/प्रतिकार की पारणा/छोड़नी होगी, बेटा !*
  अतिचार की धारणा/तोड़नी होगी, बेटा !" (पृ. १२)
- *"एक बात और कहनी है/कि/किसी कार्य को सम्पन्न करते समय*
  अनुकूलता की प्रतीक्षा करना/सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १२-१३)

काव्य में सूक्तियों के प्रभाव का अपना रंग है, यथा :

"बायें हिरण/दायें जाय—/लंका जीत/राम घर आय।"(पृ. २५)

अनेक शब्दों के अर्थ, नए सन्दर्भों में खोलने में रचनाकार ने महारत हासिल की है। अक्षरों के विन्यास से यह अर्थ रोचक और प्रेरक भी बन पड़े हैं, यथा :

- *"कुम्भकार !/'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—*
  यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ.२८)
- *" 'गद' का अर्थ है रोग/'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ*
  ···बस,/और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

आज की वर्ण-भेद समस्या पर सन्त रचनाकार ने अत्यन्त समीचीन संस्तुति दी है। यह काल की दृष्टि से प्रासंगिक भी है :

"क्षीर में नीर मिलाते ही/नीर क्षीर बन जाता है।
...गाय का क्षीर भी धवल है/आक का क्षीर भी धवल है
...नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।/और
क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है।" (पृ. ४८-४९)

अनेक प्रसंगों में शब्दों का चमत्कार दर्शनीय है, यथा :

- *"राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही*
  विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही···ही···रा···।" (पृ.५७)
- *"राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा···।" (पृ.५७)*

जैनत्व के निर्ग्रन्थ की अत्यन्त जानदार व्याख्या आचार्यश्री द्वारा की गई है। रस्सी का उदाहरण देते हुए वे इसे

ग्रन्थि से जोड़ते हैं। वे कहते हैं गाँठ है तो हिंसा होगी ही, अतएव गाँठ पालना खतरे से खाली नहीं है वरन् वर्जित है।

"ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और
निर्ग्रन्थ-दशा में ही/अहिंसा पलती है।" (पृ. ६४)

'वसुधैव कुटुम्बम्' की व्याख्या आधुनिक परिप्रेक्ष्य में द्रष्टव्य है :

"वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

कहीं-कहीं जैनत्व की चतुराई अखर जाती है। कहा जाता है कि जैन धर्म का पालन करने वाले अधिकांश तीर्थंकर क्षत्रिय हुए हैं। पुराने जैनियों में अनेक लोग अपने नाम के साथ सिंह लिखते हैं। कहते हैं यही अपभ्रंश होकर सिंघई बन गया। इन सभी शौर्यपूर्ण स्थितियों के होते हुए भी बनिये या बानिया (जैनियों को भी कहीं-कहीं बानिया कहा जाता है) अपनी अवसरवादी चतुराई के कारण कौंइयाँ कहलाते हैं और यही कायरता को जन्म देती है। कायरता में अहिंसा नहीं पल सकती।

"फूल की गन्ध-मकरन्द से/वंचित रहना/अज्ञता ही मानी है,
और/काँटों से अपना बचाव कर/सुरभि-सौरभ का सेवन करना
विज्ञता की निशानी है।" (पृ. ७४)

मनोविकारों की सपाटबयानी का भी अपना कौशल है। कहीं-कहीं तुक या शब्दकौशल के कारण अस्पष्टता भी झलक जाती है पर अधिकांशतया सार्थकता उपलब्ध है :

"मन की छाँव में ही/मान पनपता है/मन का माथा नमता नहीं
न-'मन' हो, तब कहीं/नमन हो 'समण' को
इसलिए मन यही कहता है सदा-/नम न ! नम न !! नम न !!!" (पृ. ९७)

शब्दों का गहन बोध रचना में झलक-झलक उठता है। अनुभूत शब्द अपने आप बोलते हैं :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं,/फिर !/संवेद्य-स्वाद्य फलों के दल
दोलायित कहाँ और कब होंगे···?" (पृ. १०६-१०७)

कहा जाता है कि कवि का स्वभाव स्त्रैण होता है। बिना चंचल मन के कविता जन्मती ही नहीं, पर विद्यासागरजी इस सत्य को अनुभवजन्य ही ज्ञापित करते हैं :

- *" स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है/और/अस्थिर मन ही*
  पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,/एक सुख का सोपान है
  एक दुःख का सो पान है।" (पृ. १०९)
- *"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही/मोह का परिणाम है*

और/सब को छोड़कर/अपने आप में भावित होना ही
मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

- *"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है*
  और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है।" (पृ. १११)

रचनाकार की सूक्ष्मदर्शिता कहीं-कहीं काव्य के अत्यन्त अनुकूल परिलक्षित होती है :

- *"मौन की मौनता गौण कराता हो/और/मौन गुनगुनाता है*
  उसे जो सुने, वही बड़ा है मौन से।" (पृ. ११८)
- *"आस्था का दर्शन आस्था से ही सम्भव है*
  न आँखों से, न आशा से।" (पृ. १२१)

अनेक जगह तुक और शाब्दिक व्यंजना के कारण न समझ आने वाली जटिलता भी उत्पन्न हो जाती है। पूरे महाकाव्य में यदि बोधगम्यता भी दृष्टि में रहती तो यह सामान्य जन को भी उपयोगी हो सकता था। केवल चन्द लोगों के लिए या मुनिवर की जय-जयकार बोलने के लिए दिखावे का माध्यम भी नहीं बनता।

"न सरिता रहे, न सागर!/यह सरकन ही सरिता की समिति है,
यह निरखन ही सरिता की प्रमिति है।" (पृ. ११९-१२०)

अब सरिता की सागर की ओर सरकन तक तो बात स्पष्ट है, पर समिति का यहाँ आशय उलझावपूर्ण प्रतीत होता है। इसी तरह व्यंग्य के भी काव्य में दर्शन होते हैं पर कहीं-कहीं झुठलाने वाली स्थापनाएँ प्रतीत होती हैं :

"वेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं।" (पृ. १२३)

अब राष्ट्रपति से लेकर भृत्य तक, सभी वेतन या ऐसा ही कुछ भरण-पोषण के लिए धन के रूप में प्रतिमाह प्राप्त करते हैं तो क्या वे सभी वतन की ओर कम ध्यान देते हैं? और व्यापारी एवं निजी मोक्ष की कामना में रत संसार-साधु, वतन का क्या ज्यादा ध्यान रखते हैं? यह विचारणीय है। क्योंकि इन पंक्तियों का आशय, रचनाकार के मन में कुछ भी हो पर प्रत्यक्ष रूप से यह शब्द-जाल की गले न उतरने वाली असफलता है।
'स' का कमाल देखिए :

"सुत-सन्तान की सुसुप्त शक्ति को/सचेत और
शत-प्रतिशत सशक्त–/साकार करना होता है, सत्-संस्कारों से।
सन्तों से यही श्रुति सुनी है।" (पृ. १४८)

मनोविकारों के चित्रण और शमन का सुन्दर उपक्रम हैं ये पंक्तियाँ।

क्रोध को पाप का मूल बताते हुए ऋषि-रचनाकार बहुत स्पष्ट कहते हैं :

"वीर रस से तीर का मिलना/कभी सम्भव नहीं/और/पीर का मिटना
त्रिकाल असम्भव!/...इसके सेवन से/उद्रेक-उद्दण्डता का अतिरेक
जीवन में उदित होता है,/पर पर अधिकार चलाने की भूख

इसी का परिणाम है।/बबूल के ठूँठ की भाँति
मान का मूल कड़ा होता है।" (पृ. १३१)

हास्य के बारे में आम धारणा से जैन धर्म में विपरीत विचार हैं। रचनाकार ने किस खूबी से यह बात कही है देखिएगा :

"खेद-भाव के विनाश हेतु/हास्य का राग आवश्यक भले ही हो
किन्तु वेद-भाव के विकास हेतु/हास्य का त्याग अनिवार्य है
हास्य भी कषाय है ना!" (पृ. १३३)

संयम और साधना के आध्यात्मिक क्षेत्र में भी संगीत और प्रेम जैसे शब्द अपना अर्थ रखते हैं। रचनाकार सलीके से इन्हें परिभाषित करता है :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और
प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है।" (पृ. १४४-१४५)

रचनाकार संसार से विरक्त हैं पर संसार के दु:खों के कारणों पर उसकी पकड़ कम नहीं है वरन् कुछ ज्यादा ही सारवान् है। यही कारण है कि कथनी-करनी के अन्तर को उन्होंने गहराई से समझा है :

"उस पावन पथ पर/दूब उग आई है खूब!/वर्षा के कारण नहीं,
चारित्र से दूर रह कर/केवल कथनी में करुणा रस घोल
धर्मामृत-वर्षा करने वालों की/भीड़ के कारण!" (पृ.१५१-१५२)

इसी पृष्ठ १५२ पर पंक्तियाँ हैं :

"जिसे पथ दिखाया जा रहा है/वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,
औरों को चलाना चाहता है।"

प्रथम पंक्ति इस तरह हो सकती है :

"जो पथ दिखा रहा है/वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,
औरों को चलाना चाहता है।"

यद्यपि आशय स्पष्ट है। ध्यान ओझल होने के कारण कदाचित् ऐसा हुआ होगा। इतना अधिक उद्धृत करने योग्य इस कृति में है कि क्या छोड़ा जाय ? उत्थान-पतन का आमुख रचनाकार ने कितने छोटे सूत्र में कह दिया है जो देखते ही बनता है :

"विकास के क्रम तब उठते हैं/जब मति साथ देती है
जो मान से विमुख होती है,/और/विनाश के क्रम तब जुटते हैं
जब रति साथ देती है/जो मान में प्रमुख होती है।
उत्थान-पतन का यही आमुख है।" (पृ. १६४)

अंकों का भाव, श्वान और सिंह में अन्तर, अन्य पशुओं की प्रवृत्ति, अन्तर्निहित सूक्ष्म व्याख्या आदि रचनाकार

की विवेचना और विवेकपूर्ण विचार की परिचायक है।

तीसरे खण्ड में कुछ अद्भुत और सार्थक व्याख्याएँ रचनाकार द्वारा की गई हैं जिनसे कृति की प्रासंगिता बढ़ी है, यथा :

"सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में ।" (पृ. १९०)

नारी की मौलिक व्याख्या उल्लेखनीय है :

- *" 'न अरि' नारी···/अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ. २०२)*
- *"न बला···सो अबला।" (पृ. २०३)*

स्त्री जाति के लिए रचनाकार ने जहाँ विविध शब्द व्याख्याएँ कर सम्मान दिया है, वहीं सोचने के लिए कुछ प्रश्न चिह्न भी खड़े कर दिए हैं, यथा :

"स्वस्त्री हो या परस्त्री,/स्त्री-जाति का स्वभाव है,/कि
किसी पक्ष से चिपकी नहीं रहती वह।
अन्यथा,/मातृभूमि मातृ-पक्ष को/त्याग-पत्र देना खेल है क्या ?"(पृ. २२४)

उपर्युक्त पंक्तियों का भाव भले प्रशंसात्मक लिया जाए, पर आगे देखिए :

"इसीलिए भूलकर भी/कुल-परम्परा संस्कृति का सूत्रधार
स्त्री को नहीं बनाना चाहिए।/और/गोपनीय कार्य के विषय में
विचार-विमर्श-भूमिका/नहीं बताना चाहिए।" (पृ. २२४)

कदाचित् ये पंक्तियाँ हमें पुनः नारी के सन्दर्भ में रूढ़िवादिता की ओर अतीत में धकेल देती हैं। स्त्री का चंचला स्वभाव परिस्थितिवश भी होता है और आतुरता नरों में भी होती है। परन्तु इसका आशय यह शाश्वत रूप से नहीं लिया जा सकता कि नारियों के पेट में बात नहीं पचती।

रचना धर्म अपने आप में एक अलग कर्म है जिसे रचनाकार ने बखूबी निभाया है। इसमें वह कहीं-कहीं 'जिन' - सिद्धान्तों से जुड़ा है तो कहीं-कहीं कटा भी है :

"हिंसा की हिंसा करना ही/अहिंसा की पूजा है···प्रशंसा।" (पृ. २३३)

इसमें शब्द हिंसा तो हो ही रही है भले ही हिंसा की ही क्यों न हो। और शब्द विचार से ही जन्मता है, उसी की अभिव्यक्ति है। प्रकृति की संगीतात्मकता को मुनिवर ने न केवल आत्मसात् किया है वरन् क़लम पर भी कमाल कर उतारा है :

"काक-कोकिल-कपोतों में/चील-चिड़िया-चातक-चित में
बाघ-भेड़-बाज-बकों में/सारंग-कुरंग-सिंह-अंग में
खग-खरगोशों-खरों-खलों में/ललित-ललाम-लजील लताओं में।" (पृ. २४०)

रचना कर्म के पूर्व स्पष्ट बिम्ब का होना सृजन की पहली शर्त है और इसमें आचार्यश्री ने साफ़गोई बरती है :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं ।

और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं ।" (पृ. २४५)

नई कविता की तरह छन्द मुक्त होते हुए भी इस काव्य में जहाँ गीतात्मकता है वहीं उत्कृष्ट तथ्य यह है कि काव्य में एक सार्थक और सुलझा हुआ सम्प्रवाह है। जटिलता भाषा की भले किसी पाठक को लगे, पर भावों की किंचित् भी नहीं है। नई कविता की भाँति इस पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता है कि ऊटपटांग बिम्ब-विधान द्वारा कुछ भी लिख दिया गया है– 'खुद लिखे खुदा बाँचे' जैसा।

प्रकृति की एक और बानगी देखिए :

- *"कलियाँ खुल खिल पड़ीं/पवन की हँसियों में,*
  छवियाँ घुल-मिल गईं/गगन की गलियों में,
  नयी उमंग, नये रंग/अंग-अंग में नयी तरंग
  नयी ऊषा तो नयी ऊष्मा/...नया मंगल तो नया सूरज
  नया जंगल तो नयी भू-रज।" (पृ. २६३)

- *"उत्तुंग-तम गगन चूमते/तरह-तरह के तरुवर/छत्ता ताने खड़े हैं,*
  श्रम-हारिणी धरती है/हरी-भरी लसती है
  धरती पर छाया ने दरी बिछाई है।/फूलों-फलों पत्रों से लदे
  लघु-गुरु गुल्म-गुच्छ/श्रान्त-श्लथ पथिकों को
  मुस्कान-दान करते-से।" (पृ. ४२३)

जीवन का यह पथ सरल नहीं है। बिना तप के कर्मों के आवरण हटता नहीं और बिना इसे हटाए आत्मा परम होती नहीं। इसीलिए आचार्यश्री कहते हैं :

- *"आग की नदी को भी पार करना है तुम्हें,/वह भी बिना नौका !*
  हाँ ! हाँ !!/अपने ही बाहुओं से तैर कर,
  तीर मिलता नहीं बिना तैरे।" (पृ. २६७)

- *"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर*
  वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए।" (पृ. २६७)

श्रावक और सन्तों में मूलभूत अन्तर सदैव स्मरण रखना होगा। आचरण, धन-सम्पदा से ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान से भी सदा आगे रहा है। इसलिए कृति में कहा गया है :

"असंयमी संयमी को क्या देगा ?/विरागी रागी से क्या लेगा ?" (पृ. २६९)

आत्मा की साधना में रत जिन-मुनि समाज की व्यवस्था और विकास के आरोहों-अवरोहों से अपरिचित नहीं हैं। गणतन्त्र और धनतन्त्र की व्याख्याओं को स्पष्ट करते हुए वे लकड़ियों के माध्यम से कहलवाते हैं :

"कभी-कभी हम बनाई जातीं/कड़ी से और कड़ी छड़ी

अपराधियों की पिटाई के लिए।/प्रायः अपराधी-जन बच जाते
निरपराध ही पिट जाते,/और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।
इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है
या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)

आत्मावलोकन को प्रायः सभी आदर्शवादी उचित ठहराते हैं पर विद्यासागरजी परम्परा से हटकर अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :

- *"अपनी कसौटी पर अपने को कसना/बहुत सरल है,···पर*
  सही-सही निर्णय लेना बहुत कठिन है,/क्योंकि,
  अपनी आँखों की लाली/अपने को नहीं दिखती है।
  एक बात और भी है, कि/जिस का जीवन औरों के लिए/कसौटी बना है
  वह स्वयं के लिए भी बने,/यह कोई नियम नहीं है।" (पृ. २७६)
- *"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है/स्व-पर दोषों को जलाना*
  परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)
- *"विषयों और कषायों का वमन नहीं होना ही*
  उनके प्रति मन में/अभिरुचि का होना है।" (पृ. २८०)

रचनाकार की आकांक्षा कृति में गूँज उठती है। यह गूँज साधारण कवि की नहीं, साधक रचनाकार की है :

- *"दाह के प्रवाह में अवगाह करूँ/परन्तु,/आह की तरंग भी*
  कभी नहीं उठे/इस घट में···संकट में।/इसके अंग-अंग में/रग-रग में
  विश्व का तामस आ भर जाय/कोई चिन्ता नहीं,
  किन्तु, विलोम-भाव से/यानी/ता···म···स स···म···ता···!" (पृ. २८४)
- *"ध्यान की बात करना/और/ध्यान से बात करना*
  इन दोनों में बहुत अन्तर है—/ध्यान के केन्द्र खोलने-मात्र से
  ध्यान में केन्द्रित होना सम्भव नहीं।" (पृ. २८६)

शब्दों की सिद्धि सार्थक कविता है और आचार्य विद्यासागर ने इसमें महारत हासिल की है। शव और शिव का उपयोग रागी और विरागी में कितनी खूबसूरती से किया गया है कि एक मद्यपान में और दूसरा आत्म-ध्यान में खोया है, पर :

- *"एक शव के समान/निरा पड़ा है,*
  और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)
- *"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से*
  अध्यात्म का झरना झरता है।/दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
  चल सकता है, चलता ही है/पर, हाँ !/बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।
  ...बिना सरवर लहर नहीं।" (पृ. २८८)

आत्मा में डूबने का अपना आनन्द है। ऊर्जा के आरोहण का मज़ा कुछ और ही है। रचनाकार ने घट और शिल्पी के माध्यम से बड़े करीने से यह तथ्य सँजोया है :

"ग्राहक के रूप में आया सेवक/चमत्कृत हुआ/मन-मन्त्रित हुआ उसका
तन तन्त्रित—स्तम्भित हुआ/कुम्भ की आकृति पर/और
शिल्पी के शिल्पन चमत्कार पर।/यदि मिलन हो/चेतन चित् चमत्कार का
फिर कहना ही क्या !/चित् की चिन्ता, चीत्कार
चन्द पलों में चौपट हो चली जाती/कहीं बाहर नहीं,
सरवर की लहर सरवर में ही समाती है।" (पृ. ३०६)

जो कथित विद्वान् इस दुनिया को केवल अर्थशास्त्र के तराजू पर तौलते हैं, रचनाकार उनसे दो टूक कह देता है :

"धनिक और निर्धन—/ये दोनों/वस्तु के सही-सही मूल्य को
स्वप्न में भी नहीं आँक सकते,/कारण,/धन-हीन दीन-हीन होता है प्रायः
और/धनिक वह/विषयान्ध, मदान्ध !!" (पृ. ३०८)

जीवन कला के बारे में रचनाकार ने काव्य मन्त्र दिया है :

"अधरों पर मन्द मुस्कान हो,/पर परिहास नहीं।
उत्साह हो, उमंग हो/पर उतावली नहीं।/अंग-अंग से
विनय का मकरन्द झरे,/पर,दीनता की गन्ध नहीं।" (पृ. ३१९)

मन और तन की अद्भुत गुत्थी है जो आज तक अनसुलझी है। रचनाकार ने इसे अपनी तरह बिम्बित किया है :

"इन्द्रियाँ ये खिड़कियाँ हैं/तन यह भवन रहा है,
भवन में बैठा-बैठा पुरुष/भिन्न-भिन्न खिड़कियों से झाँकता है
वासना की आँखों से/और/विषयों को ग्रहण करता रहता है।" (पृ. ३२९)

श्रमण और सन्तों की वृत्तियों की व्याख्या देखिए :

"कैसा भी हो, अशन हो/उदराग्नि शमन करना है ना !
और/यही अग्नि-शामक वृत्ति है श्रमण की/सब वृत्तियों में महावृत्ति !
पराग-प्यासा भ्रमर-दल वह/कोंपल-फूल-फलों-दलों का
सौरभ सरस पीता है/पर उन्हें,/पीड़ा कभी न पहुँचाता;
...और यही···तो/भ्रामरी-वृत्ति कही जाती सन्तों की !" (पृ. ३३३-३३४)

माटी का मन्थन बारीकी से करते-करते रचनाकार उसके पूजने का अर्थ स्पष्ट करता है :

"जहाँ तक माटी-रज की बात है,/मात्र रज को कोई/सर पर नहीं चढ़ाता
मूढ़-मूर्ख को छोड़ कर।/रज में पूज्यता आती है चरण-सम्पर्क से।"(पृ.३५८)

दृष्टि की सूक्ष्मता देखने की आँखें भी कवि की बहुत दूरदर्शी होती हैं, देखिए :

"आँखों की रचना यह/ऐसे कौन से परमाणुओं से हुई है—
जब आँखें आती हैं···तो/दुःख देती हैं !/जब आँखें जाती हैं···तो
दुःख देती हैं !/कहाँ तक और कब तक कहूँ,
जब आँखें लगती हैं···तो/दुःख देती हैं !
आँखों में सुख है कहाँ/ये आँखें/दुःख की खनी हैं
सुख की हनी हैं।" (पृ. ३५९-३६०)

सोना और माटी का अन्तर कितने विलक्षण ढंग से किया है सन्त रचनाकार ने, अद्भुत और अनुपम दृष्टि है यह :

"तुम स्वर्ण हो/उबलते हो झट से,/माटी स्वर्ण नहीं है/पर
स्वर्ण को उगलती अवश्य,/तुम माटी के उगाल हो !" (पृ. ३६४-३६५)

वर्तमान के सामाजिक व्यवस्था के वादों से रचनाकार भली-भाँति परिचित है। देखिए, एक जगह साम्यवाद किस तरह उभरा है :

"तन के अनुरूप वेतन अनिवार्य है,/मन के अनुरूप विश्राम भी।
मात्र दमन की प्रक्रिया से/कोई भी क्रिया/फलवती नहीं होती है,
केवल चेतन-चेतन की रटन से,/चिन्तन-मनन से/कुछ नहीं मिलता !" (पृ. ३९१)

प्रकृति और पुरुष के सम्बन्धों को व्याख्यायित किस सहज ढंग से इस कृति में किया गया है, देखिए :

"पुरुष और प्रकृति/इन दोनों के खेल का नाम ही
संसार है, यह कहना/मूढ़ता है, मोह की महिमा मात्र !
खेल खेलने वाला तो पुरुष है/और/प्रकृति खिलौना मात्र !
स्वयं को खिलौना बनाना/कोई खेल नहीं है।" (पृ. ३९४)

कृति में कृतिकार के परिवेश का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। कदाचित् इसीलिए 'मूक माटी' में 'सेठ' एक खास चरित्र का प्रतीक लिया गया है और इसके इर्दगिर्द एक पूरी समाज की प्रवृत्तियों का बहुदृष्टिकोणीय विवेचन भी हुआ है :

"बहुविध व्यंजन उपेक्षित हुए हैं,/उसी का परिणाम है कि
दाह-रोग का प्रचलन हुआ है/जिससे सेठ जी भी घिर गये हैं/और
सत्त्व-शून्य ज्वार के दलिया के साथ/सार-मुक्त छाछ का सेवन
दरिद्रता को निमन्त्रण देना है।" (पृ. ४१४)

कदाचित् इसीलिए आतंकवाद को भाषित करते समय रचनाकार की दृष्टि एकांगी प्रतीत होती है :

"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,
आतंकवाद का अवतार होता है।" (पृ. ४१८)

क्योंकि पंजाब का आतंकवाद, यदि भरे पेटों का अतिवाद है तो कश्मीर में धार्मिक कट्टरता इसकी तह में है। नक्सलवाद का आतंक भूख और शोषण की प्रतिक्रिया की उपज है तो पूर्वोत्तर का आतंक क्षेत्रीय संकुचन के कारण से है।

शोषण के सम्बन्ध में कृतिकार ने 'पद' को दोषी माना है और इसीलिए अपद की कामना की है, यथा :

- *"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,*
  ...जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं।" (पृ. ४३४)
- *"समाज का अर्थ होता है समूह/और/समूह यानी*
  सम—समीचीन ऊह—विचार है/जो सदाचार की नींव है।
  ...प्रचार-प्रसार से दूर/प्रशस्त आचार-विचार वालों का
  जीवन ही समाजवाद है।" (पृ. ४६१)
- *"चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ. ४६८)*

जीवन और कुम्भ का सांगोपांग वर्णन आदि से अन्त तक और माटी के उजले जीवन का माटी में मिलकर मुक्ति पा जाना ही 'मूकमाटी' की सारगर्भित कथा है और है अनुभूत प्रेरणा।



पृष्ठ १०३
और सुनो!----
अब से कब तक?

'मूकमाटी': शब्दार्थ तो देखो

डॉ. रामस्वरूप आर्य

शब्द को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार ब्रह्म 'एकोऽहं बहुस्याम' अर्थात् एक हो कर भी अनेक रूप धारण करता है, उसी प्रकार शब्द में भी अनेक अर्थच्छटाएँ समाहित रहती हैं। जन्मजात रससिद्ध कवि अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उनमें नए अर्थों की उद्भावना करते हैं। 'मूकमाटी' महाकाव्य के रचयिता आचार्यश्री विद्यासागरजी भी एक ऐसे ही रससिद्ध कवि हैं, जिन्होंने सर्वथा उपेक्षित मूकमाटी को वाणी दी है तथा माटी से घट तक की यात्रा का चिन्तनपरक सरस वर्णन प्रस्तुत किया है। उनकी इस रचना का अध्ययन- मनन करते हुए मेरे मन में सूफी कवि मलिक मोहम्मद जायसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ निरन्तर गूँजती रही हैं :

"माटी मोल न किछु अहै औ माटी सब मोल।
दृष्टि जो माटी सों करै माटी होइ अमोल॥"

'मूकमाटी' महाकाव्य का महत्त्व कई दृष्टियों से है– विषय का चयन, गुरु-गम्भीर चिन्तन, भाव प्रवणता, प्रस्तुतीकरण, आलंकारिक सौन्दर्य तथा शैली सभी दृष्टियों से यह एक अनूठा महाकाव्य है। आचार्यश्री ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं के आधार पर अनेक शब्दों में नवीन अर्थों का आधान किया है तथा उन्हें नवीन अर्थवत्ता प्रदान की है। 'मूकमाटी' के 'प्रस्तवन' (पृ.VII) में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने ग्रन्थ के रचनाकार के इस गुण की ओर इंगित करते हुए लिखा है–"कवि के लिए अतिशय आकर्षण है शब्द का, जिसका प्रचलित अर्थ में उपयोग करके वह उसकी संगठना को व्याकरण की सान पर चढ़ाकर नयी-नयी-धार देते हैं, नयी-नयी परतें उघाड़ते हैं। शब्द की व्युत्पत्ति उसके अन्तरंग अर्थ की झाँकी तो देती ही है, हमें उसके माध्यम से अर्थ के अनूठे और अछूते आयामों का दर्शन होता है।" इस लेख में 'मूकमाटी' के कुछ ऐसे ही शब्दार्थों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शब्दों में नवीन अर्थों के आधान हेतु आचार्यश्री ने मुख्य रूप से पाँच पद्धतियों का आश्रय ग्रहण किया है :

१. वर्ण विश्लेषण
२. वर्ण सन्धि
३. पद भंग
४. निर्वचन
५. वर्ण विपर्यय

१. वर्ण-विश्लेषण : वर्ण-विश्लेषण के अन्तर्गत शब्द के एक-एक वर्ण का विश्लेषण करके उनके अर्थों के समवाय से नवीन अर्थ की उद्भावना की गई है, यथा– कुम्भ– कुं = धरती, भ = भाग्य। इनके आधार पर आचार्यश्री 'कुम्भकार' का अर्थ भाग्य-विधाता सिद्ध करते हैं :

"युग के आदि में/इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार!
'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य–/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ.२८)

स्वप्न - स्व = अपना, प् = पालन, संरक्षण, न = नहीं।
तीनों वर्णों को मिला कर अर्थ हुआ– 'निज-भाव का रक्षण नहीं।' आचार्यश्री इसे इस रूप में प्रस्तुत करते हैं :

" 'स्व' यानी अपना/'प' यानी पालन–संरक्षण/और/'न' यानी नहीं,
जो निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकता/वह औरों को क्या सहयोग देगा ?"
(पृ. २९५)

इसी प्रकार 'कला' शब्द में भी नवीन अर्थ का आधान किया गया है। कला –क = आत्मा–सुख, ला = लाना-देना।

आचार्यश्री के शब्दों में :

"कला शब्द स्वयं कह रहा कि/'क' यानी आत्मा–सुख है
'ला' यानी लाना–देता है/कोई भी कला हो/कला मात्र से जीवन में
सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।" (पृ. ३९६)

२. *वर्ण-सन्निधि :* संगीत के सप्त स्वरों में वर्ण-सन्निधि द्वारा नवीन अर्थ की सद्भावना की गई है :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख
प···ध यानी ! पद–स्वभाव/और/नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव-धर्म नहीं हो सकता,
...इन सप्त-स्वरों का भाव समझना ही
सही संगीत में खोना है/सही संगी को पाना है।" (पृ. ३०५)

३. *पद-भंग :* अनेक स्थलों पर पद-भंग द्वारा शब्दों में नवीन अर्थों का सन्धान किया गया है। यहाँ लेखक का बुद्धि-कौशल, शब्दार्थ भंगिमा तथा कल्पना वैभव देखते ही बनता है। 'मूकमाटी' से इस प्रकार के कुछ शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं :

गदहा : गद-हा = रोग हन्ता

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ
···बस/और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

संसार : सं-सार = सम्यक् रूप में सरकने वाला

"सृ धातु गति के अर्थ में आती है,
सं यानी समीचीन/सार यानी सरकना···
जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।" (पृ. १६१)

नियति : नि-यति = निज में ही स्थिरता

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन-स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है।" (पृ. ३४९)

वैखरी : वै-खरी = निश्चय ही खरी

"सज्जन-मुख से निकली वाणी/'वै' यानी निश्चय से
'खरी' यानी सच्ची है,/सुख-सम्पदा की सम्पादिका।" (पृ. ४०३)

४. *निर्वचन :* पद-भंग द्वारा शब्दार्थ सिद्धि हेतु निर्वचन शैली भी अपनाई गई है। आचार्यश्री के चिन्तन से इस प्रकार के शब्द नवीन अर्थच्छटा से मण्डित हुए हैं, यथा :

आदमी : आ-दमी = संयमी

"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है
जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)

कृपाण : कृपा-न = कृपालु नहीं

"कृपाण कृपालु नहीं हैं/वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण/हममें कृपा न !" (पृ. ७३)

वसुधैव कुटुम्बकम् : वसु (धन) ही कुटुम्ब है

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

रसना : रस-ना = रस (आनन्द) नहीं

"मुख से बाहर निकली है रसना/थोड़ी-सी उलटी-पलटी,
कुछ कह रही-सी लगती है—/भौतिक जीवन में रस ना !" (पृ. १८०)

चरण : चर-न = चर (विचरण) न कर

"स्वयं चरण-शब्द ही/उपदेश और आदेश दे रहा है
हितैषिणी आँखों को, कि/चरण को छोड़कर
कहीं अन्यत्र कभी भी/चर न ! चर न !! चर न !!!" (पृ. ३५९)

५. *वर्ण-विपर्यय :* भाषा विज्ञान में ध्वनि विचार के अन्तर्गत वर्ण-विपर्यय का विवेचन मिलता है पर वहाँ इसके कारण अर्थ में परिवर्तन नहीं होता है। आचार्यश्री ने शब्दों में वर्ण-विपर्यय (विलोम रूप) द्वारा नवीन अर्थों की उद्भावना की है, उदाहरणार्थ :

याद = दया : *"स्व की याद ही/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी*
यही अर्थ निकलता है/या···द द···या।" (पृ. ३८)

राही = हीरा : *"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है*
स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है—
रा···ही···ही···रा।" (पृ. ५६-५७)

खरा = राख : *"खरा शब्द भी स्वयं/विलोम-रूप से कह रहा है—*
राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा···।" (पृ. ५७)

लाभ = भला : *"सुख या दुःख के लाभ में भी/भला छुपा हुआ रहता है,*
देखने से दिखता है समता की आँखों से,/लाभ शब्द ही स्वयं
विलोम-रूप से कह रहा है—/ला···भ···भ···ला···।" (पृ. ८७)

तामस = समता : *"इसके अंग-अंग में/रग-रग में/विश्व का तामस आ भर जाय*
कोई चिन्ता नहीं,/किन्तु, विलोम भाव से/यानी
ता···म···स स··· म···ता···।" (पृ. २८४)

कुछ स्थलों पर शब्द की पुनरुक्ति द्वारा अर्थ भंगिमा का विधान हुआ है। इस दृष्टि से निम्नलिखित उदाहरण में 'पानी' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है :

"हे मानी, प्राणी !/पानी को तो देख,/और अब तो
पानी-पानी हो जा···!" (पृ. ५३)

निम्नांकित उदाहरण में भंग पद द्वारा 'परखो' तथा 'अपना लो' में भी यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है :

"किसी विध मन में/मत पाप रखो,/पर, खो उसे पल-भर
परखो पाप को भी/फिर जो भी निर्णीत हो,
हो अपना, लो, अपनालो उसे !" (पृ. १२४)

कहीं-कहीं आचार्यश्री ने शब्दों की स्वानुभूत परिभाषाएँ भी निर्धारित की हैं, यथा :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और
प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है।" (पृ. १४४-१४५)

स्त्री के विभिन्न पर्यायों – नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, मातृ, अंगना का आचार्यश्री ने उपर्युक्त विभिन्न शैलियों में सटीक निर्वचन किया है।

आचार्यश्री ने ग्रन्थ की समाप्ति तक पहुँचते-पहुँचते 'समाजवाद' की अर्थसिद्धि करते हुए स्वयं शब्दार्थ के महत्त्व की ओर संकेत किया है :

"अरे कम-से-कम/शब्दार्थ की ओर तो देखो !" (पृ. ४६१)

इस प्रकार शब्दों में नवीन अर्थों के आधान की दृष्टि से 'मूकमाटी' महाकाव्य निश्चय ही अद्वितीय है। □



पृष्ठ ८३
अधोमुखी जीवन
ऊर्ध्वमुखी हो/.... अर्घ पा
जाते हैं, यहाँ पर।

दार्शनिक पृष्ठभूमि पर सृजित अद्वितीय महाकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. रामचरित्र सिंह

दिगम्बर जैन सन्त आचार्यश्री विद्यासागर द्वारा प्रणीत 'मूकमाटी' महाकाव्य परम्परा की अनुपम एवं अद्‌भुत कलाकृति है। प्रस्तुत महाकाव्य जहाँ आधुनिक कविता का उत्कृष्ट निदर्शन है वहीं यह आध्यात्मिक भावभूमि पर आधारित जीवन-जगत् की अनुपम झाँकी प्रस्तुत करने वाली दार्शनिक पृष्ठभूमि पर सृजित ऐसी संरचना है जो अपने में अद्वितीय है। महाकाव्य के 'प्रस्तवन' में इसे सहज ही स्वीकारा गया है : "'मूकमाटी ' महाकाव्य का सृजन आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। सबसे पहली बात तो यह है कि माटी जैसी अकिंचन, पद-दलित और तुच्छ वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाने की कल्पना ही नितान्त अनोखी है। दूसरी बात यह है कि माटी की तुच्छता में चरम भव्यता के दर्शन करके उसकी विशुद्धता के उपक्रम को मुक्ति की मंगल-यात्रा के रूपक में ढालना कविता को अध्यात्म के साथ अ-भेद की स्थिति में पहुँचाना है। इसीलिए आचार्यश्री विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है—सन्त जो साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं और साधना जो आत्म-विशुद्धि की मंज़िलों पर सावधानी से पग धरती हुई, लोकमंगल को साधती है। यह सन्त तपस्या से अर्जित जीवन-दर्शन को अनुभूति में रचा-पचा कर सबके हृदय में गुंजरित कर देना चाहते हैं। निर्मल-वाणी और सार्थक सम्प्रेषण का जो योग उनके प्रवचनों में प्रस्फुटित होता है—उसमें मुक्त छन्द का प्रवाह और काव्यानुभूति की अन्तरंग लय समन्वित करके आचार्यश्री ने इसे काव्य का रूप दिया है।"

काव्य का प्रारम्भ महाकाव्योचित गुणों के आधार पर प्रकृति चित्रण से होता है :

"निशा का अवसान हो रहा है/...प्राची के अधरों पर
मन्द मधुरिम मुस्कान है/...अध-खुली कमलिनी/डूबते चाँद की
चाँदनी को भी नहीं देखती/आँखें खोल कर।" (पृ. १-२)

प्रकृति का मानवीकरण कितना मोहक है :

"अबला बालायें सब/तरला तारायें अब/छाया की भाँति/ अपने पतिदेव
चन्द्रमा के पीछे-पीछे हो/छुपी जा रहीं/कहीं···सुदूर···दिगन्त में···
दिवाकर उन्हें/देख न ले, इस शंका से।" (पृ. २)

प्रकृति के माध्यम से ही कवि ने जीवन के शाश्वत प्रवाह का सन्देश दिया है :

"मन्द-मन्द/सुगन्ध पवन/बह रहा है;/बहना ही जीवन है
बहता-बहता/कह रहा है।" (पृ. २-३)

प्रस्तुत काव्य के मूल में जैन दर्शन पूर्णरूपेण समाहित है। ग्रन्थ के आमुख रूप 'मानस-तरंग' में ही कहा गया है : "कुछ दर्शन, जैन-दर्शन को नास्तिक मानते हैं और प्रचार करते हैं कि जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, वे नास्तिक होते हैं।" यह मान्यता उनकी दर्शन-विषयक अल्पज्ञता को ही सूचित करती है। ज्ञात रहे, कि श्रमण-संस्कृति के सम्पोषक जैन-दर्शन ने बड़ी आस्था के साथ ईश्वर को परम श्रद्धेय-पूज्य के रूप में स्वीकारा है, सृष्टि-कर्ता के रूप में नहीं। इसीलिए जैन-दर्शन, नास्तिक दर्शनों को सही दिशाबोध देनेवाला एक आदर्श आस्तिक दर्शन है। ...इसीलिए

'संकर-दोष' से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को मानव-जीवन का औदार्य व साफल्य माना है। जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है ··· और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।'' लोकमंगल की भावना से अभिषिक्त यह 'मूकमाटी' महाकाव्य चार खण्डों में विभक्त है।

धरती माँ का यह सन्देश है :

> *''कल के प्रभात से/अपनी यात्रा का/सूत्र-पात करना है तुम्हें !*
> *प्रभात में कुम्भकार आयेगा/पतित से पावन बनने,/समर्पण-भाव-समेत*
> *उसके सुखद चरणों में/प्रणिपात करना है तुम्हें/अपनी यात्रा का*
> *सूत्र-पात करना है तुम्हें !'' (पृ. १६-१७)*

प्रस्तुत खण्ड में समर्पण की भावना, स्नेह, औदार्य जैसे मानवीय गुणों को निरूपित किया गया है :

- *''दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।'' (पृ. ३७)*
- *''वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है—*
  एक जीवन को बुरी तरह/ जलाती है···/भयंकर है, अंगार है !
  एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है···/शुभंकर है, शृंगार है।'' (पृ.३८)
- *''पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।*
  अयि आर्य !/नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।'' (पृ. ५०-५१)

इस प्रकार प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में विभिन्न मानवीय मूल्यों की स्थापना के साथ ही कुम्भकार माटी में मिले कंकर कणों को छान कर, जो वर्ण संकर हैं, मंगल घट का सार्थक रूप देना चाहता है।

दूसरे खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में कवि अपने दार्शनिक विचारों को अभिव्यक्त करता हुआ कहता है :

> *''पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और*
> *अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है···।'' (पृ. ९३)*

सन्त कवि ने स्वीकारा है :

> *''बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,*
> *यह भी सत्य है कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे*
> *बोध के फूल कभी महकते नहीं।'' (पृ. १०६-१०७)*

कुम्भकार रचनाकार है जो क्षमा की मूर्ति है :

> *''अरे सुनो !/कुम्भकार का स्वभाव-शील/कहाँ ज्ञात है तुम्हें ?*
> *जो अपार अपरम्पार/क्षमा-सागर के उस पार को/पा चुका है।*

क्षमा की मूर्ति/क्षमा का अवतार है वह।" (पृ. १०५)

कवि की मान्यता है :

"कुलाल-चक्र यह, वह सान है/जिस पर जीवन चढ़कर
अनुपम पहलुओं से निखर आता है,/पावन जीवन की अब शान का कारण है।"
(पृ. १६२)

खण्ड तीन 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में कवि ने पुण्य कर्मों द्वारा सम्पादित श्रेयस्कर उपलब्धियों का वर्णन किया है। परोपकार परायण निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

"वसुधा की सारी सुधा/सागर में जा एकत्र होती/फिर प्रेषित होती ऊपर···
और/उसका सेवन करता है/सुधाकर, सागर नहीं
सागर के भाग्य में क्षार ही लिखा है।" (पृ. १९१)

स्त्री जीवन की विविधि सार्थक अभिव्यक्तियाँ काव्य में सन्त कवि ने बड़े ही तार्किक ढंग से प्रस्तुत की हैं :

" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो···स्त्री कहलाती है।" (पृ.२०५)

साधना के स्वरूप का विश्लेषण करता हुआ कवि कहता है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,
वह यात्रा नाम की है/यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

खण्ड चार 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कवि ने कुम्भकार द्वारा निर्मित घट को अग्नि से तपा कर पूर्णता प्रदान करने के विविध चित्रों के साथ ही जीवन के विविध मानवीय एवं दार्शनिक पक्षों को भी उजागर किया है :

"नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी
अपने घुटने टेक देता है।" (पृ. २६९)

मानवीय मूल्यों पर आधारित निम्न पंक्तियाँ अत्यन्त सार्थक हैं :

"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है।" (पृ. २७२)

साधक की साधना के विषय में कवि कहता है :

> *"...क्षमा धरना''क्षमा करना/धर्म है साधक का*
> *धर्म में रमा करना !" (पृ २८३)*

अवा से निकले हुए घट के भावों में कवि ने सन्तों के वज्र से कठोर और पुष्प से भी कोमल हृदय की अवधारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है :

- *"लो, कुम्भ को अवा से बाहर निकले/...अब दुर्लभ नहीं कुछ भी इसे*
  सब कुछ सम्मुख''समक्ष !/भक्त का भाव अपनी ओर
  भगवान को भी खींच ले आता है।" (पृ. २९९)
- *"पीयूष पायी हंस-परमहंस हो,/अपने प्रति वज्र-सम कठोर*
  पर के प्रति नवनीत '''/मृदु... ।" (पृ. ३००)

सन्त समागम की महिमा का उल्लेख करते हुए कवि कहता है :

> *"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है/संसार का अन्त दिखने लगता है,*
> *समागम करनेवाला भले ही/तुरन्त सन्त-संयत/बने या न बने*
> *इसमें कोई नियम नहीं है,/किन्तु वह/सन्तोषी अवश्य बनता है।" (पृ. ३५२)*

अन्त में सन्त कवि 'कुम्भ' के मुख से 'मंगल कामना' व्यक्त करता है :

> *"यहाँ'''सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,*
> *सबके सब टलें-/अमंगल-भाव,/सबकी जीवन लता/हरित भरित विहँसित हो*
> *गुण के फूल विलसित हों/नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठे/''बस!" (पृ. ४७८)*

और, इस समीक्षा के अन्त में कुम्भकार के स्वर में स्वर मिला कर अपना विनम्र निवेदन करूँगा :

> *"यह सब/ऋषि-सन्तों की कृपा है,/उनकी ही सेवा में रत*
> *एक जघन्य सेवक हूँ मात्र,/और कुछ नहीं।" (पृ. ४८४)*

अन्त में, सन्त कवि की ही वाणी में :

> *"विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर*
> *मार्ग में नहीं, मंज़िल पर !" (पृ. ४८८)*



□

मुक्ति की आकांक्षा और मूक वेदना का महाकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. मनुजी श्रीवास्तव

'सन्त' शब्द की उत्पत्ति प्राय: 'शान्त' या 'सत्य' से मानी जाती है। साधारण रूप से 'सन्त' शब्द का प्रयोग किसी पवित्रात्मा और सदाचारी पुरुष के लिए किया जाता है। कभी-कभी यह साधु या महात्मा का पर्याय भी समझ लिया जाता है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने कहा है : "यह उस व्यक्ति का बोध कराता है जिसने सत्-रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ कर उसके साथ तद्रूप हो गया हो।" सन्तों के लक्षण विभिन्न भक्तों के द्वारा प्रस्तुत वाणी के अनुसार ये हैं : " विषयों के प्रति निरपेक्ष रहने वाले, सत्कर्म करने वाले, किसी से वैर प्रदर्शित न करने वाले, निस्संग, निष्काम पुरुष सन्त होते हैं"—ये सभी विशेषताएँ 'मूकमाटी' के रचयिता आचार्य विद्यासागरजी में विद्यमान हैं।

कवि ने भौतिकता से दूर रह कर भी सहृदय के हृदय में यह भाव जागृत करने का सफल प्रयास किया है कि माटी जैसी दलित वस्तु आखिर है तो नारी का सजीव रूप। उसके अन्दर वह वेदना है, वह अभिलाषा है कि कभी तो उसका नायक उसे अपनी नायिका बनाएगा। उसकी इस आकांक्षा को आचार्यजी ने अपने ज्ञानमय शब्द-पुष्पों से किस तरह वर्णित किया है, इसका अनुमान पाठक ही लगा सकते हैं। विद्यासागरजी की काव्य-प्रतिभा का यह चमत्कार है कि माटी जैसी निरीह, दलित वस्तु को महाकाव्य का विषय बना कर उसकी मूक वेदना और मुक्ति की अभिलाषा को वाणी दी है। कुम्भकार ने मिट्टी की ध्रुव और भव्य सत्ता को पहचान कर, कूट-छान कर, वर्ण संकर और कंकर को हटाकर उसे निर्मल मृदुता का वर्णलाभ दिया है। फिर चाक पर चढ़ाकर, आग में तपाकर उसे ऐसी मंज़िल तक पहुँचाया है, जहाँ वह पूजा का मंगल घट बन कर जीवन की सार्थकता प्राप्त करती है। सर्वप्रथम प्रथम खण्ड - 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में धरती माँ के सम्मुख माटी अपना हृदय खोल कर सत्य कह रही है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !
सुख-मुक्ता हूँ/दु:ख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !
इसकी पीड़ा अव्यक्ता है/व्यक्त किसके सम्मुख करूँ !" (पृ. ४)

धरती माँ अपनी दुखित बेटी की सारी बातों को सुन कर समझाते हुए कहती है कि संसार सत्य को स्वीकारता है और असत्य की जीत नहीं होती बेटे :

"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ. ९)

खण्ड एक में ही स्पष्ट कर दिया है कि 'मूकमाटी' का सृजन वास्तव में "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (गीता,२/४७) के अर्थ को समझाता है। खण्ड दो की मुख्य विशेषता तो शीर्षकगत ही है। शीर्षक है—'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।' जब किसी वस्तु की प्राथमिक जानकारी नहीं होती तो उसका अनुसन्धान असम्भव है। कुम्भकार ने माटी को खोदने की प्रक्रिया को बदल-बदल कर माटी से भेंट की है। शोध और बोध की वास्तविकता का स्पष्टीकरण 'मूकमाटी' में इस प्रकार वर्णित है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।/बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,

फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ. १०७)

तृतीय खण्ड में चार पुरुषार्थ एवं नैतिक मूल्यों के द्वारा लोककल्याण की कामना वर्णित है। इस खण्ड में कुम्भकार ने माटी की विकास-यात्रा के माध्यम से, पुण्य कर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का चित्रण किया है। चतुर्थ खण्ड में जीवन का सार छिपा हुआ है। जैन मुनि ने विखण्डित समाज को एकाकार करने में व्यक्ति-व्यक्ति के कर्म का फल अन्त में किस प्रकार मिलता है उसको तथा नारी भावना को जानने के लिए न जाने कितने विस्तृत अर्थों में स्पष्ट किया है। कुम्भकार ने घट को रूपाकार तो दे दिया है, अब उसे तपाना है। इसमें कवि की कितनी ही कल्पनाएँ समाहित हैं। 'मूकमाटी' वर्तमान युग की एक महत्त्वपूर्ण काव्य कृति एवं हिन्दी साहित्य की एक अमर रचना है।

'मूकमाटी' का विश्लेषणात्मक अनुशीलन इस प्रकार से किया जा सकता है– "मूकमाटी : एक समीक्षात्मक अध्ययन" – प्रथम–'मूकमाटी' का सृजन, द्वितीय– कथावस्तु, तृतीय– पात्र एवं चरित्र चित्रण, चतुर्थ– महाकाव्यत्व, पंचम– अनुभूति पक्ष, षष्ठ– अभिव्यक्ति पक्ष, सप्तम– दर्शन एवं अष्टम– हिन्दी काव्य परम्परा में 'मूकमाटी' का स्थान।

'मूकमाटी' का सृजन : स्वयं को विद्यासागरजी ने 'गुरुचरणारविन्द-चंचरीक' के रूप में लिखा है। 'मानस-तरंग' में काव्य सृजन का उद्देश्य इन शब्दों में वर्णित है : "ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है। ...ऐसे ही कुछ मूल-भूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है; ...जिसमें शब्द को अर्थ मिला है और अर्थ को परमार्थ; जिसमें नूतन शोध-प्रणाली को आलोचन के मिष, लोचन दिये हैं; जिसने सृजन के पूर्व ही हिन्दी जगत् को अपनी आभा से प्रभावित-भावित किया है; प्रत्यूष में प्राची की गोद में छुपे भानु-सम; जिसके अवलोकन से काव्य-कला-कुशल-कवि तक स्वयं को आध्यात्मिक-काव्य-सृजन से दूर पाएँगे; जिसकी उपास्य-देवता शुद्ध-चेतना है। जिसके प्रति-प्रसंग-पंक्ति से पुरुष को प्रेरणा मिलती है– सुसुप्त चैतन्य-शक्ति को जागृत करने की, जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था-विधान को नकारा नहीं है परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है। ...जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है'''और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।

"'''मढ़िया जी (जबलपुर) में/द्वितीय वाचना का काल था
सृजन का अथ हुआ और/नयनाभिराम - नयनागिरी में
पूर्ण पथ हुआ/समवसरण मन्दिर बना/जब गजरथ हुआ।" (मानस-तरंग, पृ. XXIV)

कथावस्तु : मिट्टी युगों से कुम्भकार की प्रतीक्षा करती रही है कि कुम्भकार उद्धार करके उसकी अव्यक्त सत्ता में से घट की मंगल मूर्ति उद्घाटित करेगा। इस काव्य में भक्त सेठ अन्त में पूजा के लिए वही घट लेता है।

पात्र एवं चरित्र-चित्रण : काव्य के नायक स्वयं गुरु हैं, अन्तिम नायक अर्हन्त देव हैं। आध्यात्मिक रचना होने के कारण नायक-नायिका का विभाजन लौकिक एवं पारलौकिक है। माटी इस महाकाव्य की नायिका है। सेठ सहनायक है। स्वर्णकलश एक आतंकवादी दल आहूत करता है। वह खलनायक माना गया है जिसने त्राहि-त्राहि मचा दी है सेठ परिवार में। सेठ की क्षमा-प्रार्थना से आतंकवादियों का हृदय-परिवर्तन होता है। कथा विस्तृत होती चली जाती है। ये कुछ ही पात्र हैं जो उभरकर सामने आए हैं।

महाकाव्यत्व : महाकाव्य के लक्षणों के अनुरूप इसे महाकाव्य कहना उचित नहीं है। परन्तु इसके विस्तृत आकार लगभग ५०० पृष्ठों में समाहित होने के कारण यह महाकाव्य कहलाने योग्य है। यह चार खण्डों में विभाजित है। प्रकृति चित्रण, आध्यात्मिक रोमांस, रस-छन्द-अलंकार का चित्रण, भारतीय संस्कृति चित्रण, गुरु-महिमा, दर्शन, नायक-नायिका मिलन आदि सभी का समावेश होने के कारण इसे हम महाकाव्य कह सकते हैं।

अनुभूति पक्ष : महाकाव्य की सफलता की कसौटी काव्य के मर्मस्पर्शी स्थलों का चयन और उनके सरल चित्रण से मानी जाती है। इस दृष्टि से आचार्यश्री एक सफल कवि हैं। माटी की वेदना, व्यथा मार्मिकता से व्यक्त हुई है। करुणा साकार हो उठी है। शब्द-साधना से आन्तरिक अर्थों को कवि ने स्पष्ट किया है। नारी, सुता, दुहिता, कुमारी, स्त्री, अबला आदि शब्दों से आचार्यश्री ने महिलाओं के प्रति आदर भाव व्यक्त किए हैं। पूजा के उपकरण भी सजीव होकर वार्तालाप में निमग्न दिखाई देते हैं।

अभिव्यक्ति पक्ष : आचार्यश्री-कवि के अन्तर में भावों का जो उद्दाम ज्वार उमड़ता है उसकी अभिव्यक्ति वह विविध काव्योपकरणों के माध्यम से करता है। भावों की प्रधानवाहिनी भाषा है। इसके अतिरिक्त शैली, अलंकार-विधान, छन्द विधान आदि भावाभिव्यक्ति के अन्य उपकरण हैं। आचार्यजी के पास शब्दों का असीम भण्डार है, इसलिए भाषा उनकी चेरी है। उनके लिए उच्चारण मात्र शब्द है, शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझना बोध है और बोध को अनुभूति में, आचरण में उतारना शोध है। कवि ने खण्ड दो में नव रसों को परिभाषित किया है। शृंगार की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की है। 'मूकमाटी' में शब्दालंकार और अर्थालंकारों की छटा नए सन्दर्भों में है। कम से कम ८० उदाहरण मैंने इस काव्य में ऐसे देखे हैं जिनमें कवि की चमत्कारी अर्थान्वेषिणी दृष्टि का ज्ञान मिलता है। छन्दात्मक, संगीतात्मक भाषा है। तुकान्त एवं अतुकान्त का चित्रण है। अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना—तीनों दृष्टिगत होती हैं।

दर्शन : 'मूकमाटी' की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें जीवन दर्शन परिभाषित होता है। दूसरी बात यह है कि यह दर्शन आरोपित नहीं लगता है बल्कि अपने प्रसंग व परिवेश से उद्घाटित होकर शिक्षा प्रदान करता है। मुक्त छन्द के प्रवाह में जीवन की अनुभूति का चित्रण सन्त के आचरण में बदल कर प्रस्तुत किया है। जैन दर्शन की चारों खण्डों में संक्षिप्त रूप में व्याख्या की गई है।

हिन्दी काव्य परम्परा में 'मूकमाटी' का स्थान : हिन्दी काव्यकानन के सौरभ-सिक्त-प्रसूनों में से एक 'मूकमाटी' है। आचार्यश्री विद्यासागर द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की एक देदीप्यमान विभूति है, भारत और माँ भारती का गौरव है, कवि की कीर्ति का प्रथम अमर आधार है, 'मूकमाटी' एक सन्त की आत्मा की आवाज है, आध्यात्मिक रचना है। धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म के सार को आज की भाषा में एवं मुक्त छन्द की मनोरम काव्यशैली में निबद्ध कर कविता रचना को नया आयाम देने वाली एक अनुपम कृति है। कर्मबद्ध आत्मा की विशुद्धि की ओर बढ़ती मंज़िलों की मुक्ति-यात्रा का रूपक यह महाकाव्य है। इस कृति में जहाँ हमें स्वयं को और मानव के भविष्य को समझने की नई दृष्टि मिलती है और एक नई सूझबूझ के द्वारा हम अपने जीवन की दिशा को सत् मार्ग पर ले जा सकते हैं, वहीं आज की विकृत, विखण्डित समाज व्यवस्था के सुधार के लिए यह एक अनुपम उपलब्धि है। दर्शन के क्षेत्र में एवं सन्त काव्य परम्परा के क्षेत्र में 'मूकमाटी' का स्थान अन्यतम है। 'मूकमाटी' को हिन्दी काव्याकाश का एक देदीप्यमान नक्षत्र निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है। कसौटी पर कसने पर यह एक नीति ग्रन्थ भी है। समाज-व्यवस्था को पूर्ण रूप से नीतिपरक बनाने के लिए तथा आदर्शवाद की स्थापना के लिए 'मूकमाटी' का सहयोग सराहनीय है। आचार्य विद्यासागरजी ने लोक हितकारी साहित्य की रचना की है।

['दैनिक विश्व परिवार,' झांसी-उत्तरप्रदेश, १३ अक्टूबर, १९९५]

□

हिन्दी के महाकाव्य और 'मूकमाटी'

पं. दरबारी लाल जैन शास्त्री

महाकाव्य की कोई सार्वकालीन या सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि विभिन्न युगों में उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहा है। महाकाव्य सृजन का एक सांस्कृतिक प्रयास है। महाकाव्य व्यष्टि जीवन की अभिव्यक्ति न होकर समष्टि के जीवन का चित्र होता है। उसमें मानव-जीवन की सामाजिक, सामयिक परिस्थितियों और विश्व जीवन की प्रचलित प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्बन स्वतः ही हो जाता है। विश्व के महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग में मील के पत्थर के समान हैं।

महाकाव्य में जीवन का सर्वांगीण चित्रण अंकित होता है। महाकाव्य की रचना युग जीवन के संघर्ष को व्यापक रूप में चित्रित करने के निमित्त से होती है। और सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा का आग्रह होने के कारण महाकाव्य में प्रतिपादित जीवन दर्शन आदर्शवादी ही होता है।

आधुनिक युग में हिन्दी के महाकाव्यों की महानतम उपलब्धि उनका मानवतावादी दृष्टिकोण है। हिन्दी के महाकाव्यों का बाह्याकार भी संस्कृत में परिभाषित परिभाषा के नियमों के ही सर्वथा अनुरूप नहीं है। उदाहरणार्थ तुलसी कृत 'रामचरितमानस', प्रसादकृत 'कामायनी' एवं आचार्य विद्यासागरकृत 'मूकमाटी' द्रष्टव्य हैं। इन महाकाव्यों ने शास्त्रीय नियमों को ही नहीं महाकाव्य के गुणों को भी आत्मसात् कर लिया है। और ये महाकाव्य अपनी महार्घता के कारण ही लोक और शास्त्र में समादृत हैं।

महाकाव्य की इन विशेषताओं और परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में 'मूकमाटी' महाकाव्य सर्वथा समादरणीय है। डॉ. शम्भुनाथ सिंह ने हिन्दी के महाकाव्यों में 'पृथ्वीराज रासो', 'पदमावत', 'आल्हा खण्ड', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी'—इन पाँच को ही महाकाव्य लिखा है। डॉ. गोविन्द राम शर्मा, डॉ. प्रतिपाल सिंह, डॉ. श्याम नन्दन किशोर, डॉ. श्याम सुन्दर व्यास आदि ने अपने शोध प्रबन्धों में 'प्रिय प्रवास', 'साकेत', 'कृष्णायन', 'वैदेही वनवास' और 'साकेत सन्त' को महाकाव्य माना है। कुछ शोध प्रबन्धकारों ने 'कुरुक्षेत्र', 'रावण', 'एकलव्य', 'सिद्धार्थ', 'अंगराज', 'पार्वती' और 'वर्धमान' को महाकाव्य की श्रेणी में अंकित किया है। इन लेखकों, समालोचकों के शोध प्रबन्ध लिखे जाते समय तक 'मूकमाटी' का प्रकाशन नहीं हो पाया था। अतः वह महाकाव्य उनके दृष्टिगत नहीं हो पाया था।

महाकाव्य को इन गुणों से समन्वित होना मान्य हुआ है : १. वस्तु वर्णन २. कल्पनाशक्ति ३. मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि ४. गरिमापूर्ण भाषा शैली— ये बाह्य सौन्दर्य के लिए एवं अन्तरंग पक्ष में— १. रसात्मकता २. महत् उद्देश्य और जीवन-दर्शन ३. मानवतावादी जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा ४. युगीन जीवनादर्शों की स्थापना ५. सांस्कृतिक उन्नयन में योगदान ६. उन्नत विचार दर्शन। इन्हें महाकाव्य सृजन के प्रतिमान और महाकाव्यालोचन के मानदण्ड कह सकते हैं।

हिन्दी महाकाव्य राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व, युगीन चेतना की अभिव्यक्ति, सामाजिक उत्थान, कलात्मक औदात्य एवं काव्यात्मक वैभव से सम्पन्न होने के कारण महाकाव्यों का भविष्य आशापूर्ण एवं आलोकमय है। वर्तमान युग के महाकाव्य हिन्दी भाषा और साहित्य की सर्वतोन्मुखी प्रगति के परिचायक हैं। हिन्दी के महाकाव्यों की शृंखला में 'मूकमाटी' महाकाव्य अपना अति मौलिक और गरिमामय स्थान रखता है।

'मूकमाटी' : हिन्दी महाकाव्य के सिद्धान्त और मूल्यांकन की दृष्टि से जब 'मूकमाटी' काव्य पर विचार करते हैं तो स्वतः सिद्ध हो जाता है कि यह काव्य संस्कृत भाषा के महाकाव्यों की तत्त्व संहिता के सिद्धान्तों के अनुसार भामह, दण्डी और कविराज विश्वनाथ की मान्यताओं से पृथक् अपनी मौलिक उद्भावनाओं, नूतनतम विषय कथानक, आकर्षक शैली, अनोखी विचार गरिमा के कारण अपनी अलग उपलब्धि स्थापित करता है। यह चार खण्डों में विभाजित

एवं लगभग पाँच सौ पृष्ठों में विस्तृत है। इस प्रकार विशालता के परिप्रेक्ष्य में भी महाकाव्यत्व के गौरव को धारण करता है।

हिन्दी के महाकाव्यों में 'रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'कामायनी', 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'वर्द्धमान', 'कुरुक्षेत्र', 'सिद्धार्थ' आदि महाकाव्य परम्परागत परिभाषा की कसौटी पर कसने पर पूर्णतः खरे नहीं उतरते। किन्तु इसका आशय यह नहीं कि प्राचीन परम्परागत परिभाषा सदा के लिए ही नियामक है। परिवर्तनशील सामाजिक परिवेश में वैयक्तिक वैशिष्ट्य के प्रभाव से ये हिन्दी महाकाव्य अपनी पृथक् और मौलिक परिभाषा-गरिमा नियोजित कर चुके हैं। इस दृष्टिकोण से 'साकेत', 'प्रियप्रवास', 'कामायनी' अपनी मौलिक उद्भावनाओं, छायावादी शैली, सौन्दर्य एवं प्रतीकात्मक भाषा के कारण लक्षणों से भिन्न होने पर भी सर्वमान्य महाकाव्य के रूप में समादृत हैं।

कथानक की नूतनता, कल्पनाओं का नूतन उन्मेष, पात्रों एवं चरित्रों की नूतन भावप्रवणता के दृष्टिकोण से 'मूकमाटी' भी महाकाव्य की सीमा में आता ही है। धीरोदात्त, धीर प्रशान्त, धीर ललित नायक-नायिकाओं के परम्परागत चौखटे में जड़ने से विद्रोहात्मक रचना-सौन्दर्य एवं व्यक्ति विशेष का अपना सांस्कृतिक जीवन-दर्शन, आध्यात्मिक एवं सैद्धान्तिक वैशिष्ट्य के कारण 'मूकमाटी' महाकाव्य हिन्दी महाकाव्य की नूतन परिभाषा स्थापित करने का गौरव रखता है। प्रसाद की 'कामायनी' के प्रकाशन पर नियत मान्यताओं की विचारधारा वालों ने 'कामायनी' को समुचित समादर देने में संकोच का अनुभव किया था। तभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे धुरन्धर समालोचकों ने काव्य कला एवं भाषा-शैली की दृष्टि से इसे हिन्दी का महाकाव्य समादृत किया था। आज के युग में हिन्दी में अनेक महाकाव्यों का प्रणयन हो चुका है, जिनमें प्राचीन परम्परा की सीमा-रेखाओं को तोड़ कर नवीन कथानक, मौलिक उद्भावनाओं, शैली का आकर्षक वैशिष्ट्य, सामाजिक-दार्शनिक चिन्तन, सांस्कृतिक गौरव एवं नूतन जीवन-दर्शन के कारण उन्हें महाकाव्य का गौरव प्राप्त है, उनकी तालिका लम्बी है।

'मूकमाटी' का प्रणयन आधुनिक हिन्दी महाकाव्य शृंखला में एक उल्लेखनीय उपलब्धि माना जा रहा है। इसकी विशेषता यह है कि इस महाकाव्य में माटी जैसी तुच्छ, उपेक्षित, अकिंचन वस्तु को विषय बनाकर उसे परभाव से मुक्त कराकर अपने आप में, स्वयं में स्थापित कर विशुद्धता के प्रयास से मुक्ति के मंगल घट के रूपक द्वारा जीवन का साफल्य निरूपित करना है। आचार्य श्री विद्यासागर महाराज जैन धर्म-दर्शन एवं साधना मार्ग के तपस्वी महान् सन्त हैं। जैन दर्शन का अपना मौलिक चिन्तन है, जो परभाव से पृथक् होकर स्वभाव में आकर, मुक्त होने की प्रक्रिया बतलाता है। वही जीवन की सफलता है। महान् सन्त आचार्यश्री से ऐसे ही महाकाव्य के रचना की सम्भावना अपेक्षित थी, जो पूरी हुई।

कथावस्तु, पात्र और उनका चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक भाव निरूपण, रस-परिपाक या रससिद्धि की दृष्टि से यह महाकाव्य सम्पूर्ण रूप से नवीनता से परिपूर्ण और स्तुत्य है। माटी अपने आप में तुच्छ है, क्योंकि उसमें प्रस्तर-कण परभाव रूप से विद्यमान हैं, विभाव रूप से सम्पृक्त हैं। आत्मशुद्धि के लिए, पर से निज को (प्रस्तर कणों की माटी से) पृथक् कर, अपने स्वभाव में, मृदुता में, सहजपने में आ जाना होता है। साधना से, तप से (अग्नि के संसर्ग से) शुद्ध हो जाना होता है। इस शुद्धता-विशुद्धता उपार्जन हेतु मन, वचन एवं काय की सरलता होना तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष जैसी दुष्प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना आत्मा का मुक्ति-पथ पर आरूढ़ होना है।

माटी को रचयिता आचार्यश्री इसी प्रक्रिया से साधना के पथ पर अग्रसर कराते हुए लोक मंगलकारी स्थिति तक पहुँचाते हैं। ऐसी ही प्रक्रिया द्वारा जीवन की यात्रा सफल होती है, लोक मंगलकारी होती है।

माटी, कुम्भकार, पूजा-उपासना के उपकरण, स्वर्ण कलश से माटी के कलश की श्रेष्ठता, कथानायक का उसे आदर देना आदि का मनोरम चित्रण है। एक मच्छर के द्वारा आज की जीवन पद्धति का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत होता है :

"सूखा प्रलोभन मत दिया करो/स्वाश्रित जीवन जिया करो।" (पृ. ३८७)

और अन्त में पाषाण शिला पर आसीन वीतराग साधु की वन्दना से आतंकी दल का आत्मशोधन हो जाना आदि लक्षणा-व्यंजना के कलात्मक परिप्रेक्ष्य में ये प्रसंग अत्यन्त मोहक, अद्भुत, सुन्दर बन पड़े हैं।

रस-परिपाक, रस-सिद्धि की दृष्टि से 'मूकमाटी' पावन एवं रससिद्ध रचना है। बालब्रह्मचारी, महान् तपस्वी सन्त ने शृंगार रस की ऐसी पावन उद्भावना की है जैसे मेघों के आवरण के मध्य से धवल चाँदनी दृष्टिगत हो जाए। शृंगार के ऐसे पावन प्रसंग वर्णन सन्त-शिरोमणि से ही बन सकते हैं। इस महाकाव्य में आचार्यश्री ने वर्ण्य विषय से सम्बन्धित एवं वर्तमान जनजीवन के सामाजिक परिवेश की समस्याओं और जटिलताओं का समाधान आत्मशोधन के दर्शन-चिन्तन से किया है। नव रसों का विश्लेषण, ऋतुओं का वर्णन, प्रकृति चित्रण, मानव-प्रकृति से संश्लिष्ट विवरणों के साथ-साथ संगीत की स्वर लहरियों का आरोह-अवरोह, वैज्ञानिक खोजों, आयुर्वेदिक एवं ज्योतिष ज्ञान आदि इस महाकाव्य में पद-पद पर प्रतिबिम्बित होता है।

भाषा की दृष्टि से इस महाकाव्य को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना माना जाएगा। अर्थालंकार के भावबोध को शब्दालंकार की छटा में वेष्टित कर, शब्द संगठन को सन्धि और विच्छेद के माध्यम से नए अर्थ या विलोम का भाव प्रकट करना, शब्द-शक्ति और उसकी आत्मा को ध्वनि-प्रतिध्वनि के अनुरूप अर्थान्तरित करना आचार्यश्री की क़लम का अद्भुत जादू है, जो अतिमोहक है।

इस महाकाव्य का सृजन अन्य दर्शनों की मान्यता के समक्ष जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धातों के उद्घाटन हेतु हुआ है। यह कृति काव्य और अध्यात्म का सुन्दर समन्वय है। इसमें माटी के माध्यम से जीवन शोधन की अभिनव व्याख्या प्रस्तुत है। यह जीवन-मुक्ति का शास्त्र है। भोग और योग, भुक्ति और मुक्ति की रसायन प्रस्तुति है। यह महाकाव्य के तत्त्वों और गुणों से युक्त है। और वह उतना ही श्लाघ्य है जितने आचार्यश्री अपने तप एवं ज्ञान गरिमा से पूज्यत्व को प्राप्त हैं।

'मूकमाटी' में रस, छन्द, अलंकार संयोजन

भरत मुनि का नाट्य शास्त्र ही प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है, जिससे काव्यशास्त्रीय रस सिद्धान्त का सूत्रपात होता है। प्रत्येक अवधारणा के मूल उत्स को वेदों से सम्बद्ध करने की भारतीय परम्परा रही है। ब्रह्मा, सदाशिव, भरत, भरत तण्डु नन्दी, बासुकि आदि नाट्याचार्य एवं रसाचार्य का ऋण स्वीकार किया जाता है। उन्होंने माना कि उनके पूर्व रस की दो परम्पराएँ प्रचलित थीं। एक थी दुहिण की, जो साहित्यिक आठ ही रस मानते थे, दूसरी बासुकि की, जो शान्त रस नामक नौवाँ रस भी मानते थे। सूर साहित्य के प्रणयन के बाद वात्सल्य नामक दसवाँ रस प्रतिष्ठित हो गया।

वात्सल्य रस का शृंगार आदि किसी भी रस में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि वात्सल्य का स्थायी भाव स्नेह है, न कि प्रेम। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'चिन्तामणि' ग्रन्थ में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और स्नेह की विशद व्याख्या करके इनमें स्पष्ट अन्तर निरूपित किया है। प्रेम में वह भाव नहीं है जो स्नेह में विगलित होता है। पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका को जो प्रेम में भाव विकलता होती है वह माता और पुत्र के स्नेह-वात्सल्य भाव में इस प्रकार की भावना नहीं होती। उसी प्रकार शान्त रस की निष्पत्ति, उद्रेक और रसानुभूति के परिप्रेक्ष्य में किसी और रस में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। इसका स्थायी भाव निर्वेद-वैराग्य है।

इस रस के उद्रेक और परिपाक के सम्बन्ध में संस्कृत के अनेक विद्वानों ने बहुत कुछ विचार-विमर्श किया है। अभिनवगुप्त ने आचार्य भरत के आठ रसों के विरुद्ध शान्त रस को नौवाँ रस मानकर उसकी प्रतिष्ठा की है। और शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान माना है। भोज ने भी शान्त रस का स्थायी भाव 'सम' माना है। आनन्द

प्रकाश दीक्षित ने भी शान्त रस के स्थायी भाव के रूप में आत्मज्ञान को मान्यता प्रदान की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ 'रस समीक्षा' एवं डॉ. नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'रस सिद्धान्त' में शान्त रस की अनुभूति को ब्रह्मानन्द सहोदर नाम दिया है। अन्यथा अध्यात्मवादी समस्त साहित्य, ज्ञान-वैराग्य सम्बन्धी काव्य, भगवद्-भक्ति सम्बन्धी गीत काव्य फिर किस रस के काव्य ग्रन्थ माने जाएँगे ? अतः यह निर्विवाद हो गया है कि शान्त रस ज्ञान-वैराग्य मूलक साहित्य का आधार है।

काव्यानुभूति के सम्बन्ध में रस सिद्धान्त की सबसे बड़ी देन शान्त रस की परिकल्पना है और सभी रसों की परिणति शान्त रस में होती है, इस स्पष्ट और निर्भ्रान्त स्थापना का श्रेय अभिनवगुप्त को है। पश्चिम के सौन्दर्य-शास्त्रियों ने भी यह स्वीकार किया है कि सौन्दर्यानुभूति में, रसानुभूति में, एक प्रकार की चिन्तनजनित शान्ति एवं विश्रान्ति का अनुभव होता है।

प्राचीन भारतीय परम्परा में यह शान्ति तत्त्व अनेक क्षेत्रों में व्यापक रूप से गृहीत रहा है। बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य आदि इसी शान्त रस के आधार पर सृजित हुए हैं। पश्चिम के आधुनिक विचारक आई. ए. रिचर्ड्स ने संवेद सन्तुलन सिद्धान्त के रूप में शान्त रस की महत्त्वपूर्ण स्थापना की है, जो अभिनवगुप्त की धारणा के अनुरूप है। सनातन हिन्दू धर्मशास्त्रों में और काव्यों में अनेक काव्य वैराग्यपोषक हैं, अतः वे सभी शान्त रस सिक्त हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि शान्त रस साहित्य का एक प्रधान और सर्वमान्य रस है।

"शृंगारवीरकरुणहास्याद्भुतभयानकाः।
रौद्रबीभत्सशान्ताश्च नवैति रसाः स्मृताः॥"

उपर्युक्त नौ रसों के नौ स्थायी भाव इस प्रकार स्वीकार किए गए हैं– रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम–ये नौ स्थायी भाव हैं।

"रतिहास्यौ च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायीभावः प्रकीर्तितः॥"

आधुनिक साहित्य समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा रसों की संख्या-निर्धारण के विरोधी हैं। उनका कथन है कि नव या दस रसों की मेंड़ बाँधकर न तो साहित्य/काव्य सृजन हो सकता है और न ही अपनी मनोगत संवेदनाओं, भावनाओं, कल्पनाओं को उनमें बहाया जा सकता है। क्योंकि आज के मानव का जीवन इतनी विविधताओं, समस्याओं, रंगों से आक्रान्त है कि उन सब अनुभूतियों को सीमित रसों के बन्धन में बाँधकर प्रतिभा के प्रकाश की पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

आचार्य श्री विद्यासागर द्वारा रचित 'मूकमाटी' महाकाव्य को रस सिद्धान्त और रसानुभूति के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि इस महाकाव्य में सभी प्रमुख रसों का संयोजन सफलतापूर्वक हुआ है। शान्त रस का परिणाम तो विविध संघटनाओं के साथ द्रष्टव्य है।

अँग्रेजी साहित्य समीक्षक एलीसिओ वाइवास ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में लिखा है : "कलाकृति की बहुत-सी वस्तुगत विशेषताओं का ज्ञान तभी होता है जब हम उस कृति के निर्माण, लक्ष्य और प्रभाव को पहचानने में सफल हों एवं कृतिकार के व्यक्तित्व के प्रकाश में हम उस कृति को देख सकें।" इस कथन के अनुसार 'मूकमाटी' के रचयिता के व्यक्तित्व का अभिज्ञान आवश्यक है, तभी हम 'मूकमाटी' की विशेषताओं को ज्ञात कर सकेंगे।

आचार्य श्री विद्यासागर बालयोगी, जैन धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान्, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, अध्यात्म

योगी, महान् सन्त, सन्त काव्य-परम्परा में राष्ट्रीय स्तर के ख्याति प्राप्त कवि हैं। उनके द्वारा रचित यह 'मूकमाटी' महाकाव्य मुक्त छन्द काव्यशैली में निबद्ध नवीन उन्मेषों को नया आयाम देने वाली नई मनोरम कलाकृति है।

माटी जैसी निरीह, तुच्छ वस्तु की मूक वेदना-कथा को अपने महाकाव्य का विषय बनाना आचार्यश्री जैसे महान् रचनाकार की काव्य-प्रतिभा का ही चमत्कार है। यह अद्भुत रचना वैशिष्ट्य धारण किए हुए है। इसमें कवि ने माटी के कंकर आदि दोषों को दूर कर, उसे मृदु बना कर, कुम्भकार द्वारा कलशाकार रूप देकर, अग्नि की आँच में उसे तपा कर, कल्याणकारी बना कर, पूजा जैसे पवित्र अनुष्ठान में लगा कर उसका माटी होना सफल कर दिया है। इसके कथानक ने माटी से सम्बद्ध पात्रों का चरित्र निर्मित कर वर्तमान युग की अनेक समस्याओं, विषमताओं को अनेक रंग-रूपों में रँगकर इस काव्य का आकार सँभाला है। आयुर्वेद, नीतिशास्त्र, ज्योतिष, गणित आदि विषयों का समावेश इस काव्य में दर्शनीय है। कर्मावृत आत्मा का माटी जैसी प्रक्रिया के रास्ते से गुज़रना हो जाए, तभी वह मुक्ति-लाभ प्राप्त कर सकता है। बालयोगी सन्त कवि ने अपने सन्त स्वभाव के अनुरूप शृंगार का वर्णन भी अपने ही अनुरूप किया है, जो अत्यन्त मनोहारी है। ऐसा पावन शृंगारिक वर्णन निष्काम योगी से ही बन सकता है :

"फूल ने पवन को/प्रेम में नहला दिया,/और/बदले में
पवन ने फूल को/प्रेम से हिला दिया!" (पृ. २५८)

इस महाकाव्य में रसों का संयोजन बहुत ही स्वाभाविक रूप में हुआ है। महाकाव्य में शान्त, शृंगार, वीर, अद्भुत, भयानक, रौद्र आदि रसों का परिपाक आवश्यक होता है। वह 'मूकमाटी' में स्थान-स्थान पर उपलब्ध है। कुछ विशिष्ट रसोत्पादक स्थल भी हैं। वैसे तो इस काव्य में रस, अलंकार आदि का विवेचन एक पृथक् पुस्तक का आधार बन सकता है। किन्तु यहाँ कुछ रसात्मक स्थल को ही स्पर्श किया है।

भयानक और वीर रस की उद्भावना में उत्साह और क्रोध स्थायी भावों का वर्णन द्रष्टव्य है :

"जलधि की जघन्यता को/तर्जना के कठोर शूलों से
पदोचित पुरस्कृत करता/प्रभाकर फिर/स्वाभिमान से भर आया,
जितनी थी उतनी ही पूरी-की-पूरी/उसकी तेज उष्णता वह
उभर आई ऊपर।/रुधिर में सनी-सी, भय की जनी
ऊपर उठी-तनी भृकुटियाँ/लपलपाती रसना बनी, मानो
आग की बूँदें टपकाती हों,/घनी···कहीं···
'नहीं, नहीं, किसी को छोड़ूँगी नहीं।'/यूँ गरजती
दावानल-सम धधकती वनी-सी बनी···/सही-सही समझ में नहीं आता।
पूरी खुली दोनों आँखों में/लावा का बुलावा है क्या?/भुलावा है यह!
बाहर घूर रहा है ज्वालामुखी/तेज तत्त्व का मूल-स्रोत/विश्व का विद्युत्-केन्द्र।
संसार के कोने-कोने में/तेज तत्त्व का निर्यात यहीं से होता है,
जिसके अभाव में यातायात ठप्/जड़-जंगमों का!
चारों ओर अन्धकार, घुप्···।" (पृ. २३३)

रौद्र और अद्भुत रस का परिपाकमय और विस्मय स्थायी भावों के साथ सम्मिलित हुआ है :

"कुटिल व्याल-चालवाला/कराल-काल गालवाला

साधु-बल से रहित हुआ/बाहु-बल से सहित हुआ।
क्राह-राह का राही राहु/हिताहित-विवेक-वंचित
स्वभाव से क्रूर, क्रुद्ध हुआ/रौद्र-पूर, रुष्ट हुआ
कोलाहल किये बिना/एक-दो कवल किये बिना/बस, साबुत ही
निगलता है प्रताप-पुंज प्रभाकर को।/सिन्धु में बिन्दु-सा
माँ की गहन-गोद में शिशु-सा/राहु के गाल में समाहित हुआ भास्कर।
दिनकर तिरोहित हुआ''सो/दिन का अवसान-सा लगता है
दिखने लगा दीन-हीन दिन/दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृही-सा।'' (पृ. २३७-२३८)

करुण और वात्सल्य रस अपना परिचय स्वयं अपनी भाषा में देते हुए इस काव्य में प्राप्त होते हैं। उन रसों का सुसंवेदन कर आचार्यश्री ने उत्तम विश्लेषण क्षमता का परिचय दिया है :

''करुणा-रस जीवन का प्राण है/...वात्सल्य-जीवन का त्राण है
...शान्त-रस जीवन का गान है/...करुणा-रस उसे माना है, जो
कठिनतम पाषाण को भी/मोम बना देता है,/वात्सल्य का बाना है
जघनतम नादान को भी/सोम बना देता है।'' (पृ. १५९)

और शान्त रस का परिचय देते हुए स्वयं शान्त रस की साकार मूर्ति आचार्यश्री मानों स्वयं अपना परिचय दे रहे हों :

''सब रसों का अन्त होना ही–/शान्त-रस है।'' (पृ. १६०)

यह समूचा महाकाव्य शान्त रस का उदाहरण ही है। शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद है यानी संसार से विमुखता तथा पर से स्व की ओर दृष्टि। इस महाकाव्य में समस्त पात्र निज में निजता की खोज करते हैं :

''अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।'' (पृ. १०९-११०)

माटी का कुम्भ शिवपथगामी मुनिराज के पाद-प्रक्षालन कर अपने को धन्य मानता है और कह उठता है :

''शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,
भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज!'' (पृ. ३२५)

इस प्रकार इस महाकाव्य में रसों की अपनी स्थिति का परिचय अपने आप कराते हुए कवि ने स्वयं सभी रसों को शान्त में डुबो दिया है। रस विवेचन के महान् संस्कृताचार्य अभिनवगुप्त (११ वीं शताब्दी) ने शान्त रस को रसराज कहा तथा रस के स्वाद का कलात्मक विवेचन कर इसे दृढ़ दार्शनिक आधार भूमि प्रदान की है।

'मूकमाटी' में छन्दों के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि मात्रिक और वर्णिक छन्द अपनी सीमा में आबद्ध रहने के कारण कवि के भाव-प्रवाह में अवरोध उत्पन्न कर सकते थे। हिन्दी कविता में तुकविहीन छन्द को जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जैसे महाकवियों ने अपनी कविता का आधार बना कर इस लयबद्ध छन्द को मान्यता प्रदान की। तब से यह प्रवहमान छन्द हिन्दी कविता का प्रिय आधार बन गया है। यह

महाकाव्य इसी प्रवहमान छन्द में प्रवाहित होता है। अलंकारों की छटा अद्‌भुत है। भावों के प्रवाह में जैसे दर्शन, सिद्धान्त, नीतिगत उक्तियाँ, गणित के सिद्धान्त का स्वरूप, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सिद्धान्त, जीवन एवं दर्शन की गुत्थियाँ सुलझा कर साथ में प्रवाहित होने लगती हैं, उसी प्रकार इसमें पद-पद पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक, श्लेष और अनुप्रास आदि अलंकार उस प्रवाह में, गति में, लय में डूबते-उतराते से दृष्टिगत होते हैं। अलंकारों की बलात् भरमार रंच मात्र भी दिखाई नहीं पड़ती है।

संस्कृत के आचार्यों के अनुसार केवल अभिधा के सहारे विभाव आदिकों की वाच्यार्थ प्रतीति कराने से उसका लौकिक रूप ही प्रतीत होता है, जो रसानुभूति के सर्वथा अनुपयुक्त है। लक्षणा और व्यंजना के द्वारा सही रसानुभूति सम्भव होती है। प्रसादजी का 'कामायनी' काव्य छायावादी शैली का सर्वोत्तम काव्य माना जाता है। इसमें मन की सूक्ष्म भावनाओं को साकार रूप प्रदान कर उन्हें इस काव्य के पात्रों के रूप में दर्शाया गया है। मन, मन में उत्पन्न होने वाली भावनाओं, चिन्ता, आशा, काम वासना, लज्जा, इड़ा (बुद्धि) आदि सभी पात्र रूप धारण कर 'कामायनी' की कथा को सौन्दर्य प्रदान करते हैं। और इन्हीं पात्रों के माध्यम से प्रसादजी ने अपने वैचारिक सिद्धान्तों के द्वारा मानव जीवन की सार्थकता का सन्देश साकार किया है। यह महाकाव्य हिन्दी साहित्य का श्रेष्ठ महाकाव्य माना जाता है।

आचार्य श्री विद्यासागर महाराज का 'मूकमाटी' महाकाव्य 'कामायनी' महाकाव्य से और आगे बढ़ गया है। इसमें माटी से घट बनकर और घट के पावन जल से परमात्मा के चरण प्रक्षालन तक आने वाले समस्त उपकरण, साधन, अवा, लकड़ी, अग्नि, हवा, बादल, नदी, रस्सी एवं समस्त प्रकृति सजीव पात्र बनकर इस महाकाव्य की कथावस्तु को सौन्दर्य प्रदान करते हुए उसे आगे बढ़ाते हैं। इन निर्जीव उपकरणों और वस्तुओं की भाषा, उनमें भावों का आदर्श, सिद्धान्तों का विवेचन, नीतिगत उपदेश, सत्-असत् भावों का संघर्ष, सत् की विजय 'असतो मा सद् गमय' का ध्रुव सिद्धान्त महान् सौन्दर्य के साथ प्रतिफलित हुआ है।

ऐसा कोई विषय नहीं जो इस महाकाव्य में प्रसंगानुसार उपस्थित होकर अपना आदर्श रूप प्रकट न करता हो। सभी निर्जीव पात्र सजीव रूप धारण कर मानव-जीवन की अशान्त अवस्थाओं को शान्ति की ओर ले जाते हैं और अनेक अनुत्तरित प्रश्नों के सही उत्तर प्रस्तुत करते हैं। 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' का सन्देश देते हैं। जिनका समस्त जीवन ही शान्त रस का स्वरूप है, स्वभाव है, ऐसे महान् सन्त से ऐसे ही महाकाव्य की कामना पूरी हो सकती थी।

'मूकमाटी' की भाषा के सम्बन्ध में पृथक् से एक स्वतन्त्र पुस्तक निर्मित की जानी चाहिए, क्योंकि इस महाकाव्य की भाषा, उसका स्वरूप, व्यंजनात्मक ध्वनि, लक्षणात्मक प्रयोग, शब्द की बनावट एवं उसका विच्छेद कर अर्थ का साम्य और वैषम्य अर्थ भाव, शब्द का अनेकार्थों में प्रयोग, प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति की सार्थकता इत्यादि शब्द-शक्ति का ज्ञान जितना इस काव्य के रचयिता को है, उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

जो इस काव्य में है, वह थोड़ा-थोड़ा सब में है, जो इस काव्य में नहीं, वह कहीं नहीं है।

'माटी के माध्यम से जिसमें, आत्म-तत्त्व का शोधन।
उस 'माटी' के निर्माता को, मेरा शत-शत वन्दन॥'

□



माता का जय-गान हो सदा !

डॉ. सुशीला गुप्ता

नारी की पद मर्यादा भारत देश में प्रवृत्ति मार्ग के उत्थान से उठती और निवृत्ति मार्ग के प्रचार से गिरती रही है। इस देश की जनता ने लोक की प्रतिष्ठा बढ़ाने और ऐहिक सुख को महत्त्व देने की मनोवृत्ति के साथ नारी को अत्यन्त सम्मानजनक स्थान दिया है और समाज की उन्नति के लिए नारी की उन्नति को आवश्यक माना है। ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:'' जैसे उद्‌गार नारी की प्रतिष्ठा और सम्मान के द्योतक माने जा सकते हैं, परन्तु समाज का एक ऐसा भी वर्ग रहा है, जिसने जीवन को असत्य और क्षणभंगुर मान लोक की अपेक्षा परलोक की चिन्ता में वैराग्य की स्वीकृति के साथ नारी की मर्यादा की पूर्ण उपेक्षा की है। जीवन को भोग-विलास की वस्तु समझने वालों ने जीवन का सच्चा सुख पाने के लिए नारी को सम्मान दिया, उसकी पूजा की, क्योंकि वे समझते थे कि नारी आनन्द की खान है। अत: उस आनन्द की खान नारी को ठुकराकर नहीं, वरन् उसे स्वीकृति प्रदान करके ही जीवन में आनन्दोपभोग सम्भव है, परन्तु जिन्होंने जीवन में वैराग्य का रास्ता अपनाया, उन्होंने वैयक्तिक मुक्ति के लिए नारी को सिद्धि के मार्ग में बाधक समझ उसे त्याग देने और उसकी उपेक्षा में ही अपना गौरव समझा।

पुनरुत्थान युग के मनीषियों, चिन्तकों और समाज-सुधारकों के मार्गदर्शन में देशवासियों ने जिस प्रकार अपनी राजनीतिक पराधीनता की दाह का अनुभव किया, उसी प्रकार नारी के प्रति अतिवादी दृष्टिकोणों की वास्तविकता का सामना किया। नारी के नख-शिख के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर्तव्य-पथ से विचलित हो वासनापूर्ण जीवन जीने और नारियों की अवज्ञा सिखाने वाली कुत्सित परम्परा दोनों का आधुनिक युग में मूलोच्छेद हो गया और देशवासियों के मन में यह अनुभूति जगी कि नारी अपने व्यक्तित्व, निर्णय और योग्यता की धनी है तथा समाज में आदर, श्रद्धा और स्नेह की पात्र है।

'मूकमाटी' महाकाव्य के रचयिता आचार्य विद्यासागर एक दार्शनिक सन्त हैं। महर्षि अरविन्द का कथन है कि आध्यात्मिक सत्य का चिन्तक और दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक ही नहीं, व्यावहारिक जीवन का भी सर्वोत्तम मार्गदर्शक होता है। आचार्य विद्यासागर का अध्ययन सूक्ष्म है, उनकी लेखनी में लोकमंगल की ताकत है और उनकी कृति 'मूकमाटी' में जन-साधारण ही नहीं, विद्वानों के लिए भी अमर सन्देश है। उन्होंने जिस तरह मिट्टी को स्वर्ण से भी ऊँचा ठहराया है, उसी तरह नारी को भी बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया है।

आचार्य विद्यासागर ने स्त्री के जननी रूप को सबसे बढ़कर माना है। उनकी दृष्टि में जननी का यह स्वभाव होता है कि भूखे-प्यासे बच्चों को देखकर उसका वात्सल्य उमड़ पड़ता है। उसके हृदय से दूध की धार बहने लगती है, यदि बच्चा क्षुधार्त होता है। या यों कहा जा सकता है कि उसके दूध को इसी अवसर की प्रतीक्षा रहती है कि वह अपनी सन्तान की क्षुधा का निवारण करे।

आचार्यश्री के अनुसार स्त्री का नाम 'भीरु' इसलिए पड़ा कि वह पाप-भीरु होती है। वह स्वभाव से ही पाप के पलड़े को भारी नहीं पड़ने देती, इसलिए उसकी पाप-भीरुता पलती रहती है। स्त्री यदि भूले-भटके कुपथगामिनी होती है तो उसका कारण वह स्वयं नहीं, बल्कि पुरुष होता है। उसे तो कुपथ और सुपथ की अच्छी परख होती है, इसलिए स्वेच्छा से वह कुपथ की ओर अग्रसर हो ही नहीं सकती। वह तो पुरुष है, जिससे बाध्य होकर उसे कुपथ की ओर अग्रसर होना पड़ता है।

नारी को नर से श्रेष्ठ मानने का बड़प्पन राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में भी मिलता है :

''एक नहीं दो दो मात्राएँ, नर से भारी नारी।'' ('द्वापर')

आचार्य विद्यासागर के अनुसार 'नारी' शब्द का अर्थ है– न+अरि, अर्थात् जिसका कोई शत्रु नहीं है और जो अजातशत्रु बनकर विश्वबन्धुत्व की ओर बढ़ती है। उसकी आँखों से करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है और शत्रुता उसे छू नहीं सकती।

नारी 'महिला' कहलाने की हकदार है, क्योंकि वह पुरुष के जीवन में मंगलमय वातावरण लाती है :

"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है,
महिला कहलाती वह।" (पृ. २०२)

जो निराधार होता है, निरावलम्ब होता है, जिसे आधार या सहारे की नितान्त आवश्यकता होती है, जो जीवन में पूर्णतया निराश और हतोत्साह होता है, उस पुरुष में :

"मही यानी धरती/धृति-धारणी जननी के प्रति
अपूर्व आस्था जगाती है।/और पुरुष को रास्ता बताती है
सही-सही गन्तव्य का–/महिला कहलाती वह!" (पृ. २०३)

यही नहीं, जो संग्रहणी व्याधि से पीड़ित होता है, जिसके जीवन में संयम और जठराग्नि मन्द पड़ी है और जो परिग्रह संग्रह से पीड़ित होता है, उस पुरुष को वह मठा-महेरी पिलाती है, इसलिए 'महिला' कहलाती है।

और सुखद आश्चर्य! 'अबला' की व्युत्पत्ति आचार्य विद्यासागर ने 'अब' में ढूँढ़ी है, अर्थात्

"...जो/पुरुष-चित्त की वृत्ति को/विगत की दशाओं/और
अनागत की आशाओं से/पूरी तरह हटाकर/'अब' यानी,
आगत - वर्तमान में लाती है/अबला कहलाती है वह···!" (पृ. २०३)

'अबला' का एक और अर्थ है, जो बला को दूर रखे, वह अबला है। बला का मतलब है समस्या– संकट। अबला का सहयोग और साहचर्य प्रत्येक क़दम पर पुरुष के लिए आवश्यक होता है, उसके बिना सबल पुरुष भी निर्बल बन जाता है। यदि अबला का साथ पुरुष को प्राप्त न हो तो पुरुष जीवन की अनेकानेक समस्याओं से निस्तार नहीं पा सकता। निस्तार पाने की बात तो दूर, वह सृष्टि की समस्या से जूझने के लिए पर्याप्त बल नहीं धारण कर सकता। पत्नी का रावण द्वारा हरण हो जाने पर मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम का हृदय भी एक बार भयभीत हो गया था :

"घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥"
(रामचरितमानस : किष्किन्धा काण्ड)

मांगलिक पर्वों में कुमारी कन्याओं की पूजा की जाती है। 'कुमारी' का विशिष्ट अर्थ सम्पदा-सम्पन्ना है। 'कु' का अर्थ पृथिवी है, 'मा' का लक्ष्मी और 'री' का दाता। संकेत इस तथ्य की ओर है कि जब तक धरा पर कुमारियाँ रहेंगी, यह धरा समस्त सम्पदाओं से परिपूर्ण रहेगी।

'स्' यानी समशील संयम एवं 'त्री' यानी धर्म, अर्थ और काम– अर्थात् जो इन तीनों पुरुषार्थों में पुरुष को कुशल संयत बनाती है, वही 'स्त्री' है। गृहस्थ धर्म का सफलतापूर्वक आचरण करने के लिए धर्म, अर्थ और काम जैसे पुरुषार्थों की पुरुष को नितान्त आवश्यकता होती है। इन पुरुषार्थों के मार्ग में पुरुष के लिए पाप की ओर अग्रसर होने की आशंका रहती है। उस पाप को पुण्य में बदलने के लिए स्त्री सदैव प्रयत्नशील रहती है। पुरुष की वासना संयत हो और उपासना संगत

हो, अर्थात् काम रूपी पुरुषार्थ निर्दोष हो, इसलिए वह गर्भ-धारण करती है। अर्थ रूपी पुरुषार्थ के मार्ग में वह संग्रहवृत्ति और अपव्ययवृत्ति दोनों से अर्जित अर्थ का समुचित वितरण करके पुरुष को सद्मार्ग की ओर प्रेरित करती है। गृहस्थ धर्म के पालन में वह दान-पूजा-सेवा आदि सत्कर्मों द्वारा धर्म परम्परा की रक्षा करती है।

श्रुत-सूक्तियों के अनुसार घर में सुख-सुविधाओं का जो भण्डार लाए, वह 'सुता' कहलाती है। 'सु' का अर्थ है सुहावनी अच्छाइयाँ, इसमें 'ता' प्रत्यय जोड़ने पर सुता बनता है– सुख-सुविधाओं का परम स्रोत सुता।

जिस स्त्री में दो हित निहित हों, वह 'दुहिता' कहलाती है। वह अपना हित तो साध ही लेती है, पतित से पतित पति का जीवन भी हितों द्वारा सार्थक बना देती है। आचार्य विद्यासागर के अनुसार :

"उभय-कुल मंगल-वर्धिनी/उभय-लोक-सुख-सर्जिनी
स्व-पर-हित सम्पादिका/कहीं रहकर किसी तरह भी
हित का दोहन करती रहती/सो···दुहिता कहलाती है।" (पृ. २०६)

आचार्यश्री ने 'मातृ' शब्द की महत्ता भी प्रतिपादित की है। प्रमाण का अर्थ होता है ज्ञान, प्रमेय का अर्थ होता है ज्ञेय और प्रमातृ को सन्तजन ज्ञाता कहते हैं। जानने की शक्ति मातृ-तत्त्व के सिवा कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती, इसीलिए सबकी आधार-शिला कोई पुरुष नहीं होता, सबकी जननी मातृ-तत्त्व ही होती है :

"मातृ-तत्त्व की अनुपलब्धि में/ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ठप् !
ऐसी स्थिति में तुम ही बताओ,/सुख-शान्ति मुक्ति वह
किसे मिलेगी,क्यों मिलेगी/किस विध···?/इसीलिए इस जीवन में
माता का मान-सम्मान हो,/उसी का जय-गान हो सदा,/धन्य···!" (पृ. २०६)

स्त्री 'अंगना' शब्द से भी विभूषित की जाती है। अंगना का अर्थ है– अंग+ना, अर्थात् वह केवल अंग नहीं है। उसके अंग-प्रत्यंग का शारीरिक सौन्दर्य ही उसका परिचय नहीं है, उसकी शक्ति असीम है, केवल उसे पहचानने की दृष्टि पुरुष के पास होनी चाहिए। स्त्री को उसके अंग से परे देखने का प्रयत्न किया जाय तो बहुत कुछ हासिल हो सकता है :

"अंग के सिवा भी कुछ/माँगने का प्रयास करो,
जो देना चाहती हूँ,/लेना चाहते हो तुम !
'सो' चिरन्तन शाश्वत है/सो निरंजन भास्वत है
भार-रहित आभा का आभार मानो तुम !" (पृ. २०७)

नारी को अत्यन्त सीमित दृष्टि से देखने वालों को मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' में धिक्कारा है :

"हाय, वधू ने क्या वर-विषयक एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई ?
नर के बाँटे क्या नारी की नग्न मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय क्या संग नहीं वह लाई ?"

सन्त तुलसीदास तक ने नारी के साथ न्याय नहीं किया। उन्होंने उसे अत्यन्त निम्न कोटि का दर्जा प्रदान किया :

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी।"

सन्त कबीर जैसे समाज-सुधारक सन्त ने भी नारी को वह सम्मान नहीं दिया, जिसकी वह अधिकारिणी है :

"नारी तो हमहूँ करी, तब ना किया विचार।"

डॉ. राधाकृष्णन ने सत्य ही कहा है : "बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रचार के उपरान्त जब निवृत्ति मार्ग का प्रचार प्रारम्भ हुआ, तब स्त्रियों को समाज में अनावश्यक प्राणी के रूप में घोषित कर दिया गया। संयासियों को स्त्रियों से दूर करने के लिए उन्हें बुराई का घर बताया गया एवं दुनियादारी का मूल बताकर उन्हें घृणा का पात्र कहा गया।" (धर्म और समाज, पृ. १६७)

दिनकरजी को यह शिकायत थी कि इतिहास ने नारी के प्रति न्याय नहीं किया :

"नारी त्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शान्ति, करुणा है।
इसीलिए इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के,
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।"

इतिहास ने नारी के प्रति न्याय नहीं किया, वह नारी गाथा के अनेक प्रसंगों पर मौन रहा, परन्तु कवियों ने नारी को अपने काव्य में उचित स्थान देने का प्रयत्न किया। कवि-मनीषी आचार्य विद्यासागर ने नारी की गरिमा, योग्यता, शक्ति और सामर्थ्य पर गहराई से मनन-चिन्तन किया और 'मूकमाटी' में उसे वाणी प्रदान की है। नारी के अनेक रूपों का उन्होंने अपने महाकाव्य में प्रतिपादन किया है और सबसे बढ़कर उसके मातृ रूप का जय-गान किया है। नारी का ऐसा मुखर जय-गान अन्यत्र दुर्लभ है।



पृष्ठ ३३३-३३४
पराग-प्यासा भ्रमर-दल नहीं
..... भ्रामरी-वृत्ति कहीं जाती
सन्तों की!

'मूकमाटी' : दार्शनिक अवधारणा

डॉ. शमीर सिंह

"आचार्य श्री विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है" (प्रस्तवन)। उनकी यह रचना लोक-मंगल की साधना का नियोजन बन कर मानवीय जीवन-यापन सम्बन्धी दर्शन को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करती है। यह कवि-जीवन से जुड़ी हुई विविध क्रियाकलापों से अति प्रभावित है और इसीलिए वह अपनी निजी अनुभूतियों को जीवनदर्शन के माध्यम से पाठकों के सम्मुख अनावृत कर देता है। उसने माटी जैसी तुच्छ, अकिंचित्, पद-दलित वस्तु को लेकर नितान्त भव्य तथा विशुद्ध सृजनशीलता के दर्शन कराए हैं। निरीह माटी की मुक्ति एवं मोक्ष प्रमुख्यतः पुरुष की प्रकृति पर आधारित है। इस कवि का यह मन्तव्य है कि पुरुष जिस सीमा तक प्रकृति के सामीप्य व संस्पर्श को ग्रहण करता है, उसी सीमा तक उसे जीवन की सार्थकता का बोध होगा। 'मूकमाटी' में पुरुष के प्रकृति में रमने को 'मोक्ष' तथा प्रकृति से दूर रहने को 'भ्रमना' बताया गया है:

"पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और
अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है...।" (पृ. ९३)

भाग्यवान् भाग्यविधाता कर्तव्यप्रबुद्ध कुम्भकार अपने भव्य-सृजन-हेतु माटी को कुदाली से खोद कर बोरी में बन्द कर लेता है। शिल्पी की इस निर्दय क्रिया पर माटी क्रोध अथवा रुदन तक व्यक्त नहीं करती और मूक भाव से लज्जाशील बनी हुई नवविवाहिता दुल्हन की भाँति बोरी में से झाँकती रहती है। उसके सात्त्विक गालों पर घावों के छिद्र दिखाई देने लगते हैं। वह मात्र दीर्घ श्वास लेकर अपने अव्यक्त भावों को वाणी देती है। निरीह माटी की इस मूक वेदना का आभास करके संवेदनशील शिल्पी माटी के इतिहास को उसके मुख से सुनकर सहज रूप से जीवन सम्बन्धी वास्तविकता एवं रहस्य को पा लेता है और धन्य हो जाता है। इस रहस्योद्घाटन के उपरान्त जीवन-दर्शन सम्बन्धी जिस अकाट्य नियम की व्याख्या हुई है, वह इस कवि की दार्शनिक प्रवृत्ति की द्योतक है :

"अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं/और
इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव !" (पृ. ३३)

यह कवि तो जीवन की पीड़ा को मानव मंगल का नियोजक स्वीकार करने लगता है :

"अर्थ यह हुआ कि/पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है
और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

दर्शन प्रबुद्ध यह कवि अग्नि के धर्म की चर्चा करता हुआ इसे निर्विकार, निर्धूम, अनादि, विकासोन्मुख, अनिधन व सहाश्रित बताता है। इसीलिए तो सम्भवतः यह जन्म लेकर अपने में ही समा जाती है। संसार में जो प्राणी अग्नि को आत्मसात् कर लेता है उसे जीवन में यथेच्छित फल प्राप्ति होती है। इस कवि की जीवन सम्बन्धी विविध अनुभूतियों के प्रति दार्शनिक दृष्टि इन शब्दों में चित्रित हुई है :

"प्रति वस्तु जिन भावों को जन्म देती है/उन्हीं भावों से मिटती भी वह,
वहीं समाहित होती है।" (पृ. २८२)

इस रचना में कवि विद्यासागर मानव के साधना के क्षणों में ध्यान केन्द्रित होने को दो धरातलों पर वाणी देता है। एक भोग-राग व मद्य-पान भक्षी है, जो विकल्पों के मोह जाल में उलझ कर शव रूप हो जाता है, परन्तु दूसरा योग-त्याग के माध्यम से शिव रूप होकर जीवन-यापन में खरा उतरता है :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं–
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;/और एक
योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।/कुछ ही क्षणों में
दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।/फिर क्या कहना!/एक शव के समान
निरा पड़ा है,/और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)

कुम्भ की अग्नि-परीक्षा होती है। वह जीवन पद्धति में दर्शन की अबाधता तथा अध्यात्म की अगाधता का रहस्य अग्नि से निवेदित करता है। उसकी जिज्ञासा– *"क्या दर्शन और अध्यात्म/एक जीवन के दो पद हैं?" (पृ.२८७)*--से अभिभूत होकर पूज्य-पूजक एवं कार्य-कारण की मनोभूमि पर न टिकी रहकर मुक्ति की मंगल कामना के निमित्त निवेदित हो उठती है। दर्शन और अध्यात्म की मीमांसा से ही अग्नि की देशना का श्रीगणेश होता है और माटी मूकभाव से कवि दर्शन की मन:स्थिति में लीन हो जाती है। दार्शनिक कवि ने दर्शन और अध्यात्म की जो व्याख्या की है, वह नि:सन्देह उसके दार्शनिक मन की परतों को अनावृत करती है। उस के अनुसार स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है, अन्तर्मुखी अथवा बन्दमुखी चिदाभा निरंजन का दिग्दर्शन कराती है। दर्शन का मूलस्रोत मस्तक बताया गया है, जबकि स्वस्तिक से अंकित हृदय से अध्यात्म प्रवृत्त होता है। दर्शन कभी सत्य रूप व कभी असत्य रूप तथा शुद्धतत्त्व विहीन होता है, जबकि अध्यात्म सदा, सर्वथा सत्य रूप व भास्वत बना रहता है। दर्शन का आयुध शब्द एवं विचार बताया गया है, जबकि अध्यात्म निरायुध व निर्विचार कहा गया है। अस्तु, दर्शन व अध्यात्म सम्बन्धी यह मीमांसा इस कवि के द्वारा अनेकानेक संकल्पों-विकल्पों में व्यस्त जीवन दर्शन की झाँकी प्रस्तुत करती है :

"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।/दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
चल सकता है,/चलता ही है/पर, हाँ!/बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।
...दर्शन के आस-पास ही घूमती है/तथता और वितथता/यानी,
कभी सत्य-रूप व कभी असत्य-रूप/होता है दर्शन, जबकि
अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप ही/भास्वत होता है।
स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।/...बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही
दर्शन का पान करती है,/अन्तर्मुखी, बन्दमुखी चिदाभा
निरंजन का गान करती है।/दर्शन का आयुध शब्द है–विचार,
अध्यात्म निरायुध होता है।/सर्वथा स्तब्ध-निर्विचार!
एक ज्ञान है, ज्ञेय भी/एक ध्यान है, ध्येय भी।" (पृ. २८८-२८९)

कवि विद्यासागर के द्वारा व्यक्त अध्यात्म और दर्शन सम्बन्धी व्याख्या अति गहन तथा रहस्य भरपूर है। वह दर्शन तथा अध्यात्म को मानवीय जीवन के आधार समझने में सन्देह प्रकट करता है और सदाशय, सदाचार व सन्तोष जैसे मानव-मूल्यों को मानव-जीवन के अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करता है। स्पष्ट है यह कवि एक धर्मोपदेशक की भाँति मूल्यों को जीवन-यापन में धारण करने की सलाह भी देता है। 'मूकमाटी' में सन्तोष की ग्रहणशीलता सम्बन्धी व्याख्या हुई है :

"बिना सन्तोष, जीवन सदोष है/यही कारण है, कि
प्रशंसा—यश की तृष्णा से झुलसा/यह सदोष जीवन
सहज जय-घोषों की, सुखद गुणों की
सघन-शीतल छाँव से वंचित रहता है।" (पृ. ३३९)

जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र को 'त्रिरत्न' कहा गया है। इन्हें जैन दर्शन के मूलाधार भी बताया गया है। दूसरे शब्दों में मोक्ष का मार्ग जैन धर्म में पूर्ण आस्था, जैन धर्म के उपदेशों का पूर्ण ज्ञान तथा आचरण सम्मत जीवन-यापन से प्रशस्त होता है।

'मूकमाटी' का कवि सत्य-असत्य के निरूपण में अपने दार्शनिक भावों को वाणी देता है। सत् की खोज में लीन दृष्टि सत्-युग और असत्–विषय-विकारों में डूबी हुई, सत् को असत् स्वीकार करने वाली भ्रमित दृष्टि कलियुग की आख्यायिका बनती है। सत् शान्ति का मानस और असत् भ्रान्तिमय बना रहता है। असत् व्यष्टिपरक और सत् समष्टिपरक होता है। सत् अमृत समान होकर शिव रूप की सृष्टि करता है, जबकि असत् मृतक व कान्तिविहीन होकर शव रूप धारण करता है। इस कवि की सत्-असत् सम्बन्धी व्याख्या प्रस्तुत है :

"सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/और
असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ/सत् को असत् मानने वाली दृष्टि
स्वयं कलियुग है, बेटा !/...सत् की आँखों में/शान्ति का मानस ही
लहराता है सदा/एक की दृष्टि/व्यष्टि की ओर/भाग रही है,
एक की दृष्टि/समष्टि की ओर/जाग रही है,
...एक का जीवन/मृतक-सा लगता है/कान्तिमुक्त शव है,
एक का जीवन/अमृत-सा लगता है/कान्तियुक्त शिव है।" (पृ. ८३-८४)

इसीलिए, यह कवि–"सत्य-धर्म की जय हो !/सत्य-धर्म की जय हो !!"(पृ. २१६) का जयघोष आलाप उठता है।

आचरण की शुद्धता मानव-जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। शुद्ध सात्त्विक जीवन-यापन का पक्षधर बनता हुआ यह कवि संकर-दोष से मुक्त होने के लिए वर्ण-लाभ को मानव-जीवन का औदार्य व साफल्य स्वीकार करता हुआ 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' के सिद्धान्त की व्याख्या भी करता है :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है
इससे यही फलित हुआ,/अलं विस्तरेण !" (पृ. ४९)

सम्भवतः इसीलिए 'मूकमाटी' में जिज्ञासुओं को नर से नारायण बनने का भव्य सन्देश दिया गया है :

"ऋषि - सन्तों का/सदुपदेश - सदादेश/हमें यही मिला कि
पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।
अयि आर्य !/नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।" (पृ. ५०-५१)

वास्तव में जैन धर्मावलम्बी यह कवि मानव-जीवन को शुभ संस्कारों से सम्पुष्ट बनाकर वीतराग श्रमण-संस्कृति के निरूपण के लिए दृढ़संकल्पित है। अस्तु, आचार्य विद्यासागर जीवन में शुभ तत्त्व के प्रतिष्ठापन के लिए- "लघुता का त्यजन हो/गुरुता का यजन हो"—के मूलभूत सिद्धान्त की पक्षधरता करने लगता है।

जीवन में सत्यगामी बने रहना, क्रोधादि निषेध, आत्म-नियन्त्रण, मन और वचन से सात्त्विकता के प्रति अनुरक्त बने रहना आदि मानव-जीवन के अनिवार्य तत्त्व माने गए हैं। यहाँ अहिंसा को मानव धर्म का प्रमुख अंग स्वीकार किया गया है। 'मनुस्मृति' में स्पष्ट कहा गया है :

"अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा।
आर्जवश्चैव राजेन्द्र ! निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥"

परन्तु जैनधर्म में अहिंसा को उपास्य देवता के रूप में मान्यता प्राप्त है और जहाँ जीव-अजीवों के प्रति जो प्रेम तथा दयाभाव दर्शाया गया है, वह बौद्ध आदि अन्य धर्मों से कहीं अधिक है। 'अहिंसा परमो धर्मः'—जैन धर्म का मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्त है। 'मूकमाटी' के रचयिता ने भी अहिंसा की विशद व्याख्या की है। इस कवि ने रस्सी और रसना के संवाद में शिल्पी के संयमी स्वभाव को उद्घाटित करके हिंसा के प्रति निन्दा-प्रदर्शन व अहिंसा की पक्षधरता को जीवन यापन में प्रमाणित किया है :

"मेरे स्वामी संयमी हैं/हिंसा से भयभीत,/और
अहिंसा ही जीवन है उनका।/उनका कहना है/कि
संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है
जो यथा-योग्य/सही आ'''दमी है।" (पृ. ६४)

यही नहीं, इस कवि ने स्वीकार किया है कि जीवन से जुड़ी हुई विविध क्रियाओं में गतिरोध (ग्रन्थि) हिंसा की सम्पादिका बनती है। इसीलिए इस रचना में निर्ग्रन्थ जीवन-यापन पर बल दिया गया है, क्योंकि ऐसे जीवन यापन की संसार में चर्चा-अर्चा-प्रशंसा बनी रहती है :

"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है
वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।/अर्थ यह हुआ कि
ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही
अहिंसा पलती है,/पल-पल पनपती,/'''बल पाती है।
हम निर्ग्रन्थ-पन्थ के पथिक हैं/इसी पन्थ की हमारे यहाँ
चर्चा-अर्चा-प्रशंसा/सदा चलती रहती है।" (पृ. ६४)

यह कवि अहिंसा के प्रति इतना अनुरक्त है कि अहिंसा की पूजा करने का आह्वान करने लगता है :

"हिंसा की हिंसा करना ही/अहिंसा की पूजा है···प्रशंसा,/और
हिंसक की हिंसा या पूजा/नियम से/अहिंसा की हत्या है···नृशंसा।" (पृ.२३३)

'मूकमाटी' में अन्यत्र ज्ञानेन्द्रियों को खिड़कियाँ, शरीर को भवन कहा है, जिसमें बैठकर प्राणी इन ज्ञानेन्द्रियों रूपी खिड़कियों से अपने वासना रूपी नेत्रों के द्वारा झाँक कर विषय-विकारों का बोध करता है। इस कवि के द्वारा अपनाया गया रूपक दार्शनिक प्रक्रिया की साक्षी भरता है :

"विषयों का ग्रहण-बोध/इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है
विषयी-विषय-रसिकों को।/वस्तु-स्थिति यह है कि
इन्द्रियाँ ये खिड़कियाँ हैं/तन यह भवन रहा है,/भवन में बैठा-बैठा पुरुष
भिन्न-भिन्न खिड़कियों से झाँकता है/वासना की आँखों से
और/विषयों को ग्रहण करता रहता है।" (पृ. ३२९)

और जब मानव-शरीर पर से मन और वचन का बन्धन टूट जाता है तो वह मोक्षावस्था में शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है। उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् वह सांसारिक आवागमन से मुक्त हो जाता है। इस कवि का दार्शनिक शब्द चित्र प्रस्तुत है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही
मोक्ष है।/इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है
जिसे/प्राप्त होने के बाद,/यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है
तुम ही बताओ!" (पृ. ४८६-४८७)

वास्तव में मोक्ष-प्राप्ति को मानव-जीवन का अन्तिम ध्येय स्वीकार किया गया है, जिसे जैन धर्म में 'निर्वाण प्राप्ति' कहा गया है। 'मूकमाटी' के द्वितीय खण्ड में "वसन्त का अन्त हो चुका है/अनन्त में सान्त खो चुका है" (पृ. १७७)—शब्द इस कवि के द्वारा जन्म-मरण के चक्र की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इसे इस कवि ने प्रकृति का अकाट्य नियम बताया है :

"जिसने मरण को पाया है/उसे जनन को पाना है/और
जिसने जनन को पाया है/उसे मरण को पाना है
यह अकाट्य नियम है!" (पृ. १८१)

जैनधर्मावलम्बी यह कवि इस सिद्धान्त की व्याख्या दुग्ध व घृत के उदाहरण से अपने दार्शनिक प्रवचन के द्वारा प्रस्तुत करता है :

"दुग्ध का विकास होता है/फिर अन्त में/घृत का विलास होता है,
किन्तु/घृत का दुग्ध के रूप में/लौट आना सम्भव है क्या?
तुम ही बताओ!" (पृ. ४८७)

आचार्य विद्यासागर ने इस दृश्यमान् जगत् को पुरुष और प्रकृति का क्रीड़ा-स्थल कहकर पुरुष को एक कुशल

खिलाड़ी तथा प्रकृति को उसके हाथों का खिलौना मात्र बताया है, क्योंकि एक कुशल खिलाड़ी को प्रकृति का खिलौना नहीं समझना चाहिए :

"पुरुष और प्रकृति/इन दोनों के खेल का नाम ही
संसार है, यह कहना/मूढ़ता है, मोह की महिमा मात्र !
खेल खेलने वाला तो पुरुष है/और/प्रकृति खिलौना मात्र !
स्वयं को खिलौना बनाना/कोई खेल नहीं है,
विशेष खिलाड़ी की बात है यह !" (पृ.३९४)

इस कवि की प्रकृति तथा पुरुष के सम्बन्ध की व्याख्या पुरुष को धरती पर महिमामण्डित सृजनशीलता की द्योतिका सिद्ध करता है। अन्यत्र इस रचना में पुरुष व प्रकृति के सम्बन्ध को साधना की रीति के शाश्वत सत्य के द्वारा भी दर्शाया गया है, जो इस कवि के दार्शनिक चिन्तन का परिचायक है :

"प्रकृति के विपरीत चलना/साधना की रीत नहीं है।
बिना प्रीति, विरति का पलना/साधना की जीत नहीं,
...पुरुष होता है भोक्ता/और/भोग्या होती प्रकृति।" (पृ. ३९१)

इस दार्शनिक कवि ने अन्यान्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या एवं तुलना से भी अपनी दार्शनिक मन:स्थिति का परिचय दिया है। 'स्वभाव' और 'विभाव' शब्दों के अन्तर को स्पष्ट करता हुआ यह कवि कहता है :

"जल जीवन देता है/हिम जीवन लेता है,/स्वभाव और विभाव में
यही अन्तर है,/यही सन्तों का कहना है/जो/जग-जीवन-वेत्ता हैं।" (पृ.५४)

मानव जीवन में संयम की राह पर चल कर राही बने रहना 'हीरा' बनना है और प्राणी अपने तन और मन को तपस्या की अग्नि के साथ तपा-तपा कर राख बना लेता है, तो उसकी चेतना 'खरा' रूप धारण कर लेती है :

"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही ही···रा
...तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर
जला-जला कर/राख करना होगा/यतना घोर करना होगा
तभी कहीं चेतन—आत्मा/खरा उतरेगा।/खरा शब्द भी स्वयं
विलोम-रूप से कह रहा है—/राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?
रा···ख ख···रा।" (पृ. ५७)

पुन: इस कवि ने 'मूकमाटी' के अन्यान्य प्रसंगों में 'स्व' और 'पर' की चर्चा करके अपनी दार्शनिक सूझ का बोध कराया है। कुम्भ व स्फटिक झारी के वार्तालाप में इस कवि ने शुद्ध ज्ञान तथा इसके द्वारा फल-प्राप्ति के महत्त्व को भी प्रतिपादित किया है।

'कला' शब्द को लेकर कवि विद्यासागर ने सुख-शान्ति-सम्पन्नता की जो चर्चा की है, वह नि:सन्देह इस कवि की दार्शनिक अन्तरात्मा की परिचायक है :

"कला शब्द स्वयं कह रहा कि/'क' यानी आत्मा—सुख है
'ला' यानी लाना—देता है/कोई भी कला हो/कला मात्र से जीवन में
सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।/न अर्थ में सुख है/न अर्थ से सुख है!" (पृ. ३९६)

अन्यत्र इस रचना में कुम्भ के मुख मण्डल पर अंकित कछुवे और खरगोश के चित्र साधक को यदि साधना की विधि बता कर—"प्रमाद पथिक का परम शत्रु है" (पृ. १७२)—की ओर संकेत करते हैं, तो 'ही' और 'भी' दो बीजाक्षरों से रचनाकार ने जिस दर्शन का प्रतिनिधित्व किया है, वह 'ही' से एकान्तवाद तथा 'भी' से अनेकान्त व स्याद्वाद है।

'मूकमाटी' में अन्यान्य उक्तियों की भी इस कवि ने दार्शनिक व्याख्या की है। यह कवि जन्म-मरण अर्थात् संसार में प्राणी के आने-जाने को—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' (पृ. १८४) उक्ति की व्याख्या के द्वारा प्रस्तुत करता है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और/है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

जैनधर्म में किसी जगत्-नियन्ता के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखा गया। आचार्य विद्यासागरजी ने भी कालचक्र को शाश्वत मानकर मात्र इसे ही परम सत्ता का रहस्य कहा है और प्राणीमात्र सदा काल के प्रवाह में बहता रहता है और इसे ही प्राणी का कर्म बताया गया है : *"यह एक नदी का प्रवाह रहा है—/काल का प्रवाह, बस/बह रहा है।/लो, बहता-बहता/कह रहा है, कि/जीव या अजीव का यह जीवन/पल-पल इसी प्रवाह में/बह रहा/बहता जा रहा है,/यहाँ पर कोई भी/स्थिर-ध्रुव-चिर/न रहा, न रहेगा, न था/बहाव बहना ही ध्रुव/रह रहा है,/सत्ता का यही, बस/रहस रहा, जो विहँस रहा है।"* (पृ. २९०)

'मूकमाटी' के चतुर्थ खण्ड में एक धर्मोपदेशक सन्त के द्वारा अज्ञानी सेठ को 'सन्त समागम' का सन्देश भी दिलवाया है। अज्ञानी सेठ धर्मोपदेश का सार ग्रहण करके अनमने भाव से घर लौट जाता है। मानों उसे जीवन का सही गन्तव्य दृश्यमान् हो गया हो। सेठ की उदास मुख-मुद्रा को देख कर गौरवशाली कुम्भ कहता है : *"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है/संसार का अन्त दिखने लगता है,/समागम करनेवाला भले ही/तुरन्त सन्त-संयत/बने या न बने/इसमें कोई नियम नहीं है,/किन्तु वह/सन्तोषी अवश्य बनता है।/सही दिशा का प्रसाद ही/सही दशा का प्रासाद है"* (पृ.३५२)। इस रचना में श्रमण संस्कृति के प्रति जिस विश्वास को दर्शाया गया है, वह भी इस कवि की दार्शनिक चेतना की आख्यायिका है। इस कवि का मत है कि प्राणीमात्र के अक्षय सुख-सम्बन्ध उसके आचरण की शुद्धता के कारण बने रहते हैं। इसीलिए यह कवि जीवन के प्रति विश्वस्त बने रहने की अनुमति देता है। उसका कथन है कि प्राणी को जब जीवन की सही मंज़िल मिल जाती है तो उसके विश्वासों को अनुभूति की संज्ञा उपलब्ध हो जाती है। आचरण की शुद्धता से घनीभूत और सजग अनुभूतिशील प्राणी सर्वहित की मंगल कामना की पुण्य भावना से सराबोर हो जाता है। और जीवन में सुख-समृद्धि की कामना करने लगता है :

"यहाँ··· सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता

हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठे/···बस !'' (पृ. ४७८)

व्युत्पत्ति के अनुसार 'ज्ञान के प्रति अनुराग'—दर्शन है। दर्शन की इस परिभाषा में 'ज्ञान' शब्द से तात्पर्य मात्र तथ्यों का बोध ही नहीं होता, वरन् विश्व तथा मानव-जीवन सम्बन्धी गहनतम प्रश्नों की जानकारी भी है। अनुराग शब्द केवल बौद्धिक छान-बीन तक सीमित नहीं है, उसका भावात्मक पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है, जो दर्शन की नीरसता को साहित्य की व्यावहारिकता तथा सर्वहित की मंगलमय पुण्यभावना से जोड़ता है। 'मूकमाटी' के कवि ने इस रचना में ज्ञान तथा अनुराग में जो भावात्मक समन्वय स्थापित किया है, वह इस रचना की विशेष उपलब्धि है। साथ ही इस कवि ने दर्शन सम्बन्धी तत्त्व, ज्ञान व तर्कशास्त्रीय पक्षों की नैतिक तथा कलात्मक जीवन स्थितियों के माध्यम से जो व्याख्या की है, वह जीवन से जुड़े हुए कई दार्शनिक प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करती है।

वस्तुतः जीवन-दर्शन कलाकार की जीवन की आलोचना होती है और इस दार्शनिक कवि ने कुम्भ की सृजनशीलता के द्वारा मानवीय जीवन सम्बन्धी जिन लघुतम तथा उदात्त जीवन स्थितियों की व्याख्या की है, वह उसे एक कवि के साथ-साथ दार्शनिक व्याख्याकार की संज्ञा से अभिहित कर सकता है। निःसन्देह इस कवि के पास कविता के साथ-साथ निश्चित काव्य विधि है, जिसे अपनाकर वह जीवन-दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसीलिए हमारा मत है कि आचार्य विद्यासागर दार्शनिक व्याख्याकार अधिक हैं और कवि कम।

□



पृष्ठ १९८.
सुत को प्रसूत करू···
····· प्रसूती माँ की
आँखों में/रोती हुई ऊषा,

'मूकमाटी' : आध्यात्मिक चिन्तन का अपूर्व भण्डार

डॉ. कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'

आचार्य विद्यासागर प्रणीत 'मूकमाटी' महाकाव्य आध्यात्मिक चिन्तन का अभूतपूर्व भण्डार है। माटी जैसी तुच्छ वस्तु को महाकाव्य की विषयवस्तु बनाकर और उसे मंगल घट के रूप में दर्शाकर आत्मा की विशुद्ध स्थिति को उद्घाटित करने में प्रदर्शित आचार्यश्री की सूझ-बूझ स्तुत्य है।

दार्शनिक एवं धार्मिक पक्ष

दार्शनिक एवं धार्मिक विषयों की विवेचना में आचार्यश्री ने पूर्वाचार्य-विचारधारा का अनुगमन किया है। संसारी प्राणी की स्वाभाविक स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होंने उसे अशान्त बताकर उसकी शान्ति-खोज का गहराई से अध्ययन किया और उन्होंने पाया कि शान्ति की खोज जड़ (शरीर) में की जा रही है जबकि शान्ति उसमें नहीं है : *''जड़ में शीतलता कहाँ...?'' (पृ. ८५)*।

शान्ति के प्रसंग में आचार्यश्री का चिन्तन है कि जड़ की चिन्ता छोड़नी होगी। जड़ (शरीर) शव है। शिव के लिए जड़ का—शव का उपयोग आवश्यक है, किन्तु राग नहीं। उन्होंने इस तथ्य को इस प्रकार लिखा है:

''शव में आग लगाना होगा,/और/शिव में राग जगाना होगा।'' (पृ. ८४)

शान्ति के लिए अपेक्षित है साधना और साधना के किए अपेक्षित है आस्था—तत्त्व श्रद्धा। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य हैं कवि के निम्न विचार :

''आस्था के तारों पर ही/साधना की अँगुलियाँ/चलती हैं साधक की।'' (पृ. ९)

आस्था बोधगम्य होती है। कवि ने नदी और सागर के दृष्टान्त द्वारा आस्था सम्बन्धी अपने विचार निम्न प्रकार अभिव्यक्त किए हैं :

''जो खिसकती-सरकती है/सरिता कहलाती है/सो अस्थाई होती है।
और/सागर नहीं सरकता/सो स्थाई होता है/परन्तु,
सरिता सरकती सागर की ओर ही ना!/अन्यथा,/न सरिता रहे, न सागर!
यह सरकन ही सरिता की समिति है,/यह निरखन ही सरिता की प्रमिति है,
बस यही तो आस्था कहलाती है।'' (पृ. ११९-१२०)

आस्था न दृश्य होती है न स्पृश्य। वह गूँगे की शर्करा है। पढ़िएगा कवि के विचार इस सन्दर्भ में :

''आस्था का दर्शन आस्था से ही सम्भव है/न आँखों से, न आशा से।'' (पृ. १२१)

कवि ने आस्था के लिए प्रतिकार और अतिचार को हेय बताया है। ध्यातव्य है माता का मिट्टी को उपदेश :

''प्रतिकार की पारणा/छोड़नी होगी, बेटा!/अतिचार की धारणा
तोड़नी होगी, बेटा!/अन्यथा,/कालान्तर में निश्चित/ये दोनों

आस्था की आराधना में/विराधना ही सिद्ध होगी !" (पृ. १२)

प्रस्तुत महाकाव्य में व्यवहृत आस्था और ज्ञान या बोधि शब्द आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के नाम से वर्णित हैं। इनमें आचार्यश्री द्वारा प्रणीत आस्था सम्बन्धी विचारधारा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ज्ञान निम्न प्रकार परिभाषित है :

" 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में/जानना ही सही ज्ञान है,
और/'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ. ३७५)

सम्यक् चारित्र का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कवि ने लिखा है कि आस्था पर्वत का मूल है और चारित्र है चूल फल पाने के लिए चूल पर पहुँचना ही पड़ता है और वहाँ पहुँचना जैसे चरणों का प्रयोग किए बिना सम्भव नहीं है, ऐसे ही सम्यक् चारित्र के बिना फल-प्राप्ति नहीं। इन विचारों को पढ़िए कवि के शब्दों में :

"पर्वत की तलहटी से भी/हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का
दर्शन होता है,/परन्तु/चरणों का प्रयोग किये बिना
शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है !" (पृ. १०)

सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र दोनों की उपयोगिता दर्शाने के लिए कवि ने वृक्ष का अनुपम उदाहरण दिया है। जैसे, मूल के बिना वृक्ष स्थिर नहीं रहता इसलिए मूल चाहिए ही, किन्तु यह भी सच है कि मूल में फल नहीं लगते। वे तो वृक्षों के चूल में फलते हैं। उन्हें पाने के लिए चूल तक पहुँचना होता है। यह चूल तक पहुँचने की क्रिया ही है—सम्यक् आचरण। इसका तात्पर्य है कि फल-प्राप्ति के लिए साधक को दोनों आवश्यक हैं। कवि की यह विचारधारा निम्न शब्दों में व्यक्त हुई है :

"यह बात सही है कि,/आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं,
परन्तु/मूल में कभी/फूल खिले हैं ?/फलों का दल वह
दोलायित होता है/चूल पर ही आखिर !" (पृ. १०)

साधना के क्षेत्र में कवि की अनुभूति में गहराई है। कवि के विचार हैं :

"निरन्तर अभ्यास के बाद भी/स्खलन सम्भव है।" (पृ. ११)

आचार्यों ने सम्यक् ज्ञान को आस्था और आचरण के मध्य सम्भवतः इसीलिए स्थान दिया है, ताकि वह दोनों को सँभाले रहे। सच है सम्यक् ज्ञान ही एक है जो दोनों की स्थिति बनाए रख सकता है। साधना की प्राथमिक दशा में बहुत धैर्य और बल चाहिए। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य हैं कवि की निम्न पंक्तियाँ :

"भले ही वह/आस्था हो स्थायी/हो दृढ़ा, दृढ़तरा भी/तथापि
प्राथमिक दशा में/साधना के क्षेत्र में/स्खलन की सम्भावना
पूरी बनी रहती है, बेटा !/स्वस्थ-प्रौढ़ पुरुष भी क्यों न हो
काई लगे पाषाण पर/पद फिसलता ही है !" (पृ. ११)

जब साधना काल में प्रतिकूलताएँ जन्मती हैं तब साधक के गुमराह हो जाने की और गम की आहें निकलने की

सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। ऐसी स्थिति में सम्यक् ज्ञान स्थिर नहीं रह पाता। कवि के विचार इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं निम्न पंक्तियों में :

"बोधि की चिड़िया वह/फुर्र क्यों न कर जायेगी ?
क्रोध की बुढ़िया वह/गुर्र क्यों न कर जागेगी ?" (पृ. १२)

साधना से स्खलित व्यक्ति का जीवन विफल हो जाता है। उसके जीवन में सार्थकताओं का अभाव हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के सन्दर्भ में कवि ने निम्न दो पंक्तियों में ही सार रूप में सब कुछ कह दिया है। पंक्तियाँ हैं :

"साधना-स्खलित जीवन में/अनर्थ के सिवा और क्या घटेगा ?" (पृ. १२)

मोक्ष : आचार्यश्री ने जिसे आस्था, बोधि और आचरण कहा है, अध्यात्म के क्षेत्र में उनके अपर नाम हैं– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इन तीनों के समन्वित रूप का फल है मोक्ष। कवि ने मोक्ष की निम्न व्याख्या की है :

"पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और
अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है···।" (पृ. ९३)

इन पंक्तियों में स्व स्वभाव में रमण करने को मोक्ष संज्ञा दी गई है। यह भी समझा दिया गया है कि मोह विभाव है। जो उसमें पड़ेगा वह संसार में ही भटकेगा। स्वभाव और विभाव क्या हैं ? उनका फल क्या है ?–कवि ने इसे निम्न पंक्तियों में समझाया है :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सबको छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

कवि ने मोक्ष के सन्दर्भ में ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को ही बाधक नहीं माना है अपितु उन्होंने तन, मन और वचन को मिटा देना ही मोक्ष कहा है। ठीक है–'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।' जब ये तीनों ही नहीं होंगे तो अष्ट कर्मों के बन्धन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा।

कवि ने दूध का सटीक उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि जैसे दूध के घी बन चुकने पर वह पुनः दूध नहीं बन पाता, इसी प्रकार मोक्ष धाम में पहुँचा जीव लौटकर संसार में नहीं आता। इन विचारों की अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ !
दुग्ध का विकास होता है/फिर अन्त में/घृत का विलास होता है,
किन्तु/घृत का दुग्ध के रूप में/लौट आना सम्भव है क्या ?
तुम ही बताओ !" (पृ. ४८६-४८७)

सत्य और तथ्य : कवि ने आचार्य उमास्वामी के 'तत्त्वार्थसूत्र' (५/३०) में आए 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए सत् को ही सत्य और तथ्य संज्ञा दी है। इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं कवि की निम्न पंक्तियाँ :

"आना,जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन–उत्पाद है
जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है
और/है यानी चिर–सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

कर्म-व्यवस्था : ऊपर कथित चेतन की संसार में आने और जाने की क्रिया तब तक बनी रहती है जब तक कर्मों का संश्लेषण बना रहता है। चेतन चाहे तो विश्लेषण करके उनसे मुक्त हो सकता है। कवि ने इन विचारों को निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है :

"कर्मों का संश्लेषण होना,/आत्मा से फिर उनका
स्व-पर कारणवश/विश्लेषण होना,/ये दोनों कार्य
आत्मा की ही/ममता-समता-परिणति पर/आधारित हैं।" (पृ. १५-१६)

दु:ख और सुख कृत कर्मों के फल हैं। उनकी प्राप्ति में किसी अन्य को हेतु मानना अपने भविष्य को ही दूषित करना है। कवि ने इस सत्य को सीता-हरण का उदाहरण देकर भली प्रकार उद्घाटित किया है। ध्यातव्य हैं निम्न पंक्तियाँ :

"रावण ने सीता का हरण किया था/तब सीता ने कहा था :
यदि मैं/इतनी रूपवती नहीं होती/रावण का मन कलुषित नहीं होता
और इस/रूप-लावण्य के लाभ में/मेरा ही कर्मोदय कारण है,
यह जो/कर्म-बन्धन हुआ है/मेरे ही शुभाशुभ परिणामों से !
ऐसी दशा में रावण को ही/दोषी घोषित करना
अपने भविष्य-भाल को/और दूषित करना है।" (पृ. ४६८-४६९)

कवि ने कर्म-संश्लेषण का कारण ममता बताया है। यही ममता है मोह। कवि ने मोह की परिभाषा की है : *"वासना का विलास/मोह है"* (पृ. ३८)। इसका तात्पर्य है कि इन्द्रिय-विषय मोह के मूल हैं। इन्द्रिय-विषयों में कवि ने रसनेन्द्रिय-विषय को सबसे अधिक दु:खोत्पादक माना है। इस सन्दर्भ में निम्न पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं :

"रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ व्यक्ति/कभी भी किसी भी वस्तु के
सही स्वाद से परिचित नहीं हो सकता।" (पृ. २८१)

सन्त : कवि ने सन्तों के सम्बन्ध में भी अच्छा अध्ययन किया है। उनके अनुसार संसार का अन्त सन्त ही करते हैं किन्तु वे सभी सन्तों को सन्त नहीं मानते। उन्होंने लिखा है :

"जो रागी है और द्वेषी भी,/सन्त हो नहीं सकता वह/और
नाम-धारी सन्त की उपासना से/संसार का अन्त हो नहीं सकता।" (पृ. ३६३)

संसार का अन्त करने वाले सन्तों को कवि ने 'पात्र' संज्ञा दी है। उनके अनुसार पात्र कैसा हो, यह जानने के लिए ध्यातव्य हैं इस महाकाव्य की निम्न पंक्तियाँ :

"पात्र हो पूत-पवित्र/पद-यात्री हो, पाणिपात्री हो
पीयूष-पायी हंस-परमहंस हो,/अपने प्रति वज्र-सम कठोर

पर के प्रति नवनीत···/···मृदु और/पर की पीड़ा को अपनी पीड़ा का
प्रभु की ईडा में अपनी क्रीड़ा का/संवेदन करता हो।
पाप-प्रपंच से मुक्त, पूरी तरह/पवन-सम निःसंग/परतन्त्र-भीरु,
दर्पण-सम दर्प से परीत/हरा-भरा फूला-फला/पादप-सम विनीत।
नदी-प्रवाह-सम लक्ष्य की ओर/अरुक, अथक···गतिमान।
मानापमान समान जिन्हें,/योग में निश्चल मेरु-सम,
उपयोग में निश्छल धेनु-सम,/लोकैषणा से परे हों/मात्र शुद्ध-तत्त्व की
गवेषणा में परे हों;/छिद्रान्वेषी नहीं/गुण-ग्राही हों,/प्रतिकूल शत्रुओं पर
कभी बरसते नहीं,/अनुकूल मित्रों पर/कभी हरसते नहीं,/और
ख्याति-कीर्ति-लाभ पर/कभी तरसते नहीं।
क्रूर नहीं, सिंह-सम निर्भीक/किसी से कुछ भी माँग नहीं भीख,
प्रभाकर-सम परोपकारी/प्रतिफल की ओर/कभी भूल कर भी ना निहारें,
निद्राजयी, इन्द्रिय-विजयी/जलाशय-सम सदाशयी
मिताहारी, हित-मित-भाषी/चिन्मय-मणि के हों अभिलाषी;
निज-दोषों के प्रक्षालन हेतु/आत्म-निन्दक हों,
पर-निन्दा करना तो दूर,/पर-निन्दा सुनने को भी
जिनके कान उत्सुक नहीं होते/मानो हों बहरे!
यशस्वी, मनस्वी और तपस्वी/होकर भी,/अपनी प्रशंसा के प्रसंग में
जिनकी रसना गूँगी बनती है।/सागर-सरिता-सरवर-तट पर/जिनकी
शीत-कालीन रजनी कटती,/फिर/गिरि पर कटते ग्रीष्म-दिन
दिनकर की अदीन छाँव में।" (पृ. ३००-३०२)

परीषह और उपसर्ग : साधना के क्षेत्र में परीषहों का अपना महत्त्व है। कवि ने स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति में परीषह और उपसर्गों का विशेष महत्त्व बताया है। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य हैं निम्न पंक्तियाँ :

"परीषह-उपसर्ग के बिना कभी/स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई,न होगी/त्रैकालिक सत्य है यह!" (पृ. २६६)

मुक्ति-साधना के क्षेत्र में अग्नि-परीक्षा-सी होती है। उसमें अनेक परीषह और उपसर्ग आते हैं। जो साधक उन्हें भेद-विज्ञान का सहारा लेकर सह लेता है, वे मुक्त हो जाते हैं। कवि ने लिखा है :

"अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक/किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,
न ही भविष्य में मिलेगी।" (पृ. २७५)

तप : कर्म-निर्जरा तप से ही होती है। कर्म तब तक साथ नहीं छोड़ते जब तक उन्हें तप रूपी अग्नि का स्पर्श नहीं होता। तप का अभाव संसार का सद्भाव है। इस सम्बन्ध में पढ़िए कवि के विचार :

"तप के अभाव में ही/तपता रहा है अन्तर्मन यह

अनल्प संकल्प-विकल्पों से, कल्प-कालों से।" (पृ. १७६)

हिंसा-अहिंसा : प्रस्तुत महाकाव्य में हिंसा और अहिंसा की व्याख्याएँ मौलिक हैं। गम्भीर चिन्तन की प्रतीक हैं वे :

"जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।
अर्थ यह हुआ कि/ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और
निर्ग्रन्थ दशा में ही/अहिंसा-पलती है।" (पृ. ६४)

अनेकान्त-स्याद्वाद : अनेकान्त में समाहित होता है भाव 'भी'– सबकी गरिमा का, और एकान्तवाद में अकेलेपन का– 'ही' का। 'भी' और 'ही' के माध्यम से कवि ने इस प्रकार कहा है :

" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
...'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है।" (पृ. १७२-१७३)

अर्थ और परमार्थ : अर्थ और परमार्थ साथ-साथ नहीं चलते। अर्थ-लिप्सु परमार्थ से दूर रहते हैं। आचार्यश्री का विचार है :

"अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं।" (पृ. १९२)

अर्थाभिलाषी वीतराग देव से अर्थ माँगने में नहीं चूकता किन्तु कवि ने इस याचना को अच्छा नहीं माना है। उन्होंने अर्थ को इतना महत्त्व नहीं दिया है जितना परमार्थ को :

"अर्थ का अभाव कोई अभाव नहीं है/और
प्रभु से अर्थ की माँग करना भी/व्यर्थ है ना!" (पृ. २५३)

साधना-रीति : साधना के दो रूप दिखाई देते हैं–बाह्य और आभ्यन्तरिक। बाह्य साधना जन्मती है दमन से। इसमें मन का योगदान नहीं रहता। फलस्वरूप साधक की साधना से प्रीति नहीं होती। क्रियाओं में प्रदर्शन होता है। इस सन्दर्भ में कवि ने सुन्दर चिन्तन प्रस्तुत किया है :

"मात्र दमन की प्रक्रिया से/कोई भी क्रिया/फलवती नहीं होती है,
...प्रकृति से विपरीत चलना/साधना की रीत नहीं है।
बिना प्रीति, विरति का पलना/साधना की जीत नहीं।" (पृ. ३९१)

साधक सहता है सब कुछ, सहर्ष। आपदाओं से करता है संघर्ष। आचार्यश्री का अनुभव इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है :

"सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में।" (पृ. १९०)

निमित्त-उपादान : कवि ने उपादान को कार्य का जनक नहीं माना है। उसके ऐसा होने में उन्होंने निमित्त की अनिवार्यता पर बल दिया है। कवि के विचार हैं :

"उपादान का कोई यहाँ पर/पर-मित्र है ···तो वह/निश्चय से निमित्त है
जो अपने मित्र का/निरन्तर नियमित रूप से/गन्तव्य तक साथ देता है।" (पृ. ४८१)

सल्लेखना : जैन दर्शन में मरण के अनेक प्रकार बताए गए हैं। सल्लेखना भी मरण का ही एक भेद है। ऐसा मरण अच्छा माना गया है। कवि की दृष्टि में सल्लेखना का स्वरूप निम्न प्रकार है :

"सल्लेखना, यानी/काय और कषाय को/कृश करना होता है, बेटा !
काया को कृश करने से/कषाय का दम घुटता है/···घुटना ही चाहिए ।
और/काया को मिटाना नहीं,/मिटती-काया में/मिलती-माया में
म्लान-मुखी और मुदित-मुखी/नहीं होना ही/सही सल्लेखना है, अन्यथा
आतम का धन लुटता है, बेटा !" (पृ. ८७)

श्रीफल : श्रीफल, जिसे लौकिक भाषा में नारियल कहा जाता है, धार्मिक अवसर पर मंगल के रूप में उसे मंगल कलश पर विराजमान किया जाता है। अन्य फल भी हैं किन्तु श्रीफल को ही यह सम्मान क्यों प्राप्त हुआ ? इस सन्दर्भ में कवि का चिन्तन है :

"प्रायः सब की चोटियाँ/अधोमुखी हुआ करती हैं,/परन्तु
श्रीफल की ऊर्ध्वमुखी है।/हो सकता है/इसीलिए श्रीफल के दान को
मुक्ति-फल-प्रद कहा हो।" (पृ. ३११)

लौकिक पक्ष

शब्द प्रयोग : प्रस्तुत महाकाव्य में शब्दों की प्रयोग शैली इतर महाकाव्यों की अपेक्षा भिन्न है। इसमें सन्धि-विच्छेद द्वारा शब्द के मूल अर्थ में परिवर्तन दर्शाया गया है। यह दो प्रकार से हुआ है—मूल शब्द का शब्द-विच्छेद पूर्वक दो या कोई एक वर्ण बदलकर और केवल वर्ण-विच्छेद द्वारा।

अ : ऐसे शब्द जिनमें सन्धि-विच्छेद के पश्चात् दो वर्ण बदलकर अभीष्ट अर्थ प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ :

"निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

ब : मूल शब्दों का विच्छेद करके जहाँ केवल एक वर्ण बदलकर अभीष्ट अर्थ प्रस्तुत किया गया है। कुछ ऐसे शब्द हैं :

१. *"वही रसना है वही वसना है/किसी के भी रही वश ना है।" (पृ. ४५६)*
२. *"ओरी कलशी !/कहाँ दिख रही है तू/कल···सी ?" (पृ. ४१७)*
३. *"ओ माँ ! जलदेवता !/हमें यह दे बता।" (पृ. ४५६)*
४. *"माटी के कुम्भ में भरे पायस ने/पात्र-दान से पा यश*
उपशम-भाव में कहा, कि/तुम में पायस ना है
तुम्हारा पाय सना है/पाप-पंक से पूरा अपावन।"(पृ. ३६४)
५. *"चरण को छोड़कर/कहीं अन्यत्र कभी भी*
चर न ! चर ना !! चर ना !!!" (पृ. ३५९)
६. *"हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !" (पृ. ७३)*

स : ऐसे शब्द जिनका वर्ण-विच्छेद द्वारा भिन्न अर्थ निकाला गया है :

१. "ओरी रस्सी !/...आज तू/रस-सी नहीं !" (पृ. ६२)
२. "आदमी वही है/जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)
३. "यही मेरी कामना है कि/आगामी छोरछौन काल में
बस इस घट में/काम ना रहे !" (पृ. ७७)
४. "हर्षा की वर्षा की है/तेरी शीतलता ने/माँ ! शीत-लता हो तुम !" (पृ. ८५)
५. "किसलय ये किसलिए/किस लय में गीत गाते हैं ?" (पृ. १४१)
६. "मुख से बाहर निकली है रसना/थोड़ी-सी उलटी-पलटी,
कुछ कह रही-सी लगती है–/भौतिक जीवन में रस ना।" (पृ. १८०)
७. "मैं अंगना हूँ/परन्तु,/मात्र अंग ना हूँ···।" (पृ. २०७)
८. "हमें नाग और नागिन/ना गिन , हे वरभागिन् !" (पृ. ४३२)
९. "हम तो···अपराधी हैं/चाहते अपरा 'धी' हैं।" (पृ. ४७४)

द : ऐसे शब्द जहाँ वर्ण-मेल से अर्थ बदला गया है :

१. "मानव-मन पर/हिंसा का प्रभाव ना हो,/दिवि में, भू में
भूगर्भों में/जिया-धर्म की/दया-धर्म की/प्रभावना हो···!" (पृ. ७७-७८)
२. "तामसता काय-रता है/वही सही मायने में/भीतरी कायरता है !" (पृ. ९४)
३. "न-'मन' हो, तब कहीं/नमन हो 'समण' को।" (पृ. ९७)
४. "मर, हम 'मरहम' बनें···।" (पृ. १७५)
५. "घी-रता ही वृत्ति वह/धरती की धीरता है।" (पृ. २३३)
६. "काय-रता ही वृत्ति वह/जलधि की कायरता है।" (पृ. २३३)
७. "कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।" (पृ. ९२)
८. "मैं दो गला/...मैं दोगला।" (पृ. १७५)

पारिभाषिक शब्द : शब्दों में प्रयुक्त वर्णाश्रित व्याख्याओं में कवि का चिन्तन द्रष्टव्य है। प्रस्तुत हैं उदाहरणार्थ ऐसी कतिपय परिभाषाएँ :

१. " 'सं' यानी समीचीन/सार यानी सरकना···
जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।" (पृ. १६१)
२. " 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन–स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है।" (पृ. ३४९)
३. " 'पुरुष' यानी आत्मा–परमात्मा है/'अर्थ' यानी प्राप्तव्य–प्रयोजन है
आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही
सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)
४. " 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य–/यहाँ पर जो

भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)
५. " 'गद' का अर्थ है रोग/'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ
...बस,/और कुछ वांछा नहीं/गद-हा...गदहा...!" (पृ. ४०)

नारी सम्बन्धी अवधारणा : कवि का महिलाओं से सम्बन्धित चिन्तन द्रष्टव्य है, विशेषत: महिलाओं के नामों की व्याख्याओं में। इसके लिए अवलोकनीय हैं—नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, माता, अंगना आदि शब्द (पृ.२०१-२०७)।

इन परिभाषाओं में तो कवि की स्त्री-सम्बन्धी अवधारणा द्रष्टव्य है ही, साथ ही काव्य में अन्य स्थलों में भी यह अवधारणा दिखाई देती है। वे स्थल हैं :

१. "ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं,
और...वह भी.../स्त्री-पर्याय में—/अनहोनी-सी...घटना !" (पृ. २)
२. "स्वस्त्री हो या परस्त्री,/स्त्री-जाति का स्वभाव है,/कि
किसी पक्ष से चिपकी नहीं रहती वह।" (पृ. २२४)
३. "इसीलिए भूलकर भी/कुल-परम्परा संस्कृति का सूत्रधार
स्त्री को नहीं बनाना चाहिए।/और/गोपनीय कार्य के विषय में
विचार-विमर्श-भूमिका/नहीं बताना चाहिए।" (पृ. २२४)
४. "माँ की ममता है वह/सन्तान के प्रति/वंश-अंश के प्रति
ऐसा कदम नहीं उठा सकती/....कभी भूलकर भी,
सब कुछ कष्ट-भार/अपने ऊपर ही उठा लेती है/और
भीतर-ही-भीतर/चुप्पी बिठा लेती है।" (पृ. ५५)
५. "सन्तान की अवनति में/निग्रह का हाथ उठता है माँ का/और
सन्तान की उन्नति में/अनुग्रह का माथ उठता है माँ का।" (पृ. १४८)
६. "सन्तान की प्रकृति शैतानी है,/फिर भी सन्तान पर
माँ की कृपा होती ही है।" (पृ. ४७५)
७. "माँ की गौरवपूर्ण गोद में/गुस्से का घुस आना/न सुना, न देखा—
जिस गोद में सुख के क्षण/सहज बीतते हैं शिशु के।" (पृ. ४७६)

जीवन-मूल्य : कवि ने जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया है। उनके विचार भिन्न-भिन्न विषयों पर आश्रित हैं। कुछ उद्धरणीय अंश निम्न प्रकार हैं :

१. "अनुकूलता की प्रतीक्षा करना/सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)
२. "संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से/हर्षमय होता है।" (पृ. १४)
३. "दु:ख की वेदना में/जब न्यूनता आती है
दु:ख भी सुख-सा लगता है।" (पृ. १८)
४. "पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और
पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

५. "पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।" (पृ.५०-५१)
६. "निर्ग्रन्थ-दशा में ही/अहिंसा पलती है।" (पृ. ६४)
७. "सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं!" (पृ. ७१)
८. "सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा!/और
असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा!" (पृ. ८३)
९. "सुख या दुःख के लाभ में भी/भला छुपा हुआ रहता है,
देखने से दिखता है समता की आँखों से।" (पृ. ८७)
१०. "मन की छाँव में ही/मान पनपता है।" (पृ. ९७)
११. "ललाम चाम वाले/वाम-चाल वाले होते हैं।" (पृ. १०१)
१२. "दम सुख है, सुख का स्रोत।" (पृ. १०२)
१३. "मद दुःख है, सुख की मौत!" (पृ. १०२)
१४. "पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही/मोह का परिणाम है।" (पृ. १०९)
१५. "रसना ही/रसातल की राह रही है।" (पृ. ११६)
१६. "आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!" (पृ. १३३)
१७. "परमार्थ तुलता नहीं कभी/अर्थ की तुला में।" (पृ. १४२)
१८. "एक-दूसरे के सुख-दुःख में/परस्पर भाग लेना
सज्जनता की पहचान है।" (पृ. १६८)
१९. "प्रमाद पथिक का परम शत्रु है।" (पृ. १७२)
२०. "तप के अभाव में ही/तपता रहा है अन्तर्मन यह
अनल्प संकल्प-विकल्पों से, कल्प-कालों से।" (पृ. १७६)
२१. "पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना
मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।" (पृ. १८९)
२२. "सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में।" (पृ. १९०)
२३. "अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं।" (पृ. १९२)
२४. "प्रायः पुरुषों से बाध्य होकर ही
कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को।" (पृ. २०१)
२५. "पर-धन कंचन की गिट्टी भी/मिट्टी हो सज्जन की दृष्टि में!" (पृ. २१२)
२६. "स्त्री और श्री के चंगुल में फँसे/दुस्सह दुःख से दूर नहीं होते कभी।" (पृ.२१४)
२७. "हिंसा की हिंसा करना ही/अहिंसा की पूजा है···प्रशंसा।" (पृ. २३३)
२८. "माँ-पृथिवी की प्रतिष्ठा/दृढ़ निष्ठा के बिना/टिक नहीं सकती।" (पृ. २५२)
२९. "अर्थ का अभाव कोई अभाव नहीं है।" (पृ. २५३)

३०. "छल-बल से/हल नहीं निकलने वाला कुछ भी।" (पृ. २६१)
३१. "असंयमी संयमी को क्या देगा ?/विरागी रागी से क्या लेगा ?"(पृ. २६९)
३२. "नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी
अपने घुटने टेक देता है।" (पृ. २६९)
३३. "अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक/किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,
न ही भविष्य में मिलेगी।" (पृ. २७५)
३४. "शिष्टों पर अनुग्रह करना/सहज-प्राप्त शक्ति का
सदुपयोग करना है, धर्म है।" (पृ. २७६-२७७)
३५. "अध्यात्म स्वाधीन नयन है/दर्शन पराधीन उपनयन।" (पृ. २८८)
३६. "भक्त का भाव अपनी ओर/भगवान को भी खींच ले आता है।"(पृ. २९९)
३७. "परीक्षक बनने से पूर्व/परीक्षा में पास होना अनिवार्य है।" (पृ. ३०३)
३८. "मृदुता और काठिन्य की सही पहचान/तन को नहीं,
हृदय को छूकर होती है।" (पृ. ३११)
३९. "श्रमण का शृंगार ही/समता-साम्य है···।" (पृ. ३३०)
४०. "पर से स्व की तुलना करना/पराभव का कारण है
दीनता का प्रतीक भी।" (पृ. ३३९)
४१. "बिना सन्तोष, जीवन सदोष है।" (पृ. ३३९)
४२. "स्व की उपलब्धि ही सर्वोपलब्धि है।" (पृ. ३४०)
४३. "भाग्यशाली भाग्यहीन को/कभी भगाते नहीं, प्रभो !
भाग्यवान् भगवान् बनाते हैं।" (पृ. ३४२)
४४. "वैराग्य की दशा में/स्वागत-आभार भी/भार लगता है।" (पृ. ३५३)
४५. "कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं/होश के श्रमण होते विरले ही।"(पृ. ३६१)
४६. "श्रम करे···सो श्रमण !" (पृ. ३६२)
४७. "जो रागी है और द्वेषी भी,/सन्त हो नहीं सकता वह।" (पृ. ३६३)
४८. "तन और मन का गुलाम ही/पर-पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है।"(पृ.३७५)
४९. "स्वभाव समता से विमुख हुआ जीवन/अमरत्व की ओर नहीं
समरत्व की ओर,/मरण की ओर, लुढ़क रहा है।" (पृ. ३८१)
५०. "मात्र दमन की प्रक्रिया से/कोई भी क्रिया
फलवती नहीं होती है।"(पृ. ३९१)
५१. "माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा।" (पृ. ३९९)
५२. "सिद्धान्त अपना नहीं हो सकता/सिद्धान्त को अपना सकते हम।"(पृ. ४१५)
५३. "क्रोध की क्षमता है कितनी !/क्षमा के सामने कब तक टिकेगा वह ?"(पृ.४१६)
५४. "गन्धसेवी होने मात्र से/भ्रमर और मक्षिका

एक नहीं हो सकते।" (पृ. ४१९)
५५. "देह-नेह करने से ही/आज तक तुझे
विदेह-पद उपलब्ध नहीं हुआ।" (पृ.४२९)
५६. "जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं।" (पृ. ४३४)
५७. "जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह।" (पृ. ४४१)
५८. "आचरण के सामने आते ही/प्रायः चरण थम जाते हैं।" (पृ. ४६२)
५९. "चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ. ४६८)
६०. "सज्जन अपने दोषों को/कभी छुपाते नहीं।" (पृ. ४६८)
६१. "कषाय के वेग को/संयत होने में/समय लगता ही है!" (पृ. ४७३)
६२. "पर्त से केन्द्र की ओर/जब मति होने लगती है
अनर्थ से अर्थ की ओर/तब गति होने लगती है।" (पृ. ४७५)
६३. "समर्पण के बाद समर्पित की/बड़ी-बड़ी परीक्षायें होती हैं।" (पृ. ४८२)
६४. "बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

सामयिक राजनीति : देश और काल का प्रत्येक रचना में प्रभाव देखा जाता है। प्रस्तुत महाकाव्य भी इससे अछूता नहीं रहा। कवि ने देश में फैले आतंकवाद को लेकर पंजाब के तत्कालीन मुख्यमन्त्री प्रकाशसिंह बादल और उनके स्थान पर आए मुख्यमन्त्री सुरजीत सिंह बरनाला के उपनामों का मानो गोपनीय ढंग से उल्लेख किया है। सहज रूप से ये नाम समझ में नहीं आते हैं। पंक्तियाँ हैं :

"बादल दल छँट गये हैं/काजल-पल कट गये हैं
बरना, लाली क्यों फूटी है/सुदूर···प्राची में!" (पृ. ४४०)

इसी प्रकार राष्ट्रसन्त कवि ने पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल जिया उल हक को मात्र 'जिया' नाम से सम्बोधित करके, दया भाव और समष्टि से जीने का उपदेश दिया है। द्रष्टव्य हैं निम्न पंक्तियाँ :

"सदय बनो!/अदय पर दया करो/अभय बनो!
सभय पर किया करो अभय की/अमृत-मय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो!" (पृ. १४९)

यमक और श्लेष : प्रस्तुत महाकाव्य में यमक और श्लेष अलंकारों के प्रयोग भी हुए हैं। उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं कुछ उद्धरण :

'रे जिया! समष्टि जिया करो।" (पृ. १४९)

यहाँ 'जिया' पद दो बार आया है। प्रथम पद का अर्थ है–जिया उल हक और दूसरे पद का अर्थ है जीवन जीना। इसमें यमक अलंकार है।

"मैं दो गला।" (पृ. १७५)

यह श्लेष अलंकार का उदाहरण है। इस पद में 'मैं' शब्द के दो अर्थ हैं–(१) मैं (२) मान। इसी प्रकार दो गला में दो अर्थ हैं–गलाने का आदेश और द्विभाषी।

"भ्रमर से भी अधिक काला है/यह पहला बादल-दल।" (पृ. २२८)

यहाँ बादल में श्लेष है। इसके दो अर्थ हैं–मेघ और प्रकाशसिंह बादल।

"सागर में विष का विशाल भण्डार मिलता है।" (पृ. १९४)

यहाँ विष शब्द में श्लेष है। इसके दो अर्थ हैं– पानी और विष।

"पात्र ने अपने युगल करों को/पात्र बना लिया।" (पृ. ३२७)

यहाँ पात्र शब्द में यमक है। प्रथम पात्र का अर्थ है– निर्ग्रन्थ मुनि और दूसरे पात्र का अर्थ है बर्तन।

"पात्र से पानी पीने वाला/उत्तम पात्र हो नहीं सकता।" (पृ. ३३५)

यहाँ भी पात्र शब्द में यमक है। □

पृष्ठ ४५२-४५३
~~जब आग की नदी को~~
~~पार कर आये हम.....~~
~~... नीर को धारण करे सो धरणी~~
~~नीर का पालन करे सो धरणी~~ !



'मूकमाटी' महाकाव्य की भाषा

डॉ. शम्भुशरण शुक्ल

भाषा भावों और विचारों की वाहिका है। उच्च भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सूक्ष्म ज्ञान और उस पर अधिकार आवश्यक है। समर्थ भाषा के बिना अच्छे से अच्छे विचार भी वांछित प्रभाव नहीं डाल पाते। काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' आधुनिक युग का अभिनव महाकाव्य है, जिसमें माटी जैसी पद-दलित वस्तु को काव्य की नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आज से वर्षों पहले सन्त कबीर ने माटी के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा था :

"माटी कहे कुंभार से तू क्या रौंदे मोहि।
इक दिन ऐसा आयगा मैं रौंदूंगी तोहि॥"

'मूकमाटी' मात्र कवि कर्म न होकर एक दार्शनिक सन्त के दार्शनिक सिद्धान्तों की भी अभिव्यक्ति है। इसमें कविता को अध्यात्म के साथ अभेद की स्थिति में पहुँचाया गया है। ब्राउनिंग ने एक स्थान पर कहा है कि जहाँ काव्य और दर्शन एक साथ मिलें, वहाँ हमें महान् कवि के दर्शन होते हैं। आलोच्य काव्य का कवि महान् है। इस महान् काव्य की भाषा की परख रुचिकर होगी।

भाषा के दो उपकरण हैं : (१) नाद (२) अर्थ। काव्य के उद्भव के समय नाद की प्रधानता थी। आज की कविता विकास के जिन आयामों को पार कर चुकी है, उनमें अर्थ का महत्त्व बढ़ गया है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्थ प्रधान भाषा में नाद सौन्दर्य है ही नहीं। आज का कवि नाद को अर्थबोध के सहायक के रूप में लेता है।

यद्यपि आलोच्य काव्य के 'प्रस्तवन' लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के अनुसार : "कवि के लिए अतिशय आकर्षण है शब्द का, जिसका प्रचलित अर्थ में उपयोग करके वह उसकी संगठना को व्याकरण की सान पर चढ़ाकर नयी-नयी धार देते हैं, नयी-नयी परतें उघाड़ते हैं। शब्द की व्युत्पत्ति उसके अन्तरंग अर्थ की झाँकी तो देती ही है, हमें उसके माध्यम से अर्थ के अनूठे और अछूते आयामों का दर्शन होता है (पृ. VII)।" फिर भी नाद सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं है। अर्थ को बिना क्षति पहुँचाए कभी द्विरुक्ति, कभी पुनरुक्ति, तो कभी अनुप्रास के माध्यम से भाव के तीव्र आवेग की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है, यथा:

- *"क्षण-क्षण।" (पृ. ३५)*
- *"छन-छन कर।" (पृ. ३५)*
- *"यूँ ! चिरर् चिरर् चिल्लाती।" (पृ. १३७)*
- *"गुन-गुन-गुंजन-गान सुनाता।" (पृ. ३३४)*
- *"चम-चम चम-चम/चमकनेवाली चमचियाँ।" (पृ. ३५६)*
- *"खदबद खदबद/खिचड़ी का पकना वह।" (पृ. ३६२)*

अब शब्द की नई धार देखें, उसके अछूते और अनूठे अर्थ के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस !" (पृ. ४०)

कितना चमत्कारिक अर्थ है, कवि ने गधा को उसके परम्परागत प्रतीक से मुक्ति दिलाई है। हमारी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त वाक्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का कितना अवमूल्यन हुआ है, आचार्यजी की कलम से उसका अनूठा अर्थ देखिए:

'' ''वसुधैव कुटुम्बकम्''/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।''(पृ. ८२)

कवि ने शब्द के अर्थ को नई धार देते हुए आज के मानव की धन के प्रति आसक्ति की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। सम्पूर्ण महाकाव्य से कम से कम ऐसे पचास उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमें कवि की गहन शब्द साधना और अर्थान्वेषिणी दृष्टि को देखा जा सकता है।

आधुनिक महाकाव्यों में मुहावरों का प्रायः अभाव मिलता है। मुहावरों के प्रयोग से भाषा में संयम आ जाता है। समीक्ष्य महाकाव्य में लोकजीवन के रचे-पचे मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। कवि ने मुहावरों की लाक्षणिक शक्ति का साधिकार लाभ उठाया है :

- *''फूली नहीं समाती,/...अपलक ताक रही है।'' (पृ. २५);*
- *''पानी-पानी हो जा''!''(पृ. ५३)*
- *''फूट-फूट कर रोती है।'' (पृ. ८०)*
- *''नाच नाचती रहती हैं।'' (पृ. १०१)*
- *''जब आँखें आती हैं.../...जब आँखें जाती हैं...*
  ...जब आँखें लगती हैं...।'' (पृ. ३५९-३६०)

भाषा का एक अन्य गुण है–संक्षिप्ति। संक्षिप्ति से तात्पर्य है–कलात्मक मितव्ययता। इससे भाषा में गति, शक्ति तथा सुन्दरता आती है। इसके लिए लोकोक्तियों तथा कहावतों का प्रयोग किया जाता है। समीक्ष्य महाकाव्य में स्थान-स्थान पर लोकोक्तियों का उपयोग किया गया है जिससे भाषा सुन्दर, शक्ति-सम्पन्न तथा चटपटी हो गयी है :

- *''पूत का लक्षण पालने में।''(पृ. १४ एवं ४८२)*
- *''क्या पता नहीं तुझको!/छोटी को बड़ी मछली*
  साबुत निगलती है यहाँ।'' (पृ. ७१)
- *''मुँह में राम/बगल में छुरी।'' (पृ. ७२)*
- *''आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।*
  तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!'' (पृ. १३३)
- *''आमद कम खर्चा ज़्यादा/लक्षण है मिट जाने का*
  कूबत कम गुस्सा ज़्यादा/लक्षण है पिट जाने का।'' (पृ. १३५)
- *''बिन माँगे मोती मिले/माँगे मिले न भीख।'' (पृ. ४५४)*

भाषा को व्यावहारिक रूप देने के लिए कवि ने व्यवहार में बोले जाने जोड़े के शब्दों का उदारता के साथ प्रयोग किया है, ''दिन-दहाड़े''(पृ. २३५), ''फूला-फला''(पृ. ३००), ''कटी-पिटी''(पृ. ३३२),''अड़ोस-पड़ोस'' (पृ. ३१३),''चमक-दमक''(पृ. ३४६),''टूटे-फूटे''(पृ. ४३५), ''टेढ़ी-मेढ़ी'' (पृ. ४४४)।

इन शब्दों के प्रयोग से भाषा में स्वाभाविकता आई है। स्वाभाविकता और प्रेषणीयता का कवि को इतना ध्यान है कि उसने उर्दू शब्दों का प्रयोग भी निःसंकोच किया है, यथा : ''बेशक'' (पृ. २२३), ''क़िस्मतवालों'' (पृ. २२२), ''मासूम'' (पृ. २३९), ''आसीन'' (पृ. २५५), ''ताज़ी महक'' (पृ. २६४), ''अफ़सोस'' (पृ. २९२), ''क़ीमत'' (पृ. ३१)।

विशेषता यह है कि ये शब्द हिन्दी, संस्कृत के शब्दों के साथ रच-बस गए हैं, वे पैबंद से नहीं लगते। आत्मीयता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए देशज सम्बोधन भी स्वीकृत हैं : "सुन री रस्सी !" (पृ. ६३), "ओरी रस्सी !" (पृ. ६२) "लोंदा" (पृ. ४००)– जैसे देशज शब्दों की उपस्थिति भी देखी जा सकती है। कुछ शब्दों और मुहावरों का साभिप्राय प्रयोग तो चमत्कृत करता है, देखते ही बनता है और स्वाभाविकता भी अपनी चरम सीमा पर है :

"आइए स्वामिन्!/भोजनालय में प्रवेश कीजिए
और/बिना पीठ दिखाये/आगे-आगे होता है पूरा परिवार।" (पृ. ३२३-३२४)

"पीठ दिखाना" मुहावरा है। इसका प्रयोग अधिकतर युद्ध भूमि में शत्रु से डरकर भागने के सन्दर्भ में होता है, पर कवि ने इसका प्रयोग भारतीय संस्कृति की विशेषता के रूप में किया है। हमारी संस्कृति में अतिथि को देवता माना गया है। देवता को पीठ नहीं दिखाई जाती। यहाँ पीठ न दिखाना अतिथि को सम्मान देना है। इसीलिए "बिना पीठ दिखाए" पूरा परिवार आगे-आगे होता है।

कहीं-कहीं संस्कृत भाषा के वाक्य अखण्ड और कहीं-कहीं खण्डित रूप में मिलते हैं, यथा :

- *"भो स्वामिन् !/नमोस्तु ! नमोस्तु ! नमोस्तु !*
  अत्र ! अत्र ! अत्र !/तिष्ठ ! तिष्ठ ! तिष्ठ !" (पृ. ३२२)
- *"अलं विस्तरेण।" (पृ. ४९)*
- *"परस्परोपग्रहो जीवानाम्।" (पृ. ४१)*

कहीं-कहीं पदावली की पंक्तियों पर संस्कृत भाषा की छाया प्रतीत होती है, यथा : "दृढ़ा ध्रुवा संयमा आलिंगिता" (पृ. २४२)

सम्बोधन कारक में सविभक्तिक प्रयोग भी मिल जाते हैं, यथा : "प्रभो" ! (पृ. ४०), "चारु-शीले" (पृ. ३१)।

संस्कृत के कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका प्रयोग दैनिक बोलचाल में भी किया जाता है : "आवरण" (पृ. ४६२), "मुदित" (पृ. २२१), "साधु" (पृ. २३७)।

शब्द एवं अर्थ से सम्बन्धित भाषा में तीन विशेषताएँ होती हैं, जिन्हें गुण कहते हैं। प्रसाद, ओज और माधुर्य-तीन गुण हैं। 'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रसाद गुण का विशेष ध्यान रखा गया है। जटिल एवं सूक्ष्म विषयों को भी सरल भाषा में अभिव्यक्त किया गया है। ओज गुण मानव स्वभाव की पुरुष वृत्तियों से सम्बन्धित है। यथास्थान भाषा के इस गुण का भी उपयोग किया गया है :

"इन्द्र ने अमोघ अस्त्र चलाया/तो"'तुम/रामबाण से काम लो !
पीछे हटने का मत नाम लो/ईंट का जवाब पत्थर से दो !
विलम्ब नहीं, अविलम्ब/ओला-वृष्टि करो"'उपलवर्षा।" (पृ. २४८)

माधुर्य गुण का सम्बन्ध मानव की कोमल वृत्तियों से है। 'मूकमाटी' की भाषा में माधुर्य गुण की भी कमी नहीं है :

"भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है
माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल लेकर,/करवटें ले रहा है।" (पृ. १)

काव्य की लक्षणा और व्यंजना शक्ति के माध्यम से आज की ज्वलन्त समस्या आतंकवाद का समाधान प्रस्तुत

किया गया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'मूकमाटी' महाकाव्य की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ है। स्वाभाविक होते हुए भी अलंकृत है, पर अलंकार भाराक्रान्त नहीं। भाषा में वैविध्य है, इस कारण पाठक को एकरसता का आभास नहीं होता। बोधगम्य होने के कारण प्रेषणीयता के गुण से सम्पन्न है। 'मूकमाटी' महाकाव्य अपने अभिनव कथ्य के साथ-साथ अभिनव भाषा के लिए भी साहित्य जगत् में समादृत होगा, ऐसा विश्वास है।



पृष्ठ ३६६-३६७
कला शब्दस्वयं
कहरहा कि
------ एक ही
मत है, बस—

'मूकमाटी' : एक विहंगम दृष्टि

डॉ. (श्रीमती) नीरा जैन

मुनिश्रेष्ठ आचार्य श्री विद्यासागरजी की कृति 'मूकमाटी' जैन साहित्य, दर्शन, धर्म एवं ज्ञान के क्षेत्र में एक अनुपम ग्रन्थ है। मिट्टी के कुम्भ के प्रतीक के माध्यम से मानव-जीवन की सूक्ष्म, गम्भीर व्याख्या की है। कुम्भकार पद-दलित मिट्टी को कूट-छान कर, उससे कंकर-पत्थर पृथक् कर, जीवनदायी जलतत्त्व को मिला कर, उस मिट्टी से मनचाही वस्तुओं को रूपाकार देता है। मिट्टी द्वारा निर्मित वस्तुओं में कुम्भ सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होता है। अवे की आग में तपने के उपरान्त ही वह जन-कल्याणकारी एवं पूजा का निमित्त कारण रूप मंगल घट बनता है। पुद्गलों से निर्मित होकर भी आत्म तत्त्व के अभाव में शरीर निष्प्राण है। इसी आत्म तत्त्व की पहचान कराने के लिए मुनिश्री ने अपनी काव्यप्रतिभा का सौन्दर्य 'मूकमाटी' ग्रन्थ में साकार किया है। वास्तव में यह काव्य मानव-जीवन की विशद व्याख्या महाकाव्य के उदात्त व भव्य फलक पर प्रस्तुत करता है। महाकाव्य की रूपविधा में मानव-जीवन की रूपक प्रधान अभिव्यंजना करने का सर्वप्रथम प्रयास आधुनिक हिन्दी साहित्य के महान् कवि जयशंकर प्रसादजी की अनुपम कृति 'कामायनी' में सफलता पूर्वक किया जा चुका है। सृष्टि के आदि पुरुष मनु (जो मानव मन का प्रतीक है) श्रद्धा और इड़ा (मन की दो वृत्तियों) के सहयोग से जीवन में शैव दर्शन के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करते हैं। जिस प्रकार प्रसादजी ने मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों (प्रेम, करुणा, दया आदि) की स्थापना करने का प्रयास किया है उसी प्रकार मुनि श्री विद्यासागरजी ने अपने इस ग्रन्थ में जैन धर्म, दर्शन के आधार पर मानव-जीवन को अध्यात्म के धरातल पर परखने का स्तुत्य प्रयास किया है।

संसार में कर्मरत मनुष्य बुद्धि और विवेक से युक्त होकर भी इस मायावी किन्तु क्षणभंगुर संसार के आकर्षणों के पीछे उन्मत्त हो अंधी दौड़ लगाता रहता है। इस दिग्भ्रमित लक्ष्यहीन मानव की सद्वृत्तियों को जगा कर आचार्यश्री ने यह समझाने का प्रयास किया है कि मानव-जीवन की सार्थकता उसके जीवन का दूसरों के हित में काम आने में है। निःस्वार्थ भाव से परोपकार करते हुए आत्म तत्त्व को पहचानना और जीवन को सन्मार्ग पर चलाते हुए लक्ष्य तक पहुँचाना मानव-जीवन का परम ध्येय होना चाहिए। मिट्टी जैसी निरीह वस्तु को महाकाव्य के उदात्त विषय के समकक्ष रख उसकी गरिमा को पहचानने की प्रेरणा देकर आचार्यश्री मनुष्य को बताना चाहते हैं कि जिस प्रकार धरती का मूल अंश मिट्टी अनन्त काल से अनन्त कष्ट सहती हुई जड़-चेतन जगत् के सभी प्राणियों व पदार्थों के बोझ को मूक भाव से वहन करती आ रही है, सबका अवलम्ब बनकर भी किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं रखती वरन् माँ समान अच्छे-बुरे, पुण्यात्मा-पापी, बड़े-छोटे, धर्मी-अधर्मी सबका पालन-पोषण करती है, उसी प्रकार धरती के अंश रूप पुद्गलों से निर्मित मानव-शरीर रूपी घट को, स्व को (आत्मा) पहचान कर सबके प्रति समता का भाव रखना चाहिए। सांसारिक जीव की स्थिति इसके विपरीत यहाँ के भौतिक सुख-साधनों, विषय-वासनाओं के भोग में आसक्त रहती है। आत्मरूप को भुला कर अज्ञान की निद्रा में सोए इस मनुष्य को ही कवि ने प्रबोधा है और ज्ञान के प्रकाश में स्व को पहचानने की दिशा में उन्मुख किया है।

स्वस्तिक 卐 चिह्न की गरिमा को स्पष्ट करते हुए मुनिश्री ने कहा है कि यह स्वयं का प्रतीक है। इसकी चारों पाँखुरियाँ और उनमें अंकित बिन्दु संसार की उन चार गतियों की सूचक हैं जो सुख से शून्य हैं। 'ओम्' के उच्चारण के द्वारा मनुष्य स्वयं की पहचान करता है। आत्म तत्त्व को पहचान कर उसे ईश्वरोन्मुख करना या ईश्वर-सम बनना ही मानव-जीवन का लक्ष्य होता है।

युग विशेष के उदात्त कथानक, उदात्त नायक की स्थूल दृष्टि से यह काव्य महाकाव्य नहीं है, क्योंकि इसमें तो उस मनुष्य के जीवन-प्रवाह की गाथा है जो अत्यन्त साधारण है। भाव-विचार, दर्शन एवं अध्यात्म की जिस भव्य नींव पर इस काव्य का महल निर्मित हुआ है, वह उदात्तता की पराकाष्ठा की परिचायक है। यह काव्य विवेकशील प्राणी के लिए मुक्ति का अगम्य पथ प्रशस्त करता है। महाकाव्य की शास्त्रीय नियमावली के अनुशासन का पालन न होने पर भी इस ग्रन्थ में प्रबन्धकाव्य की गरिमा है। व्यक्ति विशेष के चरित्र का उद्घाटन न होने पर भी यह मानव-जीवन का आख्यान बन गया है। चिन्तन के धरातल पर भावों और विचारों की एकसूत्रता, शान्त रस की प्रतिष्ठा में ही अन्य सभी रसों का समाहार, घटना, परिस्थिति तथा उद्देश्य के स्पष्टीकरण के लिए प्रकृति के उपादानों का यथासम्भव उपयोग आदि इस काव्य को उच्च कोटि का प्रबन्धकाव्य सिद्ध करते हैं। यह मनुष्य की मुक्ति यात्रा की मंगलमय गाथा है। इसके चारों सर्ग मानव की आत्म-साधना के ही सोपान हैं। भारतीय दर्शन के निर्गुण और सगुण सभी भक्तों ने ईश्वर प्राप्ति की दिशा में आत्म-चिन्तन, ध्यान एवं योग-साधना द्वारा मुक्ति-पथ की खोज का प्रयास किया है। इसी प्रकार जैन दर्शन में आत्म-दर्शन के लिए जिस कष्ट कर साधना, तप-त्याग आदि की अनिवार्यता होती है उसी के स्वरूप को समझाने के लिए मिट्टी के घड़े का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। तुच्छ मिट्टी से मंगल घट तक बनने की सम्पूर्ण प्रक्रिया का सूक्ष्म विवेचन एवं विश्लेषण करके यह स्पष्ट किया है कि मनुष्य का भौतिक शरीर, जीवात्मा को युगों-युगों के कठिन संघर्षों और तपस्या के उपरान्त ही प्राप्त होता है। अतः उसे सांसारिक आकर्षणों की मृग-मरीचिका के पीछे न गँवाकर उसे मुक्ति की राह पर लाने में ही मानव-जीवन की सार्थकता है। जिस प्रकार सोना-चाँदी के अमूल्य रत्नजड़ित कुम्भों के जल के समक्ष मिट्टी के तुच्छ घड़े के निर्मल व स्वच्छ जल की शीतलता ही मन को तृप्त कर तृष्णा को शान्त करती है, यहाँ तक कि स्वस्तिक से अंकित मिट्टी का कुम्भ एक त्यागी, तपस्वी की आहार-प्रक्रिया में उपयोगी सिद्ध होता है, उसी प्रकार मनुष्य जब वैभव विलास के बहुमूल्य उपकरणों की तुलना में साधारण जीवन और उच्चविचारों को महत्त्व देता हुआ सांसारिक कष्टों के 'अवा' में स्वयं को तपाकर आत्मा को परखता है तथा उसे निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर करता है तभी उसकी जीवन-यात्रा मंगलमय बन कर सुखद फल देती है। इसी से मनुष्य-जीवन दूसरों के लिए अनुकरणीय बनता है। मुनिश्री की स्वतः अनुभूत तपस्या और साधना ही इस ग्रन्थ में रूपायित हुई है।

चार खण्डों में विभाजित यह काव्य परिमाण की दृष्टि से महाकाव्य की सीमाओं का स्पर्श करता है। प्रकृति के उदात्त चित्रण जटिल दर्शन और विचारों को सरल रूप देने में सहायक बने हैं। सरिता तट की मिट्टी की भाँति हर प्राणी अपनी योनि (पर्याय) से मुक्ति पाना चाहता है। यही काव्य का मूलभूत दार्शनिक प्रश्न है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की/च्युति कब होगी ?
बता दो, माँ···इसे !/...पद दो, पथ दो,/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

काव्य का प्रथम खण्ड– 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', मूक माटी की उस प्राथमिक दशा के परिशोधन की प्रक्रिया को व्यक्त करता है जहाँ वह पिण्ड रूप में कंकर-कणों से मिली-जुली अवस्था में है। कुम्भकार एक सुन्दर घड़ा बनाने के लिए इस मिट्टी को कूट-छानकर अति सूक्ष्म बनाता है तभी उसका स्वरूप स्वच्छ बन पाता है। द्वितीय खण्ड- 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में कवि ने शब्द और बोध की प्रकृति को एक विशेष आयाम दिया है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं।" (पृ. १०६)

बोध का फल जब ढलता-बदलता जिसमें, वह पक्व फल ही तो शोध कहलाता है। तृतीय खण्ड –'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में माटी की विकास-कथा के माध्यम से पुण्यकर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का

चित्रण किया है। कुम्भकार के प्रांगण में मेघ मुक्ता के बरसने का समाचार सुन कर राजा के कर्मचारियों द्वारा मुक्ता-राशि को बोरियों में भरने का उपक्रम होते ही, आकाश की गुरु गम्भीर गर्जना, अनर्थ और पाप के उद्घोष के साथ राजा सहित सभी का मन्त्राभिशप्त अवस्था में महसूस करना, अन्त में सारा धन राजा को ही समर्पित कर दिए जाने के पीछे मानव-मन की निर्विकार दशा का ही चित्रण किया गया है। चतुर्थ खण्ड– 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कुम्भ का अवे में तप कर पक्व स्थिति प्राप्त करना वास्तव में जीवात्मा का शुद्ध निर्मल स्वरूप पाना है जो राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त हो कर परहित में तत्पर रहे तथा आत्म-साधना की ऊँचाइयों को भी स्पर्श करे।

"स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)

इसी खण्ड में साधु को आहार-दान की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन करके एक नगर सेठ के हृदय-परिवर्तन की स्थिति दिखाकर जीवन के गन्तव्य को लक्षित करने का सार्थक प्रयास किया गया है।

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है/संसार का अन्त दिखने लगता है,
...सही दिशा का प्रसाद ही/सही दशा का प्रासाद है।" (पृ. ३५२)

मन की शुद्ध दशा में ही अविनश्वर सुख की अनुभूति होती है। इस सत्य को उद्घाटित करके मुनिश्री ने मानव-जीवन की मंज़िल का स्पष्ट संकेत किया है। काव्य के अनेकानेक मार्मिक प्रसंगों के चित्रण और परिवेश-वर्णन के द्वारा जीवन-दर्शन स्वतः उद्घाटित होता जाता है। कुम्भकार और मिट्टी के प्रतीकार्थ काव्यगत परमात्मा एवं आत्मा रूप पात्र ही जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों को रूपायित करते हैं। जिस प्रकार मंगल घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है उसी प्रकार मानव-जीवन की उपादेयता जीवन की गति को परम सत्ता की ओर उन्मुख करने में है। काव्य के नायक गुरु हैं किन्तु गुरु के भी आराध्य हैं 'अरहन्त देव' हैं जो मोह मुक्त, सर्वथा निश्चिन्त, जनम-मरण, जरा-जीर्णता से परे, अष्टादश दोषों से मुक्त हैं। इसी परम तत्त्व के समान ही आत्मा को पहुँचाने की प्रेरणा कवि ने दी है। मानव-शरीर रूपी वही घट सार्थक है जो भवसागर में निर्बाध गति से, विश्वास की मशाल हाथ में लिए आत्मकेन्द्रित होकर विघ्न-बाधा को पार करता चला जाता है। विषय-कषायों को त्यागकर जितेन्द्रिय, विजितमना होकर अपने भीतर छुपी ईश्वरीय शक्ति को जागृत करना ही आत्मा का विशुद्ध स्वरूप है। जिस प्रकार एक बार दूध से घृत बन जाने पर वह पुनः दूध नहीं बन सकता उसी प्रकार आत्मतत्त्व को अध्यात्म के निकष पर कसने वाला पुनः संसार में नहीं आता। 'मूकमाटी' काव्य के द्वारा मुनिश्री ने जैन दर्शन के इसी स्वरूप को स्पष्ट किया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत काव्य चिन्तन प्रधान विचारात्मक प्रबन्धकाव्य है।

कृति में धर्म के सत्य स्वरूप को व्याख्यायित करके अपने युग की चेतना को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में व्याप्त कुरीतियों के प्रति सजग करके शुभ संस्कारों की ओर उन्मुख किया है। चतुर्थ सर्ग में स्वर्ण कलश द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि हेतु आतंकवाद का आह्वान और उसके द्वारा धर्मरत सेठ के परिवार पर किया गया उपसर्ग (अत्याचार) आज के स्वार्थ-प्रेरित मानव की कलुषित वृत्तियों को प्रतिबिम्बित करता है। काव्य की लक्षणा एवं व्यंजना शब्द-शक्तियों के द्वारा आधुनिक युग की समस्याओं का समाधान भी मन की सद्वृत्तियों, अहिंसा और क्षमाभाव में खोजने का प्रयास किया है। एक तुच्छ से मच्छर के माध्यम से सामाजिक दायित्वबोध को अवगत कराया है तथा समाज की विकृतियों को उद्घाटित किया है। दहेज-प्रथा के अभिशाप को निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है :

"...खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ.३८६)

मनुष्य के विघटित मूल्यों की प्रतिछवि का रूप ये पंक्तियाँ हैं :

"ये अपने को बताते/मनु की सन्तान !/महामना मानव !
देने का नाम सुनते ही/इनके उदार हाथों में
पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं।" (पृ. ३८७)

कवि ने बार-बार इस बात को स्पष्ट करना चाहा है कि अहं के विसर्जन के बिना आत्म-शुद्धि सम्भव ही नहीं है। चेतन तत्त्व चिन्तन के मार्ग पर चलकर ही परमतत्त्व-सम बनने रूप लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। वास्तव में दर्शन शास्त्र के शुष्क सिद्धान्तों को काव्य के भावनाप्रधान कलेवर में समाहित करके मानव मात्र के लिए सम्प्रेषणीय बनाने का प्रयास ही 'मूकमाटी' का उद्देश्य रहा है। सांसारिक मनुष्य तथा संकल्पप्रज्ञ जीव द्वारा भवसागर से उबरने की स्थिति की सुन्दर व्यंजना की है :

"तैरने वाला तैरता है सरवर में/भीतरी नहीं,/बाहरी दृश्य दिखते हैं उसे।
वहीं पर दूसरा डुबकी लगाता है,/सरवर का भीतरी भाग
भासित होता है उसे,/बहिर्जगत् का सम्बन्ध टूट जाता है।" (पृ. २८९)

इसमें दर्शन और अध्यात्म की गहरी डूब तथा ऊपर-ऊपर तैरने के अन्तर की सूक्ष्म व्यंजना है :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं–
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;
और एक/योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।
कुछ ही क्षणों में/दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।/फिर क्या कहना !
एक शव के समान/निरा पड़ा है,/और एक
शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)

संसार में लिप्त और संसार से विरक्त, परिशुद्ध आत्मा के इन्हीं स्वरूपों की विशद व्याख्या करना कवि का ध्येय रहा है।

सशक्त भावों और उदात्त विचारों के द्वारा शाश्वत सत्य का प्रतिपादन कविश्री ने उतनी ही सुन्दर, प्रांजल एवं परिष्कृत भाषा में किया है। भावों की रससिद्ध परिणति के साथ इस काव्य में कलागत सौन्दर्य का मणिकांचन संयोग हुआ है। जैन धर्म की श्रमण संस्कृति के अनुरूप इस काव्य की भाषा में साहित्यिक हिन्दी का तत्सम प्रधान संस्कृतनिष्ठ और परिष्कृत रूप मिलता है। संस्कृत के तत्सम रूपों की बहुलता के कारण जहाँ भाषा के स्तर में प्रौढ़ता परिलक्षित होती है वहीं बोधगम्यता की दृष्टि से कहीं-कहीं उसका स्वरूप जटिल व क्लिष्ट भी हो गया है जिससे गम्भीर विचारों की दार्शनिक व्याख्या और बोधगम्यता में पाठकों को असुविधा का अनुभव होता है, फिर भी कवि की लेखनी से निःसृत प्रत्येक शब्द प्रबन्धसूत्रता में बँध कर महत्त्वपूर्ण हो गया है। शब्दों के प्रचलित अर्थ के उपयोग के साथ शब्द की रचनात्मकता को व्याकरण की सान पर चढ़ाकर उसकी सूक्ष्म परतों को उघाड़ा है और जिन मौलिक अर्थों की गवेषणा

की है वह किसी चमत्कार से कम नहीं है। अनेक शब्दों के समान रूप होने पर भी भिन्न अर्थ की परिकल्पनाएँ कवि प्रतिभा की परिचायक हैं। नई भावभंगिमा से युक्त शब्दों की विश्लेषण प्रक्रिया पाठक की बुद्धि को भी चमत्कृत कर जाती है। शब्दों की व्युत्पत्ति, उनके अन्तरंग अर्थों की झाँकी और नए आयामों को छूती भाषा अपनी उपमा स्वयं बन गई है।

'कुम्भकार' शब्द को व्याख्यायित किया है :

" 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

साहित्य शब्द को इन भावों में परिभाषित किया है :

"शिल्पी के शिल्पक-साँचे में/साहित्य शब्द ढलता-सा !
'हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिसके अवलोकन से/सुख का समुद्भव — सम्पादन हो,
सही साहित्य वही है...।" (पृ. ११०-१११)

कवि ने शब्दों के सम्पूर्ण अर्थ की गवेषणा के द्वारा बोध की अनुभूति को आचरण में उतारने की प्रक्रिया को ही आत्मशोध का रूप माना है। जड़ को जड़त्व से मुक्त कर मुक्ताफल का रूप देना ही जीवन का लक्ष्य बताया है।

कवि ने रसों की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत करके प्रकृति के उपकरण षट् ऋतुओं के वर्णन के द्वारा तत्त्व दर्शन को रूपायित किया है। 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' सूत्र को व्यावहारिक भाषा में अनूदित करके सहज बोधगम्य बनाया है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और/है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

'मूकमाटी' में मुक्त छन्द का प्रयोग होने पर भी उसकी भाषा में एक प्रवाह है। गीत व संगीत की स्वर लहरी यत्र-तत्र प्रस्फुटित होती प्रतीत होती है। आपने संगीत के सात स्वरों की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत कर अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख
प···ध यानी पद—स्वभाव/और/नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव—धर्म नहीं हो सकता।" (पृ. ३०५)

पुरुषार्थ से ही मनुष्य आत्मा का उद्धार कर पाता है।

काव्य में अलंकृत भाषा का प्रयोग हुआ है। भाषा के सहज प्रवाह में अलंकार भावों का अनुसरण करते हैं पर कहीं उसका स्वरूप बोझिल हो गया है, फिर भी अलंकारों का सहज सौन्दर्य काव्य को गरिमा प्रदान करता है। शब्दालंकारों में यमक, श्लेष एवं अनुप्रास की अन्वय शक्ति के माध्यम से नई अर्थ-व्यंजना की है तो अर्थालंकारों में

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उदाहरण, पुनरुक्ति, विभावना, मानवीकरण, अन्योक्ति आदि अनेक अलंकारों की सुन्दर छटा भाषा के रूप को सौन्दर्य प्रदान करती है। वास्तविकता तो यह है कि सम्पूर्ण काव्य रूपक और अन्योक्ति की प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया है। पानी और मछली, आग और लकड़ी, कुआँ और रस्सी, मिट्टी और कुम्भकार के अनेक रूपक काव्य के अध्यात्मपरक अर्थ को व्यंजित करते हैं। कुम्भ और अवे का रूपकजनित अर्थ है कि ये संसार जीवन के लिए एक संघर्ष-समर है जिसकी अग्नि में तपे बिना मानव अपने संकल्पों में दृढ़ नहीं हो सकता।

शान्त रस के स्थायित्व की व्यंजना के द्वारा रसास्वाद की लोकोत्तरता को ईश्वरीय आनन्द के समकक्ष मानकर मुनिश्री विद्यासागर ने शान्त रस को शृंगार से भी ऊँचा स्थान दिया है, क्योंकि शृंगार के उभय पक्ष (संयोग और वियोग) मन को अशान्त करते हैं जबकि शान्त रस मन में आनन्द की अनुभूति को शाश्वत बनाने में समर्थ है। जीवन और मृत्यु से ऊपर उठकर ही जीव मुक्त होता है। आचार्यश्री ने उस प्रेम को महत्त्व दिया है जो देशकाल की सीमा से मुक्त सतत प्रवहमान रहता है और मूलतः अहिंसा का पर्यायवाची है। 'मूकमाटी' में प्रेम के व्यापकत्व के आधार पर हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया को जीवन्त किया है।

प्रेम और सौन्दर्यानुभूति को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया है :

मानवीकरण :
- *"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है।" (पृ. १)*
- *"लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी*
  प्रभाकर के कर-छुवन से/बचना चाहती है वह।" (पृ. २)
- *"तट स्वयं अपने करों में/गुलाब का हार लेकर*
  स्वागत में खड़ा हुआ है।" (पृ. ४७९)

उपमा :
- *"ससखस के दाने-सा/बहुत छोटा होता है/बड़ का बीज वह।" (पृ. ७)*
- *"दृढ़-तटों से संयत,/सरकन-शीला सरिता-सी।" (पृ. २२)*
- *"जल में तैरती-सी/संवेदन करती है लेखनी।" (पृ. २४)*
- *"निशा के आँचल में से झाँकता/चकित चोर-सा!" (पृ. ९५)*
- *"बोध की जाया-सी।" (पृ. ११९)*
- *"कूप-मण्डूक-सी"/स्थिति है मेरी।" (पृ. ६७)*

विरोधाभास :
- *"जल में जनम लेकर भी/जलती रही यह मछली।" (पृ. ८५)*
- *"फूलों को छूते नहीं भगवान्/शूल-धारी होकर भी।*
  काम को जलाया है प्रभु ने।" (पृ. १०३)

पुनरुक्ति :
- *"उजली-उजली जल की धारा/बादलों से झरती है*
  धरा-धूल में आ धूमिल हो/दल-दल में बदल जाती है।" (पृ. ८)

विभावना :
- *"बिना अर्थ/शिल्पी को यह/अर्थवान् बना देता है।" (पृ. २७)*

तद्गुण :
- *"सागर में जा गिरती/लवणाकर कहलाती है*
  ...विषधर मुख में जा/विष-हाला में ढलती है।" (पृ. ८)

यमक : ◘ *"करण-गण का पर पर नहीं, / तन पर / नियन्त्रण-शासन हो सदा।" (पृ.१२५)*

उदाहरण : ◘ *"बबूल के ठूँठ की भाँति / मान का मूल कड़ा होता है।" (पृ.१३१)*

लाटानुप्रास : ◘ *"किसलय ये किसलिए / किस लय में गीत गाते हैं।" (पृ.१४१)*

◘ *"यही मेरी कामना है / कि / आगामी छोरहीन काल में*
बस इस घट में / काम ना रहे !" (पृ. ७७)

◘ *"मन के गुलाम मानव की / जो कामवृत्ति है / तामसता काय-रता है*
वही सही मायने में / भीतरी कायरता है !" (पृ. ९४)

अलंकारों की अद्भुत छटा सम्पूर्ण काव्य को अनोखा सौन्दर्य प्रदान करती है। कवि ने भाषा की अर्थ-व्यंजना में मुहावरों, लोकोक्तियों और कहावतों का पर्याप्त सहयोग लिया है।

मुहावरे : ◘ *"पूत का लक्षण पालने में" (पृ. १४ एवं ४८२);*

◘ *"सर के बल पर चलना" (पृ. १५१);*

◘ *"दाल न गलना" (पृ. १३४);*

◘ *"नाक में दम करना" (पृ. १३५)।*

कहावत : ◘ *"छोटी को बड़ी मछली / साबुत निगलती है यहाँ।" (पृ. ७१)*

◘ *"मुँह में राम / बगल में छुरी।" (पृ. ७२)*

लोकोक्ति : *"आधा भोजन कीजिए / दुगुणा पानी पीव।*
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी / वर्ष सवा सौ जीव !" (पृ. १३३)

कवि ने शब्दों के नवीन प्रयोग के मोह में भाषा को जटिल बना दिया है, जैसे– अर्चा, भास्वत, चार्मिक, स्पर्शन, शास्ता (पथ बताने वाला), अपाय (पीड़ा) आदि। कहीं पर शब्दों के विलोम क्रम से नवीन अर्थ प्रस्तुत कर चमत्कृत किया है :

धरणी >नीरध : *"ध···र···णी / नी···र···ध / नीर को धारण करे···सो···धरणी।" (पृ.४५३)*

राही>हीरा : *"राही बनना ही तो / हीरा बनना है।" (पृ. ५७)*

राख>खरा: *"राख बने बिना / खरा-दर्शन कहाँ ?" (पृ. ५७)*

कुछ शब्दों की नई व्याख्या की है :

संसार : ◘ *"सृ-धातु गति के अर्थ में आती है, / सं यानी समीचीन / सार यानी सरकना···*
जो सम्यक् सरकता है / वह संसार कहलाता है। / काल स्वयं चक्र नहीं है
संसार-चक्र का चालक होता है वह।" (पृ. १६१)

◘ *" "मैं दो गला" / ...मैं द्विभाषी हूँ / ... 'मैं' यानी अहं को*
दो गला–कर दो समाप्त।" (पृ. १७५)

इसी प्रकार नीर-क्षीर के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।/और
क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४९)

गदहा शब्द की भी नई व्यंजना की है :

"गद का अर्थ है रोग/हा का अर्थ है हारक।" (पृ. ४०)

अपने नाम के अनुरूप सबके रोगों का हरण करने की कामना करता है गदहा, जबकि लोक में व्यंजित अर्थ है अज्ञानी और मूर्ख। कवि ने 'मानवता' शब्द को भी नया बोध प्रदान किया है– 'मानवत्ता (अहंकार) से घिरकर मनुष्य मानवता से गिर जाता है' (पृ.११४)। 'मूकमाटी' में कवि ने गणित विद्या का चमत्कार दिखाकर ९ के अंक के महत्त्व का प्रतिपादन अध्यात्म के धरातल पर किया है–जीव दर्शन की सूक्ष्म व्याख्या :

" ९९ वह/विघन-माया छलना है,/क्षय-स्वभाव वाली है/और
अनात्म-तत्त्व की उद्योतिनी है;/और ९ की संख्या यह
सघन छाया है/पलना है, जीवन जिसमें पलता है/अक्षय-स्वभाव वाली है
...संसार ९९ का चक्कर है/...भविक मुमुक्षुओं की दृष्टि में
९९ हेय हो और/ध्येय हो ९/नव-जीवन का स्रोत!" (पृ. १६७)

इसी प्रकार ६३ की संख्या के अंकों की स्थिति से मानव-मन की चित्तवृत्ति की व्याख्या की है :

"छह के मुख को/तीन देख रहा है/और
तीन को सम्मुख दिख रहा छह!/एक-दूसरे के सुख-दुःख में
परस्पर भाग लेना/सज्जनता की पहचान है,/...जब
आदर्श पुरुषों का विस्मरण होता है/तब/६३ का विलोम परिणमन होता है
यानी/३६ का आगमन होता है/...विचारों की विकृति ही
आचारों की प्रकृति को/उलटी करवट दिलाती है।" (पृ. १६८)

इस प्रकार कवि की काव्य प्रतिभा का प्रतिफलन ग्रन्थ के हर पृष्ठ पर हुआ है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ भाव एवं कला दोनों दृष्टियों से अनुपम पाण्डित्य, प्रतिभा, बुद्धि, विलास और मन मन्थन के द्वारा शुद्ध आत्मतत्त्व रूपी अमृत को प्राप्त करने में सहायक बना है। □



लोक-मंगल की समाधि अवस्था : 'मूकमाटी'

डॉ. सुरेश गौतम

आचार्य विद्यासागर रचित 'मूकमाटी' एक विचार महाकाव्य है। आचार्यश्री का आध्यात्मिक चिन्तन माटी की मूकता में मुखर हुआ है। सृष्टि के मूल में माटी ही है। माटी का व्यक्तित्व विराट् एवं व्यापक है। माटी में ही सहनशीलता है, सज्जनता है और सृजन की क्षमता है। 'मूकमाटी' के महाकाव्यात्मक व्यक्तित्व के इस मूकत्व को पहचानना अपने आप में एक तपस्या-साधना है। मुनिश्री का वैराग्यमुखी मन-जीवन के विविध गम्भीर अनुभूति-क्षणों के बीच से गुज़रता हुआ अध्यात्म की सर्वोन्मुखी 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के स्वरों को अभिव्यक्त करता है।

'प्रस्तवन' में ठीक कहा गया है : "माटी की तुच्छता में चरम भव्यता के दर्शन करके उसकी विशुद्धता के उपक्रम को मुक्ति की मंगल-यात्रा के रूपक में ढालना कविता को अध्यात्म के साथ अ-भेद की स्थिति में पहुँचाना है।" इसमें सन्देह नहीं कि "आचार्यश्री विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है—सन्त जो साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं और साधना जो आत्म-विशुद्धि की मंज़िलों पर सावधानी से पग धरती हुई, लोकमंगल को साधती है। यह सन्त तपस्या से अर्जित जीवन-दर्शन को अनुभूति में रचा-पचाकर सबके हृदय में गुंजरित कर देना चाहते हैं। निर्मल-वाणी और सार्थक सम्प्रेषण का जो योग इनके प्रवचनों में प्रस्फुटित होता है—उसमें मुक्त छन्द का प्रवाह और काव्यानुभूति की अन्तरंग लय समन्वित करके आचार्यश्री ने इसे काव्य का रूप दिया है।"

'मानस-तरंग' इस विचार महाकाव्य का आकाश-दीप है। यह आध्यात्मिक काव्य अस्ति और नास्ति के सिद्धान्त की सरल व्याख्या करता है। इस महाकाव्य के सृजन के मूल में सृष्टि का कार्य-कारण भाव आलोकित है। मुनिश्री का दार्शनिक चिन्तन आज के वर्तमान जीवन की पीड़ाओं, कुण्ठाओं और यातनाओं के अनुभूति-क्षणों को साथ लेकर चलता है। मानव-जीवन के वर्तमान स्वरूप को देखकर ही मुनिश्री ने उसकी मुक्ति के लिए यह आध्यात्मिक काव्य रचा। ईश्वर है या नहीं—आदिकालीन शंका है। इसके साथ ही मुनिश्री ने जैन दर्शन को नास्तिक कहने वालों के अनेक तर्क सप्रमाण काट दिए हैं। मुनिश्री का प्रगतिशील चिन्तन जब उभरता है तो वह इस निर्णय पर पहुँचता है : "ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है।" आस्तिकता की यह परिभाषा अत्यन्त कठिन है। इसके लिए तपस्वी तन और मनस्वी मन चाहिए। इसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है जिसमें लौकिक अलंकार अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं और मानव को भोग से योग की ओर उन्मुख करना इस सृजन का उद्देश्य है।

इस महाकाव्य का प्रारम्भ सूर्योदय के सुन्दर चित्रण से हुआ है। यह प्रकृति के माध्यम से मानवीय प्रकृति को रेखांकित करने की कुशल कला ही है :

"लो !···इधर···!/अध-खुली कमलिनी/डूबते चाँद की
चाँदनी को भी नहीं देखती/आँखें खोल कर।
ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सबके वश की बात नहीं,
और···/वह भी···/स्त्री-पर्याय में—/अनहोनी-सी···घटना !" (पृ. २)

प्रारम्भ की इन पंक्तियों ने ही आज के विषम जीवन की झाँकी प्रस्तुत कर दी है। ईर्ष्या आज के समाज को खोखला कर रही है। यहाँ की अँग्रेज़ियत देखकर अँग्रेज़ भी शरमाते हैं। भारत का उद्धार इस प्रवृत्ति से नहीं हो सकता। मुनिश्री की दृष्टि ने वर्तमान स्वरूप को बहुत भीतर से पहचान लिया है। इसीलिए मिट्टी से कहलाया :

"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ. ९)

पहला खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' शीर्षक से है। माटी माँ के प्रति यह कथन सृष्टि के एक प्रकृत सत्य को उजागर करता है :

"प्रकृति और पुरुष के/सम्मिलन से/विकृति और कलुष के/संकुलन से
भीतर ही भीतर/सूक्ष्म-तम/तीसरी वस्तु की/जो रचना होती है।" (पृ. १५)

मुनिश्री का चिन्तन जीवन के व्यापक स्वरूप को आलोकित करता है। इस आलोक में ही गाँठ खुलती है। गाँठ को खोलना आसान नहीं है। गाँठ ही रहस्य है। इस रहस्य के लिए रस्सी और रसना का रूपक अत्यन्त रोचक है। रहस्य की उत्कण्ठा और वर्तमान का चित्र, इन दोनों का समन्वय ही रचना को श्रेष्ठ बनाता है। तब आज से साक्षात्कार हो जाता है :

"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।" (पृ. ७३)

पहले खण्ड में माटी और मछली का संवाद कवि के विचारों को प्रकट करता है। इस विस्तृत संवाद की प्रस्तुत पंक्तियाँ सार प्रकट करती हैं :

"अपने जीवन-काल में/छली मछलियों-से/छली नहीं बनना
विषयों की लहरों में/भूल कर भी/मत चली बनना।" (पृ. ८७)

माटी का यह वाक्य मछली के लिए सन्देश है। इस खण्ड की एक पंक्ति की ओर ध्यान चाहता हूँ जहाँ मुनिश्रेष्ठ ने सत्युग और कलियुग का अन्तर स्पष्ट किया है :

"सुनो बेटा !/यही/कलियुग की सही पहचान है
जिसे/खरा भी अखरा है सदा/और/सत्-युग तू उसे मान
बुरा भी/'बूरा'-सा लगा है सदा।" (पृ. ८२-८३)

भाषा का अलंकृत रूप भाव को प्रभाव दे गया है। ऐसी सूक्तियाँ इस महाकाव्य की अनन्त निधियाँ हैं। आज के आदमी की तस्वीर है इस पहचान में।

अशिक्षा या आध्यात्मिक रुचि के प्रभाव में आज यह महाकाव्य जितने मनों में इस पहचान की शक्ति दे जाय, उतना ही पुण्य है। शिल्पी ने मछली को यथास्थान भेजकर जीवन के एक पक्ष पर पर्दा गिरा दिया है। दूसरा खण्ड 'शब्द और बोध' का अविच्छिन्न और अनविच्छिन्न बोध ही वाक् और अर्थ का समन्वय है। इसमें पौर्वात्य और पाश्चात्य सभ्यता का स्पष्ट स्वरूप है। इस कवि-मनीषी ने मनुष्य को समग्र दृष्टि से देखा है। पूँजीपति, राजनीति, साहित्य आदि सभी पर विचार किया है। माटी के इस गम्भीर चिन्तन में एक दिग्-वस्त्री सन्तकवि के एकान्त क्षणों में पवित्र जीवन दृष्टि आलोकित हो उठी है। माटी के माध्यम से इतना बड़ा महाकाव्य इस जीवन की महानता को प्रकट करता है जो उसे इस रूप में जी सकता है वह जीवन कितना आदर्श होगा, यह शब्दातीत है। शैली में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति साधना की तपन से और चमक उठी है। महाकाव्य की भाषा साहित्यिक और प्रकाशन सुन्दर है। मानव-मुक्ति के इस भोजपत्र 'मूकमाटी' में लोक मंगल की समाधि अवस्था की ब्रह्म अनुभूतियाँ हैं जो मुनिश्रेष्ठ के अनुसन्धान-चिन्तन का अक्षत-अक्षर रूप हैं। अक्षर-देह में गूँजती 'मूकमाटी' पारदर्शी आत्मा का साक्षात्कार है, जिसे मुनिश्री ने लोक और परलोक के बीच सेतु बना दिया है। हम इस कस्तूरी गन्ध से साक्षात्कृत होकर मुक्ति-पर्व मनाएँ यही इस ग्रन्थ का महाकाव्यात्मक उद्देश्य-बोध है। 'पुण्यों का पालन' और 'पापों का प्रक्षालन' इसी का दूसरा पक्ष है, अतः चिन्तक आचार्यश्रेष्ठ श्री विद्यासागरजी ने बिल्कुल ठीक कहा है 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।'

□

'मूकमाटी' : दार्शनिक चेतना का चारुतम निदर्शन

डॉ. रामनरेश

सन्त आचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' दार्शनिक चेतना का, श्रेष्ठतर काव्य कलेवर में चारुतम निदर्शन है। माटी जैसी सामान्य विषय वस्तु को महाकाव्यात्मक गरिमा की सार्थकता प्रदान करना, साधक की सहज सिद्धि का अप्रतिम प्रमाण है।

समर्पित सन्तों की तपःपूत वाणी उनकी आत्मा का अनहद संगीत होती है। उसे काव्य के पारम्परिक प्रतिमानों के निकष पर परखना न्यायोचित न होगा। 'सन्त वाणी' का उद्देश्य, काव्यशास्त्रीय सिद्धि का प्रदर्शन नहीं होता, कलात्मक चमत्कार भी नहीं होता। उसके मूल प्रदेय का मूल्यांकन जीवनानुभूति के दार्शनिक रूपान्तरण के स्वरूप में ही किया जा सकता है। तथापि सन्त वाणी काव्य के अपेक्षित उपादानों से सर्वथा शून्य होती है, साहित्य का इतिहास इस धारणा की आंशिक रूप से भी पुष्टि नहीं कर सकता। लोक-मंगल की अनन्य निष्ठा और आचरण की शुचिता सन्त वाणी के सहज अलंकरण हैं, कविता के अर्थवान् प्रतिमान हैं। 'मूकमाटी' का कृतिकार भारतीय सन्त परम्परा का उज्ज्वल रत्न है। उसका वाणी विधान साहित्य की महान् निधि है।

भारत की वैचारिक चेतना का प्रवाह मुख्यतः दो धाराओं में लक्षित किया जा सकता है। प्रथमवर्णाश्रमधर्मानुमोदित और द्वितीय इसके समान्तर वर्ण-जाति निरपेक्ष समतामूलक प्रवाह। इन दोनों धाराओं की पृथक्-पृथक् अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं। सबकी अपनी-अपनी श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ हैं। इनकी सीमाएँ भी रेखांकित की जा सकती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरी धारा आधुनिक और नवीन जीवन-मूल्यों के अधिक निकट है, अधिक शाश्वत है। परिमाण में देखा जाय तो प्रथम धारा को उपजीव्य मानकर आधुनिकीकृत, सन्तुलित, समन्वित और विवेक सम्मत ग्राह्यता की दृष्टि से रचे गए काव्यों की परम्परा अधिक समृद्ध है। यह हमारे देश की सामाजिक संरचना का स्वाभाविक प्रतिफलन है। परन्तु इन कृतियों के अनुशीलन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इस धारा ने दूसरी धारा की विचारोर्मियों को अधिकाधिक आत्मसात् कर लिया है। मेरा विचार है कि स्वतन्त्र रूप से दूसरी धारा पर आधृत कृतियों में 'मूकमाटी' का स्थान अन्यतम है।

जीवन-जगत् को जिस निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ धरातल पर उदात्तता के साथ आचार्य विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' में प्रतिष्ठित किया है, वह उनकी तपश्चर्या और उनके श्रेष्ठ धार्मिक परिवेश का शुभ्र प्रतीक है। उनके द्वारा निरूपित आत्मा की 'मुक्ति यात्रा' मानव की 'जय यात्रा' का पर्याय है। कृतिकार ने दर्शन के गूढ़तम और दुर्बोध रहस्यों को लोक प्रकृति के सुपरिचित उपमानों का आश्रय लेकर सुगम और सुबोध रूप में प्रेषणीय बना दिया है। 'मूकमाटी' का यह वैशिष्ट्य यत्र-तत्र-सर्वत्र द्रष्टव्य है।

'मूकमाटी' में सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं के अर्थवाहक शब्दों से नवीन उद्भावनाओं का सृजन किया गया है। यह कवि द्वारा 'दूर की कौड़ी' लाने का प्रयास नहीं है। शब्द-क्रीडा का कौतुक नहीं है। यहाँ शब्दों को अर्थवान् गाम्भीर्य मिला है। यह आचार्यजी के सन्तोचित व्यक्तित्व के सर्वथा योग्य है।

मेरा विश्वास है 'मूकमाटी' जैसी दिव्य कृति के अधिकाधिक प्रसार से जीवन-जगत् में व्याप्त सर्वग्रासी भौतिकतावादी अन्धकार विदीर्ण होगा और मानवता का श्रेष्ठ पन्थ प्रशस्त होगा। 'मूकमाटी' निस्सन्देह नैतिक मूल्यों के ह्रासमान युग को नई संजीवनी शक्ति से अनुप्राणित करने में समर्थ है। आचार्य विद्यासागरजी की यह कृति मनुष्य मात्र को मानवता के स्वर्ण शिखर स्पर्श करने के लिए सदैव उत्प्रेरित करती रहेगी।

□

महाकाव्य-परम्परा की अमर कृति 'मूकमाटी' में राष्ट्रीय एकता के स्वर

डॉ. बारेलाल जैन

जन, भूमि और संस्कृति मिलकर राष्ट्र की परिकल्पना करते हैं। राष्ट्र का अधिकांश स्वरूप भावात्मक है। जन सुरक्षित रहें, भूमि पवित्र रहे और संस्कृति भव्य एवं पावन रहे, यही राष्ट्रीय एकता है। यही राष्ट्र की सच्ची पूजा है। राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ है किसी देश के निवासियों में भावात्मक एकता का होना। आपस में प्रेम की भावना राष्ट्रीयता की जड़ों को मजबूत करती है।

राष्ट्रीय एकता की तलाश हम ऐसे संक्रमण काल में कर रहे हैं जब दोगली और स्वच्छन्द राजनीति का बोलबाला है। सर्वत्र ही धनतन्त्र का साम्राज्य है तथा पदलिप्सा का घिनौना दौर है। जातीय संस्कृति में जहाँ हमने सार्थक समाधान खोजने का असफल प्रयास किया है, वहीं हमारी दूषित मनोवृत्तियों ने धर्म के विकृत रूप को लेकर मदान्धता के आगोश में सृष्टि की सर्वोत्तम इकाई मनुष्य और प्रकृति का दोहन करना शुरू कर दिया है। इससे चारों ओर कलह, शीतयुद्ध, गुमराह होने का शोर है। जान-माल की सुरक्षा पर भयंकर आतंक है। सिरफिरे और स्वार्थी असामाजिक तत्त्वों द्वारा पृथक् राज्य बनाने का क्रूर आन्दोलन होता है, जिससे आर्थिक एवं जनहानि के कारण सामूहिक विकास शून्य हो गया और सड़कों पर आ गया है। सत्याग्रही संयमी, अनुशासित और क्षमाशील व्यक्तित्व हाशिए पर चले गए हैं। स्वार्थी लोग शासन और सत्ता के केन्द्र में बस गए हैं जो सिर्फ झूठे, लेकिन मीठे भाषण देकर जन-शोषण में लगे हुए हैं। ऐसे क्षणों में राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यकता एक पुनीत कर्म है, क्योंकि उसमें निहित एकता के सूत्र ही जन, भूमि, संस्कृति के स्वरूप को स्थिरता प्रदान कर सकते हैं।

जो राजनीति सिर्फ पद और पैसे के लिए, स्वयं के लिए ऐश्वर्यशाली जीवन जीने के खातिर मानवता का गला तक घोंट देती है, उसे अब बदलना पड़ेगा। ऐसा समाजवाद लाना होगा जो वास्तव में आचार-विचार में पावनतम हो, जो विकास और विनम्रता के दरवाजे खोलता हो तथा सबके लिए समान अवसर और न्याय की बात करता हो।

इसी तलाश में जो राष्ट्रीय साहित्यकार स्वतन्त्रता, समानता, सद्भाव, परस्पर सहयोग और शान्ति की सुरक्षा में अपने स्वरों की गति दे सके हैं, उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान आदि प्रमुख हैं। मध्ययुग के भक्त और कवियों में कबीर, दादू, नानक आदि के काव्य में राष्ट्रीय एकता, अखण्डता के स्वर सुनाई पड़ते हैं। आचार्य विद्यासागर वर्तमान समय के दिगम्बर जैनाचार्य हैं। वे कर्नाटक प्रान्त में अवस्थित बेलगाम जिले के सदलगा ग्राम के निकटवर्ती ग्राम 'चिक्कोड़ी' में १० अक्टूबर, १९४६ ई. को श्री मल्लप्पाजी अष्टगे तथा श्रीमती श्रीमतीजी अष्टगे के द्वितीय पुत्र के रूप में जन्म लेकर 'विद्याधर' के नाम से जाने गए। बाद में यह विराट् व्यक्तित्व अपने परम गुरुवर जैनाचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज की चरण-रज में त्याग, तपस्या, साधना, संयम, अनुशासन, धैर्य, दया, क्षमा आदि गुणों को धारण करते हुए गुरुप्रसाद से सन्त-कवि आचार्य विद्यासागर बने।

राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मानव में प्रेम और दया की भावना का अभाव होना है। प्रेम और दया से शून्य व्यक्ति पाषाण-हृदय हो जाता है और भावनात्मक एकता के स्वरूप में विकृति लाता है। और फिर एक खेल शुरू हो जाता है स्वार्थता, लिप्सा, आतंक का, अपने को प्रतिष्ठित करने का, दूसरे के अवमूल्यन का—जो विनाश की कगार तक ले जाता है। इसी सन्दर्भ को उकेरते हुए आचार्य विद्यासागरजी कहते हैं :

"धरती के प्रति वैर-वैमनस्य-भाव/गुरुओं के प्रति गर्वीली दृष्टि

सबको अधीन रखने की/अदम्य आकांक्षा
सर्व-भक्षिणी वृत्ति···।" (पृ. २२४-२२५)

इस विखण्डन की स्थिति को रोकने के लिए मानव-मूल्यों के रक्षार्थ आचार्यश्री ने एक सार्थक सन्देश दिया है :

"अपना ही न अंकन हो/पर का भी मूल्यांकन हो,
पर, इस बात पर भी ध्यान रहे/पर की कभी न वांछन हो
पर पर कभी न लांछन हो !" (पृ. १४९)

और इस प्रकार मनुष्य के 'सदय' (पृ. १४९) होने की भावना ही राष्ट्रीय एकता के स्वरूप को सुरक्षित रख सकेगी।

साम्प्रदायिकता की भावना : साम्प्रदायिकता की भावना देश के आन्तरिक और बाह्य स्वरूप को खण्डित करती है। इस भावना के वशीभूत हो व्यक्ति अपने को दूसरों से श्रेष्ठ ठहराने का प्रयास करता है, जिससे जातीय संघर्ष पैदा होता है। तब धर्म के विकृत पक्ष के आ जाने से धर्म का झण्डा भी डण्डा बन जाता है जो लोगों पर अमानवीय और हिंसक कार्य करता है (पृ.७३)। हिंसा, दंगा-फ़साद, तनाव और विनाश साम्प्रदायिकता के कारण ही होते हैं, जिससे आर्थिक हानि के साथ ही साथ राष्ट्रीय अस्मिता भी खतरे में पड़ती है। आचार्य विद्यासागरजी ने इस साम्प्रदायिकता से निजात पाने के लिए मानव को आत्मधर्म पालने की शिक्षा दी है। उन्होंने सभी के उद्धार और आत्मा में ही परमात्मा का निवास है, बताकर धर्म के वितण्डावाद को रोकने का प्रयास किया है।

आपने साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए शरीर, वाणी, मन को समता से सुधारने के सन्देश को मुखरित किया है, जो राष्ट्रीय एकता का सुन्दर कवच है। वे कहते हैं कि जो अपने को बड़ा और श्रेष्ठ कहता है वह धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानता । आचार्यश्री के अनुसार सच्चा धर्म वही है, जिसमें हिंसा नहीं है।

सामाजिक समानता की मानवता : सृष्टि की सर्वोत्तम इकाई मनुष्य है। मनुष्य के बगैर कुछ भी सार्थक नहीं। मनुष्य ने दम्भ और अज्ञान के वशीभूत होकर परस्पर अपने ही बीच अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच की विभाजक रेखा खींच ली है, जिससे सामाजिक स्वरूप गड़बड़ा गया है और राष्ट्र विखण्डन की स्थिति में और नीचे चला गया है। आचार्यश्री ने इस विभाजक रेखा को पाटने के लिए 'मूकमाटी' में स्वर दिए हैं :

"परिवार की शरण में जाना ही/पतवार को पाना है
और/अपार का पार पाना है।" (पृ. ४७२)

आर्थिक असमानता समाप्त करने के लिए उन्होंने 'धन-संग्रह' की वृत्ति पर विरोध जताया है और समुचित वितरण व्यवस्था की ओर संकेत किया है :

"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !/और/लोभ के वशीभूत हो
अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो।" (पृ. ४६७)

राजनैतिक एकता और परस्पर सहयोग का भाव : आज के भीड़तन्त्र में अराजकता का प्रमुख कारण राजनैतिक विसंगतियाँ हैं, जिसमें दलितों एवं अल्पसंख्यकों के प्रति पूरी सहानुभूति नहीं है। सिर्फ वोट बैंक के लिए 'आरक्षण' जैसी सुविधा है। वह भी अयोग्यता का वरण और योग्यता का हरण करने वाली है :

"प्रायः बहुमत का परिणाम/यही तो होता है,

पात्र भी अपात्र की कोटि में आता है।" (पृ. ३८२)

इन्हीं कारणों से सामाजिक असन्तोष भड़कता है, गरीब आदमी को न्याय विलम्ब से मिलता है जो अन्याय के बराबर ही है :

"आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय-सा लगता ही है।/और यही हुआ
इस युग में इस के साथ।" (पृ. २७२)

यहाँ अपराधी बच निकलते हैं, निरपराधी पिट जाते हैं (पृ.२७१)। इस कारण भी राष्ट्रीय एकता खतरे में है। स्वयं राजनीतिज्ञ, सत्ताधीश अपने लिए सुख-सुविधा जुटाकर समाज/जनता को पीछे रखते हैं (पृ. ४६०-४६१)। स्वयं वेतन-भोगी हैं (पृ. १२३) फिर राष्ट्रीयता का स्वरूप कैसे रहेगा ? वस्तुतः लोकतन्त्र में समाजवाद का अर्थ 'प्रचार-प्रसार से दूर, प्रशस्त आचार-विचार वालों का जीवन ही समाजवाद है' (पृ. ४६१)। अतः राजनीतिक सत्ताधारियों को चाहिए कि वे 'शूलशीला जीवन को वरण करें और पद-लिप्सा की भावना से दूर रहें'।

- *"शास्ता की शासन-शय्या फूलवती नहीं/शूल शीला हो,/अन्यथा,*
  राजसत्ता वह राजसता की/रानी—राजधानी बनेगी।" (पृ. १०४)
- *"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,*
  पाप-पाखण्ड करते हैं।/प्रभु से प्रार्थना है कि/अपद ही बने रहें हम!
  जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं।" (पृ. ४३४)

राजनीतिज्ञों को चाहिए कि वे दलित वर्ग, अल्पसंख्यकों को सात्त्विक संस्कारों से ओतप्रोत कर राष्ट्रीय मुख्यधारा में लाने के लिए सहानुभूति रखें :

"...जो/पद-दलित हुए हैं/किसी भाँति,/उर से सरकते-सरकते
उन तक पहुँच कर/उन्हें उर से चिपकाया है,/प्रेम से उन्हें पुचकारा है,
उनके घावों को सहलाया है।" (पृ. ४३३)

लोकतन्त्र में आस्था : लोकतन्त्र की स्थापना से ही सामाजिक न्याय और समानता की बात फलीभूत होती है। स्वतन्त्रता और विकास के बीज लोकतन्त्रीय व्यवस्था में ही निहित होते हैं। शोषण और अनाचार से मुक्ति भी इसी प्रणाली में मिलती है। आचार्य विद्यासागर लोकतन्त्र में आस्था रखते हुए 'भी' संस्कृति का गुणगान करते हैं :

"लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।/'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,/सद्विचार सदाचार के बीज
'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।" (पृ. १७३)

जातिगत अन्तर्विरोधों का अन्त : राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक तत्त्व जातिगत भेदभाव की स्थापना भी है। सभी मानवों में एक ही आत्मा का वास है, एक ही जैसा खून है फिर जातिगत भेदभाव क्यों ? आचार्य विद्यासागरजी

ने जातिगत भेदभाव सम्बन्धी तत्त्वों को निरुत्साहित करते हुए कहा है कि जो उच्च कर्म करता है, वही उच्च जाति का अर्थात् सही आदमी है। उन्होंने आचरण को ही प्रमुख माना है और कहा है :

"गात की हो या जात की,/एक ही बात है—/हममें और माटी में
समता-सदृशता है/...वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से
वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४६-४७)

स्वतन्त्रता की भावना : जहाँ परतन्त्रता बन्धन है, दुःख है, अँधेरा है वहाँ परतन्त्र व्यक्ति दासता के घेरे में रहकर स्वयं अविकसित रहता है, फिर वह समाज/राष्ट्र के विकास में क्यों योगदान देगा ? वहीं, स्वतन्त्रता सुख है, प्रकाश की किरण है, विकास की सम्भावना है, अस्तु। आचार्य विद्यासागरजी ने 'स्वतन्त्रता' की भावना को राष्ट्रोद्धार की सीढ़ी माना है और कहा है :

"यहाँ/बन्धन रुचता किसे ?/मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता/तभी···तो···
किसी के भी बन्धन में/बँधना नहीं चाहता मैं,/न ही किसी को
बाँधना चाहता हूँ।" (पृ. ४४२)

आपसी प्रेम और सद्भाव : अलगाववादी प्रवृत्तियों के कारण ही राष्ट्र का क्षितिज स्तरहीन हुआ है, बिखरने के कगार पर आया है। अपहरण, हत्या, व्यभिचार जैसे घिनौने कृत्य अलगाववाद की ही घृणित प्रवृत्ति से उपजे हैं, जो राष्ट्रीय एकता को छितर-बितर करते हैं। आचार्यश्री परस्पर लगाव की भावना को प्रोत्साहन देते हुए कहते हैं :

"अलगाव से लगाव की ओर/एकीकरण का आविर्भाव
और/फूल रही है माटी।" (पृ. ८९)

राष्ट्र-प्रेम की भावना : जब तक मनुष्य अपनी धरती, राष्ट्र, संस्कृति से प्रेम, भक्ति की भावना नहीं रखेगा, तब तक देश खुशहाल और उन्नतिमय नहीं हो सकेगा। राष्ट्र और राजा के प्रति सम्मान की भावना, राजा द्वारा प्रजा के साथ पुत्रवत् कामना ही राष्ट्रीय अस्मिता को बरकरार रख सकती है। इसी तरह से धरती के प्रति अनुराग की ओर आपने संकेत किया है। इस सम्बन्ध में आचार्यश्री कहते हैं :

"धरती की प्रतिष्ठा बनी रहे, और/हम सबकी
धरती में निष्ठा घनी रहे, बस।" (पृ. २६२)

शिक्षा और भाषा की दृष्टि से एकता में विकास : शिक्षाविहीन नर पशुतुल्य है। शिक्षा के ही साए में मानव की मनोवृत्तियों का विकास होता है। उसे आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। शिक्षा की अवधारणा का अर्थ अज्ञान रूपी अँधेरे में प्रकाश लाना है। अच्छी शिक्षा आत्मनिर्भरता, चारित्रता, देशप्रेम और मोक्ष-प्राप्ति आदि का कारण है। आचार्यश्री कहते हैं जो शिक्षा के अर्थ को नहीं जानते हैं, वे दुःखी रहते हैं। अज्ञानी राष्ट्र के विकास में बाधक हैं। अनुशासन, ब्रह्मचर्य, पूर्ण सेवा, त्याग, शाकाहार जैसे उदात्त गुणों से भरपूर 'गुरुकुली शिक्षा' को प्राथमिकता देते हुए आचार्यश्री ने शिक्षार्थी को "ज्ञानी बनो सहज पाकर उच्चशिक्षा" जैसे वाक्य प्रसारित किए हैं। इसी प्रकार भाषागत उदारता का परिचय आपके अन्य काव्यों में भी है। किसी राष्ट्र के स्वरूप को शाश्वत बनाए रखने के लिए एक सम्पर्क

भाषा की आवश्यकता होती है जो भावात्मक रूप से सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधती है। मातृभाषा के जरिए ही हम मधुर, सरल और सुष्ठु वातावरण तैयार कर सकते हैं।

कर्म-आधारित समाज : बेकारी की समस्या के कारण ही राष्ट्र अपने मूल पथ से भटक रहा है। इसका प्रमुख कारण उदरपूर्ति के लिए हित-साधन बनी शिक्षा-व्यवस्था, जो सिर्फ डिग्रियाँ देकर लोगों में बेरोजगारी पैदा कर रही है और कुछ लोग तो बिना मेहनत किए ही आराम से रहना चाह रहे हैं। यही वजह है कि हम स्वयं दिन-प्रतिदिन कमज़ोर होकर राष्ट्र को कमज़ोर कर रहे हैं। इसीलिए उन्होंने कर्म आधारित संस्कृति का स्तुतिगान किया है :

"परिश्रम करो/पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें।" (पृ. २११-२१२)

आज देश में अलगाववाद, बेरोजगारी, आतंकवाद, साम्प्रदायिकता जैसी घातक समस्याएँ बनी हुई हैं। यदि समय रहते इनके निराकरण की ओर ध्यान नहीं दिया गया तो ये विषवेल की तरह ऐसी फैल जाएँगी कि सारा वातावरण ही विषाक्त हो जाएगा। आचार्यश्री कहते हैं 'जब तक आतंकवाद जीवित है, शान्ति का श्वास लेना कठिन है' (पृ.४४१)। इसीलिए इसके मुकाबले के लिए वे जन-समर्थन के साथ ही बुद्धिजीवियों का आह्वान करते हैं :

"ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,/ये कान अब
आतंक का नाम सुन नहीं सकते,/यह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि
उसका रहे या इसका/यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा।" (पृ. ४४०)

अन्धविश्वासों-रूढ़ियों-कुरीतियों का विरोध : देश के विकास में कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ बाधक तत्त्व हैं। आचार्यश्री ने नारी-चेतना के स्वरों को गति देते हुए दहेज जैसी कुरीति को अभिशप्त माना है।

"...खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ.३८६)

इसके साथ ही रूढ़ियाँ भी हमें विनाश की ओर ले जाती हैं। पाप करके पुण्य की बात करना कहाँ की बुद्धिमानी है? वस्तुतः यह तो विनाश की राह है।

इस प्रकार आचार्यश्री विद्यासागर के काव्य में हमें राष्ट्रीय एकता के स्वर सुनाई पड़ते हैं। मानवता की रक्षार्थ और राष्ट्रीय एकता तथा धरती, संस्कृति (भारतीय संस्कृति) के गुणगान में उनकी देशभक्ति की भावना प्रबल दिखाई पड़ती है। आपका समूचा साहित्य ही राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत है। वे कहते हैं कि 'कला मात्र से जीवन में सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है' (पृ.३९६)। और 'साहित्य वह है जिससे सुख का समुद्भव-सम्पादन हो, सही साहित्य वही है' (पृ.१११)। आपके काव्य में मातृभावना तथा जीव-कल्याण भावना की दृष्टि भी विद्यमान है :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें--/अमंगल-भाव।" (पृ. ४७८)

आपका काव्य क्षमा और प्रेम का काव्य है :

"क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी!" (पृ. १०५)

स्त्री-चेतना के स्वर भी आपके काव्य में देखे जा सकते हैं :

"जो / 'मह' यानी मंगलमय माहौल, / महोत्सव जीवन में लाती है
'महिला' कहलाती वह।" (पृ. २०२)

आचार्य विद्यासागरजी महाराज का 'मूकमाटी' काव्य राष्ट्रीय चेतना से सम्पृक्त काव्य है। इसमें भारत की प्राचीन मूल्य-सम्पदा, स्वच्छ राजनीति, मानव-कल्याण, धर्म, आदर्श, समाजवाद व्यवस्था और सांस्कृतिक धरोहर की अमिट चित्र-छवियाँ अंकित हैं। संस्कृत में छह शतकम्, राष्ट्रभाषा में सात शतक संग्रह, पाँच काव्य संग्रह और एक कालजयी 'मूकमाटी' महाकाव्य, लगभग पच्चीस-तीस ग्रन्थों के पद्यानुवाद–काव्यानुवाद संग्रह तथा अनेक प्रवचन संग्रह, स्फुटगीत, कविताओं के सर्जक मुनि विद्यासागरजी दिगम्बर जैन सन्त हैं। आपने अपने काव्य के माध्यम से राष्ट्रीय एकता के खतरों को सावधानीपूर्वक समाज, राष्ट्र के समक्ष रखा है। धर्म के वितण्डावाद, विडम्बनाओं से राष्ट्रीय एकता खण्डित होती है। वर्गवादी संस्कृति से भी देश की अस्मिता को खतरा है। स्वार्थपूर्ण नीतियाँ, संकीर्ण सोच और राजनीतिक तुष्टीकरण की भावना भी राष्ट्रीयता को चोट पहुँचाती है। इसीलिए आप ने लिखा है कि एकता के लिए जरूरत है कि हम पहिले मनुष्य बनें और मानवता का विकास करें। शिक्षा नीति में सद्गुणों और श्रम निष्ठा वाले पाठ्यक्रम रखे जाएँ। लोकतन्त्र की नीति देश के प्रति बहुमान, गौरव एवं अपनत्व की भावनाओं के द्वारा ही सुरक्षित रहेगी।

'मूकमाटी' - एक मूल्यांकन

मानव-मूल्यों की महिमा से मण्डित, महाकाव्यों की परम्परा में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में 'मूकमाटी' का सृजन सन्त-कवि आचार्य विद्यासागरजी की जीवन्त आस्था और साधना का प्रतीक है।

माटी को आधार बनाकर आचार्यश्री ने अपनी साधना से प्रसूत भावों को कल्पना के रंग में रँगकर, युगीन प्रसंगों को प्रस्तुत कर युग-चित्रण की झाँकी को चित्रित किया है जो मानवतावादी जीवन-दृष्टि से प्रेरित होकर भारतीय संस्कृति और जीवन चेतना के स्वरों को उद्घोषित करती है। 'महाकाव्य' राष्ट्रीयता, भक्ति, मानवीय संवेदना के भावों, मानव की परिपूर्णता हेतु आधार, पवित्र, शाश्वत संस्कृति के मूल्यों से परिपूरित रचना होती है। इन दृष्टियों का प्रतिपादन हम 'मूकमाटी' में देखते हैं। कहना चाहिए समग्रता से साक्षात्कार का बोलबाला 'मूकमाटी' में है। विज्ञान की प्रगति ने मानव को अधिकाधिक सुविधाएँ देने का प्रयास किया, लेकिन उसके दुरुपयोग में जिस जहर का निर्माण हुआ, उससे जीवन के हर क्षेत्र में अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ प्रवेश कर गईं और सुख की जगह तनाव, शान्ति की जगह क्लान्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई, फलस्वरूप सिर्फ वेदना की अनुभूति के सिवाय कुछ और नहीं रहा। साहित्य ऐसी ही समस्याओं के प्रति सजग और समाधान के लिए सतत प्रयासरत रहा है। आचार्यश्री का यह सृजन भी उसी खोज का प्रयोग है। युगीन प्रसंगों को महाकाव्यात्मक आधार देकर उन्होंने जिस रचना फलक का निर्माण किया है, उसमें उनकी अन्तर्दृष्टि सदैव सत्य को ही पकड़े रही है। असत्य, अनास्था, हिंसा, व्यभिचार, परिग्रह, अनीति आदि से उत्पन्न दुःख और तनावग्रस्त यथार्थ का चित्रण करके उन्होंने आस्था, विश्वास, श्रद्धा, साधना, अनुशासन, प्रेम, समता, शील आदि का आदर्श चित्र हमारे सामने रखकर आत्मिक सुख-शान्ति देने का प्रयास किया है।

बेचैन माटी अपने पतित-दलित रूप से ऊपर उठ सार्थक जीवन में ढलना चाहती है। माँ धरती उसे श्रद्धा, आस्था, अनुशासन, समर्पण, साधना की शिक्षा देती है। कथानायक कुम्भकार संकर दोष वारण कर वर्णलाभ देता

है। माटी से कुम्भ निर्माण प्रक्रिया में माटी को उपसर्ग सहने पड़ते हैं। वह निरन्तर संघर्ष कर अपने मूल रूप (मंज़िल) को प्राप्त होती है। कथानायक की यहीं सार्थकता सिद्ध होती है। बीच-बीच में अनेक पात्रों के संवाद मानव को त्याग, सेवा, समता, अहिंसा, सत्य, शील, परिश्रम, प्रेम आदि रूप अनेक संस्कार–शिक्षाएँ देते हैं तो यहीं पर पर्यावरणवाद, नारीवाद, अध्यात्मवाद की अनेक उलझी समस्याएँ सुलझी हुई युगीन परिवेश में प्रस्तुत हुई हैं। कथा कहते-कहते जीवन के अनेक रूपों को रूपायित किया है कवि ने। समाजवाद के वास्तविक रूप की व्याख्या, धर्म की महत्ता, आतंकवाद की समस्या, राजनीति, अर्थनीति के वास्तविक तथ्यों का इतना सुन्दर वर्णन किया है कि 'मूकमाटी' को आद्यन्त बार-बार पढ़ने मन हो उठता है। यही कविता की सार्थकता भी है। धारा की गति की दिशा में चलना जितना सरल है, उसके विपरीत चलना उतना ही कठिन भी। 'मूकमाटी' में ऐसे ही विरोधी प्रश्नों का समाधान है जो हमें दर्पण की भाँति सुखमय वर्तमान और भविष्य की झलक देते हैं।

उपभोक्ता संस्कृति के विकास में मानव-मूल्यों का जो ह्रास हुआ है उससे मानव-चेतना स्वार्थी और संकुचित घेरों में घिरकर व्यक्तिवादी तथा अवसरवादी हो जाने से कुण्ठित हो गई है। अर्थलोलुपता में भावनाएँ कुत्सित हो गई हैं, फलस्वरूप सामाजिक विद्रूपताएँ, धार्मिक मदान्धताएँ, आर्थिक असमानताएँ, राजनैतिक विषमताएँ, पारिवारिक विशृंखलताएँ आदि अनेक अराजकताएँ सुरसा की तरह मुँह बाये खड़ी होती जा रही हैं। आचार्यश्री ने इन्हीं समस्याओं के समाधान में अपनी पहचान बनाई है। 'मूकमाटी'कार ने महाकवि दिनकर के शब्दों को – "जो महाकवि युग की अनेक वेगवन्त धाराओं के लिए सागर का निर्माण करे, उसी का महाकाव्य लिखने का प्रयास सफल रहता है" - पूर्णतया समाहित कर लिया है।

आचार्यश्री ने भोगवादी संस्कृति - प्रवृत्ति में मानव और प्रकृति दोनों का ही वर्तमान एवं भविष्य विकृत देखा है। तभी आपने योगवादी संस्कृति (भारतीय संस्कृति) का यशोगान गाया है, जो महामानव की पूर्ण कल्पना की अन्तिम दशा भी है।

प्रत्येक प्राणी का अन्तिम ध्येय सुख की प्राप्ति है। वह दुःख से छुटकारा चाहता है, लेकिन उसे मोह, माया, मान, लोभ, क्रोध, काम आदि वृत्तियाँ सुख की ओर अग्रसर नहीं होने देतीं। इन्हीं वृत्तियों के त्यागने तथा तप, त्याग और साधना आदि के द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। विद्यासागरजी ने इन्हीं सन्देशों का शंखनाद किया है। ऐसे ही सन्देश वैर, परतन्त्रता, पूँजीवाद, अकर्मण्यता आदि को समूल नष्ट कर सकते हैं :

"पर को परख रहे हो/अपने को तो परखो···जरा !
परीक्षा लो अपनी अब !" (पृ. ३०३)

तीर मिलता नहीं तैरे, आग की नदी पार करनी होगी, संयम की राह चलना होगी, दया का विकास करना होगा, प्रकृति में रमना होगा, तभी 'वर्ण-लाभ, पुण्य का पालन, शोध का बोध, चाँदी-सी राख' प्राप्त की जा सकती है। इन्हीं मूल्यों की उद्भावना करते हुए कवि ने सर्वत्र फैली कलह, अशान्ति, अराजकता को नष्ट करने के लिए विश्व-भावना भायी है :

- *"दिवि में, भू में/भूगर्भों में/जिया-धर्म की*
  दया-धर्म की/प्रभावना हो···!" (पृ. ७७-७८)
- *"मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,/और कुछ वांछा नहीं।" (पृ. ४०)*
- *"जीवन का मुण्डन न हो/सुख-शान्ति का मण्डन हो।" (पृ. २१४)*

इन्हीं उद्देश्यों की महत् प्रेरणा का प्रतिफलन है 'मूकमाटी'। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों का वर्णन,

आदर्शों की स्थापना की गई है।

इसमें सांस्कृतिक उच्चता को वंचित करने वाले तत्त्वों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया गया है :

"सुख-शान्ति से/दूर नहीं करना है इस युग को/और
दुःख-क्लान्ति से/चूर नहीं करना है।" (पृ. ११५)

'जियो और जीने दो, कर्म ही पूजा है, व्यक्ति जन्म से नहीं - कर्म से महान् बनता है' – जैसे सर्वोदयी विचारों को जीवन्तता प्रदान कर आचार्यश्री ने मानवता को प्रतिष्ठित किया है।

सांस्कृतिक उन्नयन ही महाकाव्य की सार्थकता है। यहाँ जाति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व में सांस्कृतिक उत्कर्ष की भावना को उत्पन्न कर एकत्व लाने का प्रयास किया गया है।

इसमें बीजाक्षरों के माध्यम से भारतीय संस्कृति की महत्ता को पुनर्जीवित किया है :

" 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
...'ही' से हीन हो जगत् यह/अभी हो या कभी भी हो
'भी' से भेंट सभी की हो।" (पृ. १७३)

'सबसे सदा सहज बस मैत्री रहे मेरी, पापी से नहीं - पाप से घृणा करो, वासना का विकास मोह है– दया का विकास मोक्ष है' – आदि सूक्तियों को व्याख्यायित कर आचार्यश्री ने समता, प्रेम, अहिंसा, समाजवाद और सृजन के महत्त्व आदि से समस्याओं का समाधान कर समाजसुधारक के रूप में स्पष्टतः चेतावनी दी है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद
शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह।" (पृ. ४४१)

धन लोलुपता ही मानव के विनाश का कारण है। इसी की पूर्ति में लगा मानव व्रत, नियम, सिद्धान्त, नीति आदि को पीछे छोड़ता जा रहा है। धन-संग्रह की प्रवृत्ति ही दुःख और तनाव का कारण है। आचार्यश्री ने इसका समुचित वितरण करने के लिए आह्वान किया है, और मानव को प्रकृति में रमने का सन्देश भी दिया है।

"पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।" (पृ. ९३)

इस तरह 'मूकमाटी' में उदात्त कथानक, विशाल चरित्रसृष्टि, महत् प्रेरणा है। इसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति की स्थापना है। इसके साथ ही विशिष्ट रचना-शिल्प का निर्माण महाकाव्यत्व को दर्शाता है। भाव पक्ष को कहने के लिए कवि ने जिस कला पक्ष का निर्वाह किया है, वह किसी बौद्धिक आयास का प्रतिफल नहीं अपितु सूक्ष्म और स्वतन्त्र दृष्टि में स्वतः ही निरूपित हुआ है। 'वर्णन वैविध्य' महाकाव्य की अप्रतिम विशेषता है। उसके द्वारा ही जीवन की, जीवन के अनेक रूपों की व्यंजना की जा सकती है। 'मूकमाटी' में बड़े ही कलात्मक सौन्दर्य के साथ इन भावों का अभिव्यक्तीकरण प्रकृति के माध्यम से, कहीं मानवीकरण रूप में, कहीं आलम्बन रूप में, कहीं उपदेश रूप में और कहीं सन्देश रूप में तथा कहीं संवेदनात्मक रूप में कुशलतापूर्वक किया गया है।

सन्देश रूप को व्यक्त करती हुई प्रकृति सुन्दरी का अनुपम चित्रण किया है, जो द्रष्टव्य है :

"पराग-प्यासा भ्रमर-दल वह/कोंपल फूल-फलों-दलों का
सौरभ रस पीता है/पर उन्हें,/पीड़ा कभी न पहुँचाता।" (पृ. ३३३)

'रसात्मकता' महाकाव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। विद्यासागरजी ने यहाँ विविध रसों का मनोहारी वर्णन करते हुए रसराज 'शान्त रस' की प्रधानता को स्वीकारा है :

"सदय बनो !/अदय पर दया करो/अभय बनो !
सभय पर किया करो अभय की/अमृत-मय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो !" (पृ. १४९)

अपने भावों को व्यक्त करने के लिए आचार्यश्री ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह विशुद्ध हिन्दी की खड़ी बोली है। उसमें कहीं भी दुरूहता या क्लिष्टता नहीं बल्कि सम्पूर्ण भाषा में प्रवहमानता, सहजता और सरलता है। भाषा कहीं छोटी, कहीं बराबर तो कहीं लम्बी शब्दावलियों से युक्त है। भावों को समझने के लिए कहीं भागना नहीं पड़ता, कवि की इस विशिष्ट भाषा की यही विशेषता है। भाषा कहीं सामासिक पदावलीयुक्त ओज एवं माधुर्यगुणयुक्त, गम्भीर योजनायुक्त है तो कहीं कम शब्दों में अधिक भावों की व्यंजना, नवनवोन्मेषशालिनी, मुक्त वेग से विहार करती हुई बालक हृदय के समान समाधि भाषा है :

"माटी के प्राणों में जा,/पानी ने वहाँ/नव-प्राण पाया है,
ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।" (पृ. ८९)

आचार्यश्री के संयमित आचरण के समान ही आपकी भाषा भी समय, संयमित लय, यति-गति से पूर्ण है। यहाँ शब्द साधना के साँचे में ढले हैं जो शब्द से अर्थ, अर्थ को नव अर्थ देते हैं। भाषा में आशावादिता, चित्रोपमता, प्रतीकात्मकता और लाक्षणिकता पद-पद पर उभरी है। भाषा का आशावादी स्वरूप द्रष्टव्य है :

"हाँ, हाँ !!/विश्वास को अनुभूति मिलेगी
अवश्य मिलेगी/मगर/मार्ग में नहीं, मंज़िल पर !" (पृ. ४८८)

शब्दों के रंगों की मुक्त बौछारें - फुहारें, अर्थ की छटा सहज ही हृदयस्थ हो जाती हैं। नाद सौन्दर्य और माधुर्य भरी शब्दरचना से युक्त भाषा का स्वरूप देखते ही बनता है :

"जहाँ कहीं भी देखा/महि में महिमा हिम की महकी,
और आज !/घनी अलिगुण-हनी/शनि की खनी-सी···
भय-मद-अघ की जनी/दुगुणी हो आई रात है।" (पृ. ९१)

वे शब्दों के शिल्पी हैं। उनकी भाषा में शब्द की व्युत्पत्ति, शब्द का अर्थ पाठक को बरबस ही रमाए रहता है, यथा :

" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ, काम–पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो···'स्त्री' कहलाती है।" (पृ. २०५)

भाषा में लोकोक्तियाँ, मुहावरे, सूक्तियाँ, जो भाषा की शृंगार तथा साहित्य की अनुपम निधि होती हैं, जिनसे भाषा में कसावट, भाव व्यक्त करने की सामर्थ्य बढ़ जाती है, उनके प्रयोग भी सहज उपलब्ध हैं। यथा– मुहावरे : "उर में उदारता उगना, दूध को छौंकना, बाल की खाल निकालना, मान यान के नीचे उतरना, नियति के रंजन में रमना" आदि। लोकोक्तियाँ : "बायें हिरण दायें जाय, लंका जीत राम घर आय, लक्ष्मण की भाँति उबलना"

आदि। सूक्तियाँ : "बगुलाई छलना, अलं विस्तरेण" आदि। इसके साथ ही भाषा में संस्कृतनिष्ठ शब्द, संस्कृत के तत्सम, तद्भव एवं अरबी, फारसी, अँग्रेजी भाषा आदि के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जो कदाचित् हिन्दी के रमे हुए ही शब्द हैं।

शैली की दृष्टि से 'मूकमाटी' की विशिष्टता है कि इसमें अनेक शैलियों का प्रयोग कवि ने किया है, यथा– प्रश्नात्मक शैली, तर्क शैली, समीक्षात्मक शैली, मनोवैज्ञानिक शैली, दृष्टान्त शैली और तुलनात्मक शैली आदि। तुलनात्मक और दृष्टान्त शैली का स्वरूप देखिए :

तुलनात्मक शैली : *"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं–*
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;
और एक/योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।
कुछ ही क्षणों में/दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।
फिर क्या कहना!/एक शव के समान/निरा पड़ा है,
और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)

दृष्टान्त शैली : *'साधु बन कर/स्वाद से हटकर/साध्य की पूजा में डूबने से*
योजनों दूर वाली मुक्ति भी वह/साधक की ओर दौड़ती-सी लगती है
सरोज की ओर रवि किरणावली-सी।" (पृ. ३८२-३८३)

'मूकमाटी' में अलंकारों का प्रयोग पग-पग पर दिखाई देता है। अनुप्रास और उपमा तो ऐसे हैं, जैसे वे कवि के प्रिय अलंकार ही हों, जो चमत्कार करते हैं। भावों को स्पष्ट करने के लिए 'मूकमाटी' में जिन अलंकारों का प्रयोग हुआ है, उनमें मुख्य अलंकारों की सूची द्रष्टव्य है :

अनुप्रास : *"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है।" (पृ. १)*

उपमा : *"सिन्दूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा।" (पृ. १)*

प्रतीक : *"अतिथि के अभय-चिह्नित/उभय कर-कमलों में*
संयमोपकरण दिया मयूर-पंखों का/जो
मृदुल कोमल लघु मंजुल है।" (पृ. ३४३)

यमक : ◻ *"किसलय ये किसलिए/किस लय में गीत गाते हैं?/किस वलय में से आ*
किस वलय में क्रीत जाते हैं?/और/अन्त-अन्त में श्वास इनके
किस लय में रीत जाते हैं?" (पृ. १४१-१४२)

◻ *"हाय रे!/समग्र संसार-सृष्टि में/अब शिष्टता कहाँ है वह?*
अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र!" (पृ. २१२)

सन्देह : *"सत्य का आत्म-समर्पण/और वह भी/असत्य के सामने?/हे भगवन्!*
यह कैसा काल आ गया,/क्या असत्य शासक बनेगा अब?
क्या सत्य शासित होगा?" (पृ. ४६९)

श्लेष : *"हरिता हरी वह किससे?/हरि की हरिता फिर*
किस काम की रही?" (पृ. १७९)

'मूकमाटी' का छन्द-विधान मुक्त रूप में है। सम्पूर्ण महाकाव्य में सिर्फ मात्रिक छन्द रूप 'दोहा' (पृ. ३२५) तथा 'वसन्ततिलका' (पृ. १८९) हैं। मुक्त छन्द में विचरण करती हुई 'मूकमाटी' में कविनिर्मित छन्दों का प्रयोग हुआ है, जो नए, मनोहारी, युगानुकूल हो गए हैं। छन्द विधान में कवि की स्वतन्त्र दृष्टि ही काम करती दिखाई देती है, वरना आपके द्वारा रचित हिन्दी एवं संस्कृत में अन्य शतकों तथा पद्यानुवादित रचनाओं में भी अनेक छन्दों का कवि ने उपयोग किया है। 'मूकमाटी' में परम्परानुसार छन्दों का प्रयोग न होना किसी खास उद्देश्य की पूर्ति है, शायद 'मुक्त छन्द' में प्रथम 'महाकाव्य'। इसका कारण उनकी दृष्टि भी है, जिसका आशय उन्होंने स्पष्ट किया है :

"यहाँ/बन्धन रुचता किसे ?/मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता।" (पृ. ४४२)

कवि द्वारा जिन मुक्त छन्दों की रचना हुई है, उनमें से कुछ की मात्राएँ द्रष्टव्य हैं :

- *"पक्षपात से दूरों की/यथाजात यतिशूरों की* = २८
  दया-धर्म के मूलों की/साम्य-भाव के पूरों की।" = २८ (पृ. ३१५)
- *"गगन का प्यार कभी/धरा से हो नहीं सकता* = २५
  मदन का प्यार कभी/जरा से हो नहीं सकता।" = २५ (पृ. ३५३)

इसी तरह १७-१७, २३-२३, २६-२६, १९-१९, ३४-३४, ३१-३१, २८-२८, २५-२५ इत्यादि मात्राओं से युक्त छन्दों का भी निर्माण हुआ है।

नि:सन्देह, 'मूकमाटी' अधिक परिमाण के साथ ही कथावस्तु की उच्चता, चरित्र सृष्टि की उदात्तता, नायक का विशिष्ट गुणों से भरपूर होना, महत् उद्देश्य की पूर्ति, विशिष्ट रचना शिल्प, वर्णन वैविध्य, रसात्मकता, पुरुषार्थता आदि लक्षणों से युक्त महाकाव्य की श्रेणी में युग-जीवन की जीवन्त तस्वीर प्रस्तुत करती है। समाजसापेक्ष महाकाव्य की तरह युगीन परिवेशों का विशद वर्णन यहाँ हुआ है, अत: 'मूकमाटी' महाकाव्य, महाकाव्य परम्परा में 'अमर कृति' के रूप में है। डॉ. नेमीचन्द जैन इस महाकाव्य को 'उपन्यासात्मक महाकाव्य' कहते हैं, जो सर्वथा उचित नहीं है, क्योंकि उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन-चित्रण सम्भव नहीं है। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक तथा सुकमाल जैन इस कृति में अध्यात्म प्रधानता ही देखते हैं। वे शायद जीवन-जगत् के अन्य व्यापारों को 'मूकमाटी' से उद्धृत नहीं कर पाए हैं। इस सन्दर्भ में डॉ. देवव्रत जोशी का कथन किंचित् सत्य भी है कि इस महाकाव्य में सार्वभौम और सार्वजनिक सत्य का उद्घोष है। डॉ. के. एल. जैन का मत ही अधिक सटीक जान पड़ता है : "न तो इस महाकाव्य को हम केवल दर्शन की सीमाओं में बाँध सकते हैं और न ही इसे हम अध्यात्म की चादर ही ओढ़ा सकते हैं; कृति पर ना तो सांसारिकता का लेबिल ही लगा सकते हैं और न ही सामाजिक समस्याओं का दस्तावेज ही कह सकते हैं। सच्चे अर्थों में यह महाकाव्य जीवन के पुंजीभूत सत्यों की खुली किताब है, जिसमें हम इच्छानुसार अपने जीवन के स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं।"

निश्चित ही, यह महाकाव्य ग्रन्थ के 'प्रस्तवन' लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के अनुसार 'आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र'; साहित्यकार मोहन शशि के शब्दों में 'अमर शिलालेख'; 'सन्मति वाणी' पत्रिका के अनुसार 'पतित से पावन बनने की यात्रा;' तथा साहित्यालंकार आनन्दवल्लभ शर्मा की दृष्टि में 'मृत्तिकोपनिषद्' है। वास्तव में 'मूकमाटी' में महाकाव्यात्मक विस्तार है, साथ ही है आलोचना की दिशा, काव्य की प्रेरणा, व्यष्टि से समष्टि के साधन और हिन्दी जगत् के लिए प्रेरणायुक्त सृजन। 'मूकमाटी' के रचयिता, मुक्तिमार्ग के नेता आचार्य विद्यासागरजी को हमारा कोटिश: नमन।

□

'मूकमाटी' : एक विमर्शात्मक अध्ययन

प्रो. हबीबुन्नीसा

सौन्दर्य का संसार यदि तब उजड़ जाए जब उसकी सर्वाधिक आवश्यकता हो, प्यार का सागर यदि तब सूख जाए जब उसकी सबसे ज्यादा चाहत हो, जब जीवन की परिभाषा सुखद बनकर जीवन का अर्थ सार्थक कर सके, तभी वह एक दु:स्वप्न बनकर जीवन को निरर्थक बना दे तो मानव निराश हो जाता है। और वह अपने आप को वहाँ खड़ा हुआ पाता है, जहाँ पर दूर-दूर तक चटियल रेगिस्तान होता है। उस समय मानव को अपनी प्यास बुझाने के लिए पानी की आवश्यकता पड़ती है तो उसके प्यासे मन को तृप्त करने के लिए कहीं न कहीं एक चश्मा घनी छाँव और अमृत लिए उस निराश मानव को दृष्टिगोचर होता है।

इसी प्रकार जब मानवता ऊँचे आदर्शों से गिर कर प्यासी हो जाती है तो उसकी आत्मा शीतलता के लिए तरसती है। ऐसी स्थिति में सन्त, दार्शनिक अथवा एक विचारक इस धरती पर जन्म लेता है। उसकी वाणी अशान्त मानवता को शान्ति प्रदान करती है और उसके विचार दुखी मानव की प्यासी आत्मा को शीतलता प्रदान करते हैं। ऐसे ही एक सन्त, दार्शनिक, कवि तथा आचार्य का जन्म आज से ५८ साल पहले हुआ, वह हैं—आचार्य विद्यासागरजी मुनि महाराज।

'मूकमाटी' महाकाव्य के कवि आचार्य विद्यासागरजी का जन्म कर्नाटक राज्य के जिला बेलगाम के सदलगा ग्राम के निकटवर्ती ग्राम 'चिक्कोड़ी' में १० अक्टूबर, १९४६ में हुआ। आपका बाल्य काल का नाम 'विद्याधर' था। आपने कन्नड़ माध्यम से प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की, प्रौढ़शाला तक आपकी पढ़ाई हुई। इस बीच में आपके अन्दर जो दार्शनिकता बसी थी वह जागृत हो गई। और उसके फलस्वरूप ३० जून, १९६८ को गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी महाराज से अजमेर (राजस्थान) में आपने मुनि दीक्षा प्राप्त की। उसके बाद आप जैन धर्म के प्रचार व प्रसार कार्य में निरन्तर लगे रहे तथा स्वाध्याय और चिन्तन-मनन में अपना समय लगाया। २२ नवम्बर, १९७२ को गुरुवर के करकमलों से ही नसीराबाद (अजमेर) राजस्थान में आपको 'आचार्य' का पद मिला। इस समय तक आपकी कुछ रचनाएँ हिन्दी, संस्कृत तथा अँग्रेजी में प्रकाशित हो चुकी थीं।

सम्प्रति, गद्य और पद्य दोनों में आपकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। काव्य के क्षेत्र में 'नर्मदा का नरम कंकर', 'डूबो मत-लगाओ डुबकी', 'चेतना के गहराव में', 'तोता क्यों रोता' और इस लेख में चर्चित 'मूकमाटी' महाकाव्य। पद्य के क्षेत्र में आचार्य कुन्दकुन्द प्रभृति जैनाचार्यों की कृतियाँ –'समयसार', 'नियमसार', 'प्रवचनसार'तथा 'समयसार कलश' आदि के साथ-साथ 'समणसुत्त' जैसे २६ ग्रन्थों के पद्यानुवाद रूप रचनाएँ आपने की हैं। आपके प्रवचन संकलन 'गुरु वाणी', 'प्रवचनामृत', 'प्रवचन पारिजात' एवं 'प्रवचन प्रमेय' इत्यादि हैं। अब तो आपके द्वारा रचित वाङ्मय 'समग्र : आचार्य विद्यासागर' एवं 'महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली' नाम से चार-चार खण्डों में उपलब्ध है।

हिन्दी साहित्य की सन्त-काव्य-परम्परा में आपको राष्ट्र-ख्याति प्राप्त है। आचार्यश्री नगर, ग्राम तथा तीर्थ क्षेत्रों का विहार करते हुए अपने अनोखे विचार और अमृतवाणी के द्वारा मानव-कल्याण में लगे हुए हैं। मानव धर्म तथा जैन धर्म की सेवा और निरन्तर आत्म-साधना में आपका जीवन बीत रहा है।

'मूकमाटी' दक्षिण से उत्तर को प्रदत्त एक अमूल्य देन है। दक्षिण भारत प्राचीन काल से ही उत्तर को ऋषि, सन्त और आचार्यों को देता आ रहा है। इस कड़ी के एक और बहुमूल्य मोती विद्यासागरजी हैं। 'मूकमाटी' अहिन्दी क्षेत्र से हिन्दी क्षेत्र को एक अनुपम भेंट है।

किसी भी काव्य कृति को महाकाव्य कहने के पहले उसके लक्षण को देखना आवश्यक है। काव्य अथवा कविता को रचना के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया जाता है :

(१) निबद्ध काव्य (२) अनिबद्ध काव्य और (३) प्रबन्ध काव्य।

(१) निबद्ध काव्य : इसके अन्तर्गत आने वाली रचनाओं में एक विचारधारा अथवा एक भावसूत्र में छन्द व्यवस्थित रूप से बँधे हुए रहते हैं।

(२) अनिबद्ध काव्य : इसको मुक्तक काव्य का नाम भी दिया जाता है। इसकी रचनाएँ स्वतन्त्र हैं। इन्हें किसी भी क्रम में रख सकते हैं।

(३) प्रबन्ध काव्य : प्रबन्ध काव्य की रचना में एक कथा होती है जो क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ती है। यहाँ छन्द भाव का पोषक बनकर साथ-साथ चलते हैं। छन्द के क्रम को स्वच्छन्द में परिवर्तन नहीं कर सकते। यह प्रबन्ध काव्य का प्रमुख लक्षण है। इसको दो भागों में विभाजित किया जाता है—महाकाव्य तथा खण्ड काव्य।

महाकाव्य : महाकाव्य के रूप तथा स्वरूप के बारे में संस्कृत के आचार्यों के विचार प्रमुख हैं। 'अग्नि पुराण' में काव्य के लक्षण की चर्चा में महाकाव्य के स्वरूप का वर्णन मिलता है। आचार्य दण्डी का 'काव्यादर्श,' विद्यानाथ का 'प्रताप-रुद्र-यशोभूषण,' हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' में महाकाव्य के लक्षणों का परिचय मिलता है।

हिन्दी साहित्य के विद्वान् तथा विमर्शक डॉ. भगीरथ मिश्रजी ने अपनी कृति में महाकाव्य के निम्नलिखित सात लक्षण बताए हैं। इन्हीं लक्षणों की कसौटी के आधार पर 'मूकमाटी' का अध्ययन करेंगे।

(१) कथावस्तु : महाकाव्य की कथा में मूलतः विस्तृत और सम्पूर्ण जीवन की घटनाओं का वर्णन होना चाहिए। इसमें न्यूनतम आठ सर्ग हों। तथा प्रत्येक सर्ग के अन्त में आने वाले सर्ग की सूचना होनी चाहिए। कथा का प्रारम्भ आशीर्वचन अथवा मंगलाचरण से होना चाहिए। इसकी कथा ऐतिहासिक हो या किसी महापुरुष की जीवन-गाथा से सम्बन्धित हो।

'मूकमाटी' इन सभी लक्षणों से ऊँचा है। जब सारा काव्य ही मंगलमय हो तो वहाँ मंगलाचरण की क्या आवश्यकता ? घर-मठ के व्यामोह को त्याग कर, आत्म-कल्याण के मार्ग पर निरन्तर चलने वाले, दिशाओं को ही अपना अम्बर बनाने वाले आचार्य विद्यासागरजी का प्रति शब्द मन्त्रोपदेश है एवं प्रत्येक पंक्ति आशीर्वचन है। मेरी दृष्टि में ऐसी महान् कृति के आरम्भ में आशीर्वचन अथवा मंगलाचरण की आवश्यकता नहीं है। आचार्यश्री सीधे विषय-प्रवेश करते हैं :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,/और···इधर···नीचे
निरी नीरवता छाई,/...करवटें ले रहा है।" (पृ. १)

'मूकमाटी' में आचार्य विद्यासागरजी सीधे विषय-प्रवेश कर गए हैं। ऐसे तो प्राचीन काल में भी मंगलाचरण के उल्लंघन करने वाले उदाहरण मिलते हैं। महाकवि कालिदास की मेरु कृति 'कुमारसम्भव' में मंगलाचरण नहीं है। कवि सीधे हिमालय के वर्णन को लेकर चलता है। इसी को मंगलाचरण का स्थान दिया गया है, क्योंकि हिमालय हमारी महिमा और गरिमा का द्योतक है। इसी प्रकार महाकवि जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' का प्रारम्भ भी मंगलाचरण के बिना ही होता है। कवि अपनी कृति का प्रारम्भ यूँ करता है :

"हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,/बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से,/देख रहा था प्रलय प्रवाह !
नीचे जल था, ऊपर हिम था,/एक तरल था एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता—/कहो उसे जड़ या चेतन।"

इसी प्रकार विद्यासागरजी भी सीधे विषय-प्रवेश करते हैं। हम पहले बता चुके हैं कि महाकाव्य में आठ सर्ग होना चाहिए, परन्तु इस महाकाव्य के चार ही सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग आत्मा के संगीत से भरपूर है। इसकी गूँज अनन्त है। मेरी दृष्टि में ये चार खण्ड चार दिशाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'मूकमाटी' जैसे अध्यात्म काव्य को ऐतिहासिक कथा अथवा महापुरुष की जीवन-गाथा की आवश्यकता नहीं है। असंख्य इतिहासों को अपने सीने पर लिए हजारों महापुरुषों के जीवन के ज्वारभाटा तथा उतार-चढ़ाव को मौन रूप से देखते हुए लाखों भव्यात्माओं और दिव्यात्माओं को अपनी गोदी में लेकर चिरनिद्रा में सुलाने वाली 'माटी' ही इसकी कथावस्तु है। यहाँ हम विद्यासागरजी की प्रतिभा तथा उनके काव्य की प्रतीकात्मकता को देख सकते हैं।

मिट्टी जैसी पद-दलित, उपेक्षित वस्तु को महाकाव्य की कथावस्तु बनाकर और उसकी मूक वेदना को वाणी प्रदान करके कवि ने एक अमूल्य कार्य किया है।

(२) नायक : महाकाव्य का नायक देवता, किसी उच्च कुल में जन्मा क्षत्रिय या किसी ऊँचे वंश का राजा अथवा अनेक वंशों में जन्म लेने वाले राजा हो सकते हैं। परन्तु, वह नायक धीरोदात्त गुण रखने वाला हो, उसका व्यक्तित्व समाज में निश्चय रूप से सद्भावनाओं को वर्धित करने वाला हो, उसके साथ-साथ उसमें संरक्षक गुण भी विद्यमान होना चाहिए। यहाँ पर 'मूकमाटी' का नायक माटी से बना हुआ मंगल घट है अर्थात् मिट्टी ही यहाँ प्रमुख है।

कथा का प्रवाह इस प्रकार है—कुम्हार घट बनाने के पहले मिट्टी में रहने वाले कंकड़-पत्थर को दूर करके उसे शुद्ध बनाता है तथा पानी मिलाकर मिट्टी को मृदु बनाता है। फिर उसे चाक पर चढ़ाकर घट का रूप देता है। हवा उसके अन्दर रहने वाले जलतत्त्व को सुखाती है। इस बीच में सूर्य उसे अपने ताप से दृढ़ बनाता है। उस दृढ़ता को और मजबूती प्रदान करने के लिए आग के आवे में तपाया जाता है। जब मिट्टी का घड़ा आवे से निकाला जाता है तो वह मंगल घट बन जाता है। अन्योक्ति के द्वारा आचार्यजी ने यहाँ दार्शनिक व्याख्यान प्रस्तुत किए हैं। समूचे काव्य में कुम्हार और मिट्टी ही प्रमुख रूप से हमारे सामने आते हैं। इसलिए मिट्टी को ही हम नायक का स्थान दे सकते हैं।

(३) रस : महाकाव्य में सभी रसों का वर्णन अनिवार्य है। जब व्यापक जीवन की गाथा का वर्णन होता है तो उसके विभिन्न मोड़ पर दूसरे-दूसरे रसों का प्रयोग होता है। शास्त्रकारों ने शृंगार रस, वीर रस तथा शान्त रस को प्रधान रस माना है। इन तीन रसों में से किसी एक रस को महाकाव्य का मूल रस माना जाता है और दूसरे रस गौण रूप से काव्य की धारा को अग्रसर करते हैं।

'मूकमाटी' आध्यात्मिक दृष्टिकोण से युक्त महाकाव्य है जिसमें मूल कथा के साथ-साथ चिन्तन और दर्शन गंगा-जमुना के समान सुप्त रूप से साथ-साथ बहते हैं। शान्त रस को 'मूकमाटी' महाकाव्य का प्रधान रस मान सकते हैं।

(४) छन्द : काव्य में कथा के विकास तथा प्रवाह की दृष्टि से एक सर्ग में अथवा खण्ड में एक ही छन्द का होना अनिवार्य है। सर्ग के अन्त में छन्द का परिवर्तन होना चाहिए। कभी-कभी विविधता तथा अद्भुत रस की निष्पत्ति के लिए एक सर्ग में विविध छन्दों का उपयोग किया जाता है। 'मूकमाटी' काव्य लौकिक तथा अलौकिक जिज्ञासा और सत्यान्वेषण की विचित्र शैली को लेकर चलता है। ऐसी स्थिति में भावों को छन्द के बन्धन में बाँधने से बनावटीपन आ जाता। इस बात को ध्यान में रख कवि ने 'स्वच्छन्द' शैली को काव्य का छन्द बनाया है। इसी कारणवश छन्द से मुक्त स्वतन्त्र धारा समूचे काव्य में विद्यमान है।

(५) वर्णन : महाकाव्य यथार्थ और वैविध्यमय वर्णन को लेकर चलता है। जैसा कि प्रकृति के अनेक रूप उसमें अपना चित्रण लेते हुए आगे बढ़ते हैं—सागर से झरनों तक, टीले से पर्वत तक, वसन्त से पतझड़ तक, टिमटिमाते तारों से चमकते चन्द्रमा तक, लहलहाते पौधों से खिलते-खिलते फूलों तक का वर्णन किसी न किसी रूप में महाकाव्य

में आ जाता है। इसके साथ-साथ मानव-जीवन का वर्णन भी इस प्रकार आता है कि बचपन से बुढ़ापे तक, विरह से मिलन तक, जीवन से मृत्यु तक सारे रूपों का परिचय आ जाता है। 'मूकमाटी' में भी सूर्य, चन्द्र, पर्वत, सागर आदि का चित्रण मिलता है। मानव-जीवन का भी वर्णन प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मिलता है। केवल इतना ही नहीं, कवि समाज की कुप्रथाओं से दुखित मनुष्य के स्वार्थ का चित्रण भी करता है। ऐसे बहुत से उदाहरण काव्य में देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिए :

"...खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ. ३८६)

(६) शीर्षक : सामान्यतः महाकाव्य का नाम कवि, नायक, घटना, स्थान या कथा तत्त्व के आधार पर रखा जाता है। इस काव्य का शीर्षक 'मूकमाटी' है। इस शीर्षक की महत्ता इसी में छिपी हुई है। मिट्टी की महिमा और उसके मूक होने की गरिमा काव्य की विशेषता है। मंगल घट बनता मिट्टी से ही है, सृष्टि के अधिकांश जीव, मानव को भी उसमें मिलाकर इस धरती पर ही पलते हैं। काव्य का केन्द्र बिन्दु भी मिट्टी ही है। इसलिए इसका शीर्षक 'मूकमाटी' समीचीन और अर्थ गर्भित है।

(७) उद्देश्य : महाकाव्य का उद्देश्य पुरुषार्थ की प्राप्ति है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूप पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए नायक जो संघर्ष करता है, जिस साधना में निरन्तर लगा रहता है, इसी के चित्रण को महाकाव्य का उद्देश्य माना जाता है। 'मूकमाटी' महाकाव्य काया, वाचा एवं मनसा लोकहित और विश्वकल्याण की भावना को लेकर चलता है। इसकी बुनियाद क्षमा गुण है। आज संसार को जल और वायु से ज्यादा क्षमा गुण की आवश्यकता है। एक सूत्र काव्य में आया है– 'खम्मामि खमंतु मे' यानी क्षमा करता हूँ सबको, क्षमा चाहता हूँ सब से(पृ. १०५)। कवि की दृष्टि में सारे पुरुषार्थों का आधार क्षमा गुण है। इस काव्य का एक और लक्षण अनेकान्त दृष्टि है। कुम्हार, मिट्टी तथा घट केवल प्राकृतिक साधन हैं। यहाँ कुम्हार गुरु का स्वरूप है तो मिट्टी मानव का। मानव धीरे-धीरे लौकिकता से अलौकिकता की ओर, नश्वरता से अमरत्व की ओर, मृण्मयता से चिन्मयता की ओर अग्रसर होकर पूर्णत्व को पा लेता है। यही प्रतीक मंगल घट का रूप है। 'परोपकारार्थमिदं शरीरम्' – मनुष्य शरीर परोपकार के लिए है। इस प्रकार की भावना से मंगल घट अन्त में नदी के प्रवाह में सेठ के प्राण बचाता है। महाकाव्य के सारे लक्षण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से 'मूकमाटी' में हैं। शास्त्रकारों के अनुसार महाकाव्य कथा प्रधान, चरित्र प्रधान, अलंकार प्रधान अथवा भाव प्रधान होते हैं।

हमारी दृष्टि में 'मूकमाटी' भाव प्रधान महाकाव्य है। इसमें दूसरी विशेषताओं के साथ-साथ वैचारिक दृष्टिकोण तथा दार्शनिक चिन्तन प्रधान होता है। समूचे काव्य को पढ़ने के बाद कथा और पात्र से बढ़कर, कर्त्तव्य की प्रेरणा और उसकी भावात्मक विचारधारा हमें प्रभावित करती है। इन सारे विचारों से आचार्य विद्यासागरजी की कृति 'मूकमाटी' एक यशस्वी महाकाव्य है।

महाकाव्य 'मूकमाटी' : एक विश्लेषण

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का आदिकालीन महाकाव्य माना जाता है, इसी प्रकार 'मूकमाटी' अत्याधुनिक महाकाव्य है। हिन्दी काव्योद्यान में अनगिनत, रंग-बिरंगे सुगन्धित पौधे हैं, उसमें 'मूकमाटी' महकती हुई फूलों से लदी एक कोमल वल्लरी है। पूरे काव्य के अध्ययन से यह पता चलता है कि कवि को रूपक तत्त्व प्रिय है। नदी, कंकर, मिट्टी जैसे व्यक्त माध्यम के द्वारा अव्यक्त का परिचय कवि कराता है। कहीं-कहीं अव्यक्त के ज़रिए व्यक्त का अनुभव भी हमें कराया जाता है। कवि का आशय मंगल घट के द्वारा एक साधक का पूर्ण परिचय कराना है। साधक श्रद्धा से अपने मार्ग में निरन्तर आगे बढ़ता है, सम्यक् आचरण और सम्यक् ज्ञान उसे आनन्द के रस तक ले जाते हैं। यही पूर्णत्व है।

इस महाकाव्य के चार सोपान हैं। इसी तरह कवि ने मिट्टी की चार मंज़िलों को चार भागों में विभक्त किया है। पहले भाग का नाम 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' है। इस अध्याय में कवि कंकर और कौटों से भरे मिट्टी के उस रूप को प्रस्तुत करता है, जो प्रकृति के एक जीव का है। एक प्रसंग में स्वयं मिट्टी अपनी माँ पृथ्वी से प्रश्न करती है। माँ, मेरी पर्याय का अन्त कब होगा ? इसकी स्थिति संघर्ष में फँसे हुए प्राणी के समान है। इसलिए मिट्टी पूछती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से
पद-दलिता हूँ माँ !/सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !" (पृ. ४)
"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

मनुष्य अपने विवेक के आलोक में अपने अस्तित्व और आत्मा के स्थान-मान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तो उसके सामने यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि इस जीवन का उद्देश्य क्या है :

"माटी का संशोधन हुआ,/माटी को सम्बोधन हुआ,/परन्तु,
निष्कासित कंकरों में/समुचित-सा अनुभूत/संक्रोधन हुआ।" (पृ. ४५)

कुम्हार मिट्टी में पानी मिलाकर उसको खूब भिगोता है और उसमें युक्त कंकर-पत्थरों को निकाल कर उस मिट्टी को शुद्ध बनाता है। अब यह घट का स्वरूप धारण करने योग्य बन जाती है। यहाँ प्रथम अध्याय समाप्त हो जाता है।

'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' नामक द्वितीय अध्याय अथवा सर्ग प्रतीकात्मक है। इसमें घट का निर्माण होता है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपने व्यक्तित्व का निर्माण मिट्टी के घट के समान ही करता है। इस भाग में कवि ने महाकाव्य के आवश्यक गुण अर्थात् नव रसों की व्याख्या, ऋतुओं का वर्णन, संगीत की विविधता का परिचय कराया है। कवि का दार्शनिक हृदय अपनी मूलधारा को नहीं भूलता। वह फिर मनुष्य की एक मूल समस्या की तरफ़ हमारा ध्यान आकर्षित करता है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और/है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

इस खण्ड के सारांश को यूँ कह सकते हैं—शब्द का अर्थ समझना 'शब्द' है और इसका अनुभव पाना 'बोध' है। जीवन की सार्थकता का अन्वेषण ही 'शोध' है। इसी प्रकार से घट का संस्कार होता है। वह आग में तपकर परिपक्वता पाने को तत्पर है।

इसके बाद महाकव्य तीसरे खण्ड में प्रवेश करता है। इसका शीर्षक 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' है। यह मंगल घट की परीक्षा का समय है। वह सूर्य के ताप से सूखता है। बादलों के प्रकोप से बचता है। आवे की आग में अपने आप को तपाता है। इस क्रिया के बाद वह पूर्णत्व पाता है। इसके साथ-साथ उसमें लोककल्याण की भावना जगती है। यही पुण्योदय है।

जब तक मनुष्य भी इन मंज़िलों को पार नहीं करता, तब तक उसमें पुण्योदय का प्रवेश नहीं होता।

"जब तक उनका जलना नहीं होगा/मैं निर्दोष नहीं हो सकता।

...मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है।" (पृ. २७७)

घट की यह इच्छा आग में तपने के बाद पूरी होती है। घट की पूर्णता तभी सिद्ध होती है, जब एक सेठ का सेवक उसे अच्छी तरह से परख कर प्राप्त कर लेता है। जब उसका उपयोग साधु-सन्तों को आहार देने में लाया जाता है तो उसकी महिमा बढ़ जाती है और वह मंगल कलश का रूप धारण कर लेता है। आगे नदी के प्रवाह से सेठ को यही कलश बचाता है।

'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' इस महाकाव्य का चौथा और अन्तिम सर्ग है। यहाँ आचार्य विद्यासागरजी कुम्भ की परिपक्वता के द्वारा मनुष्य की आत्मोन्नति का परिचय देना चाहते हैं :

" 'कुम्भ की कुशलता सो अपनी कुशलता'
यूँ कहता हुआ कुम्भकार/सोल्लास स्वागत करता है अवा का।" (पृ. २९६)

मिट्टी अग्नि-स्पर्श के बाद अपने पर्याय को खोती है और नए रूप को धारण कर लेती है। अन्तिम खण्ड एक प्रकार से 'मूकमाटी' का मस्तिष्क है। कवि यहाँ अपने लौकिक और अलौकिक चिन्तन को कविता के रूप में ढालने में समर्थ हुए हैं। आज के मानव की समस्याओं का समाधान अपनी रीति से प्रस्तुत करते हुए वे आगे बढ़ते हैं। भारतीय समाज जिस आतंक से भयभीत है, उसे कवि अपनी वाणी द्वारा यूँ शब्द प्रदान करता है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं।" (पृ. ४४१)

इसका कारण क्या हो सकता है ? कवि स्वयं उत्तर देता है। असत्य जब चारों ओर फैल गया हो तो 'सत्य' की क्या दशा होती है, यह द्रष्टव्य है :

"सत्य का आत्म-समर्पण/और वह भी/असत्य के सामने ?
हे भगवन् !/यह कैसा काल आ गया,/क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
क्या सत्य शासित होगा ?/हाय रे···जौहरी के हाट में
आज हीरक-हार की हार !" (पृ. ४६९)

यद्यपि असत्य के बाजार में सत्य आत्म-समर्पण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु यह कुछ ही दिनों के लिए है। जैसे सूर्य की प्रथम किरण के आगमन के साथ साथ अन्धकार ओझल हो जाता है, उसी प्रकार असत्य को भी एक दिन सत्य के सामने आना होगा। असत्य कभी सत्य के सामने टिक नहीं पाता, तब सत्य और अधिक प्रज्वलित होता है और उससे निकलकर फैलती हैं मंगल किरणें, जो दूर करती हैं अज्ञान को, अन्धकार को और अमंगल को :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख-छाँव,/सबके सब टलें—/वह अमंगल-भाव।" (पृ. ४७८)

आचार्य विद्यासागरजी अपने महाकाव्य 'मूकमाटी' के द्वारा अपने इन विचारों को विश्व के सामने प्रस्तुत करते हैं। अन्त में वे आशीर्वाद व्यक्त करते हैं। सन्त कवि की यह कृति अध्यात्म-प्रतीकात्मक मंगलमय महाकाव्य है।

□

'मूकमाटी' : आत्मा का उद्धार करने वाली आध्यात्मिक कृति

सौभाग मल जैन

आचार्य विद्यासागरजी दिगम्बर जैन परम्परा के ऐसे महान् सन्त हैं जो सही मायनों में साधना व तपस्यारत होकर आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हैं। आचार्य विद्यानन्दजी ने उनके बारे में एक बार यह सही कहा था कि वे इस पंचम काल में चतुर्थ काल के सन्त हैं। माटी जैसी निरीह और पद-दलित वस्तु पर जब इस महान् सन्त की लेखनी चली तो 'मूकमाटी' जैसे महाकाव्य का सृजन हुआ, जिसे समझना आसान नहीं। 'मूकमाटी' आत्मा का उद्धार करने वाली ऐसी आध्यात्मिक कृति है जिसमें जैन दर्शन का एक तरह से पूरा निचोड़ है।

साहित्य का मूल्यांकन कृति स्वयं करती है। उसे समझने के लिए व्यक्ति को सहृदय तथा जिज्ञासापूर्ण होने के साथ-साथ एक तरह से उसमें पैठ जाना चाहिए। इस महाकाव्य में धर्म, सिद्धान्त, नव रस, शब्दों का अद्‌भुत विच्छेद तथा उनके नए-नए अर्थ समाहित हैं जो आचार्यश्री की साधना तथा अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय देते हैं। यह महाकाव्य एक रूपक महाकाव्य है जिसमें रूपकों के द्वारा माटी की मंगल कलश बनने तक की यात्रा का वर्णन किया गया है। अब तक धरती पर ही साहित्य-सृजन हुआ है, मिट्टी निरीह होने से साहित्यकारों की दृष्टि से भी ओझल रही लेकिन आचार्य विद्यासागरजी ने माटी पर यह महाकाव्य लिखकर साहित्य के क्षेत्र में महान् योगदान किया है। इस महाकाव्य से उनकी काव्य-प्रतिभा भी पूरी तरह खुलकर सामने आई है। प्रस्तवक लक्ष्मीचन्द्र जैन के शब्दों में : "कर्मबद्ध आत्मा की विशुद्धि की ओर बढ़ती मंज़िलों की मुक्ति-यात्रा का रूपक है यह महाकाव्य।"

माटी की वेदना-व्यथा को क्या कभी कोई व्यक्ति इतनी मार्मिकता से व्यक्त कर पाया है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?...बता दो, माँ···इसे !
...कुछ उपाय करो माँ !/खुद अपाय हरो माँ !
और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

इस महाकाव्य में रचयिता ने शब्दों के जो नए अर्थ दिए हैं, वे वास्तव में चमत्कारी हैं। उदाहरण के रूप में :

"युग के आदि में/इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार !
'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

इसी तरह गधे की भगवान् से यह प्रार्थना देखें :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस।" (पृ. ४०)

१. 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' २. 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' ३. 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' ४. 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'— शीर्षक चार खण्डों में विभक्त इस महाकाव्य में मिट्टी के परिशोधन से लेकर कुम्भ बनने, उसके अवा में तपाने तक की प्रक्रिया न केवल काव्यबद्ध है अपितु इस बिरल सन्त ने इसके माध्यम से जो विचार दिए हैं वे वास्तव में हृदय को छूने वाले हैं।

इस महाकाव्य में ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण हैं जिनमें कवि का तत्त्व-चिन्तन पूरी तरह उभरकर सामने आया है। किसी भी रचना की सफलता तभी है जब पाठक पूरे मनोयोग से उसमें खो जाय और वह रचना उसे बार-बार पढ़ने को प्रेरित करती रहे। आचार्यश्री की यह रचना इस दृष्टि से सफलतम कृति कही जा सकती है, क्योंकि बार-बार पढ़ कर ही पाठक इसके भावों की थाह पा सकता है।

भारतीय ज्ञानपीठ ने न केवल जैन साहित्य अपितु जैनेतर साहित्य को भी प्रकाश में लाने का जो बीड़ा उठाया है वह निःसन्देह अभिनन्दनीय है। लोकोदय ग्रन्थमाला के ४६५ वें ग्रन्थांक के रूप में इस महान् कृति को प्रकाश में लाकर ज्ञानपीठ ने अपनी साहित्य माला में एक और मोती पिरो लिया है।

['राजस्थान पत्रिका' (दैनिक), जयपुर-राजस्थान, २८ अक्टूबर, १९९०]



पृष्ठ ५६
यूँ बीच में ही
कंकरोंकी ओर से---
..... और खरा
बने कंचन-सा !"

सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाला महाग्रन्थ : 'मूकमाटी'

डॉ. गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैंया'

आचार्य विद्यासागर देश के जाने-माने प्रख्यात जैन सन्त हैं जिन्होंने जीवन और समाज को बहुत निकट से बड़ी गम्भीरता से देखा-जाना-समझा है, और भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मय तथा दर्शनों का सूक्ष्म अध्ययन-चिन्तन-मनन करते हुए आत्मसात् कर जीवन में एकाकार भी किया है। यही कारण है कि उनकी वाणी केवल उपदेशक की वाणी न होकर श्रोताओं और परिवेश के भीतर प्रवेश कर मानवीय आचरण के लिए उत्प्रेरित करने वाली चेतना-शक्ति भी है, जिसके साक्षी उनके तमाम वे ग्रन्थ हैं जिनमें उनके विचारों का संग्रह है अथवा जिनकी रचना उन्होंने स्वयं की है। उन सबका प्रमुख उद्देश्य है सदाचारी मानवता की स्थापना और मानव-कल्याण, जहाँ विषयगत स्वार्थों की कलुषता का स्पर्श न हो और न किसी प्रकार की संकुचित वृत्ति ही; जहाँ शृंगार भी अध्यात्म से जुड़ जाता है और राग-विराग के अन्तर समाप्त हो जाते हैं।

'मूकमाटी' उनका नवीनतम ४८८ पृष्ठीय बृहत् काव्य-ग्रन्थ है जिसमें माटी को रचना का आधार बनाया गया है। माटी को केन्द्र में रखकर जीवन और समाज के विविध पक्षों की जैसी गम्भीर-व्यापक और मौलिक विवेचना की है वह उनके चिन्तन का सार कहा जा सकता है। माटी को हमारे यहाँ बहुत साधारण, उपेक्षणीय तथा निर्मूल्य माना जाता है जबकि सृष्टि का सभी कुछ उस माटी पर ही आधारित है। आचार्य विद्यासागरजी ने अपने इस ग्रन्थ में यही प्रतिपादित करना चाहा है कि 'माटी' कोई साधारण, गैर महत्त्वपूर्ण, उपेक्षणीय वस्तु नहीं है बल्कि सभी का आधार और सभी की जननी है। सभी पर उसका मातृवत् ममत्व है। आवश्यकता इस बात की है कि माटी को सृजन और कर्म से समन्वित कर समाज के लिए उपयोगी बनाया जाय। यह बात माटी पर ही नहीं, सभी पर लागू होती है। सृजन-शक्ति से रहित अनुपयोगी वस्तु अमूल्य होकर भी निर्मूल्य और निरर्थक है। कुम्भकार की सृजन कला का संसर्ग पाकर घट के रूप में वही सभी के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण बन जाती है। उसका जीवन सार्थक बन जाता है। कुम्भकार अपने सृजन और संसर्ग से उसे सौभाग्य प्रदान करता है। ऐसा कुम्भकार, जिसके मन में उत्तम सृजनकला भावना के साथ ही व्यक्तिगत स्वार्थ का न कलुष है और न किसी के प्रति कोई कषाय। ऐसी सार्वजनीन सेवा भावना से सृजित कुम्भ भी उसी भावना से आपूरित है। कलाकार की भावना ही तो सृजन को भी भावना मण्डित करती है। स्वार्थ और अहंकार की सीमाओं से ऊपर उठे हुए सृजन संसार की विषम-से-विषम स्थितियों से भी संघर्ष कर अपने लक्ष्य को पा लेते हैं। भयंकर-से-भयंकर विपरीत शक्तियाँ भी अन्ततः या तो पराजित होती हैं अथवा उनका हृदय परिवर्तित होता है। सत्य और सर्वकल्याण की भावनाएँ सर्वाधिक शक्तिशाली तथा अजेय होती हैं। राग-द्वेष, लाभ-अलाभ तथा विषय-वासनाओं, व्यक्तिगत मान-असम्मान की भावनाओं से परे रहकर विनम्रतापूर्वक सत्य और परहित के मार्ग पर चलनेवाले कभी विचलित नहीं होते। शक्ति और सम्पन्नता से व्यक्ति बड़ा तथा महत्त्वपूर्ण नहीं बन सकता। व्यक्ति के आचरण और भाव-विचार ही उसे महान् बनाते हैं। यही इस 'मूकमाटी' का प्रमुख स्वर है। इस रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए स्वयं स्वामीजी लिखते हैं : ''जिसके प्रति-प्रसंग-पंक्ति से पुरुष को प्रेरणा मिलती है—सुषुप्त चैतन्य-शक्ति को जागृत करने की; जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था-विधान को नकारा नहीं है परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उनमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है। इसीलिए 'संकर-दोष' से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को मानव-जीवन का औदार्य व साफल्य माना है। जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित

कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है···और जिसका नामकरण हुआ है··· 'मूकमाटी' ।''

इस अनुकान्त बृहत् काव्य संग्रह को चार खण्डों में विभाजित किया गया है– १. संकर नहीं : वर्ण-लाभ, २. शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं, ३. पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन, ४. अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख। पहले खण्ड में कुम्भकार द्वारा माटी के परिशोधन का चित्रण है। कुम्भकार माटी को कूट-छान कर, कंकड़ आदि विकारों से अलग कर सृजन के योग्य बनाता है। सृजन के विपरीत आचरण वाले तत्त्वों को यदि अलग न किया गया तो सृजन की क्रिया निर्बाध पूरी नहीं हो सकती । यदि किसी प्रकार पूरा किया भी जाय तो वह निर्दोष नहीं हो सकता। कंकड़ आदि सब मंगल घट के सृजन में बाधक हैं। अतः माटी को सबसे पहले दोष रहित कर निर्मल, तरल और लोचदार रूप दिया गया। यहाँ वर्ण का आशय रंग मात्र से न लेकर आचरण से जोड़ा गया है :

''वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से/वरन्
चाल-चरण, ढंग से है।'' (पृ. ४७)

शुद्ध और लोचदार माटी से ही घट का सृजन सम्भव है। कुम्भकार की आन्तरिक भावना ही माटी को मंगल घट का आकार देगी।

दूसरे खण्ड में कुम्भकार द्वारा कुदाली से माटी खोदते समय काँटे को लगी चोट के आक्रोश और प्रतिकार भावना का वर्णन है। कुम्भकार द्वारा ग्लानि और खेद व्यक्त करने पर काँटे का आक्रोश शान्त हो जाता है। इसी खण्ड में कवि ने सभी रसों के रूपों और स्वभावों का विस्तृत किन्तु सूक्ष्म विवेचन किया है। इसके साथ ही संगीत, प्रकृति, ऋतुओं आदि का भी चित्रण है जिसमें दार्शनिक विवेचन का प्रभाव है। यहाँ आकर मूल कथा ठहर-सी जाती है। प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। कथा के अतिरिक्त अन्य बातें प्रमुख हो जाती हैं। बीच-बीच में उसे मूल से जोड़ने का स्मरण-सा कराया जाता है किन्तु कथा को गति नहीं मिलती। आध्यात्मिक और दार्शनिक विवेचन के सागर में कथा विलुप्त-सी लगती है।

तीसरे खण्ड में कथा को नया जीवन मिलता है। कुम्भकार के माध्यम से माटी के उद्धार और विकास का चित्रण करते हुए पुण्य कर्मों की महत्ता और पाप कर्मों से मुक्त रहने का प्रतिपादन किया गया है। धरती के प्रति नाना प्रकार के अत्याचार किए जाने पर भी वह सब सहती है :

''अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी/प्रतिकार नहीं करने का
संकल्प लिया है धरती ने,/इसीलिए तो धरती/सर्व-सहा कहलाती है
सर्व-स्वाहा नहीं···।'' (पृ. १९०)

एक ही तत्त्व अपने स्वभाव के कारण अच्छा-बुरा बनता है। सागर रत्नाकर भी है और विष का भण्डार भी। धरती का सारा वैभव उसके पास है। बाँस, नाग, सूकर, मत्स्य, गज, मेघ, शुक्तिका आदि सभी में मोती होता है। ये सभी धरती से पोषित हैं। फिर भी ईर्ष्या करने वाले धरती का अपकार करते हैं। चन्द्रमा, सागर, जल इसी प्रकृति के हैं। सागर ने कुम्भकार द्वारा निर्मित माटी के घट को वर्षा से गलाकर नष्ट करने का पूरा प्रयास किया, क्योंकि 'सागर में परोपकारी बुद्धि का अभाव जन्मजात अभाव है।' 'अर्थ की आँखें जब परमार्थ को देखने में असमर्थ' होती हैं तो इसी प्रकार के कुविचार उत्पन्न होते हैं। धरती तो माँ है–उदार, सहनशील, संयमी। स्त्री, महिला, नारी, अबला, सुता, दुहिता, कुमारी, माता, अंगना आदि सभी धरती के ही रूप हैं जो मृदुता, मुदिता, शीला, सरला, तरला गुणों से युक्त

हैं। उसके एवं सूर्य के प्रभाव के कारण बदलियों से पानी के स्थान पर कुम्भकार के आँगन में मोतियों की वर्षा होने लगी :

"मुक्ता की वर्षा होती/अपक्व कुम्भों पर/कुम्भकार के प्रांगण में···!
पूजक का अवतरण !/पूज्य पदों में प्रणिपात।" (पृ. २१०)

मुक्तावृष्टि की चर्चा राजा तक पहुँची। लोभी राजा ने मोतियों को बोरी में भरवाने की चेष्टा की। तभी आकाशवाणी हुई कि यह अनर्थ है। 'बिना श्रम के दूसरों का धन लेना पाप है।' स्पर्श करते ही मोती बिच्छू के डंक-सम बन गए। लोग मूर्च्छित हो गए। राजा घबराया। अन्ततः कुम्भकार ने स्वतः राजा को मोती समर्पित कर दिए। आज सर्वत्र अर्थ-संचय और अर्थ-मोह ही व्याप्त है। यही अनर्थ का कारण है :

"कलि-काल की वैषयिक छाँव में/प्रायः यही सीखा है इस विश्व ने
वैश्यवृत्ति के परिवेश में—/वेश्यावृत्ति की वैयावृत्य···!" (पृ. २१७)

सागर की ईर्ष्या और अहं कम होने की बजाय निरन्तर बढ़ता गया। धरती की रक्षा के लिए सूर्य और सागर में संघर्ष होता है। सागर नाना प्रकार से कुम्भ को नष्ट करने के लिए धरती पर प्रहार करता है। राहु का आह्वान। ओलों की वर्षा। इन्द्र का आगमन। वायु द्वारा धरती की रक्षा। कुम्भ और कुम्भकार अनन्य विश्वास से स्थिर। अन्ततः जलप्लावन के पश्चात् उनकी रक्षा होती है।

चतुर्थ खण्ड में कुम्भकार कुम्भ को पूर्ण सुसज्जित आकृति प्रदान करने के बाद अग्नि में पकाने के लिए अवा की व्यवस्था करता है। अग्नि में तपकर ही कोई भी साधक निर्मल और निर्दोष बन सकता है। जो अग्नि के ताप को सहकर भी स्थिर है वही सिद्ध और सफल साधक है, जो किसी भी परिस्थिति में अविचल रह सकता है। साधक को तपन में भी आनन्द की अनुभूति होती है। यहाँ कवि ने बबूल की लकड़ी, कुम्भकार और अग्नि के परस्पर संवादों द्वारा कई तथ्यों का उद्घाटन तथा विवेचन किया है। कुम्भ का अग्नि के प्रति यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है।" (पृ. २७७)

ऐसे संकल्पवानों को ही अग्नि में भी रसानुभूति होती है :

"रस का स्वाद उसी रसना को आता है/जो जीने की इच्छा से ही नहीं,
मृत्यु की भीति से भी ऊपर उठी है।" (पृ. २८१)

अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः तिरोहित कर कुम्भ कर्त्तव्य सत्ता में डूबता है। परिणाम परिधि से ऊपर उठना या न उठना, यह तो साधक पर निर्भर है कि वह शिव बनना चाहता है अथवा शव। इस चतुर्थ खण्ड को इतना विविधवर्णी बनाया गया है कि उसे समेट पाना सामान्य व्यक्ति के सामर्थ्य की बात नहीं हो सकती।

अवा तैयार करने से लेकर पके हुए कुम्भ को बाहर निकालकर, फिर जो उसकी यात्रा अंकित की गई है उसमें जीवन-जगत् के प्रायः सभी पक्षों को जोड़ा गया है। यथा—लकड़ी की वेदना, अग्नि की भावना, कुम्भकार की कल्पना, अध्यात्म-दर्शन की विवेचना, कुम्भ का परीक्षण, इसी के साथ संगीत के सप्त स्वरों की नवीन व्याख्या, जिज्ञासाओं का समाधान, श्रम और कला की महत्ता का प्रतिपादन, सेठ द्वारा कुम्भ का मंगल कलश के रूप में उसकी सज्जा, सेठ के यहाँ स्वामीजी (सन्त) का आगमन, माटी के कुम्भ के जल से स्वामीजी की अर्चना, सोना-चाँदी एवं रत्न-स्फटिक पात्रों की उपेक्षा से पीड़ा, गोचर वृत्ति तथा भ्रमर वृत्ति आदि की विवेचना, सत्पात्र की मीमांसा, सन्तों की परिभाषा,

स्वर्ण कलश और माटी के कलश का वार्तालाप, कुम्भ और माटी का वाद-विवाद, अन्य सभी पात्रों की उत्तेजना का चित्रण, मच्छर-मत्कुण प्रसंग, सेठ की मूर्च्छा, अनेक प्रकार के उपचारों की चर्चा, पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों का विश्लेषण, कलियुग में अर्थ का प्राधान्य, माटी से सर्वोत्तम उपचार की विधि-विवेचना, आतंकवाद का उद्भव आदि।

आतंकवाद को लेकर विस्तृत चित्रण किया गया है और उसी के माध्यम से अन्य तमाम बातों की चर्चा तथा विवेचना की गई है। आज सारे देश में आतंकवाद का जोर है जो सारे नियम-कायदों, नैतिकता-मर्यादा और परम्पराओं की हत्या कर मनमानी करने पर उतारू है। हिंसा, लूटपाट, दुराचार ही उसका चरित्र है। आतंकवाद के डर से सेठ परिवार कुम्भ के निर्देश पर घर छोड़कर पलायन करता है किन्तु आतंकवाद अपनी विविध शक्तियों से कुम्भ तथा सेठ परिवार को विनष्ट करने की पूरी चेष्टा करता है– कभी भारी वर्षा, ओलावृष्टि, जलप्लावन, जल-जन्तुओं का प्रयोग आदि। लेकिन इसी के साथ कभी गज या सर्प दलों द्वारा, कभी पवन द्वारा कुम्भ व सेठ परिवार की निरन्तर रक्षा भी। कुम्भ द्वारा नदी को डाँटकर धरती की मौलिक व्याख्या। अन्ततः नदी के आक्रोश का शमन। हृदय-परिवर्तन। आतंकवाद द्वारा पुनः प्रयास किन्तु नदी द्वारा असहयोग। नदी स्पष्ट कहती है :

"अब/बल का दुरुपयोग नहीं होगा/समर्पण हो चुका है
ऊर्जा उपासना में उलट चुकी है/उर में उदारता उग चुकी है।" (पृ. ४५९)

फिर भी दुराग्रही, अहंकारी आतंकवाद मानने को तैयार नहीं। वह पत्थरों की वर्षा कर सभी को पाताल भेजने की चेतावनी देता है। जाल में फँसाने की चेष्टा तथा देवताओं की भी उपेक्षा करता है। आतंकवाद पराजित हुआ। उसकी सारी कुचेष्टाएँ विफल हो गईं। सेठ परिवार कुम्भ और रस्सी के सहारे सकुशल सुरक्षित नदी पार हो गया और इस प्रकार अन्ततः सत्य और सदाचार की विजय हुई :

"आतंकवाद का अन्त/और/अनन्तवाद का श्रीगणेश !" (पृ. ४७८)

कुम्भ की सफलता पर माँ धरती सहित सभी को हार्दिक प्रसन्नता हुई। सभी के भीतर मंगलमयी भावनाओं का उदय हुआ। स्वयं कुम्भ के मुख से मंगलवाणी निकली :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें–/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों।" (पृ. ४७८)

इस प्रकार जीवन-साधना के चार सर्ग उद्घाटित हुए– १. कुम्भकार के संसर्ग से सृजनशील जीवन का प्रारम्भ, २. चरणों में समर्पण से अहं का उत्सर्ग, ३. समर्पण के बाद कठिन-से-कठिन परीक्षाएँ, ४. परीक्षा के बाद प्राप्तपरिणाम।

अन्त में अपने सृजन से माटी को सार्थकता प्रदान करने वाले कुम्भकार द्वारा सभी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की गई। साधु महाराज द्वारा शाश्वत सुख के लाभ का शुभाशीष। अविनश्वर सुख की व्याख्या करते हुए अखण्ड विश्वास की अभिव्यक्ति की जाती है :

- *"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।*
  इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है।" (पृ. ४८६)
- *"विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी*
  मगर/मार्ग में नहीं, मंजिल पर !" (पृ. ४८८)

- *"जिसने धरती की शरण ली है/धरती पार उतारती है उसे*
  यह धरती का नियम है···व्रत !" (पृ. ४५१)

'मूकमाटी' को महाकाव्य की कसौटी में कसकर उसके शास्त्रीय परीक्षण का कोई बहुत औचित्य आज के सन्दर्भ में नहीं है, क्योंकि वह विवाद का विषय होगा। तय है कि शास्त्रीय कसौटी पर इसे महाकाव्य सिद्ध करने में कठिनाई होगी लेकिन विषय विस्तार, विषय वैविध्य, आकार और भाषा तथा आलंकारिक कलेवर की दृष्टि से यह निर्विवादतः महाकाव्यीय गरिमा से युक्त महत्त्वपूर्ण बृहत् काव्य है।

धरती और शिल्पकार, सर्जक और सृजन, माटी और कुम्भकार, तत्त्व और कर्म के एकीकरण से सार्थकता की स्थापना करते हुए उसमें माटी से कुम्भ की रचना और फिर अनेक संघर्ष तथा विपरीतताओं को अपनी साधना और आचरण से सबके मंगल के संकल्प के साथ कुम्भ की सफल और यशस्वी यात्रा का चित्रण तो है ही, उस यात्रा के माध्यम से जीवन-जगत्, अध्यात्म और दर्शन, मनुष्य और समाज, सत् और असत्, त्याग और संग्रह, अहंकार और विनम्रता, सत्य और असत्य, विद्या और अविद्या, ज्ञान और अज्ञान, हिंसा और अहिंसा, उदारता और कृपणता, सेवा और शोषण, राग और विराग, लोभ और दान, वैभव और सादगी की सहज, मौलिक तथा तर्कसंगत विवेचनाएँ भी की गई हैं।

पूरा ग्रन्थ सूक्तियों का महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् संग्रह कहा जा सकता है। स्थान-स्थान पर पंक्ति-पंक्ति में सूक्तियाँ संयोजित की गई हैं। ग्रन्थ में प्रारम्भ से अन्त तक सूक्तियों के मोती चमकते दिखाई देते हैं। ये सूक्तियाँ पाठक के भीतर एक नए अर्थ की उद्भावना करती हैं। इन सूक्तियों में जीवन का सार भरा हुआ प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ :

- *"अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं।" (पृ. १९२)*
- *"'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त,स्याद्वाद का प्रतीक।" (पृ.१७२)*
- *"'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति,भाग्य-विधाता।" (पृ.१७३)*
- *"हिंसा की हिंसा करना ही/अहिंसा की पूजा है···प्रशंसा।" (पृ. २३३)*
- *"विकास के क्रम तब उठते हैं/जब मति साथ देती है।" (पृ. १६४)*
- *"विनाश के क्रम तब जुटते हैं/जब रति साथ देती है।" (पृ. १६४)*
- *"परमार्थ तुलता नहीं कभी/अर्थ की तुला में।" (पृ. १४२)*
- *"जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।" (पृ. १६१)*
- *"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और*
  प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है।" (पृ. १४४-१४५)
- *"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३८)*
- *"ज्ञान का पदार्थ की ओर/ढुलक जाना ही/परम आर्त पीड़ा है,/और*
  ज्ञान में पदार्थों का/झलक आना ही—/परमार्थ क्रीड़ा है।" (पृ. १२४)
- *"लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ.३८६)*
- *"प्रचार-प्रसार से दूर/प्रशस्त आचार-विचार वालों का*
  जीवन ही समाजवाद है।" (पृ. ४६१)
- *"करुणा-रस जीवन का प्राण है/···शान्त-रस जीवन का गान है।*

...सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है।" (पृ. १५९-१६०)

जीवन की सार्थकता सेवा, शान्ति और विनम्रता में है। स्वार्थ और अहंकार के वशीभूत होकर उसे रण बनाना बुद्धिमानी नहीं है। इसीलिए वे इससे बचने की बात कहते हैं : *"जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का न मन दुखाओ!"* (पृ. १४९)। वे आत्मा को छोड़कर सभी को विस्मृत करना श्रेयस्कर और पुरुषार्थ मानते हैं : *"आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है"* (पृ. ३४९)।

जिसमें द्रवणशीलता नहीं है वह जड़ और मूल्यहीन है। उदारता और तरलता ही मूल्य का आधार है :

"दुखी-दरिद्र जीवन को देखकर/जो द्रवीभूत होता है
वही द्रव्य अनमोल माना है।" (पृ. ३६५)

'अपने और पराए को जानना-समझना ही तो सही ज्ञान' है। बिना उसके ज्ञान कैसा ?:

" 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में/जानना ही सही ज्ञान है,
और/'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ. ३७५)

जिनके मन में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार से परे, अपने-पराए की भावना से दूर रहकर समता का निष्कलुष भाव है, वे ही सच्चे साधक, सिद्ध, सफल मानव हैं। उनके लिए जीवन में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। वे किसी की उपेक्षा नहीं करते और किसी के मुखापेक्षी भी नहीं होते :

"जो माँ-सत्ता की ओर बढ़ रहा है/समता की सीढ़ियाँ चढ़ रहा है
उसकी दृष्टि में/सोने की गिट्टी और मिट्टी/एक है
और है ऐसा ही तत्त्व!" (पृ. ४१०)

अर्थ और पद के लोभीजन अपने स्वार्थी दुराचार से न केवल अपने को कलुषित करते हैं बल्कि पदों की गरिमा भी खण्डित करते हैं। पद पाने और उन्हें सुरक्षित रखने के लिए न जाने किन-किन हथकण्डों और दुष्कृत्यों का प्रयोग करते हैं। परिणामतः आज कोई भी पद निर्दोष और निर्मल तथा जन हितकारी नहीं रहा :

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,
पाप-पाखण्ड करते हैं।" (पृ. ४३४)

आचार्यजी की मान्यता है कि जब तक जीवन और समाज के बीच अहंकारी, लोभी आतंकवाद जीवित है तब तक शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती :

"जब तक जीवित है आतंकवाद
शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह।" (पृ. ४४१)

आतंकवाद सभी प्रकार के भ्रष्टाचार, दुराचार, हिंसा और पाखण्ड को पोषित-पल्लवित करता है। इस आतंकवाद को भी समता, विनम्रता और सदाचार से ही बदला जा सकता है। उसे दण्डित करके नष्ट नहीं किया जा सकता। फिर क्रूरता से दण्डित करना भी तो अपराध है :

"जिसे दण्ड दिया जा रहा है/उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त।
दण्ड-संहिता इसको माने या न माने, / क्रूर अपराधी को
क्रूरता से दण्डित करना भी एक अपराध है,
न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।" (पृ. ४३१)

आचार्यजी की यह भी मान्यता है कि पुरुष और प्रकृति का मिलन ही किसी भी तत्त्व या जीवन की सफलता और सार्थकता है। प्रकृति के विपरीत चलकर मनुष्य न तो सुखी हो सकता है और न ही यशस्वी। प्रकृति प्रेम में ही सच्चा सुख और पुरुषार्थ की सिद्धि है :

- *"प्रकृति से विपरीत चलना/साधना की रीत नहीं है/...'प्रीति बिना रीति नहीं*
  और/रीति बिना गीत नहीं'/अपनी जीत का—/साधित शाश्वत सत्य का।
  ...पुरुष होता है भोक्ता/और/भोग्या होती प्रकृति।" (पृ. ३९१)
- *"पुरुष के जीवन का ज्ञापन/प्रकृति पर ही आधारित है।/प्रकृति यानी नारी*
  नाड़ी के विलय में/पुरुष का जीवन ही समाप्त"!/...पुरुष और प्रकृति
  इन दोनों के खेल का नाम ही/संसार है, यह कहना मूढ़ता है,
  मोह की महिमा मात्र !.../'प्रकृति का प्रेम पाये बिना
  पुरुष का पुरुषार्थ फलता नहीं'।" (पृ. ३९२-३९५)

इस प्रकार माटी की कहानी के साथ जीवन-जगत् और अध्यात्म दर्शन के गूढ़ातिगूढ़ तथ्यों को बड़ी कुशलता, सरलता से आचार्यजी ने इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्दावली उनके नवीन और मौलिक अर्थ तथा व्याख्याएँ जहाँ आचार्यजी की विद्वत्ता, बहुज्ञता और चिन्तनशीलता का परिचय देते हैं वहीं उनकी नवीन दृष्टि की भी साक्षी है। वे शब्दों और एक-एक वर्ण की ऐसी तार्किक व्याख्या करते हैं कि कई बार चकित रह जाना पड़ता है। शब्द के वर्णों को उलट कर, वर्णों को इधर-उधर कर ऐसा अर्थ उद्घाटित करते हैं जो सामान्य के लिए सम्भव ही नहीं है। उदाहरण के लिए धरती के सन्दर्भ में (पृ.२८, ४५२-४५३) आदि पर तथा नारी के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्दों के, जो उन्होंने अर्थ उद्घाटित किए हैं, वे उसकी तह तक पहुँचाने वाले हैं। नारी, महिला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, अबला, मातृ, अंगना आदि की व्याख्याएँ भी इसी प्रकार की हैं, जो पृ. २०१-२०७ पर अवलोकनीय हैं।

इसमें शब्दों को उलट-पलट कर भी नए अर्थ प्रस्तुत किए हैं, यथा : राख-खरा, राही-हीरा, लाभ-भला आदि। रस और अलंकारों का प्रयोग भरपूर है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक तो प्रायः मिलेंगे ही। रसों का विशद विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनके स्वरूप और प्रभाव का प्रभावी अंकन किया है। इस प्रकार से कई अंश बड़े उत्कृष्ट बन पड़े हैं। इसी प्रकार वातावरण अथवा भावों के चित्रण में जिस भाषा-शैली का प्रयोग किया गया है वहाँ सारे चित्र सजीव हो उठे हैं। चाहे वह समुद्र का प्रलयंकारी रूप हो अथवा आतंकवाद की भयावहता। इसी प्रकार प्रकृति-चित्रण के भी कई चित्र मार्मिक और मोहक बन पड़े हैं। कहावतों, मुहावरों के सटीक प्रयोग के साथ ही सभी भाषाओं के शब्दों का बेधड़क प्रयोग किया गया है। उर्दू, फारसी, हिन्दी, संस्कृत, राजस्थानी यहाँ तक कि अँग्रेजी के शब्द भी प्रयुक्त किए गए हैं। आनुप्रासिकता के लिए कहीं-कहीं की गई कोशिश स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रयास में शब्दों के स्वरूप में परिवर्तन की भी चेष्टा की गई हैं, जो खटकती हैं, यथा :

"आज !/ओस के कणों में/उल्लास - उमंग
हास - दमंग/होश नज़र आ रहा है।" (पृ. २१)

इसी प्रकार :

"आस्था से रीता जीवन/यह धार्मिक वतन है, माँ !" (पृ. १६)

यों काव्य-यात्रा में शब्द आचार्यजी के समक्ष करबद्ध खड़े-से प्रतीत होते हैं और वे उनका किसी भी प्रकार से प्रयोग करने में सक्षम भी हैं किन्तु उपर्युक्त प्रयोग अस्पष्टता और खुरदुरापन का बोध कराते हैं। एक-दो उदाहरण और भी :

- *"इस पर प्रभु फर्माते हैं।" (पृ. १५०)*
- *"माटी के मुख पर/क्रुधन की साज क्यों नहीं छाई ?" (पृ. ३०)*

इसी प्रकार माटी की संवदेनशीलता की तुलना गदहे से करना भी प्रीतिकार नहीं लगा। यह अलग बात है कि गदहा का अर्थ (गद-रोग, हा-हारक) रोगों का हन्ता बताया गया है। फिर भी भारतीय जनमानस में यह प्रयोग प्रचलित नहीं है। पिंडलियों पर लिपटी गीली मिट्टी की तुलना चन्दन तरु पर लिपटी नागिन से करना भी सटीक नहीं लगता। इसमें साम्य का औचित्य नहीं है। नागिन पतली रस्सी-सी और मिट्टी गीली लेप-सी। इस प्रकार के प्रयोग कहीं-कहीं अवश्य खटकते हैं।

मूल कथा के प्रवाह में अवान्तर प्रसंगों ने कई बार बाधाएँ उपस्थित की हैं। फलतः मूल कथा वहाँ गौण और अवान्तर कथाएँ प्रधान बन गई हैं। यह बात पद-पद पर देखी जा सकती है। रस्सी की गाँठ और मछली का प्रसंग, शूल की महत्ता का प्रतिपादन, रस विवेचन, आतंकवाद आदि पचासों प्रसंग इस प्रकार के हैं जो कथा से सीधे सम्बद्ध नहीं हैं। भले ही उनका आध्यात्मिक और दार्शनिक महत्त्व अधिक हो। वहाँ कथा या तो शिथिल है अथवा विलुप्त या खण्डित। परिणामतः पाठक ऊबते हुए छूटी कथा का सूत्र पाने के लिए व्यग्र हो उठता है। चेतन व शिल्पी जैसे बहुत से प्रसंग अपनी अतिदीर्घता और व्याख्यात्मकता के कारण भी बोझिल बन गए हैं। यद्यपि श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के 'प्रस्तवन' और आचार्यजी के 'मानस तरंग' में विषय के निहित गूढ़ तथ्यों को बखूबी स्पष्ट किया गया है। इससे बड़ी सहायता मिलती है। इस बृहद् ग्रन्थ में आद्यन्त आचार्य-मनोवृत्ति का आध्यात्मिक व दार्शनिक चिन्तन मुखर और प्रमुख है। शैली प्रवचनात्मक, उपदेशात्मक है जिसमें विवेचन के बाद निष्कर्षात्मक रूप में तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है। वे बीच-बीच में 'मसलन, यूँ कहें, तात्पर्य यह, अर्थ यह, इससे यही फलित हुआ' आदि का प्रयोग करते हैं :

- *"अर्थ यह हुआ कि/पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है।" (पृ.३३)*
- *"इससे यही फलित हुआ/कि/संघर्षमय जीवन का/उपसंहार*
  नियमरूप से/हर्षमय होता है, धन्य !" (पृ.१४)

इस सबके बाद भी यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्यकृति है जिसमें जीवन जगत् के विविध क्षेत्रों का, शब्दों में निहित अर्थों का और मानवीय आचरण की विशद, गम्भीर और सहज विवेचना कर सात्त्विक, त्यागी, मंगलकारी साधना को सर्वश्रेष्ठ और अजेय बताया गया है। माटी को रचना का आधार बनाकर इतने बड़े ग्रन्थ का प्रणयन ही अपने आप में एक ऐतिहासिक उपलब्धि है। जिस लेखनी से इस महाग्रन्थ का सृजन हुआ है उसकी दृष्टि सात्त्विक, उदार और पर-हितकारी है। जो लेखनी सृजन के इस उद्देश्य की पूर्ति करती है, वही सार्थक है। तुलसीदास ने "कीरति भनिति

भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई" कहा है। आचार्यजी की मान्यता है कि सार्थक लेखनी सदैव पापाचारों, दुराचारों, दुर्विचारों को ललकारने और धिक्कारने वाली होती है। तभी तो लेखनी स्पष्ट बोलती है :

"लेखनी यह बोल पड़ी कि –/'अधःपातिनी, विश्वघातिनी
इस दुर्बुद्धि के लिए/धिक्कार हो, धिक्कार हो !
आततायिनी, आर्तदायिनी/दीर्घ गीध-सी
इस धन-गृद्धि के लिए,/धिक्कार हो, धिक्कार हो !" (पृ. १९७)

क्योंकि सृजन तो वही है जिसमें सभी का हित समन्वित हो :

- *"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है*
  और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
  जिसके अवलोकन से/सुख का समुद्भव–सम्पादन हो/सही साहित्य वही है
  ...इस साहित्य को/आँखें भी पढ़ सकती हैं/कान भी सुन सकते हैं
  इसकी सेवा हाथ भी कर सकते हैं/यह साहित्य जीवन्त है ना !" (पृ. १११)
- *"कोई भी कला हो/कला मात्र से जीवन में*
  सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।"(पृ. ३९६)

इस उत्तम मंगलकारी चेतनामय प्रकरण से सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाले नवीन भावभूति से युक्त महाग्रन्थ की रचना के लिए आचार्यजी अभिनन्दनीय और प्रणम्य हैं। उनका सन्तत्व कृति में सर्वत्र व्याप्त और जीवन्त है। ❑



पृष्ठ ४८५
समग्र संसार ही
दुःख से भरपूर है,....
--- अपना अनुभव बता सको
--- तो

'मूकमाटी' : मनोरम महाकाव्य

डॉ. गंगासहाय प्रेमी

मैंने परम सन्त आचार्यश्री विद्यासागर के दर्शनों का ही सौभाग्य लाभ प्राप्त नहीं किया है अपितु लगभग एक आधे घण्टे तक उनसे सार्थक, सारगर्भित वार्तालाप करने का गौरव भी प्राप्त किया है। वह भी उस समय/दिन जब उनका मौनव्रत था। मुझ जैसे अतिसाधारण व्यक्ति के लिए उनका मौनव्रत त्याग करना कम से कम मेरे लिए महती उपलब्धि है। उनकी अद्वितीय काव्यकृति पर विवेचना/समालोचना भी उसी कोटि की गरिमामयी घटना है।

'मूकमाटी' महाकाव्य में ऐसे अनेक पक्ष सम्भव हैं, जिन पर विस्तारपूर्वक लेखन करके भी मन सन्तुष्ट नहीं होगा। मुझे दो बिन्दुओं को आधार बनाकर विचार व्यक्त करना है। पहला 'भाषा सौन्दर्य' तथा दूसरा 'सामयिक जीवन की समस्याएँ और निदान।'

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार रस काव्य की आत्मा है तो शब्दार्थ उसके शरीर का स्थान ग्रहण करते हैं। शब्द और अर्थ की पृथक्-पृथक् महत्ता की परिकल्पना मृग-मरीचिका अथवा आकाश कुसुम के समान है। शब्द और अर्थ में शब्द शरीर है तथा अर्थ उसमें जीवन-संचार करने वाली आत्मा। शब्द के बिना अर्थ की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है तो अर्थ के अभाव में शब्द निरर्थक एवं निष्प्रयोज्य बन जाता है।

शब्द और अर्थ की संगति अर्थात् सार्थक शब्दों की क्रमबद्ध एवं नियमानुकूल स्थिति 'वाक्य' है। वाक्यों का समूह ही 'भाषा' है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में आचार्यश्री ने सर्वाधिक ध्यान भाषा सौन्दर्य अर्थात् शब्द योजना पर केन्द्रित रखा है। यह स्वीकार करने में किसी को विचिकित्सा शोभा नहीं देती।

भाषा सौन्दर्य के अनेक आयाम सम्भव हैं। जैसे–शब्द व्युत्पत्ति, ध्वनि साम्य, नवीन अर्थ की स्थापना, शब्दालंकार, अर्थालंकार आदि। आचार्यश्री संस्कृत व्याकरण के अप्रतिम मनीषी हैं। यह तथ्य इस महाकाव्य में यत्र-तत्र विचित्र शब्द व्युत्पत्ति के झरोखे से झाँकता प्रतीत होता है, यथा :

"कुम्भकार !'/'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य–
यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

'गदहा' अर्थात् गधा शब्द की व्युत्पत्ति :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/'गद' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस !" (पृ. ४०)

इसी प्रकार 'रस्सी' शब्द की व्युत्पत्ति, जिसमें रसना रस्सी से कहती है :

"ओरी रस्सी !/मेरी और तेरी/नामराशि एक ही है/परन्तु/आज तू
रस-सी नहीं,/निरी नीरस लग रही है।" (पृ. ६२)

'आदमी' शब्द की मनोरम व्युत्पत्ति :

"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है
जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)

'कृपाण' शब्द की व्युत्पत्ति :

"कृपाण कृपालु नहीं हैं/वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !" (पृ. ७३)

'कम्बल' की व्युत्पत्ति :

"कम बलवाले ही/कम्बल वाले होते हैं !" (पृ. ९२)

'कायरता' की व्युत्पत्ति :

"तामसता काय-रता है/वही सही मायने में/भीतरी कायरता है !" (पृ. ९४)

'धोखा' की व्युत्पत्ति :

"धोखा दिया ! धोखा ही सही/यूँ बार-बार कह, उसे भी
पुरुष ने आँखों के जल से/धो, खा दिया।" (पृ. १२२)

'संगीत' तथा 'प्रीति' शब्द की व्याख्या :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और
प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है !" (पृ. १४४-१४५)

अनेक स्थानों पर आचार्यश्री ने शब्दों के वर्ण-विपर्यय द्वारा अर्थात् अक्षरों को आगे-पीछे करके भी शब्दों की व्युत्पत्ति कर उनकी सार्थकता को रेखांकित किया है, जैसे :

याद और दया : *"स्व की याद ही/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी*
यही अर्थ निकलता है/या···द···द···या···।" (पृ. ३८)

हीरा और राही : *"राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही*
विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही···ही···रा !" (पृ. ५७)

खरा और राख : *"तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर/जला-जला कर*
राख करना होगा/यतना घोर करना होगा/तभी कहीं चेतन—आत्मा
खरा उतरेगा।/खरा शब्द भी स्वयं/विलोम-रूप से कह रहा है—
राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा !" (पृ. ५७)

लाभ और भला : *"सुख या दुःख के लाभ में भी/भला छुपा हुआ रहता है,*
देखने से दिखता है समता की आँखों से,/लाभ शब्द ही स्वयं
विलोम-रूप से कह रहा है-/ला···भ···भ···ला···!" (पृ. ८७)

भाषा की कर्णसुख-साधक क्षमता अनुप्रास अलंकार एवं ध्वनि साम्य के माध्यम से रूप ग्रहण करती है। भाषा आचार्यश्री के संकेत पर कठपुतली-सी नर्तन करती हुई प्रत्येक पृष्ठ पर ध्वनि साम्य एवं अनुप्रास अलंकार को लुटाती-सी प्रतीत होती है। प्रमाण के रूप में कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं :

- *"अबला बालायें सब/तरला तारायें अब।" (पृ. २)*

- *"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं।" (पृ. १०)*
- *"यह जीवन बोधित हो,/अभिभूत हुआ, माँ !/कुछ हलका-सा लगा*
  कुछ झलका-सा/अनुभूत हुआ, माँ !" (पृ. १४-१५)

शब्द-सौन्दर्य, वर्ण-मैत्री एवं संगीतमयता के उदाहरण के रूप में कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

- *"जहाँ कहीं भी देखा/महि में महिमा हिम की महकी,/और आज !*
  घनी अलिगुण-हनी/शनि की खनी-सी···/भय-मद-अघ की जनी
  दुगुणी हो आई रात है।" (पृ. ९१)
- *"स्वर के बिना स्वागत किस विध सम्भव है/शाश्वत भास्वत सुख का !"*

(यहाँ श और भ को परिवर्तित कर दिया गया है)

स्वर संगीत का प्राण है/संगीत सुख की रोढ़ है/और
सुख पाना ही सब का ध्येय/इस विषय में सन्देह को गेह कहाँ ?
नि:सन्देह कह सकते हैं—/विदेह बनना हो···तो
स्वर की देह को स्वीकारता देनी होगी/... इस पर साफ़-साफ़ कहता है
शिल्पी का साफ़ -सुथरा साफ़ा/खादी का—/पुरुष और प्रकृति के संघर्ष से
खर-नश्वर प्रकृति से/उभरते हैं स्वर !/पर, परम पुरुष से नहीं।
दु:स्वर हो या सुस्वर/सारे स्वर नश्वर हैं।" (पृ. १४३)

विषय-वस्तु एवं कथ्य के अनुरूप आचार्यश्री ने सरल, गहन एवं प्रांजल भाषा का प्रयोग करके शब्द शास्त्र एवं भाषा विज्ञान पर अपने असाधारण अधिकार का परिचय दिया है। आचार्यश्री का उद्देश्य है—भाव सम्प्रेषण। इसके हेतु उन्होंने उर्दू के प्रचलित एवं सरल शब्दों का प्रयोग करने में रंच मात्र भी संकोच नहीं किया, जैसे :

- *"...वह राही/गुम-राह हो सकता है/उसके मुख से फिर*
  ग़म-आह निकल सकती है।" (पृ. १२)
- *"आज !/ओस के कणों में/उल्लास-उमंग/हास-दमंग/होश नज़र आ रहा है।*
  आज !/जोश के क्षणों में/प्रकाश-असंग/विकास अभंग/तोष नज़र आ रहा है।
  आज !/रोष के मनों में/उदास-अनंग/ले नाश का रंग/बेहोश नज़र आ रहा है
  आज !/दोष के कणों में/त्रास तड़पन-तंग/ह्रास का प्रसंग/और गुणों का
  कोष नज़र आ रहा है।" (पृ. २१)

भाषा-सौन्दर्य का यह विवेचन संस्कृत तत्सम प्रधान एक स्थल को रेखांकित करके स्पष्ट किया जा सकता है। मैंने स्वयं उनको देखा है जब वो अपने विद्यार्थियों/शिष्यों को व्याकरण पढ़ा रहे थे। मुझे बड़ा आनन्द आया उनकी व्याकरण पढ़ाने की पद्धति को देख-सुन कर, हालाँकि मैंने बारह वर्ष व्याकरण पढ़ी है। संस्कृत की 'सृ' धातु के सम्बन्ध में देखिए :

"सृ धातु गति के अर्थ में आती है,/सं यानी समीचीन/सार यानी सरकना···
जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।" (पृ. १६१)

इस विवेचन के आधार पर यह कहने का साहस किया जा सकता है कि 'मूकमाटी' महाकाव्य के कण-कण

में, वर्ण-वर्ण में भाषा-सौन्दर्य की विद्यमानता चामत्कारिक है।

सम-सामयिकता : प्रत्येक साहित्यकार सम-सामयिक परिवेश से प्रभावित होता है। रागी हो अथवा वैरागी समकालीन परिस्थितियाँ और समस्याएँ सभी को प्रभावित करती हैं। कला, कला के लिए विचारधारा के पक्षधर उद्देश्यविहीन साहित्य-सर्जना करके भी सम-सामयिक समस्याओं के विवेचन और निदान को अपनी कृति में उसी प्रकार स्थान देते हैं जिस प्रकार फ्रेम में चित्र शोभायमान होता है।

'मूकमाटी' के रचयिता आचार्य विद्यासागरजी का कथ्य जैन सिद्धान्त एवं मान्यताओं के अनुसार श्रावक को मुक्ति मार्ग का सरल एवं रुचिकर विवेचन है। परन्तु प्रसंगवश सायास अथवा अनायास अनेक सम-सामयिक मान्यताएँ, समस्याएँ एवं स्थितियों ने इस महाकाव्य में स्थान प्राप्त किया है।

आजकल फैशन की बाढ़ में बहुत लोगों के वस्त्र पूर्वजों के समान सादे, इकरंगे और सात्त्विक नहीं होते। आज वस्त्रों के भड़कीले रंगों और डिजाइनों के साथ-साथ उन पर भाँति-भाँति के नारे भी अंकित होते हैं, यथा :

"अब तो···/अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी
'दया-धर्म का मूल है'/लिखा मिलता है।" (पृ. ७३)

जब कोई व्यक्ति संसार का भौतिक आकर्षण त्याग कर आध्यात्मिकता की ओर बढ़ता है तो आजकल फूलमालाएँ और गगनभेदी नारों से उसका स्वागत किया जाता है। आज अध्यात्म भी प्रदर्शन का आधार बन गया है। कूप की एक मछली उद्धार की कामना से बालटी में सहर्ष आ जाती है। शेष मछलियाँ उसे भावभीनी विदाई देती हैं :

"तरंगों से घिरी मछलियाँ/ऐसी लगती हैं कि/सब के हाथों में
एक-एक फूल-माला है/और/सत्कार किया जा रहा है/महा मछली का,
नारे लग रहे हैं–/'मोक्ष की यात्रा/···सफल हो...।" (पृ. ७६)

पतितों, पिछड़े एवं उपेक्षितों का पक्षग्रहण भी अधुनातन प्रवृत्ति है। 'मूकमाटी' के दो प्रसंगों में यह प्रवृत्ति प्रतीत होती है। फूल को सभी आदर एवं स्नेह देते हैं और शूल अब तक घृणा एवं उपेक्षा सहता आया है। कवि का कोमल मानस शूल के प्रति द्रवित हो उठता है। उसकी दृष्टि में शूल के समक्ष फूल तुच्छ बन जाता है :

"कामदेव का आयुध फूल होता है/और/महादेव का आयुध शूल।
एक में पराग है/सघन राग है/जिसका फल संसार है/एक में विराग है
अनघ त्याग है/जिसका फल भव-पार है।" (पृ. १०१-१०२)

वैदिक ऋषि ने समाजरूपी पुरुष का जो चित्र प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है उसमें क्षत्रिय को हाथ और शूद्र को चरण माना है। अ-सवर्णों के प्रति सहानुभूति के इस युग में आचार्यश्री की दृष्टि में कर यानी हाथों की अपेक्षा चरण का महत्त्व अधिक हो गया है :

" कर प्रायः कायर बनता है/और/कर माँगता है कर/वह भी खुल कर !
इतना ही नहीं,/मानवत्ता से घिर जाता है/मानवता से गिर जाता है;
इससे विपरीत-शील है पाँव का/परिश्रम का कायल बना यह
पूरे का पूरा, परिश्रम कर/प्रायः पायल बनता है/और/पाँव नता से मिलता है
पावनता से खिलता है।" (पृ. ११४) (मात्र बिन्दी हटाने से अर्थ परिवर्तन)

नारी का सम्मान भारत की प्राचीन परम्परा रही है। पौराणिक मान्यता वहाँ देवों का वास स्वीकार करती है, जहाँ नारियों का आदर-सम्मान हो--'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।' मध्यकाल में नारी का गौरवमय स्वरूप उससे छिन गया वह पैर की जूती और दासी कही जाने लगी। वर्तमान काल में नारी की महत्ता की ओर पुनः ध्यान गया है। आचार्यश्री ने भी पुरुष की अपेक्षा नारी का महत्त्व स्वीकार किया है :

"धर्म, अर्थ और काम-पुरुषार्थों से/गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।
इन पुरुषार्थों के समय/प्रायः पुरुष ही/पाप का पात्र होता है,
वह पाप, पुण्य में परिवर्तित हो/इसी हेतु स्त्रियाँ
प्रयत्न-शीला रहती हैं सदा।" (पृ. २०४)

बादल की ताड़ना के प्रसंग में उन्होंने धरती को महत्त्व दिया है और बादल को बुरा कहा है। इस प्रसंग में आचार्यश्री का ध्यान इस ओर गया है कि जल तत्त्व तेजी से शतरंज की चाल चलने लगता है। यदा-कदा जल बरसा कर बादल ने थोड़ी वर्षा की भी तो उसके द्वारा दलदल/कीचड़ हो जाता है जो कि कम/अपर्याप्त वर्षा का ही परिणाम है। इससे धरती की एकता-अखण्डता को क्षति पहुँचाने हेतु दलदल पैदा हो जाता है।

शोषण एवं दलन पर आधारित पूँजीवाद का आज सर्वथा विरोध हो रहा है। नगर सेठ के समीप गया मच्छर इस प्रकार धन की गर्हणा करता है :

"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है, उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,/काकतालीय-न्यास से/कुछ मिल भी जाय
वह मिलन लवण-मिश्रित होता है/पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।
सर्वप्रथम प्रणिपात के रूप में/उनकी पाद-पूजन की,/फिर/स्वर लहरी के साथ
गुणानुवाद-कीर्तन किया/उनके कर्ण-द्वार पर।/फिर भी मेरी दुर्दशा यह हुई।"
(पृ. ३८५)

आतंकवाद आज भारत की ही नहीं विश्व की ज्वलन्त समस्या है। सुख-शान्ति के चन्द्रमा को आतंकवाद रूपी राहु निगल जाना चाहता है। 'मूकमाटी' में एक प्रसंग है जब नदी में नगर सेठ को सपरिवार पाकर चोरों-लुटेरों रूप आतंकवाद ने घेरकर समर्पण हेतु विवश किया। सेठ आत्मसमर्पण की बात सोच ही रहा था, तब नदी ने उसे उतावला न बनने का परामर्श दिया। देवगण भी नगर सेठ की रक्षा न कर सके तो नदी की धारा ने उसका उद्धार किया :

"नाव की करधनी डूब गई/जहाँ पर लिखा हुआ था—
'आतंकवाद की जय हो/समाजवाद का लय हो
भेद-भाव का अन्त हो/वेद-भाव जयवन्त हो'।" (पृ. ४७३-४७४)

इसी प्रकार की अनेक सम-सामयिक समस्याओं एवं स्थितियों को आचार्यश्री विद्यासागरजी ने इस 'मूकमाटी' महाकाव्य में स्थान देकर जन-जन के उद्गार देकर उपकार करने का प्रयास किया है।

□

'मूकमाटी' : हिन्दी प्रबन्ध साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि

डॉ. देवेन्द्र दीपक

सन्त सत्य और सत् के प्रचारक होते हैं, इसीलिए वे किसी वर्ग, जाति, भाषा या धर्म के लिए नहीं, वरन् सबके लिए होते हैं। उनकी रोशनी सबके लिए होती है। वे मात्र प्रचारक ही नहीं होते, वरन् किसी विचार का प्रचार करने से वे उस विचार को आत्मरस में पाग देते हैं। आचार और विचार दोनों एक रूप हो जाते हैं उनमें। कोई द्वैत नहीं रहता है दोनों में। आचार और विचार दोनों एक-दूसरे का अनुमोदन और समर्थन करते हैं। आचार्य मुनि विद्यासागर ऐसी ही सन्त परम्परा के आधुनिक जीवित तीर्थ हैं।

मुनि विद्यासागर नाम से ही विद्यासागर नहीं हैं, वरन् वह सचमुच में विद्या के सागर हैं। किसी भी विषय पर उनसे चर्चा की जा सकती है और आपको ऐसा लगेगा कि सचमुच हमें कुछ अतिरिक्त मिल रहा है, हमारे ज्ञान कोश में कुछ वृद्धि हो रही है।

अज्ञेय हिन्दी की एक श्रेष्ठ विभूति हैं। उनका एक कथन यहाँ उद्धृत करना चाहूँगा। उनका कहना है : "पश्चिम का कलाकार रूप (फ़ार्म) की खिड़की से देखकर वस्तु को संवेद्य बनाता है, उसका सम्प्रेषण करता है। भारत का कलाकार प्रतीक की खिड़की से वस्तु को नहीं, वस्तु के पार वस्तु सत् को संवेद्य बनाता है।"

सन्त और फिर सन्त कवि ! उनकी लेखनी और वाणी तो प्रतीकों को अपने अस्त्र-शस्त्र के रूप में प्रयुक्त करती है। 'मूकमाटी' एक प्रतीक काव्य है। ज्ञान, अध्यात्म और अनुभूति की एक त्रिवेणी है। 'मूकमाटी' और इस त्रिवेणी में प्रतीक बीच-बीच में जलावर्त जैसे हैं। पाठक का मन जब किसी ऐसे ही जलावर्त में फँसता है तो फिर धँसता ही जाता है। उबरने के लिए डूबना उसकी नियति है।

अज्ञेय का ही एक उद्धरण और : "कृतिकार का उद्देश्य या लक्ष्य केवल अनुभव का सम्प्रेषण है। सहज बोध द्वारा अपनी अनुभूतियों से व्यापक अनुभवों में प्रवेश, उन अनुभवों की पकड़ और उनका सम्प्रेषण - यही उसका लक्ष्य है।"

'मूकमाटी' के कवि के पास व्यापक जीवनानुभव हैं। ये अनुभव उसे पढ़कर नहीं, प्रत्यक्ष देखकर और भोगकर प्राप्त हुए हैं। 'मूकमाटी' जैसी कृति जीवन के व्यापक अनुभवों के बिना लिखी ही नहीं जा सकती। उनके अनुभव उनका अर्जन हैं और यह अर्जन उन्हें भ्रमण के द्वारा प्राप्त हुए हैं।

मुनि विद्यासागर एक यायावर हैं। चातुर्मास के अतिरिक्त तो वह घूमते ही हैं। लोगों की आँखें खोलने के लिए घूमने वाला आदमी स्वयं आँख मूँद कर थोड़े ही घूमेगा। इससे भी आगे का सच यह है कि वह जीवन को आँख गड़ाकर देखते हैं। ऐसे व्यक्ति के पास जीवन के अनुभवों की क्या कमी हो सकती है ?

'मूकमाटी' के कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार है। वह शब्दों को अपने ढंग से व्याख्यायित करते हैं। सहमति-असहमति की अनेक सम्भावनाओं के बाद भी 'मूकमाटी' अपने ऐसे अनेक स्थलों के लिए रेखांकित की जायगी, जहाँ कवि अनेक प्रचलित शब्दों को अपने ढंग से तोड़ता है और उनमें एक नई अर्थवत्ता भरता है। यों ऐसे शब्द पाठक और श्रोता दोनों की स्मृति में स्थाई अधिवास बना लेते हैं। बानगी के रूप में केवल एक अंश :

"हम तो···अपराधी हैं/चाहते अपरा 'धी' हैं।" (पृ. ४७४)

लोग फूल को देखकर मुग्ध होते हैं, लेकिन 'मूकमाटी' के रचनाकार की दृष्टि इससे आगे जाती है। फूल

जीवन का बोध है, लेकिन फल जीवन का शोध है। इसीलिए वह कहते हैं :

"फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ. १०७)

इस पंक्ति को पढ़कर मुग्ध हो गया हूँ मैं। मेरी स्मृति में नरसी मेहता की एक पंक्ति उभरती है– "बीज मा वृक्ष तूं, वृक्ष मा बीज तूं"— बीज में वृक्ष और वृक्ष में बीज ! बीज की सार्थकता वृक्ष बनने में नहीं, पुनः बीज बनने में ही है। मुनि विद्यासागर और नरसी मेहता दोनों सन्तों को इस बिन्दु पर एक साथ होता देखकर लगा कि भारतीय मनीषा का जीवन में प्रवेश कितना सार्थक और कितना समरूप है।

लेकिन एक दो बातों की ओर संकेत भी। कवि ने कहीं-कहीं अपने कथन को अतिरिक्त विस्तार दिया है। यह शायद इसलिए भी हुआ क्योंकि मुनि विद्यासागर कवि होने के साथ एक प्रवचनकार सन्त महात्मा भी हैं। उनका लक्ष्य मात्र कविता लिखना नहीं है, अपितु कविता को अपनी बात कहने के माध्यम के लिए चुना है उन्होंने। यों यह भी सही है कि तनिक-सा ध्यान रखने पर कवि ऐसे अभिधापरक कथनों से बच सकता था।

'मूकमाटी' हिन्दी के प्रबन्ध साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। 'मूकमाटी' के लिए रचनाकार मुनि विद्यासागर को बधाई। □

पृष्ठ ३२२
पात्र की गति को
देख कर ----
अभ्यागत का स्वागत
प्रारम्भ हुआ :



हिन्दी का आधुनिक काव्य : 'मूकमाटी'

महेन्द्र कुमार 'मानव'

बहुधा मुनि कवि नहीं होते और कवि मुनि नहीं होते। वैसे प्राचीन जैन वाङ्मय में भी इसके अनेक अपवाद मिल जाएँगे। अनेक जैन आचार्यों ने शास्त्रों की रचना की है और अनेक आचार्यों ने भावप्रवण होकर स्तोत्रों की रचना की है। लेकिन आचार्य विद्यासागर का अपवाद अपने ढंग का अनूठा और परम्परा से हटकर है। वे मुनि भी हैं और कवि भी। उन्होंने केवल भगवान् की स्तुतियाँ नहीं गाई हैं अपितु उन्होंने सारी उपमाएँ, अलंकार सांसारिक वस्तुओं से ही लिए हैं, लेकिन उनकी दृष्टि आध्यात्मिक है। सांसारिक व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं को भौतिक दृष्टि से देखता है तो आध्यात्मिक व्यक्ति सांसारिक पदार्थों को आध्यात्मिक दृष्टि से देखता है। सांसारिक व्यक्तियों का इश्क मिजाज़ी होता है, आध्यात्मिक व्यक्तियों का इश्क हक़ीक़ी होता है।

पतंजलि ने लिखा है कि अभिनेताओं (मैं उनमें 'कवि' भी जोड़ना चाहूँगा) का चरित्र शंकाशील होता है। मुझे लगता है कि अभिनेता और कवि भावुकता में बहते हैं और संसार जिसको 'चरित्र' कहता है, उसकी परवाह नहीं करते। आचार्यजी के साथ यह दूसरा अपवाद है। वे कवि हैं और कवि नहीं भी यानी दूसरे कवियों की तरह नहीं। माटी से शरीर का बोध होता है। अंग्रेज़ी में कहावत है- "For dust thou art, and unto dust shart thou return."– मिट्टी की काया है और मिट्टी में मिल जाती है। लेकिन इस महाकाव्य में 'माटी' को 'आत्मा' का रूप बनाया गया है।

'मूकमाटी' को सन्त कवि ने चार खण्डों में विभक्त किया है। पहला खण्ड माटी की उस प्राथमिक दशा के परिशोधन की प्रक्रिया को व्यक्त करता है, जहाँ वह पिण्ड रूप में कंकर कणों से मिली-जुली अवस्था में है। दूसरे खण्ड में माटी को खोदने की प्रक्रिया में कुम्भकार की कुदाली एक काँटे के माथे पर जा लगती है, उसका सिर फट जाता है, वह बदला लेने की सोचता है। यह देख कुम्भकार को अपनी असावधानी पर ग्लानि होती है। इस खण्ड में सन्त-कवि ने साहित्य-बोध को अनेक आयामों में अंकित किया है। तीसरे खण्ड में कुम्भकार ने माटी की विकास-कथा के माध्यम से पुण्य-कर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का चित्रण किया है। इस खण्ड में 'द्विज' शब्द सार्थक बनता है। 'मेघ' से 'मेघ-मुक्ता' का अवतार होता है। कच्चा हीरा तराश कर समझदार हीरा बनाया जाता है। चौथे खण्ड में कुम्भकार ने 'घट' को रूपाकार दे दिया है। अब उसे अवा में तपाने की तैयारी है। अग्नि-परीक्षा का समय आ गया है। बड़े-बड़े सिद्ध पुरुष अग्नि-परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। महात्मा गाँधी को अपने ब्रह्मचर्य की परीक्षा लेनी पड़ी। वे अपने साथ अपनी भतीजियों को निर्वस्त्र सुलाते थे और अपने मन की परीक्षा लेते थे कि उनका ब्रह्मचर्य अडिग है या नहीं।

आचार्यजी महान् विद्वान् हैं और उन्हें साहित्य का, जैन दर्शन का, मन्त्र विद्या का और छन्द शास्त्र का गम्भीर ज्ञान है, जो उनकी रचना में प्रतिबिम्बित होता है। रचना शुद्ध खड़ी बोली में वर्तमान की वस्तु स्थितियों एवं घटना-चक्रों में से गुज़रती है, जिसके कारण इसे हिन्दी के आधुनिक काव्यों में समाविष्ट किया जा सकता है।

यद्यपि रचना में आचार्यजी की जैन दर्शन सम्बन्धी मान्यता बौद्धिक है, तथापि उसमें उनकी अपनी आध्यात्मिक अनुभूति जुड़ी हुई है। इसके कारण रचना बहुत उच्च स्तर की बन गई है। उच्च आत्मा से निकली रचना उच्च होती है। लेकिन ऐसा भी देखा गया है कि कभी-कभी निम्न आत्मा से निकली रचना भी उच्च होती है और उच्च आत्मा से निकली रचना निम्न होती है। लेकिन आचार्यजी में 'सोने में सुहागा' जैसा संयोग बन पड़ा है। मनुष्य का जीवन मिलावटी सोना है, कच्चा हीरा है। उसे तपाकर ही कंचन बनाया जा सकता है, उसे तराशकर ही उसमें चमक लाई जा सकती है। 'मूकमाटी' हमें ऐसा करने की ही प्रेरणा देती है।

❑

भारत भारती के भण्डार की अद्वितीय कृति : 'मूकमाटी'

डॉ. राजकुमार तिवारी 'सुमित्र'

तुलसी पत्र की न तो खेती होती है, न बिक्री। इसके विपरीत तेंदूपत्तों के जंगलों की बड़ी कीमत लगाई जाती है। लेकिन इससे तुलसी के गुण, मान या पवित्रता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जरा सोचें कि ऐसा क्यों ? मेरी समझ से तुलसी और तेन्दूपत्ते की स्थितियों के मूल में है उनका आचरण।

आचरणहीन साहित्यकार की मूल्यवान् कृति भी प्राणहीन होती है जबकि आचरणशील साहित्य साधक की साधारण कृति भी प्रेरणा पराग बिकीर्ण करने में समर्थ सिद्ध होती है। साहित्यकारों के लिखे साहित्य को सन्त साहित्य नहीं माना जाता जबकि सन्तों ने जो कहा या लिखा उसे सन्तत्व का अवतरण स्वीकार लिया जाता है।

सन्तों द्वारा साधारण ढंग से साधारण भाषा में कही बात भी असाधारण महत्त्व की होती है। इसका कारण यह है कि उनकी अभिव्यक्ति आचरण आभा-मण्डित होती है। सन्त कबीर का साहित्य इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

कबीर कहते हैं :

"माटी के हम पूतरे, मानस राख्यो नाउ।
चारि दिवस के पाहुने, बड़ बड़ रूधहिं ठाउ॥"

गहरी बात साधारण शब्दों में वही कह सकता है जो ग्रन्थि रहित हो। भीतर-बाहर एक-सा रहने वाला ही कबीर की भाँति इस सत्य का साक्षात् कर सकता है :

"यह तन काचा कुम्भ है, लियाँ फिरै था साथि।
ढबका लागा फुटि गया, कछू न आया हाथि॥"

सन्तों की यह परम्परा अक्षुण्ण है। आचार्य विद्यासागर इस परम्परा के भगीरथ हैं। वे सन्तों में कवि और कवियों में सन्त हैं। आचार्यश्री की अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों में 'मूकमाटी' अद्वितीय है। ४८८ पृष्ठों में समाहित और चार खण्डों में विभाजित यह कृति आचार्य भामह, रुद्रट, आनन्दवर्धन, दण्डी या पण्डितराज जगन्नाथ की किसी परिभाषा के चौखटे में कैद नहीं की जा सकती। इसे कथा काव्य, खण्ड काव्य, बृहत् काव्य या सर्गबन्ध की कसौटी पर भी नहीं रखा जा सकता। मैं इसे 'महा काव्य' का समास विग्रह कर 'महत् काव्य' ही कहूँगा।

आचार्यश्री ने माटी का अवलम्ब लेकर जन-मन को अध्यात्म की आभा का उपहार और जीवन-दर्शन दिया है। 'मूकमाटी' का कथ्य गागर में सागर जैसा कुल इतना ही है कि माटी ने युगों-युगों से मंगल घट बनने की साध लिए कुम्भकार की प्रतीक्षा की। माटी मंगल घट बनी और गुरु के पाद प्रक्षालन कर धन्य हुआ। अन्य पात्र भी हैं जिनके सहयोग से कथा गतिशीला और अर्थवती हुई है। 'मूकमाटी' मुक्त छन्द में रचित है। सम्भवतः विशृंखलित युग तक सम्प्रेषण का यही माध्यम आचार्यश्री को युगानुकूल प्रतीत हुआ।

सम्पूर्ण कृति में रस-अलंकार का वैविध्य है। शब्दों का अर्थ-सन्धान प्रेरक, रोचक, ग्रहणीय और प्रभावी है।

'आम आदमी' या सर्वहारा वर्ग के बारे में लिखना आज के 'युगधर्म' से अधिक 'फैशन' हो गया है। और इस प्रकार का लेखन करने वाले अपने आपके 'मसीहा' होने का भ्रम पाल लेते हैं। इन स्थितियों में 'माटी' को अपने काव्य का आधार बनाकर मनुष्य तो मनुष्य, पशु-पक्षियों, वनस्पतियों तथा अन्य जड़ पदार्थों की व्यथा की अनुभूति कर, उसे वाणी देते हुए, युग के प्रश्नों को समाधान की दिशा देने वाले कृतिकार को किस संज्ञा से सज्जित और किस विशेषण से

विभूषित किया जाय ? यह 'सियाराममय सब जग जानी' का फलितार्थ नहीं तो और क्या है ?

अध्यात्म का उजास देने वाली यह कृति संसारियों के लिए भी उतनी ही उपादेय है। 'मूकमाटी' में जीवन संघर्ष और आस्था के स्वर गुंजरित हो रहे हैं :

"संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से
हर्षमय होता है, धन्य !" (पृ. १४)

आचार्यश्री का कथन है :

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।" (पृ. ९)

किन्तु समस्या है आस्था आत्मसात् कैसे हो ? सूत्र भी दिया है आचार्यश्री ने :

"आस्था के विषय को/आत्मसात् करना हो/उसे अनुभूत करना हो
तो/साधना के साँचे में/स्वयं को ढालना होगा सहर्ष।" (पृ. १०)

जीवन में विषम स्थितियाँ भी आती हैं किन्तु आस्थावान् के लिए वे अभिशाप नहीं। एक उदाहरण देखें :

"कभी-कभी/गति या प्रगति के अभाव में/आशा के पद ठण्डे पड़ते हैं,
धृति, साहस, उत्साह भी/आह भरते हैं,/मन खिन्न होता है/किन्तु
यह सब आस्थावान् पुरुष को/अभिशाप नहीं है।" (पृ. १३)

आस्था और निष्ठा के बिना आचरण में आनन्द नहीं आता, यथा :

"आस्था के बिना आचरण में/आनन्द आता नहीं, आ सकता नहीं।
फिर, आस्थावाली सक्रियता ही/निष्ठा कहलाती है।" (पृ. १२०)

बहुधा लोग मान लेते हैं कि सुख-दुःख, विजय-पराजय से परे रहने वाले सन्त जन मानवीय स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के सन्दर्भ में कोरे ही रहते हैं। किन्तु 'मूकमाटी' इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर देती है। आपने स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के परिप्रेक्ष्य में सिंह और श्वान की तुलना करते हुए लिखा है :

"...श्वान/स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझता,
पराधीनता-दीनता वह/श्वान को चुभती नहीं कभी,
श्वान के गले में ज़ंजीर भी/आभरण का रूप धारण करती है।" (पृ. १७०)

स्वर्ण को शोषक वर्ग और मिट्टी को शोषित वर्ग का प्रतिनिधि चित्रित करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है :

"तुम स्वर्ण हो/उबलते हो झट से,/माटी स्वर्ण नहीं है/पर
स्वर्ण को उगलती अवश्य,/तुम माटी के उगाल हो !" (पृ. ३६४-३६५)

वे स्वर्ण को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम/पूँजीवाद के अभेद्य

दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !" (पृ. ३६६)

अब कोई समीक्षक बताए कि इन पंक्तियों में निराला की 'सुन बे गुलाब' कविता से कम तिलमिलाहट है ? स्वर्ण के सन्दर्भ में ही एक व्यंग्य द्रष्टव्य है :

"यथार्थ में तुम सवर्ण होते/तो फिर···वह···
दिनकर का दुर्लभ दर्शन/प्रतिदिन क्यों न होता तुम्हें ?" (पृ. ३६६)

वर्तमान में चारों ओर अमरबेल-सी फैल रही पद-लिप्सा की ओर भी आचार्यश्री की पैनी दृष्टि गई। उन्होंने लिखा :

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,
पाप-पाखण्ड करते हैं।/प्रभु से प्रार्थना है कि/अपद ही बने रहें हम !" (पृ. ४३४)

नारियों की स्थिति और प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में भी 'मूकमाटी' मूक नहीं है । एक कटु सत्य उजागर हुआ है :

"प्रायः पुरुषों से बाध्य हो कर ही
कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को !" (पृ. २०१)

विलम्ब से मिलने वाले न्याय के बारे में कितनी सटीक बात कही गई है :

"आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय-सा लगता ही है।" (पृ. २७२)

अराजकता और आतंकवाद का अंधेरा बढ़ता ही जा रहा है। प्रश्न है कि ऐसा क्यों हो रहा है ? उत्तर है :

"बात का प्रभाव जब/बल-हीन होता है/हाथ का प्रयोग तब
कार्य करता है।/और/हाथ का प्रयोग जब/बल-हीन होता है
हथियार का प्रयोग तब/आर्य करता है।" (पृ. ६०)

किन्तु 'आतंकवाद' के कारण क्या स्थिति बन रही है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह।" (पृ. ४४१)

यही तो हो रहा है देश में। देवालय शस्त्रागार बन रहे हैं। धर्म का स्वरूप परिवर्तित हो गया है। आचार्यश्री ने इस विडम्बना का यथार्थ चित्रण किया है :

"अब तो···/अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी
'दया-धर्म का मूल है'/लिखा मिलता है।/किन्तु,/कृपाण कृपालु नहीं हैं
वे स्वयं कहते हैं/हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !/कहाँ तक कहें अब !
धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है/शास्त्र शस्त्र बन जाता है
अवसर पाकर।" (पृ. ७३)

प्रश्न है कि ऐसा होता क्यों है ? आचार्यश्री कहते हैं कि 'बदले का भाव' ही इसकी जड़ है :

"बदले का भाव वह दल-दल है/कि जिसमें
बड़े-बड़े बैल ही क्या,/बल-शाली गज-दल तक
बुरी तरह फँस जाते हैं/और/गल-कपोल तक
पूरी तरह धँस जाते हैं।" (पृ. ९७)

इस प्रकार की हीनप्रवृत्ति वालों के लेखे देश का क्या महत्त्व ?

"वेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं।" (पृ. १२३)

लोग भ्रष्टाचार, चोरी और कालाबाजारी से त्रस्त हैं किन्तु वास्तव में दोषी कौन है ? आचार्यश्री के अनुसार :

"चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि
चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ. ४६८)

अशान्ति और चोरी का कारण खोजें तो कवि दिनकर की पंक्तियाँ स्मरण आती हैं :

"शान्ति नहीं हो सकती तबतक जबतक/सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो/नहीं किसी को कम हो।"

इसी आशय की अभिव्यक्ति 'मूकमाटी' में हुई है :

"अब धन-संग्रह नहीं /जन-संग्रह करो !/और/लोभ के वशीभूत हो
अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो।" (पृ. ४६७)

आचार्यश्री ने पीड़ा को सुख का माध्यम माना है। वे कहते हैं :

- *"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है*
  और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)
- *"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३८)*

प्रेरक सन्देशदाता सन्त तपस्वी विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' जैसी कृति से भारत भारती के भण्डार की श्रीवृद्धि की है। उन्होंने धर्म, दर्शन और हिन्दी को जो योगदान दिया, वह प्रणम्य है।

संयम-सौरभ-साधना, जिनको करे प्रणाम।
त्याग-तपस्या-तीर्थ का 'विद्यासागर' नाम॥

□

'मूकमाटी' : विश्व-साहित्य की अप्रतिम उपलब्धि

लालचन्द्र जैन 'राकेश'

आचार्य श्री विद्यासागरजी ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त प्रखर तपस्वी हैं। आचार्यश्री जन्मजात अलौकिक, बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। वे बहुभाषाविद् तो हैं ही, काव्य-व्याकरण-दर्शन-अध्यात्म आदि अनेक विषयों में उनकी गहरी पहुँच है।

आचार्यश्री की अनुभवसिद्ध लेखिनी से अनेक काव्यकृतियाँ प्रसूत हुई हैं। प्रत्येक अगली कृति उनकी काव्यकला के बढ़ते सोपानों की प्रतीक है। उनके कथ्य लौकिक से आरम्भ होकर अलौकिक में, साधारण से असाधारण में, अर्थ से परमार्थ में, आत्म से परमात्म में एवं बाह्यजगत् से अन्तर्जगत् में विलीनता प्राप्त करा कर पाठक को अद्भुत लोक में पहुँचा देते हैं।

इसी शृंखला में प्रसूत उनका 'मूकमाटी' महाकाव्य आधुनिक भारतीय साहित्य के साथ ही विश्व साहित्य के क्षेत्र में भी अप्रतिम, उल्लेखनीय उपलब्धि है। यह कालजयी रचना है जो कथ्य, तथ्य और प्रतिपाद्य के शाश्वत महत्त्व के कारण कभी पुरानी नहीं पड़ेगी।

प्रथमतः, कृति के नाम का भी उसकी महत्ता में योगदान होता है। नाम, कृति का मुख होता है जिसमें उसकी आत्मा झाँकती है। नाम वह धुरी है जिसके आधार पर कथानक के घटनाचक्र गतिमान् होते हैं। नाम होना चाहिए लघु, स्वयं में पूर्ण, आकर्षक एवं जिज्ञासामूलक।

इस निकष पर 'मूकमाटी' का नामकरण सार्थक है। बड़ा अनोखापन है इस नाम में। पढ़ते-सुनते ही कौतूहल जाग जाता है। आदि से अन्त तक सम्पूर्ण कथानक में 'मूकमाटी' आत्मा के रूप में विद्यमान है। नाम की विलक्षणता यह है कि वह इन पंक्तियों के माध्यम से उद्धार के लिए छटपटाती/व्याकुल आत्मा की ओर संकेत करती है।

- *"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,*
  ···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)
  "यातनायें पीड़ायें ये !/कितनी तरह की वेदनायें
  कितनी और···आगे/कब तक···पता नहीं/इनका छोर है या नहीं !"(पृ. ४)
- *"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की ?*
  च्युति कब होगी ? बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)
- *"और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो*
  पाथेय भी दो माँ !"(पृ. ५)

द्वितीय, कथानक की मौलिकता पर विचार करें तो कह सकते हैं कि माटी जैसी निरीह, पद-दलित, उपेक्षित, अकिंचन, तुच्छ एवं अकथ्य वस्तु को महाकाव्य का कथ्य बनाना ही विस्मयकारी है। माटी पर भी महाकाव्य लिखा जा सकता है, यह कल्पना से परे है। प्रायः होता यह रहा है कि पुरातन कथानक को ही थोड़े-बहुत परिवर्तन का आवरण पहनाकर या गद्य को पद्य का रूप देकर नवीन कृति के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता रहा है। फलतः उसमें मौलिकता कम, पिष्टपेषण ही अधिक दृष्टिगत होता है। इस परिप्रेक्ष्य में 'मूकमाटी' का कथ्य पूर्णतः मौलिक, अचिन्त्य, अकल्प्य, अभिनव एवं अस्पृष्ट है।

जिनके चरण, आचरण, प्रवचन भव-भव में भटकते भव्यों को सत्पथ-दर्शक बनकर भगवान् बनने का उद्घोष कर रहे हों, ऐसे सन्त के मन में ही माटी से मंगल घट तक की मंगल यात्रा की परिकल्पना उद्भूत होना सम्भव है। आध्यात्मिक पक्ष में यह यात्रा आत्मा के विकास की कथा है। माटी से मंगल घट और मंगल घट द्वारा सेठ के परिवार का सरिता-तरण-आत्मा की तरण-तारण स्थिति की व्यंजना है।

महाकाव्य चार खण्डों में विभाजित है– खण्ड १- 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' ; खण्ड २-'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' ; खण्ड ३-'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' एवं खण्ड ४-'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।'

प्रथम खण्ड में यह दर्शाया गया है कि माटी उस प्राथमिक अवस्था में है जिसमें कंकर-कण मिश्रित हैं। यह उसकी वर्ण-संकर दशा है। माटी में मंगल घट बनने की पात्रता तब आ सकती है जब उसमें से बेमेल तत्त्व कंकर-कणों को पृथक् कर दिया जाय। प्रकृति के विपरीत बेमेल तत्त्वों का पृथक् होकर माटी का मूलरूप/स्वाभाविक दशा को प्राप्त होना ही माटी का वर्णलाभ है। आध्यात्मिक पक्ष में आत्मा अनादिकाल से कर्म मेल से वर्णसंकर स्थिति में है। निमित्त मिलने पर वह वर्णलाभ (पात्रता) की स्थिति तक पहुँचती है। यह वह स्थिति है जब आत्मा में संस्कार ग्रहण करने की योग्यता आती है।

द्वितीय खण्ड में यह व्यंजित हुआ है कि वर्णलाभ प्राप्त आत्मा शब्दबोध (शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझना)कर सकता है और शब्दशोध (बोध को अनुभूति में, आचरण में उतारना) भी। 'बोध' और 'शोध' शब्दज्ञान और चारित्र को ध्वनित करते हैं।

वर्णलाभ प्राप्त माटी (आत्मा) शब्दबोध एवं शब्दशोध की ओर इस प्रकार बढ़ती है :

- *"लो, अब शिल्पी/कुंकुम-सम मृदु माटी में/मात्रानुकूल मिलाता है*
  छना निर्मल-जल।/नूतन प्राण फूँक रहा है/माटी के जीवन में
  करुणामय कण-कण में,/...माटी के प्राणों में जा,/पानी ने वहाँ
  नव-प्राण पाया है,/ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ
  नव-ज्ञान पाया है।/अस्थिर को स्थिरता मिली/अचिर को चिरता मिली
  नव-नूतन परिवर्तन···!" (पृ. ८९)

- *"मान-घमण्ड से अछूती माटी/पिण्ड से पिण्ड छुड़ाती हुई*
  कुम्भ के रूप में ढलती है/कुम्भाकार धरती है ।" (पृ. १६४)

- *"दो-तीन दिन का/अवकाश मिला/सो···कुम्भ का गीलापन*
  मिट-सा गया···/सो···कुम्भ का ढीलापन/सिमट-सा गया।
  आज शिल्पी को बड़ी प्रसन्नता है/कुम्भ को उठा लिया है हाथ में।
  और फिर,/एक हाथ में सोट ले/दूजे से ओट कर
  कुम्भ की खोट पर चोट की है।" (पृ. १६५)

फिर कुम्भकार कुम्भ पर संख्याओं, यथा– ९, ९९, ६३ एवं सिंह, श्वान, कछुआ, खरगोश आदि पशुओं का अंकन कर उसे अलंकृत करता है। उल्लेखनीय है कि मनुष्य की कच्ची (बाल्य) अवस्था में डाले गए संस्कार जीवन भर विकसित होकर उसे प्रभावित करते रहते हैं।

कुम्भ का जलीय अंश सूखने पर ही कुम्भ पर अंकन स्थायी हो सकता है। उसी प्रकार आत्मा में डाले गए संस्कार जड़ीय (ड-ल-योरभेदः) अंश (अज्ञान) के समाप्त होने पर ही स्थायी हो सकते हैं और इसके लिए आवश्यकता है तप की । तप के द्वारा ही माटी मंगल घट एवं आत्मा कल्याणमयी बन सकेगी :

"बिना तप के जलत्व का, अज्ञान का/विलय हो नहीं सकता/और
बिना तप के जलत्व का, वर्षा का/उदय हो नहीं सकता।" (पृ. १७६)

इस खण्ड में सन्त कवि ने शिल्पी, काँटा और मिट्टी के माध्यम से साहित्य के विविध विषयों का नवीन रूपेण चित्रण किया है। नव रस, ऋतु वर्णन चमत्कारी शैली में चित्रित हैं। कहना न होगा कि तत्त्व-दर्शन एवं अध्यात्म की उद्भावना पग-पग पर की गई है।

तृतीय खण्ड में चित्रण है कि अज्ञान के अभाव में मन-वचन-काय की निर्मलता से, जलत्व का – वर्षा का उदय अर्थात् लोककल्याण की भावना तथा शुभ कार्यों से पुण्य उपार्जित होता है जबकि क्रोध-मान-माया-लोभादि असत् भावनाओं से पापार्जन होता है। अज्ञान के अभाव में 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' की क्रिया चलती है।

जलधि धरती को लूट कर रत्नाकर बन जाता है तथा चन्द्रमा घूस लेकर, चन्द सम्पदा का स्वामी होकर भी, सुधाकर बन गया है। जल, सूर्य, पृथ्वी आदि सत्कार्य कर पुण्य का पालन करते हैं। धनलिप्सा का समुद्र के माध्यम से किया गया चित्रण आज की समाज की घृणित भावना को उजागर कर देता है :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

दूसरी ओर धरा के माध्यम से धर्म की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया है :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।/यही दया-धर्म है
यही जिया कर्म है।" (पृ. १९३)

पुण्य कर्म के द्वारा प्राप्त विभिन्न श्रेयस्कर उपलब्धियों का चित्रण भी इस खण्ड में किया गया है।

चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक से ही स्पष्ट है कि घड़े को अवे में तपाया जाता है, उसके दोष जलकर भस्म हो जाते हैं। दोषों की राख बिखर जाती है और घट चाँदी-सा खरा होकर मंगल घट हो जाता है। तभी तो नगर सेठ का सेवक जब मंगल घट की कंकर से सात बार बजाकर परीक्षा करता है तब घट से ये स्वर निकलते हैं :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख/प···ध यानी पद–स्वभाव
और/नि यानी नहीं,/दुःख आत्मा का स्वभाव–धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह।" (पृ. ३०५)

जो आत्मा तप और ध्यान के द्वारा अपने दोषों को जलाने में तत्पर है वह माटी से मंगल घट की तरह सबके लिए मंगल घर बन जाती है। कुम्भ के मुख से निःसृत पंक्तियाँ उक्त आत्मा के ही स्वर हैं :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें-/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठे/···बस !" (पृ. ४७८)

इस खण्ड का आकार बहुत विस्तृत है। दो सौ से भी अधिक पृष्ठ यानी सम्पूर्ण कृति के अर्द्ध भाग को यह खण्ड समेटे हुए है। कथ्य को प्रस्तुत करने की शैली अनोखी है। बात-बात में नए-नए कथा-प्रसंगों की उद्भावना हो जाती है और सरिता की तरह कथाप्रवाह अनेक मोड़ लेता हुआ आगे बढ़ता जाता है। अन्त में साधु देशना के साथ यह खण्ड समाप्त होता है :

- *"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।*
  इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
  यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ !" (पृ. ४८६-४८७)

- *"विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर*
  मार्ग में नहीं, मंजिल पर !/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···
  और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूक माटी।" (पृ. ४८८)

साधु देशना के रूप में कवि ने महाकाव्य का उद्देश्य प्रकट कर दिया है–'बन्धन-रूप तन, मन और वचन का आमूल मिट जाना ही, मोक्ष है। इसी की शुद्ध दशा में अविनश्वर सुख होता है'– इस दशा को प्राप्त करना ही प्रत्येक आत्मा का चरम लक्ष्य है।

यदि हम इसके महाकाव्यत्व पर विचार करें तो असन्दिग्धरूपेण कहा जा सकता है कि यह एक महाकाव्य है। आकार की दृष्टि से यह चार खण्डों में विभक्त है एवं लगभग ५०० पृष्ठ घेरता है। 'मूकमाटी' यानी सुषुप्त चैतन्य शक्ति इसकी नायिका है। कुम्भकार, मूकमाटी, नगर सेठ, अतिथि, नीराग साधु इसके प्रमुख पात्र हैं। मूकमाटी से लेकर घट-निर्माण और बीच-बीच में अनेक उतार-चढ़ाव-घुमाव लेती हुई कथा, घट द्वारा नगर सेठ के परिवार का सरिता-तरण, आतंकवाद से रक्षा और अन्त में साधु देशना के साथ समाप्त होती है। इसमें अनेक अन्तःकथाएँ भी हैं। नव रसों का वर्णन बड़े ही अनूठे एवं आध्यात्मिक सन्दर्भ में किया गया है जो पठनीय, चिन्तनीय एवं रमणीय है। प्रकृति-चित्रण चमत्कारिक एवं मौलिक है। कल्पना के लोक में विचरते हुए भी यथार्थ का धरातल छूटा नहीं है। सम्पूर्ण काव्य अतुकान्त छन्द में लिखा गया है, फिर भी प्रकार से न सही, आकार से तो उनमें भेद दृष्टिगत होता ही है, यथा :

- *"मन्द-मन्द/सुगन्ध पवन/बह रहा है;*
  बहना ही जीवन है/बहता-बहता/कह रहा है।"(पृ. २-३)

- *"अन्तिम भाग, बाल का भार भी/जिस तुला में तुलता है*
  वह कोयले की तुला नहीं साधारण-सी,
  सोने की तुला कहलाती है असाधारण !" (पृ. १४२)

भाषा पर कवि का असाधारण अधिकार है। अध्यात्म एवं दर्शन जैसे गूढ़ विषयों को बड़ी सहजता के साथ अभिव्यक्ति

मिली है। शब्द को अर्थ और अर्थ को परमार्थ मिला है। शाब्दिक व्युत्पत्ति द्वारा शब्द की आत्मा को उजागर कर दिया है। शब्दाक्षरों को विलोम करके नूतन अर्थ व्यंजित कर भाषाविदों को विस्मय में डाल दिया है। राही, राख, लाभ, तामस, चरण इत्यादि ऐसे ही शब्द हैं। शब्दों से अक्षर अलग कर उत्पन्न हुए ध्वनित अर्थ भी कम रोचक नहीं हैं। रसना-रस ना, कृपाण-कृपा न, आदमी-आ दमी, अंगना-अंग ना, नागिन-ना गिन इत्यादि ऐसे शब्द हैं जो हमें चिन्तन के दोराहे पर छोड़ देते हैं। आचार्यश्री बहुभाषाविद् हैं, अतः आपने यथास्थान विविध भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका भावाभिव्यक्ति में पूर्ण योग है। भाषा विषयानुकूल एवं भावानुकूल बदलती रही है। अलंकार अलं चाहते हुए भी सहज, स्वाभाविक रूप में आ ही गए हैं।

धर्म आत्मा की वस्तु है। धर्मात्मा का जीवन मनसा-वाचा-कर्मणा एकरूपता धारण कर लेता है। समता में वह रमता है, राग भी उसे विराग का कारण होता है। धरती की तरह क्षमाशील, पवन की तरह प्रगतिवान् और आकाश की तरह निर्भय, उन्नत एवं स्वच्छ वह जीवन शाश्वत अनन्त अनुभूतियों का अक्षयपुंज बन जाता है। वे अनुभूतियाँ जब शब्द का रूप धारण कर लेती हैं तो अमर काव्य का सृजन होता है। आचार्यश्री विद्यासागरजी की 'मूकमाटी' ऐसा ही महाकाव्य है। वह लेखनी से नहीं, आत्मा से प्रसूत है। वह एक निर्ग्रन्थ सन्त का काव्य है जिसमें अनुभूतियों का आलोक लौकिक जीवन और जगत् से उठकर आत्मा और परमात्मा की परम पावन सत्ता में प्रवेश कर जाता है, फिर वहाँ कुछ भी लौकिक नहीं रहता, सब कुछ अलौकिक और पारलौकिक हो जाता है। यह काव्य के साथ ही साथ महाशास्त्र भी है। इसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि प्रकारान्तर से समाज, राजनीति, आयुर्वेद, शिक्षा, गणित, विज्ञान, संगीत, मन्त्र, बीजाक्षर आदि विषय भी इसमें यथास्थान आ गए हैं किन्तु वैशिष्ट्य यह है कि जिस प्रकार सभी नदी-प्रवाह अन्ततः सागर में समा जाते हैं, उसी प्रकार सभी विषय-विचार दर्शन/अध्यात्म में मिल जाते हैं।

यह केवल पढ़ने के लिए नहीं है, पठन के साथ गुणन कीजिए। गुणन से आनन्द कई गुना हो जाता है। इसे इक्षु की गाँठों के समान चबाने पर रसानुभूति होती है। यह एक दार्शनिक सन्त का काव्य है। अतः सपाट-समतल मार्ग की तरह इसमें सरपट दौड़ नहीं लगाई जा सकती, इसमें सँभलकर, समझकर चलने की आवश्यकता है, अन्यथा 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे'। यथास्थान रुकिए, रसाभिषिक्त होकर तृप्ति एवं स्फूर्ति पाकर आगे बढ़िए। यदा-कदा क्या, बहुधा ऐसे अवसर आएँगे कि जहाँ तक हमारी मति की गति पहुँची नहीं होगी, वहाँ तक इसके शब्दार्थ हमें वाच्यार्थ से बढ़कर लक्ष्यार्थ-व्यंग्यार्थ और परमार्थ तक पहुँचा देंगे। अनेक शब्दों के व्युत्पत्ति अर्थ पाठक को रवि-कवि-अनुभवी की सीमाओं से भी परे ले जाते हैं। शब्दों को विलोम करके ध्वनित अर्थ राही को हीरा और राख को खरा बनाकर मानी के मान को नमा देते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें सरल, प्रवाहमय स्थलों की न्यूनता है। संस्कृत के सुदीर्घ सूत्रों के गूढ़ अर्थ को कम शब्दों में अत्यन्त सरलता के साथ अभिव्यक्ति का अनूठापन दर्शनीय है :

- 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' (तत्त्वार्थसूत्र-५/३०)

  "आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन–उत्पाद है
  जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है
  और/है यानी चिर–सत्/यही सत्य है, यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

- 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' (तत्त्वार्थसूत्र-१०/२)

  "बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का

आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

परिश्रम का फल व्यंजना के माध्यम से इस प्रकार मुखरित हुआ है :

"और, सुनो !/मीठे दही से ही नहीं,/खट्टे से भी
समुचित मन्थन हो/नवनीत का लाभ अवश्य होता है।" (पृ. १३-१४)

मानव-जीवन में संयम के महत्त्व को संक्षेप में किन्तु चमत्कारिक ढंग से प्रस्फुटित किया है :

"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है
जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)

महिला शब्द के व्युत्पत्तिपरक अनेक अर्थ किए हैं। एक अलौकिक अर्थ प्रस्तुत है :

"जो संग्रहणी व्याधि से ग्रसित हुआ है/जिसकी संयम की जठराग्नि मन्द पड़ी है,
परिग्रह-संग्रह से पीड़ित पुरुष को/मही यानी
मठा-महेरी पिलाती है,/महिला कहलाती है वह···!" (पृ. २०२-२०३)

इसी प्रकार स्त्री, दुहिता, सुता आदि शब्दों के अर्थों को ध्वनित कर नारी के प्रति आदर भाव व्यक्त किया है।

किं बहुना ? विस्तरेण अलं—जो कुछ कहा गया है वह, जो कुछ कहा जाना चाहिए—की तुलना में बहुत ही कम है। इतना-सा कह देना कृति के प्रति न्याय नहीं है किन्तु सागर को गागर में तो भरा नहीं जा सकता। कुशल से कुशल गोताखोर भी सागर तल की गहराई से समस्त रत्नराशि को निकाल नहीं सकता फिर 'रहा किनारे बैठ' वाले की तो हस्ती ही क्या है ? हृदय ने जो अनुभव किया है उसे जड़ लेखनी लिख नहीं सकती। अस्तु।

□



पृष्ठ ३०९
फिर लायें हाथ में कुम्भ
लेकर,---- प्रायः इसी
पर टिका है।

'मूकमाटी' के रहस्यों को लिपिबद्ध करना लघुकाय नौका से समुद्र पार करना

डॉ. नरेन्द्र शर्मा

दर्शन की गहराई की अन्तिम सीमा 'मूकमाटी' महाकाव्य ही नहीं है, अपितु मानव के लक्ष्य 'मोक्ष' प्राप्ति का सोपान भी है। आचार्य श्री विद्यासागर की अमर कृति 'मूकमाटी' सामान्य चेतना का विषय नहीं है। इस अनूठी धरोहर के विश्लेषण के लिए तप की अग्नियों से गुज़रना होगा। सामान्य व्यक्ति तो केवल इसके शब्दों को ही गुनगुनाता रह जाएगा। मर्म– अर्थ की गहराई तक पहुँचने के लिए उसे दर्शन के सैद्धान्तिक पक्षों को ज्ञापित करना होगा।

मान्य विधायकों में यह अवरोध है कि 'मूकमाटी' महाकाव्य है अथवा कालिदास के 'मेघदूत' की तरह मात्र खण्ड काव्य है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार खण्ड काव्य की अपनी एक सीमा है। किन्तु, महाकाव्य विविध प्रसंगों, उप प्रसंगों के साथ खण्डगत विभाजन में अनुबन्धित होता है। 'मूकमाटी' के चार खण्ड इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि ४८८ पृष्ठों का यह दिव्य ग्रन्थ महाकाव्य ही है। अन्तःसाक्ष्य भी 'मूकमाटी' को महाकाव्य की सीमा में ले लेते हैं।

'मूकमाटी' के कुछ प्रारम्भिक पृष्ठ अपने कुछ सहयोगी पृष्ठों के साथ प्रकृति को समर्पित हैं। कालान्तर में काल की उपेक्षा किए बिना प्राकृतिक दृश्य मनुष्य के दर्शन तल को छूने लगते हैं :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?
...पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

भारतीय दर्शन में जीव का मूल लक्ष्य 'मोक्ष' है। वेदों में भी इस मोक्षमार्ग को मोहगर्त से निकाला गया है। सांसारिक मोहगर्त इतना असीम है कि वेदों को भी अन्ततः 'नेति-नेति' कह कर मौन रखना पड़ा। पर्याय शब्द-विधान सांसारिक असंख्य अनुभूतियों का प्रतीक है। सांसारिक अनुभूतियों की 'इति' ही वेदों के 'नेति-नेति' कथन में संघर्षरत है।

आचार्यश्री का ही धैर्य है कि वे मात्र एक ही पंक्ति में वेदों की समस्त गहराइयों को स्पर्श कर लेते हैं। आत्मा सांसारिक ऐश्वर्यों की घुटन से पीड़ित है। वह काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि में जकड़ गई है। वह व्यथित है, उपाय की खोज में है और खोज में वह विलम्ब नहीं सहन कर सकती :

"कुछ उपाय करो माँ !/खुद अपाय हरो माँ !
और सुनो,/विलम्ब मत करो।" (पृ. ५)

'माटी' मूक है, उसमें करुणा है। वह कुम्भकार की आश्रिता है। उसकी कला के लिए लालायित है। वह कुम्भकार की समर्पिता बनकर 'घट कलश' में रूपान्तरित हो जाना चाहती है :

"विलम्ब मत करो।" (पृ. ५)

सम्प्रति, अनाम 'माटी' सांसारिक बन्धनों का अतिक्रमण करना चाहती है। उसमें न मोह है, न राग है और न जन्म-मरण की जरा-जीर्णता है। वह भय सीमाओं से दूर, निद्रा-तन्द्रा के दोषों से मुक्त होना चाहती है। वह ऐसे प्रकाश घट में लीन होना चाहती है जिसके पास न संग है, न संघ। वह समस्त दोषों से शून्य होना चाहती है। भारतीय दर्शन में भी आत्म तत्त्व, उपर्युक्त कथित प्रसंगों से मुक्त होकर परमात्मा में लीन होना चाहता है। सांसारिकता के प्रवेश में ही वह रुदन से अपनी त्रुटियों को स्पष्ट कर देता है।

पाँचों इन्द्रियाँ बाह्य जगत् में विचरण करने लगती हैं—असीम सीमा है उनके विचरण की। अन्ततः वे थक जाती हैं। थकती हैं तो वापस लौटती हैं—यही अन्तर्मुखी गति है। इस गति से ही मोक्ष प्रारम्भ हो जाता है।

भारतीय दर्शन में प्रत्येक जीव 'आत्मा' पक्ष में एक है। अतः वह अन्तर्मुखी अवस्था में अपने भीतरी स्वरूप में स्वतः को प्रतिबिम्बित करता है। वह यथार्थभूत 'स्व' को मूल्यांकित कर स्वतः को सार्थक करना चाहता है। जिस प्रकार राम में रामत्व को तथा कृष्ण में कृष्णत्व को देखता है, उसी प्रकार वह 'अहम्' में ब्रह्म को अन्वेषित करता है। गद+हा के विग्रह में 'गद' यानी रोग और 'हा' यानी हन्ता अर्थात् 'रोग हन्ता' की 'स्व भूमिका' को प्राप्त कर 'गदहा' असीम आनन्द रूप मोक्ष को पा ही लेता है। राही की भूमिका में 'हीरा' तथा 'खरा' की प्राप्ति में तन, मन की दूषिकाओं को राख करना ही होगा, तभी जीव 'राम' के 'त्व' अर्थात् 'रामत्व' को जान सकेगा। देव से देवत्व के लिए उसे लम्बी यात्रा करनी पड़ती है, तभी कहीं चेतन आत्मा खरा उतरता है :

"तभी कहीं चेतन–आत्मा/खरा उतरेगा।
...रा...ख...ख...रा...।" (पृ. ५७)

'मूकमाटी' में 'मौन' से 'मुक्ति' तक का विवेचन चार खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम उन्मेष में सन्त कवि ने माटी के प्रथम रूप की विवेचना की है। यही माटी की वर्ण-संकर अवस्था है। माटी के अदृश्य स्वरूप के साथ कंकड़-पत्थर रूप भी हैं। स्वरूप हेतु कुरूप को त्यागना ही होगा। 'ईशावास्यम्' (१) में कहा गया है :

" 'तेन' त्यक्तेन भुंजीथाः।"

यह शब्दावली स्पष्ट आदेश है कि रूप (सांसारिक अनुभूतियों) के त्याग से ही स्वरूप (स्व+रूप=अन्तःपक्ष) अर्थात् परमात्मा की उपलब्धि होती है। आत्मा का ऐश्वर्य में आकर्षण ही वर्ण-संकर है जबकि कंकड़-पत्थर का साहचर्य विकार है।

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।/और
क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४९)

यही जीव का लक्ष्य है। किन्तु, माँ की कोख से श्मशान की, दूरी पार करने में एक अरसा लग जाता है।

महाकाव्य के द्वितीय उन्मेष में आचार्य अपेक्षाकृत प्रौढ़ हैं। काव्यशास्त्रियों ने इस उन्मेष को 'साहित्य-बोध' नाम से स्वीकार किया है। यह 'काव्य-बोध' विविध काव्य विशेषताओं की मर्यादा में पुष्पित है।

कविवर ने अत्यन्त कुशलता से मान्य नव रसों को अनूठे ढंग से दार्शनिक परिवेश दिया है। भारतीय मान्यता है कि नव रसों की अनुभूति के लिए 'सामाजिक' होना अनिवार्य है। सामाजिक ही रसों की मर्यादा के अनुसार भावनाओं को रसानुकूल प्रेरित करता है। यही कारण है कि एक ही 'भाव' रस के अनुसार कभी करुण तो कभी शृंगार हो जाता है। संक्षेप में, सुख-दुःखात्मक प्रसंगों में एक ही सामाजिक पृथक्-पृथक् भावानुकूल अभिनीत होता है। इन सुख-दुःखात्मक प्रसंगों की विषादास्पद परिस्थितियों से शून्य होकर अन्ततः 'शम' की प्राप्ति होती है। अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार रस की अकथित व्याख्या 'मूकमाटी' में है। शृंगार रस मोक्षमूलक है। इस तथ्य को जीवन दान देना, सन्त परिवेश में कठोर तपस्या करना है। ऐसी अवस्था में आचार्य संस्कृत के कालिदास के समीप आ जाते हैं। कालिदास ने भी 'वसने परिधूसरे वसाना' में शृंगार रस को मोक्ष-प्राप्ति का साधन निरूपित कर दिया है। सांख्य दर्शन में भी प्रकृति-पुरुष सिद्धान्त शृंगार रस के मोक्ष पक्ष में ही मतदान करता है।

द्वितीय उन्मेष में सन्त कवि ने ''उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्'' जैसे कठिन सूत्रों को भी सरलीकृत कर दिया है :

''आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन–उत्पाद है
जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है/और
है यानी चिर–सत्/यही सत्य है, यही तथ्य …!'' (पृ. १८५)

कवि ने आना-जाना की विवेचना करके पुनर्जन्म को स्वीकारा ही नहीं, अपितु इस प्रसंग को स्थिर माना है। स्पष्ट है कि मनीषी इस समय गीता के कर्म-सिद्धान्त के समीप आ जाते हैं।

कविवर 'शब्द' की परिभाषा में उच्चारण को स्वीकृति देते हैं। वे 'उच्चारण' को ही 'शब्द' कहते हैं। वैदिक दर्शन में शब्द ही ब्रह्म है। इस शब्द-ब्रह्म का रहस्य समझना 'बोध' है। इस 'बोध' की अनुभूति ही 'शोध' है जो अनादि ऋत है, सत्य है तथा मूल तथ्य है।

'गीता' के दर्शन में कर्म को मान्यता दी गई है। कर्म में अधिकार की 'सत्ता' भी स्पष्ट है। किन्तु कर्म से फल के चिन्तन का निषेध किया गया है :

''मा फलेषु कदाचन।'' (२/४७)

आचार्यवर 'फल' को अन्तिम बिन्दु स्वीकार करते हैं। इस हेतु वे गीता दर्शन से कुछ दूर सरक जाते हैं। वे पुण्य से नहीं, अपितु फल से तृप्ति को अनुभूत करते हैं :

''फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।'' (पृ. १०७)

उपर्युक्त दोनों पक्षों में विरोधाभास नहीं है। गीता के अनुसार कर्म के अधिकार की परिभाषा से 'फल' प्राप्त तो होगा ही। अतः चिन्ता अनावश्यक है। फल प्राप्ति के मूल में चिन्ता का रोपण फल बाधक भी हो सकता है, अतः 'गीता' में 'फल' को आत्मानुभूति माना गया है। इसी पक्ष को आचार्यश्री ने फल से तृप्ति का अनुभव स्वीकार किया है। 'शब्द' ब्रह्म है। 'बोध' पुण्य है। पुण्यरूपी बोध में अनुकूलता है सगुण पक्ष में, जबकि निर्गुण पक्ष में यही बोध शोध है–परिणति है–मानव जीवन की उपलब्धि है।

मानव-जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को पाप-पुण्य इन दो शब्दों से पूरित किया गया है। प्राच्य विधायकों ने इन दोनों शब्दों को परिभाषित किया है। प्रायः समस्त विधायक इस विचार पर एक मत हैं कि मन, वचन तथा काय की अमलता से पुण्य मिलता है। इसके विपरीत दोषों से पाप की वृष्टि होती है। मनुष्य की प्रकृति में पाप का आकर्षण सरल है, स्वाभाविक है। ऐश्वर्य 'क्षोभ' को प्रसूत करता है। मान्यवर ने स्पष्ट कहा है कि धरती की यशःस्थिति से सागर क्षुभित हो जाता है और अन्त में इस क्षोभलतिका का अन्त प्रलय में बदल जाता है। भारतीय दर्शन में 'क्रोधात् भवति सम्मोहः…विनश्यति' का प्रायोगिक उपदेश उपर्युक्त कथानक को ही पुष्ट करता है। 'मूकमाटी' की वृद्धावस्था चतुर्थ खण्ड में है। कुम्भकार घट को स्वरूप दे देता है। यह स्वरूप सांसारिक प्रवेश कहा जा सकता है। मानव के भौतिक पक्ष को इहलौकिक यातनाओं में तपना पड़ता है। 'घट' तपेगा। बबूल व्यथित है। लकड़ियाँ जलती हैं, बुझती हैं। बबूल की अरणियाँ व्यथित हैं। बबूल की नियति जलने-बुझने में ही है। 'घट' सतर्क है। वह तप के अन्तिम रूप में है। उसे निखार 'मोक्ष' की प्रतीक्षा है।

''मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है'' (पृ. २७७)–यह 'जिलाना' तभी सम्भव है जब बबूल को तप

की सामग्री में समाविष्ट किया जाएगा। बबूल का कार्य पुण्यमय है। किसी को स्वरूप देने के लिए अपने को 'इति' में लाना ही उपकार है।

"स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने" (पृ. २७७)– इसमें सन्तों का अनुमोदन भी है। 'बबूल' का त्याग ही घट का स्वरूप है। कालान्तर में, घटकार की सफलता है।

कुम्भ का सौन्दर्य ही कुम्भकार की सफलता है, कुशलता है :

" 'कुम्भ की कुशलता सो अपनी कुशलता'/यूँ कहता हुआ कुम्भकार
सोल्लास स्वागत करता है अवा का,/और
रेतिल राख की राशि को,/जो अवा की छाती पर थी
हाथों में फावड़ा ले, हटाता है।/ज्यों-ज्यों राख हटती जाती,
त्यों-त्यों कुम्भकार का कुतूहल/बढ़ता जाता है, कि
कब दिखे वह कुशल कुम्भ··· !" (पृ. २९६)

अन्ततः, वह कुम्भ को अग्नि ताप से बाहर निकालता है। 'कुम्भ' अपने अन्तिम तप को प्राप्त कर 'साधुत्व' को पा लेता है। वह सबकी तृषा-तृप्ति का पुण्य प्राप्त कर लेता है। यह तृषा तृप्तत्व जैन मुनियों का लक्ष्य है - मोक्ष है। यही आदेश है, यही उपदेश है।

अन्तिम खण्ड में सेठ का आहारदानोपरान्त रिक्त हाथ लौटना इसी सत्य का प्रतीक है कि वह अपने गन्तव्य पथ को जान गया है। अब उसे मायावी राजमार्गों पर लौटने की आवश्यकता नहीं है। उसे निर्दिष्ट मार्गों का भान हो गया है। वह अनमना है, अपने भूत के मार्गों से व्यथित है। किन्तु अभी तो मात्र मार्ग ही मिला है–मुक्ति नहीं। मुक्ति में लौटना कैसा :

"सही दिशा का प्रसाद ही/यही दशा का प्रासाद है।" (पृ. ३५२)

महाकवि कालिदास विरचित 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का चतुर्थ अंक जिस प्रकार मानवीय अनुभूतियों से संवलित हो यथार्थ का पोषक है, उसी प्रकार 'मूकमाटी' का चतुर्थ खण्ड मानवीय उद्वेगों का समष्टि खण्ड है। आचार्यश्री ने अत्यन्त सूक्ष्म दिव्यदृष्टि से इस अंक को 'चतुर्थ धाम' में स्थापित किया है। मैं व्यक्तिगत रूप से इस खण्ड को 'मोक्ष खण्ड' की संज्ञा देते हुए विचलित नहीं होता।

आचार्यश्री ने 'ईर्ष्या' पक्ष का अनन्वय प्रसंग प्रस्तुत किया है। 'माटी' लाज भरे सौन्दर्य में अवगुण्ठित हो कर अपने को संस्कृति के अनुकूल प्रस्तुत कर सकी है। वह मूक है। 'माटी' का सौन्दर्य 'घट' तप की समस्त श्रेणियों का अतिक्रमण कर 'स्वर्ण घट' को झुठला देता है। 'स्वर्ण घट' में ईर्ष्या है। वह आतंक की स्थिति में है। वह गजदल और नाग-नागिनियों की अपेक्षा में है। नाव का डूबना 'इहलौकिक' है जबकि सेठ का 'क्षमा भाव' अन्ततः यथार्थ है। हृदय परिवर्तन मायावाद के अन्त का कारण है। 'स्वर्ण कलश' अपने मायावी सौन्दर्य से ग्लपित है।

चतुर्थ खण्ड सामाजिक पक्ष के दायित्व बोध की चेतना है। आचार्यश्री ने दायित्वबोध को मनुष्य तक ही सीमित नहीं किया है, अपितु एक तुच्छ 'मच्छर' से इस बोध को सरलीकृत भी किया है :

"सूखा प्रलोभन मत दिया करो/स्वाश्रित जीवन जिया करो,
कपटता की पटुता को/जलांजलि दो !/गुरुता की जनिका लघुता को

श्रद्धांजलि दो !/शालीनता की विशालता में/आकाश समा जाय/और
जीवन उदारता का उदाहरण बने !/अकारण ही–
पर के दुःख का सदा हरण हो !'' (पृ. ३८७-३८८)

आचार्यश्री मोक्षमार्ग को दिखा सकते हैं - मोक्ष को नहीं। विधायक प्रवचन दे सकते हैं, वचन नहीं। गुरु दिशा दे सकते हैं, दिशान्त नहीं। मोक्ष, वचन और दिशान्त तो आत्म-पुरुषार्थ से ही सम्भव हैं। 'घट' को दिशान्त तक की यात्रा में अपने ही पुरुषार्थों का प्रयोग करना पड़ता है।

यह सम्पूर्ण संसार तन, मन और वचन के बन्धनों से घिरा रहता है। इन बन्धनों की 'इति' ही मोक्ष है। शुद्धावस्था में अमिट सुख है। उसकी प्राप्ति में आवागमन समाप्त हो जाता है। समाप्ति ही लक्ष्य है, मोक्ष है :

''बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ !
...विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···
और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी।'' (पृ. ४८६-४८८)

आचार्य विद्यासागरजी की 'मूकमाटी' की सात्त्विक प्रशंसा के लिए शब्द-कोश अधूरा है। सत्य ही, यह कृति 'दिव्य' है। यह सामान्य बौद्धिक विचारों का संग्रह नहीं है। यह कृति है तप की अन्तिम बिन्दु; यह कृति है एक अतुलनीय तपस्वी के तप की ऊष्मा का; यह कृति है मानव की दिग्दर्शिका; यह कृति है एक सांसारिक आश्चर्य; यह कृति है अवाक् की अन्तिम सीमा और···और यह कृति है महात्मा-ऋषि-महर्षि-राजर्षि – नहीं···नहीं···नहीं अपितु एक देवर्षि का उन्मुक्त आशीर्वाद मानव को। मैंने समीक्षा नहीं की, देवर्षि से शिक्षा ली है। सम्पूर्ण विवेचना हेतु जन्म-जन्मान्तरों की आवश्यकता है।

❑



पृष्ठ १५८
माँ की गोद में बालक....
बालक का मुख छिपा लेती है।

'मूकमाटी' : हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक उपलब्धि

डॉ. शकुन्तला सिंह

'मूकमाटी' जैन मुनि आचार्य विद्यासागरजी द्वारा रचित काव्यकृति है। भारतीय ज्ञानपीठ के श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने इस कृति का परिचय 'प्रस्तवन' शीर्षक से देते हुए लिखा है– "मूकमाटी महाकाव्य का सृजन आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है।" यद्यपि श्री जैन ने इसे महाकाव्य या खण्डकाव्य या मात्र काव्य की किस श्रेणी में रखा जाय, यह प्रश्न उठाया है, पर यह प्रश्न अप्रासंगिक ही है। वस्तुतः इसका कृतिकार न तो हिन्दी साहित्य का विशिष्ट कवि है और न ही उसका मूल उद्देश्य मात्र काव्य सृष्टि है। कृतिकार आचार्य विद्यासागर जैन धर्म ही नहीं, वर्तमान भारतीय दार्शनिकों और सन्तों में शिरोमणि हैं। अतएव उन्होंने इस रचना के माध्यम से समग्र मानव समाज के लिए शाश्वत, कल्याणकारी, दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है, अतएव श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के इस कथन से अधिकांश पाठक सहमत होंगे कि यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है।

भारतीय काव्य की परम्परागत सीमा में बाँध कर इसका सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, यद्यपि 'मूकमाटी' निश्चित एक काव्य कृति है। काव्य दृष्टि से विचार करें तो यह परम्परागत महाकाव्य के स्वरूप की झलक अवश्य देती है। इसका बृहत् स्वरूप (लगभग ५०० पृष्ठ), काव्य के माध्यम से एक कथानक की अभिनव कल्पना, मिट्टी, कुम्भकार, धरती, सरिता, मछली, पुष्प, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, मानवों में एक राजा, मन्त्री, नगर सेठ आदि पात्रों का संकेत, कृति का सर्गों में विभाजन–इन सब काव्यगत अवयवों से यह कृति महाकाव्य की झलक अवश्य देती है किन्तु जैसा हमने आरम्भ में ही निवेदन किया है कि रचनाकार का मूल उद्देश्य काव्य-रचना नहीं वरन् दर्शन निरूपण है। अतः कृति के काव्य स्वरूप का विवाद निरर्थक है।

सम्पूर्ण कृति के अध्ययनोपरान्त सिद्ध है कि आचार्य विद्यासागर जैसे तपस्वी के हृदय में दार्शनिकता के कठोर पर्वत खण्ड के भीतर कवि की एक अन्तःसलिला अवश्य प्रवाहित है। इसी शक्ति ने उनमें 'मिट्टी' जैसी लघु किन्तु लोकाचार में हेय वस्तु को उदात्त कल्पना और भावजनित रंग से अपूर्व बना देने का काव्यगत चमत्कार प्रस्तुत किया है। उनकी कथा-कल्पना जहाँ कोमल भावप्रवण है वहीं उसमें प्राकृतिक दृश्यों, वस्तुओं के वास्तविक मूल्यांकन की अद्भुत तार्किक शैली है। प्रकृति के विभिन्न मोहक रूपों के अभिनव दृश्यों को उनकी महत् शब्द-शक्ति ने जीवन्त बनाया है, जैसे :

"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है/और
सिंदूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा–/भाई है, भाई···!
लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को–/सराग-मुद्रा को–
पाँखुरियों की ओट देती है।" (पृ. १-२)

वस्तुतः पूरी कृति में आचार्यजी का विशद पाण्डित्य व प्रभाव परिलक्षित है। और उनके दार्शनिक चिन्तन के बौद्धिक, तार्किक एवं नव्य अर्थ प्रदाय के अनेकानेक प्रसंग प्रस्तुत हैं। दर्शन जैसे विकट और जटिल विषय को अपनी तार्किकता, नूतन उपमा, दृष्टान्त, अत्यन्त रोचक गूढ़ अर्थतत्त्वों के माध्यम से सामान्य जन के लिए भी पठनीय बना दिया है। मेरी दृष्टि से आचार्यजी की चिन्तनशीलता किसी एकान्त वन प्रदेश अथवा कन्दरा में रहने वाले ऋषि-पुरुष की नहीं है वरन् उस महान् विचारक की है जिसकी चिन्तनशीलता की लम्बी शृंखला में आधुनिक युग एवं जीवन के सभी ज्वलन्त प्रश्न और समस्याओं का गहन अध्ययन एवं निदान भी है।

कृति के आरम्भ में ही 'मिट्टी' की आकुलता पर धरती का प्रस्तुत विवेचन आधुनिक युग के यक्ष प्रश्नों का

नितान्त सटीक उत्तर है, जैसे :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनायें/उत्थान-पतन की,/खसखस के दाने-सा
बहुत छोटा होता है/बड़ का बीज वह !" (पृ. ७)

आज के वैषम्य, मानवीय सन्त्रास, विविध संघर्ष, हिंसा और विभीषिका के मूल में सत्ता की, मिथ्या सुख की अदम्य आकांक्षा और आस्था के शाश्वत, दृढ़ सम्बल का अभाव ही तो मुख्य बिन्दु है। आचार्यश्री चिन्तक के ऊँचे पद से उतरकर एक भावुक कवि की धरती पर आसीन होकर जो घोषणा करते हैं उसे सामान्य पाठक का मन भी सहज स्वीकार करता है, जैसे :

"उजली-उजली जल की धारा/बादलों से झरती है
धरा-धूल में आ-धूमिल हो/दल-दल में बदल जाती है।/वही धारा यदि
नीम की जड़ों में जा मिलती/कटुता में ढलती है।" (पृ. ८)

तभी तो यह निष्कर्ष है :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है/मति जैसी, अग्रिम गति
मिलती जाती···मिलती जाती···।" (पृ. ८)

मानव-जीवन में सुख-दुःख, उत्थान-पतन का चक्र चिरन्तन है। आचार्यजी ने इस कठोर सत्य को अपनी स्वाभाविक, लौकिक काव्यमयी उपमाओं से सहज बना दिया है, जैसे :

"पर्वत की तलहटी से भी/हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का
दर्शन होता है,/परन्तु/चरणों का प्रयोग किये बिना
शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है !" (पृ. १०)

'आस्था ही जीवन है'– यह सन्देश युगों से हमारे सामने रहा है किन्तु आचार्यजी ने अपनी अभिनव तार्किकता से उसे निश्चित ही अनुकरणीय बना दिया है। उन्हीं के शब्दों में :

"आस्था के तारों पर ही/साधना की अँगुलियाँ/चलती हैं साधक की,
सार्थक जीवन में तब/स्वरातीत सरगम झरती है !" (पृ. ९)

जीवनधारा के दोनों किनारों–उच्चता और निम्नता की पहचान आवश्यक है। वस्तुतः मानवीय दुर्बलताएँ निराशा का विषय नहीं हैं। ये दुर्बलताएँ ही हमारे लिए उच्चता के नापने की तुला हैं। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत दृष्टान्त कितना सटीक एवं बोधगम्य है :

"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं/परन्तु
मूल में कभी/फूल खिले हैं ?" (पृ. १०)

ज्ञान और दर्शन के जटिल मार्ग को सुगम बनाने में इस कृति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हमारे लिए उक्ति और सूक्ति का भण्डार एकत्र करती हैं, जैसे :

"अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं/और/इति के बिना

अथ का दर्शन असम्भव !/अर्थ यह हुआ कि/पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है
और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

इन उक्तियों का प्रयोग कृति में प्रयुक्त विभिन्न पात्रों के माध्यम से स्वाभाविक रूप में किया गया है। इसमें रोचकता का ऐसा अंश है जिससे शुष्क एवं नीरस दर्शन का बोध हलका हो जाता है। माटी और मछली का संवाद इसी तारतम्य में द्रष्टव्य है। मछली के प्रश्न का उत्तर माटी देती है :

"सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/और
असत् विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा !"(पृ. ८३)

शिल्पी और माटी के प्रसंग में आचार्यश्री ने 'संसार ९९ का चक्कर है'--यह उद्घोष करते हुए रोचक शैली में निष्ठा एवं श्रद्धा की विवेचना की है :

"लब्ध-संख्या को परस्पर मिलाने से/९ की संख्या ही शेष रह जाती है।" (पृ. १६६)

भावसाम्यता के लिए हमें गोस्वामी तुलसीदास की इन पंक्तियों का स्मरण हो आता है :

"राम नाम में प्रीति करूँ, छाँड़ि सकल व्यवहार।
जैसे घटै न अंक नौ, नौ के लिखत पहार॥"

कृतिकार की चिन्तनधारा हमारे देश के जीवन पर आधुनिकता के प्रभाव को ऐसी व्यंग्यात्मक शैली में प्रस्तुत करती है कि बात पाठक के हृदय में सीधे प्रवेश कर जाती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

प्रस्तुत कृति की सबसे बड़ी विशेषता है कि एक जैन ऋषि द्वारा प्रणीत इस काव्य-रचना में आरम्भ से अन्त तक दार्शनिकता के गूढ़ चिन्तन का अविरल प्रवाह है किन्तु पारम्परिकता से युक्त, साम्प्रदायिक अवधारणा से शून्य है। इसमें कृतिकार के निजी धर्म या दर्शन का कहीं भी प्रचारात्मक पुट नहीं है। इस कृति में जिन दार्शनिक बिन्दुओं का विवेचन है वे सार्वजनीन और सर्व धर्म के आधार स्तम्भ हैं। इन बिन्दुओं में कठिन दर्शन, वैचारिक प्रदेय, सर्वहिताय और सर्वकल्याणकारी सन्देश का सशक्त प्रवाह है, जैसे :

" 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में/जानना ही सही ज्ञान है,
और/'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ.३७५)

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ त्रिवेणी का प्रतिरूप है जिसमें गूढ़ दर्शन की अदृश्य सरस्वती है, विपुल ज्ञान की गंगा, मानवीय मूल्यों की गहन वेगमयी यमुना एक साथ प्रवाहित है। संक्षेप में, यह महान् काव्य ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के लिए ऐतिहासिक उपलब्धि है, जिसका प्रणेता हिन्दीतर भाषाभाषी है। वस्तुतः यह काव्य कृति मानवीय जीवन-मूल्यों एवं भारतीय संस्कृति के चिन्तनपरक निष्कर्षों का आधुनिक इतिहास है।

□

'मूकमाटी' : जीवन-शाला की खुली किताब

डॉ. (श्रीमती) नीलम जैन

कालजयी, प्रासंगिक एवं हृदयस्पर्शी महाकाव्य 'मूकमाटी' मौनप्रिय, साधक, आत्मनियन्ता, तपोरत कर्मशिल्पी जगत्-वन्द्य आचार्य विद्यासागरजी के अनुभवी, गहन मन्थन की स्वानुभूत अनुभूतियों की एक ऐसी रचना है, जो जड़ के माध्यम से चेतन पारस से स्पर्शित होकर मणिवत् प्रकट हुई है।

धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म के स्वर नवीनतम छायावादी और रहस्यवादी ढंग से मुखरित होकर सामान्य जन-जन के सोच और भावों को निजत्व में ढाल कर प्रभावी ढंग से इसमें शब्दायित हुए हैं।

मूक, निःस्वर, जड़ माटी--जिसे जो चाहे पैरों तले रौंद दे--वही माटी जब किन्हीं संवेदनशील, सहृदय, सक्षम हाथों की शोभा बनती है तब वही धूल साधना, आराधना की उत्कट भावना से मंगल कलश के रूप में पूज्य हो जाती है, शवत्व शिवत्व बन जाता है और प्रस्तर भगवान्। इस प्रकार कर्म-श्रम के राजपथ की शोभा के सम्मुख हर शीश नत होता है ।

आचार्यश्री की 'मूकमाटी' एक सन्देश मात्र नहीं, एक प्रायोगिक एवं व्यावहारिक कृति है एवं तपस्या और निमित्त की महिमावली है। अकाट्य तर्क है जीवन का, दर्पण है मानव मन का। संसार की अच्छी सुरंग में भटकने, खोने, रोने, सिसकने वालों के लिए जीवनदायिनी संजीवनी माटी को आचार्यप्रवर की दिव्य लेखनी ने सँभलने, पाने, हँसने तथा बसने का पथ बतलाया है। सम्पूर्ण जीवन शैली और जैन दर्शन को आगम सम्मत दृष्टिकोण से नीरस विषय को भी सरस बनाकर जिस काव्यात्मक ढंग से इसमें प्रस्तुति हुई है वह अनन्य, अश्रुतपूर्व व अभिन्न है।

वर्तमान में अराजकता, असन्तोष, नैतिक अवमूल्यन, भ्रष्टाचार, दमन, शोषण, उत्पीड़न के दुर्दान्त एवं खतरनाक युग में आत्मानुशासन के माध्यम से आत्मोत्थान की प्रदीपिका समुन्नत, विकसित, सभ्य, शिष्ट, शुभ्र, सान्द्र जीवन के सम्पन्न और समर्थ मुहावरे के रूप में प्रकटित होती है। यह जीवन-निर्माण संकलन के हाशिए की कतरन नहीं, पृष्ठ-दर-पृष्ठ की जीवन्त सामग्री है।

एक प्रेरणा बिन्दु :

"किन्तु बेटा !/इतना ही पर्याप्त नहीं है।
आस्था के विषय को/आत्मसात् करना हो
उसे अनुभूत करना हो/तो/साधना के साँचे में
स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !/पर्वत की तलहटी से भी
हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का/दर्शन होता है,/परन्तु
चरणों का प्रयोग किये बिना/शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है !" (पृ. १०)

और इस सत्य से साक्षात्कार करते ही आस्था स्थाई तथा दृढ़ा, दृढ़तरा, दृढ़तमा हो जाती है और इस प्रकार तैयार हो जाता है नींव का इस्पाती सूत्रपात, विश्लेषण व विवेचन का प्रादुर्भाव। और इस प्रकार प्राप्त हो जाती है एक विशिष्ट दृष्टि, जिससे हम स्वयं अपने दर्पण व दीपक दोनों ही बन जाते हैं। एक पक्ष एवं चतुर लक्ष्यभेदक के शर-सन्धान की भाँति 'मूकमाटी' अपनी रचना-प्रक्रिया में कहीं कोई उपकरणात्मक साजो-सामान एकत्र किए बिना एक सशक्त विद्या और वरदान के रूप में वह बीज पाठक के मन में बोती है जो जड़, तना, पत्ता, शाखा, फूल और फल से युक्त सम्पूर्ण वृक्ष रूपी सोच को आधार देता है।

इसमें साहित्य, कला, विज्ञान के सभी पहलुओं का संस्पर्शन, श्रमणकुल-गुरुदेव के व्यापक अनुभव, स्पष्ट चिन्तन-मनन, विस्तृत सोच-समझ के साथ-साथ जीवन की निकटता, आलोचना, रहस्योद्घाटन, समकालीन सन्दर्भों की विसंगतियाँ, मनोभावों के आरोह-अवरोह एवं रचनाशील भावना की अनुरंजित गाथा भी हैं। प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा के धनी, अभिधा-व्यंजना एवं लक्षणा के सिद्धशिल्पी इस दशाब्दी की उषा वेला में लेखनी का भी उद्देश्य वे यही कहते हैं :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।/और
मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित···अजित!" (पृ. २४५)

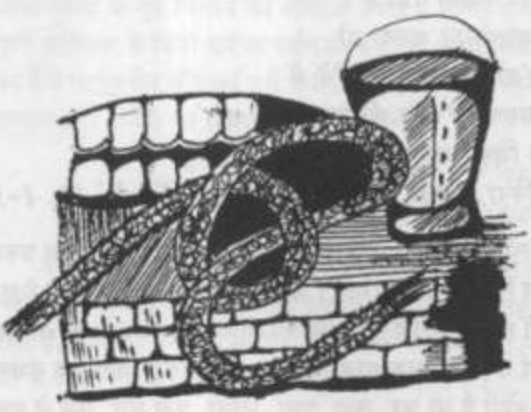
जनमानस को लेखनी से एक व्यावहारिक सन्देश, उपदेश से परे विचार प्रदान किया है :

"चोरी मत करो, चोरी मत करो/यह कहना केवल/धर्म का नाटक है
उपरिल सभ्यता···उपचार!/चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि
चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ. ४६८)

प्रति शब्द स्वयं में विशद, सार्थक, सटीक है। अर्थ विश्लेषण युक्त नीति वाक्यों की नवीन शैली से सुसज्जित महाकाव्य को विद्या विशेष, आन्दोलन विशेष, सन्दर्भ विशेष से दूर रखते हुए ही आचार्यरत्न श्री विद्यासागरजी ने जीवन की सन्निकटता से जोड़ा है। अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित ४८८ पृष्ठीय अमूल्य, लौकिक-अलौकिक निधि प्रदाता, आकर्षक, प्रभावी विषयवस्तु अनुरूप मुखपृष्ठ युक्त यह महाकाव्य सभी वर्गों में अपने ही दमखम से ख्याति प्राप्त कर पाया है। सत्य तो यह है महाकाव्यात्मक समस्त गुणों से युक्त, नवीन शब्द विश्लेषण का कोश 'मूकमाटी' एक खुली पुस्तक है जीवन शाला की।

['जैन महिलादर्श' (मासिक), लखनऊ - उत्तरप्रदेश, दिसम्बर, १९९१]

□



पृष्ठ ६३
गाँठ के सन्धि-स्थान पर
---- तुरन्त गाँठ खोल
देते हैं।

सिद्ध सर्जक की मुखर साधना : 'मूकमाटी'

डॉ. दादूराम शर्मा

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन या उद्देश्य बतलाए हैं– १. यशःप्राप्ति, २. अर्थ-प्राप्ति, ३. व्यवहार ज्ञान, ४. शिवेतरक्षति, ५. सद्यः परनिर्वृत्ति या लोकोत्तरानन्द की प्राप्ति और ६. कान्तासम्मितोपदेश। इनमें अन्तिम तीन काव्य के महत् उद्देश्य हैं। 'स्व' की कारा से मुक्त होने पर ही व्यक्ति को लोकोत्तरानन्द की अनुभूति हो सकती है। यह 'स्व' की कारा है इन्द्रिय परायणता तथा अपने और पराए का भेदभाव। उससे मुक्ति का सुगम उपाय है काव्य का कान्तासम्मितोपदेश–सहधर्मिणी पत्नी की भाँति सरस, प्रेरक मार्गदर्शन। इसमें दर्शन की-सी दुरूहता और धर्मग्रन्थों का-सा नीरस शाब्दिक उपदेश नहीं होता। 'शिवेतरक्षति' अर्थात् आत्मकल्याण और लोकमंगल काव्य का चरम लक्ष्य है। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में :

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥"

गंगा की तरह जन-मन और लोक-जीवन के कल्मषों का प्रक्षालन कर लोक-कल्याणकारी समाज की संरचना करना ही काव्य (भणिति) का अन्तिम लक्ष्य है।

धर्म के उपदेश सीधे-सीधे हृदय में नहीं उतरते, मन को बाँध नहीं पाते, हमारी प्रसुप्त चेतना को तीव्रता से झकझोर कर जगा नहीं पाते और कर्तव्य की उद्दाम प्रेरणा से हमें ऊर्जस्वित नहीं कर पाते, तभी तो बौद्ध धर्मोपदेष्टा महाकवि अश्वघोष जैसे को सरस काव्य का आश्रय लेना पड़ा था :

"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः।
श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता॥"(सौन्दरनन्द, १८/६३)

दिगम्बर जैन सन्त आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने मुमुक्षु जीव के साधनापथ की दुरूह, जटिल, बोझिलता और मनोमलों तथा सांसारिक राग-द्वेषों की अभितप्तता को अपनी कविता-गंगा की धारा में शीतल, पावन और ग्राह्य बना दिया है। 'मूकमाटी' उनका प्रतीकात्मक महाकाव्य है। इसे रूपक काव्य भी कह सकते हैं। 'माटी' मुमुक्ष या साधक जीवात्मा है। 'धरती माता' विराट् चित्शक्ति या परमात्म तत्त्व का प्रतीक है। 'कुम्भकार' मुक्तिमार्गोपदेष्टा गुरु है।

सन्त-काव्य-परम्परा में इस विचारणा के उत्स को बाबा कबीर की इस साखी में खोजा जा सकता है :

"गुरु कुम्हार घट सिष है, गढ़-गढ़ काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहर मारै चोट॥"

मिट्टी स्वयं निःस्व और निष्क्रिय है। उसकी सार्थक सक्रियता दो रूपों में प्रकट होती है– (१) क्षुधित लोक की बुभुक्षा को शान्त करने के लिए अपनी कोख से बीज को फलदार पेड़ के रूप में जन्म देकर या अपनी छाती पर लहलहाती फसल उगाकर और (२) पिपासाकुल जनों की प्यास बुझाने के लिए स्वयं को घट रूप में परिणत करके। प्रथम स्थिति में उसका अस्तित्व अविकल रहता है। वह श्रमजीवी कृषक का सान्निध्य पाकर बीज प्ररोह का प्रधान निमित्त कारण ही बन पाती है जबकि दूसरी स्थिति में वह कुम्भकार के पारस करों के संस्पर्श से घटत्व का उपादान कारण बन जाती है।

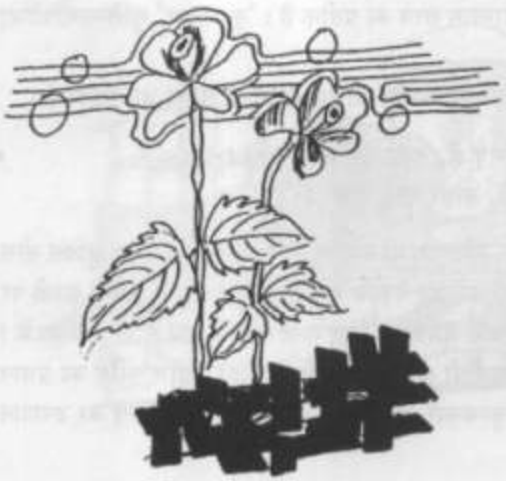
विद्यासागरजी ने माटी की घटत्व में महिमामयी परिणति को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। मानव भी माटी की भाँति निःस्व और निष्क्रय है। उसके जीवन की सार्थकता तो परमार्थोपदेशक समर्थ गुरु का सशक्त सम्बल और करुणामय पारस स्पर्श पाकर अपनी क्षुद्र-उपेक्षित व्यक्ति सत्ता को घटत्व (लोककल्याण के लिए स्वयं को अशेष भाव से अर्पित कर देने) में परिणत कर देने में है। 'गदहा' (गधा) भी निःस्व है, क्योंकि वह माटी को अपनी पीठ पर ढोकर कुम्हार के कार्यस्थल तक ले जाता है, फिर खाली हो जाता है, उसके पास कुछ नहीं रह जाता। किन्तु इस उपेक्षित निमित्त कारण की भी अपनी अनुपेक्षणीय महत्ता और उपयोगिता है, क्योंकि स्वार्थ से सर्वथा अछूता उसका जीवन परार्थ के लिए समर्पित है। माटी की घटत्व-परिणति में उसकी बस यही पारमार्थिक अभिलाषा है :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/'गद' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक /मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

किसी साधक के सिद्धिमार्ग में गधे की भाँति सहायक होना भी कम सार्थक और महत्त्वपूर्ण नहीं है। गधे की इस महत् आत्माभिलाषा में परसन्तापहरण के लिए 'मोक्ष' (अपुनर्भव) को भी ठुकरा देने वाले परम भागवत महाराज रन्तिदेव की उद्घोषणा श्रीमद् भागवत महापुराण में जैसे साकार हो उठी है :

"न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥" (९/२१/१२)

❑



पृष्ठ २५८-२५९
फूल ने पवन को----
---और कोई प्रयोजना
नहीं--हाँ!

माटी की सौन्दर्य-यात्रा का काव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. चन्द्रगुप्त 'मयंक'

भौतिक काया में अध्यात्म का अन्वेषण है 'मूकमाटी'। सन्त कवि श्री विद्यासागरजी ने इस असहज कार्य को सहज ही सम्पादित कर साहित्यश्री को अभिमण्डित किया है। 'मूकमाटी' की वाणी का श्रवण, श्रवणगत अनुभूति को चिन्तन की ख़राद पर चढ़ा कर, ज्ञान की छैनी से तराशकर जिस अद्वितीय सौन्दर्य की संरचना सन्त कवि ने की है- उसका नाम है 'मूकमाटी'। वस्तुतः 'मूकमाटी' माटी की सौन्दर्य यात्रा का काव्य है।

इस काव्यकृति का कथा सूत्र इतना महीन है कि उसे समझने के लिए आत्म-चक्षु का सचेतन होना आवश्यक है, चर्म-चक्षु के बस का नहीं है यह काम। सामान्य पाठक के लिए उसके काव्यत्व का आस्वाद ग्रहण करना तो सहज है किन्तु उस काव्यत्व के आवरण में अध्यात्म का जो सौन्दर्य निखरा है, उसका आनन्द अन्तःचक्षु से ही मिल सकता है।

वस्तुतः 'मूकमाटी' ज्ञान-विज्ञान के साथ ही चिन्तन और मनन के नए वातायन निर्माण में सक्षम है। निःसन्देह आचार्यश्री ने अपने अनुभव और अध्ययन के साथ चिन्तन और मनन को समन्वित कर हिन्दी काव्य को नए आयाम देने का प्रयास किया है। विश्व समाज की सन्तप्त देह के लिए शीतल हवा का झोंका है—'मूकमाटी' का अवतरण।

"चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि
चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ. ४६८)

उस अनाम स्थान पर कथा का प्रारम्भ प्रातः सन्धिवेला में होता है जहाँ माटी अपनी जननी माँ धरित्री के आँचल में कुनमुना रही है। वह अपनी अन्तर्व्यथा को अभिव्यक्त करती है। उसका दर्द इन शब्दों में उभरता है :

"पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ!" (पृ. ५)

माँ अपनी सुता के इस प्रश्न से अभिभूत हो उठती है, उसे सान्त्वना देती है :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है
मति जैसी, अग्रिम गति/मिलती जाती···मिलती जाती···।" (पृ. ८)

यह शाश्वत सत्य है। मनुष्य संगति से पहिचाना जाता है। अँग्रेजी में कहा गया है :

"A man is known by the company he keeps."

माँ का कथन है कि 'आस्था' से ही जीवन की सार्थकता सम्भव है। इसके लिए आवश्यक है—साधना :

"आस्था के बिना रास्ता नहीं।" (पृ. १०)

साधना सुगम नहीं है। सावधानी आवश्यक है फिर भी स्खलन की सम्भावना को नकारना मूर्खता है। धरती माँ के इस कथन के मर्म से माटी स्पन्दित हो उठती है और माँ के निर्देश पर समर्पित भाव से कुम्भकार की शरण ग्रहण करती है। कुम्भकार धरित्री के आँचल से माटी खोदता है। माटी कुदाली के आघात सहती है—मौन! मूक!! क्यों? :

"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और
पीड़ा की इति ही/सुख का अथ।" (पृ. ३३)

कुम्भकार माटी खोद, उसे गदहे पर लादकर, उपाश्रम ले जाता है। राह में माटी की दृष्टि गदहे की पीठ पर पड़ती है। वह छिल गई है उसके खुरदरे स्पर्श से। माटी पीड़ा से भर उठती है तथा पश्चाताप से रो पड़ती है। उसमें करुणा का आविर्भाव होता है। दया का यह विकास ही मोक्ष है।

माटी की यात्रा समाप्त होती है उपाश्रम में। वहाँ उसका संशोधन होता है। रूप परिवर्तित होता है। उसे नव जीवन मिलता है।

यहीं कुम्भकार के ज्ञान और अन्वेषण वृत्ति को कवि ने कथा में बोध और शोध के माध्यम से प्रस्तुत किया है। मिट्टी के उपयोग और प्रयोग का बोध कुम्भकार के मन में विकलता जाग्रत करता है किन्तु वहीं विकलता-अतृप्ति का शमन होता है शोध से। माटी से घट का निर्माण, वस्तुतः बोध से शोध की ओर प्रस्थान यानी ज्ञान से मुक्ति की ओर की यात्रा ही है।

कुम्भकार घट-निर्माण की प्रक्रिया में निमग्न होता है। पाँवों से माटी को गूँधना है। माटी मूक है। वह दृढ़ता के साथ सब कुछ सहती है। कवि ने माटी को बोध मार्ग से निकालकर शोध मंच पर ला खड़ा किया है, किन्तु मूक! यह मूकता एकाग्रता का प्रथम चरण है। यही परीक्षा-स्थल है। इसमें सफल होना दुष्कर है।

माटी मन्थन के साथ साथ शिल्पी का मानस-मन्थन भी चलता है, फलतः कथा-प्रवाह की गति मन्द हो जाती है। तब कथा गौण हो जाती है तथा मन्थन से उत्पन्न नवनीत तैरने लगता है सतह पर, काव्य रस के रूप में। कवि रस विवेचना में डूब जाता है।

शान्त चित्त कुम्भकार की रौंदन क्रिया समाप्त होती है। फिर वह माटी को चाक पर चढ़ाता है। उसकी दृष्टि में उभरता है कुम्भ का चित्र और माटी आकार ग्रहण करने लगती है :

"मान-घमण्ड से अछूती माटी/पिण्ड से पिण्ड छुड़ाती हुई
कुम्भ के रूप में ढलती है/कुम्भाकार धरती है
धृति के साथ धरती के ऊपर उठ रही है।" (पृ. १६४)

शिल्पी माटी की नव निर्मित आकृति रूप घट को धरती पर उतारता है मनोयोग पूर्वक। दो-तीन दिन पश्चात् शिल्पी ने उसे जाँचा, परखा और सुगढ़ किया। फिर उसने घट को मंगल घट के रूप में प्रतिष्ठित करने हेतु उस पर समष्टि कल्याण के सूत्र चित्रित किए। ये सूत्र हैं गणितीय। कारणतः कथा फिर अटक जाती है किन्तु यह न अटकाव है और न भटकाव, यह है भ्रमण लहरदार। इसके पश्चात् पशु आकृतियों का अंकन, उनका तात्त्विक विवेचन, फिर बीजाक्षर तो कुछ काव्य पंक्तियाँ—जिनका अपना विशिष्ट अर्थ है। कवि यही तो चाहता है कि यह घट सामान्य घट नहीं है, विशिष्ट घट है— मंगल घट।

गीली मिट्टी से निर्मित घट-अधसूखे घट पर मांगलिक मण्डन के पश्चात् कुम्भकार सूखने के लिए उसे धूप में रख देता है। फिर कारणवश दो-चार दिवस के लिए प्रवास पर चला जाता है। उसकी अनुपस्थिति में मेघ आते हैं, उस अधपके घट पर मुक्ता की वर्षा करते हैं। लोगों के लिए यह घटना चर्चा का विषय बन जाती है। चर्चा चलते-चलते जा पहुँचती है राजदरबार में।

राजा सभासदों सहित जा पहुँचता है कुम्भकार के यहाँ। और आँगन में बिखरे मोतियों को बटोरने का निर्देश

देता है। तभी सहसा एक आकाशवाणी का अवतरण होता है, जो उन्हें श्रमविहीन द्रव्य से दूर रहने को कहती है, किन्तु अर्थ के आकर्षण से बँधे वे मुक्ता उठाने को हाथ बढ़ाते हैं तो उन्हें वृश्चिक दंश का अनुभव होता है। सभी विष से प्रभावित होते हैं। राजा भय से ग्रस्त हो उठता है। उसे जड़ता आ घेरती है।

तभी आ पहुँचता है कुम्भकार। अपने आँगन में मूर्च्छित मन्त्री परिषद्, स्तम्भित राजा और पृष्ठभूमि में बिखरे मुक्ता दल को देखकर विस्मय, विषाद और विरति से भर उठता है कुम्भकार का मन। उसे ग्लानि होती है इस दृश्य पर, क्योंकि वह तो मंगल घट की निर्माण-प्रक्रिया में है और अपक्व मंगल घट के पार्श्व में यह अमंगल ? फिर उसका वास्तविक स्वरूप उदित होता है जो इस अमंगल का निवारण करता है। तभी अपक्व कुम्भ मनुष्य की अर्थ-कामना पर विचार व्यक्त करता है। अन्ततः कुम्भकार सम्पूर्ण मुक्ता राशि राजकोष को समर्पित कर देता है।

उधर ईर्ष्याग्रस्त सागर माटी की गरिमा-महिमा को आत्मसात् नहीं कर पाता है। वह घट समूह को गलाने के लिए मेघों की सृष्टि करता है। मेघ अविलम्ब मैदान में आते हैं, जहाँ जलकणों और भूकणों का संघर्ष होता है।

अपक्व मंगल घट न भयत्रस्त है न सन्तप्त। तभी उपाश्रम के आँगन में मुकुलित गुलाब पुष्प के आमन्त्रण पर पवन आता है और निर्देश पाकर बादलों को भगा देता है।

इसके पश्चात् मनोरम वातावरण में कुम्भकार अवा लगाता है। निश्चित अवधि के बाद उसे खोलता है और कुम्भ को बाहर निकालता है। कुम्भ का निष्कलुष रूप देखकर कुम्भकार प्रसन्न वदन हो उसे निकाल कर धरती पर रखता है। नगर सेठ ने रात में एक स्वप्न देखा कि वे माटी का मंगल घट हाथों में लिए महासन्त का स्वागत कर रहे हैं।

प्रातः उठते ही उन्होंने सेवक को माटी का कुम्भ लाने का निर्देश दिया। सेवक कुम्भकार के यहाँ से कुम्भ लाता है। उसमें वह कुम्भ भी है। नगर सेठ उस कुम्भ पर मांगलिक चिह्न अंकित करता है। सर्वप्रथम कुम्भ को शीतल जल से स्नान कराया जाता है। दायें हाथ की अनामिका से उस पर चन्दन से स्वस्तिक बनाता है। कुम्भ पर अंकित चारों पाँखुरियों में केसर मिश्रित चन्दन से चार-चार बिन्दियाँ लगाता है, फिर प्रत्येक स्वस्तिक के शीर्ष पर ओंकार अंकित करता है। कण्ठ पर हल्दी की दो पतली रेखाएँ खींचता है। उन्हें कुंकुम से सजाता है। कुम्भ के मुख पर पान-पत्र रखता है और उनके ऊपर श्रीफल। फिर उस पर हलदी-कुंकुम छिड़कता है। श्रीफल की चोटी को गुलाब पुष्प से सज्जित करता है। इसके पश्चात् मंगल घट को चन्दन की चौकी पर प्रतिष्ठित कर देता है।

फिर नगर सेठ प्रभु पूजा में निमग्न हो जाता है। पूजन से निवृत्त हो प्रांगण में मंगल घट ले खड़ा हो जाता है अतिथि की प्रतीक्षा में। तभी आगमन होता है अतिथि का।

मार्ग में अनेक दाता खड़े थे इस आशा से कि सम्भवतः अतिथि की कृपा दृष्टि उन पर हो जाए तो उनके भाग्य खुल जाय। अतिथि एक विशिष्ट पुण्य के आकर्षण से बँधे-से चले जा रहे थे कि नगर सेठ को सामने मंगल घट लिए खड़ा देख ठिठक जाते हैं।

नगर सेठ अपने को धन्य मानता है तथा अतिथि को दाँयी ओर कर उनकी सपरिवार तीन बार प्रदक्षिणा करता है। उन्हें आसन ग्रहण करवाता है। फिर उनके पद माटी के कुम्भगत जल से प्रक्षालित करता है। कुम्भ को गुरु-पद-नख-दर्पण में अपना बिम्ब दिखाई पड़ता है। सहसा उसके मुख से 'धन्य-धन्य' की ध्वनि निकल पड़ती है।

पद-प्रक्षालन के पश्चात् नगर सेठ सपरिवार गन्धोदक मस्तक पर लगाता है। तभी भोजनोत्सुक अतिथि खड़े हो जाते हैं कर-पात्र बना करके। जैसे ही दान-प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, अतिथि कर-पात्र बन्द कर लेते हैं। स्वर्ण-रजत-स्फटिक के पात्रों में दुग्ध, गन्ना, दाड़िम रस लाया गया किन्तु अतिथि का कर-पात्र नहीं खुला। तब नगर सेठ ने माटी के कुम्भ को आगे बढ़ाया तो अतिथि का कर रूपी पात्र खुल गया। जल-पान हुआ तत्पश्चात् भोजन।

भोजन के पश्चात् महासन्त वन की ओर प्रस्थित हुए। उन्हें नसिया जी तक छोड़ कर नगर सेठ अपने आवास पर लौट आया। घर आकर उसे अनुभव होता है :

"कुम्भ के विमल-दर्पण में/सन्त का अवतार हुआ है।" (पृ. ३५४)

कुम्भ के कारण नगर सेठ का जीवन परिवर्तित हो जाता है। वह भोग-रोग से मुक्त होता है। ज्वर के आतंक से छूट जाता है। आतंकवाद के पंजे से मुक्त हो सपरिवार भव नदी से पार उतरता है।

यह है 'मूकमाटी' का संक्षिप्त कथानक। सन्त कवि श्री विद्यासागर ने इस कथा को काव्यबद्ध कर जन-मानस के समक्ष प्रस्तुत करके श्रमण संस्कृति के महत्त्व को प्रतिपादित किया है।

वस्तुतः 'मूकमाटी' महाकाय काव्य एक प्रतीकात्मक रचना है। मंगल घट के रूप में कवि ने 'श्रमण' जीवन को रेखांकित किया है जो अपने गुरु का साहचर्य और निर्देश पाकर जन-कल्याण की ओर उन्मुख होता है। यह भावना इतनी प्रबल होती है कि वह सभी दैहिक कष्टों को सहकर भी अपने संकल्प पर अटल रहता है।

कथानक की सम्पुष्टि के लिए कवि ने अनेक प्रासंगिक बोध कथाएँ भी संयोजित की हैं, जिनका अपना महत्त्व है।

'मूकमाटी' का सृजन एक विशेष संस्कृति के प्रतिपादन की प्रेरणा से हुआ है। प्रतिपादन की बाध्यता के कारण कथानक की गति जाने-अनजाने बौद्धिक भूलभुलैयाँ में खो जाती है। कथानक का प्रारम्भ और समापन का स्थान एक ही है किन्तु इस अन्तराल में मूकमाटी जीवन और जगत् के विविध प्रसंगों से साक्षात्कार करती हुई अपनी यात्रा पूर्ण करती है। इस यात्रा में उसे समय और सृष्टि के सत्य का बोध हुआ और यह सत्य ही सौन्दर्य है। इसके साथ ही है शिवम् - जो इस काव्य की आत्मा है :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव !" (पृ. ४७८)

□



पृष्ठ ४०.
पर के प्रति····
भगवान् से प्रार्थना
करता है कि

'मूकमाटी' की सांस्कृतिक चेतना

डॉ. सन्ध्या टिकेकर

'मूकमाटी' सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न काव्य है। इस दृष्टि से 'मूकमाटी' शीर्षक का विशेष प्रयोजन है। मूक का अर्थ 'मौन' नहीं है। मौन में स्वेच्छा हो सकती है, मूक में विवशता। मौन में सामर्थ्य है, मूक असमर्थ, चाह कर भी न बोल पाने की विवशता से भरा। 'मूकमाटी' का मूल कथ्य भी यही है। भारतीय संस्कृति - दर्शन में 'शब्द' का विशेष महत्त्व है। शब्द ही ब्रह्म है। शब्द का अर्थ समझ लिया, तो समझो ब्रह्म को समझ लिया, लेकिन यहीं एक महीन अन्तर भी है कि ब्रह्म को समझना, ब्रह्म को पाना नहीं है। ब्रह्म को समझने के धरातल पर पहुँचते-पहुँचते शब्द मात्र माध्यम रह जाता है, और सन्तों को कहना पड़ता है कि वह अखण्ड-अनन्त शब्दातीत है, दृश्यातीत है और वर्णनातीत है। इस दृष्टि से 'मूकमाटी' की व्यथा भी वस्तुतः कवि की अन्तर व्यथा है। कवि अखण्ड सत्ता तक अपनी बात पहुँचाने में लौकिक माध्यम को अक्षम पाता है, फलतः अखण्ड से मिलने की व्याकुलता उसे बराबर व्यथित करती रहती है। विरह की यही तड़प हमारी संस्कृति का मूल है। यही वह चेतना है, जो हमें इस ओर से जागृत रखती है कि 'मैं' (अहम्) की अपनी सीमाएँ हैं। यह मैं हमें भले ही सब कुछ दे दे, परन्तु सच्चा सुख नहीं दे सकता। 'मैं' को विगलित कर जीने में ही परम सन्तोष है। 'कल्पना' और 'अनुमान' से परे का यथार्थ जीवन ही सच्चा सुख दे सकता है, क्योंकि 'कल्पना जमीन से उखाड़ती है और अनुमान प्रायः गलत सिद्ध होते हैं।'

स्व-मूल्यांकन हमारा सांस्कृतिक चरित्र है। इसी के चलते आज भी ऐसे ही चरित्र विश्वसनीय हैं, जो सहज - सरल हैं, जिन्होंने दिखावे के आवरण से स्वयं को सुरक्षित रखा है, जो स्वाभाविक जीवन जीते हैं, उनका 'आचरण प्रकट होता है, आवरण नहीं।' स्व-मूल्यांकन के अभाव में, आचरण-आवरण के दोहरे चरित्र के कारण मानव जाति का जो सांस्कृतिक ह्रास हो रहा है, वही 'मूकमाटी' की चिन्ता है।

आज 'शब्दार्थ' की घोर उपेक्षा हो रही है। ब्रह्म तुल्य शब्द का अर्थ-मूल्य न समझने के कारण हमारी वैचारिक दृष्टि भ्रमित हो रही है। यह विचार-भ्रम मानव-समाज में जिस अव्यवस्था को जन्म दे रहा है, उसमें 'प्रशस्त आचार-विचार वालों की जीवन की अवधारणा' चूर-चूर हो गई है। 'स्वतन्त्रता' की इच्छा का स्थान ढेर सारे बन्धनों ने ले लिया है। बन्धनों से मुक्त होने और मुक्त करने की 'स्वतन्त्रता' की सात्त्विक संकल्पना यहाँ एकदम उलट गई है। अब स्वतन्त्रता 'स्वच्छन्दता' का पर्याय बन चुकी है और इसी स्वच्छन्द वृत्ति के कारण धन संग्रह की लालसा ने एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था को पनपाया है, तो दूसरी ओर चोरी-भ्रष्टाचार की वृत्ति को सिंचित-पोषित किया है। आतंकवाद की जिस समस्या से विश्व आए दिन जूझ रहा है, वह इसी पूँजीवाद का प्रतिफलन है। 'मरो या हमारा समर्थन करो' के आतंकी आचरण ने जीना दूभर कर दिया है। धन और सुविधा उपभोग की तीव्र लालसा इसका केन्द्रीय कारण है। जबकि धन का समुचित वितरण हमारी संस्कृति का चरम लक्ष्य है। ''साईं इतना दीजिए, जा में कुटुम्ब समाय। मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय'' का भी वस्तुतः यही निहितार्थ है।

श्रम की महत्ता हमारी संस्कृति का अनूठा लक्षण है। स्वेद-बिन्दुओं के उत्कृष्ट सौन्दर्य-वर्णन श्रम की महत्ता को रेखांकित करते हैं। इस घोर भोगवादी युग में श्रम को क्रूरता से कुचला जाना, 'मूकमाटी' में गहरी चिन्ता को उपजाता है। बिना श्रम के निरन्तर सुविधाओं से प्राप्त होने वाला जीवन अर्थात् संघर्षहीन जीवन-यात्रा में 'मूकमाटी' एक ऐसे अपकर्ष को देखती है, जिसका उत्थान लगभग असम्भव है।

'संवादहीनता' आज का एक बड़ा मानवीय संकट है। यह मानव जाति के लिए बद से बदतर की स्थिति है।

संवादहीनता सम्प्रेषण को अवरुद्ध करती है और यही अवरोध परस्पर वैमनस्य को भड़का रहा है। आतंकवादी हमलों से लेकर साम्प्रदायिक दंगों तक के बहुतेरे दृश्य, संवादहीनता की उपज हैं। ऐसी स्थिति में सम्प्रेषण के महत्त्व की नए सिरे से पड़ताल आवश्यक है, क्योंकि 'सम्प्रेषण वह खाद है जिसमें सद्भाव की पौध पुष्ट होती है।'

परस्पर के प्रति विश्वास, प्रेम और दया—यही हमारा मौलिक चरित्र है, किन्तु दया-भाव के दमन का जैसा कुचक्र वर्तमान में चल रहा है, वह हमारे संस्कारवान् होने पर प्रश्नचिह्न लगाता है। प्रकृति प्रदत्त मनोभावों के यथोचित उपयोग को नकारना, किसी भी स्थिति में जनोपयोगी नहीं है, इसीलिए 'मूकमाटी' आचरण के प्रकटीकरण पर बल देती है। हम अपने आचरण से 'तीर्थ' को पा सकते हैं। 'शरणागत को तार कर तीर्थ लाभ' ले सकते हैं। तीर्थ क्षेत्र हमारे भीतर ही विद्यमान है, बाहरी क्षेत्र तो प्रतीक मात्र हैं।

'मूकमाटी' का आद्यन्त यही आग्रह है कि निर्धारित सांस्कृतिक मार्ग पर चल कर ही उन संकटों से पार पाया जा सकता है, जो हमें निरन्तर ह्रास की ओर ले जा रहे हैं। स्व के नियन्त्रण तथा अनन्त की आकुलता में वह शक्ति है जो आतंकी आचरण का मूलतः नाश कर सकती है, क्योंकि 'ढलान से लुढ़कती नदी पर्वत से कब बोलती है ?'

वस्तुतः आचार्य श्री विद्यासागरजी की 'मूकमाटी' की सांस्कृतिक चेतना हमारे समक्ष मानव होने-बनने के सच्चे अर्थों को खोलती है। वह लोक से परलोक, अशान्ति से अखण्ड शान्ति, दुःख से सात्त्विक सुख की प्रणेता है, अतः उसकी प्रेरणाओं को गम्भीरता से लेना होगा।

□



जीवन के शाश्वत सत्य को मुखर करती 'मूकमाटी'

कृष्ण कुमार चौबे

आज के इस भौतिकवादी, भोगप्रिय युग में मानव-मन एक दिग्भ्रमित मृग की तरह विभिन्न तृष्णाओं की तरफ सहज ही आकृष्ट हो जाता है। और परिणामस्वरूप अपने अस्तित्व की सर्वाधिक मूल्यवान् निधि, अपनी अन्तश्चेतना, अपनी संवेदनशीलता और आत्मबोध को गँवा बैठता है।

इस अमूल्य निधि की खोज करने, उसे पाने और फिर अनन्त काल तक उसे सहेज रखने के लिए समय-समय पर चिन्तकों, ऋषियों, मनीषियों, योगियों, तपस्वियों, साधकों एवं आराधकों ने भी गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् विश्व-मानव को जो साधना के पुष्प सौंपे हैं, वे पुष्प ही अपनी महक और ताज़गी से जीवन-कुंज को सुधि-सुरभि, रस-सौरभ और अलौकिक रंग-रूप प्रदान करते रहे हैं। ऐसी ही अनन्त पुष्प क्यारियों को रस, गन्ध, प्राण, स्पन्दन, चिरन्तन सौन्दर्य और इन्द्रधनुषी अमृत छटा सौंपनेवाली एक अनमोल कलाकृति है आचार्यशिरोमणि विद्यासागरजी की 'मूकमाटी'।

"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है/और
खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है।" (पृ. ४५)

ये पंक्तियाँ माटी की मृदुलता की ओर इंगित करतीं, उसके लघु कलेवर की महत्ता जतातीं तथा शिल्प के निखार के लिए उसकी आवश्यकता को द्विगुणित करती हैं। उपर्युक्त पंक्तियाँ कुशल शिल्पकार के निर्णायक मस्तिष्क की परिचायक ही नहीं, वरन् काव्य के शीर्षक 'मूकमाटी' की सार्थकता को भी प्रतिपादित करती हैं।

माटी की अपेक्षा गुरुगात कठोर तथा नीरस कंकरों से कही गई शिल्पकार की उपर्युक्त उक्ति प्रस्तुत काव्य के मर्म को, उसके सारांश को पाठक के अन्तःस्थल में समाहित कर जीवन के चिरन्तन, मूलभूत सत्य से, निर्विवाद यथार्थ से तथा काव्य में सर्वत्र प्रवाहित विनीत सेवा की भावना व निर्मलता से परिचित करा देती है।

उपेक्षिता, पद-दलिता, परित्यक्ता, तिरस्कृता, अकिंचना माटी, जो सम्पूर्ण जीव-जगत्, चराचर सृष्टि की चरम परिणति है, उसकी महत्ता को ही आचार्यजी ने प्रस्तुत काव्य में प्रतिपादित किया है।

इस मूकमाटी को काव्य के माध्यम से वाणी प्रदान की है। मानों शून्य में सृष्टि का निर्माण किया है तथा मानवीय कोमल भावनाओं के आरोपण द्वारा मृत्तिका में प्राण भरे हैं।

आचार्यशिरोमणि ने कथा का सूत्रपात प्रकृति की मनोरम छटा के वर्णन से किया है। रात्रि अपनी नीलिमा समेटे विगत हुई। भानु शैशवावस्था में माँ के आँचल में मुँह छुपाए लेटा-लेटा करवटें ले रहा है :

"भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है/माँ की मार्दव-गोद में,
मुख पर अंचल लेकर/करवटें ले रहा है।" (पृ. १)

वात्सल्य के स्पर्श से कथा का प्रारम्भ होता है। प्रकृति के मोहक एवं कोमल चित्रों के चितेरे आचार्यजी प्रकृति के विभिन्न चित्रों का अंकन करते हुए हमें सरिता-तट की माटी के निकट ले चलते हैं, जहाँ वह धरती माँ से अपनी व्यथा-कथा कहने में उलझी है, लीन है :

"और, संकोच-शीला/लाजवती लावण्यवती—/सरिता-तट की माटी
अपना हृदय खोलती है/माँ धरती के सम्मुख !/स्वयं पतिता हूँ

और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)

उपर्युक्त पंक्तियों में वह माँ के सम्मुख अपनी व्यथा, अपनी वेदना व्यक्त करती है। कितनी सहज चित्रात्मकता है इन पंक्तियों में कि पुत्री अपना हृदय अपनी माता के समक्ष ही खोल सकती है, क्योंकि वही उसके सर्वाधिक निकट होती है। इसके अतिरिक्त उस पर ही उसे सर्वाधिक विश्वास भी होता है। अतः वह अपने बन्धित जीवन की मुक्ति का मार्ग पूछती है, परित्राण की दिशा जानना चाहती है। उसे कितनी वेदना है, कितनी व्यथा है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

पुत्री के व्यथित हृदय को धैर्य बँधाती हुई माता की अनन्य आत्मीयता का संस्पर्शन होता है। धृति-धारिणी धरती माँ पुत्री को परम सत्ता का परिचय देकर, उसे मुक्ति की सम्भावनाओं की आशा से भर देती है। साथ ही वह कुम्भकार के आने का संकेत देकर उसे उमंग, आशा व आह्लाद से परिपूर्ण कर देती है :

"प्रभात में कुम्भकार आयेगा/पतित से पावन बनने,
समर्पण-भाव-समेत/उसके सुखद चरणों में/प्रणिपात करना है तुम्हें,
अपनी यात्रा का/सूत्र-पात करना है तुम्हें !" (पृ. १६-१७)

और सत्य ही मिट्टी के कायाकल्प हेतु प्रभात के साथ ही आगमन होता है कुशल शिल्पी का। उस निपुण शिल्पकार का, जिसकी प्रतीक्षा में पलक पाँवड़े बिछाए न जाने कितनी शताब्दियों से आकुल-व्याकुल-सी बैठी है माटी।

आज माटी को शिल्पी के आने पर उसके साथ प्रस्थान करना होगा। चिरकाल की साध पूरी होगी। यह उसकी प्रथम यात्रा है, प्रथम प्रवास है। अतः भोली जिज्ञासाएँ अन्तःस्थल में अंकुरित होती हैं। प्रतीक्षा की घड़ियाँ समीप आती जाती हैं और आखिर भोर के साथ ही शिल्पकार का आगमन भी हो जाता है। उस समय का कितना सुन्दर चित्र खींचा है आचार्यशिरोमणि ने :

"भोर में ही/उसका मानस/विभोर हो आया, और/अब तो वे चरण
निकट-सन्निकट ही आ गये !/...वह एक कुशल शिल्पी है !/उसका शिल्प
कण-कण के रूप में/बिखरी माटी को/नाना रूप प्रदान करता है।" (पृ. २६-२७)

शिल्पी माटी के कायाकल्प की शुरुआत करता है। ओंकार को नमन कर अपने कार्य में जुट जाता है। कार्य की पूर्ति के लिए उसे कुछ कठोर भी होना पड़ता है। क्रूर, कठोर कुदाली से सर्वप्रथम तो माटी पर प्रहार होता है। बन्धन से मुक्ति पाने का कटु व कष्ट कर प्रथम सोपान आरम्भ होता है। माटी खोदी जाती है। बोरी में भरी जाती है। वाहन है गदहा। उसके पृष्ठभाग पर बोरी लादी जाती है। यात्रा शुरू होती है। माटी नव-विवाहिता वधू-सी बोरी के छिद्रों से, अवगुण्ठन से झाँकती-सी अपने जीवन की प्रथम यात्रा के कुतूहल को शान्त करती प्रकृति के रम्य दर्शन में निमग्न हो जाती है। आचार्यश्री ने यहाँ नारी-मन की कोमलता व भावुकता तथा नववधू की लाजवती मानसिकता का इतना विशद रेखांकन किया है कि पाठक आत्मविभोर हुए बिना नहीं रह सकता बल्कि साथ प्रवाह में बह जाता है। यात्रा लम्बी है। किन्तु प्रत्येक यात्रा का कहीं न कहीं अन्त होता ही है। अतः माटी व शिल्पकार की यात्रा का भी अन्त होता है। और यह अन्त होता है शिल्पकार की प्रयोगशाला पर, उसके कलाकेन्द्र पर।

माटी के कायाकल्प का द्वितीय सोपान प्रारम्भ हो जाता है। प्रयोगशाला में उसे छाना जाता है, भिगोया जाता है, फुलाया जाता है एवं रौंदा जाता है। वह सब सहर्ष स्वीकार करती है। उसे नव-जीवन जो पाना है, नवीन कलेवर जो ग्रहण करना है। वह सभी कठोर से कठोर परीक्षाओं को कष्ट से सहते हुए भी सहर्ष उत्साह, उमंग के साथ पार करती जाती है।

शिल्पी उसे विशाल चक्र पर चढ़ाकर घट का आकार देता है। माटी की इस कथा के माध्यम से आचार्यशिरोमणि ने मानव मात्र को जीवन के प्रति आस्था का पावन सन्देश दिया है। जिस प्रकार माटी प्रत्येक कष्ट सहकर अन्त में नवीन, इच्छित कलेवर पा ही जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक मानव कठोर साधना व एकनिष्ठा से अपने लक्ष्य तक पहुँच ही जाता है।

चाक पर चढ़ने के बाद माटी को सुन्दर, सुभग, मंगल घट का रूप प्राप्त होता है। शिल्पकार अपने कुशल हाथों से उसे मोहक आकार प्रदान करके सुन्दर चित्रों, अंकों आदि से सजाता है। किन्तु अभी कायाकल्प पूर्ण नहीं हुआ है, अधूरा है। अभी तो उसे अन्तिम सोपान अग्नि-परीक्षा से गुज़रना है। कच्चे घट को अवा में डाल दिया जाता है, जहाँ वह धू-धू करती लपटों में तपता है, दग्ध होता है और चरम विकसित रूप पा जाता है– श्यामल, किन्तु कान्तिमय व देदीप्यमान। अब वह माटी-सा चरणों में नहीं रौंदा जाएगा। अकिंचन-सा पद-दलित नहीं होगा। नहीं···नहीं···कदापि नहीं। अब तो उसे गौरवशाली स्थान प्राप्त होगा। गरिमामण्डित श्रेय एवं महिमामण्डित पद प्राप्त होगा। इधर माटी, जो कुम्भ का रूप प्राप्त कर चुकी है, उपर्युक्त विचारों में मग्न है। और इधर कुम्भकार अपनी नवनिर्मित कृति कुम्भ की पूर्णता को प्राप्त करने, अनेक जिज्ञासाएँ लिए अवा की ओर अग्रसर होता है। कितना कुतूहल है शिल्पकार के मन में अपनी इस नव कलाकृति के प्रति :

> *"ज्यों-ज्यों राख हटती जाती,/त्यों-त्यों कुम्भकार का कुतूहल*
> *बढ़ता जाता है, कि/कब दिखे वह कुशल कुम्भ···।" (पृ. २९६)*

और अवा की राख में कुम्भ दिख जाता है। राख से उसे बाहर निकाल कुम्भकार अत्यधिक हर्षित होता है। हो क्यों नहीं, कृति बनी जो अनुपम है।

इस प्रकार अनेक सहायक कथाओं के साथ कथा अग्रसर होती है। कथा में सर्वत्र रोचकता व जिज्ञासा बनी रहती है। पाठक यह विचार करता ही रहता है कि अब क्या होगा ? पाठक की एकाग्रता कहीं खण्डित नहीं हो पाती। आचार्यश्री वाचक को सर्वत्र एकसूत्र में आबद्ध किए रहते हैं। और कथा अग्रसर होती रहती है ।

नगर के महासेठ एक रात स्वप्न देखते हैं। उस स्वप्न में वे अपने प्रांगण में पधारे भिक्षार्थी महासन्त का स्वागत कर रहे हैं। स्वप्न में यह भी देखते हैं कि वे माटी के एक अत्यन्त सुन्दर घट से महासन्त का पद-प्रक्षालन कर रहे हैं।

बस फिर क्या था, नींद खुलने पर महासेठ स्वप्नादेश से प्रेरित होकर तथा स्वप्न के माध्यम से संकेत पाकर अपने सेवक को कुम्भ लाने का आदेश देते हैं। सेठ का सेवक आदेश पाकर कुम्भकार के यहाँ पहुँचता है।

नवीनाकार प्राप्त माटी के नवीन गरिमामण्डित कान्तिमय घट को देखकर ग्राहक के रूप में आया सेठ का सेवक चमत्कृत हुए बिना नहीं रह पाता :

> *"ग्राहक के रूप में आया सेवक/चमत्कृत हुआ/मन-मन्त्रित हुआ उसका*
> *तन तन्त्रित - स्तम्भित हुआ/कुम्भ की आकृति पर/और*
> *शिल्पी के शिल्पन चमत्कार पर।" (पृ. ३०६)*

कुम्भ को महासेठ के निवास स्थान पर लाया जाता है। नाना प्रकार से सजाया, सँवारा जाता है। कुम्भ के

चतुर्दिक् कुंकुम लगाया जाता है। मलयाचल के चारु चन्दन से मांगल्य प्रतीक स्वस्तिक का अंकन किया जाता है। उसे कश्मीर केसर मिश्रित चन्दन से सुसज्जित किया जाता है। आज माटी अपने भाग्य परिवर्तन पर अवाक् रह जाती है। अपने भाग्य की सराहना करते नहीं थकती। सुसज्जित घट गृह की शोभा बढ़ाता एक चौकी पर सुरक्षित रख दिया जाता है। आचार्यशिरोमणि ने कितनी सुन्दरता से भारतीय संस्कृति के प्रतीकों को उजागर किया है।

इधर महासेठ के यहाँ आहारार्थ महासन्त का शुभागमन होता है। विभिन्न रसाहारों से उनका स्वागत किया जाता है। श्रद्धा सहित उनके समक्ष विभिन्न मूल्यवान् धातुओं, यथा– स्वर्ण, रजत, कांस्य इत्यादि से निर्मित कलशों में नाना प्रकार के मधुर रस आपूरित कर रखे जाते हैं।

किन्तु योगी वीतरागी हैं। उन्हें इन सांसारिक रस-गन्धों में आसक्ति नहीं है। अतः वे नाना मूल्यवान् धातु निर्मित, रसापूरित सभी घट अस्वीकार कर देते हैं। आहार प्रारम्भ करने के लिए वे माटी के कलश को चुनते हैं। आहारोपरान्त उपदेश-प्रवचन के पश्चात् वे प्रस्थान करते हैं।

इधर अन्य धातुओं से निर्मित विभिन्न पात्रों में अपमान व ईर्ष्या-द्वेष की भावनाओं का सूत्रपात होता है। वे द्वेष व बदले की भावना से प्रेरित हो षड्यन्त्र रचते हैं।

स्वर्ण कलश, रजत कलश आदि नाना मूल्यवान् धातुओं से निर्मित कलश व अन्य पात्र कुपित होकर सेठ, उसके आत्मीय स्वजन व उसके प्रिय पात्र माटी के घट के विनाश की कुटिल योजना बनाते हैं। आचार्यशिरोमणि ने आधुनिक काल में सर्वत्र व्याप्त आतंकवाद का बड़ा सटीक चित्र पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। योजना बनती है और यहीं से आतंकवाद का बीजारोपण होता है। आतंकवादी प्रवृत्ति विनाशकारी है। इस काव्य में आज के युग में सर्वत्र सिर उठाए, फन मारती इस अराजकतापूर्ण स्थिति, विध्वंसात्मक, विनाशकारी प्रवृत्ति का चित्रण इतना सजीव बन पड़ा है कि पाठक स्वयं को इस स्थिति और अनुभूति से अलिप्त नहीं महसूस कर पाता।

रात्रि के गहन अन्धकार में जब विनाश की योजना बन रही थी, उस आपात्काल में माटी का घट अपने उपकारी महासेठ के परिवार के लिए सजग प्रहरी-सा जाग रहा था। सारी की सारी कुमन्त्रणा सुन वह चैन से न बैठ सका। सेठ के प्रति अपनी भक्ति व निष्ठा, उत्तरदायित्व व सुरक्षा की भावनाओं, स्नेह व कृतज्ञता के वेग से प्रेरित होकर वह अपनी सदाशयता, मेधा व सद्बुद्धि से एक युक्ति खोज ही निकालता है।

जिस घर में आतंकवाद विषवृक्ष-सा सर्वत्र अपनी शाखाएँ पसार रहा हो, विषैले सर्प-सा विष वमन कर रहा हो, वहाँ से पलायन करना ही सुरक्षा का एकमात्र उपाय रह जाता है। अतः घट सबके सोने पर सेठ व उसके परिवार को उठाकर यथास्थिति से अवगत कराता है। बड़ी सतर्कता से वह यह समाचार सेठ के कानों तक पहुँचाता है, साथ ही उससे बचने का उपाय भी सुझाता है। गृहत्याग ही सुरक्षा का एकमात्र उपाय है। उसकी नेक सलाह मान सभी दबे पाँव घर से निकल पड़ते हैं। उस समय जब आतंकवाद षड्यन्त्र रचने की थकान से थककर बेखबर गहन निद्रा में सोया होता है। उन्हें कानोंकान खबर हुए बिना सेठ, उसका प्रिय घट व परिवार पलायन करते हैं। घट उनका पथ-प्रदर्शक बनता है। आगे घट है, पीछे है सेठ व उसका परिवार। नगर, पथ, वन-उपवन, पर्वत, वृक्ष, नदी-नाले पार करते हुए वे सरिता के पावन तट पर पहुँचते हैं।

किन्तु, तब तक आतंकवाद की गहन निद्रा भी टूट चुकी होती है। वह भी घर से निकल उनका पीछा करता है। आचार्यश्री ने बड़ा ही रोमांचक चित्र खींचा है। घटनाएँ तीव्रगति से कथा को अग्रसर करती हैं।

इधर सेठ व घट के लिए सरित् पुलिन पर पहुँचकर समस्या आ खड़ी होती है। सेठ व उसका परिवार तैरना नहीं जानता। अन्त में घट के मुख पर रस्सी बाँधकर सेठ व उसका परिवार जलचर प्राणियों की सहायता से नदी पार करता है। और इस प्रकार कठिन परिश्रम के उपरान्त सभी तट पा ही लेते हैं।

उधर विवेकहीन आतंकवाद भी अपनी गति तेज कर, पीछा करता-करता नदी में कूद पड़ता है। तैर नहीं पाने के कारण वह नदी में डूबने लगता है और अपनी भूल को स्वीकार कर सेठ परिवार से क्षमा माँगकर, उनसे शरण प्रदान करने की प्रार्थना करता है। विनाश का अन्त होता है। जीवन के प्रति आस्था ही मानों काव्य का लक्ष्य है। सन्त्रस्त मानव को आशा का सन्देश दे आचार्यजी ने जीवन के प्रति विश्वास जगाया है।

तट पाकर सेठ व उसका परिवार चैन की साँस लेते हैं। यह वही तट है, जहाँ से माटी का उत्खनन हुआ था। युगों की कठोर कारा में कैद, उपेक्षिता, पद-दलिता, अकिंचन माटी को शिल्पकार के कुशल व स्नेहिल हाथों का स्पर्श हुआ था। उसे बन्धन-मुक्त किया गया था। यहाँ माटी के कुम्भ का अपनी जननी धरती माँ से पुनर्मिलन होता है। साथ ही अपने मुक्तिदाता शिल्पकार से भी साक्षात्कार होता है।

असत् पर सत् की, हिंसा पर अहिंसा की, कुप्रवृत्तियों पर सुप्रवृत्तियों की, पाप पर पुण्य की और अमंगल पर मंगल की विजय दिखाकर मानवता का एक अद्‌भुत सन्देश दिया है।

अन्त में मोक्ष की व्याख्या की गई है। नदी-तट पर ही कुछ दूर, एक विशाल वृक्ष की शीतल छाया के नीचे पाषाण फलक पर वीतराग साधु आसीन हैं। सभी उनके पास मोक्ष की कामना से जाते हैं। सन्त उपदेश दे मोक्ष की व्याख्या करते हैं :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

सन्तशिरोमणि द्वारा प्रदत्त प्रबोधन से कथा का समापन होता है। कथा सुखान्त है। काव्य का विवेचन करें तो पाएँगे कि कथा में माटी ही सर्वत्र प्रमुख पात्र के रूप में छाई है। उसका मानवीकरण किया गया है। अकिंचन माटी के उदात्त, धीर, गम्भीर गुणों के आरोप द्वारा आचार्यशिरोमणि ने मानव मात्र को सत्सन्देश दिया है।

सहिष्णुता, विनम्रता, सहृदयता, करुणा, स्नेह, दया, ममता, परोपकार आदि नाना सदाशयों व सद्‌गुणों से विभूषिता, संवेदनशीला माटी के त्याग की कथा ही वास्तव में इस काव्य की कथा है। इस काव्य का भावपक्ष व कलापक्ष दोनों ही एक-दूसरे के परिपूरक हैं। दोनों पक्षों का निर्वाह अति सफल बन पड़ा है।

भाषा कोमलकान्त, स्वतःस्फूर्त, लयबद्ध व गतिमान् है। भाषा सरित् प्रवाह-सी निर्मल, निर्बाध व प्रवाहमयी है। यद्यपि संस्कृतनिष्ठ समास-बहुला-शब्दावली का प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है, किन्तु वह प्रवाह में बाधक नहीं अपितु साधक है और काव्य में सौन्दर्यश्री की वृद्धि करती है। एक उदाहरण लीजिए :

"कौन सहारा ?···सो सुनो !/दृढ़ा ध्रुवा संयमा-आलिंगिता
यह जो चेतना है—/स्वयंभुवा काम करती है।" (पृ. २४२)

इस प्रकार तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रयास करके चमत्कार प्रदर्शन की भावना से नहीं, सहज स्फूर्त ही हुआ है। पर भाषा कहीं भी क्लिष्ट नहीं हुई है।

खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रज, अँग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी यत्र-तत्र हुआ है। काव्य में आधुनिक युग में बहुचर्चित शब्दों जैसे—'स्टार वार' आदि के प्रयोग द्वारा आधुनिकता का संस्पर्शन हुआ है।

उर्दू के शब्दों का प्रयोग देखें :

- *"इस पर प्रभु फ़रमाते हैं।" (पृ. १५०)*
- *"जब दवा काम नहीं करती/तब दुआ काम करती है।" (पृ. २४१)*

शब्द शक्तियों, यथा– अभिधा, लक्षणा व व्यंजना का सफल निर्वाह हुआ है। प्रसाद, माधुर्य व ओज गुणों का प्रयोग सिद्धहस्तता से किया गया है। भाषा समृद्ध है। भाषा में चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता तथा वातावरण-निर्माण की क्षमता है। भाषा भावानुकूल है। शैली सरल है, कहीं भी क्लिष्ट या दुरूह नहीं बन पड़ी है।

प्रचलित मुहावरों का प्रयोग सहजता से अनायास एवं सटीक भी हुआ है। यह काव्य की एक अन्य विशेषता है। इससे भाषा में रोचकता आ गई है, यथा :

"नाक में दम कर रक्खा है" (पृ. १३५) ; "टेढ़ी खीर" (पृ. २२४)
"कूट-कूट कर" (पृ.२२७) ;"गुरवेल तो कड़वी होती ही है
और नीम पर चढ़ी हो/तो कहना ही क्या !" (पृ.२३६)

नीति व उपदेशपरक उक्तियों का प्रयोग अति सफलतापूर्वक किया गया है। उनमें ऐसी लयबद्धता है कि पाठक आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। कुछ शब्द चित्र देखें :

- *"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का*
  कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)
- *"आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।*
  तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव !" (पृ. १३३)

जहाँ रहीम जैसे कवियों ने जिह्वा को 'बावरी' कहा है, वहीं आचार्यजी ने भी उसकी निरर्थक वाचालता पर अंकुश लगाने का उपदेश दिया है :

"अनुचित संकेत की अनुचरी/रसना ही/रसातल की राह रही है।" (पृ. ११६)

आचार्यजी ने जहाँ-जहाँ शब्दों को परिभाषित किया है, वहाँ-वहाँ प्रसंग चित्ताकर्षक व मनोहारी बन पड़े हैं। यह सम्भवतः आचार्यजी के इस काव्य में जितना दृष्टिगत होता है, वह अन्यत्र कहीं दुर्लभ ही नहीं अनन्य भी है। जैसे साहित्य को परिभाषित करते हुए आचार्यश्री कहते हैं :

"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिसके अवलोकन से/सुख का समुद्भव – सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

अलंकारों में शब्दालंकार, अर्थालंकार व उभयालंकारों की छटा अत्यन्त चित्ताकर्षक बन पड़ी है। जहाँ एक ओर अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि का सफल निर्वाह हुआ है, वहीं दूसरी ओर उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा आदि की छटा अनुपम बन पड़ी है।

अनुप्रास का प्रयोग तो काव्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण देखें :

"उत्तुंग ऊँचाइयों तक/उठने वाला ऊर्ध्वमुखी भी
ईंधन की विकलता के कारण/उलटा उतरता हुआ
अति उदासीन अनल-सम/क्रोध-भाव का शमन हो रहा है।" (पृ. १०६)

यमक की बहार देखें :

"किसलय ये किसलिए/किस लय में गीत गाते हैं।" (पृ. १४१)

छन्द में आधुनिक छन्द प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। काव्य मुक्त छन्द में है। छन्द भिन्न तुकान्त है, किन्तु अतुकान्त होते हुए भी उनमें लय का संगीत प्रत्येक पंक्ति में परिलक्षित होता है। छन्दों में गति, लय, ताल है और एक अद्भुत प्रवाह भी है। कहीं-कहीं तो काव्य में झरनों का संगीत ही छलक उठता है। काव्य में संगीत-सौरभ का आप भी पान करें :

"नया योग है, नया प्रयोग है/नये-नये ये नयोपयोग हैं
नयी कला ले हरी लसी है/नयी सम्पदा वरीयसी है
नयी पलक में नया पुलक है/नयी ललक में नयी झलक है
नये भवन में नये छुवन हैं/नये छुवन में नये स्फुरण हैं।" (पृ. २६४)

विभिन्न काव्य रसों का सुन्दर, अति सुन्दर परिपाक हुआ है। यद्यपि शान्त रस इस काव्य का अंगीरस है तथापि वात्सल्य, करुण, वीर, बीभत्स एवं रौद्र के अतिरिक्त शृंगार की झाँकी भी अत्यन्त मनोहारी बन पड़ी है।

शृंगार की मनोरम झाँकी प्रकृति के माध्यम से अपनी अपूर्व छटा बिखेर रही है :

"लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को—/सराग—मुद्रा को—
पाँखुरियों की ओट देती है।" (पृ. २)

यहाँ कुमुदिनी अपने प्रियतम अंशुमाली से लज्जित हो अपनी ही पाँखुरियों के अवगुण्ठन में छुपना चाहती है। प्रियतम अंशुमाली अपने किरण-करों से अवगुण्ठन के परे झाँकना चाहते हैं किन्तु कुमुदिनी देखने देती कहाँ है ? यह कल्पना कितनी कोमल, स्निग्ध, सजीव व मनोहारी बन पड़ी है।

वात्सल्य का मनोरम दृश्य देखें :

"भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है
माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।" (पृ. १)

उषा माँ के रूप में चित्रित है तथा सूर्य पुत्र रूप में। यह कितना सुन्दर वात्सल्य में पगा चित्र है !

शान्त रस तो सर्वत्र छाया है। माँ धरती अपने उपदेशों व स्नेह-संस्पर्शन द्वारा माटी के आन्दोलित हृदय को अद्भुत शान्ति प्रदान करती है :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं/अनगिन सम्भावनायें
उत्थान-पतन की,/खसखस के दाने-सा/बहुत छोटा होता है
बड़ का बीज वह !" (पृ. ७)

आचार्यश्री ने स्वयं रसों की व्याख्या करके पाठकों का मार्गदर्शन भी किया है। रसों की व्याख्या देखें :

शान्त रस : ◘ *"शान्त-रस का क्या कहें,/संयम-रत धीमान को ही*

'ओम्' बना देता है।/जहाँ तक शान्त रस की बात है
वह आत्मसात् करने की ही है/कम शब्दों में/निषेध-मुख से कहूँ
सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त रस है।" (पृ. १५९-१६०)

- *" शान्त-रस किसी बहाव में/बहता नहीं कभी*
जमाना पलटने पर भी/जमा रहता है अपने स्थान पर।" (पृ. १५७)

करुणा की मीमांसा करते हुए वे कहते हैं :

"करुणा तरल है, बहती है/पर से प्रभावित होती झट-सी।" (पृ. १५६)

वात्सल्य के विषय में आचार्यजी के विचार पठनीय हैं। वे कहते हैं :

"वात्सल्य को हम/पोल नहीं कह सकते/न ही कपोल-कल्पित।
महासत्ता माँ के/गोल-गोल कपोल-तल पर
पुलकित होता है यह वात्सल्य।" (पृ. १५७)

इस प्रकार का विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रकृति अनादि काल से मानव की वांछित सहचरी रही है। कविमन तो मानों भ्रमर-सा न जाने प्रकृति की हृदयहारी छटा पर कितना गुंजार कर चुका है और न जाने कितने रूपों का उल्लेख कर चुका है। आचार्यशिरोमणि के प्रस्तुत काव्य में भी उन्होंने प्रकृति के नाना रूपों का कुशल चित्रण किया है। आलम्बन, उद्दीपन, मानवीकरण, प्रतीकात्मक, उपदेशात्मक, अलंकृत वातावरण-निर्माण में सहायक तथा परोक्ष सत्ता का आभास देता रहस्यात्मक आदि सभी रूपों में आचार्यजी का मन रमा है। विरहिणी माटी के दुःख को प्रकृति और अधिक बढ़ा देती है। विरह विधुरा माटी को रात्रि में निद्रा सहज नहीं आती। अतः वह व्याकुल है :

"रा···त्री···/लम्बी होती जा रही है।/धरती को/निद्रा ने घेर लिया
और/माटी को निद्रा/छूती तक नहीं।" (पृ. १८)

किन्तु वही माटी शिल्पकार के आने के संवाद से, उसके आगमन के समाचार से आह्लादित है। और प्रकृति भी उसे अपने समान हर्षातिरेक से झूमती-सी, प्रफुल्लित दिखाई देती है :

"और, हर्षातिरेक से/उपहार के रूप में/कोमल कोंपलों की
हलकी आभा-घुली/हरिताभ की साड़ी/देता है रात को।" (पृ. १९)

आलम्बन रूप में कविश्री का हृदय अधिक रमा है। आलम्बन रूप का चित्रण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है :

"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है/और
सिंदूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा—/भाई है, भाई···!" (पृ.१)

मानवीकरण की प्रवृत्ति तो काव्य के नामकरण द्वारा ही प्रदर्शित हो जाती है जिसमें प्रकृति के महत्त्वपूर्ण अंग माटी को मानव रूप दे काव्याधार बनाया गया है। वैसे मानवीकरण की प्रवृत्ति काव्य में सर्वत्र परिलक्षित होती है।

"अबला बालायें सब/तरला तारायें अब/छाया की भाँति

अपने पतिदेव/चन्द्रमा के पीछे-पीछे हो/छुपी जा रहीं
कहीं···सुदूर···दिगन्त में···/दिवाकर उन्हें/देख न ले, इस शंका से।" (पृ.२)

तारिकाओं को अबलाओं के रूप में व चन्द्रमा को उनके प्रियतम के रूप में चित्रित किया गया है। यह कैसा मधुर-मनोरम चित्र है।

उपदेशात्मक रूप में भी प्रकृति का दर्शन होता है :

"हंस-राजहंस सदृश/क्षीर-नीर विवेक-शील !" (पृ. ११३)

परम्परागत शैली के आधार पर षड्-ऋतु वर्णन भी परिलक्षित होता है—ग्रीष्म कहीं तो कहीं शीत का, वर्षा कहीं तो कहीं वसन्त का। इस प्रकार ऋतुओं के अनुरूप भी प्रकृति के उग्र, सौम्य, शान्त व मनोहारी चित्र रेखांकित किए हैं।

ग्रीष्म की विभीषिका देखें :

- *"यहाँ जल रही है केवल/तपन···तपन···तपन···!" (पृ. १७८)*
- *"जला हुआ जल वाष्प में ढला।" (पृ. १९०)*

जहाँ ग्रीष्म व सूर्य की अग्नि से जल वाष्प में परिवर्तित हो रहा है, वहीं वर्षा ऋतु के आगमन पर जलद के स्वयं जल बन कर बरसने की कल्पना शीतलता प्रदान करती है :

"जलद बन जल बरसाता रहा।" (पृ. १९१)

यूँ तो शीत काल की बात ही निराली है। किन्तु शीत के आधिक्य से मनुष्य तो क्या पेड़-पौधे भी नहीं बचे हैं। हिमपात ने सर्वत्र सफेदी ला दी है :

"शीत-काल की बात है/अवश्य ही इसमें/विकृति का हाथ है
पेड़-पौधों की/डाल-डाल पर/पात-पात पर/हिम-पात है।" (पृ. ९०)

जहाँ शीतकाल ने डाल-डाल को हिमपात के आवरण में ढक दिया है वहीं शिशिर के आगमन के साथ लता-लतिकाएँ शिशिर के छुवन से पीली पड़ती जा रही हैं :

"लता-लतिकायें ये,/शिशिर-छुवन से पीली पड़ती-सी
पूरी जल-जात हैं।" (पृ. ९०)

प्रकृति के विभिन्न उपादान, यथा– वृक्ष, सरि, सरिता, सागर, मेघ, आकाश, पक्षी, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, वर्षा, पुष्प, पल्लव एवं द्रुम आदि का वर्णन पाठक को प्रकृति की क्रोड़ में ही मानों ले चलता है।

इसके अतिरिक्त कुछ भौगोलिक तथ्यों, वैज्ञानिक सत्यों तथा प्राकृतिक यथार्थों का चित्रण कलात्मकता से कर उसे ग्राह्य बनाया है।

सूर्य की तपन से सागर का उबलना तथा चन्द्राकर्षण से ज्वार आने के तथ्य को कैसा काव्यमय ढाँचा प्रदान किया है।

द्रष्टव्य है सागर की मानसिकता :

"इधर सागर की भी यही स्थिति है/चन्द्र को देख कर उमड़ता है
और/सूर्य को देखकर उबलता है।" (पृ. १९२)

एक ओर 'मूकमाटी' का कला पक्ष जहाँ अपनी इन्द्रधनुषी छटा बिखेर रहा है वहीं दूसरी ओर उसका भाव पक्ष अत्यन्त समृद्ध, पुष्ट, सर्वांग एवं सफल बन पड़ा है।

यह भाव पक्ष कहीं हिमगिरी की उत्तुंग ऊँचाइयाँ लिए काव्य को दृढ़ता प्रदान कर रहा है तो कहीं सरित् प्रवाह-सा निश्छल, छल-छल, कल-कल निनादित हो, प्रवाहित हो काव्य को गति प्रदान कर रहा है।

भक्तिकालीन सन्तों-सा कविश्री का हृदय व मनो-मस्तिष्क धन के लोभ की निन्दा करता है तथा अर्थ की निरर्थकता स्वीकारता है :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

करुणा, स्नेह एवं ममता को उन्होंने विशेष गुरुता प्रदान कर उच्चादर्शों की स्थापना की है। माता के सम्मान को अपरिहार्य व परम आवश्यक माना है। भारतीय संस्कृति में माता का स्थान सर्वोपरि माना है :

"माता का मान-सम्मान हो,/उसी का जय-गान हो सदा।" (पृ. २०६)

इसके अतिरिक्त प्रचलित भारतीय सामाजिक मान्यताएँ, भारतीय संस्कृति व परम्पराओं का सफल निर्वाह भी किया गया है।

चन्द्र ग्रहण व सूर्य ग्रहण के लगने पर परम्परानुसार अन्न-जल का त्याग करना पड़ता है। उसी का वर्णन देखें :

"सूर्य-ग्रहण का संकट यह/जब तक दूर नहीं होगा
तब तक भोजन-पान का त्याग!/जन-रंजन, मनरंजन का त्याग!" (पृ. २४०)

इसके अतिरिक्त मांगल्य के प्रतीक स्वस्तिक चिह्न, कुंकुम, चन्दन, मंगल घट, कलश आदि का भी प्रसंगानुसार चित्रण भारतीय संस्कृति को मानों मुखरित-सा करता प्रतीत होता है :

"...सजाया हुआ/मांगलिक कुम्भ रखा गया
अष्ट पहलूदार चन्दन की चौकी पर।" (पृ. ३११-३१२)

कुल मिलाकर 'मूकमाटी' एक ऐसा काव्य ग्रन्थ बन पड़ा है जो आत्म-दर्शन तो करवाता ही है, किन्तु साथ ही साथ परोक्ष रूप से प्रतीकात्मक शैली में आतंकवाद जैसी कुप्रवृत्तियों पर भी अंकुश लगाने का संकेत देता है।

और सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'मूकमाटी' एक दार्शनिक, चिन्तक, साधक, इन्द्रियजित् तपस्वी का असत्य पर सत्य का, अमंगल पर मंगल का और अशुभ पर शुभ की अन्तिम विजय का अमर सन्देश देने वाला एक जयनाद है, एक अन्तर्नाद है, एक शाश्वत और अलौकिक जयघोष एवं अनूठी कृति भी है। □

'मूकमाटी': माटी के माध्यम से जीवन-दर्शन

राजेन्द्र नगावत

माटी मानव का आधार, आकार व परिणति है। माटी ओढ़न है, माटी बिछावन है। एक तरह से माटी ही मनुष्य की पहचान है। माटी मूक है परन्तु रचयिता ने इसे एक ऐसी गूँजन से परिपूर्ण कर दिया है कि वह जीवन के समग्र दर्शन की अनुगूँज बन गई है। बहुत अधिक गूढ़ता न देकर, सहज दृष्टान्तों, बिम्बों, रूपकों के द्वारा सरल शब्दों में परिवेश का परिवेशन किया है।

प्रथम खण्ड में माटी का आलोड़न-विलोड़न है, दूसरे में उत्पत्ति के संकेत तो तीसरे में उपार्जन। पर्वत के आरोहण के ये तीन शिविर सम्पन्न कर चतुर्थ खण्ड में शिखर आरोहण है। इसमें तप्त स्वरूप व परिणति का चित्रण है।

प्रथम खण्ड में प्रथमतः संकेत है :

"प्रभात में कुम्भकार आयेगा/पतित से पावन बनने,/समर्पण-भाव-समेत
उसके सुखद चरणों में/प्रणिपात करना है तुम्हें।" (पृ. १६-१७)

तब उभरती पीड़ा के प्रति यह कथन द्रष्टव्य है :

"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और
पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

इसी को और आगे ले जाते कहा गया है :

"काया को कृश करने से/कषाय का दम घुटता है।" (पृ. ८७)

द्वितीय खण्ड में सर्जनात्मक स्वर है :

"मान-घमण्ड से अछूती माटी/पिण्ड से पिण्ड छुड़ाती हुई
कुम्भ के रूप में ढलती है।" (पृ. १६४)

तो मोक्ष की ओर इंगित करते ये शब्द भी हैं :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

तृतीय खण्ड में पुरुषार्थ का संकेत है :

"परिश्रम करो/पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरुषार्थ सही।" (पृ. २११-२१२)

परीषह से भरी साधना का आह्वान भी :

"परीषह-उपसर्ग के बिना कभी/स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी/त्रैकालिक सत्य है यह !" (पृ. २६६)

चतुर्थ खण्ड में परिपूर्णता को प्राप्त कुम्भ के प्रति अभिव्यक्त विचार द्रष्टव्य हैं :

"कुम्भ के विमल-दर्पण में/सन्त का अवतार हुआ है
और/कुम्भ के निखिल अर्पण में/सन्त का आभार हुआ है।" (पृ. ३५४-३५५)

माटी की महत्ता के प्रति कवि के विचार अवलोकनीय हैं :

- *"माटी स्वर्ण नहीं है/पर/स्वर्ण को उगलती अवश्य।" (पृ. ३६४-३६५)*
- *"हे स्वर्ण-कलश !/एक बार तो मेरा कहना मानो,*
  कृतज्ञ बनो इस जीवन में,/माँ माटी को अमाप मान दो।" (पृ. ३६६)

[सम्पादक- 'जैन प्रकाश' (पाक्षिक), नई दिल्ली, १५ जुलाई, १९९०]



पृष्ठ १००
हमें अपने शील-स्वभाव
से/---- दाग नहीं लगा
पातीं वह।

'मूकमाटी' महाकाव्य की साहित्य-शोध की दिशाएँ

डॉ. जगदीशपाल सिंह

'मूकमाटी' महाकाव्य में कथ्य तथा शिल्प स्तर पर अभिनव प्रयोग हैं। अतः यह सम्पूर्ण महाकाव्य अपनी समूची संरचना, प्रकृति तथा कार्यकारिता में शोधव्य है। 'शोध' शब्द 'शुध्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। शुध् का अर्थ शुद्ध करना है। शोध शुद्धीकरण की प्रक्रिया है। विकृत, मलिन, विस्मृत, अज्ञात तथा अशुद्ध तथ्यों को परिष्कृत तथा परिमार्जित बनाने की सम्पूर्ण प्रक्रिया शोध कहलाती है। 'मूकमाटी' के रचयिता जैन मुनि श्रीयुत् विद्यासागर ने 'मूकमाटी' महाकाव्य के दूसरे सर्ग 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं ' में बोध तथा शोध के अन्तर को निम्नलिखित छन्द में स्पष्ट किया है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फूल ही तो
शोध कहलाता है/बोध में आकुलता पलती है
शोध में निराकुलता फलती है/फूल से नहीं, फल से
तृप्ति का अनुभव होता है,/फल का रक्षण हो
और फल का भक्षण हो;/हाँ ! हाँ !!/फूल में भले ही गन्ध हो
पर, रस कहाँ उसमें!/फल तो रस से भरा होता ही है
साथ-साथ/सुरभि से सुरभित भी ···!" (पृ. १०७)

शोध की वस्तुनिष्ठता को रचनाकार ने निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यंजित किया है :

"अपना ही न अंकन हो/पर का भी मूल्यांकन हो।" (पृ. १४९)

रचनाकार ने निम्नलिखित पंक्तियों में शोध-शैली के स्वरूप का भी संकेत किया है :

"लम्बी, गगन चूमती व्याख्या से/मूल का मूल्य कम होता है
सही मूल्यांकन गुम होता है।" (पृ. १०९)

रचनाकार की दृष्टि में तात्त्विक ज्ञान क्या है, वह निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है :

" 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में
जानना ही सही ज्ञान है।" (पृ. ३७५)

रचनाकार ने उक्त पहले छन्द में बोध और शोध में तात्त्विक अन्तर स्पष्ट किया है। 'बोध' गन्धयुक्त, रस शून्य पुष्प है और 'शोध' रस तथा सुरभि से युक्त फल है। फल में माधुर्य तथा आनन्द दोनों विद्यमान हैं। शोध परिशुद्ध ज्ञानजन्य आनन्द ही तो है। रचनाकार ने बहुत ही सटीक लिखा है–'बोध में आकुलता है और शोध में निराकुलता।' वस्तुतः शोध का प्रथम सोपान बोध है। परिशुद्ध बोध ही शोध बनता है। शोध आत्मतोष को जन्म देता है। ज्ञान को निर्भ्रान्त तथा निर्मल बनाता है शोध।

दूसरे छन्द की पंक्तियों में रचनाकार ने आत्मनिष्ठता को शोध का बाधक तत्त्व माना है। वस्तुतः शोध की समस्त प्रक्रिया तथा पद्धति वस्तुनिष्ठ तथा वैज्ञानिक है। उसमें आत्मनिष्ठता का संस्पर्श स्थान पा ही नहीं सकता।

तथ्य संकलन से लेकर वर्गीकरण-विभाजन, समायोजन-विश्लेषण तथा विवेचन समस्त रचना-विधान में तार्किकता, क्रमबद्धता, प्रामाणिकता, वस्तुनिष्ठता तथा वैज्ञानिकता आदि गुण अनुस्यूत रहते हैं। पृष्ठ १०९ पर तीसरे छन्द की पंक्तियों में शोधी रचनाकार ने स्पष्ट संकेत किया है कि अनुपयुक्त, अनावश्यक तथा अनपेक्षित विश्लेषण-विवेचन से तथ्यगत तत्त्व स्पष्ट नहीं होता बल्कि तथ्यगत सत्य का सही मूल्यांकन तिरोहित हो जाता है। रचनाकार का अभिमत है कि विश्लेषण-विवेचन, संयमित, सन्तुलित तथा सारगर्भित होना चाहिए। अनावश्यक शब्दावली, अनपेक्षित वाक्य-रचना तथा शब्दों के जाल से तथ्यगत सत्य अथवा तत्त्व की रक्षा करनी चाहिए। पृष्ठ ३७५ पर अन्वेषी रचनाकार का अभिमत है कि शोधक को आत्मनिष्ठता तथा वस्तुनिष्ठता के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा खींचनी चाहिए। अर्थात् तथ्यों का प्रकृति तथा प्रत्यय-स्तर पर विश्लेषण करके तथ्यगत तत्त्व को प्रकार्य के आधार पर स्पष्ट करना शोधक का सच्चा दायित्व है।

'मूकमाटी' महाकाव्य का शोध की दृष्टि से मूल्यांकन निम्नलिखित बिन्दुओं पर किया जा सकता है :

१. साहित्य शोध ।
२. साहित्येतर शोध।
३. भाषावैज्ञानिक शोध।
४. भाषेतर शोध।

साहित्य सम्बन्धी शोध को साहित्य रचना के तत्त्वों की दृष्टि से निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :

१. कथा संरचना, प्रयोग तथा प्रकार्य से सम्बन्धित शोध।
२. भाव निरूपण तथा रस-प्रयोग की दृष्टि से सम्बन्धित शोध।
३. वैचारिकता तथा दार्शनिक दृष्टि से सम्बन्धित शोध।
४. भाषा शोध।
५. कला अथवा शिल्प-विधान से सम्बन्धित शोध।

साहित्येतर शोध को साहित्येतर विषय-भेद से निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं :

१. मूकमाटी महाकाव्य का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन।
२. मूकमाटी महाकाव्य का मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन।
३. मूकमाटी महाकाव्य का सांस्कृतिक परिशीलन।
४. मूकमाटी महाकाव्य का राजनीति-वैज्ञानिक अनुशीलन।
५. मूकमाटी महाकाव्य का नीतिशास्त्रीय मूल्यांकन।

भाषा वैज्ञानिक शोध की दृष्टि से मूक माटी पर निम्नांकित प्रकार के शोध कार्य किए जा सकते हैं :

१. मूकमाटी महाकाव्य का ध्वनि-वैज्ञानिक अनुशीलन।
२. मूकमाटी महाकाव्य का शब्द-वैज्ञानिक परिशीलन।
३. मूकमाटी महाकाव्य का पद-वैज्ञानिक मूल्यांकन।
४. मूकमाटी महाकाव्य में प्रयुक्त आधारभूत शब्दावली का वैज्ञानिक अध्ययन।
५. मूकमाटी महाकाव्य में प्रत्यय प्रयोग।
६. मूकमाटी महाकाव्य में परसर्ग-विधान।

७. मूकमाटी महाकाव्य का वाक्य-वैज्ञानिक मूल्यांकन।
८. मूकमाटी महाकाव्य का अर्थ-वैज्ञानिक अनुशीलन।

'मूकमाटी' महाकाव्य पर निम्नांकित प्रकार के भाषेतर शोध कार्य किए जा सकते हैं :

१. मूकमाटी महाकाव्य का समाजभाषा वैज्ञानिक अध्ययन।
२. मूकमाटी महाकाव्य का मनोभाषा वैज्ञानिक मूल्यांकन।
३. मूकमाटी महाकाव्य का राजभाषा वैज्ञानिक मूल्यांकन।
४. मूकमाटी महाकाव्य की आधारभूत शब्दावली का समाजशास्त्रीय अध्ययन।
५. मूकमाटी महाकाव्य का संस्थागत भाषाविज्ञान की दृष्टि से मूल्यांकन ।

इस शोध लेख का प्रतिपाद्य मूकमाटी महाकाव्य का साहित्य की दृष्टि से शोध है। अत: साहित्य के रचना घटकों के प्रयोग, संरचना तथा प्रकार्यों तक ही प्रस्तुत शोध विषय सीमित है। साहित्य रचना के प्रत्येक तत्त्व का अध्ययन पद्धतियों की दृष्टि से निम्नांकित प्रकार से मूल्यांकन अपेक्षित है :

१. वर्णनात्मक पद्धति की दृष्टि से।
२. संरचनात्मक पद्धति की दृष्टि से।
३. तुलनात्मक दृष्टि से।
४. ऐतिहासिक दृष्टि से।
५. प्रायोगिक पद्धति की दृष्टि से।

कथा संरचना, प्रयोग, प्रभाव तथा कार्यकारिता की दृष्टि से 'मूकमाटी' महाकाव्य पर उक्त पद्धतियों की दृष्टि से अनेक शोध कार्य सम्पन्न किए जा सकते हैं। वास्तविकता यह है कि उक्त कृति पर विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा योजनाबद्ध पद्धति से शोध कार्य कराने चाहिए। बुन्देलखण्डी, बांगरू, ब्रज, कौरवी, कन्नौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी तथा मुण्डा भाषा परिवार की भाषाओं, बोलियों, साहित्यिक कृतियों तथा सांस्कृतिक अवदानों के सन्दर्भ में उक्त कृति के शोध मूल्यांकन की नितान्त आवश्यकता है। कथा-प्रयोग की दृष्टि से उक्त काव्य कृति पर निम्नलिखित शोध कार्य सम्पन्न किए जा सकते हैं :

'भारतीय प्रबन्ध काव्यों के कथानकों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' के कथानक का मूल्यांकन'। यह योजनाबद्ध पद्धति का कार्य माना जाएगा। इसके निम्नलिखित योजना विभाग सम्भव होंगे :

'संस्कृत साहित्य के कथा-प्रयोगों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य के कथानक का मूल्यांकन।' यह विषय भी स्वतन्त्र-शोध योजना का विषय माना जाएगा। संस्कृत-साहित्य के प्रत्येक कवि की समस्त रचनाओं अथवा एक-एक कृति के कथा-प्रयोगों के सन्दर्भ में संरचना, तुलना तथा ऐतिहासिकता की दृष्टि से 'मूकमाटी' काव्य के कथानक का अनुशीलन सम्भव है। इसी प्रकार 'प्राकृत साहित्य के कथा-प्रयोगों के सन्दर्भ में मूकमाटी महाकाव्य के कथानक का विभिन्न अध्ययन पद्धतियों की दृष्टि से मूल्यांकन' शोध विषय विस्तृत शोध कार्य योजना का विषय है। प्राकृत साहित्य भेद से इस बृहद् योजना के निम्नलिखित उपविभाग सम्भव हैं :

१. महाराष्ट्री प्राकृत साहित्य के कथा-प्रयोगों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य के कथा-प्रयोगों का अध्ययन।
२. शौरसेनी प्राकृत साहित्य के कथा-प्रयोगों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य के कथा-प्रयोगों का परिशीलन।
३. मागधी प्राकृत साहित्य के कथानकों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य के कथानक का मूल्यांकन।

४. अर्द्धमागधी प्राकृत साहित्य के कथानकों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्यों के कथानक का अनुशीलन।

५. पैशाची प्राकृत साहित्य के कथा-प्रयोगों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य के कथा प्रयोगों का अनुशीलन। उक्त शोध योजनागत विषय एक ही रचनाकार की समस्त तथा एकल काव्य कृतियों के सन्दर्भ में विभिन्न अध्ययन पद्धतियों की दृष्टि से सम्पन्न कराए तथा किए जा सकते हैं।

प्राकृत साहित्य की तरह 'अपभ्रंश साहित्य के (उक्त भेदों के) सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य के कथानक का मूल्यांकन' किया जा सकता है। इसी प्रकार 'हिन्दी तथा उसकी जनपदीय बोलियों में विरचित काव्य-कृतियों के कथा-प्रयोगों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य के कथा-प्रयोगों का विवेचन' उक्त अध्ययन पद्धतियों की दृष्टि से किया जा सकता है।

हिन्दी साहित्य की तरह 'भारत की विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों में विरचित साहित्य के कथा-प्रयोगों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य के कथा-प्रयोगों का मूल्यांकन' किया जा सकता है।

काव्य रूपों की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' महाकाव्य का मूल्यांकन सम्भव है। भारतीय काव्य-रूपों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य के रूप का निर्धारण' यह भी शोध योजना का विषय हो सकता है।

रस प्रयोग, प्रक्रिया तथा प्रभाव की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' महाकाव्य का शोधस्तरीय मूल्यांकन किया जा सकता है। रचनाकार ने 'मूकमाटी' महाकाव्य में नवरसों का तात्त्विक विवेचन किया है। प्रभाव तथा लोकहित की दृष्टि से रचनाकार ने शान्त रस को श्रेष्ठतम स्वीकार किया है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में अंगीरस के रूप में लोकरस, प्रकृति रस तथा शान्त रस स्वीकारे जा सकते हैं। भारतीय तथा भारतीयेतर साहित्य में इस प्रयोग के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' महाकाव्य की रस-योजना का अध्ययन की विभिन्न पद्धतियों की दृष्टि से मूल्यांकन किया जा सकता है।

विचार तत्त्व अथवा दर्शन की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' महाकाव्य का शोधस्तरीय मूल्यांकन सम्भव है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में सामाजिकता, 'मूकमाटी' महाकाव्य में दार्शनिकता, 'मूकमाटी' महाकाव्य में राजनीति तत्त्व, 'मूकमाटी' महाकाव्य में नीति तत्त्व, 'मूकमाटी' महाकाव्य में परम्परा तथा आधुनिकता आदि अनेक शोध विषय सम्भव हैं। रचनाकार ने आतंकवाद, अलगाववाद, भौतिकतावाद, कूटनीति तथा अन्तरिक्ष युद्ध आदि को मानव जाति के लिए घातक माना है। अतः 'मूकमाटी' महाकाव्य में जीवन-मूल्य शोध विषय पर भी कार्य किया जा सकता है। भाषा शोध की दृष्टि से उक्त काव्यकृति का शब्द प्रयोगों की दृष्टि से, भाव-विचार तथा भाषा सन्तुलन की दृष्टि से भी उक्त मूल्यांकन किया जा सकता है। ध्वनि प्रयोग शब्द रचना, पद-रचना, वाक्य-विन्यास तथा आर्थी प्रयोग के अतिरिक्त शब्दकोशीय तथा शैली वैज्ञानिक आदि दृष्टियों से भी उक्त महाकाव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। उक्त काव्यकृति कव्य प्रयोग की दृष्टि से ही मौलिक नहीं है अपितु अभिनव अर्थबोधक भाषिक प्रयोगों की दृष्टि से भी सर्वथा नवीन तथा मौलिक है।

कला तत्त्व की दृष्टि से उक्त रचना का शोधस्तरीय मूल्यांकन निम्नांकित रूप में सम्भव है :

१. उपमान-प्रयोग की दृष्टि से।

२. बिम्ब-विधान की दृष्टि से।

३. प्रतीक-विधान की दृष्टि से।

४. छन्द-विधान की दृष्टि से।

आचार्य मुनि विद्यासागर चिन्तन, मनन तथा कल्पना– सभी स्तरों पर अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्होंने इस महाकाव्य में परम्परागत उपमानों का कम अपितु नए उपमानों का प्रयोग अधिक किया है। जीवन के सभी क्षेत्रों तथा

पक्षों से उन्होंने उपमान चुने हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से उनके उपमान-चयन की प्रक्रिया को समझा जा सकता है :

- *"तन का बल वह/कण-सा रहता है/और*
  मन का बल वह/मन-सा-रहता है।" (पृ. ९६)
- *"शान्त, रस है/ नदी की भाँति !" (पृ. १५५)*
- *"पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी*
  गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे।" (पृ. २००)

उपर्युक्त तीनों छन्दों में अभिनव उपमान प्रयुक्त हुए हैं। अतः 'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रस्तुत बिम्बों तथा प्रतीकों का अध्ययन की समस्त पद्धतियों की दृष्टि से मूल्यांकन किया जा सकता है।

बिम्ब तथा प्रतीक लोकजीवन से अधिक चुने गए हैं। अतः 'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रयुक्त बिम्बों तथा प्रतीकों का अध्ययन की समस्त पद्धतियों की दृष्टि से मूल्यांकन किया जा सकता है।

रचनाकार ने 'मूकमाटी' महाकाव्य में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। प्रत्येक छन्द भावों तथा विचारों को सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। छन्द कहीं भी, किसी भी स्तर पर भावों तथा विचारों के प्रवाह में बाधक नहीं हैं। एक ही सर्ग में अनेक प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं। परम्परागत छन्दों के अतिरिक्त अभिनव छन्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं। 'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रयुक्त छन्दों का मूल्यांकन अध्ययन की विभिन्न पद्धतियों की दृष्टि से किया जा सकता है। यह मूल्यांकन भी भारतीय तथा भारतीयेतर साहित्य के छन्द-विधान के सन्दर्भ में भी सम्भव है।



पृष्ठ ५३
बीज का वपन किया है...
.....उस पकी फसल को

'मूकमाटी' और उसके सर्जक आचार्यश्री विद्यासागरजी

मोहन शशि

प्रातःस्मरणीय यशस्वी सन्त, तपःपूत आचार्यश्री विद्यासागर महाराज और उनकी महान् कृति 'मूकमाटी' को शत-शत नमन करता हूँ। महाराजश्री का सान्निध्य-सुख-सौभाग्य प्राप्त करने के मुझे अनेक सुअवसर उपलब्ध हुए हैं। उनके ही श्रीमुख से उनकी अमूल्य रचनाओं को सुनने तथा अपनी रचनाएँ उनके श्रीचरणों में अर्पित करने के स्वर्गिक आनन्द की अनुभूति के क्षण भी मुझे प्राप्त हुए हैं। किन्तु, मैं अति विनम्रता के साथ यह स्पष्ट कह दूँ कि महाराजश्री को समझ पाना मेरी सामर्थ्य के परे है। और जब मैं उन्हें ही नहीं समझ सका तब दो-चार बार पढ़कर उनकी महान् कृति 'मूकमाटी' को समझ लूँ, यह तो कतई सम्भव नहीं। किसी लोक कवि ने कहा है :

"माटी उढ़ौना, माटी बिछौना, माटी में मिल जाना...
एक दिन राम घरे सब जाना।"

ऐसा नहीं है कि हम इस शरीर की गति नहीं जानते। हम में से एक-एक यह जानता है :

"आया है सो जाएगा, राजा, रंक, फकीर।"

फिर भी काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत हम कौन-सी तस्वीर प्रस्तुत कर रहे हैं ? सब कुछ जानकर अनजान बने हुए हैं :

"माटी के पुतले.../काहे को बिसारा हरि नाम !"

ऋषि, मुनियों, गुरुजनों, सन्त-महात्माओं, विद्वज्जनों ने कितनी बार खोले हैं हमारी ज्ञानेन्द्रियों के पट, किन्तु हर बार वही--ढाक के तीन पात। दिशादर्शन करने वालों की सराहना करते हम नहीं अघाते, लेकिन उस दिशा में अध्ययन, मनन, चिन्तन की अपेक्षा, पुनः 'मैं और मेरा' के घेरे में कामकाज, कारोबार में लग जाते हैं। जब तक जीवन है, तब तक काम है, मुक्ति नहीं। तारीफ़ तो तब है कि जब काम करते हुए भी, मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने का समय निकाला जाए। यही सन्देश देती है 'मूकमाटी', और यही सार भी है 'मूकमाटी' का।

"सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय।"

कन्नड़भाषा के माध्यम से हाईस्कूल तक की शिक्षा प्राप्त करने वाले महाराज श्री विद्यासागरजी हिन्दी रचनाधर्मिता के ऐसे चतुर चितेरे हैं कि किसी परिपाटी में उन्हें घेरा नहीं जा सकता। बात सिर्फ हिन्दी की ही क्या, संस्कृत और अँग्रेजी आदि में भी उनकी शानी नहीं।

ऐसा शब्द चमत्कार दिखलाया है महाराजश्री ने कि जिसे शब्द की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। मूकमाटी जैसे विषय पर महाकाव्य कोई साधारण नहीं, अपितु अ-साधारण बात है। मैं पुनः इसी निष्कर्ष पर पहुँचने पर बाध्य हूँ कि पद दलित, व्यथित, लाचार माटी की तरह इस तन पर ध्यान दें जो एक दिन माटी हो जाना है, माटी में मिल जाना है। और इसी भावना के साथ 'मूकमाटी' का एक-एक अक्षर, एक-एक शब्द, एक-एक पंक्ति नए सिरे से फिर पढ़ें। मुझे विश्वास है कि उसके सन्देश को आप ग्रहण कर पाएँगे। कर्मबद्ध आत्मा का विशुद्धि की ओर अग्रसर होकर मंजिल की प्राप्ति के लिए मुक्ति यात्रा का रूपक है 'मूकमाटी'।

कुम्भकार, माटी की विकास-कथा, सागर, बड़वानल, घन आदि के प्रलयंकर दृश्यों के माध्यम से काव्य-महारथी महाराजश्री ने अपनी दार्शनिक आत्मा का वशीकरणी-संगीत हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। कहा जाता है कि 'मानो तो देव, नहीं तो पत्थर'। 'मूकमाटी' मुझे यह कहने को विवश कर रही है कि 'पढ़ो और गहरे डूबो तो अमूल्य धरोहर, वरना बस एक पुस्तक'। रख लीजिए शो-केस में और कर लीजिए शौक पूरा।

'मूकमाटी' की भूमिका स्वरूप 'प्रस्तवन' में लक्ष्मीचन्द्र जैन ने कहा है : "गुरु तो प्रवचन ही दे सकते हैं, 'वचन' नहीं।" आत्मा का उद्धार तो अपने ही पुरुषार्थ से हो सकता है। और अविनश्वर सुख वचनों से बताया नहीं जा सकता। वह तो साधना से प्राप्त आत्मोपलब्धि है। खण्ड चार 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' का केनवास तो अति विशाल है। "इधर धरती का दिल/दहल उठा, हिल उठा है" (पृ.२६९) से प्रारम्भ कर इस चतुर्थ खण्ड का अन्त हुआ है :

"...इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंज़िल पर !/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···
और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी।" (पृ. ४८८)

'मूकमाटी' के शब्द शिल्प, जीवन दर्शन, अनेकान्त दृष्टि से समझने की सामर्थ्य, शब्दालंकार, अर्थालंकार, अर्थ के अछूते और अनूठे आयाम, कविता का अन्तरंग स्वरूप, साहित्य के आधारभूत सिद्धान्तों का दिग्दर्शन, नव रसों का प्रतिपादन, तत्त्व दर्शन, आहार-दान सहित अनेक प्रक्रियाएँ, तत्त्व-चिन्तन, लौकिक एवं पारलौकिक जिज्ञासाओं तथा अन्वेषणों की अमर धरोहर, सामाजिक दायित्वबोध, काव्य की मर्यादा एवं गरिमा, मन्त्र एवं विद्या की आधारभित्ति, अंकों तथा बीजाक्षरों का चमत्कार, आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र, अध्यात्म का सागर आदि होने से क्या कुछ नहीं है इसमें ! मेरे जैसा अबोध सहज ही तो नहीं समझ सकता 'मूकमाटी' को।

आचार्यश्री विद्यासागरजी को विनत प्रणाम निवेदित कर अपने कथन की इति इन पंक्तियों के साथ करता हूँ :

'मूकमाटी' की किरणें

पद-दलित मूकमाटी पर मोहक महाकाव्य,
हे महासन्त ! यह मात्र तुम्हीं गुन सकते हो।
आपाधापी, जंजाल, विकट विद्रूपताएँ
दुख के ये सप्तक तार, तुम्हीं सुन सकते हो।।१।।

उपलब्धि अनोखी है यह कविता कानन की,
तप, त्याग और चिन्तन की यह रस धारा है।
आयाम नए, नूतन शैली में, नया सृजन,
मन्दिर है यह, मस्जिद है औ' गुरुद्वारा है।।२।।

है मुक्त-छन्द में, अलंकार, रस रोचकता,
अध्यात्म और दर्शन का यह तो है सागर।

जो पढ़े और पा जाए इसका महा-मर्म,
निश्चित मानों, जागेगी उसमें करुणाकर ॥३॥

करुणा होती साकार, मुखर होता चिन्तन,
शब्दों के नए अर्थ नर्तित हो जाते हैं।
अरे ! अनेकान्त और दर्शन के आयाम नवल,
मानस पर पड़े कलुष सारे धो जाते हैं ॥४॥

चिन्तन, चरित्र, निर्वाण और मन-मन्थन के,
हर द्वार खोलने आए श्री विद्यासागर।
मानो तो देव, नहीं तो पत्थर है पत्थर,
भवसागर पार लगाते श्री विद्यासागर ॥५॥

खुद की खातिर तो हम-तुम-सब जी लेते हैं,
यह महासन्त, जनरंजन खातिर जीता है।
मानव मन पर हो गई 'मूकमाटी' चन्दन,
गहरे डूबो तो कलियुग की यह गीता है ॥६॥

अर्थान्वेषणी दृष्टि जरा डालो तो तुम,
विश्लेषण करके भावबोध पहचानो तो।
दायित्वबोध यह महासृजन करवाता है,
यह महावीर वरदान, इसे तुम जानो तो ॥७॥

इसका अध्ययन तो तीरथ का फलदायक है,
अनुशीलन है, भवसागर पार लगे नैया।
कलियुग के दर्दों की है दवा 'मूकमाटी',
मानों तो देव, नहीं तो पत्थर है भैया ॥८॥

प्रासंगिक, अनुषंगिक, बहुतेरे चमत्कार,
बीजाक्षर, मन्त्र, अंक, हर छटा निराली है।
'स्टार वार' तक पहुँची कवि की दिव्य दृष्टि,
कविता के समीप व्यंजनों-मय, यह थाली है ॥९॥

अद्भुत सुख और सन्तोष मिलेगा अध्ययन से,
इसको पढ़कर तुम मर्म, धर्म के जानोगे।
'शशि' के मन में विश्वास जगा है आज सखे !
तुम, सार 'मूकमाटी' का, खुद पहचानोगे ॥१०॥

सौभाग्य मान, मानव अपना सौभाग्य मान,
जो तुझे तारने, हाथों में यह ठहरी है।
यह ज्ञान, ध्यान की गंगा परम सुहानी है,
हिमगिरि से ऊँची, सागर से भी गहरी है ॥११॥

मैं बुद्धिहीन, बलहीन और सामर्थ्यहीन,
कृति की करना पहचान मुझे तो दुष्कर है।
आचार्यश्री हे विद्यासागर ! स्वीकारो,
हे प्रभो ! आपके श्री-चरणों, नत यह सर है ॥१२॥

'मूकमाटी' मथती है मनसा-वाचा-कर्मणा,
जीने की दिशाएँ नई हमें दिखलाती है।
मन के सितार के, ये तार झनझनाती सखे !,
पृष्ठ-पृष्ठ पूज्य सन्त विद्यासागर लाती है ॥१३॥

'मूकमाटी' बैठ जात, माथ में तो सुनो तात !
दर्शन के हाथ, जगन्नाथ ये कराती है।
कभी भी नहीं अकेली भावभूमि की सहेली,
चावल सुदामा के कन्हैया को खिलाती है ॥१४॥

सुनो··· / सुनो मेरे मीत, / 'मूकमाटी'
महान् दार्शनिक सन्त / आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज
का है / अमर जीवन संगीत।

'मूकमाटी' को / सिर्फ देखो मत
इसे / अन्तर के पट खोलकर / लगन-निष्ठा एवं
ईमानदारी से बाँचो / न सही जन-मंगल
न सही लोक-मंगल / स्वयं के हित में नाचो।

जिस दिन / 'मूकमाटी' का / सही-सही अर्थ
आपकी समझ में आ जाएगा, / उस दिन / आपका
तन-मन-जीवन / विद्यासागर हो जाएगा।

ओ 'मूकमाटी' को / लपक कर खरीदने वालो
काँच के शो-केस में / ड्राइंग रूमों में सजाने वालो!
इससे पहले / कि / तुम्हें बेनक़ाब किया जाए
अपनी कैद से / मुक्त कर दो 'मूकमाटी'···
तुम्हारी आलमारियों में / इस अमर कृति को देख
फटती है छाती / फटती है छाती।

स्वयं नहीं पढ़ सकते/तो/इतना उपकार कीजिए
जो खरीद नहीं सकते/किन्तु पढ़ सकते हैं
उन्हें पढ़ने दे दीजिए।

आज नहीं तो कल/कल नहीं तो परसों
या/बीत जाएँ बरसों/एक न एक दिन
मेरी यह बात/करना पड़ेगी स्वीकार,
कि/'मूकमाटी' के/अध्ययन-मनन-चिन्तन
और दिशादर्शन में/निहित है उद्धार।

गागर में/सागर है 'मूकमाटी'
बँधी नहीं/छुपी नहीं/दबी नहीं
उजागर है 'मूकमाटी'।

प्रदूषण से भरे/जहरीले वातावरण में
चातक से/चीत्कार करते/विचरण करने वालो!
भटको मत/यह अमृत कलश उठा लो।

इसे पढ़ो और पढ़ाओ/णमोकार मन्त्र/अथवा
रामायण की तरह/समझो औ' समझाओ
आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने
जन-हित में/जो/सहज समर्पित कर दिया।

अमूल्य चमत्कारी/साहित्य-दर्शन–
चिन्तन-अध्यात्म आदि से सराबोर
'मूकमाटी' में/जिस दिन गहरे उतर जाओगे,
मेरा दावा है/उस दिन/कैसी भी भीड़ में
अलग ही नज़र आओगे/कैसी भी भीड़ में
अलग ही नज़र आओगे!

□

'मूकमाटी' : आधुनिक साहित्य को नया मोड़ देने वाला काव्य

पं. भरत चक्रवर्ती जैन शास्त्री

अनादि-अनन्त कालचक्र से भ्रमित इस पंचम काल में सन्मार्गोपदेशक खद्योत के समान यत्र-तत्र नयनगोचर होते हैं। इनमें आत्मसाधनारत, त्यागी, नग्न मुद्रा मुद्रित दिगम्बर साधु अत्यन्त विरले हैं, क्योंकि दिगम्बर साधु का यम-नियम-संयम हर व्यक्ति के लिए सुलभ नहीं है। दिगम्बरत्व का पात्र वे ही हो सकते हैं जिनके अन्तरंग में मोह-राग और मूर्च्छा आदि का यथायोग्य अभाव हुआ हो।

आत्मसाधनारत साधु-महात्मा लोग अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय जन-कल्याण हेतु समय-समय पर अपूर्व काव्य रचनाओं द्वारा देते आए हैं। इसी शृंखला में 'मूकमाटी' के रचयिता बालयोगी स्वनामधन्य आचार्यश्री विद्यासागरजी हैं।

शरीराश्रित इन्द्रियभोग एवं कषायवर्धक घटनाओं से पूरित वर्णन को ही काव्य के नाम से सामान्य जनता जानती आई है। परन्तु आचार्यश्री की अध्यात्म रसपूर्ण इस रचना ने पूर्वोक्त मान्यता पर कुठाराघात कर दिया है। साथ ही आधुनिक साहित्य के लिए एक नया मोड़ प्रदर्शित कर महान् उपकार किया है। आखिर भावना की अभिव्यक्ति ही तो काव्य है।

चार खण्डों में विभक्त 'मूकमाटी' ग्रन्थ में कहीं अध्यात्म है तो कहीं निमित्त-उपादान; कहीं निश्चय-व्यवहार; कहीं दान-दाता-पात्र-विधि; कहीं ध्यान-ध्येय-ध्याता तो कहीं आपा-पराया आदि अनेक सिद्धान्तों को सरल, सुबोध एवं जनसाधारण के परिचित उदाहरणों से स्पष्ट किया है। अतः सबका अभिमत उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं, अन्यथा एक लघु ग्रन्थ बनने की आशंका है। इसलिए मैं कुछ-एक उदाहरणों से ही अपना अभिमत लिखना उचित समझता हूँ :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं/अनगिन सम्भावनायें
उत्थान-पतन की,/खसखस के दाने-सा/बहुत छोटा होता है
बड़ का बीज वह !/समुचित क्षेत्र में उसका वपन हो/समयोचित खाद, हवा, जल
उसे मिलें/अंकुरित हो, हो कुछ ही दिनों में/विशाल काय धारण कर
वट के रूप में अवतार लेता है,/यही इसकी महत्ता है।" (पृ.७)

जैसे अत्यन्त छोटा वट का बीज समुचित क्षेत्र, काल आदि बाह्य साधनों को पाकर राजा की चतुरंग सेना के विश्राम योग्य बृहत् काय वृक्ष बन जाता है, वैसे ही क्षुद्र शरीरवाला जीव भी योग्य साधनों को पाकर महान् बन सकता है। अतः किसी भी जीव को उसकी वर्तमान पर्याय की दृष्टि से न देखकर द्रव्य दृष्टि से उसकी अनन्त शक्ति को देखा करो। आशय यह है कि आचार्यश्री यहाँ हमें पर्याय दृष्टि को गौण कर द्रव्य दृष्टि से वस्तु के स्वभावभूत अनन्त शक्ति की ओर आकृष्ट करते हैं।

पर्वत की तलहटी से देखने पर उत्तुंग शिखर का दर्शन हो जाता है लेकिन शिखर का स्पर्श करना तो बिना चरणों के प्रयोग के सम्भव नहीं है। इसी प्रकार भव्य जीव का गन्तव्य स्थान स्व-स्वरूप में समा जाना ही है। स्व-स्वरूप में समा जाने के लिए संयम रूप पद (चरण) प्रयोग अवश्यंभावी है। जन रंजायमान, गगनचुम्बी तत्त्व निरूपण करने वालों को भी संयमारूढ़ हुए बिना इष्टार्थ मृग-मरीचिका के समान है। मिट्टी भी अपनी अनन्त पर्याय रूप पद-प्रयोग द्वारा ही कलश रूप पर्याय को प्राप्त हुई है। निम्न पद्यांश का सार यही है कि कथनी का महत्त्व करनी पर ही निर्भर है :

"पर्वत की तलहटी से भी/हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का
दर्शन होता है,/परन्तु/चरणों का प्रयोग किये बिना

शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है !" (पृ. १०)

आजकल प्राय: सभी 'पर' का मार्गदर्शक बनना चाहते हैं किन्तु स्वयं को पथ दिखता नहीं,क्योंकि वे पथ पर चलना नहीं चाहते। बुलन्द आवाज़ से तत्त्व-विवेचन करने पर भी 'चिराग-तले अँधेरा' कहावत के अनुसार स्वयं गुमराह हो रहे हैं। इसीलिए आचार्यश्री का कहना है कि पहले कथन को कार्य रूप देकर स्वयं को आदर्श बनाओ, वरना तुम्हारे कथन का कोई सार नहीं निकलेगा :

"आज पथ दिखाने वालों को/पथ दिख नहीं रहा है, माँ !
कारण विदित ही है—/जिसे पथ दिखाया जा रहा है
वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,/औरों को चलाना चाहता है
और/इन चालाक चालकों की संख्या अनगिन है।" (पृ. १५२)

कुम्भकार ने खाली बालटी को कूप में उतारा। तब वहाँ के मछली आदि जीव-जन्तु आशा के साथ उसकी ओर देखने लगे। बालटी ज्यों-ज्यों नीचे उतरती गई, त्यों-त्यों प्राणी निराश हो प्राण-रक्षा हेतु भाग कर छिप गए। इसी प्रकार आत्मा जब अपनी बाह्य दृष्टि को समेट कर अपने में उतरने लगी तो कुछ क्षण के लिए जलचर जीवों के जैसे टकटकी निगाह से अपनी पुष्टि के हेतु विषय-कषाय भी उत्साह से देखने लगे। परन्तु आत्मा अपने सहज सिद्ध शान्त रस में निमग्न हो अपने में समा जाने लगी तो वे विषय-कषाय भी अशरण जानकर भागने लगे अर्थात् विषय-कषाय का अभाव होता गया। यह पद्यांश केवल वचन जाल नहीं है, अध्यात्मवादी के लिए यह समय-सार है :

"मछली की शान्त आँखें/ऊपर देखती हैं।/उतरता हुआ यान-सा दिखा,
लिखा हुआ था उस पर/"धम्मो दया-विसुद्धो"/तथा
"धम्मं सरणं गच्छामि"/ज्यों-ज्यों कूप में/उतरती गई बालटी
त्यों-त्यों नीचे,/नीर की गहराई में/झट-पट चले जाते
प्राण-रक्षण हेतु/मण्डूक आदिक अनगिन/जलीय-जन्तु।" (पृ. ७०)

दो व्यक्तियों में से एक भोग में लिप्त है तो दूसरा ध्यान में मग्न है। दोनों कुछ क्षण बाद संकल्प-विकल्प से मुक्त होते हैं पर भोगी शव के समान हो जाता है तो ध्यानी शिव के समान। योगी के सामने भोगी अवांछनीय ठहरता है। कारण, भोगी का ज्ञान अस्वस्थ है तथा योगी का ज्ञान स्वस्थ है। स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है। इसे पाना ही जीवन का लक्ष्य है। इस उदाहरण से आचार्यश्री ने अध्यात्मशास्त्रों का सार निकाल कर रख दिया है। अन्तर्मुखी योगी चिदात्मा का दर्शन कर आनन्द विभोर होता है :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं—
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;
और एक/योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।
कुछ ही क्षणों में/दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।
फिर क्या कहना !/एक शव के समान/निरा पड़ा है,/और एक
शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)

इस प्रसंग को ' मूकमाटी' ग्रन्थ का सिरमौर कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। अलं विस्तरेण !



MOOKMATI : An Eminent Epic for Seeker of Truth

Manak Chandra Chhabra

'MOOKMATI' is the Hindi Epic composed and invented for the variations of the utility of the soil for its indifference potentiality and perfectness upto the highest peak of climax in defining its qualities by the great dignified personality and angel known as Digamber Jain saint and sage Acharya Sri Vidyasagarji, a Philosopher Poet, a preacher and eminent spiritual devotee engaged in devotion for seeking salvation of the present era for the betterment of human kind and seeker of Reality and Truth.

It is the universal law that man is respected by his own virtue, deeds, action and meritorious activities for the noble cause. As such I have to write Hon'ble and respected Acharya Sri Vidyasagarji has prooved all this by his practical life and has put before the world the various aspect of the soil, in various stages and its mode of implications from every angle of version, vision and qualities in the great Epic 'MOOKMATI' with golden words of idioms, poems, poetry with proverbial addition for the learning of man-kind by the media of indifference soil.

The Great Epic 'MOOKMATI' grouped under the various heads of marvellous topic taking into consideration the utility of the soil and its reflection on the life of man-kind to mould and divert to achieve the blissful journey of life. It (The Great Epic 'MOOKMATI') consists of sloaks, chhand and talented sayings and proverbs curved into lyric and poetry by the Acharya Sri Vidyasagarji. With the vivid topics more connected with life, Philosophy, Spiritual, ethical and National awakening of human being, it added another link of golden chains to the great scriptures of Indian heritage and philosophy.

In nut-shell it may broadly be mentioned with humbleness for the great ocean of wisdom filled in the great Epic 'MOOKMATI' that it appropriately deals and narrates the theories connected with the deliverance and achievement of the highest stage of life, literature and philosophy.

Theory of consciousness, culture, heritage and scientific clarification, Theory of creation, Theory of substance, Theory of path of knowledge, Theory of resurrection are the combination of all branches of knowledge and unique in its loftyness, modesty and version.

The said Great Epic 'MOOKMATI' can be compared without any motivation but with justification in clear sense with other Epics and will stand to the top of its credit. Several brilliant Scholars, eminent Writers and worthy Academicians have written their valuable thesis on this Great Epic - 'MOOKMATI' and deserves for appreciations, thanks and worthy recognitions.

It is also worth to mention that respected saint and sage Acharya Vidyasagarji has no time to write such great epic due to his religious dutles of routine life, like meditation, teaching to desciples and to deliver his holy message to the seeker of Truth and peace. More-over in night his holiness Acharya Sri Vidyasagarji doesnot use the light or any worldly things of ease but most of the time devotes in divine duties, divine prayers, meditation and concentrate on the consciousness of soul. Despite all this, with shortage of time how His Holiness utilises his time and courageously has written with keen spirit and speed his valuable thoughts, imaginations, in the splendid way which reflected in the great valuable 'MOOKMATI'.

Un-doubtedly the great Epic 'MOOKMATI' is the precious stone of Indian culture shaped with the diamonds and pearls, and reflected as a mirror for those prudent scholars who loves literatures and have the faith in Indian culture and philosopy.

MOOKMATI is a soul stirring poetry of multicoloured splendour with vast range of thoughts and emotions appropriately for its glorious writings, ocean of Wisdom and ample knowledge of emancipation and metaphysics.

If MOOKMATI is thoroughly grasped and its preachings are practised in daily life then Humanity can gain safty, security, perfect knowledge of world and worldly affairs, achievement of bliss and eternal goal of emancipation (NIRWAN) through the spiritual renaissance based on the principles of this Great Epic.

□



A Critique on MOOKMATI

Prof. Uttam Chand Jain 'Premi'

Rev. Jain Saint Vidyasagar's epic 'MOOKMATI' is a unique contribution to occultism and metaphysical poetry. He falls in line with Mahatma Valmiki, Saint Kabir, Jinsen, Mahatma Tulsidas. This poetic epic reveals the spiritual glory of life. It dwells upon the path that can lead a human being to the acme of perfection. This book enshrines the truth of life and the universe. It can lead the inspired readers from the darkness of ignorance to the eternal light of supreme truth. The whole epic is interspired with aphorisms which stick to the readers.

The talented poet has made soil (Mati) a simple, downtrodden tormented and insignificant material, the subject matter of his epic. He has given vent to its silent agony and its ardent desire for emancipation in a dramatic way. In the first chapter the saint hints at the truth of life and points out that the essence of life is progress :

" बहना ही जीवन है।"(पृ. २)

A true aspirant does not look behind. He always looks ahead :

" पथ पर चलता है/सत्पथ-पथिक वह
मुड़कर नहीं देखता/तन से भी, मन से भी।"(पृ.३)

In the dialogues between the Earth and the Soil it is revealed that the potentialities of life are infinite but suitable environment and constant endeavours are required to attain the heights of development, The Earth Says to the Soil :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनायें/उत्थान-पतन की।" (पृ. ७)

The influence of association plays an important role in moulding the shape and quality of a thing. He says :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है
मति जैसी, अग्रिम गति/मिलती जाती···मिलती जाती···।" (पृ. ८)

Moreover, sterling faith in oneself is the bedrock of devotion (Sadhana) as the poet remarks :

"आस्था के तारों पर ही/साधना की अँगुलियाँ/चलती हैं साधक की।"(पृ. ९)

At the same time one should never suffer from inferiority complex. Selfconfidence is the aerodrome where the upward flight of the soul commences. The poet is aware of the realities of life, the journey of which is beset with many hindrances and pitfalls. He inspires the aspirant with the remark :

"आयास से डरना नहीं / आलस्य करना नहीं ! / कभी कभी
साधना के समय / ऐसी भी घाटियाँ / आ सकती हैं...।" (पृ.११-१२)

The poet emphasizes the path of moderation and tolerance and says :

"प्रतिकार की पारणा / छोड़नी होगी, बेटा !
अतिचार की धारणा / तोड़नी होगी, बेटा !" (पृ. १२)

The Earth says to the Soil that the path leading to the heights of glory and greatness is not smooth, hence, an aspirant should be industrious, self-disciplined and self-confident. To such a person every obstacle proves an impetus for further progress. The Earth adds :

"किसी कार्य को सम्पन्न करते समय
अनुकूलता की प्रतीक्षा करना / सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)

In the modern materialistic world few persons have time to think or to talk about self-realisation or about the omnipotence of Soul or about the creativity of Soul. The Earth says to Soil :

"चेतन की इस / सृजन-शीलता का / भान किसे है ?
चेतन की इस / द्रवण-शीलता का / ज्ञान किसे है ?
इसकी चर्चा भी / कौन करता है रुचि से ?" (पृ. १६)

Besides, without total self-surrender to the maker (the Supreme Power) salvation cannot be attained. Self-surrender may be defined as the substitution of the Divine will for the human will. The moment the aspirant surrenders to the will of the Supreme Power (here Potter), his actions turn into an inspired and involuntary flow from the Divine, Shakti or Divine will. The Soil is enjoined upon to surrender to the Potter :

"समर्पण-भाव-समेत / उसके सुखद चरणों में
प्रणिपात करना है तुम्हें।" (पृ. १७)

The book 'Mookmati' is the voice of silence, the voice of the saint poet's sublime conscience. It can illumine the path of the true aspirant engaged in search of the supreme truth. The person whose behaviour is inspired by equal vision and harmony attains freedom from vices as the poet remarks :

"विचारों के ऐक्य से / आचारों के साम्य से
सम्प्रेषण में / निखार आता है !" (पृ. २२)

Then the poet throws light on the secret of happiness. True happiness comes from within not from without hence man should be introvert. He should try to realise his inherent powers. To an introvert this ephemeral world appears insignificant. He cares little for the sufferings and turmoils of the world. He knows that happiness emanates from the culmination of sufferings, as

the poet puts :

"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है।" (पृ. ३३)

Then the poet remarks that the person who is taken to sensual pleasures, is engaged in them, e.g.

"विषयी सदा/विषय-कषायों को ही बनाता/अपना विषय।" (पृ. ३७)

But only true knowledge of the science of existence can emancipate man from the mesh of illusion (Maya). The quality of mercy is the gist of this knowledge as the poet says :

"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ. ३७)

Moreover, mercy is a quality that beautifies the giver as well as the receiver of mercy. The Saint poet adds that involvement in passions ends in blind attachment while the expansion of the quality of mercy leads one to salvation. The former is horrible as it nips and ruins mans life while the latter revives and glorifies life. Passions make man blind to morality, on the contrary, mercy enlightens man's heart and elevates man above caste, colour and creed :

- *"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३८)*
- *"वासना की जीवन-परिधि/अचेतन है···तन है*
  दया-करुणा निरवधि है/करुणा का केन्द्र वह
  संवेदन-धर्मा···चेतन है/पीयूष का केतन है।" (पृ. ३९)

Then the poet dwells upon the glories of life in an Ashrama. At an Ashrama man's life is not only maintained but created and sublimated. Here disciples rise above the common plane of life. Here dejected persons receive inspiration, strength and rejuvenation. An Ashrama (the abode of saints and sages) is a source of the gems of wisdom for all whether he is a warrior or a farmer, a scholar or an aspirant, e.g.

"संस्कारार्थी वे/परामर्श पा जाते हैं, यहाँ पर।/असि और मषि को भी
कृषि और ऋषि को भी/कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं।" (पृ. ४२)

The dialogue of the pebbles (कंकर) and the Potter are very inspiring. The poet has keen insight into the realities of life and the nature of things. He points out that adjustment is the law of a harmonious life. It is the key to co-existence. The saint says :

"जिसे अपनाया है/उसे/जिसने अपनाया है/उसके अनुरूप
अपने गुण-धर्म—/···रूप-स्वरूप को/परिवर्तित करना होगा।" (पृ.४७)

Only similarity in appearance is not the criteria of similarity in qualities. For example the milk of the cow and that of 'Aak'— *Calotropis Gigantea/calotropis procera (Swallow-Wort)* plant are similar in colour but totally different in qualities, hence man should not go by appearances

alone (page 48). Then the Potter says to Pebbles that it is a pity that their entity or individuality could not be merged in that of the soil inspite of such a close association. Really stone-hearted persons do not melt with pity even at the sight of grim sufferings :

"पाषाण-हृदय अवश्य है तुम्हारा,/दूसरों का दु:ख-दर्द/देखकर भी
नहीं आ सकता कभी/जिसे पसीना/है ऐसा तुम्हारा/···सीना !" (पृ. ५०)

The following lines enshrine the philosophy of Jainism :

"लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।
अपार सागर का पार/पा जाती है नाव/हो उसमें/छेद का अभाव भर !" (पृ. ५१)

These lines imply that the secret of attaining glory and greatness is to check the drains of energy and to give up meanness and narrow mindedness. All the senses of man are the drains of his energy, hence these should be controlled in order to cross cyle of birth and death (Bhavasagar) or to attain self-realisation. The saint poet compares the person who stands in the way of an aspirant to a glacier which remains static. Neither does such a person know how to proceed nor does he let others to go onwards.

"न ही तैरना जानता है/और/न ही तैरना चाहता है।" (पृ. ५२)

Similarly the simile of 'ice' is very effective. The ice is like the persons who appear to be good but they are trouble creators not trouble eradicators.

The poet defines Penance (Tapasya) and makes the soil say that in the fire of Tapasya (penance) man's physical body and mind turn into ashes and man's spirit is sublimated and awakened to supreme consciousness, e. g.

"रास बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?" (पृ. ५७)

The saint poet is quite conversant with the philosophy of Yoga and hints at the importance of the controling of breathing System (Pranayam/Pranavayu) retention of breathing called 'Kumbhak'. It intensifies man's inner powers (page 59).

How practical is the piece of advice rendered to the potter in the lines :

"बात का प्रभाव जब/बल-हीन होता है
हाथ का प्रयोग तब/कार्य करता है।
और/हाथ का प्रयोग जब/बल-हीन होता है
हथियार का प्रयोग तब/आर्य करता है।" (पृ. ६०)

The use of the power of weapons is required after the power of words fails.

The dialogues between Tongue and Rope reveal to us that frustration and suppression results in violence, while the state of freedom fosters non-violence. The philosopy of Jainism stands for total deliverance of the spirit as the saint poet remarks :

"निर्ग्रन्थ दशा में ही/अहिंसा पलती है
...हम निर्ग्रन्थ-पन्थ के पथिक हैं।" (पृ. ६४)

Moreover, an aspirant should have no prejudices and inhibitions. How effectively the poet has philosophised the simple activities of day to day life, e.g. taking out water from a well with a rope and a bucket. The whole book is replete with aphorisms for instance :

- *"सार-हीन विकल्पों से/जीने की आशा को*
  विष ही मिल जाता है/खाने के लिए।" (पृ. ६८)
- *"सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं!" (पृ.७१)*

It is a universal truth that people of the similar class or calibre are jealous of each other. One dog resents the presence of another immediately.

The poet exposes the present so called pious persons and says that it is the irony of time that now-a-days the flag of piety becomes the cause of violence, the teachings of the scriptures are the means of destruction hence all the prayers sound empty and meaningless, at a particular moment.

"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी
डण्डा बन जाता है/शास्त्र, शस्त्र बन जाता है।" (पृ. ७३)

The poet therefore exhorts the wise to avoid vices and adopt Virtue. The Homeric simile of fish is illustrative of the poet's superb talent of invention. The fish that pursues the path of salvation is hailed by the other fish in the words.

"मोक्ष की यात्रा/···सफल हो/मोह की मात्रा/···विफल हो।" (पृ. ७६-७७)

It is a fact that without detachment man cannot attain salvation. The saint-poet's sense of amity and goodwill finds expression in the words of the fish :

- *"यही मेरी कामना है/कि/आगामी छोरहीन काल में*
  बस इस घट में/काम ना रहे!" (पृ. ७७)
- *"...साम्य-समता ही/मेरा भोजन हो/सदोदिता सदोल्लसा/मेरी भावना हो,*
  दानव-तन घर/मानव-मन पर/हिंसा का प्रभाव ना हो,/दिवि में, भू में
  भूगर्भों में/जिया-धर्म की/दया-धर्म की/प्रभावना हो···!" (पृ. ७७-७८)

Thus the poet wishes that in the entrie Universe love, compassion, nonviolence, quality, harmony, amity and goodwill should prevail. The visionary poet has perceived that when man's mind grows waveless and body inert, he can perceive the supreme truth.

"स्पन्दन-हीन मतिवाली हुई है/स्वभाव का दर्शन हुआ, कि
क्रिया का अभाव हुआ-सा/लगता है अब···!" (पृ.७८)

The Saint poet, although an ascetic is not indiffenent to the gist of the present age of moral decadence. At present all moral values have vanished from the world. Inhumanity reigns supreme. Money has become the most coveted commodity to man. He hankers after it like a rabbit. He remarks :

"धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

In the words of 'Mati' in The era of sins (Kaliyuga) all that is bad appears attractive to people. In fact The era of truth (Satyuga) and 'Kaliyuga' are two mental attitudes. When people are busy pursuing the truth it is 'satyuga' and the Vice versa (page 83). 'Satyuga' stands for love, amity and goodwill while 'Kaliyuga' for nescience, untruth, dissension and evil. In the words of Mati :

"कलि की आँखों में/भ्रान्ति का तमस ही/गहराता है सदा
और/सत् की आँखों में/शान्ति का मानस ही/लहराता है सदा।" (पृ.८४)

Thus the dialogues of the Fish and Mati (Soil) hint at the eternal varities of life. Mati defines 'Sallekhana' and says that it involves the process of enfeebling the body and stifling the passions that lie there-in. When senses are weakened all the vices and passions are stifled. While performing this penance the aspirant should remain indifferent to pain and pleasure. This attitude of aloofness is called Sallekhana (page 87). Purity of heart or innocence is the bedrock of the state of Samadhi as the Mati puts :

"और सुनो, बेटा/मासूम मछली रहना,/यही समाधि की जनी है।" (पृ. ८८)

The words *'दयाविसुद्धो धम्मो'*, i.e. mercy is true Religion embody the gist of 'Dharma'.

Thus the very first chapter of 'Mook Mati' enshrines the gist of 'Dharma' and eternal verities of life. The style of the poet is remarkable for lucidity of diction, picturesqueness, vivid imagery, effective use of similes, metaphors and alliteration. The poet is an extra-ordinary sage. He is visionary, a prophet and inspired soul. This book is a scripture which will serve as a beacon light to mankind groping in the darkness of ignorance.

□



पृष्ठ ७१
उसे
नूतन जाल-बन्धन---
---काल के जाल में
कवलित होंगे दृग!

'मूकमाटी' : साधनाची अनुभूति

लालचन्द्र हरिश्चन्द्र जैन

भारतीय ज्ञानपीठाने १९८८ साली प.पू. आचार्य विद्यासागर रचित 'मूकमाटी' हा काव्यग्रंथ प्रकाशित केला आहे. आचार्य विद्यासागर हे दिगम्बर जैन साधु आहेत. रत्नत्रय साधनारत असल्यामुळे 'मूकमाटी' हे काव्य सुखद साधनेच्या अनुभूतीने ओतप्रोत आहे. म्हणून अध्यात्मा विषयी हे काव्य 'मूक' नाही. आत्मसाधने विषयी *"स्व की उपलब्धि ही सर्वोपलब्धि है"(पृ.३४०)* असे सांगणारे हे काव्य मूक कसे बरे होऊ शकेल ? चित्रविचित्र जड जगाकडे कानाडोळा करणारे *"अध्यात्म स्वाधीन नयन है"(पृ.२८८)* हेच खरे। अमुक म्हणजे कांही, अंदाजे, अनुमानाने असा अर्थ नाही. अनुमानाने तसा अर्थ काढू नये.

मातीसारख्या तुच्छ वस्तुला कवितेचा विषय बनवणे विशेष आहे असे कांही जण म्हणतील पण साध्याही विषयांत मोठा आशय शोधणाऱ्या कविमनाच्या भूमीच्या मातीचे तुच्छ हा गुण नाही. अेवढे खरे की कवितेचा विषय माती निवडणे ही स्वयं प्रकाशी कल्पना आहे कवि आचार्यांनी मातीचे बोट धरुन काव्यानंदापासून आत्मानंदापर्यंतचा प्रवास रसिक मनाला घडविला आहे. म्हणून *"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर/...बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए"(पृ.२६७)* असा निर्वाळा दिला आहे.

आचार्य 'कविश्रेष्ठ' आहेत की 'श्रेष्ठ कवि' आहेत ? निकष काय लावावे ? ही चर्चा व्यर्थ आहे, कारण त्याही पुढचे एक पाऊल म्हणजे आचार्य विद्यासागर हे 'सन्त कवि' आहेत." *'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'* " (पृ. ३७५)। हा संत कविचा संदेश होऊ शकतो. स्वतः स्वाश्रित स्वतंत्र जीवन जगून *"स्वाश्रित जीवन जिया करो"(पृ.३८७)* असे संत कवीच समर्थपणे म्हणू शकतात.

चार मोठमोठ्या खंडात आणि ४८८ पानात निबद्ध काव्य पाहिले की, आचार्य शीघ्र कवि आहेत हे पटते, पण ते शीघ्रकविपेक्षाही 'सहज कवि' जास्त शोभतात. कविश्रेष्ठ पदवीसाठी शीघ्र पेक्षा 'सहज' निकष लावणे अधिक योग्य. शीघ्र कवित्वामुळे शब्दांची पायघडी पसरू शकते, कल्पनांची नव्हें ! कल्पनांच्या पायघडीवरुन चालतांना कोमलतेचा अनुभव येतो तर केवळ शब्दांच्या पायघडी खाली निरसतेचे काटे असू शकतात. सहज कवि नैसर्गिक किंवा स्वाभाविक वाटतो.

आत्मसाधनारत मुनिवर्यांनी आपल्या काव्यातून अवश्य आध्यात्मिक प्रवृत्ती दिसली तर नवल नाहीं. *"सहज-साक्षी भाव से, बस/सब कुछ संवेदित है"(पृ.२५१); "प्रभु से अर्थ की माँग करना भी/व्यर्थ है ना !"(पृ.२५३); "अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं "(पृ.१९२)* या ओळी अध्यात्म सांगणाऱ्या आहेत. अध्यात्मामध्ये दोन गोष्टी येतात, एक मिथ्यात्वरागादि समस्त विकल्प समूहाचा त्याग आणि दुसरी निजशुद्धात्म्याचे अनुष्ठान.

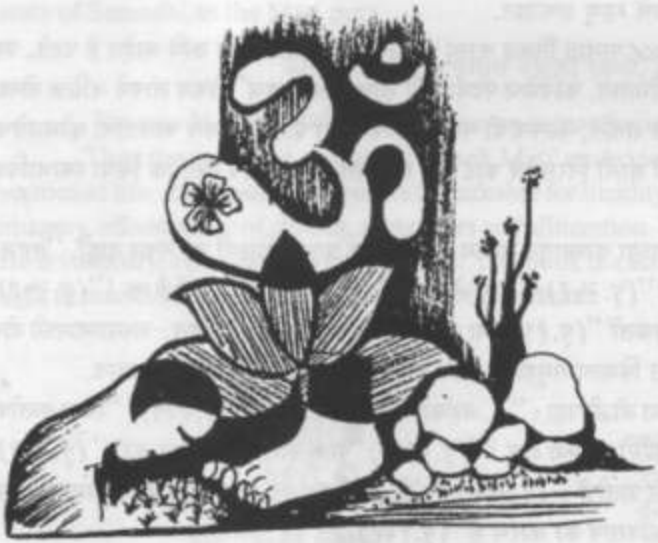
रागादित्यागाची पुष्टीकरणाऱ्या या ओळी पहा : *"...अहंकार को सन्तोष कहाँ ?"(पृ.३३९); "बिना सन्तोष, जीवन सदोष है"(पृ.३३९); "असंयमी संयमी को क्या देगा ?"(पृ.२६९); "पाप-पाखण्ड पर प्रहार करो" (पृ.२४३); "भोग-लीन भोक्ता को भी /तृप्त नहीं कर पाती हैं" (पृ.२६४); "'मैं' यानी अहं को/दो गला–कर दो समाप्त"(पृ. १७५); "राग-रोष आदि वैभाविक/अध्यवसान का कारण है"(पृ.१६१).*

अध्यात्माची सृष्टि करणाऱ्या या ओळी पहा : *"स्व की याद ही/स्व-दया है"(पृ. ३८); "हो अपना, लो,अपनालो उसे !"(पृ.१२४); "अपना स्वामी आप है"(पृ.१८५); "दम सुख है, सुख का स्रोत"(पृ.१०२); "अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है"(पृ.१०९-११०); "परम-केन्द्र की ओर देखने से/चेतन का जतन होता*

है''(पृ.१६२); ''अध्यात्म निरायुध होता है/सर्वथा स्तब्ध - निर्विचार!'' (पृ. २८९).

माती ही क्षुल्लक वस्तु नाही. या काव्यात 'माती' ही विकासोन्मुख मानवीं स्वभावाची पारदर्शी प्रतिमा आहे. चढत्या क्रमाने विकास मांडताना संतकविचे भावविश्व वाऱ्यासारखे गाणे होऊन सुदूर पसरते *''इस पर्याय की/ इति कब होगी ?/...बता दो, माँ''इसे !''(पृ. ५).* मातीचे हे अंतरंग स्वर विकासाकडील वाटचाल दाखविणारे आहेत तर *''कुछ उपाय करो माँ !/...पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !''(पृ.५)* या शब्दातून उत्सुक मनाचे दर्शन होते. तळमळ व्यक्त करणारे हे शब्द आहेत. विकासासाठी कष्ट झेलावे लागतात. उन्नति सहजासहजी होत नाही. *''इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव !''(पृ.३३)* अशा ओळी हेच सुचवितात. विकास, उत्कर्ष, दैवाधीन नाही, दैवाधीन नाही. *''यतना घोर करना होगा/तभी कहीं चेतन–आत्मा/खरा उतरेगा''(पृ. ५७)* या ओळी पुरुषार्थाचे महत्त्व सांगणाऱ्या आहेत.

['श्राविका' मराठी-मासिक, सोलापुर-महाराष्ट्र, जुलाई - १९९२]



पृष्ठ २८
हाँ! अब शिल्पी ने
---- अहंकार का
वमन किया है!

'मूकमाटी' : आधुनिक हिन्दी काव्य जगत् की अनूठी कृति

लादूलाल जैन

आचार्य विद्यासागर दर्शन एवं अध्यात्म जगत् के एक ज्योतिर्मय रत्न हैं। कर्नाटक के एक ग्राम में जन्मा बालक विद्याधर, मुनि ज्ञानसागर रूपी पारस पत्थर का स्पर्श पाकर विद्यासागर रूपी स्वर्ण बन गया। धन्य हैं वे आचार्य ज्ञानसागर, जिन्होंने बाईस वर्षीय युवा मुनि विद्यासागर को चार वर्ष तक अपनी ज्ञान गंगा में अवगाहन कराकर आचार्य विद्यासागर के रूप में प्रवाहित कर दिया। आज वे आचार्य विद्यासागर अपने ज्ञान और चारित्र से जन-जन को प्रभावित कर सहस्रों युवा-युवतियों को रत्नत्रय के पावन मार्ग पर लगाते हुए स्व-पर-कल्याण में तल्लीन हैं। योग्य गुरु से प्राप्त सम्यक् ज्ञान, चारित्र को योग्य शिष्य ने शतगुणी धाराओं में प्रवाहित कर दिया है।

आचार्य विद्यासागर जहाँ एक ओर ख्याति, लाभ, पूजा एवं आडम्बर से दूर रहकर रत्नत्रय मार्ग पर आरूढ़ रह आत्मकल्याण कर रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर वे अपनी अनुपम साहित्यिक रचनाओं से हिन्दी और संस्कृत साहित्य के भण्डार को भर रहे हैं। मूलतः कन्नड़ भाषी होने पर भी उन्होंने हिन्दी एवं संस्कृत में अनेक उच्च स्तरीय रचनाएँ की हैं। 'नर्मदा का नरम कंकर', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी', 'तोता क्यों रोता ?', 'मूकमाटी' आदि उनकी हिन्दी में अनूठी काव्य रचनाएँ हैं। 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'नियमसार', 'समण सुत्तं' आदि ग्रन्थों के हिन्दी पद्यानुवाद उन्होंने किए हैं। संस्कृत एवं हिन्दी में अनेक शतकों की उन्होंने रचना की हैं। उनके प्रवचनों के अनेक नामों से संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी लेखनी निरन्तर गतिशील है।

उनकी रचनाओं में शीर्ष स्थान प्राप्त रचना 'मूकमाटी' हिन्दी काव्य साहित्य में एक अनुपम उपलब्धि है। इसे महाकाव्य, खण्डकाव्य अथवा प्रतीक काव्य कहा जाए या अन्य कुछ, यह काव्य मर्मज्ञों का विषय है। महाकाव्य के समस्त लक्षण भले ही इसमें घटित नहीं होते पर यह महाकाव्य से किसी भी प्रकार कम नहीं है। ४८८ पृष्ठों का यह विशाल काव्य महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य, गीतिकाव्य आदि सभी के गुणों को अपने में समाए हुए है, यदि ऐसा कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।

महाकाव्य के प्रारम्भ में तथा प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना के प्रारम्भ में जिस प्रकार प्रकृति चित्रण होता है, वह 'मूकमाटी' में भी अनेक घटनाओं की पृष्ठभूमि में है। एक चित्र प्रारम्भ में ही देखिए :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई,
निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

कुम्भकार जब मिट्टी लेने नदी तट पर जाता है, तब सरिता की सुषमा देखिए :

"इधर···सरिता में/लहरों का बहावा है, /चाँदी की आभा को
जीतती, उपहास करती-सी/अनगिन फूलों की/अनगिन मालायें
तैरती-तैरती/तट तक···आ/समर्पित हो रही हैं
माटी के चरणों में,/सरिता से प्रेरित वे।" (पृ. १९-२०)

इस प्रकार अनेक स्थल प्रकृति-चित्रण से भरे पड़े हैं।

महाकाव्य में प्रयुक्त होने वाले नव रसों की व्याख्या बड़े सुन्दर रूप में 'मूकमाटी' में की गई है। यहाँ सभी रसों की परिपूर्णता करुण तथा शान्त रस में प्रदर्शित की गई है।

महाकाव्य में किसी महत्त्वपूर्ण पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक घटना को प्रमुख विषय बनाया जाता है। कोई महापुरुष उसका नायक होता है। प्रमुख घटना के अतिरिक्त अन्य अनेक घटनाएँ तथा अनेक व्यक्ति उसमें गुम्फित रहते हैं। पर 'मूकमाटी' में निर्धारित परम्परा को छोड़कर माटी जैसी मूक, तुच्छ, पददलित वस्तु को काव्य की विषयवस्तु बनाकर दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक धरातल की ऊँचाइयों पर उसे पहुँचाया गया है। इस काव्य के नायक, नायिका, खलनायक कौन हैं, काव्य का गन्तव्य क्या है, फल-प्राप्ति किसे होती है – आदि प्रश्न बड़े जटिल हैं। मोटे तौर पर कहा जाए तो माटी नायिका है, कुम्भकार नायक। फल-प्राप्ति है माटी से निर्मित मंगल घट द्वारा गुरुदेव का सेठ द्वारा पाद-प्रक्षालन। पर यह सब स्थूल स्तर पर ही कहा जा सकता है। धार्मिक स्तर पर नायक तो गुरु ही हैं, जिनके भी आराध्य हैं अरहन्त देव, जो गुरु के लिए भी अन्तिम नायक हैं।

काव्य का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है – कुम्भकार द्वारा खदान से आदरपूर्वक मिट्टी खोदकर घर लाया जाना, उसका कंकड़ आदि निकालकर शुद्ध किया जाना, शुद्ध छने-प्रासुक जल से उसे भिगोया जाना, चाक चक्र आदि से कुम्भकार द्वारा उसका घट निर्मित किया जाना, घट को सुखाया जाकर अवा में पकाया जाना, पकने पर उसे कलात्मक रूप दिया जाना, सेठ के भृत्य द्वारा उसे ले जाया जाना, सेठ द्वारा घट को मंगल कलश के रूप में स्थापित कर नवधा भक्ति के अन्तर्गत गुरुवर्य के चरण कमलों का प्रक्षालन। इस घटना चक्र के अन्तर्गत अनेक घटनाओं तथा पात्रों का घात-प्रतिघात हुआ है। घटना-चक्र में अनेक प्रसंग स्वाभाविक रूप से अवतरित होते चले गए हैं। माटी, धरती, कुम्भकार, सेठ, मंगल कलश आदि उत्तम पात्रों के धैर्य, क्षमा, सहिष्णुता, कीर्ति आदि को न सहनकर कंकर, शूल, समुद्र, मेघ, स्वर्ण कलश, मणि-मुक्ता उनसे द्वेष करते हैं तथा उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित करते हैं, पर वे अन्ततः पराजित होते हैं। अन्त में सत्य की असत्य पर, पुण्य की पाप पर, धर्म की अधर्म पर तथा नीति की अनीति पर विजय होती है, जो इस काव्य का एक प्रमुख विषय है।

'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है। सृष्टि का कर्त्ता कौन है, प्रत्येक कार्य का कर्त्ता कौन है, उपादान-निमित्त का क्या स्वरूप है, क्या जैन धर्म नास्तिक है, हिंसा-अहिंसा क्या है, स्याद्वा-अनेकान्त क्या है—इत्यादि विषयों का सरल, काव्यात्मक ढंग से विवेचन किया गया है। इन सबके पीछे आचार्यश्री का उद्देश्य रहा है प्राणी की सुषुप्त चैतन्य शक्ति को जागृत कर, उसे शुद्ध बनाकर परम वीतराग और सर्वज्ञ बनाना। एक निःस्पृही तथा वीतराग मार्ग के साधक इस सन्त के अनुभवों पर आधारित समाधानों को यदि अपनाया जाय तो आज का सन्तप्त मानव तथा समाज शान्ति प्राप्त कर सकता है तथा वह एक ऐसे विश्व का निर्माण कर सकता है, जिसमें :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों।" (पृ. ४७८)

रचनाकार ने सैद्धान्तिक विषयों को सरल काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' का प्रतिपादन देखिए :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है

जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है
और/है यानी चिर–सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

नियति और पुरुषार्थ की विवेचना देखें :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन–स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है,
और/'पुरुष' यानी आत्मा–परमात्मा है
'अर्थ' यानी प्राप्तव्य–प्रयोजन है/आत्मा को छोड़कर
सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)

उपादान-निमित्त के बहुचर्चित विषय की व्याख्या देखिए:

"उपादान कारण ही/कार्य में ढलता है/यह अकाट्य नियम है,
किन्तु/उसके ढलने में/निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है,
इसे यूँ कहें तो और उत्तम होगा कि/उपादान का कोई यहाँ पर
पर-मित्र है···तो वह/निश्चय से निमित्त है/जो अपने मित्र का
निरन्तर नियमित रूप से/गन्तव्य तक साथ देता है।" (पृ. ४८१)

जैन दर्शन स्याद्वाद, अनेकान्त को जीवन में महत्त्व देता है। इन दोनों को अपनाने से ही जीवन की समस्याओं का समुचित समाधान मिल सकता है। दोनों की सरल, सीधी व्याख्या देखिए :

- *" 'ही' और 'भी'..../ये दोनों बीजाक्षर हैं,*
  अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
  'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
  हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,
  तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो !/और,/'भी' का कहना है कि
  हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ !/'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को
  'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,/'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
  'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है।" (पृ. १७२-७३)

- *"प्रभु से प्रार्थना है, कि/'ही' से हीन हो जगत् यह*
  अभी हो या कभी भी हो/'भी' से भेंट सभी की हो।" (पृ. १७३)

इसी प्रकार हिंसा-अहिंसा, दान, दाता, पात्र के गुणों का, दया आदि का विवेचन भी सरल शैली में किया गया है।

'मूकमाटी' में जीवन को सम्यक् रूपेण जीने के लिए स्थान-स्थान पर सरल सूत्र दिए गए हैं। कुछ सूत्र देखिए :

- *"आस्था के बिना आचरण में/आनन्द आता नहीं, आ सकता नहीं।" (पृ. १२०)*

- *"परीषह-उपसर्ग के बिना कभी/स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि*
  न हुई, न होगी/त्रैकालिक सत्य है यह !" (पृ. २६६)

- *"आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।*
  तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव !" (पृ. १३३)

- *"आमद कम, खर्चा ज़्यादा/लक्षण है मिट जाने का*
  कूबत कम, गुस्सा ज़्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)

- *"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन (मर्यादा का उल्लंघन)*
  रावण हो या सीता/राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही।" (पृ. २१७)

आज के प्रमुख महत्त्वपूर्ण विषयों पर, यथा- समाज में नारी का स्थान, प्रजातन्त्र, आतंकवाद, स्टार-वार आदि की भी स्पष्ट विवेचना इस काव्य में हुई है।

समाजवाद का सम्यक् रूप देखिए :

"प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।" (पृ. ४६१)

इसी प्रकार आतंकवाद के कारण के विषय में उल्लेख हुआ है :

"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,
आतंकवाद का अवतार होता है।/अति-पोषण या अतिशोषण का भी
यही परिणाम होता है,/तब/जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,
बदले का भाव···प्रतिशोध !/जो कि/महा-अज्ञानता है, दूरदर्शिता का अभाव
पर के लिए नहीं,/अपने लिए भी घातक !"(पृ. ४१८)

आज अर्थ (धन) की प्राप्ति ही मानवों का एकमात्र ध्येय बना हुआ है परन्तु अर्थ का सही मूल्य आँकने वाले कम ही हैं। अर्थ के सम्बन्ध में रचनाकार का मन्तव्य है :

- *"धन का अपने आप में मूल्य/कुछ भी नहीं है।*
  मूल-भूत पदार्थ ही/मूल्यवान होता है।/धन कोई मूलभूत वस्तु है ही नहीं
  धन का जीवन पराश्रित है/पर के लिए है, काल्पनिक !
  हाँ ! हाँ !!/धन से अन्य वस्तुओं का/मूल्य आँका जा सकता है
  वह भी आवश्यकतानुसार/कभी अधिक कभी हीन
  और कभी औपचारिक,/और यह सब/धनिकों पर आधारित है।
  धनिक और निर्धन-/ये दोनों/वस्तु के सही-सही मूल्य को
  स्वप्न में भी नहीं आँक सकते,/कारण,/धन-हीन दीन-हीन होता है प्रायः
  और/धनिक वह/विषयान्ध, मदान्ध !!" (पृ. ३०७-३०८)

उसे क्या प्रयोजन जड़ शृंगारों से !" (पृ. १३९)

- *"दुःस्वर हो या सुस्वर/सारे स्वर नश्वर हैं।" (पृ. १४३)*
- *"स्वर न ही ध्येय है, न उपादेय/स्वर न ही अमेय है, न सुधा-पेय*
  साधक यह जान ले भली-भाँति !" (पृ. १४४)

आणि शेवटी कवी म्हणतो - की या नश्वर जीवनामध्ये - *"सब रसों का अन्त होना ही-/शान्त-रस है।"(पृ.१६०)*

ही कविता चैतन्य आणि जीवनकला या दोनही आशय प्रदेशांचा ठाव घेणारी आहे. देहरूप-न्याहाळता, न्याहाळता एका परब्रह्माचे बाळरूप पहाणारी ही स्वानंदमयी कविता आहे. स्व-स्वरूपाचे, स्व-स्वरूपा पर्यंत नेणाऱ्या वाटा दाखविणारी वैभव संपन्न कविता आहे. प्रत्येक माणसाच्या मनामध्ये अशांततेचे वादळ घोंघावते आहे. व असेच वादळ या लेखकाच्या मनातही येवून गेले असावे.पण त्या वादळाला ते दिशा देतात व त्यांना हे महाकाव्य सुचते. म्हणूनच ही कविता सर्व अशांत मनाची प्रतिनिधिक अभिव्यक्ती ठरते याची चर्चा करताना कवि म्हणतो :

"हे स्वामिन्!/समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है,/यहाँ सुख है,पर वैषयिक/और वह भी क्षणिक!/यह···तो···अनुभूत हुआ हमें,/परन्तु/अक्षय सुख पर/विश्वास हो नहीं रहा है।" (पृ. ४८४-४८५)

यापुढे जावून सुंदर असे आध्यात्मिक दर्शन लेखकाने काव्यातून घडविले आहे. दर्शन आणि अध्यात्म यातील सूक्ष्म पण, निश्चित फरक कवीने पुढील पंक्तीतून मांडला आहे.

"क्या दर्शन और अध्यात्म/एक जीवन के दो पद हैं ?
...दर्शन का स्रोत-मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।
...अध्यात्म स्वाधीन नयन है/दर्शन पराधीन उपनयन
...कभी सत्य-रूप कभी असत्य रूप/होता है दर्शन, जबकि
अध्यात्म सदा सत्य-चिद्रूप ही/भास्वत होता है।
...दर्शन का आयुध शब्द है—विचार/अध्यात्म निरायुध होता है
सर्वथा स्तब्ध - निर्विचार !" (पृ. २८७-२८९)

माती व कुंभ ही एकच प्रतिमा सर्व कविता मध्ये वापरून प्रत्येक विषयावरची अनुभुती वेगळी राखली गेली आहे. माटी व कुंभ हेच ह्या काव्यानुभवाचे माध्यम आहे. कांही ठिकाणी उर्दू शब्द प्रयोगाचा योग्य प्रभावही लेखकावर झालेला दिसतो. असाच एक उर्दु प्रभावाचा प्रयत्न करताना कवी म्हणतो :

"जब हवा काम नहीं करती/तब दवा काम करती है,/और
जब दवा काम नहीं करती/तब दुआ काम करती है
परन्तु,/जब दुआ भी काम नहीं करती/तब क्या रहा शेष ?
...यह जो चेतना है—/स्वयंभुवा काम करती है।" (पृ. २४१-२४२)

रोजच्या जीवनातील अवलोकनातील सामान्य विषयातून मोठा आशय देण्याचा समर्पक प्रयत्न आणि किमया या लेखकाने केली आहे. कुंभ हातात घेवून,विकत घेणारा कुंभावर आवाज काढतो. आणि त्यातून 'सा-रे-ग-म-प-

घ-नि' असा आवाज निघतो असे कविला वाटते. या 'सा-रे-ग-म' बद्दल कवि विश्लेषण करतो आणि म्हणतो :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख
प···ध यानी ! पद–स्वभाव/और/नि यानी नहीं
दुःख आत्मा का स्वभाव - धर्म नहीं हो सकता।" (पृ. ३०५)

मृदंगाच्या आवाजा संबंधी कवीचा कल्पना विलास व त्यातून निघणाऱ्या 'धा···धिन्···धिन्···धा···'ह्या स्वराबद्दल कवी म्हणतो :

"धा···धिन्···धिन्···धा···/धा···धिन्···धिन्···धा···
चेतन-भिन्ना, चेतन-भिन्ना,/ता···तिन···तिन···ता···
ता···तिन···तिन···ता···/का तन···चिन्ता, का तन···चिन्ता ?" (पृ. ३०६)

कवीने साहित्याची चर्चा करताना 'साहित्य' या शब्दाचा अन्वयार्थ पुढील ओळीतून प्रभावीपणे मांडला आहे :

"हित से जो युक्त - समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,
अर्थ यह हुआ कि/जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)

जैन दर्शनातील उच्च कोटीचा शब्द 'निर्ग्रंथ' या निर्ग्रंथ अवस्थेबद्दल चर्चा करतांना कवि म्हणतो :

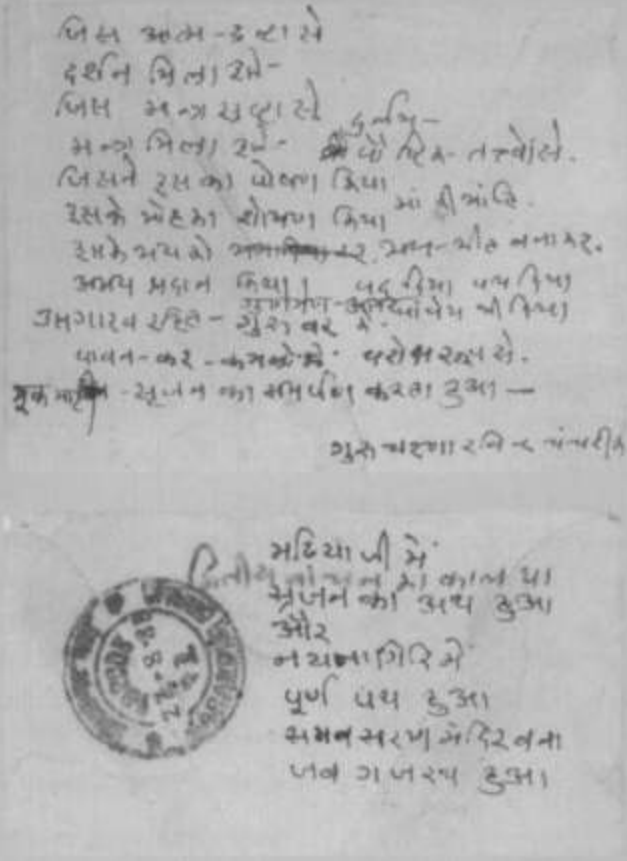
"अब रस्सी पूछती है रसना से/जिज्ञासा का भाव ले–/कि
आपके स्वामी को क्या बाधा थी/इस गाँठ से ?
सो रसना रहस्य खोलती है :/'सुन री रस्सी !/मेरे स्वामी संयमी हैं
हिंसा से भयभीत/और/अहिंसा ही जीवन है उनका।
...हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही
हिंसा छलती है।/...निर्ग्रन्थ दशा में ही/अहिंसा पलती है।" (पृ. ६३-६४)

आरत्या, अष्टके, जयमाला, धार्मिक-गीत येथेपर्यंतच जैन कवितेचा रचना प्रकार होता आणि एका विशिष्ट कारणाने लिहिली गेलेली काव्ये प्रचलित होती. पण आचार्य विद्यासागरांनी ती साहित्यिक संकुचितता सोडून या जैन कवितेला नवीन अविष्कार दिला आहे. आपल्या महाकाव्याच्या रूपाने अध्यात्मिक कविता नवीन रूपाने. त्याच्या आत्म्यानिशी भारतीय शारदेच्या भूमीत रूजविण्याचे श्रेय या विद्यासागरांना द्यायला हवे.

'मूकमाटी' हया साहित्य कृतीबद्दल या देशाची माती ही मराठी जैन साहित्य परिषद आणि आजचे हे मराठी जैन साहित्य संमेलन (सांगली, महाराष्ट्र, डीसेंबर-१९९०)- चिरऋणी राहील, त्या तपोपूत 'विद्यासागराला'.

['जैन बोधक' (मराठी-मासिक), सोलापूर-महाराष्ट्र में प्रकाशित]

□



'मूकमाटी' रचयिता की हस्तलिपि

सौजन्य से : श्री अभिनन्दन सोंधिया, पाटन (जबलपुर)